

श्री-महर्षि-व्यास-प्रणीत

महाभारत।

(११) शान्तिपर्व।

(भाषाभाष्य समेत)

सम्पादक और प्रकाशक
श्रीपाद दामोदर सातवळेकर
स्वाध्यायमण्डल, औंध (जि० सातारा.)

संवत् १९८६,
शक १८५१,
सन १९२९.

अहिंसा का भाव।

धर्मशीलो नरो विद्वानीहकोऽनीहकोऽपि वा।
आत्मभूतः सदा लोके चरेद्भूतान्यहिंसया ॥ ३० ॥
म० भा० शान्तिपर्व अ० २९४

" धर्मशील विद्वान् मनुष्य इच्छा धारण करके अथवा निरिच्छ होकर, सदा सब भूतोंको आत्मवत् मान कर, सब भूतोंके साथ अहिंसा भावसे व्यवहार करता हुआ, जगत्में विचरे ॥"

मुद्रक तथा प्रकाशक—श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडल, भारतमुद्रणालय औंध (जि० सातारा.)



श्रीमहर्षिव्यासप्रणीतम् ।

महाभारतम् ।

शान्तिपर्व ।

श्रीगणेशाय नमः

श्रीवेदव्यासाय नमः ।

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच–कृतोदकास्ते सुहृदां सर्वेषां पाण्डुनन्दनाः ।
विदुरो धृतराष्ट्रश्च सर्वाश्च भरतस्त्रियः ॥ १ ॥
तत्र ते सुमहात्मानो न्यवसन्पाण्डुनन्दनाः ।
शौचं निर्वर्तयिष्यन्तो मासमात्रं बहिः पुरात् ॥ २ ॥
कृतोदकं तु राजानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अभिजग्मुर्महात्मानः सिद्धा ब्रह्मर्षिसत्तमाः ॥ ३ ॥
द्वैपायनो नारदश्च देवलश्च महानृषिः ।

शांतिपर्वमें प्रथम अध्याय ।

नारायण नरोत्तम नर और सरस्वती देवीको नमस्कार करके जय कीर्तन करना चाहिये ।

महात्मा राजा धृतराष्ट्र, विदुर, भरत कुलकी स्त्रियें और पाण्डव लोग दुर्यो- धन आदि मृत सुहृद पुरुषोंकी जलदा- नादिक क्रिया विधिपूर्वक करके शोकित- चित्तसे एक महीने तक नगरके बाहर गङ्गा तीरपर वास करने लगे । उसही समय साधुओंमें श्रेष्ठ महात्मा नारद, वेदव्यास, देवल, देवस्थान, और कण्व

देवस्थानश्च कण्वश्च तेषां शिष्याश्च सत्तमाः ॥ ४ ॥
अन्ये च वेदविद्वांसः कृतप्रज्ञा द्विजातयः ।
गृहस्थाः स्नातकाः सन्तो ददृशुः कुरुसत्तमम् ॥ ५ ॥
तेऽभिगम्य महात्मानः पूजिताश्च यथाविधि ।
आसनेषु महार्हेषु विविशुस्ते महर्षयः ॥ ६ ॥
प्रतिगृह्य ततः पूजां तत्कालसदृशीं तदा ।
पर्युपासन्यथान्यायं परिवार्य युधिष्ठिरम् ॥ ७ ॥
पुण्ये भागीरथीतीरे शोकव्याकुलचेतसम् ।
अश्वासयन्तो राजानं विप्राः शतसहस्रशः ॥ ८ ॥
नारदस्त्वब्रवीत्काले धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
सम्भाष्य मुनिभिः सार्धं कृष्णद्वैपायनादिभिः ॥ ९ ॥
भवता बाहुवीर्येण प्रसादान्माधवस्य च ।
जितेयमवनिः कृत्स्ना धर्मेण च युधिष्ठिर ॥ १० ॥
दिष्ट्या मुक्तस्तु संग्रामादस्माल्लोकभयङ्करात् ।
क्षत्रधर्मरतश्चापि कच्चिन्मोदसि पाण्डव ॥ ११ ॥
कच्चिच्च निहतामित्रः प्रीणासि सुहृदो नृप ।

आदि सिद्ध, ब्रह्मर्षि, महर्षि तथा उन महात्माओंके मुख्य मुख्य शिष्य तर्पणसे निवृत्त धर्मराज युधिष्ठिरके समीप उपस्थित हुए। साधु पवित्र, शुद्ध-बुद्धिवाले तथा वेद जाननेवाले, गृहस्थ और स्नातक ब्राह्मणोंने आकर कुरुसत्तम युधिष्ठिरका दर्शन किया, अनन्तर वे सब वहांपर इकट्ठे हुए। महर्षि लोग यथा उचित रीतिसे पूजित होकर सुन्दर आसनोंपर बैठ गये। इसी भांति सैकड़ों सहस्रों ब्राह्मण लोग उस समयके अनुसार पूजा और दान ग्रहण करके पवित्र भागीरथीके तीरपर स्थित हुए और शोकसे व्याकुल राजा युधिष्ठिरको घेरकर उनके चारों ओर बैठके धीरज धारण कराते हुए, उनके सङ्ग वार्तालाप करनेमें प्रवृत्त हुए। देवऋषि नारद कृष्णद्वैपायन आदि मुनियोंके सङ्ग मिलकर धर्मपुत्र युधिष्ठिरके उस समयके अनुसार यही वचन बोले, महाराज! आपने अपने बाहुबलके प्रभाव और कृष्णकी प्रसन्नतासे धर्म पूर्वक इस संपूर्ण पृथ्वीको जय किया है; प्रारब्धसे ही आप इस महाभयङ्कर संग्रामसे जीवित मुक्त हुए हैं; इससे इस समय आप क्षत्रिय धर्ममें रत होकर सन्तुष्ट तो हैं? आप युद्धभूमिमें

कच्चिच्छ्रियमिमां प्राप्य न त्वां शोकः प्रबाधते ॥१२॥

युधिष्ठिर उवाच— विजितेयं मही कृत्स्ना कृष्णबाहुबलाश्रयात्।
ब्राह्मणानां प्रसादेन भीमार्जुनबलेन च ॥ १३ ॥
इदं मम महद्दुःखं वर्तते हृदि नित्यदा।
कृत्वा ज्ञातिक्षयमिमं महान्तं लोभकारितम् ॥ १४ ॥
सौभद्रं द्रौपदेयांश्च घातयित्वा सुतान् प्रियान्।
जयोऽयमजयाकारो भगवन्प्रतिभाति मे ॥ १५ ॥
किं नु वक्ष्यति वार्ष्णेयी वधूर्मे मधुसूदनम्।
द्वारकावासिनी कृष्णमितः प्रतिगतं हरिम् ॥ १६ ॥
द्रौपदी हतपुत्रेयं कृपणा हतबान्धवा।
अस्मत्प्रियहिते युक्ता भूयः पीडयतीव माम् ॥ १७ ॥
इदमन्यत्तु भगवन् यत्त्वां वक्ष्यामि नारद।
मंत्रसंवरणेनास्मि कुन्त्या दुःखेन योजितः ॥ १८ ॥

संपूर्ण शत्रुओंको पराजित करके इस समय इष्टमित्रोंके आनन्दको बढाते तो हैं ? आपने इस समय संपूर्ण राज लक्ष्मी प्राप्त की है, इससे शोकादि क्लेश तुम्हारे चित्तको दुःखित तो नहीं करते हैं ? (२—१२)

राजा युधिष्ठिर देवर्षि नारदके ऐसे वचनोंको सुनकर बोले, हे भगवन ! कृष्णके बाहुबलके सहारे ब्राह्मणोंकी प्रसन्नता और भीम अर्जुनके पराक्रमसे मैंने इस संपूर्ण पृथ्वीको जय किया है, यह ठीक है, परन्तु लोभके वशमें होकर जातिके पुरुषोंके नाश करनेसे मेरा चित्त सदा दुःखित रहता है। देखिये सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु और द्रौपदीके पांचों पुत्र, इन संपूर्ण प्रिय पुत्रोंके युद्धमें मारे जानेसे मेरी विजय लाभ भी पराजयके समान हो मालुम हो रही है। मेरे भाईकी भार्या वृष्णिकुल नन्दिनी सुभद्रा मुझे क्या कहेगी ! और भगवान् प्रतापी मधुसूदन कृष्ण भी जब यहांसे द्वारकापुरीमें जांयगे, तब उनको द्वारिकावासी द्रौपदी भी क्या कहेंगी ? (१३—१६)

यह देखिये ! हम लोगोंके प्रियकार्यमें सदा रत और हितकारिणी द्रौपदी देवीके पिता, भ्राता और पुत्र मारे गये हैं, उसहीसे यह अत्यन्त कातर होके रुदन करती हुई मेरे चित्तको दुःखित कर रही हैं। हे भगवन् ! मैं आपसे और भी एक दुःखका विषय कहता हूं, आप सुनिये। मेरी माता कुन्ती देवीने एक

यः स नागायुतबलो लोकेऽप्रतिरथो रणे।
सिंहखेलगतिर्धीमान् घृणी दाता यतव्रतः ॥ १९ ॥
आश्रयो धार्तराष्ट्राणां मानी तीक्ष्णपराक्रमः।
अमर्षी नित्यसंरंभी क्षेप्ताऽस्माकं रणे रणे ॥ २० ॥
शीघ्रास्त्रश्चित्रयोधी च कृती चाद्भुतविक्रमः।
गूढोत्पन्नः सुतः कुन्त्या भ्रातास्माकमसौ किल ॥२१ ॥
तोयकर्मणि तं कुन्ती कथयामास सूर्यजम्।
पुत्रं सर्वगुणोपेतमवकीर्णं जले पुरा ॥ २२ ॥
मञ्जूषायां समाधाय गङ्गास्रोतस्यमज्जयत्।
यं सूतपुत्रं लोकोऽयं राधेयं चाभ्यमन्यत ॥ २३ ॥
स ज्येष्ठपुत्रः कुन्त्या वै भ्राताऽस्माकं च मातृजः।
अजानता मया भ्रात्रा राज्यलुब्धेन घातितः ॥ २४ ॥
तन्मे दहति गात्राणि तूलराशिमिवानलः।
न हि तं वेद पार्थोऽपि भ्रातरं श्वेतवाहनः ॥ २५ ॥

बात गोपन की थी, उससे मैं इस समय अधिक दुःखसे व्याकुल होरहा हूं। जो बुद्धिमान इस पृथ्वीके बीच अद्वितीय रथी कहके विख्यात थे, जिनकी गति और पराक्रम सिंहके समान था, जो दश हजार हाथियोंके समान बलशाली दयावान, दाता और व्रताचरणमें रत, अत्यन्त पराक्रमी, निर्भय चित्तवाले, क्रुद्ध स्वभाव, मानी और धृतराष्ट्र पुत्रोंके आश्रय स्वरूप थे। जो अद्भुत पराक्रम प्रकाशित करनेवाले कृती, चित्रयोधी, शीघ्र अस्त्र चलानेमें समर्थ, महाबलवान् वीर, प्रतियुद्धमें हम लोगोंके चित्तमें संशय उत्पन्न करते थे; वह हम लोगोंके भ्राता थे और गुप्त रूपसे उन्होंने कुन्तीके गर्भसे जन्म लिया था। आज मृत पुरुषोंको जल देनेके समय कुन्तीने कहा, कि कर्ण सूर्यके प्रभावसे मेरे गर्भसे उत्पन्न हुए थे। (१७-२२)

माताने ऐसे गुणवान पुत्रको जन्मते ही मञ्जूषामें रखकर गङ्गाके स्रोतमें बहा दिया था। हे ऋषिसत्तम! जिसे सब कोई सूतवंशमें उत्पन्न हुआ समझते थे, वह कुन्तीके ज्येष्ठपुत्र हम लोगोंके सहोदर भाई थे। हे महर्षि! मैंने विना जाने ही जो अपने भाईका वध किया है, इस ही कारण मेरा शरीर शोकरूपी अग्निसे इस प्रकार भस्म हुआ चाहता है, जैसे अग्नि रुईको भस्म कर देती है। कर्ण हम लोगोंके सहोदर भ्राता थे, इस

नाहं न भीमो न यमौ स त्वस्मान्वेद सुव्रतः ।
गता किल पृथा तस्य सकाशमिति नः श्रुतम् ॥ २६ ॥
अस्माकं शमकामा वै त्वं च पुत्रो ममेत्यथ ।
पृथाया न कृतः कामस्तेन चापि महात्मना ॥ २७ ॥
अपि पश्चादिदं मातर्यवोचदिति नः श्रुतम् ।
न हि शक्ष्याम्यहं त्यक्तुं नृपं दुर्योधनं रणे ॥ २८ ॥
अनार्यत्वं नृशंसत्वं कृतघ्नत्वं च मे भवेत् ।
युधिष्ठिरेण सन्धिं हि यदि कुर्यां मते तव ॥ २९ ॥
भीतो रणे श्वेतवाहादिति मां मंस्यते जनः ।
सोऽहं निर्जित्य समरे विजयं सहकेशवम् ॥ ३० ॥
सन्धास्ये धर्मपुत्रेण पश्चादिति च सोऽब्रवीत् ।
तमुवाच किल पृथा पुनः पृथुलवक्षसम् ॥ ३१ ॥
चतुर्णामभयं देहि कामं युध्यस्व फाल्गुनम् ।
सोऽब्रवीन्मातरं धीमान् वेपमानां कृताञ्जलिः ॥ ३२ ॥
प्राप्तान् विषह्यांश्चतुरो न हनिष्यामि ते सुतान् ।

वृत्तान्तको मैं तथा भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव कोई भी नहीं जानते थे, परन्तु श्रेष्ठ व्रत करनेवाले कर्ण हम लोगोंको अपना भ्राता ही जानते थे ! मैंने सुना है, कि मेरी माता कुन्ती देवी हम लोगोंके विषयमें शान्ति स्थापित करनेकी इच्छासे कर्णके समीप जाके उनसे बोली कि "हे कर्ण ! तुम मेरे पुत्र हो ।" माताके वचनको सुनकर महात्मा कर्णने उनकी इच्छा पूर्ण न की । (२४–२७)

मैंने ऐसा सुना है, कि अन्तमें कर्णने यह उत्तर दिया था, कि "मैं इस उपस्थित युद्धमें दुर्योधनको किसी भांति परित्याग न कर सकूंगा, यदि मैं ऐसा कर्म करूं तो मेरी नीचता नृशंसता और कृतघ्नता प्रकाशित होगी। विशेष करके यदि मैं तुम्हारे मतके अनुसार युधिष्ठिरके सङ्ग सन्धि करूं, तो सब कोई मुझे अर्जुनसे भयभीत हुआ समझेंगे; इससे मैं कृष्णके सहित अर्जुनको पराजित करके पश्चात् युधिष्ठिरके सङ्ग सन्धि करूंगा।" महाबाहु कर्णके ऐसे वचनको सुनकर अन्तमें माताने उनसे यह वचन कहा, "हे पुत्र ! तब तुम केवल अर्जुनके अतिरिक्त मेरे अन्य जो चार पुत्र हैं, उन्हें युद्धमें अभयदान करो"। (२८–३२)

पञ्चैव हि सुता देवि भविष्यन्ति तव ध्रुवाः ॥ ३३ ॥
सार्जुना वा हते कर्णे सकर्णा वा हतेऽर्जुने ।
तं पुत्रगृद्धिनी भूयो माता पुत्रमथाब्रवीत् ॥ ३४ ॥
भ्रातॄणां स्वस्ति कुर्वीथा येषां स्वस्ति चिकीर्षसि ।
एवमुक्त्वा किल पृथा विसृज्योपययौ गृहान् ॥ ३५ ॥
सोऽर्जुनेन हतो वीरो भ्रात्रा भ्राता सहोदरः ।
न चैव विवृतो मंत्रः पृथायास्तस्य वा विभो ॥ ३६ ॥
अथ शूरो महेष्वासः पार्थेनाजौ निपातितः ।
अहं त्वज्ञासिषं पश्चात्स्वसोदर्यं द्विजोत्तम ॥ ३७ ॥
पूर्वजं भ्रातरं कर्णं पृथाया वचनात्प्रभो ।
तेन मे दूयते तीव्रं हृदयं भ्रातृघातिनः ॥ ३८ ॥
कर्णार्जुनसहायोऽहं जयेयमपि वासवम् ।

उस समय कर्ण हाथ जोडके भयसे कांपती हुई मातासे यह वचन बोले—"हे देवी! यदि तुम्हारे अन्य चारों पुत्र युद्ध करते असमर्थ होकर मेरे वशमें भी होजावेंगे, तौभी मैं तुम्हारे अन्य चारों पुत्रोंका प्राण नाश नहीं करूंगा। इस युद्धमें मेरे अथवा अर्जुनके मारे जानेपर भी तुम्हारे पांच पुत्र उपस्थित रहेंगे, इसमें कुछ सन्देह नहीं है।" अनन्तर पुत्रोंके कल्याणकी इच्छा करनेवाली माताने फिर कर्णसे कहा "हे पुत्र! जाओ, तुम जिसके मङ्गल कामनाकी अभिलाषा करते हो, उस भरणकर्त्ता दुर्योधनादिकोंके कल्याण साधनके कार्य को करनेमें प्रवृत्त रहो; उस विषयमें मुझे कुछ भी आपत्ति नहीं है"—ऐसा वचन कहके मेरी माता कुन्तीदेवी कर्ण को परित्याग करके अपने गृहमें चली आई थी। (३३-३५)

हम लोगोंके वही सहोदर भ्राता महाबाहु कर्ण अपने भाई अर्जुनके हाथसे मारे गये हैं, परन्तु इस गुप्त-वृत्तान्तको कुन्तीदेवी अथवा कर्ण,—इन दोनोंमेंसे किसीने भी प्रकाशित नहीं किया था, इस कारण मेरे सहोदर भ्राता महाधनुर्द्धर कर्ण अपने भाई अर्जुनके हाथसे मारे गये। हे द्विजसत्तम! मैंने माताके मुंहसे इस समय वह वृत्तान्त सुना है, कि कर्ण हम लोगोंके ज्येष्ठ भ्राता थे। जबसे मैंने इस वृत्तान्तको सुना है, तभीसे भ्रातृहत्याके कारण शोकसे मेरा चित्त अत्यन्त व्याकुल होरहा है। क्यों कि कर्ण अर्जुनकी सहायतासे मैं देवतोंके सहित इन्द्रको भी

सभायां क्लिश्यमानस्य धार्तराष्ट्रैर्दुरात्मभिः ॥ ३९ ॥
सहसोत्पतितः क्रोधः कर्णं दृष्ट्वा प्रशाम्यति ।
यदा ह्यस्य गिरो रूक्षाः शृणोमि कटुकोदयाः ॥४० ॥
सभायां गदतो द्यूते दुर्योधनहितैषिणः ।
तदा नश्यति मे रोषः पादौ तस्य निरीक्ष्य ह ॥ ४१ ॥
कुन्त्या हि सदृशौ पादौ कर्णस्येति मतिर्मम ।
सादृश्यहेतुमन्विच्छन् पृथायास्तस्य चैव ह ॥ ४२ ॥
कारणं नाधिगच्छामि कथंचिदपि चिन्तयन् ।
कथं नु तस्य संग्रामे पृथिवी चक्रमग्रसत् ॥ ४३ ॥
कथं नु शप्तो भ्राता मे तत्त्वं वक्तुमिहार्हसि ।
श्रोतुमिच्छामि भगवंस्त्वत्तः सर्वं यथातथम् ॥
भवान्हि सर्वविद्विद्वान् लोके वेद कृताकृतम् ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णाभिज्ञाने प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच- स एवमुक्तस्तु मुनिर्नारदो वदतां वरः ।
कथयामास तत्सर्वं यथा शप्तः स सूतजः ॥ १ ॥

जीत सक्ता। कौरवोंकी सभाके बीच जब धृतराष्ट्रके दुष्ट पुत्रोंने हम लोगोंका बहुत अपमान किया उस समय अकस्मात् मेरे चित्तमें क्रोध उत्पन्न हुआ था, परन्तु कर्णके दोनों चरणोंको देखते ही शान्त होगया; क्यों कि कर्णके दोनों चरण मेरी माता कुन्तीदेवीके चरणके समान ही थे। उनके पांव मेरी माताके पांवके समान कैसे हुए, इस बातकी मैंने बहुत ही खोज की, परन्तु मुझे कुछ भी न मालूम हुआ। हे ब्राह्मणश्रेष्ठ आप सब बातोंके जाननेवाले हैं और संसारकी भूत भविष्य कालकी सम्पूर्ण घटनाओंको जानते हैं, इससे मैं आपसे पूछता हूं, कि मेरे भाई कर्णके रथके चक्रको पृथ्वीने क्यों ग्रास किया था, और किस भांतिसे उन्हें शाप मिला था? मैं इन सम्पूर्ण वृत्तान्तोंको सुननेकी इच्छा करता हूं, इससे आप इस विषयके सम्पूर्ण वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन कीजिये। (३९—४४)

शान्तिपर्वमें प्रथम अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें द्वितीय अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, जब राजा युधिष्ठिरने ऐसा वचन कहा, तब देवऋषि नारदने कर्णके शापके विषयमें

नारद उवाच— एवमेतन्महाबाहो यथा वदसि भारत।
न कर्णार्जुनयोः किंचिदविषह्यं भवेद्रणे ॥ २ ॥
गुह्यमेतत्तु देवानां कथयिष्यामि तेऽनघ।
तन्निबोध महाबाहो यथा वृत्तमिदं पुरा ॥ ३ ॥
क्षत्रं स्वर्गं कथं गच्छेच्छस्त्रपूतमिति प्रभो।
संघर्षजननस्तस्मात्कन्यागर्भो विनिर्मितः ॥ ४ ॥
स बालस्तेजसा युक्तः सूतपुत्रत्वमागतः।
चकारांगिरसः श्रेष्ठाद्धनुर्वेदं गुरोस्तदा ॥ ५ ॥
स बलं भीमसेनस्य फाल्गुनस्य च लाघवम्।
बुद्धिं च तव राजेन्द्र यमयोर्विनयं तदा ॥ ६ ॥
सख्यं च वासुदेवेन बाल्ये गांडीवधन्वनः।
प्रजानामनुरागं च चिन्तयानो व्यदह्यत ॥ ७ ॥
स सख्यमकरोद्बाल्ये राज्ञा दुर्योधनेन च।
युष्माभिर्नित्यसंद्विष्टो दैवाच्चापि स्वभावतः ॥ ८ ॥

जो कुछ घटना हुई थी, उन संपूर्ण वृत्तान्तोंको कहना आरम्भ किया। (१)

नारद मुनि बोले, हे महाबाहु युधिष्ठिर! तुमने जो कुछ कहा वह सब सत्य है। युद्धभूमिमें अर्जुन और कर्णसे कोई कार्य भी असाध्य नहीं थे, परन्तु मैं तुम्हारे समीप देवताओंसे भी गोपनीय वृत्तान्त वर्णन करता हूं; तुम चित्त लगाके सुनो। हे राजन्! किसी समय ब्रह्माने अपने मनमें चिन्ता की, कि ये संपूर्ण क्षत्रिय पुरुष शस्त्रसे मरकर किस भांति स्वर्ग लोकमें गमन करेंगे, ऐसा ही विचार करके कुन्तीको कन्या अवस्थामें क्षत्रियोंके बीच शत्रुका नाश रूपी अग्नि प्रगट करनेवाला एक गर्भ उत्पन्न किया। (२—४)

उस गर्भसे जो बालक उत्पन्न हुआ था वही समयके अनुसार सूतपुत्र कहके विख्यात हुआ और अङ्गिरा वंशमें मुख्य द्रोणाचार्यके निकट धनुप विद्या सीखा था; परन्तु वह भीमसेनके बल,अर्जुनके अस्त्र लाघव, तुम्हारी बुद्धि और नकुल, सहदेवके विनय, विशेष करके बालक अवस्थामें श्रीकृष्णके साथ अर्जुनकी मित्रता और प्रजाका तुम्हारे ऊपर अनुराग देखकर दुःखित हुए थे। अनन्तर कर्णने भी बालक अवस्थामें दुर्योधनके साथ मित्रता की, परन्तु दैवी संयोगके कारण वह तुम लोगोंके द्वेषी हुए। तिसके अनन्तर कर्णने अर्जुनको धनुर्वे-

वीर्याधिकमथालक्ष्य धनुर्वेदे धनञ्जयम् ।
द्रोणं रहस्युपागम्य कर्णो वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥
ब्रह्मास्त्रं वेत्तुमिच्छामि सरहस्यनिवर्तनम् ।
अर्जुनेन समं चाहं युध्येयमिति मे मतिः ॥ १० ॥
समः शिष्येषु वः स्नेहः पुत्रे चैव तथा ध्रुवम् ।
त्वत्प्रसादान्न मां ब्रूयुरकृतास्त्रं विचक्षणाः ॥ ११ ॥
द्रोणस्तथोक्तः कर्णेन सापेक्षः फाल्गुनं प्रति ।
दौरात्म्यं चैव कर्णस्य विदित्वा तमुवाच ह ॥ १२ ॥
ब्रह्मास्त्रं ब्राह्मणो विद्याद्यथावच्चरितव्रतः ।
क्षत्रियो वा तपस्वी यो नान्यो विद्यात्कथंचन ॥ १३ ॥
इत्युक्तोऽङ्गिरसां श्रेष्ठमामंत्र्य प्रतिपूज्य च ।
जगाम सहसा रामं महेन्द्रं पर्वतं प्रति ॥ १४ ॥
स तु राममुपागम्य शिरसाऽभिप्रणम्य च ।
ब्राह्मणो भार्गवोऽस्मीति गौरवेणाभ्यगच्छत ॥ १५ ॥
रामस्तं प्रतिजग्राह पृष्ट्वा गोत्रादि सर्वशः ।

दमें सबसे श्रेष्ठ देख गुप्तरीतिसे द्रोणाचार्यके निकट जाकर कहा, हे आचार्य! मैं रहस्य, प्रयोग और प्रतिसंहारके सहित ब्रह्मास्त्र सीखनेकी इच्छा करता हूं; क्यों कि मेरे मनमें अर्जुनके संङ्ग युद्ध करनेकी अभिलाषा है! पुत्र और शिष्योंके ऊपर आपकी समान ही प्रीति है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इससे आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये। जिसमें बुद्धिमान क्षत्रियोंके बीच कोई मुझे अकृतास्त्र न कह सके। (५-११)

द्रोणाचार्यने कर्णके वचनोंको सुनकर उसके चित्तके विषयको जान लिया, और अर्जुनके पक्षपाती होकर यह वचन बोले,—"व्रताचरण करनेवाले ब्राह्मणों और तपस्यामें निष्ठावान क्षत्रियोंको ही ब्रह्मास्त्र जानना उचित है; दूसरी जातिके मनुष्योंको ब्रह्मास्त्र सीखनेका अधिकार नहीं है।" जब द्रोणाचार्यने ऐसा उत्तर दिया, तब कर्ण उनका सम्मान करते हुए उनकी अनुमतिसे महेन्द्र पर्वत पर वास करनेवाले परशुरामजीके निकट गये। कर्णने परशुरामके समीप जाके सिर झुका कर उन्हें प्रणाम किया और उनसे कहा, कि "मैं भृगुवंशीय ब्राह्मण हूं।" परशुरामने उनका नाम गोत्र और शुभागमनका विषय पूंछ कर आदर पूर्वक उन्हें अपने आश्र-

उच्यतां स्वागतं चेति प्रीतिमांश्चाभवद्भृशम् ॥ १६ ॥
तत्र कर्णस्य वसतो महेंद्रे स्वर्गसन्निभे।
गंधर्वै राक्षसैर्यक्षैर्देवैश्चासीत्समागमः ॥ १७ ॥
स तत्रेष्वस्त्रमकरोद् भृगुश्रेष्ठाद्यथाविधि।
प्रियश्चाभवदत्यर्थं देवदानवरक्षसाम् ॥ १८ ॥
स कदाचित्समुद्रान्ते विचरन्नाश्रमान्तिके।
एकः खड्गधनुष्पाणिः परिचक्राम सूर्यजः ॥ १९ ॥
सोऽग्निहोत्रप्रसक्तस्य कस्याचिद्ब्रह्मवादिनः।
जघानाज्ञानतः पार्थ होमधेनुं यदृच्छया ॥ २० ॥
तदज्ञानकृतं मत्वा ब्राह्मणाय न्यवेदयत।
कर्णः प्रसादयंश्चैनमिदमित्यब्रवीद्वचः ॥ २१ ॥
अबुद्धिपूर्वं भगवन् धेनुरेषा हता तव।
मया तत्र प्रसादं च कुरुष्वेति पुनः पुनः ॥ २२ ॥
तं स विप्रोऽब्रवीत्क्रुद्धो वाचा निर्भर्त्सयन्निव।

म पर ठहराया। (१२-१६)

कर्ण प्रसन्न चित्तसे वहां रहने लगे, वह जब परशुराम जी के निकटमें जाकर महेन्द्र पर्वत पर निवास करने लगे, तब धीरे धीरे देवता, गन्धर्व, यक्ष और सब राक्षसोंके संग उनका मिलाप हुआ। वहां पर रहके कर्णने भृगुवंशियोंमें श्रेष्ठ परशुराम जी से विधिपूर्वक सम्पूर्ण महा अस्त्र शस्त्रोंकी विद्या सीख ली; और देवता, दानव तथा राक्षसोंके अत्यन्त ही प्रीति पात्र हुए। अनन्तर किसी समय सूर्यपुत्र कर्ण तलवार और धनुष बाण धारण करके समुद्रके निकटमें ही एक आश्रमके समीप भ्रमण कर रहे थे, उस समय दैवके वशमें होकर विना जाने उन्होंने एक अग्निहोत्र करनेवाले ब्रह्मवादी ब्राह्मणके यज्ञकी गऊका प्राण नाश किया; कुछ समय बीतने पर जब कर्णने जाना, कि विना जाने भूलसे मैंने ब्राह्मणकी गऊका वध किया है; तब उस ब्राह्मणके निकट जाके बहुत बिनती और प्रार्थनासे उस तपस्वी ब्राह्मणको प्रसन्न करनेके वास्ते यह वचन बोले। (१७-२१)

"हे द्विजश्रेष्ठ! मैंने बिना जाने आपकी गऊका वध किया है, इससे आप मेरे ऊपर प्रसन्न होइये।" जब वह बार बार उस ब्राह्मणकी प्रार्थना करके ऐसा ही वचन कहने लगे, तब वह ब्राह्मण बहुत ही क्रुद्ध हुआ और

दुराचारवधार्हस्त्वं फलं प्राप्नुहि दुर्मते ॥ २३ ॥
येन विस्पर्धसे नित्यं यदर्थं घटसेऽनिशम् ।
युध्यतस्तेन ते पाप भूमिश्चक्रं ग्रसिष्यति ॥ २४ ॥
ततश्चक्रे महीग्रस्ते मूर्धानं ते विचेतसः ।
पातयिष्यति विक्रम्य शत्रुर्गच्छ नराधम ॥ २५ ॥
यथेयं गौर्हता मूढ प्रमत्तेन त्वया मम ।
प्रमत्तस्य तथाऽरातिः शिरस्ते पातयिष्यति ॥ २६ ॥
शप्तः प्रसादयामास कर्णस्तं द्विजसत्तमम् ।
गोभिर्धनैश्च रत्नैश्च स चैनं पुनरब्रवीत ॥ २७ ॥
न हि मेऽव्याहृतं कुर्यात्सर्वलोकोऽपि केवलम् ।
गच्छ वा तिष्ठ वा यद्वा कार्यं ते तत्समाचर ॥२८ ॥
इत्युक्तो ब्राह्मणेनाथ कर्णो दैन्यादधोमुखः ।

कठोर वचनोंसे कर्णकी निन्दा करके यह वचन बोला, रे दुष्टबुद्धिवाले नीच पुरुष ! तेरा वध करना ही उचित है ! जो हो, तू अब अपने किये हुए पाप कर्मके फलको भोग कर; तू जिसके ऊपर सदा ही ईर्षा किया करता है, और जिसके वास्ते दृढताके सहित अस्त्र शस्त्रोंका अभ्यास कर रहा है, रे पापी ! उसके सङ्ग जब तेरा द्वैरथ युद्ध उपस्थित होगा, उस समय तेरे रथके चक्रको पृथ्वी ग्रास करेगा; रथचक्रको जब पृथ्वी ग्रास कर लेगी, और तू उस ही शोक तथा दुःखसे मोहित होजावेगा; उस ही समय तेरा शत्रु दृढ पराक्रम प्रकाशित करके तुम्हारा शिर काटेगा । अरे अधम पुरुष ! इस समय तूं यहांसे चला जा । रे मूढ ! जैसे तूने प्रमत्त होकर मेरे यज्ञकी गऊका प्राणनाश किया है, वैसेही तेरी प्रमत्त अवस्थामें ही तेरा शत्रु तेरे शिरको काटके पृथ्वीमें गिरावेगा ।" जब उस ब्राह्मणने कर्णको इस प्रकार शाप दिया, तब कर्ण अनेक गऊ और रत्न आदि वस्तुओंसे उस ब्राह्मणको यत्नपूर्वक प्रसन्न करने लगे । तब वह तपस्वी ब्राह्मण बोला, "मेरे मुखसे जो वचन निकला है, उसे सम्पूर्ण लोकके प्राणी इकट्ठे होकर भी मिथ्या करनेमें समर्थ नहीं हैं ।"-ऐसा विचार कर चाहे तुम यहांसे प्रस्थान करो, चाहे इसी स्थानमें निवास करो । ब्राह्मणका ऐसा वचन सुनके कर्ण अत्यन्त दीनता के सहित नीचा शिर करके उस ब्राह्मणके आश्रमसे बाहर हुए और विप्रशापसे भय भीत होकर चिन्ता करते

राममभ्यगमद्धीतस्तदेव मनसा स्मरन् ॥ २९ ॥ [७३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कर्णशापो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥२॥

नारद उवाच— कर्णस्य बाहुवीर्येण प्रणयेन दमेन च।
तुतोष भृगुशार्दूलो गुरुशुश्रूषया तथा ॥ १ ॥
तस्मै स विधिवत्कृत्स्नं ब्रह्मास्त्रं सनिवर्तनम्।
प्रोवाचाखिलमव्यग्रं तपस्वी तत्तपस्विने ॥ २ ॥
विदितास्त्रस्ततः कर्णो रममाणोऽऽश्रमे भृगोः।
चकार वै धनुर्वेदे यत्नमद्भुतविक्रमः ॥ ३ ॥
ततः कदाचिद्रामस्तु चरन्नाश्रममन्तिकात्।
कर्णेन सहितो धीमानुपवासेन कर्शितः ॥ ४ ॥
सुष्वाप जामदग्न्यस्तु विश्रंभोत्पन्नसौहृदः।
कर्णस्योत्संग आधाय शिरः क्लान्तमना गुरुः ॥ ५ ॥
अथ कृमिः श्लेष्ममेदोमांसशोणितभोजनः।
दारुणो दारुणस्पर्शः कर्णस्याभ्याशमागतः ॥ ६ ॥
स तस्योरुमथासाद्य बिभेद रुधिराशनः।

हुए उन्होंने परशुराम जीके निकट गमन किया (२२–२९) [७३]

शान्तिपर्वमें द्वितीय अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तृतीय अध्याय।

नारद मुनि बोले, भृगवंशियोंमें श्रेष्ठ तपस्वी परशुरामजी एकाग्रचित्तसे कर्णके बाहुवीर्य, शिक्षानुराग, इन्द्रियसंयम और गुरुशुश्रुषासे अत्यन्त ही प्रसन्न हुए अनन्तर उन्होंने स्थिरताके सहित अस्त्रशस्त्रोंके सम्पूर्ण रहस्यको प्रयोग और निवारण करनेके कौशल सहित सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्रका उपदेश किया। तिसके अनन्तर अद्भुत पराक्रमी कर्ण समस्त अस्त्रशस्त्रोंको जानके प्रसन्नतापूर्वक परशुरामके आश्रममें रहके धनुर्वेदमें विशेष परिश्रम करने लगे। किसी समय कर्णके सहित परशुरामजी आश्रमके निकट भ्रमण करते करते उपवासके क्लेशसे थक गये। अनन्तर विश्वासपात्र तथा स्नेह भाजन अपने शिष्य कर्णकी जङ्घापर शिर रखके सो गये (१–५)

जब परशुरामजी निद्रित हुए तब मांस, श्लेष्मा, रुधिर तथा मेद भोजन करनेवाला एक भयङ्कर कीडा कर्णके समीप आके रुधिर पीनेकी इच्छासे उनके जङ्घेको छेद कर लोहू पीने लगा;

न चैनमशकत्क्षेप्तुं हन्तुं वापि गुरोर्भयात् ॥ ७ ॥
सन्दश्यमानस्तु तथा कृमिणा तेन भारत।
गुरोः प्रबोधनाशंकी तमुपैक्षत सूर्यजः ॥ ८ ॥
कर्णस्तु वेदनां धैर्यादसह्यां विनिगृह्य ताम्।
अकम्पयन्नव्यथयन् धारयामास भार्गवम् ॥ ९ ॥
यदाऽस्य रुधिरेणाङ्गं परिस्पृष्टं भृगूद्वहः।
तदाऽबुध्यत तेजस्वी संत्रस्तश्चेदमब्रवीत् ॥ १० ॥
अहोऽस्म्यशुचितां प्राप्तः किमिदं क्रियते त्वया।
कथयस्व भयं त्यक्त्वा याथातथ्यमिदं मम ॥ ११ ॥
तस्य कर्णस्तदाचष्ट कृमिणा परिभक्षणम्।
ददर्श रामस्तं चापि कृमिं सूकरसन्निभम् ॥ १२ ॥
अष्टपादं तीक्ष्णदंष्ट्रं सूचीभिरिव संवृतम्।
रोमभिः सन्निरुद्धाङ्गमलर्कं नाम नामतः ॥ १३ ॥
स दृष्टमात्रो रामेण कृमिः प्राणानवासृजत्।
तस्मिन्नेवासृजि क्लिन्नस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १४ ॥

कर्ण गुरुके भयसे न तो उसे दूर फेंक सके और न उसका वध कर सके। हे राजेन्द्र! कर्णने केवल परशुरामकी निद्रा–भङ्ग होनेकी शङ्का करके अपने घावकी पीडाको धीरज धरके सहन किया और तनिक भी विचलित न होकर परशुरामजीके शिरको अपने जङ्घेके ऊपर धारण किया। जब कर्णके जांघके घावसे रुधिर बहके महातेजस्वी परशुरामजीके शरीरमें लगा, तब वह निद्रासे जागके उठे और कर्णसे बोले, कि तुमने यह क्या किया? हाय! मेरा शरीर इस समय अपवित्र होगया! जो हो, अब तुम भय त्यागकर इसका यथार्थ कारण मुझसे वर्णन करो? (६–११)

अनन्तर कर्णने जिस प्रकार वह कीडा जङ्घाको छेदकर मांस रुधिरके बीच प्रविष्ट हुआ था, वह वृत्तान्त परशुरामजीको सुना दिया। इसके अनन्तर परशुरामजीने देखा, आठ पांव और तीक्ष्ण दांतोंसे युक्त सुईके समान, रुओंसे पूरित कायसे सिकुडा हुआ सूकरके समान आकृतिवाला अलर्क नाम एक कीडा कर्णके घावके भीतर स्थित है। उसने परशुरामके दृष्टिमात्रसे ही विकल होके रुधिरमें ही फंसके प्राण त्याग किया; उस समय उसकी मृत्यु अद्भुत रूपसे

ततोऽन्तरिक्षे ददृशे विश्वरूपः करालवान् ।
राक्षसो लोहितग्रीवः कृष्णाङ्गो मेघवाहनः ॥ १५ ॥
स रामं प्राञ्जलिर्भूत्वा बभाषे पूर्णमानसः ।
स्वस्ति ते भृगुशार्दूल गमिष्येऽहं यथागतम् ॥ १६ ॥
मोक्षितो नरकादस्माद्भवता मुनिसत्तम ।
भद्रं तवास्तु वन्दे त्वां प्रियं मे भवता कृतम्॥ १७ ॥
तमुवाच महाबाहुर्जामदग्न्यः प्रतापवान् ।
कस्त्वं कस्माच्च नरकं प्रतिपन्नो ब्रवीहि तत् ॥ १८ ॥
सोऽब्रवीदहमासं प्राक् दंशो नाम महासुरः
पुरा देवयुगे तात भृगोस्तुल्यवया इव ॥ १९ ॥
सोऽहं भृगोः सुदयितां भार्यामपहरं बलात् ।
महर्षेरभिशापेन कृमिभूतोऽपतं भुवि ॥ २० ॥
अब्रवीद्धि स मां क्रुद्धस्तव पूर्वपितामहः ।
मूत्रश्लेष्माशनः पाप निरयं प्रतिपत्स्यसे ॥ २१ ॥
शापस्यान्तो भवेद्ब्रह्मन्नित्येवं तमथाब्रुवम् ।

दीख पडी। उसके अनन्तर आकशमें मेघमण्डलके बीच काला स्वरूप, लाल गर्दन और भयङ्कर मूर्त्तिवाला एक राक्षस दीख पडा। वह सफल मनोरथ होकर हाथ जोडके परशुरामसे यह वचन बोला, हे भृगुकुल भूषण परशुराम! आपका कल्याण होवे इस समय अब मैं अपने योग्य स्थानपर गमन करूंगा। हे मुनि-सत्तम! आपने मुझे इस नरकसे मुक्त करके मेरा बहुत ही प्रियकार्य किया है, मैं आपको प्रणाम करता हूं। (१२-१७)

महाबाहु प्रतापी जमदग्निपुत्र परशु-रामने उसका ऐसा वचन सुनके उससे पूछा, कि "तुम कौन हो और किस कारणसे नरकमें पडे थे?" यह समा-चार मेरे समीप वर्णन करो। वह कहने लगा, हे तात! सतयुगमें मैं दंश नामक एक क्रूर राक्षस था; मेरी अवस्था तुम्हारे पूर्वपितामह महर्षि भृगुके समान ही थी, अनन्तर मैंने महर्षि भृगुकी प्यारी स्त्रीको बलपूर्वक हरण किया, इसीसे महात्मा भृगुके शापसे कीडा होकर पृथ्वीमें गिर पडा। हे परशुराम! अन-न्तर तुम्हारे पितामह महर्षि भृगु क्रोधि त होकर मुझसे यह वचन बोले, अरे पापी! "तू महाघोर नरकमें पडके सदा मलमूत्र रुधिर और मांसभक्षी

भविता भार्गवाद्रामादिति मामब्रवीद्भृगुः ॥ २२ ॥
सोऽहमेनां गतिं प्राप्तो यथा नकुशलं तथा।
त्वया साधो समागम्य विमुक्तः पापयोनितः ॥ २३ ॥
एवमुक्त्वा नमस्कृत्य ययौ रामं महासुरः।
रामः कर्णं च सक्रोधमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २४ ॥
अतिदुःखमिदं मूढ न जातु ब्राह्मणः सहेत्।
क्षत्रियस्यैव ते धैर्यं कामया सत्यमुच्यताम् ॥ २५ ॥
तमुवाच ततः कर्णः शापाद्भीतः प्रसादयन्।
ब्रह्मक्षत्रान्तरे जातं सूतं मां विद्धि भार्गव ॥ २६ ॥
राधेयः कर्ण इति मां प्रवदन्ति जना भुवि।
प्रसादं कुरु मे ब्रह्मन्नस्त्रलुब्धस्य भार्गव ॥ २७ ॥
पिता गुरुर्न संदेहो वेदविद्याप्रदः प्रभुः।

होगा।" उनका ऐसा दारुण वचन सुनके मैंने उनसे कहा, हे ब्राह्मण! कितने दिनोंमें मैं तुम्हारे इस शापसे मुक्त होऊंगा? मेरे वचनको सुनके भगवान् भृगु मुनि बोले, कि "मेरे कुलमें राम नामक जो महात्मा पुरुष उत्पन्न होगा, उसके दर्शनसे तू शापसे छूटेगा।" (१८-२२)

हे राम! इस ही कारणसे मैं दुष्टात्मा लोगोंकी भांति इस नीच गतिको प्राप्त हुआ था; अब आपके दर्शनसे इस पापयोनिसे मुक्त हुआ हूं। वह राक्षस परशुरामजीके निकट अपना सम्पूर्ण वृत्तान्त इसी भांति वर्णन कर, उन्हें प्रणाम करके अपने स्थानपर गया। अनन्तर परशुराम जी क्रुद्ध होके कर्णसे बोले, अरे मूढ! तेरा धीरज देखके मुझे बोध होता है, कि तूं क्षत्रिय है, क्यों कि ब्राह्मण जाति कभी भी बहुत कष्ट नहीं सह सक्ती; इससे तूं निर्भय होके अपना सत्य वृत्तान्त वर्णन कर। (२३-२५)

अनन्तर कर्ण शापके भयसे डरके गुरुको प्रसन्न करनेकी अभिलाषासे यह वचन बोले, हे भार्गव! ब्राह्मण और क्षत्रियके मेलसे सूत जाति प्रकट हुई है; मुझे भी आप उस ही सूत कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष समझिये; क्यों कि इस ही कारणसे सब कोई मुझे राधापुत्र कर्ण कहके आवाहन करते हैं। हे ब्राह्मण! आप मुझ अस्त्रलोभी पुरुषके ऊपर प्रसन्न होइये वेद और विद्या देनेवाले, गुरु जो पिता कहके वर्णन किये गये हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; इस

अतो भार्गव इत्युक्तं मया गोत्रं तवान्तिके ॥ २८ ॥
तमुवाच भृगुश्रेष्ठः सरोषः प्रहसन्निव ।
भूमौ निपतितं दीनं वेपमानं कृताञ्जलिम् ॥ २९ ॥
यस्मान्मिथ्योपचरितो ह्यस्त्रलोभादिह त्वया ।
तस्मादेतन्न ते मूढ ब्रह्मास्त्रं प्रतिभास्यति ॥ ३० ॥
अन्यत्र वधकालात्ते सदृशेन समीयुषः ।
अब्राह्मणे न हि ब्रह्म ध्रुवं तिष्ठेत्कदाचन ॥ ३१ ॥
गच्छेदानीं न ते स्थानमनृतस्येह विद्यते ।
न त्वया सदृशो युद्धे भविता क्षत्रियो भुवि ॥ ३२ ॥
एवमुक्तः स रामेण न्यायेनोपजगाम ह ।
दुर्योधनमुपागम्य कृतास्त्रोऽस्मीति चाब्रवीत् ॥ ३३ ॥ [१०६]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशास० कर्णास्त्रप्राप्तिर्नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

नारद उवाच- कर्णस्तु समवाप्यैवमस्त्रं भार्गवनन्दनात् ।

ही कारणसे मैंने आपके निकट भार्गव गोत्रीय ब्राह्मण कहके अपना परिचय दिया था। (२६—२८)

भृगुवंशिय श्रेष्ठ परशुराम जी कर्णके ऐसे वचनको सुनके अन्तःकरणसे क्रोधित हुए, परन्तु बाहरी भावसे हंसके उस पृथ्वीमें गिरे, भयसे कांपते, दोनों हाथ जोडे, तथा अत्यन्त दीनभावसे युक्त कर्णसे यह वचन बोले। अरे मूढ! तूने जब अस्त्रलोभसे मेरे समीप मिथ्या व्यवहार किया है, तब तेरा सीखा हुआ सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्र तुझे अन्तकालमें भूल जायगा, परन्तु जबतक तू अपने समान वीर योद्धाके सङ्ग रणभूमिमें युद्ध करते हुए विपदग्रस्त नहीं होगा, उस मृत्यु कालके अतिरिक्त ये सम्पूर्ण ब्रह्मास्त्र तुझे स्मरण रहेंगे; क्यों कि ब्रह्मास्त्र ब्राह्मणके सिवा अन्य किसी जातिके पुरुषोंको मृत्युके समय स्मरण नहीं रहता; तौभी इस पृथ्वीके बीच कोई क्षत्रिय तेरे समान शूरवीर योद्धा नहीं होगा, इस समय अब तुम इस स्थानसे गमन करो, क्यों कि मिथ्या व्यवहार करनेवाले पुरुष इस स्थानमें रहने योग्य नहीं हैं। कर्ण परशुरामजीके ऐसे न्याय युक्त वचनको सुनके वहांसे विदा हो, दुर्योधनके समीप गमन करके उनसे यह वचन बोले, "हे महाराज! अब मैं कृतास्त्र होके आया हूं।" (२८-३३)

शान्तिपर्वमें तृतीय अध्याय समाप्त ॥[१०६]

शान्तिपर्वमें चतुर्थ अध्याय ।

नारद मुनि बोले, हे राजेन्द्र युधि-

दुर्योधनेन सहितो मुमुदे भरतर्षभ ॥ १ ॥
ततः कदाचिद्राजानः समाजग्मुः स्वयंवरे ।
कलिङ्गविषये राजन् राज्ञश्चित्राङ्गदस्य च ॥ २ ॥
श्रीमद्राजपुरं नाम नगरं तत्र भारत ।
राजानः शतशस्तत्र कन्यार्थं समुपागमन् ॥ ३ ॥
श्रुत्वा दुर्योधनस्तत्र समेतान् सर्वपार्थिवान् ।
रथेन काञ्चनाङ्गेन कर्णेन सहितो ययौ ॥ ४ ॥
ततः स्वयंवरे तस्मिन्संप्रवृत्ते महोत्सवे ।
समाजग्मुर्नृपतयः कन्यार्थं नृपसत्तम ॥ ५ ॥
शिशुपालो जरासन्धो भीष्मको वक्र एव च ।
कपोतरोमा नीलश्च रुक्मी च दृढविक्रमः ॥ ६ ॥
सृगालश्च महाराजः स्त्रीराज्याधिपतिश्च यः ।
अशोकः शतधन्वा च भोजो वीरश्च नामतः ॥ ७ ॥
एते चान्ये च बहवो दक्षिणां दिशमाश्रिताः ।
म्लेच्छाचार्याश्च राजानः प्राच्योदीच्यास्तथैव च ॥८॥
काञ्चनाङ्गदिनः सर्वे शुद्धजाम्बूनदप्रभाः ।

स्थिर ! इसी भांति कर्ण भृगुकुल भूषण परशुरामजीके निकटसे अस्त्र विद्या सीखनेके अनन्तर दुर्योधनके सङ्ग मिलके परम आनन्दमें अपने जीवनका समय व्यतीत करने लगे। किसी समयमें पृथ्वीके सैकडों राजा कलिङ्ग देशमें राजा चित्राङ्गद की राजधानी सौभाग्ययुक्त "राजपुर" नाम नगरीमें स्वयम्वर सभाके बीचमें कन्या प्राप्त करनेकी अभिलाषासे इकट्ठे हुए थे, राजा दुर्योधन भी स्वयम्वरका वृत्तान्त सुनके कर्णको सङ्ग लेकर सुवर्णभूषित रथमें बैठ कर राजाओंकी मण्डलीके बीच उपस्थित हुए। (१—४)

अनन्तर उस स्वयम्वरके महोत्सवको सुनके महाराज जरासन्ध, शिशुपाल भीष्मक, वक्र, कपोतरोमा नील, दृढ पराक्रमी रुक्मी, स्त्रीराज्यके स्वामी महाराज सृगाल, शतधन्वा, अशोक, वीरनामा, भोजराज और इसके अतिरिक्त दक्षिण, पूर्व, और उत्तर देशीय बहुतेरे म्लेच्छाचार्य राजा लोग कन्या प्राप्त होनेकी इच्छासे उस स्वयंवरके बीच उपस्थित हुए। वे सम्पूर्ण राजा लोग सुवर्णभूषित कवच और तपाये हुए जाम्बुनद सोनेके समान प्रकाशमान

सर्वे भास्वरदेहाश्च व्याघ्रा इव बलोत्कटाः ॥ ९ ॥
ततः समुपविष्टेषु तेषु राजसु भारत ।
विवेश रङ्गं सा कन्या धात्रीवर्षवरान्विता ॥ १० ॥
ततः संश्राव्यमाणेषु राज्ञां नामसु भारत ।
अत्यक्रामद्धार्तराष्ट्रं सा कन्या वरवर्णिनी ॥ ११ ॥
दुर्योधनस्तु कौरव्यो नामर्षयत लङ्घनम् ।
प्रत्यषेधच्च तां कन्यामसत्कृत्य नराधिपान् ॥ १२ ॥
सवीर्यमदमत्तत्वाद्भीष्मद्रोणावुपाश्रितः ।
रथमारोप्य तां कन्यामाजहार नराधिपः ॥ १३ ॥
तमन्वगाद्रथी खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान् ।
कर्णः शस्त्रभृतां श्रेष्ठः पृष्ठतः पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥
ततो विमर्दः सुमहान् राज्ञामासीद्युयुत्सताम् ।
सन्नह्यतां तनुत्राणि रथान्योजयतामपि ॥ १५ ॥
तेऽभ्यधावन्त संक्रुद्धाः कर्णदुर्योधनावुभौ ।
शरवर्षाणि मुञ्चन्तो मेघाः पर्वतयोरिव ॥ १६ ॥

शरीरसे युक्त तथा सिंहके समान बलवान् थे, इसी भांति जब सम्पूर्ण राजा राज सभामें बैठ गये, तब राजकन्या सहेली और नपुंसकोंको सङ्ग लेकर रङ्गभूमि तथा स्वयंवरकी सभामें पविष्ट हुई। तिसके अनन्तर राजाओंके नाम, गोत्र तथा वंशका वृत्तान्त दासियोंके मुखसे सुनती हुई वह राजकन्या अन्य राजाओंकी भांति राजा दुर्योधनको भी अति क्रम करके आगे बढी। कुरुनन्दन दुर्योधनसे यह अपमान नहीं सहा गया, अनन्तर उन्होंने सम्पूर्ण राजाओंको असंमानित करके उस राजकन्याको आगे बढनेसे निषेध किया और भीष्म तथा द्रोणाचार्यके आसरे तथा अपने बलके घमण्डसे उस राजकन्याको रथमें बैठा कर वहांसे प्रस्थान किया। (५-१३)

शस्त्र धारियोंमें श्रेष्ठ पराक्रमी कर्ण कवच और अंगुलित्राणसे युक्त हो तलवार आदि अस्त्रशस्त्रोंको धारण करके रथ पर चढ कर दुर्योधनके पीछे पीछे गमन करने लगे, उसे देखकर राजाओंकी मण्डलीके बीच महाघोर कोलाहल होने लगा। अनन्तर वे सम्पूर्ण राजा कवच पहरके तथा अस्त्र शस्त्रोंको ग्रहण कर रथ चढके कर्ण और दुर्योधनके ऊपर इस भांति अपने बाणोंकी वर्षा करते हुए उनकी ओर दौडे, जैसे बादल

कर्णस्तेषामापततामेकैकेन शरेण ह ।
धनूंषि च शरव्रातान्पातयामास भूतले ॥ १७ ॥
ततो विधनुषः कांश्चित्कांश्चिदुद्यतकार्मुकान् ।
कांश्चिच्चोद्वहतो बालान् रथशक्तिगदास्तथा ॥ १८ ॥
लाघवाद् व्याकुलीकृत्य कर्णः प्रहरतां वरः ।
हतसूतांश्च भूयिष्ठानवजिग्ये नराधिपान् ॥ १९ ॥
ते स्वयं वाहयन्तोऽश्वान् पाहि पाहीति वादिनः ।
व्यपेयुस्ते रणं हित्वा राजानो भग्नमानसाः ॥२० ॥
दुर्योधनस्तु कर्णेन पाल्यमानोऽभ्ययात्तदा ।
हृष्टः कन्यामुपादाय नगरं नागसाह्वयम् ॥ २१ ॥ [१२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मपर्वणि
दुर्योधनस्य स्वयंवरे कन्याहरणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

नारद उवाच— आविष्कृतबलं कर्णं श्रुत्वा राजा स मागधः ।

दो पर्वतोंके ऊपर जलकी वर्षा करते हैं जब इस भांतिसे सम्पूर्ण राजा लोग सम्मुख उपस्थित हुए, तब पराक्रमी कर्णने एक एक बाणसे उन सम्पूर्ण राजाओंके धनुष बाणको काट काट पृथ्वीमें गिरा दिया । उस समय कोई कोई धनुष चढाके तथा कोई कोई राजा गदा आदि अस्त्र शस्त्रोंको ग्रहण करके कर्णके सम्मुख उपस्थित हुए परन्तु योद्धाओंमें मुख्य कर्णने अपने हस्त लाघवसे बाण चला कर समस्त राजाओंको व्याकुल कर दिया, तथा कितनोंको धनुष रहित और कितनोंके सारथीका प्राण नाश करके उन सम्पूर्ण राजाओंको पराजित किया, उस समय सम्पूर्ण राजाओंका मनोरथ निष्फल होगया और वे लोग पराजित होकर स्वयं अपने रथके घोडोंको हांकते तथा कितने ही राजा अपने सारथियोंको "चलो ! पीछे लौटो !" ऐसा वचन कहते हुए रणभूमि छोडकर भागने लगे । (१४-२०)

नारद मुनि बोले, हे महाराज युधिष्ठिर ! उस समय राजा दुर्योधन इसी भांति कर्णके भुजबलसे रक्षित होकर कन्या ग्रहण करके हर्षयुक्त तथा आनन्दित चित्तसे हस्तिनापुरमें आ विराजे । (२१)　　[१२७]

शान्तिपर्वमें चार अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें पांच अध्याय ।

नारद मुनि बोले, मगधदेशके राजा पराक्रमी जरासन्धने कर्णके बल-पराक्र-

आह्वयद्द्वैरथेनाजौ जरासन्धो महीपतिः ॥ १ ॥
तयोः समभवद्युद्धं दिव्यास्त्रविदुषोर्द्वयोः ।
युधि नानाप्रहरणैरन्योन्यमभिवर्षतोः ॥ २ ॥
क्षीणबाणौ विधनुषौ भग्नखड्गौ महीं गतौ ।
बाहुभिः समसज्जेतामुभावपि बलान्वितौ ॥ ३ ॥
बाहुकण्टकयुद्धेन तस्य कर्णोऽथ युध्यतः ।
बिभेद सन्धिं देहस्य जरया श्लेषितस्य हि ॥ ४ ॥
स विकारं शरीरस्य दृष्ट्वा नृपतिरात्मनः ।
प्रीतोऽस्मीत्यब्रवीत्कर्णं वैरमुत्सृज्य दूरतः ॥ ५ ॥
प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ ।
अङ्गेषु नरशार्दूल स राजाऽऽसीत्सपत्नजित् ॥ ६ ॥
पालयामास चम्पां च कर्णः परबलार्दनः ।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा ॥ ७ ॥
एवं शस्त्रप्रतापेन प्रथितः सोऽभवत्क्षितौ ।
त्वद्धितार्थं सुरेन्द्रेण भिक्षितो वर्मकुण्डले ॥ ८ ॥

मका वृतान्त सुनके उन्हें द्वैरथ युद्धके वास्ते आह्वान किया। अनन्तर परम अस्त्र शस्त्रोंके जाननेवाले वे दोनों वीर नाना भांतिके अस्त्र शस्त्रोंको चलाते हुए महाघोर युद्ध करने लगे। धीरे धीरे जब उन दोनों वीरोंके धनुष कटे और तूणीर बाणोंसे रहित हुए तथा तलवार आदिक शस्त्र टूट गये, तब वे दोनों वीर रथसे उतरके आपसमें मल्लयुद्ध करने लगे। अनन्तर पराक्रमी कर्णने बाहुयुद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए जरासंधके जरा राक्षसी के जोडे हुए सन्धिस्थलको छितरा दिया, तब जरासन्ध अपने शरीरका विकृत भाव देखकर शत्रुता त्यागके कर्णसे यह वचन बोले, "हे कर्ण ! मैं तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हुआ हूं।"(१-५)

अनन्तर उसही प्रसन्नताके कारण जरासन्धने कर्णको मालिनी नाम्नी नगरी दान किया। हे राजेन्द्र युधिष्ठिर ! शत्रुनाशन कर्ण पहिले केवल अङ्गदेशहीके राजा थे, तिसके अनन्तर जरासन्धकी दी हुई चम्पा अर्थात मालिनी नगरीको भी दुर्योधनकी अनुमतिसे पालन करने लगे, वह सब वृत्तान्त तुम से कुछ भी छिपा नहीं है। महा बलवान तेजस्वी कर्ण केवल इसी भांति शस्त्र बलके प्रभावसे पृथ्वीके बीच विख्यात हुए थे। शेषमें देवराज इन्द्रने

स दिव्ये सहजे प्रादात्कुण्डले परमार्चिते।
सहजं कवचं चापि मोहितो देवमायया ॥ ९ ॥
विमुक्तः कुण्डलाभ्यां च सहजेन च वर्मणा।
निहतो विजयेनाजौ वासुदेवस्य पश्यतः ॥ १० ॥
ब्राह्मणस्याभिशापेन रामस्य च महात्मनः।
कुन्त्याश्च वरदानेन मायया च शतक्रतोः ॥ ११ ॥
भीष्मावमानात्संख्यायां रथस्यार्धानुकीर्तनात्।
शल्यात्तेजो वधाच्चापि वासुदेवनयेन च ॥ १२ ॥
रुद्रस्य देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च।
कुबेरद्रोणयोश्चैव कृपस्य च महात्मनः ॥ १३ ॥
अस्त्राणि दिव्यान्यादाय युधि गाण्डीवधन्वना।
हतो वैकर्तनः कर्णो दिवाकरसमद्युतिः ॥ १४ ॥
एवं शप्तस्तव भ्राता बहुभिश्चापि वञ्चितः।
न शोच्यः पुरुषव्याघ्र युद्धेन निधनं गतः ॥ १५ ॥ [१४२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि कर्णवीर्यकथनं नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

तुम्हारे हितकी अभिलाषासे कर्णके निकट जाके उनके शरीरसे ही उत्पन्न हुए अभेद कवच और कुण्डलका दान मांगा; उस समय कर्णने दैवी माया से मोहित होकर अपने शरीरसे उत्पन्न हुए उस अभेद कवच कुण्डलको देवराज इन्द्रको दे दिया था। महाराज! वह गर्भसे ही उत्पन्न हुए अपने शरीरके अभेदकवच और कुण्डलको दान करके ठगे गये थे; इसही कारण युद्धभूमिमें श्रीकृष्णके सम्मुख अर्जुनके हाथसे मारे गये। तौभी देखिये कि महात्मा परशुराम और होमकी गऊके प्राण नाश होनेसे ब्राम्हणके शाप, कुन्तीके वरदान, इन्द्रकी मायाकौशल, सभाके बीच भीष्मके अर्द्धरथी कहके पुकारे जानेका अपमान, शल्यके कठोर वचनोंसे तेजहानि, और श्रीकृष्णचन्द्रके नीतिबल, वा उपायके एकत्र मिलित होनेसे तथा गाण्डीव धनुष धारण करनेवाले अर्जुनने रुद्र, देवराज इन्द्र, यम, वरुण, कुबेर, महात्मा द्रोणाचार्यके निकटसे सम्पूर्ण दिव्य अस्त्रशस्त्रोंको प्राप्त किया था; इस ही कारण सूर्यके समान तेजस्वी सूर्य पुत्र कर्ण मारे गये हैं। महाराज! तुम्हारे भ्राता पुरुषसिंह कर्ण इसी प्रकार

वैशम्पायन उवाच-एतावदुक्त्वा देवर्षिर्विरराम स नारदः ।
युधिष्ठिरस्तु राजर्षिर्दध्यौ शोकपरिप्लुतः ॥ १ ॥
तं दीनमनसं वीरं शोकोपहतमातुरम् ।
निःश्वसन्तं यथा नागं पर्यश्रुनयनं तथा ॥ २ ॥
कुन्तीशोकपरीताङ्गी दुःखोपहतचेतना ।
अब्रवीन्मधुरा भाषा काले वचनमर्थवत् ॥ ३ ॥
युधिष्ठिर महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि ।
जहि शोकं महाप्राज्ञ शृणु चेदं वचो मम ॥ ४ ॥
याचितः स मया पूर्वं भ्रात्र्यं ज्ञापयितुं तव ।
भास्करेण च देवेन पित्रा धर्मभृतां वरः ॥ ५ ॥
यद्वाच्यं हितकामेन सुहृदा हितमिच्छता ।
तथा दिवाकरेणोक्तः स्वप्नान्ते मम चाग्रतः ॥ ६ ॥
न चैनमशकद्भानुरहं वा स्नेहकारणैः ।

महात्माओंके शापसे युक्त और वञ्चित हुए थे; तो भी सम्मुख संग्राममें मारे गये; इससे उसके वास्ते अब आप शोक न कीजिये। (६-१५) [१४२]

शान्तिपर्वमें पांच अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें छः अध्याय।

श्रीवैशम्पायनमुनि बोले, देवऋषि नारद इतनी कथा सुनाके चुप होगये। अनन्तर राज-ऋषि युधिष्ठिर अत्यन्तही शोक और चिन्तासे मोहित होकर दुःखित चित्तसे बार बार सर्पकी भांति लम्बी स्वांस छोडते हुए आंखोंसे आंसू बहाने लगे। राजा युधिष्ठिरकी ऐसी दशा देखके शोक और दुःखसे विह्वल होकर कुन्ती देवी उस समयके अनुसार यह अर्थ-युक्त वचन बोली, हे तात युधिष्ठिर! तुम महा बुद्धिमान और वीर पुरुष हो; इससे तुम्हें इस भांतिसे शोकित होना उचित नहीं है; तुम शोक त्यागके मेरा वचन चित्त लगाके सुनो। (१—४)

तुम कर्णके भ्राता हो, यह वृत्तान्त कर्णको विदित करानेके लिये पहिले कर्णके पिता भगवान् सूर्यदेव और मैंने बहुत ही यत्न किया, अधिक लिये कहूं, तुम्हारे सङ्ग मेल करानेके वास्ते हम दोनोंने कर्णसे अत्यन्त ही विनती करी थी; विशेष करके भगवान् सूर्यने कर्णके हितकी अभिलाष करके जो कुछ वचन कहना उचित था, वह स्वप्नमें तथा मेरे सम्मुखमें कहे थे, परन्तु प्रीति प्रेम तथा नाना कारण दिखाके भी हम दोनों

पुरा प्रत्यनुनेतुं वा नेतुं वाऽप्येकतां त्वया ॥ ७ ॥
ततः कालपरीतः स वैरस्योद्धरणे रतः।
प्रतीपकारी युष्माकमिति चोपेक्षितो मया ॥ ८ ॥
इत्युक्तो धर्मराजस्तु मात्रा बाष्पाकुलेक्षणः।
उवाच वाक्यं धर्मात्मा शोकव्याकुलितेन्द्रियः॥ ९ ॥
भवत्या गूढमंत्रत्वात्पीडितोऽस्मीत्युवाच ताम्॥ १० ॥
शशाप च महातेजाः सर्वलोकेषु योषितः।
न गुह्यं धारयिष्यन्तीत्येवं दुःखसमन्वितः ११ ॥
स राजा पुत्रपौत्राणां सम्बन्धिसुहृदां तदा।
स्मरन्नुद्विग्नहृदयो बभूवोद्विग्नचेतनः ॥ १२ ॥
ततः शोकपरीतात्मा सधूम इव पावकः।
निर्वेदमगमद्धीमान् राजा सन्तापपीडितः॥ १३ ॥ [१५५]

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्त्रीशापे षष्ठोऽध्यायः॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच- युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा शोकव्याकुलचेतनः।

किसी भांति कृतकार्य न होसके। वह कालके वशमें होकर सदा तुम लोगोंके सङ्ग शत्रुताचरण करनेमें प्रवृत्त था, इससे मैंने भी उसके पराक्रमको देखनेकी इच्छासे उसके विषयका वृत्तान्त तुम्हारे समीप नहीं वर्णन किया। (५-८)

राजा युधिष्ठिर कुन्तीके वचनको सुनकर आंखोंमें आंसू भरके यह वचन बोले,-हे माता! तुमने जो इस विषयको छिपा रक्खा, इसी निमित्त इस समय मुझे इतना दुख तथा शोक हुआ है। ऐसा वचन कहते कहते महा तेजस्वी राजा युधिष्ठिरने अत्यन्त ही दुःखित हो कर यह वचन कहके सम्पूर्ण स्त्रियोंको शाप दिया, कि, " आजसे कोई स्त्री भी गुढ विचारको छिपानेमें समर्थ न होगी " अनन्तर बुद्धिमान राजा युधिष्ठिर, पुत्र, पौत्र, सम्बन्धी तथा इष्ट मित्रोंकी मृत्युको स्मरण करके अत्यन्त ही व्याकुल हुए; वह धीरे धीरे शोक तथा दुःखसे अत्यन्त ही विकल होके धूएंसे व्याप्त अग्निकी भांति मन मलिन चित्त होकर बहुत चिन्ता करने लगे। (९-१३) [१५५]

शांतिपर्वमें छः अध्याय समाप्त।

शांतिपर्वमें सात अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर महारथी कर्णको स्मरण करके शोक तथा दुःखसे व्याकुल होकर

शुशोच दुःखसन्तप्तः स्मृत्वा कर्णं महारथम् ॥ १ ॥
आविष्टो दुःखशोकाभ्यां निश्वसंश्च पुनःपुनः ।
दृष्ट्वाऽर्जुनमुवाचेदं वचनं शोककर्शितः ॥ २ ॥
युधिष्ठिर उवाच—यद्भैक्ष्यमाचरिष्याम वृष्ण्यन्धकपुरे वयम् ।
ज्ञातीन्निष्पुरुषान्कृत्वा नेमां प्राप्स्याम दुर्गतिम् ॥ ३ ॥
अमित्रा नः समृद्धार्थाः वृत्तार्थाः कुरवः किल ।
आत्मानमात्मना हत्वा किं धर्मफलमाप्नुमः ॥ ४ ॥
धिगस्तु क्षात्रमाचारं धिगस्तु बलपौरुषम् ।
धिगस्त्वमर्षं येनेमामापदं गमिता वयम् ॥ ५ ॥
साधु क्षमा दमः शौचं वैराग्यं चाप्यमत्सरः ।
अहिंसा सत्यवचनं नित्यानि वनचारिणाम् ॥ ६ ॥
वयं तु लोभान्मोहाच्च दम्भं मानं च संश्रिताः ।
इमामवस्थां संप्राप्ता राज्यलाभबुभुत्सया ॥ ७ ॥

अत्यन्त ही चिन्ता करने लगे। वह बार बार दुःख और शोकसे पीडित होकर लम्बी सांस छोडते हुए अर्जुनको संमुख देखकर यह वचन बोले,—हे अर्जुन! यदि हम लोग इसके पहिले वृष्णि और अन्धक प्रदेशमें जाके भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके अपनी जीविकाका निर्वाह करते, तो जातिके पुरुषोंका नाश न होता, और न हम लोगोंकी ऐसी दुर्गति ही होती। हम लोगोंके शत्रु कौरव लोग ही इस समय अधिक ऐश्वर्यवान हुए हैं, क्यों कि वे लोग क्षत्रिय धर्मके अनुसार संमुख संग्राममें मरके स्वर्ग लोकमें गये हैं; और जातिके लोगोंका वध करनेसे हम लोगोंका बल पुरुषार्थ घटगया है; क्यों कि जो पुरुष स्वयं अपना नाश करते हैं, उन्हें धर्म-लाभकी कौनसी सम्भावना है? इससे क्षत्रियोंके आचार, बल और पुरुषार्थको धिकार है! और क्रोधको भी धिक्कार है, जिसके कारणसे हम लोगोंको इस भांति विपद्ग्रस्त होना पडा। (१-५)

इस समय मुझे यह खूबही निश्चय हुआ है, कि क्षमा इन्द्रियसंयम, पवित्रता, वैराग्य, अमत्सर, अहिंसा और सत्य वचन आदि वनवासी ऋषि मुनियोंके व्यवहार ही उत्तम हैं, हम लोग केवल लोभ और मोहके वशमें होकर राज्य लोभकी लालसा तथा दम्भ और अभिमानके वशमें होकर ही ऐसी दशाको प्राप्त हुये हैं, पृथ्वीके विजयकी अभिलाष करनेवाले बन्धुबान्धवोंको मरे

त्रैलोक्यस्यापि राज्येन नास्मान्कश्चित्प्रहर्षयेत् ।
बान्धवान्निहतान्दृष्ट्वा पृथिव्यां विजयैषिणः ॥ ८ ॥
ते वयं पृथिवीहेतोरवध्यान् पृथिवीश्वरान् ।
सम्परित्यज्य जीवामो हीनार्था हतबान्धवाः ॥ ९ ॥
आमिषे गृध्यमानानामशुभं वै शुनामिव ।
आमिषं चैव नो हीष्टमामिषस्य विवर्जनम् ॥ १० ॥
न पृथिव्या सकलया न सुवर्णस्य राशिभिः ।
न गवाश्वेन सर्वेण ते त्याज्या य इमे हताः ॥ ११ ॥
काममन्युपरीतास्ते क्रोधहर्षसमन्विताः ।
मृत्युयानं समारुह्य गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १२ ॥
बहुकल्याणसंयुक्तानिच्छन्ति पितरः सुतान् ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च तितिक्षया ॥ १३ ॥
उपवासैस्तथेज्याभिर्व्रतकौतुकमङ्गलैः ।
लभन्ते मातरो गर्भान्मासान्दश च बिभ्रति ॥ १४ ॥
यदि स्वस्ति प्रजायन्ते जाता जीवन्ति वा यदि ।

हुए देखकर हम लोगोंका चित्त जैसा दुःखित हुआ है, उससे ऐसा बोध होता है, कि कोई तीनों लोकोंका राज्य देकर भी हम लोगोंको सन्तुष्ट नहीं कर सकता है । हम लोग राज्यके वास्ते अवध्य स्वजनोंको मारकर भी इस समय जीवित हैं । मांसके लोभसे आपसमें लडनेवाले कुत्तोंके समूहकी भांति राज्य लोभसे स्वजनोंका नाश करके हमको इस प्रकार अमङ्गल प्राप्त हुआ है, इससे अब इस समय इस राज्यरूपी मांसको ग्रहण करनेमें हमारी अभिलाषा नहीं होती है। सो इसको त्यागनाही उत्तम है; क्योंकि इस युद्धमें जो लोग मारे गये हैं, वे लोग सम्पूर्ण पृथ्वीके राज्य, सुवर्णके ढेर अथवा गऊ, घोडे आदि समस्त वस्तुओंके वास्ते भी वध करनेके योग्य नहीं थे । परन्तु वे सब लोग कामना दुःख क्रोध तथा हर्षसे आत्माको युक्त कर मृत्युरूपी विमान पर चढके यमलोकको गये हैं । (६–१२)

पिता सत्य तितिक्षा और ब्रह्मचर्य आदि तपस्याओंके अनुष्ठानसे कल्याण भाजन पुत्रकी इच्छा करता है; इसी भांति माता भी उपवास, यज्ञ और व्रतादि नाना भांतिके माङ्गलिक कार्यों के अनुष्ठानसे गर्भिणी होकर दश महीने तक उस गर्भको धारण करती है। अन-

*

सम्भाविता जातबलास्ते दद्युर्यदि नः सुखम् ॥ १५ ॥
इह चामुत्र चैवेति कृपणाः फलहेतवः ।
तासामयं समुद्योगो निवृत्तः केवलोऽफलः ॥ १६ ॥
यदासां निहताः पुत्रा युवानो मृष्टकुण्डलाः ॥ १७ ॥
अभुक्त्वा पार्थिवान् भोगानृणान्यनपहाय च ।
पितृभ्यो देवताभ्यश्च गता वैवस्वतक्षयम् ॥ १८ ॥
यदैषामम्ब पितरौ जातकामावुभावपि ।
सञ्जातधनरत्नेषु तदैव निहता नृपाः ॥ १९ ॥
संयुक्ताः काममन्युभ्यां क्रोधहर्षौ समञ्जसाः ।
न ते जयफलं किञ्चिद्भोक्तारो जातु कर्हिचित् ॥ २० ॥
पञ्चालानां कुरूणां च हता एव हि ये हताः ।
न चेत्सर्वानयं लोकः पश्येत्स्वेनैव कर्मणा ॥ २१ ॥
वयमेवास्य लोकस्य विनाशे कारणं स्मृताः ।

न्तर "क्या यह सन्तान कुशलसे जन्मेगी ? क्या यह उत्पन्न होके जीवित रहेगी ? क्या यह बलयुक्त और सर्वत्र सम्मानित होकर हमारे सुखका विधान करेगी ?" मातायें इस जन्म और दूसरे जन्मके निमित्त (पुत्रके विषयमें) इसी भांति फल पानेकी आशा करती हुई सदा कातर रहती हैं । हाय ! हम लोगोंके मरे हुए स्वजन तथा बान्धवोंकी माताओंके ये सम्पूर्ण मनोरथ अब निष्फल होगये; क्यों कि उन लोगोंके सुन्दर कुण्डलोंसे शोभित युवा पुत्र राज्यादि विना भोगेही पितृऋण और देवऋण न दिये हुए युद्धभूमिमें मरकर यमलोकको चलेगये ! इन सम्पूर्ण राजाओंने जिस समय उनके बल वीर्य प्रभावके फल देखनेकी आशा की थी, उसही समय वे मारे गये । (१३-१९)

परन्तु ये सब सदा सर्वदा अनेक भांतिकी वासना तथा मनुष्योंसे युक्त और बहुत क्रोध तथा हर्षके वशमें रहनेके कारण किसी समयमें भी कदाचित मनुष्य जन्मके शुभ फलोंको न भोग सकेंगे; इससे मेरे विचारमें कौरव और पाञ्चालोंमेंसे जो लोग युद्धमें मारे गये हैं, उनके नाम सदाके लिये सम्पूर्ण रूपसे नष्ट होगये हैं; क्यों कि वैसे क्रोध और हर्षके वशवर्ती पुरुष भी यदि शुभ लोगोंमें गमन करें, तो क्रोध मन्युसे युक्त आत्मावाला वधिक भी अपने जीवका नाश आदि कार्य करके शुभ लोकमें गमन कर सकते हैं ! जो

धृतराष्ट्रस्य पुत्रेषु तत्सर्वं प्रतिपत्स्यति ॥ २२ ॥
सदैव निकृतिप्रज्ञो द्वेष्टा मायोपजीवनः ।
मिथ्याविनीतः सततमस्मास्वनपकारिषु ॥ २३ ॥
न सकामा वयं ते च न चास्माभिर्न तैर्जितम् ।
न तैर्भुक्तेयमवनिर्न नार्यो गीतवादितम् ॥ २४ ॥
नामात्यसुहृदां वाक्यं न च श्रुतवतां श्रुतम् ।
न रत्नानि परार्ध्यानि न भूर्न द्रविणागमः ॥ २५ ॥
अस्मद् द्वेषेण सन्तप्तः सुखं न स्नेह विन्दति ।
ऋद्धिमस्मासु तां दृष्ट्वा विवर्णो हरिणः कृशः ॥ २६ ॥
धृतराष्ट्रश्च नृपतिः सौबलेन निवेदितः ।
तं पिता पुत्रगृद्धित्वादनुमेनेऽनये स्थितः ॥ २७ ॥
अनपेक्ष्यैव पितरं गाङ्गेयं विदुरं तथा ।

हो हम ही इन सम्पूर्ण प्राणियोंके नाशके मूल हैं; अथवा धृतराष्ट्र पुत्रोंके ऊपर यह समस्त दोष आरोपित किया जा सकता है । (२०–२२)

दुर्योधन सदासे कपट-बुद्धि द्वेषी और मायाजीवी था; हमारे निरपराध रहनेपर भी वह सदा हमसे असत् व्यवहार करता था, परन्तु क्या दुर्योधन और क्या हम कोई भी अपने पूर्ण मनोरथको सिद्ध नहीं कर सके ! इससे इस युद्धमें दोनों ओरकी पराजयका होना ही स्वीकार करना पडेगा । दुर्योधन पहिले हम लोगोंके विशाल-ऐश्वर्यको देखकर पृथ्वीके राज्य, स्त्री, गीत-वाद्यका आनन्द सुख तथा अनगिनत रत्न, सम्पत्ति और अनेक भांतिके वस्तुओंसे सञ्चित कोष इन सम्पूर्ण भोग्य वस्तुओंमेंसे कुछ भी उपभोग करनेमें समर्थ नहीं हुआ । उस समय उसने दीर्घदर्शी मन्त्री और सुहृद पुरुष आदि किसीके वचनको भी नहीं सुना; हमसे सदा द्वेष रखनेके कारण चित्तमें जलते रहकर क्रोधके कारण प्रीति तथा सुख आदिको इकबारगी त्याग किया था । (२३–२६)

इसी भांति राजा धृतराष्ट्र भी सुबलपुत्र शकुनीके मुखसे हम लोगोंकी सम्पत्तिका समस्त वृत्तान्त सुनकर दुःखसे पीले तथा दुबले होगये थे, वह पुत्र-स्नेहके कारण महाबुद्धिमान पितामह भीष्म और विदुरके वचनका अनादर करके " दुर्योधन न्याय युक्त कार्य ही कर रहा है,— " ऐसाही समझते थे और उस लोभी अशुचि और कामके

असंशयं क्षयं राजा यथैवाहं तथा गतः ॥ २८ ॥
अनियम्याशुचिं लुब्धं पुत्रं कामवशानुगम्।
यशसः पतितो दीप्ताद्धातयित्वा सहोदरान् ॥ २९ ॥
इमौ हि वृद्धौ शोकाग्नौ प्रक्षिप्य स सुयोधनः।
अस्मत्प्रद्वेषसंयुक्तः पापबुद्धिः सदैव ह ॥ ३० ॥
को हि बन्धुः कुलीनः संस्तथा ब्रूयात्सुहृज्जने।
यथाऽसाववदद्वाक्यं युयुत्सुः कृष्णसन्निधौ ॥ ३१ ॥
आत्मनो हि वयं दोषाद्विनष्टाः शाश्वतीः समाः।
प्रदहन्तो दिशः सर्वा भास्वरा इव तेजसा ॥ ३२ ॥
सोऽस्माकं वैरपुरुषो दुर्मतिः प्रग्रहं गतः।
दुर्योधनकृते ह्येतत्कुलं नो विनिपातितम् ॥ ३३ ॥
अवध्यानां वधं कृत्वा लोके प्राप्ताः स्म वाच्यताम्।
कुलस्यास्यान्तकरणं दुर्मतिं पापपूरुषम् ॥ ३४ ॥
राजा राष्ट्रेश्वरं कृत्वा धृतराष्ट्रोऽद्य शोचति।
हताः शूराः कृतं पापं विषयः स्वो विनाशितः॥ ३५ ॥

वशवर्ती अपने पुत्रको नियममें स्थित न करके ही मेरी भांति क्षयकी दशाको प्राप्त हुए हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है; परन्तु सदा पाप बुद्धिवाला दुर्योधन हमसे द्वेष रखनेके कारण चित्तमें जलकर युद्ध उपस्थित करके रणभूमिके बीच शत्रुके हाथसे अपने सहोदर भाइयोंका नाश कराके अपने बुढे माता पिताको शोकाग्निमें डालकर यश रहित हुआ है। दुर्योधनके युद्धकी इच्छा कर श्रीकृष्णके समीप हम लोगोंके विषयमें जैसे वचनोंका प्रयोग किया था, उत्तम कुलमें उत्पन्न तथा स्वजन होकर कौन पुरुष अपने कुटुम्ब तथा बन्धुबान्धवोंके विषयमें वैसे नीच वचनोंको कहेगा। (२७—३१)

सूर्य जैसे अपने प्रभावसे समस्त दिशाओंको जला देते हैं, वैसे ही हम भी युद्धमें स्वजन और बन्धुओंको नष्ट करके अपने दोषके कारणसेही सदाके वास्ते सम्पूर्ण रूपसे नष्ट हुए। वह शत्रु नीचबुद्धि दुर्योधन हम लोगोंके निमित्त पूरा ग्रहरूप बना था, उसहीके वास्ते हमारे समस्त कुलका नाशहुआ! परन्तु हम लोग अवध्य पुरुषोंका वध करके इस समय साधारण पुरुषोंके बीच निन्दनीय हुए हैं। राजा धृतराष्ट्रने उस नीचबुद्धि पापी कुलनाशी दुर्योधनको

हत्वा नो विगतो मन्युः शोको मां रुन्धयत्ययम् ।
धनञ्जयकृतं पापं कल्याणेनोपहन्यते ॥ ३६ ॥
ख्यापनेनानुतापेन दानेन तपसाऽपि वा ।
निवृत्त्या तीर्थगमनाच्छ्रुतिस्मृतिजपेन वा ॥ ३७ ॥
त्यागवांश्च पुनः पापं नालं कर्तुमिति श्रुतिः ।
त्यागवान् जन्ममरणे नाप्नोतीति श्रुतिर्यदा ॥ ३८ ॥
प्राप्तवर्त्मा कृतमतिर्ब्रह्म सम्पद्यते तदा ।
स धनञ्जय निर्द्वन्द्वो मुनिर्ज्ञानसमन्वितः ॥ ३९ ॥
वनमामंत्र्य वः सर्वान् गमिष्यामि परंतप ।
न हि कृत्स्नतमो धर्मः शक्यः प्राप्तुमिति श्रुतिः॥४०॥
परिग्रहवता तन्मे प्रत्यक्षमरिसूदन ।
मया निसृष्टं पापं हि परिग्रहमभीप्सता ॥ ४१ ॥
जन्मक्षयनिमित्तं च प्राप्तुं शक्यमिति श्रुतिः ।

राज्यका स्वामी बनाया था, इस ही कारण इस समय उनको शोक करना पडता है । हाय ! इस युद्धमें सम्पूर्ण शूरवीर पुरुष मारे गये, धन भी चुक गया और हम लोग भी पापभागी हुए हैं। शत्रुओंको मारके हम लोगोंका क्रोध शान्त हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु शोक केवल मुझे ही मोहित कर रहा है। हे अर्जुन ! शास्त्रमें ऐसा वर्णित है, कि मनुष्यके दुष्कर्म मनुष्य समाजमें प्रकाश करनेसे अनुताप, दान, तपस्या, नाना भांतिके मांगलिक कर्मोंके अनुष्ठानसे अथवा वैभवको त्यागके तीर्थयात्रा श्रुति स्मृतिआदिके पाठ और जपसे घट सकते हैं। उनमेंसे सम्पूर्ण भाग्यमान पुरुष फिर पापमें लिप्त नहीं होते; यह श्रुति-सम्मत वचन है। (३२—३८)

वेदमें ऐसा वर्णित है, सन्यासी जन्म मरणसे रहित होकर ज्ञानरूपी दीपकके सहारे यथार्थ मार्ग पाकर ब्रह्म लोकको जाते हैं । इससे हे शत्रुको तपानेवाले अर्जुन ! मैं तुम सब लोगोंकी सम्मति लेकर सुखदुःखको त्याग और मौनावलम्बन करके ज्ञानपथको आश्रय करके वनवासी बनूंगा । यह स्पष्टरूपसे वेदमें कहा है कि दान लेनेवाले पुरुष कदाचित सार धर्मको प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होसकते, और मैंने भी उसे खूब निश्चय करके प्रत्यक्ष देख लिये हैं। इसीसे आसक्ति पुरुष वेदमें युक्त कहे हुए जन्म मरणके कारणरूपी जिस प्रकार पापाचार

स परिग्रहमुत्सृज्य कृत्स्नं राज्यं सुखानि च ॥ ४२ ॥
गमिष्यामि विनिर्मुक्तो विशोको निर्ममः क्वचित् ।
प्रशाधि त्वमिमामुर्वीं क्षेमां निहतकण्टकाम् ॥ ४३ ॥
न ममार्थोऽस्ति राज्येन भोगैर्वा कुरुनन्दन ।
एतावदुक्त्वा वचनं कुरुराजो युधिष्ठिरः ।
उपारमत्ततः पार्थः कनीयानभ्यभाषत ॥ ४४ ॥ [१९९]

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरपरिदेवनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच-अथार्जुन उवाचेदमधिक्षिप्त इवाक्षमी ।
अभिनीततरं वाक्यं दृढवादपराक्रमः ॥ १ ॥
दर्शयन्नैन्द्रिरात्मानमुग्रमुग्रपराक्रमः ।
स्मयमानो महातेजाः सृक्किणीपरिसंलिहन् ॥ २ ॥
अर्जुन उवाच— अहो दुःखमहो कृच्छ्रमहो वैक्लव्यमुत्तमम् ।
यत्कृत्वाऽमानुषं कर्म त्यजेथाः श्रियमुत्तमाम् ॥ ३ ॥
शत्रून्हत्वा महीं लब्ध्वा स्वधर्मेणोपपादिताम् ।

करते हैं; मैंने भी राज्य भोगकी अभिलाषासे युक्त होकर वैसा ही पापाचरण किया है; इससे इस समय मैं समस्त परिग्रह और राज्यभोग परित्याग करके ममताशून्य, शोकरहित और संगादिसे मुक्त होकर किसी वनके बीच गमन करूंगा। हे कुरुसत्तम, शत्रुसूदन अर्जुन! इस समय तुम ही इस निष्कण्टक और कल्याणयुक्त समस्त भूमण्डल तथा पृथ्वीका राज्य करो;मुझे अब धन राज्य तथा भोग आदि किसी भी वस्तुका प्रयोजन नहीं है। धर्मराज युधिष्ठिरके इतना वचन कहके चुप होने पर छोटे भाई अर्जुनने इस प्रकार उत्तर दिया। ३९-४४

शान्तिपर्वमें सात अध्याय समाप्त। [१९९]

शान्तिपर्वमें आठ अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय! जैसे कोई पुरुष किसीसे अपमानित होके सहनेको समर्थ नहीं होता, वैसे ही महापराक्रमी बोलनेवालोंमें मुख्य महातेजस्वी अर्जुन युधिष्ठिरका वचन सुनके न सह सके, और अपना उग्रभाव दिखाके ओठ काटते हुए गर्वपूर्वक इस प्रकारसे नीतियुक्त वचन कहने लगे। ओहो कैसा दुःख, कैसा कष्ट और क्या ही अद्भुत कातरता है, कि आप अमानुषी कार्य पूर्ण और अतुल-ऐश्वर्य प्राप्त करके भी उसे परि-

एवंविधं कथं सर्वं त्यजेथा बुद्धिलाघवात् ॥ ४ ॥
क्लीबस्य हि कुतो राज्यं दीर्घसूत्रस्य वा पुनः।
किमर्थं च महीपालानवधीः क्रोधमूर्छितः ॥ ५ ॥
यो ह्याजिजीविषेद्भैक्ष्यं कर्मणा नैव कस्यचित्।
समारम्भान्बुभूषेत हतस्वस्तिरकिञ्चनः।
सर्वलोकेषु विख्यातो न पुत्रपशुसंहितः ॥ ६ ॥
कापालीं नृप पापिष्ठां वृत्तिमासाद्य जीवतः।
सन्त्यज्य राज्यमृद्धं ते लोकोऽयं किं वदिष्यति ॥ ७ ॥
सर्वारम्भान् समुत्सृज्य हतस्वस्तिरकिञ्चनः।
कस्मादाशंससे भैक्ष्यं कर्तुं प्राकृतवत्प्रभो ॥ ८ ॥
अस्मिन् राजकुले जातो जित्वा कृत्स्नां वसुन्धराम्।
धर्मार्थावखिलौ हित्वा वनं मौढ्यात्प्रतिष्ठसे ॥ ९ ॥
यदीमानि हवींषी ह विमथिष्यन्त्यसाधवः।

त्याग करनेमें प्रवृत्त होरहे हैं। धर्मराज! आप सम्पूर्ण शत्रुओंको नाश करके क्षत्रिय धर्मके अनुसार पृथ्वी हस्तगत करके भी इस समय क्यों बुद्धि-लाघवके कारण यह सब त्यागनेकी इच्छा करते हैं? इस संसारके बीच क्लीब वा दीर्घ-सूत्री किसी समयमें भी राज्य भोग नहीं कर सक्ता। परन्तु यदि आपको इसी भांति त्याग धर्मकी इच्छा थी, तो क्यों क्रुद्ध होकर सम्पूर्ण राजाओंको मारा? (१-५)

जो पुरुष भिक्षावृत्तिसे जीविका निर्वाह करनेकी इच्छा करता है, वह कदापि पुत्र, कलत्र और पशु आदि सामग्रीको पाने तथा लोकसमाजमें विख्यात होनेमें समर्थ नहीं होता; क्यों कि अकल्याणके पात्र दरिद्र मनुष्य किसी कर्मसे भी ऐश्वर्यभोग करनेमें समर्थ नहीं होते। महाराज! आप यदि इस समृद्ध राज्यको त्यागके पापयुक्त कापालिक-वृत्तिको अवलम्बन करके जीवन धारण करेंगे, तो लोकसमाज आपको क्या कहेगा! आप सम्पूर्ण जगतके स्वामी होकर यह सम्पूर्ण ऐश्वर्य त्यागके कल्याणरहित दरिद्र और साधारण पुरुषकी भांति क्यों भिक्षावृत्ति अवलम्बन करनेकी इच्छा करते हैं? आप राजकुलमें जन्म लेकर बाहुबलसे समस्त पृथ्वीको पराजित करके भी केवल मूर्खताके कारण धर्म और अर्थ त्यागकर वनमें गमन करनेके लिये तैय्यार हुए हैं। और आप यथार्थ अधिकारी होकर

भवता विप्रहीनानि प्राप्तं त्वामेव किल्बिषम् ॥ १० ॥
आकिञ्चन्यं मुनीनां च इति वै नहुषोऽब्रवीत् ।
कृत्वा नृशंसं ह्यधने धिगस्त्वधनतामिह ॥ ११ ॥
अश्वस्तनमृषीणां हि विद्यते वेद तद्भवान् ।
यं त्विमं धर्ममित्याहुर्धनादेष प्रवर्त्तते ॥ १२ ॥
धर्मं संहरते तस्य धनं हरति यस्य सः ।
ह्रियमाणे धने राजन् वयं कस्य क्षमेमहि ॥ १३ ॥
अभिशस्तं प्रपश्यन्ति दरिद्रं पार्श्वतः स्थितम् ।
दरिद्रं पातकं लोके न तच्छंसितुमर्हति ॥ १४ ॥
पतितः शोच्यते राजन्निर्धनश्चापि शोच्यते ।
विशेषं नाधिगच्छामि पतितस्याधनस्य च ॥ १५ ॥
अर्थेभ्यो हि विवृद्धेभ्यः संभृतेभ्यस्ततस्ततः ।
क्रियाः सर्वाः प्रवर्त्तन्ते पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १६ ॥

भी राज्य त्यागके वनमें चले जावेंगे, तब दुष्ट लोग राजारहित पृथ्वीको सूनी पाकर हव्य कव्य आदि सुकृत-कर्मोंको लोप करेंगे, उससे आपको ही पापभागी होना पडेगा। (९-१०)

राजा नहुषने निर्द्धनावस्थामें स्वयं नीचताके कार्योंको करके निर्धनताको धिक्कार देकर मुनियोंके कर्त्तव्य कर्मको तुच्छ कहके वर्णन किया है। और अगाडीके वास्ते कुछ भी वस्तु सञ्चय करके न रखना, यह ऋषियोंका धर्म है, वह आपको भी विदित है। इससे पण्डितोंने जिसे राजधर्म कहके वर्णन किया है, और वह धनसे ही सिद्ध होता है। (११-१२)

हे महाराज! इस संसारके बीच जो पुरुष किसीके धनको हरण करता है, वह उसके धर्मको भी हर लेता है; इससे जो धन इस प्रकार धर्मको सिद्ध करनेवाला है, उसे यदि कोई हरण करे, तो क्या हम लोग क्षमा-कर सक्ते हैं? इस लोकके बीच दरिद्रता अत्यन्त ही पापजनक है, दरिद्र पुरुष समीप रहनेपर मनुष्य उसे मिथ्या अपवादोंसे दूषित करते रहते हैं; इससे आपको इस प्रकार दरिद्रताकी प्रशंसा करनी उचित नहीं है। इस पृथ्वीपर पतित और निर्धन दोनोंको ही शोक करना पडता है; इस से नीच और निर्धन पुरुषोंमें कुछ विशेषता नहीं बोध होती। जैसे सम्पूर्ण नादियां पहाडोंसे निकल कर धीरे धीरे विस्तृत होती हैं, वैसे ही बहुतसे धन

अर्थाद्धर्मश्च कामश्च स्वर्गश्चैव नराधिप ।
प्राणयात्राऽपि लोकस्य विना ह्यर्थं न सिध्यति ॥१७॥
अर्थेन हि विहीनस्य पुरुषस्याल्पमेधसः ।
विच्छिद्यन्ते क्रियाः सर्वा ग्रीष्मे कुसरितो यथा॥१८॥
यस्यार्थास्तस्य मित्राणि यस्यार्थास्तस्य बांधवाः ।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके यस्यार्थाः स च पण्डितः॥१९॥
अधनेनार्थकामेन नार्थः शक्यो विधित्सितुम् ।
अर्थैरर्था निबध्यन्ते गजैरिव महागजाः ॥ २० ॥
धर्मः कामश्च स्वर्गश्च हर्षः क्रोधः श्रुतं दमः ।
अर्थादेतानि सर्वाणि प्रवर्त्तन्ते नराधिप ॥ २१ ॥
धनात्कुलं प्रभवति धनाद्धर्मः प्रवर्धते ।
नाधनस्यास्त्ययं लोको न परः पुरुषोत्तम ॥ २२ ॥
नाधनो धर्मकृत्यानि यथावदनुतिष्ठति ।
धनाद्धि धर्मः स्रवति शैलादभिनदी यथा ॥ २३ ॥
यः कृशार्थः कृशगवः कृशभृत्यः कृशातिथिः ।

से सब कर्म क्रमसे सिद्ध होते हैं । महाराज ! धनके विना इस पृथ्वीके बीच मनुष्योंको धर्म, अर्थ, काम वा स्वर्गगमन और प्राण-यात्राका भी निर्वाह नहीं हो सक्ता । जैसे ग्रीष्मकालमें छोटी छोटी नदियां सूख जाती हैं, वैसे ही इस लोकमें धनसे हीन अल्प बुद्धि मनुष्योंके सम्पूर्ण कार्य नष्ट होजाते हैं। इस जगत्के बीच जिसके धन है, उसीके मित्र और बान्धव हैं, जिसके धन है, वही पण्डित है; जिसके धन है, वही पुरुष है । निर्धन मनुष्य यदि किसी विषयकी अभिलाषा करके उसके सिद्ध करनेका उपाय करे, तो कदापि वह सिद्ध नहीं होते । परन्तु जैसा महा बलवान हाथीसे अन्य हाथियोंको पकड लेते हैं, वैसे ही धनसे समस्त प्रयोजन सिद्ध हो सकते हैं । (१३-२०)

महाराज ! धर्म, बहुदर्शिता, धृति, हर्ष, कामना, क्रोध, ममता ये सब ही धनसे सिद्ध हो सकते हैं । धनसे ही लोगोंके कुल गौरव और धर्मकी वृद्धि होती है । निर्धन पुरुषको यह लोक और परलोक कोई भी सुखदायक नहीं होता । जैसे पहाडसे नदी प्रकट होती है, वैसे ही धनसे धर्म उत्पन्न होता है। हे राजन् ! मनुष्यका शरीर कृश होनेसे ही उसे दुर्बल नहीं कहा जा सकता;

स वै राजन्कृशो नाम न शरीरकृशः कृशः ॥ २४ ॥
अवेक्षस्व यथान्यायं पश्य देवासुरं यथा ।
राजन्किमन्यज्ज्ञातीनां वधादृध्यन्ति देवताः ॥ २५ ॥
न चेद्धर्तव्यमन्यस्य कथं तद्धर्ममारभेत् ।
एतावानेव वेदेषु निश्चयः कविभिः कृतः ॥ २६ ॥
अध्येतव्या त्रयी नित्यं भवितव्यं विपश्चिता ।
सर्वथा धनमाहार्यं यष्टव्यं चापि यत्नतः ॥ २७ ॥
द्रोहाद्देवैरवाप्तानि दिवि स्थानानि सर्वशः ।
द्रोहात्किमन्यज्ज्ञातीनां गृध्यन्ते येन देवताः ॥ २८ ॥
इति देवा व्यवसिता वेदवादाश्च शाश्वताः ।
अधीयन्तेऽध्यापयन्ते यजन्ते याजयन्ति च ॥ २९ ॥
कृत्स्नं तदेव तच्छ्रेयो यदप्यादददतेऽन्यतः ।
न पश्यामोऽनपकृतं धनं किंचित्क्वचिद्वयम् ॥ ३० ॥

जिससे घोडे, गऊ, पशु तथा सेवकोंकी अल्पता होती है, और जिसके गृहमें अतिथि नहीं उपस्थित होते, उसे ही कृश कहा जा सकता है। महाराज आप न्यायपूर्वक देवासुर संग्रामका विषय विचार करके देखिये,देवता लोग ज्ञाति-वधके अतिरिक्त सम्पत्ति प्राप्त करनेको कौनसी अभिलाषा करते हैं? और यदि दूसरेका धन लेना, यह धर्म आपके विचारमें उत्तम नहीं है; तो भला कहिये तो सही, राजा लोग किस प्रकारसे धर्म-का अनुष्ठान कर सकेंगे। (२१-२६)

क्यों कि पर-धनके अतिरिक्त अपना धन राजाओंके पास कुछ भी नहीं हैं; और वेदमें भी पण्डितोंने " प्रति दिन साम आदि तीनों वेदोंके अध्ययन, ज्ञान, उपार्जन और यत्न पूर्वक धन प्राप्त करके यज्ञ करना उचित है, " ऐसीही विधि निश्चय की है। जब कि देवता लोग भी ज्ञातिविद्रोहकी अभिलाषा करते हैं, तब ज्ञाति विरोधके विना कौनसी वस्तु प्राप्त हो सकती है? और देवताओंने विद्रो-हितासे ही स्वर्गलोक प्राप्त किये हैं, इस-से देवता लोग भी इसी भांति व्यवहार करते हैं और वेदमें भी कहा हुआ है, कि राजा लोग अन्य पुरुषोंके निकटसे जो धन प्राप्त करते हैं, उस ही धनसे उनका कल्याण होता है; क्यों कि पढना पढाना, दान लेना, और देना ये सम्पूर्ण कर्म धनसे ही सिद्ध हो सक्ते हैं; इसमें यदि दोष समझा जावे, तो कहीं भी ऐसा कोई अर्थ नहीं दीख पडता जो

एवमेव हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम्।
जित्वा ममेयं ब्रुवते पुत्रा इव पितुर्धनम् ॥ ३१ ॥
राजर्षयोऽपि ते स्वर्ग्या धर्मो ह्येषां निरुच्यते।
यथैव पूर्णादुदधेः स्यन्दन्त्यापो दिशो दश ॥ ३२ ॥
एवं राजकुलाद्वित्तं पृथिवीं प्रतितिष्ठति।
आसीदियं दिलीपस्य नृगस्य नहुषस्य च ॥ ३३ ॥
अंबरीषस्य मांधातुः पृथिवी सा त्वयि स्थिता।
स त्वां द्रव्यमयो यज्ञः संप्राप्तः सर्वदक्षिणः ॥ ३४ ॥
तं चेन्न यजसे राजन्प्राप्तस्त्वं राज्यकिल्बिषम्।
येषां राजाऽश्वमेधेन यजते दक्षिणावता ॥ ३५ ॥
उपेत्य तस्यावभृते पूताः सर्वे भवन्ति ते।
विश्वरूपो महादेवः सर्वमेधे महामखे ॥
जुहाव सर्वभूतानि तथैवात्मानमात्मना ॥ ३६ ॥

दूसरे पुरुषोंके अनिष्टके विना ही संग्रह किया जा सकता होवे! जैसे पुत्र पितासे धनको अपना समझता है, वैसे ही वे लोग भी युद्ध जीतके जो धन पाते हैं, उसे अपना ही समझते हैं और स्वर्गीय राजर्षियोंने राजधर्मके विषयमें ऐसा ही वर्णन किया है। (२७–३१)

जैसे समुद्रसे बहुतसा जल सूर्यतेजसे आकाशमें जाकर दशों दिशामें व्याप्त होता है, वैसे ही सम्पूर्ण धन राजकुलसे निकलकर पृथ्वीका पालन कार्य सिद्ध करता है, देखिये यह पृथ्वी पहिले दिलीप, नृग, नहुष अम्बरीष और मान्धाता आदि राजाओंके अधिकारमें थी, इस समय आपके हस्तगत हुई है। इससे आप अनेक सामग्री और सर्व-दक्षिणासे पूरित यज्ञोंको अपने मुट्ठीमें प्राप्त समझिये। यदि अब आप यह समस्त सामग्री पाके यज्ञ आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करेंगे, तो अवश्य ही आपको राज्यके पापका भार उठाना पडेगा। राजा जो प्रजाके धनको लेकर दक्षिणासे युक्त अश्वमेध यज्ञ करता है, वह सम्पन्न होनेसे उसकी सम्पूर्ण प्रजा अवभृत स्नानसे पवित्र होती है। दूसरे-की बात दूर रहे, विश्वमूर्त्ति महादेवने भी स्वयं सर्वमेध यज्ञमें समस्त प्राणियोंको और सबके अन्तमें अपने शरीरको भी आहुतिमें प्रदान किया था। हे राजन्! जिस यज्ञमें यजमान पत्नीके सहित स्वयं दीक्षित हो और एक पशु, तीन वेद, चार ऋत्विक,–ये दश स्थित

शाश्वतोऽयं भूतिपथो नास्त्यन्तमनुशुश्रुम ।
महान्दाशरथः पंथा मा राजन्कुपथं गमः॥ ३७ ॥ [२३६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि
राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- मुहूर्तं तावदेकाग्रो मनः श्रोत्रेऽन्तरात्मनि ।
धारयन्नपि तच्छ्रुत्वा रोचेत वचनं मम ॥ १ ॥
साधु गम्यमहं मार्गं न जातु त्वत्कृते पुनः ।
गच्छेयं तद्गमिष्यामि हित्वा ग्राम्यसुखान्युत ॥ २ ॥
क्षेम्यश्चैकाकिना गम्यः पंथाः कोऽस्तीति पृच्छ माम् ।
अथवा नेच्छसि प्रष्टुमपृच्छन्नपि मे शृणु ॥ ३ ॥
हित्वा ग्राम्यसुखाचारं तप्यमानो महत्तपः ।
अरण्ये फलमूलाशी चरिष्यामि मृगैः सह ॥ ४ ॥
जुह्वानोऽग्निं यथा कालमुभौ कालावुपस्पृशन् ।
कृशः परिमिताहारश्चर्मचीरजटाधरः ॥ ५ ॥

रहे, वह दशरथ नाम महत् यज्ञका पथ ही नित्य है; उसका फल अविनाशी है ऐसा ही सुना गया है; इससे आप ऐसे मार्गको त्यागके कुपथमें न जाइये। (३२—३७) [२३६]

शान्तिपर्वमें आठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें नौ अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे अर्जुन! तुम क्षण भर मन और आत्माको स्थिर कर एकाग्र भावको धारण करो, ऐसा होनेसे मेरे वचनको सुननेके अनन्तर उसमें तुम्हारी रुचि होगी। इस समय मैं ग्राम्यसुख त्यागके साधुओंके गमन करने योग्य मार्गसे गमन करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं, इससे अब तुम्हारे अनुरोधसे विषय मार्गमें नहीं गमन करूंगा। परन्तु एक चारगी गमन करनेमें प्रवृत्त होनेसे इस समय मुझे कौनसा मार्ग कल्याणदायक है? यदि तुम मुझसे ऐसा प्रश्न करो, अथवा तुम्हारी पूछनेकी इच्छा न रहनेसे भी मैं स्वयं कहता हूं सुनो। मैं ग्राम्य-व्यवहारके सम्पूर्ण सुखको परित्याग करके अरण्यवासी और फल मूलाहारी होकर महत् तपस्याका अनुष्ठान करते हुए मृगोंके वनमें भ्रमण करूंगा। (१—४)

मैं वहां निवास करके यथा समय अग्निमें आहुति, प्रातः और सन्ध्याके समय स्नान, मृगछालाका वस्त्र, जटाधारण और परिमित भोजन करके शरी-

शीतवातातपसहः क्षुत्पिपासाश्रमक्षमः ।
तपसा विधिदृष्टेन शरीरमुपशोषयन् ॥ ६ ॥
मनःकर्णसुखा नित्यं शृण्वन्नुच्चावचा गिरः ।
मुदितानामरण्येषु वसतां मृगपक्षिणाम् ॥ ७ ॥
आजिघ्रन्पेशलान् गन्धान्फुल्लानां वृक्षवीरुधाम् ।
नानारूपान्वने पश्यन् रमणीयान्वनौकसः ॥ ८ ॥
वानप्रस्थजनस्यापि दर्शनं कुलवासिनाम् ।
नाप्रियाण्याचरिष्यामि किं पुनर्ग्रामवासिनाम् ॥ ९ ॥
एकान्तशीली विमृशन्पक्वापक्वेन वर्तयन् ।
पितॄन्देवांश्च वन्येन वाग्भिरद्भिश्च तर्पयन् ॥ १० ॥
एवमारण्यशास्त्राणामुग्रमुग्रतरं विधिम् ।
सेवमानः प्रतीक्षिष्ये देहस्यास्य समापनम् ॥ ११ ॥
अथवैकोऽहमेकाहमेकैकस्मिन्वनस्पतौ ।
चरन् भैक्ष्यं मुनिर्मुण्डः क्षपयिष्ये कलेवरम् ॥ १२ ॥
पांसुभिः समभिच्छन्नः शून्यागारप्रतिश्रयः ।
वृक्षमूलनिकेतो वा त्यक्तसर्वप्रियाप्रियः ॥ १३ ॥

रको कृशित करूंगा; सर्दी, गर्मी, क्षुधा, और प्यास आदि क्लेशोंको सहनेका अभ्यास करते हुए विधिपूर्वक तपस्यासे धीरे धीरे अपने शरीरको सुखा दूंगा; वनवासी मृग और पक्षियोंके मनोहर शब्दको सुनूंगा, सुगन्धित फूलोंका घ्राण लूंगा और स्वाध्यायमें रत वानप्रस्थ आदि नाना वेषधारी सुन्दर मूर्तिवाले वनवासियोंको दर्शन करते हुए निवास करूंगा। मैं अब किसीके अनिष्टाचरणमें नहीं प्रवृत्त होऊंगा; इससे ग्रामवासी मनुष्योंके सङ्ग मेरा अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रहेगा, उस विषयमें कहनाही क्या है ? (५-९)

मैं वहां एकान्त स्थलमें शिली वृत्ति अवलम्बन करके वनके वृक्षोंके पके तथा बेपके फल, झरनोंके पानी और स्तोत्र आदिसे देवता तथा पितरोंको तृप्त करते हुए समय व्यतीत करूंगा; इसी भांति शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार आरण्यक कठोर व्रतका अनुष्ठान करके शरीर छूटनेके समयकी प्रतीक्षा करूंगा, अथवा सिर मुंडाके प्रतिदिन एक एक वृक्षके नीचे फल मांगके शरीरयात्रा निर्वाह करूंगा। और निराश्रय होकर भसपूरित शरीरसे चारों

न शोचन्न प्रहृष्यंश्च तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः ।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा निर्द्वन्द्वो निष्परिग्रहः ॥ १४ ॥
आत्मारामः प्रसन्नात्मा जडान्धबधिराकृतिः ।
अकुर्वाणः परैः काश्चित्संविदं जातुकैरपि ॥ १५ ॥
जङ्गमाजङ्गमान्सर्वानविहिंसंश्चतुर्विधान् ।
प्रजाः सर्वाः स्वधर्मस्थाः समः प्राणभृतः प्रति॥ १६ ॥
न चाप्यवहसन्कञ्चिन्न कुर्वन्भ्रुकुटीः कचित् ।
प्रसन्नवदनो नित्यं सर्वेन्द्रियसुसंयतः ॥ १७ ॥
अपृच्छन्कस्यचिन्मार्गं प्रव्रजन्नेव केन चित् ।
न देशं न दिशं कांचिद्गन्तुमिच्छन् विशेषतः ॥ १८ ॥
गमने निरपेक्षश्च पश्चादनवलोकयन् ।
ऋजुः प्रणिहितो गच्छंस्त्रसस्थावरवर्जकः ॥ १९ ॥
स्वभावस्तु प्रयात्यग्रे प्रभवन्त्यशनान्यपि ।
द्वन्द्वानि च विरुद्धानि तानि सर्वाण्यचिन्तयन्॥ २० ॥

और पर्यटन करूंगा, अथवा सम्पूर्ण प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको परित्याग करके किसी वृक्षके नीचे वनके बीच निवास करूंगा और सम्पूर्ण परिग्रह शून्य और सुखदुःखसे रहित होकर ममता तथा विषय वासनाको त्याग दूंगा, मैं कदापि शोक और हर्षके वशमें न होऊंगा, स्तुति और निन्दाको समान समझुंगा। (९—१४)

मैं अब कदापि किसीके सङ्ग वार्त्तालाप न करके बाहरी भावसे अन्धे जड वा बधिर पुरुषोंकी भांति स्थित होके आत्म-उपसनामें रत रहूंगा। मैं अब जरायुज आदि चार प्रकारके प्राणियोंके बीच किसीकी भी हिंसा न करके धार्मिक और इन्द्रियपरायण पुरुषोंको समदृष्टिसे अवलोकन करूंगा। किसीकी अवज्ञा वा किसीकी ओर टेढी दृष्टिसे नहीं देखूंगा; सदा सर्वदा प्रसन्न चित्तसे स्थित होके इन्द्रियोंको संयम करनेमें यत्नवान होऊंगा। मार्गमें गमन करनेके समय किसी दिशा, कोई देश तथा पीछेकी ओर दृष्टि न करके स्थूल और सूक्ष्म शरीरका अभिमान त्यागकर निरपेक्ष होके स्थिर और सरलचित्तसे इच्छापूर्वक गमन करूंगा। स्वभाव सम्पूर्ण जीवोंके आगे आगे गमन करता है, इससे आहार आदि स्वाभाविक कार्य संस्कार वश ही निर्वाहित होंगे; परन्तु मैं ज्ञानके विरोधी उन सुखदुःखोंकी

अल्पं वा स्वादु वा भोज्यं पूर्वालाभेन जातुचित्।
अन्येष्वपि चरँल्लाभमलाभे सप्त पूरयन् ॥ २१ ॥
विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवज्जने।
अतीतपात्रसञ्चारे काले विगतभिक्षुके ॥ २२ ॥
एककालं चरन्भैक्ष्यं त्रीनथ द्वे च पञ्च वा।
स्नेहपाशं विमुच्याहं चरिष्यामि महीमिमाम् ॥ २३ ॥
अलाभे सति वा लाभे समदर्शी महातपाः।
न जिजीविषुवत्किञ्चिन्न मुमूर्षुवदाचरन् ॥ २४ ॥
जीवितं मरणं चैव नाभिनन्दन्न च द्विषन्।
वास्यैकं तक्षतो बाहुं चन्दनेनैकमुक्षतः।
नाकल्याणं न कल्याणं चिन्तयन्नुभयोस्तयोः ॥ २५ ॥
याः काश्चिज्जीवता शक्याः कर्तुमभ्युदयक्रियाः।
सर्वास्ताः समभित्यज्य निमेषादिव्यवस्थितः ॥ २६ ॥

कुछ भी चिन्ता न करूंगा (१५-२०)

पवित्र भोजन यदि प्रथम गृहमें कुछ भी न मिलेगा, तो दूसरे घर जाऊंगा; वहां भी यदि न मिलेगा, तो क्रमसे सात घर घुमकर उदर-पूर्ति करूंगा जिस समय ग्रामवासी समस्त पुरुषोंके उखली मूसल आदि सबका कार्य समाप्त और अग्नि बुझके रसोईका घर धूएंसे रहित होगा और सब गृहस्थ पुरुष भोजन करके निवृत्त होंगे, अधिक क्या कहूं, जिस समय अतिथि और भिक्षुओंका भी गमनागमन नहीं रहेगा, मैं उसही समय में जाकर दो तीन वा पांच घरमें भिक्षा मांगूंगा, और सम्पूर्ण आशापाससे मुक्त होकर इस पृथ्वीपर भ्रमण करूंगा। हानि और लाभको समान ही समझ के बृहत् तपस्यामें रत होऊंगा। जीवितार्थी वा मुमुर्षु इन दोनोंमेंसे किसीकी भांति व्यवहार नहीं करूंगा। मैं जीने और मरनेको समान समझूंगा, किसी विषयमें हर्ष वा विषाद नहीं करूंगा। यदि कोई पुरुष कुठार ग्रहण करके मेरी एक भुजा काट डाले और दूसरा पुरुष दुसरी भुजामें चन्दन लगावे, तो मैं उन दोनोंके बीच किसी के भी कल्याण अथवा अमङ्गलकी इच्छा नहीं करूंगा। (२०-२५)

मनुष्य लोग अपनी उन्नतिके लिये जिन सम्पूर्ण कार्योंका अनुष्ठान करते हैं, मैं उन समस्त कार्योंको त्याग के केवल एक शरीर निर्वाहके योग्य कर्म करके समय व्यतीत करूंगा। सर्वदा

तेषु नित्यमसक्तश्च त्यक्तसर्वेन्द्रियक्रियः।
अपरित्यक्तसङ्कल्पः सुनिर्णिक्तात्मकल्मषः ॥ २७ ॥
विमुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो व्यतीतः सर्ववागुराः।
न वशे कस्यचित्तिष्ठन्सधर्मा मातरिश्वनः ॥ २८ ॥
वीतरागश्चरन्नेवं तुष्टिं प्राप्स्यामि शाश्वतीम्।
तृष्णया हि महत्पापमज्ञानादस्मि कारितः ॥ २९ ॥
कुशलाकुशलान्येके कृत्वा कर्माणि मानवाः।
कार्यकारणसंश्लिष्टं स्वजनं नाम बिभ्रति ॥ ३० ॥
आयुषोऽन्ते प्रहायेदं क्षीणप्राणं कलेवरम्।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं कर्तुः कर्मफलं हि तत् ॥ ३१ ॥
एवं संसारचक्रेऽस्मिन् व्याविद्धे रथचक्रवत्।
समेति भूतग्रामोऽयं भूतग्रामेण कार्यवान् ॥ ३२ ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम्।
अपारमिव चास्वस्थं संसारं त्यजतः सुखम् ॥ ३३ ॥
दिवः पतत्सु देवेषु स्थानेभ्यश्च महर्षिषु।

सम्पूर्ण कर्मोंमें आसक्ति रहित होकर इन्द्रियोंको वशमें करनेके वास्ते यत्नवान होऊंगा, और सब भांति सङ्कल्प रहित होकर अपने मनकी मलीनताको दूर करूंगा संसारके बन्धनोंको तोडके आशा ममतासे हीन होके वायुकी भांति स्वतन्त्र रूपसे पृथ्वीपर भ्रमण करूंगा। मैंने अज्ञानसे विषय वासनामें फंस कर बहुत ही पाप किया है, इससे ऐसी विषय वासनासे आसक्ति रहित होकर ही असीम आनन्द प्राप्त करनेमें समर्थ होऊंगा। कोई कोई मूढ पुरुष अनेक भांतिके शुभाशुभ कर्मोंका अनुष्ठान करके कई कार्य कारणोंसे सम्बन्धीय स्त्री पुत्र आदिका पालन करते हैं; अन्तमें इस जड शरीरको परित्याग करनेके अनन्तर परलोकमें उस पापके फलका भागी होना पडता है, क्यों कि कर्ताको ही सम्पूर्ण कर्मों का फल भोगना होता है। (२६—३१)

इसी भांति समस्त प्राणी कर्मरूपी सूत्रमें बन्धके घूमते हुए रथचक्रकी भांति सदा इस संसारके बीच आवागमन करते रहते हैं। जन्म, मृत्यु, बुढापा और व्याधि आदि अनेक भांतिकी आपदासे युक्त इस असार संसारको जो पुरुष त्याग सकते हैं, उनको ही नित्य सुख प्राप्त होता है। जब कि

को हि नाम भवेनार्थी भवेत्कारणतत्त्ववित् ॥ ३४ ॥
कृत्वा हि विविधं कर्म तत्तद्विविधलक्षणम् ।
पार्थिवैर्नृपतिः स्वल्पैः कारणैरेव वध्यते ॥ ३५ ॥
तस्मात्प्रज्ञामृतमिदं चिरान्मां प्रत्युपस्थितम् ।
तत्प्राप्य प्रार्थये स्थानमव्ययं शाश्वतं ध्रुवम् ॥ ३६ ॥
एतया सन्ततं धृत्या चरन्नेवं प्रकारया ।
जन्ममृत्युजराव्याधिवेदनाभिरभिद्रुतम् ।
देहं संस्थापयिष्यामि निर्भयं मार्गमास्थितः ॥३७॥ [२७३]

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

भीम उवाच— श्रोत्रियस्येव ते राजन् मन्दकस्याविपश्चितः ।
अनुवाकहता बुद्धिर्नैषा तत्त्वार्थदर्शिनी ॥ १ ॥
आलस्ये कृतचित्तस्य राजधर्मानसूयतः ।
विनाशे धार्त्तराष्ट्राणां किं फलं भरतर्षभ ॥ २ ॥

देवता लोग स्वर्गसे और महर्षि लोग अपने अपने स्थानोंसे भी भ्रष्ट होते हैं, तब इन सम्पूर्ण कारणोंको जानकर भी कौन पुरुष इस अनित्य स्वर्ग आदि ऐश्वर्यकी इच्छा करेगा ? और भी देखो, कि समयके अनुसार सामान्य राजा भी कपटता आदि विविध उपाय अवलम्बन करके किसी कारणसे महाराजको भी मार सकता है। जो हो, बहुत समयके अनन्तर मेरे लिये यह ज्ञानरूपी अमृत उत्पन्न हुआ है; इसकी ही अवलम्बन करके मैं इस समय उस अक्षय, अव्यय और नित्य स्थानको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं । ऐसी ही बुद्धि सदा हृदयमें धारण करके निर्भय मार्गमें आरूढ होके जन्म, मृत्यु, बुढापा और व्याधि आदि अनेक भांतिके क्लेशोंसे युक्त इस शरीरको त्याग करूंगा । ३२—३७) [२७३]

शान्तिपर्वमें नौ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें दस अध्याय ।

भीमसेन बोले, हे महाराज ! जैसे मन्दबुद्धि अर्थ ज्ञानरहित वेदपाठी ब्राह्मणकी बुद्धि वेदपाठ करते करते स्तम्भित होजाती है, वैसे ही आप की भी बुद्धि कलुषित होनेसे तत्त्वदर्शिनी नहीं होती है । राजधर्ममें दोषारोपण करके यदि वृथा शान्ति तथा आलस-भावको अवलम्बन करना ही अभिप्राय था, तब धृतराष्ट्र पुत्रोंके नाश करके तुम्हें कौन-

क्षमाऽनुकम्पा कारुण्यमानृशंस्यं न विद्यते ।
क्षात्रमाचरतो मार्गमपि बन्धोस्त्वदन्तरे ॥ ३ ॥
यदीमां भवतो बुद्धिं विद्याम वयमीदृशीम् ।
शस्त्रं नैव ग्रहीष्यामो न वधिष्याम कञ्चन ॥ ४ ॥
भैक्ष्यमेवाचरिष्याम शरीरस्याविमोक्षणात् ।
न चेदं दारुणं युद्धमभविष्यन्महीक्षिताम् ॥ ५ ॥
प्राणस्यान्नमिदं सर्वमिति वै कवयो विदुः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव सर्वं प्राणस्य भोजनम् ॥ ६ ॥
आददानस्य चेद्राज्यं ये केचित्परिपंथिनः ।
हन्तव्यास्त इति प्राज्ञाः क्षत्रधर्मविदो विदुः ॥ ७ ॥
ते सदोषा हताऽस्माभी राज्यस्य परिपन्थिनः ।
तान्हत्वा भुंक्ष्व धर्मेण युधिष्ठिर महीमिमाम् ॥ ८ ॥
यथा हि पुरुषः खात्वा कूपमप्राप्य चोदकम् ।
पङ्कदिग्धो निवर्तेत कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ ९ ॥
यथाऽऽरुह्य महावृक्षमपहृत्य ततो मधु ।

सा फल मिला ? क्षमा, दया करुणा और अनृशंसता आदि सम्पूर्ण गुण क्या तुम्हारे अतिरिक्त क्षत्रिय धर्मावलम्बी दूसरे राजाओंमें वर्त्तमान नहीं हैं, यदि मैं आपके ऐसे अभिप्रायको पहिले जान सक्ता, तो कदापि शस्त्र ग्रहण करके किसीका वध न करता । जीवनके समय पर्यन्त अवश्य ही भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके दिन बिताता, ऐसा होनेसे राजाओंके बीच कदापि इस प्रकार भय ङ्कर युद्ध उपस्थित न होता । (१-५)

हे राजन् ! ज्ञानी पुरुष " स्थावर जङ्गमसे युक्त इस पृथ्वीको बलवान् पुरुषोंके द्वारा ही भोग्य और पालनी-या " कहके वर्णन करते हैं; और क्षत्रिय धर्मके जाननेवाले पण्डितोंका ऐसा ही मत है, कि बलवान् पुरुषको राज्य ग्रहण करनेके समय यदि कोई शत्रुता-चरण करे, तो उस ही समय उसका वध करना उचित है महाराज ! हमारे शत्रु कौरव लोग भी उस ही दोषसे दूषित होकर हम लोगोंके हाथसे मारे गये हैं; इससे आप इस समय शत्रु-रहित होके धर्मपूर्वक यह पृथ्वीभोग कीजिये, जैसे कोई पुरुष कुआं खोदके उसमें जल न पाकर केवल कीचड लिपटे हुए शरीरसे निवृत्त होता है; जैसे कोई बडे वृक्ष पर चढके मधु ग्रहण करके भी

अप्राप्य निधनं गच्छेत्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १० ॥
यथा महान्तमध्वानमाशया पुरुषः पतन् ।
स निराशो निवर्त्तेत कर्मैतन्नस्तथोपमम् ॥ ११ ॥
यथा शत्रून् घातयित्वा पुरुषः कुरुनन्दन ।
आत्मानं घातयेत्पश्चात्कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १२ ॥
यथाऽन्नं क्षुधितो लब्ध्वा न भुञ्जीयाद्यदृच्छया ।
कामीव कामिनीं लब्ध्वा कर्मेदं नस्तथोपमम् ॥ १३ ॥
वयमेवात्र गर्ह्या हि यद्वयं मन्दचेतसम् ।
त्वां राजन्ननुगच्छामो ज्येष्ठोऽयमिति भारत ॥ १४ ॥
वयं हि बाहुबलिनः कृतविद्या मनस्विनः ।
क्लीबस्य वाक्ये तिष्ठामो यथैवाशक्तयस्तथा ॥ १५ ॥
अगतीकगतीनस्मान्नष्टार्थानर्थसिद्धये ।
कथं वै नानुपश्येयुर्जनाः पश्यत यादृशम् ॥ १६ ॥
आपत्काले हि संन्यासः कर्तव्य इति शिष्यते ।

उसका स्वाद न पाकर ही मृत्युको प्राप्त होता है; जैसे कोई आश पाससे वन्धके महा घोर पथसे गमन करते हुए फिर निराश होके निवृत्त होता है; जैसे कोई शूरवीर पुरुष समस्त शत्रुओंका नाश करके पीछे आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होता है; अथवा जैसे भूखे मनुष्यका अन्न पाकर भी भोजन न करना और कामी पुरुषके इच्छानुरूप स्त्री पाके भी उसे भोग न करनेकी भांति आपके वन गमनमें उद्यत होनेसे हम लोगोंके शत्रु नाश आदि सम्पूर्ण कार्य निरर्थक हो- रहे हैं। (६–१३)

हे राजन् ! आप निर्बुद्धि होरहे हैं, तौभी हम लोग आपको ज्येष्ठ समझके मान्य करते हुए आपके अनुगामी होते हैं, तब हम लोगही इस विषयमें निन्द- नीय हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है हम लोग सब कोई बाहुबलसे युक्त कृतविद्य और सब विषयोंके निश्चय कर नेवाले हैं, परन्तु असमर्थकी भांति आपकी निरर्थक आज्ञामें स्थित हैं। हे राजन् ! मेरा वचन युक्ति सङ्गत है वा नहीं, इसे विचारके देखिये, हम लोग अनाथोंके रक्षक होकर भी यदि अर्थसे भ्रष्ट होंगे, तो प्रयोजन सिद्धिके विषयमें सब कोई हम लोगोंको क्या अकर्मण्य न समझेंगे ? क्यों कि ऐसी विधि है, कि राजा लोग वृद्धावस्था और शत्रुसे पराजित होनेपर अर्थात् आपदकालमें

जरयाऽभिपरीतेन शत्रुभिर्व्यंसितेन वा ॥ १७ ॥
तस्मादिह कृतप्रज्ञास्त्यागं न परिचक्षते ।
धर्मव्यतिक्रमं चैव मन्यंते सूक्ष्मदर्शिनः ॥ १८ ॥
कथं तस्मात्समुत्पन्नास्तन्निष्ठास्तदुपाश्रयाः ।
तदेव निन्द्यां भाषेयुर्धाता तत्र न गर्ह्यते ॥ १९ ॥
श्रिया विहीनैरधनैर्नास्तिकैः संप्रवर्तितम् ।
वेदवादस्य विज्ञानं सत्याभासमिवानृतम् ॥ २० ॥
शक्यं तु मौनमास्थाय बिभ्रताऽऽत्मानमात्मना ।
धर्मच्छद्मसमास्थाय च्यवितुं न तु जीवितुम् ॥ २१ ॥
शक्यं पुनररण्येषु सुखमेकेन जीवितुम् ।
अबिभ्रता पुत्रपौत्रान्देवर्षीनतिथीन्पितॄन् ॥ २२ ॥
नेमे मृगाः स्वर्गजितो न वराहा न पक्षिणः ।
अथान्येन प्रकारेण पुण्यमाहुर्न तं जनाः ॥ २३ ॥

ही सन्यास धर्म ग्रहण कर सकते हैं, अतएव सूक्ष्म तत्वदर्शी पण्डितोंने दूसरे समयमें क्षत्रियोंको सन्यासधर्मकी विधि नहीं दी है, वरन उससे धर्मकी हानि होती है, ऐसा ही सूक्ष्मदर्शी पण्डितोंने वर्णन किया है, जो पुरुष क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न होके उसहीसे निष्ठावान तथा हिंसा धर्मसे ही जीविका निर्वाह करते है, वे किस प्रकारसे दैव निर्दिष्ट धर्मकी निन्दा कर सकते हैं? ऐसा करनेमें उस विषयमें विधाताकी ही निन्दा करनी होती है, इससे देव निर्दिष्ट धर्म दूषित होने पर भी निन्दित नहीं है। (१४-१९)

क्षत्रियोंको भी जो वेदमें सन्यास ग्रहण करनेके अधिकार कहा गया है; वह यथार्थमें न होने पर भी ऋक्, यजु, और साम इन तीनों वेदों तथा विधि विषयमें अनभिज्ञ, निर्द्धन और नास्तिक पुरुषोंने ही वेदोक्त सन्यास धर्मके प्रशंसा-रहित वचनको सत्यकी भांति समझके अपना मत प्रकाशित किया है। क्षत्रियोंको सिर मुंडाकर कपट सन्यास धर्म अवलम्बन करके शरीरको चेष्टारहितकी भांति रक्षित करनेसे वह नाशके वास्ते ही समझा जाता है, जीवन रक्षाके निमित्त नहीं। तब केवल देवता, ऋषि, अतिथि, पितर, पुत्र और पौत्र आदिके पालन पोषणमें असमर्थ पुरुष ही जङ्गलके बीच अकेले ही निवास करके सुखी हो सकते हैं। जैसे मृग सूअर और पक्षी वनवासी होके भी स्वर्गके अधि-

यदि संन्यासतः सिद्धिं राजा कश्चिदवाप्नुयात् ।
पर्वताश्च द्रुमाश्चैव क्षिप्रं सिद्धिमवाप्नुयुः ॥ २४ ॥
एते हि नित्यसंन्यासा दृश्यन्ते निरुपद्रवाः ।
अपरिग्रहवन्तश्च सततं ब्रह्मचारिणः ॥ २५ ॥
अथ चेदात्मभाग्येषु नान्येषां सिद्धिमश्नुते ।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः ॥ २६ ॥
औदकाः सृष्टयश्चैव जन्तवः सिद्धिमाप्नुयुः ।
तेषामात्मैव भर्तव्यो नान्यः कश्चन विद्यते ॥ २७ ॥
अवेक्षस्व यथा स्वैः स्वैः कर्मभिर्व्यापृतं जगत् ।
तस्मात्कर्मैव कर्तव्यं नास्ति सिद्धिरकर्मणः॥ २८ ॥ [३०१]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

अर्जुन उवाच— अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
तापसैः सह संवादं शक्रस्य भरतर्षभ ॥ १ ॥

कारी नहीं हैं, वैसेही सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे विमुख होनेवाले शक्तिमान क्षत्रिय पुरुष भी आरण्यक धर्मसे किसी प्रकार स्वर्गके अधिकारी नहीं हो सकते। (२०-२३)

हे राजेन्द्र ! यदि सन्यास धर्मसे ही सिद्धि प्राप्त होती, तो ऐसा होनेसे पहाड और वृक्षोंके समूह शीघ्र ही सिद्धिलाभ करते। जगत्के बीच ये ही प्रकृत सन्यासी और ब्रह्मचारीकी भांति दीख पडते हैं, क्योंकि इन्हें परिग्रह वा किसी उपद्रवकी कुछ भी बाधा नहीं है। महाराज ! पुरुष अपनी प्रारब्धके अतिरिक्त पराये भाग्यसे कदापि फल भागी नहीं होसकता; इससे अवश्य ही कर्म करना उचित है, कर्म हीन मनुष्य कभी सिद्धिलाभ करनेमें समर्थ नहीं होते ! और अपना उदर भरनेसे ही यदि सिद्धि प्राप्त होसकती, तो जिसे उदर भरनेके अतिरिक्त और कुछ भी प्रयोजन नहीं रहता, वे मछली आदि जलजन्तु भी सन्यासरूपी मुक्ति फल प्राप्त करनेमें समर्थ होते। (२३-२७)

अधिक और क्या कहूं, आप विशेष रीतिसे विचारके देखिये,इस जगत्के संपूर्ण प्राणी अपने अपने कर्ममें प्रवृत्त होरहे हैं, इससे अवश्य ही कर्म करना चाहिये; कर्महीन पुरुषको दूसरे किसी विषयसे भी सिद्धि नहीं प्राप्त हो सकती। (२८)

शान्तिपर्वमें दस अध्याय समाप्त। [३०१]

शान्तिपर्वमें ग्यारह अध्याय

अर्जुन बोले, महाराज ! इस विषयमें तपस्वियोंके सङ्ग देवराज इन्द्रके वार्त्ता-

केचिद्गृहान्परित्यज्य वनमभ्यागमन् द्विजाः ।
अजातश्मश्रवो मन्दाः कुले जाताः प्रवव्रजुः ॥ २ ॥
धर्मोऽयमिति मन्वानाः समृद्धा ब्रह्मचारिणः ।
त्यक्त्वा भ्रातॄन् पितॄंश्चैव तानिन्द्रोऽन्वकृपायत ॥ ३ ॥
तानाबभाषे भगवान् पक्षी भूत्वा हिरण्मयः ।
सुदुष्करं मनुष्यैश्च यत्कृतं विघसाशिभिः ॥ ४ ॥
पुण्यं भवति कर्मेदं प्रशस्तं चैव जीवितम् ।
सिद्धार्थास्ते गतिं मुख्यां प्राप्ता धर्मपरायणाः ॥ ५ ॥
ऋषय उवाच– अहो बतायं शकुनिर्विघसाशान्प्रशंसति ।
अस्मान्नूनमयं शास्ति वयं च विघसाशिनः ॥ ६ ॥
शकुनिरुवाच— नाहं युष्मान् प्रशंसामि पङ्कदिग्धान् रजस्वलान् ।
उच्छिष्टभोजिनो मन्दानन्ये वै विघसाशिनः ॥ ७ ॥

लापका एक पुराना इतिहास वर्णित है, मैं कहता हूं, आप सुनिये । किसी समयमें उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए बहुतसे अजातशत्रु ब्राह्मणोंका निर्बोध बालकोंने परिव्राजक धर्म ग्रहण करके घर त्यागके वनमें गमन किया । वे सब महाधनवान होके भी सन्यासको ही यथार्थ धर्म समझके पिता भ्राता आदि बन्धु-बान्धवोंको परित्याग कर ब्रह्मचर्य व्रत अवलम्बन करके चारों ओर पर्यटन करने लगे, देवराज इन्द्रने उन बालकोंके ऊपर कृपा करी । (१—३)

भगवान इन्द्रने सुवर्णमय पक्षीका रूप धरके उन बालकोंसे कहा,—इस संसारके बीच जो लोग यज्ञसे बचे हुए अन्नको भोजन करते हैं, वे साधारण मनुष्योंसे न होने योग्य अत्यन्त कठिन कर्म करते हैं, और वही पवित्र कर्म है; इससे ऐसे ही कर्म करनेवाले पुरुषोंका जीवन धन्य है और वेही धर्मपरायण पुरुष सिद्ध मनोरथ होकर परम गति लाभ करते हैं। तपस्वियोंने कहा, ओहो! यह पक्षी यज्ञसे बचे हुए अन्न भोजन करनेवाले मनुष्योंकी प्रशंसा करता है ! हमलोग भी यज्ञसे बचे हुए अन्नको भोजन किया करते हैं; इससे अवश्य ही यह पक्षी हम लोगोंको यह विषय विज्ञापित करता है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है । (४—६)

पक्षी बोला, हे तपस्वी पुरुषो ! मैं तुम लोगोंकी प्रशंसा नहीं करता हूं, तुम लोग यज्ञसे बचे हुए अन्नको भोजन करनेवाले नहीं हो; तुम लोग जूठे अन्नको भोजन करनेवाले मन्दबुद्धि

ऋषय ऊचुः— इदं श्रेयः परमिति वयमेवाभ्युपास्महे ।
शकुने ब्रूहि यच्छ्रेयो भृशं ते श्रद्दधामहे ॥ ८ ॥
शकुनिरुवाच— यदि मां नाभिशंकध्वं विभज्यात्मानमात्मना ।
ततोऽहं वः प्रवक्ष्यामि याथातथ्यं हितं वचः ॥ ९ ॥
ऋषय ऊचुः— शृणुमस्ते वचस्तात पन्थानो विदितास्तव ।
नियोगे चैव धर्मात्मन्स्थातुमिच्छाम शाधि नः ॥१०॥
शकुनिरुवाच— चतुष्पदां गौः प्रवरा लोहानां काञ्चनं वरम् ।
शब्दानां प्रवरो मन्त्रो ब्राह्मणो द्विपदां वरः ॥ ११ ॥
मन्त्रोऽयं जातकर्मादिर्ब्राह्मणस्य विधीयते ।
जीवतोऽपि यथाकालं श्मशाननिधनादिभिः ॥ १२ ॥
कर्माणि वैदिकान्यस्य स्वर्ग्यः पन्थास्त्वनुत्तमः ।
कथं मे सर्वकर्माणि मन्त्रसिद्धानि चक्रिरे ॥ १३ ॥

अल्प पराक्रमी और पापी हो । तपस्वियोंने कहा, हे विहङ्गम ! हम लोग इसे ही परम श्रेष्ठ कल्याणदायक मार्ग समझकर इसही की उपासना करते हैं; इस समय जो हम लोगोंके निमित्त उत्तम हो, तुम उसहीका उपदेश करो; तुम्हारे वचनोंमें हमलोगोंकी अत्यन्त ही श्रद्धा उत्पन्न होरही है । (७-८)

पक्षी बोला, कि वक्ता और श्रोताका अन्तःकरण भिन्न भिन्न अंशोंमें बंटा रहता है, इससे यदि मेरे वचनोंमें तुम लोग कोई शङ्का न करो, तो मैं तुम लोगोंके निमित्त यथार्थ हितकर वचनोंका उपदेश करूंगा । तपस्वियोंने कहा, हे धर्मात्मन् ! आर्य ! हमलोग तुम्हारे वचनको सुनेंगे; इस जगत्के सम्पूर्ण मार्ग तुम्हे विदित हैं; इससे हम लोग तुम्हारी आज्ञाके अनुसार इस स्थानमें स्थित हैं; अब तुम हमलोगोंको यथार्थ पथका उपदेश प्रदान करो । (९-१०)

पक्षी बोला, सम्पूर्ण चौपाये पशुओंमें गऊ श्रेष्ठ हैं, धातुओंमें सुवर्ण, शब्दोंमें मन्त्र और मनुष्योंमें ब्राह्मण श्रेष्ठ हैं। वेद मन्त्र ही ब्राह्मणोंके जन्मसे लेकर जीवन कालके समय पर्यन्त गर्भ क्रिया आदि सम्पूर्ण संस्कारोंका विधिपूर्वक विधान करता है । और यह वैदिक-कर्म ही सब किसीका उत्तम यज्ञ और स्वर्ग प्राप्त होनेका पथ स्वरूप है। और यदि इसे न स्वीकार करो, तो इस कर्मसे किस भांति सैकडों कर्म-निष्ठ स्वर्गार्थी पूर्व पुरुषोंके मनोरथ तथा कार्य सिद्ध हुए हैं ? इस विषयमें मैंने बहुत

आत्मानं दृढवादीनि तथा सिद्धिरिहेष्यते।
मासार्धमासा ऋतव आदित्यशशितारकम् ॥ १४ ॥
ईहन्ते सर्वभूतानि तदिदं कर्म संज्ञितम्।
सिद्धिक्षेत्रमिदं पुण्यमयमेवाश्रमो महान् ॥ १५ ॥
अथ ये कर्म निन्दन्तो मनुष्याः कापथं गताः।
मूढानामर्थहीनानां तेषामेनस्तु विद्यते ॥ १६ ॥
देववंशान्पितृवंशान् ब्रह्मवंशांश्च शाश्वतान्।
संत्यज्य मूढा वर्तन्ते ततो यान्त्यश्रुतीपथम् ॥ १७ ॥
एतद्वोऽस्तु तपोयुक्तं ददामीत्यृषिचोदितम्।
तस्मात्तत्तद्व्यवस्थानं तपस्वि तप उच्यते ॥ १८ ॥

कुछ प्रत्यक्ष मालूम किया है। इससे लोकके बीच जो पुरुष दृढ विश्वासके सहित इस आत्माको जिस देव रूपसे भजता है, वह उसही भावसे सिद्धि प्राप्त करता है। इस जगत्के बीच जीवोंको तीन प्रकारसे सिद्धि प्राप्त होती है; प्रथम माघ महीनेसे लेकर आषाढ पर्यन्त छः महीने उत्तरायण कालमें मृत्यु होनेसे शुक्ल अर्थात् प्रकाशमय मार्गसे आदित्य लोक प्राप्त होता है; इस लोकमें इसे क्रम-मुक्ति कहते हैं। दूसरा श्रावण महीनेसे लेकर पौषमास छः महीने तक दक्षिणायन समयमें कृष्ण अर्थात् अन्धकारमय मार्गसे चन्द्रलोक प्राप्त होता है, इसी भांति मुक्त जीवों की पुनरावृत्ति होती है। तीसरे अवि-मुक्त उपासकोंको अन्तिम समयमें भग-वान रुद्रदेव स्वयं आगमन करके तार-कब्रह्म मन्त्र उपदेश करते हैं, उससे लोग ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं; इसको अनावृत्ति मुक्ति कहते हैं। (११-१४)

परन्तु इन तीनों प्रकारकी सिद्धि-योंको सब प्राणी कर्मसे ही प्राप्त करने की इच्छा करते हैं। यह गृहस्थाश्रम ही अत्यन्त पवित्र सिद्ध क्षेत्र और बडा है। जो मनुष्य कर्मकी निन्दा करके कुमार्गमें गमन अर्थात् सन्यास-धर्म ग्रहण करते हैं, वे सम्पूर्ण मूढ पुरुष अर्थ-भ्रष्ट होकर पापमें लिप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त वे लोग पितर लोक और ब्रह्मप्राप्ति रूपी यह नित्य भांतिकी नित्य सिद्धियोंको परित्याग करके मूढकी भांति इस लोकमें जीवित रहके शीघ्रही कीट आदि हीन योनिको प्राप्त होते हैं। देखिये मन्त्रमें ऐसी विधि है, कि "हे यजमान्! द्रव्यदान आदि यज्ञ करो, मैं तुम्हें पुत्र पशु और स्वर्गादि सुख प्रदान करूंगा," इससे जिस

देववंशान्ब्रह्मवंशान्पितृवंशांश्च शाश्वतान्।
संविभज्य गुरोश्चर्यां तद्वै दुष्करमुच्यते ॥ १९ ॥
देवा वै दुष्करं कृत्वा विभूतिं परमां गताः।
तस्माद्गार्हस्थ्यमुद्वोढुं दुष्करं प्रब्रवीमि वः ॥ २० ॥
तपः श्रेष्ठं प्रजानां हि मूलमेतन्न संशयः।
कुटुंबविधिनाऽनेन यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ २१ ॥
एतद्विदुस्तपो विप्रा द्वन्द्वातीता विमत्सराः।
तस्माद्व्रतं मध्यमं तु लोकेषु तप उच्यते ॥ २२ ॥
दुराधर्षं पदं चैव गच्छन्ति विघसाशिनः।
सायं प्रातर्विभज्यान्नं स्वकुटुंबे यथाविधि ॥ २३ ॥
दत्वाऽतिथिभ्यो देवेभ्यः पितृभ्यः स्वजनाय च।
अवशिष्टानि येऽश्नन्ति तानाहुर्विघसाशिनः ॥ २४ ॥
तस्मात्स्वधर्ममास्थाय सुव्रताः सत्यवादिनः।

प्रकारकी विधि है, उसही विधिके अनुसार चलनेसे तपस्विकी परम तपस्या कही गई है। (१४-१८)

इससे इसही भांतिका यज्ञ और दानरूपी तपस्या तुम लोगोंको अवश्य कर्त्तव्य है। यथा नियमसे देवतोंकी पूजा, वेदाध्ययन, पितृ तर्पण और गुरुसेवाको ही पण्डितोंने कठिन तपस्या कहके वर्णन किया है; देवता लोग इसी भांति कठोर तपस्या करके परम ऐश्वर्यको प्राप्त भये हैं। इसही निमित्त मैं तुम लोगोंको अत्यन्त कठिन गृहस्थ धर्मके भारको ग्रहण करनेका उपदेश करता हूं। यह वेदोक्त कर्म ही जो तपस्या और प्रजाकी उत्पत्तिका मूल मुख्य है, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, क्यों कि वेदमें गार्हस्थ्याश्रम विधिके स्थानमें गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंका मूल कहके वर्णित हुआ है। काम क्रोधसे रहित ब्राह्मणोंने इसी भांति धर्मानुष्ठानको परम तपस्या कहके स्वीकार किया है, और ब्रह्मचर्यादि व्रतोंको मध्यम तपस्या कहके वर्णित किया है। (१९-२२)

जो लोग दिन और रात्रिमें कुटुम्बको विधि पूर्वक अन्नप्रदान करके भोजन करते हैं, वे विघ्नाशी पुरुष दूसरेके न प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठ लोकोंमें गमन करते हैं। हे तपस्वी लोगो! देवता पितर, अतिथि कुटुम्ब और अपने आश्रित लोगोंको यथारीतिसे अन्नप्रदान करके भोजन कराते हैं, वे विघ्नाशी पुरुष दूसरेके न प्राप्त होने योग्य स्थान

लोकस्य गुरवो भूत्वा ते भवन्त्यनुपस्कृताः ॥ २५ ॥
त्रिदिवं प्राप्य शक्रस्य स्वर्गलोके विमत्सराः ।
वसन्ति शाश्वतान्वर्षान् जना दुष्करकारिणः॥ २६ ॥

अर्जुन उवाच— ततस्ते तद्वचः श्रुत्वा धर्मार्थसहितं हितम् ।
उत्सृज्य नास्तीति गता गार्हस्थ्यं समुपाश्रिताः ॥२७॥
तस्मात्त्वमपि सर्वज्ञ धैर्यमालम्ब्य शाश्वतम् ।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां हतामित्रां नरोत्तम ॥ २८ ॥ [३२९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये ऋषिशकुनिसंवादकथने एकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच- अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा नकुलो वाक्यमब्रवीत् ।
राजानमभिसंप्रेक्ष्य सर्वधर्मभृतां वरम् ॥ १ ॥
अनुरुध्य महाप्राज्ञो भ्रातुश्चित्तमरिन्दम ।
व्यूढोरस्को महाबाहुस्ताम्रास्यो मितभाषिता ॥ २ ॥

नकुल उवाच-- विशाखयूपे देवानां सर्वेषामग्नयश्चिताः ।

में सत्यवादी और उत्तम व्रताचरणमें रत होके अपने धर्मके आसरेसे स्वयं संशय रहित होके यह विषय दूसरेको उपदेश करते हैं, वह निर्मत्सरी कठिन कर्म करनेवाले पुरुष शरीर त्यागनेके अनन्तर इन्द्र लोकको प्राप्त करके बहुत समय तक स्वर्गमें वास करते हैं। (२३—२६)

अर्जुन बोले, हे महाराज ! तिसके अनन्तर उन तपस्वी लोगोंने पक्षी रूपी देवराज इन्द्रके धर्मार्थ युक्त हितकर वचन सुनकर सन्यास धर्मको निष्फल समझ उसे त्यागके गृहस्थ धर्म अवलम्बन किया। हे धर्मज्ञ ! आप भी इस समय उस चिरभ्यस्त धीरज धारण करके निष्कण्टक यह पृथ्वी शासन कीजिये। (२७-२८) [३२९]

शान्तिपर्वमें ग्यारह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बारह अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! धर्मात्मा बोलनेवालोंमें मुख्य, दुःखसे कृशित, चौडी छातीवाले महाभुज बुद्धिमान शत्रुनाशन नकुल अर्जुनके वचन समाप्त होनेपर निज भाई धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखकर उनके चित्तको परिवर्तित करनेकी अभिलाषासे यह वचन बोले, हे महाराज विशाखा यूप नाम किसी क्षेत्र विशेषमें अग्नि स्थापित करनेके वास्ते देवतावोंने एक अग्नि कुण्ड बनाया था, वह अबतक भी

तस्माद्विद्धि महाराज देवाः कर्मफले स्थिताः ॥ ३ ॥
अनास्तिकानां भूतानां प्राणदाः पितरश्च ये ।
तेऽपि कर्मैव कुर्वन्ति विधिं संप्रेक्ष्य पार्थिव ॥ ४ ॥
वेदवादापविद्धांस्तु तान्विद्धि भृशनास्तिकान् ।
न हि वेदोक्तमुत्सृज्य विप्रः सर्वेषु कर्मसु ॥ ५ ॥
देवयानेन नाकस्य पृष्ठमाप्नोति भारत ।
अत्याश्रमानयं सर्वानित्याहुर्वेदनिश्चयाः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणाः श्रुतिसंपन्नास्तान्निबोध नराधिप ।
वित्तानि धर्मलब्धानि क्रतुमुख्येष्ववासृजन् ॥ ७ ॥
कृतात्मा स महाराज स वै त्यागी स्मृतो नरः ॥ ८ ॥
अनवेक्ष्य सुखादानं तथैवोर्ध्वं प्रतिष्ठितः ।
आत्मत्यागी महाराज स त्यागी तामसो मतः ॥ ९ ॥
अनिकेतः परिपतन्वृक्षमूलाश्रयो मुनिः ।
अपाचकः सदा योगी स त्यागी पार्थ भिक्षुकः ॥१०॥

प्रसिद्ध है; इससे देवत्वलाभ भी कर्म फलसे ही समझिये ! और जो लोग जलवृष्टि आदिसे नास्तिकोंको भी प्राण-दान करते रहते हैं; वे पितर लोग भी विधिपूर्वक कर्म किया करते हैं, जो लोग वेदोक्त धर्मका परित्याग करनेवाले हैं; उन्हें अवश्य ही नास्तिक समझिये; क्यों कि ब्राह्मण लोग कभी किसी कर्ममें वेदोक्त विधिको परित्याग करके किसी प्रकारसे स्थित नहीं रह सकते। (१—५)

वेद जाननेवाले पण्डितोंने ऐसा कहा है, कि गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है; उस गृहस्थाश्रममें निवास करनेवाले मनुष्योंको देवार्चनासे ब्रह्मलोक प्राप्त होता है हे महाराज ! निश्चय कीजिये कि जो पुरुष यज्ञको करते हुए वेदज्ञ ब्राह्मणोंको धर्मसे उपार्जित धन प्रदान करते, और अहङ्कार तथा ममता आदि त्यागके इन्द्रियसंयममें रत रहते हैं, उन्हें ही पण्डित लोग सात्विक त्यागी कहते हैं। जो पुरुष सुखभोग्य गृहस्थाश्रमको त्याग के जंगलमें गमन करता है अथवा अनशन आदिसे शरीर त्याग करता है, उसे तामसत्यागी समझिये। (५-९)

जो गृहत्यागके मौनावलम्बन पूर्वक वृक्ष आदिके नीचे सर्वदा स्थित होके योगाभ्यासमें रत रहते हैं और कोई अभिलाषा न करके केवल शरीर निर्वा-

क्रोधहर्षावनाहत्य पैशुन्यं च विशेषतः।
विप्रो वेदानधीते यः स त्यागी पार्थ उच्यते ॥ ११ ॥
आश्रमांस्तुलया सर्वान्धृतानाहुर्मनीषिणः।
एकतश्च त्रयो राजन् गृहस्थाश्रम एकतः ॥ १२ ॥
समीक्ष्य तुलया पार्थ कामं स्वर्गं च भारत।
अयं पन्था महर्षीणामियं लोकविदां गतिः ॥ १३ ॥
इति यः कुरुते भावं स त्यागी भरतर्षभ।
न यः परित्यज्य गृहान्वनमेति विमूढवत् ॥ १४ ॥
यदा कामान्समीक्षेत धर्मवैतंसिको नरः।
अथैनं मृत्युपाशेन कण्ठे बध्नाति मृत्युराट् ॥ १५ ॥
अभिमानकृतं कर्म नैतत्फलवदुच्यते।
त्यागयुक्तं महाराज सर्वमेव महाफलम् ॥ १६ ॥
शमो दमस्तथा धैर्यं सत्यं शौचमथार्जवम्।

हके वास्ते लिये मांगनेके लिये भ्रमण करते हैं, वे भिक्षुक सन्यासी कहके प्रसिद्ध हैं, और जो ब्राह्मण क्रोध, हर्ष और चुगलीको त्यागके वेदाध्ययनमें रत रहते हैं, उन्हें भी भिक्षुक सन्यासी कहा जाता है। पण्डित लोग कहते हैं, कि सब आश्रमोंकी बराबरी करनेमें एक ओर तीनों आश्रम और एक ओर गृहस्थाश्रम; क्यों कि गृहस्थाश्रम ही ब्रह्मचर्यादि तीनों आश्रमोंका आश्रयस्वरूप है। लोकोंके तत्त्वको जाननेवाले महर्षियोंने सब आश्रमोंके तारतम्यकी समालोचना करके जब समझा कि, गृहस्थाश्रममें स्वर्ग और काम दोनों ही प्राप्त होते हैं, तब यही उन लोगोंकी गति और अवलम्बस्वरूप हुआ। (१०-१३)

हे भरत-श्रेष्ठ! जैसे मूढ लोग गृहत्यागके वनवासी बनते हैं, वैसा न करके फलासक्तिसे रहित होकर गृहस्थाश्रममें ही कर्त्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुरुष उन वनवासियोंसे श्रेष्ठ और प्रकृत सन्यासी हैं; और जो पुरुष सन्यास वेष धरके मनमें सम्पूर्ण कामनाओंसे युक्त वस्तुओंका ध्यान करता है, उसकी गर्दनमें यमराज अपना फांस डालके उसे बांध लेता है। हे राजन्! जो कर्म अहङ्कार वश किये जाते हैं, वे फलदायक अर्थात् मुक्ति देनेवाले नहीं होते। और जो कर्म आसक्ति रहित होकर किया जाता है, वह महा फलदायक होता है, क्यों कि वह मुक्तिका कारण समझा जाता है। शम, दम, धैर्य,

यज्ञो धृतिश्च धर्मश्च नित्यमार्षो विधिः स्मृतः ॥ १७ ॥
पितृदेवातिथिकृते समारम्भोऽत्र शस्यते ।
अत्रैव हि महाराज त्रिवर्गः केवलं फलम् ॥ १८ ॥
एतस्मिन्वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते ।
त्यागिनः प्रसृतस्येह नोच्छित्तिर्विद्यते क्वचित् ॥ १९ ॥
असृजद्धि प्रजा राजन्प्रजापतिरकल्मषः ।
मां यक्ष्यन्तीति धर्मात्मा यज्ञैर्विविधदक्षिणैः ॥ २० ॥
वीरुधश्चैव वृक्षांश्च यज्ञार्थं वै तथौषधीः ।
पशूंश्चैव तथा मेध्यान् यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ २१ ॥
गृहस्थाश्रमिणस्तच्च यज्ञकर्म विरोधकम् ।
तस्माद्गार्हस्थ्यमेवेह दुष्करं दुर्लभं तथा ॥ २२ ॥
तत्संप्राप्य गृहस्था ये पशुधान्यधनान्विताः ।
न यजन्ते महाराज शाश्वतं तेषु किल्बिषम् ॥ २३ ॥
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथाऽपरे ।

पवित्रता, सरलता, धृति, यज्ञ और धर्म ये सब नियमित आचार ऋषि-प्रणीत विधि कहके वर्णित हैं। गृहस्थाश्रममें देवता, पितर और अतिथिके उद्देश्यसे यज्ञ आदि कर्म करना योग्य है ऐसा करनेसे ही त्रिवर्ग योग साधन होता है। इससे आसक्तिरहित होकर गृहस्थाश्रममें स्थित सन्यासी पुरुषके लिये यह लोग और परलोक कुछ भी नष्ट नहीं होता। (१४-१९)

महाराज! पापरहित प्रजापतिने "नाना भांतिकी दक्षिणाओंसे युक्त यज्ञ करके ये लोग मेरी पूजा अर्चा करेंगे," इसी अभिप्रायसे प्रजाओंको उत्पन्न किया है। देखिये वृक्ष, लता, औषधि, पशु आदि सम्पूर्ण मेध्य सामग्री यज्ञके निमित्त ही उत्पन्न हुई हैं; और पवित्र घृत भी यज्ञमें प्रयोजनीय है। यज्ञकर्म गृहस्थाश्रममें निवास करनेवाले पुरुषोंके ज्ञानको बढानेवाला है; इससे इस दुर्लभ गृहस्थाश्रम धर्मके कर्मोंका अनुष्ठान करना अत्यन्त कठिन कार्य है। उस अति दुर्लभ गृहस्थाश्रममें निवास करके तथा पशु और धनधान्य आदि सामग्रियोंसे युक्त होकर भी जो गृहस्थ पुरुष यज्ञादि कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, वह बहुत दिनोंतक पापभोग करते हैं। महाराज! ऋषियोंके बीच कोई वेदाध्ययन, कोई ज्ञानकी समालोचना और कोई मनही मन शास्त्र आलोचनारूपी

अथापरे महायज्ञान् मनस्येव वितन्वते ॥ २४ ॥
एवं मनः समाधानं मार्गमातिष्ठतो नृप ।
द्विजातेर्ब्रह्मभूतस्य स्पृहयन्ति दिवौकसः ॥ २५ ॥
सरत्नानि विचित्राणि संहृतानि ततस्ततः ।
मखेष्वनभिसन्त्यज्य नास्तिक्यमभिजल्पसि ॥ २६ ॥
कुटुम्बमास्थिते त्यागं न पश्यामि नराधिप ।
राजसूयाश्वमेधेषु सर्वमेधेषु वा पुनः ॥ २७ ॥
ये चान्ये क्रतवस्तात ब्राह्मणैरभिपूजिताः ।
तैर्यजस्व महीपाल शक्रो देवपतिर्यथा ॥ २८ ॥
राज्ञः प्रमाददोषेण दस्युभिः परिमुष्यताम् ।
अशरण्यः प्रजानां यः स राजा कलिरुच्यते ॥ २९ ॥
अश्वान् गाश्चैव दासीश्च करेणूश्च स्वलंकृताः ।
ग्रामान् जनपदांश्चैव क्षेत्राणि च गृहाणि च ॥ ३० ॥
अप्रदाय द्विजातिभ्यो मात्सर्याविष्टचेतसः ।
वयं ते राजकलयो भविष्याम विशाम्पते ॥ ३१ ॥

महायज्ञका अनुष्ठान करते रहते हैं। (२०–२४)

इसी भांति स्थिर चित्तवाले ब्रह्मस्वरूप ब्राह्मणोंके संसर्गमें रहनेके लिये देवता लोगभी अभिलाष करते हैं। हे राजन्! शत्रुओंको जीतकर आपने जो बहुतसे रत्नसंग्रह किये हैं, उसे यज्ञमें विना व्यय किये ही, जो अब इस समय आरण्यक धर्म ग्रहण करनेका प्रसङ्ग करते हैं; उससे केवल आपकी नास्तिकता प्रकाशित होती है। गृहस्थाश्रममें स्थित राजाओंको सर्वमेध, अश्वमेध और राजसूय आदि यज्ञोंमें धन त्यागके अतिरिक्त दूसरी भांतिका त्याग अर्थात् सन्यास ग्रहण करते नहीं देखा है। हे राजेन्द्र! इससे जैसे देवराज इन्द्रने बहुतसे यज्ञ किये थे, वैसेही अश्वमेध, राजसूय प्रभृत यज्ञ जिनकी ब्राह्मण लोग प्रशंसा करते हैं, उन्हींका अनुष्ठान कीजिये। देखिये राजाकी असावधानीसे यदि डाकू लोग प्रजाके धनको हर लेवें; और राजा यदि प्रजाकी रक्षा न करे, तो वह राजा साक्षात् कलियुगका स्वरूप हो कहा जाता है। (२५–२९)

हमलोग राजपुत्र होकर भी यदि सज्जित हाथी, घोडे, गऊ और सब भांतिसे अलंकृत दासी, सेवक, गांव, भूमि और गृह आदि सामग्री ब्राह्मणोंको दान

अदातारोऽशरण्याश्च राजकिल्बिषभागिनः।
दोषाणामेव भोक्तारो न सुखानां कदाचन ॥ ३२ ॥
अनिष्ट्वा च महायज्ञैरकृत्वा च पितृस्वधाम्।
तीर्थेष्वनभिसंप्लुत्य प्रव्रजिष्यसि चेत्प्रभो ॥ ३३ ॥
छिन्नाभ्रमिव गन्ताऽसि विलयं मारुतेरितम्।
लोकयोरुभयोर्भ्रष्टो ह्यन्तराले व्यवस्थितः ॥ ३४ ॥
अन्तर्बहिश्च यत्किञ्चिन्मनो व्यासङ्गकारकम्।
परित्यज्य भवेत्त्यागी न हि त्वा प्रतितिष्ठति ॥ ३५ ॥
एतस्मिन्वर्तमानस्य विधावप्रतिषेधिते।
ब्राह्मणस्य महाराज नोच्छितिर्विद्यते क्वचित् ॥ ३६ ॥
निहत्य शत्रूंस्तरसा समृद्धान् शक्रो यथा दैत्यबलानि संख्ये।
कः पार्थ शोचेन्निरतः स्वधर्मे पूर्वैः स्मृते पार्थिवशिष्टजुष्टे ॥ ३७ ॥
क्षात्रेण धर्मेण पराक्रमेण जित्वा महीं मन्त्रविद्भ्यः प्रदाय।

न कर सके, तो अपने दोषसे ही हम लोग मत्सरी होकर कलिस्वरूप कहे जावेंगे। जो लोग दान आदि कर्मसे प्रजाकी रक्षा नहीं करते, वे पापी राजा लोग परलोकमें सदा दुःख भोग करते हैं; वे कदापि सुख नहीं पा सकते। हे धर्मराज! जो पवित्र तीर्थोंमें स्नान पितर लोकके वास्ते श्राद्धादि और देवताओंके वास्ते यज्ञ आदि कर्मोंका अनुष्ठान न करके वनके बीच गमन करेंगे, तो आप दोनों लोकसे अन्तमें इस प्रकार नष्ट होंगे, जैसे प्रचण्ड वायुके वेगसे बादल छिन्नभिन्न हो जाते हैं॥ ३०-३४

जो भीतरसे अभिमान और बाहरी सम्पूर्ण वस्तुओंमें मनकी आसक्ति त्याग सकते हैं, वे ही प्रकृत सन्यासी हैं; नहीं तो गृहस्थाश्रम त्यागके वनमें चले जानेसे कोई सन्यासी नहीं हो सक्ता। महाराज! अप्रतिषिद्ध और वैधकार्यमें स्थित ब्राह्मणोंके विषयमें यह लोक और परलोक नहीं बिगडता। पहिले समयमें साधु पुरुषोंने जैसा आचरण किया है, तथा अपने धर्ममें रत होके जैसे देवराज इन्द्रने दैत्योंका वध किया था, वैसे ही युद्धभूमिमें पराक्रमी शत्रु कौरवोंका वध करके आप जिस प्रकार शोक कर रहे हैं, वैसा कौन पुरुष शोक करता है? हे राजेन्द्र! अब शोक न कीजिये; आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार पराक्रमके प्रभावसे पृथ्वी जय की है; इससे अब यज्ञ करके मन्त्रपाठ करनेवाले ब्राह्मणोंको बहुत सा धनादि दान कीजिये;

नाकस्य पृष्ठेऽसि नरेन्द्र गन्ता न शोचितव्यं भवताऽद्य पार्थ ॥३८॥[३६७]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नकुलवाक्ये द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥

सहदेव उवाच- न बाह्यं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति भारत ।
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य सिद्धिर्भवति वा न वा ॥ १ ॥
बाह्य द्रव्यविमुक्तस्य शारीरेष्वनुगृध्यतः ।
यो धर्मो यत्सुखं वास्याद्द्विषतां तत्तथाऽस्तु नः ॥ २ ॥
शारीरं द्रव्यमुत्सृज्य पृथिवीमनुशासतः ।
यो धर्मो यत्सुखं वा स्यात्सुहृदां तत्तथाऽस्तु नः ॥ ३॥
द्व्यक्षरस्तु भवेन्मृत्युस्त्र्यक्षरं ब्रह्म शाश्वतम् ।
ममेति च भवेन्मृत्युर्न ममेति च शाश्वतम् ॥ ४ ॥
ब्रह्ममृत्यू ततो राजन्नात्मन्येव समाश्रितौ ।
अदृश्यमानौ भूतानि योधयेतामसंशयम ॥ ५ ॥
अविनाशोऽस्य सत्वस्य नियतो यदि भारत ।
हत्वा शरीरं भूतानां न हिंसा प्रतिपत्स्यते ॥ ६ ॥
अथापि च सहोत्पत्तिः सत्वस्य प्रलयस्तथा ।

ऐसा करनेसे आप अनायासही शीघ्र स्वर्ग लाभ प्राप्त कर सकेंगे। (३५-३८)

शांतिपर्वमें बारह अध्याय समाप्त। [३६७]

शांतिपर्वमें तेरह अध्याय।

सहदेव बोले, महाराज! केवल बाह्य वस्तु सम्पूर्ण परित्याग करनेसे ही सिद्धि नहीं प्राप्त होसकती,वरन आन्तरिक आसक्ति त्याग सके, तो सिद्धि प्राप्त होना सम्भव है। अन्तरमें विषयासक्त और बाहरी वस्तुओंके त्याग करनेवाले पुरुषको जिस प्रकार धर्म और सुखलाभकी सम्भावना रहती है,वह हम लोगोंके शत्रुवोंको प्राप्त होवे; और आन्तरिक अभिमान आदि त्यागके यथानियमसे पृथ्वी शासन करनेवाले राजाको जैसा धर्म और सुख प्राप्त होना सम्भव है, वह हम लोगोंके इष्ट मित्रोंको प्राप्त होवे। " मम " ये दो अक्षर ही मृत्यु है; और " न मम " ये तीन अक्षर अर्थात् निर्मम होके नित्य ब्रह्म जानना चाहिये। महाराज! ज्ञान और अज्ञान, ये दोनों अवश्य ही प्राणियोंके शरीरमें अलक्षित रूपसे स्थित होकर आपसमें प्रतिद्वन्दी होते हैं। (१—५)

यदि यह निश्चित है कि जीव अमर है, तो शरीर नष्ट करनेसे कैसे प्राणियोंकी हिंसा हो सकती है? और यदि शरीरका जन्मना मरना देखकर उस

नष्टे शरीरे नष्टः स्याद्वृथा च स्यात् क्रियापथः ॥ ७ ॥
तस्मादेकान्तमुत्सृज्य पूर्वैः पूर्वतरैश्च यः ।
पन्था निषेवितः सद्भिः स निषेव्यो विजानता ॥ ८ ॥
लब्ध्वाऽपि पृथिवीं कृत्स्नां सहस्थावरजङ्गमाम् ।
न भुङ्क्ते यो नृपः सम्यङ् निष्फलं तस्य जीवितम् ॥९॥
अथवा वसतो राजन् वने वन्येन जीवतः ।
द्रव्येषु यस्य ममता मृत्योरास्ये स वर्तते ॥ १० ॥
बाह्यान्तरं च भूतानां स्वभावं पश्य भारत ।
ये तु पश्यन्ति तद्भूतं मुच्यन्ते ते महाभयात् ॥ ११ ॥
भवान् पिता भवान्माता भवान्भ्राता भवान् गुरुः ।
दुःखप्रलापानार्तस्य तन्मे त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ १२ ॥
तथ्यं वा यदि वाऽतथ्यं यन्मयैतत्प्रभाषितम् ।
तद्विद्धि पृथिवीपाल भक्त्या भरतसत्तम ॥ १३ ॥ [३८०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मपर्वणि सहदेववाक्ये त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

जीवकी उत्पत्ति और मृत्यु माने तो वेदमें कही हुई समस्त क्रिया मिथ्या हो जावेगी इससे जीवकी उत्पत्ति और नाशके विषयमें सन्देह त्यागके पूर्व समयके साधु पुरुषोंके आचरित मार्गको अवलम्बन करना बुद्धिमान पुरुषको उचित है। इस स्थावर जङ्गमसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी प्राप्त करके भी जो पुरुष राज्यसुख नहीं भोग करते, उनका जीना निष्फल है। जो लोग वनवासी होकर जीवन धारण करते हैं, परन्तु और विषय वासनाकी ममता उनके चित्तसे नहीं छूटती; वे शीघ्र ही मृत्युके कराल ग्रासमें पतित होते हैं। हे महाराज ! आप इस आत्माको प्राणियोंके भीतर बाहर प्रत्यगात्म रूपसे स्थित समझिये; जो लोग आत्माको ऐसा जान सकते हैं, वे महाभयसे मुक्त होते हैं। आप हम लोगोंके पिता, माता भ्राता और गुरु हैं; इससे मैंने दुःखसे आर्त्त होकर जो कुछ प्रलापयुक्त वचन कहा है, उस अपराधको क्षमा कीजिये; क्यों कि मैंने जो कुछ कहा है, चाहे वह न्याययुक्त हो अथवा अन्याय पूरित ही होवे, केवल आपमें भक्ति रहनेके कारणसे ही मैंने कहा है। (६-१३) [३८०]

शान्तिपर्वमें तेरह अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- अव्याहरति कौन्तेये धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
भ्रातॄणां ब्रुवतां तांस्तान् विविधान् वेदनिश्चयान् ॥ १ ॥
महाभिजनसंपन्ना श्रीमत्यायतलोचना ।
अभ्यभाषत राजेन्द्र द्रौपदी योषितां वरा ॥ २ ॥
आसीनमृषभं राज्ञां भ्रातृभिः परिवारितम् ।
सिंहशार्दूलसदृशैर्वारणैरिव यूथपम् ॥ ३ ॥
अभिमानवती नित्यं विशेषेण युधिष्ठिरे ।
लालिता सततं राज्ञा धर्मज्ञा धर्मदर्शिनी ॥ ४ ॥
आमंत्र्य विपुलश्रोणी साम्ना परमवल्गुना ।
भर्तारमभिसंप्रेक्ष्य ततो वचनमब्रवीत् ॥ ५ ॥
द्रौपद्युवाच— इमे ते भ्रातरः पार्थ शुष्यन्ते स्तोकका इव ।
वावाश्यमानास्तिष्ठन्ति न चैनानभिनन्दसे ॥ ६ ॥
नन्दयैतान्महाराज मत्तानिव महाद्विपान् ।
उपपन्नेन वाक्येन सततं दुःखभागिनः ॥ ७ ॥
कथं द्वैतवने राजन् पूर्वमुक्त्वा तथा वचः ।

शान्तिपर्वमें चौदह अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! भीमसेन आदि भाइयोंने वेदविहित वचनोंको कहके इस प्रकार धर्मराज युधिष्ठिरको प्रबोधित किया; तौभी जब उन्होंने कुछ उत्तर न दिया। तब महत् अभिजन-सम्पन्न आयतनैनी स्त्रियोंमें अग्रगण्य श्रीमती द्रौपदी देवीने कुछ कहनेकी अभिलाष की । वह धर्म जाननेवाली, धर्मदर्शनी, विपुलश्रोणी पाञ्चाली स्वाभाविक ही माननी थी। उसपर भी राजा युधिष्ठिर उसका सदा सम्मान किया करते थे, इस ही कारण वह उनके समीप बहुत कुछ अभिमान युक्त वचनोंको प्रकाशित कर सकती थी । वह हाथियोंके बीचमें स्थित यूथपतिकी भांति सिंह और शार्दूलके समान पराक्रमी भाइयोंके बीचमें बैठे हुए राज शिरोमणि निज स्वामी युधिष्ठिरकी ओर कटाक्ष करके मनोहर शान्त वचन से उन्हें सम्बोधन करके बोली, महाराज ! तुम्हारे भ्राता सूखे कण्ठसे युक्त चातककी भांति चिल्ला रहे हैं, तौभी तुम उन लोगोंको अभिनन्दन नहीं करते हो ? बहुत दिनोंसे दुःख भोग करनेवाले महामतवाले हाथीके समान पराक्रमी इन भाइयोंको आप यथा उचित वचनोंसे आनन्दित कीजिये । (१-७)

भ्रातॄनेतान् स सहितान् शीतवातातपार्दितान् ॥८॥
वयं दुर्योधनं हत्वा मृधे भोक्ष्याम मेदिनीम्।
संपूर्णां सर्वकामानामाहवे विजयैषिणः ॥९॥
विरथांश्च रथान् कृत्वा निहत्य च महागजान्।
संस्तीर्य च रथैर्भूमिं ससादिभिररिन्दमाः ॥१०॥
यजतां विविधैर्यज्ञैः समृद्धैराप्तदक्षिणैः।
वनवासकृतं दुःखं भविष्यति सुखाय वः ॥११॥
इत्येतानेवमुक्त्वा त्वं स्वयं धर्मभृतां वर।
कथमद्य पुनर्वीर विनिहंसि मनांसि नः ॥१२॥
न क्लीबो वसुधां भुंक्ते न क्लीबो धनमश्नुते।
न क्लीबस्य गृहे पुत्रा मत्स्याः पंक इवासते ॥१३॥
नादण्डः क्षत्रियो भाति नादण्डो भूमिमश्नुते।
नादण्डस्य प्रजा राज्ञः सुखं विन्दन्ति भारत॥१४॥
मित्रता सर्वभूतेषु दानमध्ययनं तपः।

हे राजेन्द्र! पहिले द्वैतवनमें जब तुम्हारे ये सब भाई सर्दी, वायु और गर्मीसे अत्यन्त क्लेशित हुए थे; तब उस समय आपने कहा था,—हे शत्रुओंको नाश करनेवाले युद्धविजयी भ्राता लोगो! हम सब कोई मिलके युद्धभूमिमें दुर्योधनको मारकर सब अभिलाष सिद्ध करनेवाली पृथ्वीको भोग करेंगे; और जब तुम लोग शत्रुसेनाके रथियोंको रथ रहित और हाथियोंको मारकर उन सब रथों और चतुरङ्गिनी सेनाके मृत शरीरोंसे पृथ्वीको परिपूरित करके अनेक दक्षिणासे युक्त अनेक भांतिके यज्ञोंका अनुष्ठान करोगे, उस समय तुम लोगोंका यह सब दुःख सुखमें परिणत होगा। (८-११)

हे धर्मात्माओंमें मुख्य महाराज! आप उस समय इस प्रकार धीरजयुक्त वचन कहके इस समय किस कारणसे हम लोगोंका मन उत्साहरहित कर रहे हैं? देखिये कादर पुरुष कदापि पृथ्वी वा ऐश्वर्य भोगनेका अधिकारी नहीं हो सकता! और जैसे कीचडमें मछली नहीं रह सकती, वैसे ही नपुंसकके घरमें पुत्र कलत्र नहीं रहते। राजा दण्ड रहित होनेसे प्रभावयुक्त पृथ्वीको भोगनेमें समर्थ नहीं हो सकता और उसकी प्रजा भी कदापि सुख नहीं पासक्ती। महाराज! सब प्राणियोंके ऊपर मित्रभाव, दान, अध्ययन

ब्राह्मणस्यैव धर्मः स्यान्न राज्ञो राजसत्तम ॥ १५ ॥
असतां प्रतिषेधश्च सतां च परिपालनम् ।
एष राज्ञां परो धर्मः समरे चापलायनम् ॥ १६ ॥
यस्मिन् क्षमा च क्रोधश्च दानादाने भयाभये ।
निग्रहानुग्रहौ चोभौ स वै धर्मविदुच्यते ॥ १७ ॥
न श्रुतेन न दानेन न सांत्वेन न चेज्यया ।
त्वयेयं पृथिवी लब्धा न संकोचेन चाप्युत ॥ १८ ॥
यत्तद्बलममित्राणां तथा वीर्यसमुद्यतम् ।
हस्त्यश्वरथसंपन्नं त्रिभिरङ्गैरनुत्तमम् ॥ १९ ॥
रक्षितं द्रोणकर्णाभ्यामश्वत्थाम्ना कृपेण च ।
तत्त्वया निहतं वीर तस्माद्भुंक्ष्व वसुन्धराम् ॥ २० ॥
जंबूद्वीपो महाराज नानाजनपदैर्युतः ।
त्वया पुरुषशार्दूल दंडेन मृदितः प्रभो ॥ २१ ॥
जंबूद्वीपेन सदृशः क्रौञ्चद्वीपो नराधिप ।
अधरेण महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २२ ॥
क्रौञ्चद्वीपेन सदृशः शाकद्वीपो नराधिप ।
पूर्वेण तु महामेरोर्दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २३ ॥

और तपस्या ये सब ब्राह्मणके धर्म हैं क्षत्रियके नहीं । (१२-१५)

दुष्टोंका नाश, साधु पुरुषोंका पालन, और युद्धमें पीछे न हटना यही राजाओंके परम धर्म हैं । जिसमें क्षमा, दान, क्रोध, भय, अभय, निग्रह और अनुग्रह वर्त्तमान हैं, उसे ही धर्मज्ञ कहा जा सकता है । महाराज ! आपने दान, अध्ययन सान्त्वनवाक्य, यज्ञ, वा याचना कर पृथ्वी नहीं प्राप्त किया है; द्रोणाचार्य, कर्ण, अश्वत्थामा और कृपाचार्य आदि महावीरोंसे रक्षित, युद्धमें उद्यत शत्रुके हाथी, घोडे, रथ और पदाति वीरोंसे युक्त चतुरङ्गिनी सेनाका नाश करके इस पृथ्वीको प्राप्त किया है, इससे अब इसे भोग कीजिये । (१६-२०)

हे पुरुषश्रेष्ठ ! पहिले राजसूय यज्ञके समयमें आपने अनेक भांतिके प्राणियोंसे युक्त यह जम्बुद्वीप, महामेरु पर्वतके पश्चिम जम्बूद्वीपके समान क्रौञ्च द्वीप, और महागिरिके पूर्व क्रौञ्च द्वीप सदृश शाकद्वीप, और इस महापर्वतके उत्तर दिशामें स्थित भद्राश्व द्वीप, इसके अतिरिक्त समुद्र पर्यन्त नाना प्राणियोंसे

उत्तरेण महामेरोः शाकद्वीपेन संमितः ।
भद्राश्वः पुरुषव्याघ्र दण्डेन मृदितस्त्वया ॥ २४ ॥
द्वीपाश्च सान्तरद्वीपा नानाजनपदाश्रयाः ।
विगाह्य सागरं वीर दण्डेन मृदितास्त्वया ॥ २५ ॥
एतान्यप्रतिमेयानि कृत्वा कर्माणि भारत ।
न प्रीयसे महाराज पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २६ ॥
स त्वं भ्रातॄनिमान् दृष्ट्वा प्रतिनन्दस्व भारत ।
ऋषभानिव सम्मत्तान् गजेन्द्रानूर्जितानिव ॥ २७ ॥
अमरप्रतिमाः सर्वे शत्रुसाहाः परन्तपाः ।
एकोऽपि हि सुखायैषां मम स्यादिति मे मतिः ॥२८ ॥
किं पुनः पुरुषव्याघ्र पतयो मे नरर्षभाः ।
समस्तानीन्द्रियाणीव शरीरस्य विचेष्टने ॥ २९ ॥
अनृतं नाब्रवीच्छ्वश्रूः सर्वज्ञा सर्वदर्शिनी ।
युधिष्ठिरस्त्वां पाञ्चालि सुखे धास्यत्यनुत्तमे ॥ ३० ॥
हत्वा राजसहस्राणि बहून्याशु पराक्रमः ।
तद्व्यर्थं सम्प्रपश्यामि मोहात्तव जनाधिप ॥ ३१ ॥

युक्त सम्पूर्ण अन्तर्द्वीपोंको भी शासित किया था । हे महाराज ! आप इस भांति असीम कार्योंको करके ब्राह्मणोंसे सम्मानित होकर भी क्यों नहीं प्रसन्न चित्त होते हैं ? क्या ही आश्चर्य है ! आप मतवाले हाथी और वृषभ के समान पराक्रमी अपने भाइयोंकी ओर देखकर इन्हें आनन्दित करिये । देखिये आप सब कोई देवतोंके समान शत्रुओंका नाश करने और उनके पराक्रमको सहनेमें समर्थ हैं; अधिक क्या कहूं; मेरे विचार में हम लोगोंके बीच एक ही पुरुषके स्वामी होनेसे परम सुखका निमित्त होसक्ता है । (२१—२८)

जब शरीरको धारण करनेवाली पांचों इन्द्रियोंको भांति आप पांचों भाई मेरे स्वामी हैं;तब जो मेरा कितना सौभाग्य है; उसे कहां तक वर्णन करूं? महाराज ! मेरी सास सर्वज्ञानसे युक्त दीर्घदर्शिनी कुन्तीदेवीने कुछ भी मिथ्या वचन नहीं कहा था, उन्होंने मुझसे कहा था, " हे द्रौपदी ! महापराक्रमी युधिष्ठिर युद्धभूमिमें सहस्रों राजाओंको मारके तुम्हारे सुखका विधान करेंगे, " परन्तु आपको सहसा इस प्रकारसे मोहयुक्त देखकर अब बोध होता है, उन-

येषामुन्मत्तको ज्येष्ठः सर्वे तेऽप्यनुसारिणः।
तयोन्मादान्महाराज सोन्मादाः सर्वपाण्डवाः॥ ३२॥
यदि हि स्युरनुन्मत्ता भ्रातरस्ते नराधिप।
बद्ध्वा त्वां नास्तिकैः सार्धं प्रशासेयुर्वसुन्धराम्॥३३॥
कुरुते मूढ एवं हि यः श्रेयो नाधिगच्छति।
धूपैरञ्जनयोगैश्च नस्यकर्मभिरेव च ॥ ३४॥
भेषजैः स चिकित्स्यः स्याद्य उन्मार्गेण गच्छति।
साऽहं सर्वाधमा लोके स्त्रीणां भरतसत्तम ॥ ३५॥
तथा विनिकृता पुत्रैर्याऽहमिच्छामि जीवितुम्।
एतेषां यतमानानां न मेऽद्य वचनं मृषा ॥ ३६॥
त्वं तु सर्वां महीं त्यक्त्वा कुरुषे स्वयमापदम्।
यथाऽऽस्तां सम्मतौ राज्ञां पृथिव्यां राजसत्तम ॥३७॥
मान्धाता चाम्बरीषश्च तथा राजन् विराजसे।
प्रशाधि पृथिवीं देवीं प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३८॥

के ये सब वचन मिथ्या हुए। जिसका जेठा भाई उन्मत्त होता है, छोटे भाई सब उसके ही अनुगामी होते हैं। देखिये आपका चित्त उन्मत्तता युक्त हो रहा है, तौभी आपके भाई आपके अनुगामी होरहे हैं। हे राजेन्द्र! यदि ये लोग उन्मत्त न हुए होते, तो नास्तिकोंके सहित आपको बांधके स्वयं ही पृथ्वी का शासन करते। (२९—३३)

जो पुरुष मूढ होकर आपकी भांति आचरण करता है, उसका कदापि कल्याण नहीं हो सकता। जो पुरुष इस भांति उन्मादमार्गी होता है, धूप, अञ्जन, नस्य और औषधि प्रयोगसे उसकी चिकित्सा करनी उचित है। परन्तु हे भरतसत्तम महाराज! स्त्रियोंके बीच मैं ही अत्यन्त अधम हूं, क्यों कि मैं वैसे पुत्रोंसे रहित होकर भी अभी जीवित रहनेकी अभिलाषा करती हूं। आपके ये सब भाई लोग और मैं, हम सब कोई यत्न कर रहे हैं, इससे हमारे वचनोंको निष्फल करना आपको उचित नहीं है। देखिये आप सम्पूर्ण पृथ्वीके राज्यको त्यागके वनमें गमन करनेके वास्ते उद्यत होकर स्वयं ही विपदको आवाहन कर रहे हैं। महाराज! पहिले जैसे समस्त राजाओंमें माननीय मान्धाता और अम्बरीष थे, इस समय आप भी उस ही भांति विराजमान हैं। इससे धर्मके सहित प्रजाको पालन कर

सपर्वतवनद्वीपां मा राजन् विमना भव।
यजस्व विविधैर्यज्ञैर्युध्यस्वारीन्प्रयच्छ च।
धनानि भोगान् वासांसि द्विजातिभ्यो नृपोत्तम ॥३९॥ [४१९]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्रौपदीवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच— याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
अनुमान्य महाबाहुं ज्येष्ठं भ्रातरमच्युतम् ॥ १ ॥

अर्जुन उवाच— दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः ॥ २ ॥
दण्डः संरक्षते धर्मं तथैवार्थं जनाधिप।
कामं संरक्षते दण्डस्त्रिवर्गो दण्ड उच्यते ॥ ३ ॥
दण्डेन रक्ष्यते धान्यं धनं दण्डेन रक्ष्यते।
एवं विद्वन्नुपाधत्स्व भावं पश्यस्व लौकिकम् ॥ ४ ॥
राजदण्डभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
यमदण्डभयादेके परलोकभयादपि ॥ ५ ॥

ते हुए वन पर्वत और अनेक द्वीपोंसे युक्त इस पृथ्वीका शासन, विविध यज्ञोंका अनुष्ठान, और शत्रुओंके सङ्ग युद्ध करते हुए ब्राह्मणोंको धन वस्त्र आदि अनेक भांतिकी भोगप्रद वस्तु प्रदान कीजिये; और विरत न होइये (३४—३९) [४१९]

शान्तिपर्वमें चौदह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पंद्रह अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज जनमेजय! अर्जुन द्रौपदीके वचनको सुनकर जेठे भाई, अच्युत महाबाहु युधिष्ठिरका सम्मान करते हुए फिर कहने लगे। (१)

अर्जुन बोले, हे महाराज! दण्ड ही समस्त प्रजाको शासन और पालन करता रहता है; और सम्पूर्ण प्राणियोंकी निद्रावस्थामें भी दण्ड जागता रहता है; इस ही कारण पण्डित लोग दण्डको ही धर्म कहके वर्णन करते हैं। दण्डही धर्म अर्थ और कामका रक्षक है; इसहीसे दण्ड त्रिवर्गनामसे वर्णित हुआ है। अधिक क्या कहूं, प्रजाओंकी धनधान्य आदि जो कुछ वस्तु हैं, वह सब दण्डसे ही रक्षित होती हैं। हे राजेन्द्र! इससे आपभी ऐसाही निश्चय करके लोक-रक्षा स्वरूप दण्डको ग्रहण करके लौकिक भावोंपर दृष्टि कीजिये। देखिये इस पृथ्वीपर कितने ही पापी पुरुष केवल राज दण्डके भयसे ही पाप कर्मोंमें प्रवृत्त

परस्परभयादेके पापाः पापं न कुर्वते।
एवं सांसिद्धिके लोके सर्वं दण्डे प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥
दण्डस्यैव भयादेके न खादन्ति परस्पर।
अन्धे तमसि मज्जेयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ७ ॥
यस्माददान्तान् दमयत्याशिष्टान् दण्डयत्यपि।
दमनाद्दण्डनाच्चैव तस्माद्दण्डं विदुर्बुधाः ॥ ८ ॥
वाचा दण्डो ब्राह्मणानां क्षत्रियाणां भुजार्पणम्।
दानदण्डाः स्मृता वैश्या निर्दण्डः शूद्र उच्यते ॥ ९ ॥
असम्मोहाय मर्त्यानामर्थसंरक्षणाय च।
मर्यादा स्थापिता लोके दण्डसंज्ञा विशाम्पते ॥ १० ॥
यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति सूद्यतः।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ते नेता चेत्साधु पश्यति ॥ ११ ॥
ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।

नहीं होते; कोई कोई यमदण्ड और परलोकके भयसे और कोई कोई जातीय भयसे पापाचरण करनेमें प्रवृत्त नहीं होते। हे राजन्! इसी भांति लौकिक व्यवहारोंकी सिद्धि होती है; परन्तु सब प्राणी केवल दण्ड-भयसे ही अपने अपने कार्योंमें यथा रीति तत्पर हैं। (२-६)

इस पृथ्वीपर बहुतेरे प्राणी ऐसे भी हैं, जो केवल दण्डभयसे इस प्रकारके आपस में एक दूसरे को भक्षण नहीं करते। अधिक मैं अब क्या कहूं, यदि दण्ड प्रजाकी रक्षा न करता; तो समस्त प्राणी महाघोर अन्धकाररूपी नरकमें पतित होते। दुष्टोंका दमन और साधारण पुरुषोंको शासित करता है, इसीसे पण्डितोंने उसका नाम दण्ड रक्खा है। यदि ब्राह्मणजाति कुछ अपराध करे, तो केवल वचनेसे उसे दण्डित करना कर्तव्य कर्म है। अपराधी क्षत्रियको केवल भोजन मात्र प्रदान करना चाहिये,उसे अधिक देना उचित नहीं है, वैश्यको धनरूपी दण्ड करे और शूद्र जातिको दूसरा कुछ दण्ड न करके उससे केवल सेवा कर्म करनेकी ही विधि है। प्रजाके धन प्राणकी रक्षा और सावधानताके वास्ते जगत्के बीच दण्डका नियम स्थापित हुआ है। (७-१०)

जहां दण्ड चलानेवाला राजा पूर्ण रीतिसे विचारवान होता है, और श्याममूर्ति तथा लाल नेत्रवाला दण्ड यथार्थ रीतिसे उद्यत रहता है; वहांपर प्रजा कदापि मोहित नहीं होती। ब्रह्मचारी,

दण्डस्यैव भयादेते मनुष्या वर्त्मनि स्थिताः ॥ १२ ॥
नाभीतो यजते राजन्नाभीतो दातुमिच्छति ।
नाभीतः पुरुषः कश्चित्समये स्थातुमिच्छति ॥ १३ ॥
नाच्छित्त्वा परमर्माणि नाकृत्वा कर्म दुष्करम् ।
नाहत्वा मत्स्यघातीव प्राप्नोति महतीं श्रियम् ॥ १४ ॥
नाघ्नतः कीर्तिरस्तीह न वित्तं न पुनः प्रजाः ।
इंद्रो वृत्रवधेनैव महेन्द्रः समपद्यत ॥ १५ ॥
य एव देवा हन्तारस्ताँल्लोकोऽर्चयते भृशम् ।
हन्ता रुद्रस्तथा स्कन्दः शक्रोऽग्निर्वरुणो यमः ॥ १६ ॥
हन्ता कालस्तथा वायुर्मृत्युर्वैश्रवणो रविः ।
वसवो मरुतः साध्या विश्वेदेवाश्च भारत ॥ १७ ॥
एतान्देवान्नमस्यन्ति प्रतापप्रणता जनाः ।
न ब्राह्मणं न धातारं न पूषाणं कथञ्चन ॥ १८ ॥
मध्यस्थान्सर्वभूतेषु दान्तान् शमपरायणान् ।

गृहस्थ, वानप्रस्थ, और भिक्षुक सब आश्रमवाले केवल दण्ड भयसे नियमित पथमें स्थित हैं। महाराज! यदि दण्ड भय न रहता तो कोई पुरुष यज्ञानुष्ठान और दान कर्म करनेकी इच्छा न करते। अधिक क्या कहूं, भय रहित होनेसे कोई पुरुष भी नियममें रहनेकी इच्छा न करते। जैसे मछुए बिना मछलियों की हिंसा किये जीविका निर्वाह नहीं कर सकते, वैसेही राजा लोग भी शत्रुओंको बिना नष्ट किये कदापि राजश्री को प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते। राजालोग यदि अपने शत्रुओंका नाश न करें, तो उनका धन, कीर्ति, और प्रजा कुछ भी स्थायी नहीं रह सकती। देखिये इन्द्रने वृत्रासुरका वध करके महेन्द्र नाम प्राप्त किया। हे देवताओंके बीच जो लोग शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं, उनकी सब कोई भक्ति पूर्वक पूजा अर्चा किया करते हैं। रुद्र, इन्द्र, वरुण, अग्नि, स्वामि कार्तिक, यम, काल, मृत्यु, वायु, कुबेर, सूर्य, वसु, मरुत्, विश्वदेव और साध्य आदिक देवता ये सब कोई शत्रुओंका नाश करनेवाले हैं। (११—१७)

परन्तु मनुष्य लोग उन देवतोंके प्रतापको जानके विनीत भावसे उन्हें प्रणाम किया करते हैं; ब्रह्मा, धाता वा पूषाको कदापि प्रणाम नहीं करते। केवल कोई कोई मनुष्य सब कर्मोंमें स-

यजन्ते मानवाः केचित्प्रशान्ताः सर्वकर्मसु ॥१९॥
न हि पश्यामि जीवन्तं लोके कश्चिदहिंसया।
सत्त्वैः सत्त्वा हि जीवन्ति दुर्बलैर्बलवत्तरा ॥ २० ॥
नकुलो मूषिकानत्ति बिडालो नकुलं तथा।
बिडालमत्ति श्वा राजन् श्वानं व्यालमृगस्तथा॥ २१॥
तानत्ति पुरुषः सर्वान्पश्य कालो यथागतः।
प्राणस्यान्नमिदं सर्वं जङ्गमं स्थावरं च यत् ॥ २२ ॥
विधानं दैवविहितं तत्र विद्वान्न मुह्यति।
यथा सृष्टोऽसि राजेन्द्र तथा भवितुमर्हसि ॥ २३ ॥
विनीतक्रोधहर्षा हि मन्दा वनमुपाश्रिताः।
विना वधं न कुर्वन्ति तापसाः प्राणयापनम् ॥ २४ ॥
उदके बहवः प्राणाः पृथिव्यां च फलेषु च।
न च कश्चिन्न तान् हन्ति किमन्यत्प्राणयापनात् ॥२५॥
सूक्ष्मयोनीनि भूतानि तर्कगम्यानि कानिचित्।

म्पूर्ण प्राणियोंको सम दृष्टिसे देखते हैं और साधु तथा परिश्रमी देवताओंकी पूजा अर्चा किया करते हैं। इस संसारके बीच मैं ऐसे किसी प्राणीको भी नहीं देखता, जो विना हिंसा किये ही जीविका निर्वाह कर सके, क्यों कि निर्बल प्राणियोंसे बलवान जीवोंका जीविका निर्वाह होता है; सर्वत्र ऐसाही नियम दीख पडता है। देखिये नकुल चूहेको, बिल्लीको नकुल,कुत्ते बिल्लीको और चीता कुत्तेको भक्षण करते हैं॥(१८-२१)

इसके अतिरिक्त काल-पुरुष समयके अनुसार उपस्थित होकर उन सब कोही भक्षण करता है। अधिक क्या कहूं, इस स्थावर और जङ्गममय जगत्के बीच जो कुछ पदार्थ हैं, उन्हें प्राणके भक्ष्य करके विधाताने उत्पन्न किया है; इसही कारण विद्वान पुरुष उस विषयमें मोहित नहीं होते। हे राजेन्द्र! आपने जिस कुलमें जन्म ग्रहण किया है, उस कुलमें आचरित कर्मोंमें तुम्हें प्रवृत्त होना ही उचित है। मूढबुद्धि क्षत्रिय ही क्रोध हर्षको त्यागके वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करते हैं; परन्तु हिंसाके विना तपस्वी लोगोंके शरीरका भी निर्वाह नहीं हो सकता। पृथ्वीपर जलमें और थलमें बहुतेरे छोटे छोटे जीव घुसे हुए हैं; तपस्वी लोग प्राण धारण करनेके निमित्त फल और जल आदिके सङ्ग उन छोटे छोटे प्राणियोंकी हिंसा करते

पक्ष्मणोऽपि निपातेन येषां स्यात्स्कंधपर्ययः ॥ २६ ॥
ग्रामान्निष्क्रम्य मुनयो विगतक्रोधमत्सराः ।
वने कुटुंबधर्माणो दृश्यन्ते परिमोहिताः ॥ २७ ॥
भूमिं भित्त्वौषधीश्छित्त्वा वृक्षादीनंडजान् पशून् ।
मनुष्यास्तन्वते यज्ञांस्ते स्वर्गं प्राप्नुवन्ति च ॥ २८ ॥
दण्डनीत्यां प्रणीतायां सर्वे सिद्ध्यन्त्युपक्रमाः ।
कौन्तेय सर्वभूतानां तत्र मे नास्ति संशयः ॥ २९ ॥
दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
जले मत्स्यानिवाभक्षन् दुर्बलान्बलवत्तराः ॥ ३० ॥
सत्यं चेदं ब्रह्मणा पूर्वमुक्तं दण्डः प्रजा रक्षति साधु नीतः ।
पश्याग्नयश्च प्रतिशाम्य भीताः सन्तर्जिता दण्डभयाज्ज्वलन्ति॥३१॥
अन्धं तम इवेदं स्यान्न प्रज्ञायत किंचन ।

हैं। इस पृथ्वीपर बहुतसे ऐसे छोटे जीव हैं, कि अनुमानके अतिरिक्त उनका अस्तित्व स्थिर नहीं होसकता; वे जीव इतने सूक्ष्म हैं, कि नेत्रकी पलकके आघातसे भी शीघ्र नष्ट होसकते हैं। (२२-२६)

कोई कोई मनुष्य क्रोध और मत्सरता त्यागके मुनि धर्म अवलम्बन करके गांवसे निकलकर वनमें गमन करते हैं; परन्तु वहांपर भी उन मूढ पुरुषोंको गृहस्थाश्रमी होते देखा जाता है; और बहुतेरे पुरुष गृहस्थाश्रममें ही निवास करके भूमि खनन, औषधि छेदन और उद्भिज अण्डज आदि चारों भांतिके प्राणियोंकी हिंसा करके यज्ञकार्योंसे अनायास ही स्वर्गलोकमें गमन कर सकते हैं। इससे मुझे इस प्रकार निश्चय मालुम है, कि यथारीति दण्ड प्रयोग करनेसे ही प्राणी मात्रके कार्य सिद्ध हो सकते हैं। इस जगतके बीच दण्ड न रहता, तो समस्त प्रजा नष्ट होजाती; अधिक बलवान प्राणी अपनेसे निर्बल प्राणीयोंको जलमें स्थित मछलियोंकी भांति विचार कर भक्षण कर डालते हैं। पहिले ब्रह्माने भी यह सत्य वचन वर्णन किया था कि अच्छी भांतिसे विचार पूर्वक दण्ड प्रयोग होनेसे ही प्रजाकी रक्षा होती है। देखिये शान्त अग्नि भी दण्डके भयसे फफकार देने मात्रसेही फिर प्रज्वलित होजाती है। (२७-३०)

साधु और दुष्ट पुरुषोंको विभाग करनेवाला दण्ड यदि इस संसारके बीच न रहता, तो सब प्राणी अन्धकार रूपी नरकमें पडे रहते, कुछ भी विदित न

दण्डश्चेन्न भवेल्लोके विभजन्साध्वसाधुनी ॥ ३२ ॥
येऽपि संभिन्नमर्यादा नास्तिका वेदनिन्दकाः ।
तेऽपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनाशु निपीडिताः॥ ३३ ॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्जनः ।
दण्डस्य हि भयाद्भीतो भोगायैव प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
चातुर्वर्ण्यप्रमोदाय सुनीतिनयनाय च ।
दण्डो विधात्रा विहितो धर्मार्थौ भुवि रक्षितुम्॥ ३५ ॥
यदि दण्डान्न बिभ्येयुर्वयांसि श्वापदानि च ।
अद्युः पशून्मनुष्यांश्च यज्ञार्थानि हवींषि च ॥ ३६ ॥
न ब्रह्मचार्यधीयीत कल्याणीं न दुहेत गाम् ।
न कन्योद्वहनं गच्छेद्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३७ ॥
विष्वग्लोपः प्रवर्तेत भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
ममत्वं न प्रजानीयुर्यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३८ ॥
न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ३९ ॥

होसकता। अधिक क्या कहा जावे, जो लोग नियम उल्लङ्घन करनेवाले, वेदनिन्दक और नास्तिक हैं, वे भी दण्डसे पीडित होकर शीघ्र ही नियमके वशीभूत होजाते हैं। महाराज! समस्त प्राणी दण्ड भयसे नियमको उलङ्घन नहीं कर सकते, क्यों कि इस जगत्के बीच पापरहित मनुष्य बहुत ही दुर्लभ हैं, इससे प्रायः सब कोई दण्ड भयसे भीत होकर नियमित मार्गमें गमन करते हैं। चारों वर्णकी प्रजाके सुख, धर्म, अर्थ रक्षा और उन लोगोंको नीतिमार्ग अवलम्बन करानेके ही वास्ते विधाताने दण्डको उत्पन्न किया है। (३२-३५)

यदि दण्डका भय न रहता, तो दुष्ट पक्षी आदि विपत्कारी जन्तु सदा यज्ञकी हवि, पशु और मनुष्योंको भक्षण करते। दण्ड प्रजाकी रक्षा न करे, तो वेदाध्ययन, दूध देनेवाली गऊका दुहना, और कन्याओंके विवाह आदि सब कार्य कभी न हों। यदि लोक-रक्षा करनेवाला दण्ड न रहता, तो समस्त क्रिया और नियम शिथिल होकर नष्ट होजाते, तथा प्रजा किसी वस्तुको भी अपनी न समझ सकती, अर्थात् बलवान निर्बलोंके धनको अनायासही बलपूर्वक हर लेते। यदि दण्ड लोकरक्षा न करता, तो कोई पुरुष भी निर्भयचित्त होकर विधि-

चरेयुर्नाश्रमं धर्मं यथोक्तं विधिमाश्रिताः ।
न विद्यां प्राप्नुयात्कश्चिद्यदि दण्डो न पालयेत्॥ ४० ॥
न चोष्ट्रा न बलीवर्दा नाश्वाश्वतरगर्दभाः ।
युक्ता वहेयुर्यानानि यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४१ ॥
न प्रेष्या वचनं कुर्युर्न बाला जातुकर्हिचित् ।
न तिष्ठेद्युवती धर्मे यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४२ ॥
दण्डे स्थिताः प्रजाः सर्वा भयं दण्डे विदुर्बुधाः ।
दण्डे स्वर्गो मनुष्याणां लोकोऽयं सुप्रतिष्ठितः॥ ४३ ॥
न तत्र कूटं पापं वा वञ्चना वाऽपि दृश्यते ।
यत्र दण्डः सुविहितश्चरत्यरिविनाशनः ॥ ४४ ॥
हविः श्वा प्रलिहेद्दृष्ट्वा दण्डश्चेन्नोद्यतो भवेत् ।
हरेत्काकः पुरोडाशं यदि दण्डो न पालयेत् ॥ ४५ ॥
यदीदं धर्मतो राज्यं विहितं यद्यधर्मतः ।
कार्यस्तत्र न शोको वै भुंक्ष्व भोगान् यजस्व च॥४६॥
सुखेन धर्मं श्रीमन्तश्चरन्ति शुचिवाससः ।

पूर्वक दक्षिणायुक्त साम्वत्सरिक यज्ञोंके अनुष्ठान न कर सकते । और ब्रह्मचारी तथा गृहस्थ आदि आश्रमवाले कोई पुरुष भी विधिपूर्वक अपने अपने आश्रमके कर्मोंका अनुष्ठान न करते और कोई पुरुष विद्या प्राप्त करनेमें भी समर्थ न होते। दण्डका भय न रहता, तो ऊंट, बलवान बैल, घोडे, खच्चर और गर्दभ आदि पशु सवारियोंमें जुतकर कदापि उसे वाहन न करते । (३६–४१)

हे महाराज ! समस्त प्राणी दण्डभयसे यथानियम स्थित हैं ; इसी ही कारणसे पण्डित लोग दण्डको सब धर्मोंका मूल समझते हैं; दण्ड ही मनुष्योंको स्वर्गलोकमें ले जानेका मूल कारण है, अधिक क्या कहूं, यह सम्पूर्ण जगत् केवल दण्डप्रभावसे ही प्रतिष्ठित है । जिस स्थानपर शत्रुओंका नाश करनेवाला दण्ड विधिपूर्वक प्रयोग किया जाता है, उस स्थलमें किसी प्रकारके अनिष्ट कपटता, ठगहारी नहीं रह सकती, यदि दण्ड उद्यत होकर प्रजाकी रक्षा न करता, कौवे पुरोडास भोजन और कुत्ते यज्ञके घृतको चाटनेमें प्रवृत्त होते । हे राजन् ! धर्म हो, वा अधर्म ही होवे; इस समय यह राज्य हम लोगोंको प्राप्त हुआ है, आप शोक त्यागके उसे भोग करिये और यज्ञ आदिक

संवर्धन्तः फलैर्दारैर्भुञ्जानाश्चान्नमुत्तमम् ॥ ४७ ॥
अर्थे सर्वे समारम्भाः समायत्ता न संशयः ।
स च दण्डे समायत्तः पश्य दण्डस्य गौरवम् ॥ ४८ ॥
लोकयात्रार्थमेवेह धर्मप्रवचनं कृतम् ।
अहिंसा साधु हिंसेति श्रेयान् धर्मपरिग्रहः ॥ ४९ ॥
नात्यन्तं गुणवत्किञ्चिन्न चाप्यत्यन्तनिर्गुणम् ।
उभयं सर्वकार्येषु दृश्यते साध्वसाधु वा ॥ ५० ॥
पशूनां वृषणं छित्त्वा ततो भिन्दन्ति मस्तकम् ।
वहन्ति बहवो भारान्बध्नन्ति दमयन्ति च ॥ ५१ ॥
एवं पर्याकुले लोके वितथैर्जर्जरीकृते ।
तैस्तैर्न्यायैर्महाराज पुराणं धर्ममाचर ॥ ५२ ॥
यज देहि प्रजां रक्ष धर्मं समनुपालय ।
अमित्रान् जहि कौन्तेय मित्राणि परिपालय ॥ ५३ ॥

कर्मोंका अनुष्ठान कीजिये। (४२-४६)

श्रीमान् पुरुष अपने प्रियपुत्र कलत्र-के संग बास कर सुन्दर वस्त्र पहरते और उत्तम भोजन करते हुए सुखपूर्वक धर्माचरण करते रहते हैं। इस संसारके बीच जो कुछ कार्य हैं, वे सब धनके वशमें हैं, और वह अर्थदण्डके अधिका-रमें है। इस समय विचार करके देखिये, कि दण्डका कितना बड़ा गौरव है। आप स्मरण रखिये लोकयात्रा निर्वाहके वास्ते ही धर्म स्थित हुआ है। कोई निर्बल पुरुष बलवान् पुरुषसे पीडित होनेपर उस निर्बल पुरुषके परित्राणके वास्ते बलवान्-का नाश करनेसे उस सत्वात्मक हिंसाके द्वारा, अहिंसासे भी बढ़के धर्मोपार्जन होता है। हे राजन्! इस संसारके बीच कोई कार्य भी एकबारगी दोष-पूर्ण और दोषसे रहित नहीं है, सम्पूर्ण कार्योंमें कुछ दोष और कुछ गुण दीख पड़ते हैं। देखिये कितने ही पुरुष पशु-ओंसे भार आदिक कार्य करा लेते हैं, फिर भी उन्हें दुःखित करते, सींगोंको काटते, उन्हें बांधते और उनके शरीर-पर प्रहार करते हैं। यह अनित्य लोक व्यवहार इसी भांति पर्याकुलित अर्थात् दण्डके प्रभावसे समस्त कार्य निर्वाहित होते हैं; इससे आप भी ऐसे ही व्यव-हारोंसे प्राचीन धर्माचरण कीजिये। यज्ञका अनुष्ठान, दान, प्रजापालन, शत्रुओंका नाश और मित्रोंको पालन करते हुए पूर्वरीतिसे धर्मोपार्जन करिये। (४७-५३)

मा च ते निघ्नतः शत्रून् मन्युर्भवतु पार्थिव।
न तत्र किल्बिषं किञ्चित्कर्तुर्भवति भारत ॥ ५४ ॥
आततायी हि यो हन्यादाततायिनमागतम्।
न तेन भ्रूणहा स स्यान्मन्युस्तं मन्युमार्छति ॥ ५५ ॥
अवध्यः सर्वभूतानामन्तरात्मा न संशयः।
अवध्ये चात्मनि कथं वध्यो भवति कस्य चित् ॥५६॥
यथा हि पुरुषः शालां पुनः सम्प्रविशेन्नवाम्।
एवं जीवः शरीराणि तानि तानि प्रपद्यते ॥ ५७ ॥
देहान्पुराणानुत्सृज्य नवान्सम्प्रतिपद्यते।
एवं मृत्युमुखं प्राहुर्जना ये तत्त्वदर्शिनः ॥ ५८ ॥ [४७७]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये पंचदशोऽध्यायः॥१५॥

वैशम्पायन उवाच-अर्जुनस्य वचः श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
धैर्यमास्थाय तेजस्वी ज्येष्ठं भ्रातरमब्रवीत् ॥ १ ॥
राजन् विदितधर्मोऽसि न तेऽस्त्यविदितं क्वचित्।

हे राजन्! शत्रु नाशके समय आपके चित्तमें कुछ भी दीनता उपस्थित न होवे; क्यों कि विधिपूर्वक शत्रुओंका नाश करनेसे उसे वध करनेवालेको पापमें लिप्त नहीं होना पडता। अधिक क्या कहें,कोई भी पुरुष हाथमें शस्त्र लेकर मारनेकी इच्छासे उपस्थित होवे तो शस्त्र ग्रहण करके उसका वध करनेसे ब्रह्महत्या के पापमें भी नहीं लिप्त होना पडता; क्यों कि उस सन्मुख उपस्थित होनेवाले आततायी पुरुषका क्रोध ही मारनेवालेके क्रोध उत्पन्न करानेका मूल है। विशेष करके जो सब प्राणियोंकी अन्तरात्मा हैं, उनका कोई नाश नहीं कर सकता, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। यदि आत्मा अवध्य है, तो कौन किसका वध करनेवाला होसकता है? जैसे मनुष्य बार बार एक घरमेंसे दूसरे घरके भीतर प्रवेश करते हैं; वैसेही जीव भी बार बार एक शरीर त्यागके दूसरे शरीरमें प्रवेश करता है। देहधारीके प्राचीन शरीर त्याग और नवीन शरीर धारण करनेका ही तत्वदर्शी पण्डित लोग मृत्यु कहके वर्णन करते हैं। (५४-५८) [४७७]

शान्तिपर्वमें पंद्रह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सोलह अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अर्जुनका वचन समाप्त होनेपर महा तेजस्वी क्रोधी भीमसेन धीरज धर जेठे भाई राजा युधिष्ठिरसे बोले, महाराज! आप कि-

उपशिक्षाम ते वृत्तं सदैव न च शक्नुमः ॥ २ ॥
न वक्ष्यामि न वक्ष्यामीत्येवं मे मनसि स्थितम्।
अतिदुःखात्तु वक्ष्यामि तन्निबोध जनाधिप ॥ ३ ॥
भवतः सम्प्रमोहेन सर्वं संशयितं कृतम्।
विक्लवत्वं च नः प्राप्तमबलत्वं तथैव च ॥ ४ ॥
कथं हि राजा लोकस्य सर्वशास्त्रविशारदः।
मोहमापद्यसे दैन्याद्यथा कापुरुषस्तथा ॥ ५ ॥
अगतिश्च गतिश्चैव लोकस्य विदिता तव।
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ॥ ६ ॥
एवं गते महाराज राज्यं प्रति जनाधिप।
हेतुमत्र प्रवक्ष्यामि तमिहैकमनाः शृणु ॥ ७ ॥
द्विविधो जायते व्याधिः शारीरो मानसस्तथा।
परस्परं तयोर्जन्म निर्द्वन्द्वं नोपलभ्यते ॥ ८ ॥
शारीराज्जायते व्याधिर्मानसो नात्र संशयः।
मानसाज्जायते वाऽपि शारीर इति निश्चयः ॥ ९ ॥

सी विषयमें अज्ञान नहीं है, सम्पूर्ण धर्म आपको विदित है; हम लोग सदा आपके चरित्रके अनुसरण करनेकी इच्छा करते हैं।परन्तु किसी प्रकारभी समर्थ नहीं हो सकते। आपको कुछ भी न कहूं,ऐसे ही मनमें इच्छा रहती है; परन्तु दुःखके वेगको न सहनेके कारण इस समय मैं कुछ कहता हूं, आप सुनिये। आपके मोहयुक्त होनेसे सब निष्फल होरहा है, और हम भी कातर तथा निर्बल होरहे हैं! आप सब शास्त्रोंके जाननेवाले राजा होकर भी किस कारण दीन भावसे युक्त कायर पुरुषकी भांति मोहित होरहे हैं? (१-५)

हे राजन्! प्राणियोंकी सुगति और अगति आपको विदित हैं; और भविष्यत तथा वर्त्तमान कालकी गति भी आपसे छिपी नहीं है। इस राज्यके विषयमें मैं आपसे कुछ कारण दिखाके वचन कहता हूं, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये। इस जीव-लोकमें शारीरिक और मानसिक ये ही दो भांतिकी पीडा उत्पन्न होती हैं; परन्तु उनमेंसे एकके उत्पन्न होनेसे ही दूसरे की उत्पत्ति होती है। शारीरिकके विना मानसिक और मानसिकके विना शारीरिके पीडा नहीं उत्पन्न होसकती। शरीरके अस्वास्थ्यसे मानसिक पीडा प्रगट हो-

शारीरं मानसं दुःखं योऽतीतमनुशोचति ।
दुःखेन लभते दुःखं द्वावनर्थौ च विन्दति ॥ १० ॥
शीतोष्णे चैव वायुश्च त्रयः शारीरजा गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ ११ ॥
तेषामन्यतमोद्रेके विधानमुपदिश्यते ।
उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं प्रबाध्यते ॥ १२ ॥
सत्वं रजस्तम इति मानसाः स्युस्त्रयो गुणाः ।
तेषां गुणानां साम्यं यत्तदाहुः स्वस्थलक्षणम् ॥ १३ ॥
तेषामन्यतमोत्सेके विधानमुपदिश्यते ।
हर्षेण बाध्यते शोको हर्षः शोकेन बाध्यते ॥ १४ ॥
कश्चित्सुखे वर्तमानो दुःखस्य स्मर्तुमिच्छति ।
कश्चिद्दुःखे वर्तमानः सुखस्य स्मर्तुमिच्छति ॥ १५ ॥
स त्वं न दुःखी दुःखस्य न सुखी च सुखस्य वा ।
न दुःखी सुखजातस्य न सुखी दुःखजस्य वा ॥ १६ ॥

ती है और मानसिक पीडा उत्पन्न होने से ही शरीर शिथिल होता है; इसमें कुछ सन्देह नहीं है । जो पुरुष बीते हुए शारीरिक और मानसिक क्लेशोंको स्मरण करके शोकित होता है, वह एक सङ्ग दूसरे क्लेशको आकर्षित करके दो अनर्थोंमें फंसता है। (९—१०)

कफ, पित्त और वायु शरीरके येही तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंकी जो साम्यावस्था है, उसे ही स्वस्थ शरीर के लक्षण कहते हैं; और उनकी घटती बढती होनेसे ही प्रतिकार करनेके वास्ते उपदेश है; उष्ण वस्तुसे कफ और ठण्डी वस्तुओंसे पित्त निवारित किया जाता है । शरीरकी भांति मनके भी सत्व, रज और तम, ये तीन गुण हैं, इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थाको ही मानसिक स्वास्थ्यका लक्षण कहते हैं और उनमेंसे एकके उत्तेजित होनेसे प्रतिकारकी आवश्यकता होती है; हर्षसे शोक और शोकसे हर्ष निवृत्त होता है । (११–१४)

कोई कोई पुरुष सुखमें स्थित होकर दुःखको और कोई दुःखमें पडके सुखको स्मरण किया करते हैं, परन्तु आप तो कभी सुख और दुःखमें आसक्त नहीं होते, इससे दुःखके समयमें सुख और सुख उपस्थित होनेके समय दुःखको स्मरण करना आपको उचित नहीं है, देखिये, प्रारब्ध ही बलवान है । अथवा

स्मर्तुमिच्छसि कौरव्य दिष्टं हि बलवत्तरम् ।
अथवा ते स्वभावोऽयं येन पार्थिव क्लिश्यसे ॥ १७॥
दृष्ट्वा सभागतां कृष्णामेकवस्त्रां रजस्वलाम् ।
मिषतां पाण्डुपुत्राणां न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १८ ॥
प्रव्राजनं च नगरादजिनैश्च विवासनम् ।
महारण्यनिवासश्च न तस्य स्मर्तुमर्हसि ॥ १९ ॥
जटासुरात्परिक्लेशं चित्रसेनेन चाहवम् ।
सैंधवाच्च परिक्लेशं कथं विस्मृतवानसि ॥ २० ॥
पुनरज्ञातचर्यायां कीचकेन पदा वधम् ।
द्रौपद्या राजपुत्र्याश्च कथं विस्मृतवानसि ॥ २१ ॥
यच्च ते द्रोणभीष्माभ्यां युद्धमासीदरिन्दम ।
मनसैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २२ ॥
यत्र नास्ति शरैः कार्यं न मित्रैर्न च बन्धुभिः ।
आत्मनैकेन योद्धव्यं तत्ते युद्धमुपस्थितम् ॥ २३ ॥
तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे प्राणान्यदि विमोक्ष्यसे ।

जिससे आप क्लेशित होरहे हैं, आपका स्वभाव यदि ऐसा ही होवे, तो पहिले जो शत्रु लोग हमारे सन्मुख ही एक वस्त्र धारण करनेवाली रजस्वला द्रौपदीको सभाके बीच ले आये थे, उस विषयको आप क्यों नहीं स्मरण करते हैं ? हमने जो नगरसे बाहर होके मृगछाला पहरके महावनमें वास किया और वहांपर जटासुर तथा चित्रसेन गन्धर्वके सङ्ग युद्ध हुआ, सिन्धु राज जयद्रथने द्रौपदीको हरण किया, अज्ञातवास और राजपुत्री द्रौपदीके ऊपर कीचकके चरणप्रहार आदि बहुतसे उपद्रवोंसे अनेक भांतिके दुःख प्राप्त हुए थे; आप किस कारणसे उन सब दुःखोंको भूले जाते हैं ? (१५—२१)

हे राजन् ! पहिले जैसे भीष्म द्रोणके सङ्ग आपका युद्ध हुआ था, वैसेही इस समय केवल एक मनके सङ्ग आपके युद्ध करनेका समय उपस्थित हुआ है, इस युद्धमें शस्त्रों और बन्धु-बान्धवोंका प्रयोजन नहीं होता । इसमें एक मात्र बुद्धिकी सहायतासे ही युद्ध करना होगा यदि आप मनको विना पराजित किये ही प्राण परित्याग करेंगे, तो आपको दूसरा शरीर ग्रहण करनेपर भी शत्रुओंके सङ्ग युद्ध करना होगा, अर्थात् दूसरे जन्ममें भी आप युद्ध कार्यको अनिवार्य

अन्यं देहं समास्थाय ततस्तैरपि योत्स्यसे ॥ २४ ॥
तस्मादद्यैव गन्तव्यं युद्धयस्व भरतर्षभ।
परमं व्यक्तरूपस्य व्यक्तं त्यक्त्वा स्वकर्मभिः॥ २५ ॥
तस्मिन्ननिर्जिते युद्धे कामवस्थां गमिष्यसि।
एतज्जित्वा महाराज कृतकृत्यो भविष्यसि ॥ २६ ॥
एतां बुद्धिं विनिश्चित्य भूतानामागतिं गतिम्।
पितृपैतामहे वृत्ते शाधि राज्यं यथोचितम् ॥ २७ ॥
दिष्ट्या दुर्योधनः पापो निहतः सानुगो युधि।
द्रौपद्याः केशपाशस्य दिष्ट्या त्वं पदवीं गतः ॥२८॥
यजस्व वाजिमेधेन विधिवद्दक्षिणावता।
वयं ते किङ्कराः पार्थ वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ २९ ॥ [५०६]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमवाक्ये षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर उवाच—असन्तोषः प्रमादश्च मदो रागोऽप्रशान्तता।
बलं मोहोऽभिमानश्चाप्युद्वेगश्चैव सर्वशः ॥ १ ॥
एभिः पाप्मभिराविष्टो राज्यं त्वमभिकांक्षसे।

समझिये। हे राजेन्द्र! इससे वन गमन रूपी उत्पन्न हुआ भाव परित्याग कर आज ही आप समालोचना रूपी कर्मसे अव्यक्त रूप मानस युद्धसे पार होनेके वास्ते यत्नवान होइये अर्थात चित्त स्थिर करनेके लिये यत्न करिये। मनको विना पराजित किये वानप्रस्थ आदि किसी आश्रममें भी आपको सुख नहीं मिल सकेगा, और मनको जीतनेसे आप कृतार्थ हो सकेंगे। (२२–२६)

आप प्राणियोंकी गतिको इसी भांति विचारके पितृ पितामह आदिके व्यवहारोंके अनुसार यथारीति राज्य शासन करनेमें प्रवृत्त होइये। महाराज! प्रारब्धसे ही पापी दुर्योधन अपने अनुयायी और सेवकोंके सहित युद्धमें मारा गया; प्रारब्धसे ही आप द्रौपदीके केशकी भांति फिर राज्यपद पर प्रतिष्ठित हुए हैं। हे राजेन्द्र! पराक्रमी कृष्ण और हम सब कोई आपकी आज्ञाके वशवर्त्ती हैं। आप इस समय दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान कीजिये। (२७—२९) [५०६]

शान्तिपर्वमें सोलह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सतरह अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे भीमसेन! असन्तोष, प्रमाद, विषयानुराग, अशान्ति, बल, मोह, अभिमान और उद्वेग आदि पापोंमें रत होकर ही तुम राज्यकी

निरामिषो विनिर्मुक्तः प्रशान्तः सुसुखी भव ॥ २ ॥
य इमामखिलां भूमिं शिष्यादेको महीपतिः।
तस्याप्युदरमेकं वै किमिदं त्वं प्रशंससि ॥ ३ ॥
नाह्ना पूरयितुं शक्यां न मासैर्भरतर्षभ।
अपूर्यां पूरयन्निच्छामायुषाऽपि न शक्नुयात् ॥ ४ ॥
यथेद्धः प्रज्वलत्यग्निरसमिद्धः प्रशाम्यति।
अल्पाहारतया त्वग्निं शमयौदर्यमुत्थितम् ॥ ५ ॥
आत्मोदरकृते प्राज्ञः करोति विघसं बहु।
जयोदरं पृथिव्या ते श्रेयो निर्जितया जितम् ॥ ६ ॥
मानुषान्कामभोगांस्त्वमैश्वर्यं च प्रशंससि।
अभोगिनोऽबलाश्चैव यान्ति स्थानमनुत्तमम् ॥ ७ ॥
योगःक्षेमश्च राष्ट्रस्य धर्माधर्मौ त्वयि स्थितौ।
मुच्यस्व महतो भारात्त्यागमेवाभिसंश्रय ॥ ८ ॥

अभिलाषा करते हो। इससे विषय वासना त्याग कर सुख दुःखसे मुक्त और शान्त होकर सुखी हो। देखो, जो एकछत्र राजा होकर भी इस समस्त पृथ्वीको शासन करते हैं, उनको भी एकके सिवाय दो उदर नहीं हैं, तब तुम किस कारणसे इस राज्यकी प्रशंसा कर रहे हो? यह पूर्ण न होनेवाली आशा एक दिन वा कई एक महीनोंमें पूरी होनेकी बात तो दूर है, जीवनके अन्त समय तक भी यत्न करके कोई उसे पूर्ण करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। जैसे अग्नि काष्ठ प्राप्त होनेसे ही प्रज्वलित और काष्ठके अभावसे ही शान्त होती है, वैसे ही तुम भी थोडे भोजनसे उद्दीप्त जठराग्निको शान्त करो। (१—५)

इस पृथ्वीपर मूर्ख पुरुष ही केवल अपने उदरके वास्ते बहुतसी भोजन करने योग्य वस्तुओंको संग्रह करते हैं, इससे तुम पहिले इस उदरको ही वशमें करो, ऐसा करनेसे ही मानो तुम सम्पूर्ण पृथ्वीको जीत लोगे; अनन्तर यथार्थ कल्याण प्राप्त करनेमें समर्थ होगे! तुम मनुष्योंके इच्छानुयायी ऐश्वर्य और भोगोंकी प्रशंसा करते हो, परन्तु भोगवासना त्यागके जो लोग तपस्यासे अपने शरीरको कृशित करते हैं, वे ही श्रेष्ठ लोकोंमें गमन कर सकते हैं। हे तात! धर्म और अधर्मात्मक राज्यलाभ और राज्यकी रक्षा, ये दोनों ही तुम्हारे हृदयमें परिपूरित हैं, तुम इस महाभारसे मुक्त होकर त्याग अर्थात् सन्यास धर्म-

एकोदरकृते व्याघ्रः करोति विघसं बहु।
तमन्येऽप्युपजीवन्ति मन्दा लोभवशा मृगाः ॥ ९ ॥
विषयान्प्रतिसंगृह्य संन्यासं कुर्वते यदि।
न च तुष्यन्ति राजानः पश्य बुद्ध्यन्तरं यथा ॥ १० ॥
पत्राहारैरश्मकुट्टैर्दन्तोलूखलिकैस्तथा।
अब्भक्षैर्वायुभक्षैश्च तैरयं नरको जितः ॥ ११ ॥
यस्त्विमां वसुधां कृत्स्नां प्रशासेदखिलां नृपः।
तुल्याश्मकाञ्चनो यश्च स कृतार्थो न पार्थिवः ॥ १२ ॥
सङ्कल्पेषु निरारम्भो निराशो निर्ममो भव।
अशोकं स्थानमातिष्ठ इह चामुत्र चाव्ययम् ॥ १३ ॥
निरामिषा न शोचन्ति शोचसि त्वं किमामिषम्।
परित्यज्यामिषं सर्वं मृषा वादात्प्रमोक्ष्यसे ॥ १४ ॥

का आश्रय करो जैसे व्याघ्र एक ही उदरके वास्ते बहुतसा भोजन संग्रह करता है, और दूसरे बहुतेरे दुष्ट पशु उसके संग्रह किये हुए भोजनसे अपने शरीरका पोषण करते हैं, वैसे ही राजा लोग भी अपने एक मात्र उदरके ही वास्ते बहुत साधन संचय करते हैं, और धूर्त्त लोग उसके ही अवलम्बनसे अपनी अपनी जीविका निर्वाह करते हैं। तुम जो राजाओंके विषयमें विषयसक्ति त्यागरूपी अनन्तर-सन्यासकी विधि कहते हो, उससे राजा लोग कदापि सन्तोष प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होते, तुम विषयदूषित बुद्धि त्यागके स्वयं ही इस विषयको विचारके देखो। (९-१०)

जो लोग पत्राहारी और जो पत्थर दांत तथा ओखलीसे अन्नकी भूसी पृथक करके जीविका निर्वाह करते हैं, और जो लोग जल तथा वायुसे शरीरकी रक्षा करते हैं, वे सम्पूर्ण तपस्वी लोग ही यथार्थ रूपसे नरकयन्त्रणासे मुक्त हो सकते हैं। इस पृथ्वी पर सुवर्ण और पत्थरके टुकडोंमें जिसकी समबुद्धि है, वैसे निर्लोभी पुरुष और सम्पूर्ण पृथ्वीको शासन करनेवाले राजा, इन दोनोंमेंसे विषयानुरागसे रहित पुरुषको ही मुक्त समझना चाहिये; राजाको नहीं! इससे जो इस लोक और परलोकमें अव्यय तथा अशोककी निवास भूमि स्वरूप हैं; तुम उनका ही आसरा करके सम्पूर्ण कार्योंके सङ्कल्प, आशा और ममतासे रहित होजाओ। जो सब विषयोंके त्याग करनेवाले हैं, वे किसी वस्तुके वास्ते शोक नहीं करते! तुम

पन्थानौ पितृयानश्च देवयानश्च विश्रुतौ ।
ईजानाः पितृयानेन देवयानेन मोक्षिणः ॥ १५ ॥
तपसा ब्रह्मचर्येण स्वाध्यायेन महर्षयः ।
विमुच्य देहांस्ते यान्ति मृत्योरविषयं गताः ॥ १६ ॥
आमिषं बन्धनं लोके कर्मेहोक्तं तथाऽऽमिषम् ।
ताभ्यां विमुक्तः पापाभ्यां पदमाप्नोति तत्परम् ॥१७॥
अपि गाथां पुरा गीतां जनकेन वदन्त्युत ।
निर्द्वन्द्वेन विमुक्तेन मोक्षं समनुपश्यता ॥ १८ ॥
अनन्तं बत मे वित्तं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे दह्यति किंचन ॥ १९ ॥
प्रज्ञाप्रासादमारुह्य अशोच्यान् शोचतो जनान् ।
जगतीस्थानि वाऽद्रिस्थो मन्दबुद्धिर्न चेक्षते ॥ २० ॥

विषयासक्त हो, इस ही कारण विषयके वास्ते शोक करते हो। समस्त विषय वासनाको परित्याग करो; ऐसा होनेसे मिथ्यापवाद अर्थात् बाहरी विषय भोग और भीतरी जो विषय त्यागरूपी सन्यासका अभिमान है उससे मुक्त हो सकोगे। इस जगत्में जीवोंको परलोक गमन करनेके विषयमें " देवयान और पितृयान " नामके दो मार्ग हैं, तिसमें यज्ञ करनेवाले पितृयान और मोक्षार्थी लोग देवयान मार्गसे गमन करते हैं। (११—१५)

महर्षि लोग स्वाध्याय और ब्रह्मचर्य आदि तपस्याके अनुष्ठानमें रत होकर शीघ्र ही शरीर त्यागके मृत्युके अधि-कारसे पार होजाते हैं, इस संसारमें भोग्य विषय ही बन्धन स्वरूप हैं, और ये भोग्य-विषय ही कर्म कहके वर्णित हुए हैं; जो लोग इस पापात्मक भोग्य विषय रूप कर्मसे मुक्त हो सकते हैं, वेही उस परमपदको प्राप्त करते हैं। (१६-१७)

पहिले शोक मोहसे रहित तत्वदर्शी जनकने जैसा कहा था, और आज पर्यन्त भी जो गाथा, लोकसमाजमें वर्णन की जाती है, मैं उसे कहता हूं, सुनो उन्होंने कहा था,—" ओहो ! मैं अनन्त ऐश्वर्यका स्वामी हूं, तौभी मेरा कुछ नहीं है; इस मिथिला नगरीके भस्म होनेसे मेरा कुछ भी न जलेगा। " हे भीम! इससे जैसे पर्वतपर चढनेवाला पुरुष नीचे रहनेवालोंको भली भांति देखनेमें समर्थ होता है, वैसे ही जो पुरुष ज्ञान रूपी प्रासाद पर चढे हैं, वे मूढ लोगों को अविषयीभूत विषयोंके वास्ते महा

दृश्यं पश्यति यः पश्यन्स चक्षुष्मान्स बुद्धिमान् ।
अज्ञातानां च विज्ञानात्सम्बोधाद्बुद्धिरुच्यते ॥ २१ ॥
यस्तु वाचं विजानाति बहुमानमियात्स वै ।
ब्रह्मभावप्रपन्नानां वैद्यानां भावितात्मनाम् ॥ २२ ॥
यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ २३ ॥
ते जनास्तां गतिं यान्ति नाविद्वांसोऽल्पचेतसः ।
नाबुद्धयो नातपसः सर्वं बुद्धौ प्रतिष्ठितम् ॥ २४ ॥ [५३०]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच-तूष्णीं भूतं तु राजानं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत् ।
सन्तप्तः शोकदुःखाभ्यां राजवाक्शल्यपीडितः ॥ १ ॥
अर्जुन उवाच— कथयन्ति पुरावृत्तामितिहासमिमं जनाः ।
विदेहराज्ञः संवादं भार्यया सह भारत ॥ २ ॥

शोक करते हुए देखते हैं; परन्तु मन्दबुद्धिवाले मनुष्य उन्हें देखनेमें समर्थ नहीं होते। जिससे दृष्ट विषयोंका बोध अर्थात् निश्चय होता है, उसेही बुद्धि कहते हैं, उस बोध रूपी नेत्रसे जो लोग अज्ञात विषयोंको जानते और देखकर ही उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चयकर सकते हैं; उन्हें ही बुद्धिमान् और नेत्रवान कहाजाता है। (१८-२१)

जो स्थिर चित्तसे ब्रह्मज्ञानसे युक्त विद्वान पुरुषोंके वचनको हृदयमें धारण कर सकते हैं, सर्वत्र अधिक सम्मान लाभके अधिकारको प्राप्त करनेमें समर्थ हैं। जिस समय पृथक रूपसे बोध होनेवाले आकाश आदि भूत एक आत्मामें ही स्थित हुए दीख पडते हैं; तब ही समझना चाहिये, कि सम्पूर्ण रूपसे ब्रह्मसे साक्षात्कार हुआ है; तत्वज्ञ पुरुष ही वैसी परम गतिको प्राप्त कर सकते हैं; अल्पज्ञ, तपस्या और ज्ञान हीन पुरुष कदापि परमगति प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते, क्यों कि ज्ञानको ही सबका मूल जानना चाहिये। (२२-२४) [५३०]

शान्तिपर्वमें सतरह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अठरह अध्याय।

धर्मराज युधिष्ठिर ऐसा ही वचन कहके चुप हुए। अर्जुन उनके वचन रूपी शलाकासे पीडित और शोक दुःखसे अत्यन्त सन्तापित होकर फिर

उत्सृज्य राज्यं भिक्षार्थं कृतबुद्धिं नरेश्वरम् ।
विदेहराजमहिषी दुःखिता यदभाषत ॥ ३ ॥
धनान्यपत्यं दाराश्च रत्नानि विविधानि च ।
पन्थानं पावकं हित्वा जनको मौण्ड्यमास्थितः ॥ ४ ॥
तं ददर्श प्रिया भार्या भैक्ष्यवृत्तिमकिञ्चनम् ।
धानामुष्टिमुपासीनं निरीहं गतमत्सरम् ॥ ५ ॥
तमुवाच समागत्य भर्तारमकुतोभयम् ।
क्रुद्धा मनस्विनी भार्या विविक्ते हेतुमद्वचः ॥ ६ ॥
कथमुत्सृज्य राज्यं स्वं धनधान्यसमन्वितम् ।
कापालीं वृत्तिमास्थाय धानामुष्टिर्न ते वरः ॥ ७ ॥
प्रतिज्ञातेऽन्यथा राजन् विचेष्टा चान्यथा तव ।
यद्राज्यं महदुत्सृज्य स्वल्पे तुष्यसि पार्थिव ॥ ८ ॥
नैतेनातिथयो राजन्देवर्षिपितरस्तथा ।
अद्य शक्यास्त्वया भर्तुं मोघस्तेऽयं परिश्रमः ॥ ९ ॥

बोले महाराज विदेहराज जनकका अपनी भार्याके सङ्ग जो कुछ वादानुवाद हुआ था, आज तक लोग उस विषयको वर्णन किया करते हैं; मैं उस सम्वादको अर्थात् राजा जनकने जब सन्यास ग्रहण करनेमें संङ्कल्प किया, तब उनकी राज-पत्नीने उनसे जो कुछ वचन कहे थे, उसे वर्णन करता हूं, सुनिये। (१–३)

विदेहराज जनकने अनेक भांतिके रत्न, पुत्र, कलत्र स्वर्गपथस्वरूप यज्ञकर्मोंके अनुष्ठानको त्यागके, सर्वत्र निर्भय, निर्मत्सर, निरीह और निराकांक्षी होके एक मुट्ठी भृष्टयवसे ही जीविका निर्वाहके मिनित्त शिर मुडाकर सन्यास धर्म ग्रहण करते देखकर उनकी मनस्विनी प्यारी स्त्री क्रुद्ध होकर निर्जन स्थानमें उनके समीप गमन करके इस प्रकार हेतुयुक्त वचन कहने लगी। हे महाराज! आप धनधान्यसे युक्त निज राज्य परित्याग करके किस कारणसे कापालिक वृत्ति अवलम्बन करते हैं? भृष्ट-यवकी मुट्ठीसे जीविका निर्वाह करना आपके वास्ते कदापि यह उत्तम नहीं है। आपने इस वृहत् राज्यको परित्याग करके मुठी भर भृष्ट यवचूर्णकी आशा करके "सब त्याग किया है"–यह आपकी प्रतिज्ञा और चेष्टा विपरीत हो रही है। और देखिये एक मुट्ठी मात्र भृष्ट यवसे आप कदापि देव-

देवतातिथिभिश्चैव पितृभिश्चैव पार्थिव।
सर्वैरेतैः परित्यक्तः परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १० ॥
यस्त्वं त्रैविद्यवृद्धानां ब्राह्मणानां सहस्रशः।
भर्ता भूत्वा च लोकस्य सोऽद्य तैर्भृतिमिच्छसि ॥११॥
श्रियं हित्वा प्रदीप्तां त्वं श्ववत्संप्रतिवीक्ष्यसे।
अपुत्रा जननी तेऽद्य कौसल्या चापतिस्त्वया ॥ १२ ॥
अमी च धर्मकामास्त्वां क्षत्रियाः पर्युपासते।
त्वदाशामभिकांक्षन्तः कृपणाः फलहेतुकाः ॥ १३ ॥
तांश्च त्वं विफलान्कुर्वन्कं नु लोकं गमिष्यसि।
राजन्संशयिते मोक्षे परतन्त्रेषु देहिषु ॥ १४ ॥
नैव तेऽस्ति परो लोको नापरः पापकर्मणः।
धर्म्यान्दारान्परित्यज्य यस्त्वमिच्छसि जीवितुम् ॥१५॥
स्रजो गन्धानलङ्कारान्वासांसि विविधानि च।

ता, पितर और अतिथियोंको तृप्त करनेमें समर्थ न होसकेंगे; इससे आपका सम्पूर्ण परिश्रम निष्फल होगा। देवता पितर अतिथी और सबसे परित्यक्त तथा क्रियारहित होकर इस सन्यास धर्मको ग्रहण करते हैं! यह कैसा आश्चर्य है। (४-१०)

ओहो! पहिले आप तीनों वेदोंके जानने वाले, सहस्रों ब्राह्मणों और सब लोगोंके पालन करनेवाले होकर इस समय उन ही लोगोंके आसरेसे अपना उदर भरनेकी इच्छा करते हैं। आप प्रदीप्त राजश्री परित्याग करके इस समय कुत्तेकी भांति पराये अन्नकी आशा करके इधर उधर देख रहे हैं। कैसा आश्चर्य है! आपके इस प्रकार नष्ट होनेसे आपकी माता पुत्रहीन और आपकी भार्या कोशल राजपुत्री आज विधवाकी भांति बोध हो रही हैं; और ये दरिद्र क्षत्रिय लोग कर्म तथा फलार्थी होकर आपकी उपासना कर रहे हैं; जब कि मोक्ष पद अत्यन्त ही संशयसे युक्त है, और देहधारी पुरुष सब भांतिसे कर्म करनेमें परतन्त्र हैं; तब आप इन अनुयायी पुरुषोंकी आशा निष्फल करके कौनसे लोकमें गमन करनेमें समर्थ हो सकेंगे? जब आप धर्मपत्नीको परित्याग करके जीवन धारणकी इच्छा करते हैं, तब आप भी अत्यन्त ही पापी हैं, उसमें सन्देह नहीं है। आपका न इस लोक न परलोकमें कहीं भी मङ्गल न हो सकेगा। (११-१५)

किमर्थमभिसन्त्यज्य परिव्रजसि निष्क्रियः ॥ १६ ॥
निपानं सर्वभूतानां भूत्वा त्वं पावनं महत्।
आढ्यो वनस्पतिर्भूत्वा सोऽन्यांस्त्वं पर्युपाससे॥१७ ॥
खादन्ति हस्तिनं न्यासैः क्रव्यादा बहवोऽच्युत।
बहवः कृमयश्चैव किं पुनस्त्वामनर्थकम् ॥ १८ ॥
य इमां कुण्डिकां भिंद्यात्त्रिविष्टब्धं च यो हरेत्।
वासश्चापि हरेत्तस्मिन्कथं ते मानसं भवेत् ॥ १९ ॥
यस्त्वयं सर्वमुत्सृज्य धानामुष्टेरनुग्रहः।
यद्वानेन समं सर्वं किमिदं व्यवसीयसे ॥ २० ॥
धानामुष्टेरिहार्थश्चेत्प्रतिज्ञाते विनश्यति।
का वाऽहं तव को मे त्वं कश्च ते मय्यनुग्रहः॥ २१ ॥
प्रशाधि पृथिवीं राजन् यदि तेऽनुग्रहो भवेत्।

महाराज! आप किस कारणसे दिव्यसुगन्धयुक्त वस्तु माला, अनेक भांतिके वस्त्र और अलङ्कारोंको त्यागके क्रियारहित होकर परिव्राजक धर्म ग्रहण करनेकी इच्छा करते हैं? सम्पूर्ण प्राणियोंको जल तथा वृक्षकी भांति आश्रयस्वरूप होकर इस समय आप दूसरेकी उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए हैं; क्या ही आश्चर्य है। महाराज! आपकी बात दूर रहे, पुरुषार्थरहित होके निश्चेष्ट-भावसे स्थित होनेसे हाथीको भी कीडे और मांसभक्षी जन्तु भक्षण करनेमें समर्थ होसकते हैं। जिस आश्रममें प्रविष्ट होनेसे सम्पूर्ण वस्तुवोंको परित्याग करके त्रिदण्ड, कमण्डल और कोपीन ग्रहण करना पडता है, जिसमें प्रविष्ट होनेसे सब त्यागके केवल भुष्ट-यवकी एक मुट्ठीमें ही आसक्त होना पडता है, उसमें आपकी किस कारणसे प्रवृत्ति हुई है? यदि कहिये कि एक मुट्ठी अन्न और राज्य आदिमें मेरी सम दृष्टि है, तब आप किस कारणसे राज्य आदि त्याग करके केवल एक मुट्ठी भुष्टयवमें आसक्त हो रहे हैं? (१५—२०)

और यदि आपको ऐसा ही प्रयोजन है, तो "सर्वत्यागी हुआ हूं" कहके आपने जो प्रतिज्ञा की है, वह व्यर्थ ही रही है। यदि आप केवल एक मात्र चिदानन्दमें अपने मनको स्थिर समझते हैं; तो ऐसा होनेसे "मैं तुम्हारा कौन हूं? और तुम्ही मेरे कौन हो" अर्थात् शुद्ध चिदाभाससे परस्परका सम्बन्ध किस प्रकार रह सक्ता है? इससे कोई वस्तु तथा व्यक्ति विशेषमें आसक्त

प्रासादं शयनं यानं वासांस्याभरणानि च ॥ २२ ॥
श्रिया विहीनैरधनैस्त्यक्तमित्रैरकिंचनैः।
सौखिकैः संभृतानर्थान् यः संत्यजति किं नु तत् ॥२३॥
योऽत्यन्तं प्रतिगृह्णीयाद्यश्च दद्यात्सदैव हि।
तयोस्त्वमन्तरं विद्धि श्रेयांस्ताभ्यां क उच्यते॥ २४ ॥
सदैव याचमानेषु तथा दंभान्वितेषु च।
एतेषु दक्षिणा दत्ता दावाग्नाविव दुर्हुतम् ॥ २५ ॥
जातवेदा यथा राजन्नादग्ध्वैवोपशाम्यति।
सदैव याचमानो हि तथा शाम्यति वै द्विजः ॥ २६ ॥
सतां वै ददतोऽन्नं च लोकेऽस्मिन्प्रकृतिर्ध्रुवा।
न चेद्राजा भवेद्दाता कुतः स्युर्मोक्षकांक्षिणः ॥ २७ ॥
अन्नाद्गृहस्था लोकेऽस्मिन् भिक्षवस्तत एव च।

वा विरक्त होना आपको किसी प्रकार भी उचित नहीं है। यदि अनुग्रह करना ही आपका कर्त्तव्य कर्म होवे, तो आप कृपाकरके इस पृथ्वीकोही शासन कीजिये। जो लोग सुखार्थी पर निर्द्धन, तथा अत्यन्त दरिद्र हैं और समस्त बन्धु बान्धवोंसे परित्यक्त होकर दण्ड कमण्डल आदि चिन्होंको धारण करके संन्यास ग्रहण करते हैं; उनके चिन्हको देखकर जो पुरुष उस भांति व्यवहार करनेमें प्रवृत्त होते हैं, अर्थात् मन्दिर, उत्तम शय्या, सवारी, उत्तम वस्त्र और अलङ्कार आदि त्यागके दण्ड कमण्डल ग्रहण करते हैं, उनका वह त्याग केवल विडम्बना मात्र है। हे महाराज! जो पुरुष सदा दान ग्रहण करता और जो पुरुष सदा दान देता है, उन दोनोंके बीच कौन श्रेष्ठ है? उन दोनोंका आपसमें कितनी दूरका अन्तर है; उसे विचार करके देखिये तो सही, ऐसा होनेसे अवश्य जान सकेंगे। परन्तु दम्भी और सदा मांगनेवालेको धन दान करनेसे जलती हुई दवाग्निमें आहुति डालनेकी भांति वह दान निष्फल होता है। (२१—२५)

जैसे अग्नि विना किसी वस्तुको जलाये शान्त नहीं होती, वैसे ही भीख मांगनेवाले ब्राह्मण विना कुछ प्राप्त हुए निवृत्त नहीं होते। दाताका अन्न ही साधु संन्यासियोंका जीवनस्वरूप है, क्यों कि उन लोगोंका स्वयं बनाके भोजन करनेकी विधि नहीं है। इससे यदि राजा दाता न होवे, तो कैसे मोक्षार्थी पुरुषोंका जीवन धारण हो सकेगा? इस

अन्नात्प्राणः प्रभवति अन्नदः प्राणदो भवेत् ॥ २८ ॥
गृहस्थेभ्योऽपि निर्मुक्ता गृहस्थानेव संश्रिताः ।
प्रभवं च प्रतिष्ठां च दांता विन्दन्त आसते ॥ २९ ॥
त्यागान्न भिक्षुकं विद्यान्न मौढ्यान्न च याचनात् ।
ऋजुस्तु योऽर्थं त्यजति न सुखं विद्धि भिक्षुकम् ॥ ३० ॥
असक्तः सक्तवद्गच्छन्निःसंगो मुक्तबन्धनः ।
समः शत्रौ च मित्रे च स वै मुक्तो महीपते ॥ ३१ ॥
परिव्रजन्ति दानार्थं मुंडाः काषायवाससः ।
सिता बहुविधैः पाशैः संचिन्वन्तो वृथाऽऽमिषम् ॥ ३२ ॥
त्रयीं च नाम वार्तां च त्यक्त्वा पुत्रान्व्रजन्ति ये ।
त्रिविष्टब्धं च वासश्च प्रतिगृह्णन्त्यबुद्धयः ॥ ३३ ॥
अनिष्कषाये काषायमीहार्थमिति विद्धि तम् ।

पृथ्वीपर जिसके घरमें अन्न है, वेही गृहस्थ कहे जाते हैं, भिक्षुक लोग उन्हीं सम्पूर्ण गृहस्थोंके आसरे शरीरयात्रा निर्वाह करते हैं; समस्त प्राणी अन्नसे ही जीवन धारण करनेमें समर्थ होते हैं इससे अन्नदाता प्राणदाता स्वरूप है। गृहस्थाश्रमसे निकलकर जितेन्द्रिय संन्यासी लोग गृहस्थ पुरुषोंके अवलम्बसे ही शरीरयात्रा निर्वाह करते हुए प्रतिष्ठा और योग प्रभावको प्राप्त कर सकते हैं। महाराज! समस्त वस्तुओंके परित्याग करने, सिर मुडाने और भीख मांगनेसे कोई संन्यासी नहीं हो सकता। जो लोग सरलभावसे सम्पूर्ण विषय युक्त सुखोंको परित्याग करनेमें समर्थ होसकते हैं, उन्हेंही सन्यासी कहना चाहिये। (२६–३०)

जो भीतरसे समस्त वस्तुओंमें आसक्तिरहित होकर बाहरसे आसक्तिकी भांति व्यवहार करते तथा मित्र शत्रुको समान जानते हैं, वे सम्पूर्ण बन्धनोंसे मुक्त हो सकते हैं, और वैसे सङ्गरहित पुरुषको ही मुक्त कहा जा सकता है। मूर्ख लोग बहुतसे आशापासमें बंधकर शिष्य और मठ आदि विषय प्राप्त होनेकी अभिलाषासे कषाय वस्त्र धारण और सिर मुडाके संन्यासधर्म ग्रहण करते हैं, परन्तु जो लोग त्रिविद्या, वार्त्ता शास्त्र और पुत्रकलत्रका त्यागके त्रिदण्ड भस्म तथा कषाय आदि वस्त्रोंको धारण करते हैं; वे अत्यन्त ही मूर्ख हैं। महाराज! संन्यासधर्म पवित्र होनेपर भी उसे ग्रहण करके सिर मुडाना, गेरुये वस्त्रोंको धारण करना, केवल

धर्मध्वजानां मुण्डानां वृत्त्यर्थमिति मे मतिः ॥ ३४ ॥
काषायैरजिनैश्चीरैर्नग्नान्मुण्डान् जटाधरान् ।
बिभ्रत्साधून्महाराज जय लोकान् जितेन्द्रियः ॥३५ ॥
अग्न्याधेयानि गुर्वर्थं क्रतूनपि सुदक्षिणान् ।
ददात्यहरहः पूर्वं को नु धर्मरतस्ततः ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच— तत्त्वज्ञो जनको राजा लोकेऽस्मिन्निति गीयते ।
सोऽप्यासीन्मोहसंपन्नो मा मोहवशमन्वगाः ॥ ३७ ॥
एवं धर्ममनुक्रान्ताः सदा दानतपःपराः ।
आनृशंस्यगुणोपेताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ ३८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता दानमुत्तममास्थिताः ।
इष्टान् लोकानवाप्स्यामो गुरुवृद्धोपचायिनः ॥ ३९ ॥
देवतातिथिभूतानां निर्वपन्तो यथाविधि ।
स्थानमिष्टमवाप्स्यामो ब्रह्मण्याः सत्यवादिनः ॥ ४०॥ [५७०]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये अष्टादशोऽध्यायः ॥१८॥

जीविका निर्वाहके ही वास्ते जानना चाहिये, मेरे विचारमें जीविका निर्वाह मात्र ही उन लोगोंका पुरुषार्थ है, इससे आप इन्द्रियोंको अपने वशमें करके गेरुए वस्त्र, मृगछाला और कोपीन धारण करनेवाले, तथा नङ्गे, सिर मुंडे और जटाधारी आदि साधु संन्यासियों का प्रतिपालन करते हुए इस लोक और परलोकको जय करनेमें प्रवृत्त होइये। (३१–३५)

जो मोक्ष प्राप्त होनेके वास्ते अग्निहोत्र, पशु और दक्षिणायुक्त यज्ञोंका अनुष्ठान तथा प्रतिदिन दान करते हैं, उनसे बढकर अधिक धर्मात्मा कौन है? विदेहराजकी भार्या इतनी कथा कहके चुप होगई। अर्जुन बोले, हे धर्मराज! देखिये, विदेहराज जनक इस पृथ्वीपर तत्वज्ञ कहके विख्यात हुए थे, परन्तु वह भी कर्त्तव्य कर्मके निर्णयमें मोहको प्राप्त हुए थे; इससे आप मोह परित्याग कीजिये। यदि हम काम, क्रोध और नृशंसता परित्याग करके दान, प्रजापालन, गुरु और वृद्धोंकी सेवामें रत रहें; तो अवश्य ही अभिलाषित लोकमें गमन करनेमें समर्थ हो सकेंगे; और हमेशा दान करने वाले गृहस्थ पुरुष इसही भांति धर्मानुष्ठान किया करते हैं; और देवता अतिथि तथा सम्पूर्ण प्राणियोंको यथा रीतिसे तृप्त करके ब्रह्मनिष्ठ और सत्यवादी होनेसे अवश्य

युधिष्ठिर उवाच- वेदाहं तात शास्त्राणि अपराणि पराणि च ।
अभयं वेद वचनं कुरु कर्म त्यजेति च ॥ १ ॥
आकुलानि च शास्त्राणि हेतुभिश्चिन्तितानि च ।
निश्चयश्चैव यो मन्त्रे वेदाहं तं यथाविधि ॥ २ ॥
त्वं तु केवलमस्त्रज्ञो वीरव्रतसमन्वितः ।
शास्त्रार्थं तत्वतो गन्तुं न समर्थः कथंचन ॥ ३ ॥
शास्त्रार्थसूक्ष्मदर्शी यो धर्मनिश्चयकोविदः ।
तेनाप्येवं न वाच्योऽहं यदि धर्मं प्रपश्यसि ॥ ४ ॥
भ्रातृसौहृदमास्थाय यदुक्तं वचनं त्वया ।
न्याय्यं युक्तं च कौन्तेय प्रीतोऽहं तेन तेऽर्जुन ॥ ५ ॥
युद्धधर्मेषु सर्वेषु क्रियाणां नैपुणेषु च ।
न त्वया सदृशः कश्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ६ ॥
धर्मं सूक्ष्मतरं वाच्यं तत्र दुष्प्रतरं त्वया ।
धनंजय न मे बुद्धिमभिशंकितुमर्हसि ॥ ७ ॥

ही अभिलाषित लोकोंमें गमन कर सकेंगे, इसमें कुछ भी संदेह नहीं है। (३६—४०) [५७०]

शान्तिपर्वमें अठारह अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उन्नीस अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे तात! अर्जुन लौकिक धर्मशास्त्र और ब्रह्म प्रतिपादक ज्ञानशास्त्र दोनों ही मुझे विदित हैं। वेदमें कर्मका अनुष्ठान और कर्म त्याग दोनों विषयोंकी विधि है; इससे सब शास्त्र अत्यन्त ही जटिल हैं, परन्तु युक्तिसे आलोचित होनेसे उसका जो कुछ सार निश्चित हुआ है; मैं उसे विधिपूर्वक जानता हूं। तुम केवल वीर व्रताचारी और अस्त्र शस्त्रोंकी विद्यामें निपुण हो; शास्त्रोंके अर्थको विचारनेमें तुम्हारी कुछ भी सामर्थ्य नहीं है। यदि तुम धर्मकी विशेष आलोचना करते और शास्त्रार्थमें सूक्ष्म-दर्शी तथा तत्वनिश्चयमें निपुण होते; तो कदापि मेरे विषयमें ऐसे वचनोंको प्रयोग न करते; परन्तु भ्रातृ भावसे युक्त होके तुमने मुझे जो कुछ वचन कहे हैं, उनसे मैं भी तुम्हारे ऊपर अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ हूं। (१-५)

युद्धधर्म अथवा कार्योंकी निपुणतामें तीनों लोकके बीच भी कोई पुरुष तुम्हारे समान नहीं हैं; इससे उस ही विषयमें दूसरेको दुःखसे जानने योग्य अत्यन्त सूक्ष्म वचन कहना तुम्हें उचित है; परन्तु मोक्ष-धर्म विषयमें मेरी बुद्धि

युद्धशास्त्रविदेव त्वं न वृद्धाः सेवितास्त्वया।
संक्षिप्तविस्तरविदां न तेषां वेत्सि निश्चयम् ॥ ८ ॥
तपस्त्यागोऽविधिरिति निश्चयस्त्वेष धीमताम्।
परस्परं ज्याय एषां येषां नैश्रेयसी मतिः ॥ ९ ॥
यस्त्वेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति।
तत्र ते वर्तयिष्यामि यथा नैतत्प्रधानतः ॥ १० ॥
तपःस्वाध्यायशीला हि दृश्यन्ते धार्मिका जनाः।
ऋषयस्तपसा युक्ता येषां लोकाः सनातनाः ॥ ११ ॥
अजातशत्रवो धीरास्तथाऽन्ये वनवासिनः।
अरण्ये बहवश्चैव साध्या येन दिवं गताः ॥ १२ ॥
उत्तरेण तु पन्थानमार्या विषयनिग्रहात्।
अबुद्धिजं तमस्त्यक्त्वा लोकांस्त्यागवतां गताः ॥ १३ ॥
दक्षिणेन तु पन्थानं यं भास्वन्तं प्रचक्षते।

पर शङ्का करना तुम्हें योग्य नहीं है, तुमने कभी ज्ञान-वृद्ध पुरुषोंकी सेवा नहीं की है, और तुमने केवल अत्यन्त युद्ध विद्याका ही अभ्यास किया है; जिन्होंने संक्षेप और विस्तार रूपसे तत्त्व निर्णय किये हैं उनके निश्चित किये हुए मीमांसाकोभी तुम नहीं जानते हो। तत्त्वज्ञ पण्डितोंने ऐसा ही निर्णय किया है, कि तपस्या, संन्यास और ब्रह्मज्ञान ये तीनों ही एक दूसरेसे श्रेष्ठ हैं। अर्थात् तपस्यासे सन्यास और सन्याससे ब्रह्मज्ञान श्रेष्ठ है। हे अर्जुन! तुम जो " धनसे बढके और कोई वस्तु भी उत्तम नहीं है, " ऐसा समझते हो, वह तुम्हारी भ्रान्ति मात्र है। जो हो; इस समय जिसमें धन फिर तुमको सब-से श्रेष्ठ न बोध होवे, मैं तुम्हारी वैसी भ्रान्तिको दूर कर दूंगा। (६-१०)

देखो, तप और स्वाध्यायमें रत ऋषि लोग ही इस लोकमें धर्मात्मा रूपसे दीख पडते हैं, और वे लोग उस तपके प्रभावसे सनातन लोकमें गमन करते हैं, और भी धीर स्वभावसे युक्त शत्रु-रहित कितने ही वानप्रस्थ धर्म ग्रहण करनेवाले पुरुष तपस्या और स्वाध्यायके प्रभावसे स्वर्ग लोकमें गये हैं। साधु-पुरुष विषय-वासनासे विरक्त होकर अज्ञानरूपी अन्धकारको त्यागके उत्तर पथ अर्थात् प्रकाशमय मार्गसे संन्यासी पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोक में गमन करते हैं। जो लोग बार बार जन्म मरण रूपी क्लेशोंको भोगते रहते

एते क्रियावतां लोका ये श्मशानानि भेजिरे ॥ १४ ॥
अनिर्देश्या गतिः सा तु यां प्रपश्यन्ति मोक्षिणः ।
तस्माद्योगः प्रधानेष्टः स तु दुःखं प्रवेदितुम् ॥ १५ ॥
अनुस्मृत्य तु शास्त्राणि कवयः समवस्थिताः ।
अपीहस्यादपीहस्यात्सारासारदिदृक्षया ॥ १६ ॥
वेदवादानतिक्रम्य शास्त्राण्यारण्यकानि च ।
विपाट्य कदलीस्तम्भं सारं ददृशिरे न ते ॥ १७ ॥
अथैकान्तव्युदासेन शरीरे पाञ्चभौतिके ।
इच्छाद्वेषसमासक्तमात्मानं प्राहुरिङ्गितैः ॥ १८ ॥
अग्राह्यं चक्षुषा सूक्ष्ममनिर्देश्यं च तद्गिरा ।
कर्महेतुपुरस्कारं भूतेषु परिवर्तते ॥ १९ ॥
कल्याणगोचरं कृत्वा मनस्तृष्णां निगृह्य च ।
कर्मसन्ततिमुत्सृज्य स्यान्निरालम्बनः सुखी ॥ २० ॥

हैं, वे कर्ममें रत रहनेवाले पुरुष दाक्षिण अर्थात् अन्धकारमय मार्गसे चन्द्रलोक कहके विख्यात पितृ-लोकमें गमन करते हैं। मोक्षकी अभिलाषा करनेवाले पुरुष जिस गतिको प्राप्त करते हैं; उसका निर्देश करना असाध्य है। इससे उसे प्राप्त करनेके वास्ते योग ही एक मात्र मुख्य उपाय है; परन्तु अधिकार न रहने के कारण उसे बोध करना तुम्हारे विषय में सहज कार्य नहीं है। (११-१५)

बहुतेरे पण्डित सार असार विषयोंके निर्णय करनेके वास्ते शास्त्रोंमें रत होके "इसमें सार विषय है? वा इसमें असार है?" इसी भांति तर्क करते हुए समय बिताते हैं; परन्तु जैसे केलेके वृक्षको काटनेसे उसमें कुछ भी सार वस्तु नहीं दीख पडती वैसे ही वे लोग वेद और अरण्यक प्रभृति अनेक शास्त्रोंको मथके भी किञ्चित मात्र सार विषय देखनेमें समर्थ नहीं होसकते। जो नेत्रसे अ-गोचर वचनसे अनिर्देश्य, अतिसूक्ष्म, और सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, परन्तु अविद्याके कारण नहीं मालूम हो सकता; इस पाञ्चभौतिक शरीर में रहनेवाले द्वैतभाव वर्जित सच्चिदानन्दस्वरूप उस आत्माको मूढ पुरुष इच्छा द्वेषसे युक्त समझते हैं। जो लोग अविद्या-पूरित सम्पूर्ण कर्मजाल त्यागके विषय-तृष्णासे निवृत्त होते हैं, वेही अपने मनको उस अविनासी परमात्मामें लगा कर सुखी हो सकते हैं। (१६—२०)

अस्मिन्नेवं सूक्ष्मगम्ये मार्गे सद्भिर्निषेविते ।
कथमर्थमनर्थाढ्यमर्जुन त्वं प्रशंससि ॥ २१ ॥
पूर्वशास्त्रविदोऽप्येवं जनाः पश्यन्ति भारत ।
क्रियासु निरता नित्यं दाने यज्ञे च कर्मणि ॥ २२ ॥
भवन्ति सुदुरावर्ता हेतुमन्तोऽपि पण्डिताः ।
दृढपूर्वस्मृता मूढा नैतदस्तीति वादिनः ॥ २३ ॥
अनृतस्यावमन्तारो वक्तारो जनसंसदि ।
चरन्ति वसुधां कृत्स्नां वावदूका बहुश्रुताः ॥ २४ ॥
पार्थ यन्न विजानीमः कस्तान् ज्ञातुमिहार्हति ।
एवं प्राज्ञाः श्रुताश्चापी महान्तः शास्त्रवित्तमाः ॥२५॥
तपसा महदाप्नोति बुद्ध्या वै विन्दते महत् ।
त्यागेन सुखमाप्नोति सदा कौन्तेय तत्त्ववित् ॥ २६॥ [५९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये एकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

हे अर्जुन ! साधुओंसे सेवित सूक्ष्म और ज्ञान प्राप्त होनेवाले मोक्षपथके विद्यमान रहते तुम क्यों अनर्थसे युक्त अर्थकी प्रशंसा करते हो ? ज्ञानियोंकी बात तो दूर है; दान और यज्ञ आदि कर्मोंमें रत, कर्मकाण्डके जाननेवाले पण्डित लोगभी अर्थकी प्रशंसा नहीं करते। परन्तु कितने ही मूढ पुरुष हेतु अर्थात् तर्क आदि शास्त्रोंके पण्डित होके भी पूर्वजन्मके दृढ संस्कारोंके वशमें होकर " आत्मा नहीं है " कहके साधु पुरुषोंसे विवाद करते हैं; इससे मोक्ष विषयक सार सिद्धान्तको उन्हें हृदयङ्गम कराना असाध्य कर्म जानना चाहिये। दुष्ट मनुष्य बहुतसे शास्त्रोंको पढके भी वाचालताके कारण जनसमाजमें मोक्षधर्मकी निन्दा करते हुए पृथ्वीपर भ्रमण करते हैं। हे अर्जुन ! जिसका अर्थ मेरे समान पुरुष नहीं जान सकते; उसे दूसरे मूर्ख लोग किस भांति समझेंगे ? परन्तु ये मूर्ख लोग जैसे शास्त्रों के सूक्ष्म तत्वको जाननेमें समर्थ नहीं होते, वैसे ही शास्त्रोंके मर्मको जाननेवाले महात्मा बुद्धिमान साधुओंको भी नहीं जान सकते। जो हो, तुम यह निश्चय जान रखो, कि तत्ववित् पण्डित लोग तपस्या और महाज्ञानसे महत्व, और संन्याससे नित्य सुख प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। (२०–२६)

शान्तिपर्वमें तेरह अध्याय समाप्त। [५९६]

वैशम्पायन उवाच अस्मिन्वाक्यान्तरे वक्ता देवस्थानो महातपाः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १ ॥
देवस्थान उवाच– यद्वचः फाल्गुनेनोक्तं न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
अत्र ते वर्तयिष्यामि तदेकान्तमनाः शृणु ॥ २ ॥
अजातशत्रो धर्मेण कृत्स्ना ते वसुधा जिता ।
तां जित्वा च वृथा राजन्न परित्यक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येव प्रतिष्ठिता ।
तां क्रमेण महाबाहो यथावज्जय पार्थिव ॥ ४ ॥
तस्मात्पार्थ महायज्ञैर्यजस्व बहुदक्षिणैः ।
स्वाध्याययज्ञा ऋषयो ज्ञानयज्ञास्तथाऽपरे ॥ ५ ॥
कर्मनिष्ठांश्च बुद्ध्येथास्तपोनिष्ठांश्च पार्थिव ।
वैखानसानां कौन्तेय वचनं श्रूयते यथा ॥ ६ ॥
ईहेत धनहेतोर्यस्तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान्दोषो हि वर्धेत यस्तं धर्ममुपाश्रयेत ॥ ७ ॥
कृत्स्नं च धनसंहारं कुर्वन्ति विधिकारणात् ।

शान्तिपर्वमें बीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरके वचन समाप्त होनेपर बोलनेवालोंमें मुख्य महातपस्वी देवस्थान ऋषि धर्मराजसे इस प्रकार युक्तियुक्त वचन बोले, हे धर्मराज ! अर्जुनने जो " धनसे बढके कुछ भी उत्तम नहीं है, " ऐसा वचन कहा है, मैं उसकी विवृति करके कहता हूं, आप एकाग्रचित्त होकर सुनिये। आपने धर्मपूर्वक पृथ्वीको जय किया है; इससे इस समय हस्तगत हुए इस राज्यको निष्प्रयोजन ही त्यागना उचित नहीं है, वेदमें चार आश्रम वर्णित हुए हैं, क्रमसे उन आश्रमोंमेंसे एकको त्यागके दूसरे आश्रमको ग्रहण करनेकी विधि है। (१—४)

इससे आप अनेक दक्षिणासे युक्त यज्ञ आदिक कर्मोंका अनुष्ठान कीजिये। देखिये ऋषियोंके बीच भी कोई स्वाध्यायरूपी यज्ञ और कोई ज्ञानरूपी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं; इससे तपस्वी पुरुषोंको भी आप कर्मनिष्ठ ही समझिये, तब वैखानस ऋषि लोग कहते हैं, " धनसे साध्य यज्ञ कर्मके वास्ते धनके निमित्त कोशिश करनेकी अपेक्षा यज्ञका न करना ही उत्तम है, " परन्तु मेरे विचारमें उन लोगोंका वह धर्म ग्रहण

आत्मानं दूषितो बुद्ध्या भ्रूणहत्यां न बुद्ध्यते ॥ ८ ॥
अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते ।
अर्हानर्हा परिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ९ ॥
यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञोदिष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं ततोऽनन्तर एव कामः ॥ १० ॥
यज्ञैरिन्द्रो विविधै रत्नवद्भिर्देवान्सर्वानभ्ययाद्भूरितेजाः ।
तेनेन्द्रत्वं प्राप्य विभ्राजतेऽसौ तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ ११ ॥
महादेवः सर्वयज्ञे महात्मा हुत्वाऽऽत्मानं देवदेवो बभूव ।
विश्वाँ ल्लोकान्व्याप्य विष्टभ्य कीर्त्या विराजते द्युतिमान्कृत्तिवासाः ॥ १२ ॥
आविक्षितः पार्थिवोऽसौ मरुत्तो वृद्ध्या शक्रं योऽजयद्देवराजम् ।
यज्ञे यस्य श्रीः स्वयं सन्निविष्टा यस्मिन्भाण्डं काञ्चनं सर्वमासीत् ॥ १३ ॥
हरिश्चन्द्रः पार्थिवेन्द्रः श्रुतस्ते यज्ञैरिष्ट्वा पुण्यभाग्वीतशोकः ।

करनेसे भूयिष्ट दोष उत्पन्न होते हैं, क्यों कि विधि रहनेसे ही अर्थ आदि वस्तुएं सञ्चय करनी पडती हैं। बुद्धि-भ्रष्ट होनेसे ही लोग ऐसे आत्म-प्रिय अर्थको उपयुक्त कार्योंमें खर्च न कर अयोग्य कामोंमें व्यय करके अपनेको आत्महत्यारूपी पापसे दूषित करते हैं; परन्तु योग्य और अयोग्य कर्मकी परीक्षा करके पापरहित धनको उपार्जन करना भी सहज कार्य नहीं है। विधाताने यज्ञ करने ही के वास्ते धनको उत्पन्न किया, और पुरुषकोभी उस धनकी रक्षा तथा यज्ञ आदिक कर्मोंके अनुष्ठानके वास्ते ही उत्पन्न किया है, इससे सम्पूर्ण धन यज्ञ आदिक शुभ कर्मोंमें समर्पण करनेसे ही समस्त कामना सिद्ध हो सकती हैं; इसमें सन्देह नहीं है। (५-१०)

महातेजस्वी भगवान् इन्द्र अनेक मूल्यवान वस्तुओंसे यज्ञका अनुष्ठान करनेसे सम्पूर्ण देवतोंको अतिक्रम कर इन्द्रत्व प्राप्त करके स्वर्गलोकके राज्य-पदपर प्रतिष्ठित हैं, इससे सम्पूर्ण धन यज्ञमें समर्पण करना ही उचित है; इसके अतिरिक्त महातेजस्वी कृत्तिवासा महादेव सर्वमेध यज्ञमें अपने शरीरको ही अग्निमें आहुति देकर समस्त देवताओंके ऊपर आधिपत्य और सबसे अधिक प्रभाव प्राप्त करके जगत्‌के बीच विराजमान हैं। देखिये अविक्षित-पुत्र मरुत्तराजने समृद्धियुक्त यज्ञके प्रभावसे देवराज इन्द्रको भी जीत लिया था; उस यज्ञमें सब पात्र सुवर्णमय थे; अधिक क्या कहा जावे, उनके यज्ञमें लक्ष्मी

ऋद्धया शक्रं योऽजयन्मानुषः संस्तस्माद्यज्ञे सर्वमेवोपयोज्यम् ॥ १४ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि देवस्थानवाक्ये विंशतितमोऽध्यायः ॥ २० ॥ [६१०]

देवस्थान उवाच– अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
इन्द्रेण समये पृष्टो यदुवाच बृहस्पतिः ॥ १ ॥
सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ।
तुष्टेर्न किञ्चित्परतः सा सम्यक्प्रतितिष्ठति ॥ २ ॥
यदा संहरते कामान्कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः ।
तदाऽऽत्मज्योतिरचिरात्स्वात्मन्येव प्रसीदति ॥ ३ ॥
न बिभेति यदा चायं यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
कामद्वेषौ च जयति तदाऽऽत्मानं च पश्यति ॥ ४ ॥
यदाऽसौ सर्वभूतानां न द्रुह्यति न कांक्षति ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ ५ ॥

स्वयं मूर्तिमयी होकर स्थित हुई थीं। आपने सुना होगा, राजेन्द्र हरिश्चन्द्र यज्ञानुष्ठान करके ही पुण्यभागी और शोकरहित हुए; वह मनुष्य होकर भी ऐश्वर्यमें देवराज इन्द्रसे भी अधिक हुए थे; इससे समस्त धन यज्ञानुष्ठानमें व्यय करनेसे ही सम्पूर्ण कार्य सिद्ध हो सकते हैं। (११-१४) [६१०]

शांतिपर्वमें बीस अध्याय समाप्त।

शांतिपर्वमें इक्कीस अध्याय।

देवस्थान मुनि बोले, हे धर्मराज! इस विषयमें इन्द्र-बृहस्पति संवाद नामक एक संवाद वर्णित है, उसे सुनिये। किसी समय इन्द्रसे पूछे जानेपर बृहस्पतिने कहा था, कि सन्तोष ही उत्तम स्वर्गलोक और सन्तोष ही परम सुख है, सन्तोषसे [illegible] श्रेष्ठ नहीं है। जैसे [illegible] समेटके शरीरके भीतर [illegible] जिसकी संपूर्ण वासना[illegible] हो जाती हैं; तब ही जानन[illegible] शीघ्रही उसके अन्तःकरणमें [illegible] प्रकाशित होगी। जिस समय [illegible] पुरुष वासना और द्वेष आदिको [illegible] करते हैं, किसी प्राणीसे भी भय[illegible] नहीं होते और न उनसे ही कोई प्राणी भय करते हैं, तब ही आत्मदर्शन होता है। जब पुरुष काया और मनसासे किसी प्राणीसे शत्रुताचरण वा किसीके निकट कुछ वस्तुको मांगनेमें प्रवृत्त नहीं होता, तब ही जानना चाहिये, कि उसे ब्रह्म-प्राप्ति हुई है। महाराज! इस भांति

[illegible] आश्रमोंमेंसे एकको ग्रहण करनेकी [illegible] [illegible]णासे युक्त कीजिये! [illegible] स्वा[illegible] [illegible]स्वरूपी

एवं कौन्तेय भूतानि तं तं धर्मं तथा तथा ।
तदात्मना प्रपश्यन्ति तस्माद् बुध्यस्व भारत ॥ ६ ॥
अन्ये शाम प्रशंसन्ति व्यायाममपरे जनाः ।
नैकं न चापरे केचिदुभयं च तथाऽपरे ॥ ७ ॥
यज्ञमेव प्रशंसन्ति संन्यासमपरे जनाः ।
दानमेके प्रशंसन्ति केचिच्चैव प्रतिग्रहम् ॥ ८ ॥
केचित्सर्वं परित्यज्य तूष्णीं ध्यायन्त आसते ।
राज्यमेके प्रशंसन्ति प्रजानां परिपालनम् ॥ ९ ॥
हत्वा छित्त्वा च भित्त्वा च केचिदेकान्तशीलिनः ।
एतत्सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः ॥ १० ॥
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः ।
अद्रोहः सत्यवचनं संविभागो दया दमः ॥ ११ ॥
प्रजनं स्वेषु दारेषु मार्दवं ह्रीरचापलम् ।
एवं धर्मं प्रधानेष्टं मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ॥ १२ ॥
तस्मादेतत्प्रयत्नेन कौन्तेय प्रतिपालय ।
यो हि राज्ये स्थितः शश्वद्वशी तुल्यप्रियाप्रियः॥१३॥
क्षत्रियो यज्ञशिष्टाशी राजा शास्त्रार्थतत्त्ववित् ।

जो पुरुष जिस प्रकार धर्मका आचरण करता है, वह उसके अनुसार फलको भोग करता है। इससे आप इन सम्पूर्ण विषयोंको विचारके कर्त्तव्य कार्योंके करनेमें प्रवृत्त होइये। (१-६)

इस पृथ्वीपर अपनी अपनी रुचिके अनुसार ही कोई प्रीति, कोई यत्न, कोई दोनों विषयोंकी, कोई यज्ञ, कोई संन्यास, कोई दान, कोई प्रतिग्रहकी प्रशंसा करते रहते हैं। कितने ही पुरुष समस्त वस्तुओंको त्यागके मौन होकर ध्यानावलम्बन करके स्थित होते हैं, कोई शत्रुओंको छिन्नभिन्न करके राज्य ग्रहण और प्रजापालनकी ही प्रशंसा करते हैं, कोई निर्जनस्थानमें निवास करनेहीको श्रेष्ठ समझते हैं; परन्तु इन सब विषयोंकी समालोचना करके पण्डितोंने यह निश्चय किया है, कि प्राणीमात्रका जिसमें कुछ भी अनिष्ट न होवे; वही धर्म साधु-सम्मत है। स्वायंभुव मनु भी अहिंसा, सत्य, दया, इन्द्रियसंयम निज स्त्रीसे पुत्र उत्पन्न करना, कोमलता, लज्जा और धीरजको ही उत्तम धर्म कहके वर्णन करते

असाधुनिग्रहरतः साधूनां प्रग्रहे रतः ॥ १४ ॥
धर्मवर्त्मनि संस्थाप्य प्रजा वर्त्तेत धर्मतः।
पुत्रसंक्रामितश्रीश्च वने वन्येन वर्त्तयन् ॥ १५ ॥
विधिना श्रावणेनैव कुर्यात्कर्माण्यतन्द्रितः।
य एवं वर्त्तते राजन्स राजा धर्मनिश्चितः ॥ १६ ॥
तस्यायं च परश्चैव लोकः स्यात्सफलोदयः।
निर्वाणं हि सुदुष्प्राप्यं बहुविघ्नं च मे मतम् ॥ १७ ॥
एवं धर्ममनुक्रान्ताः सत्यदानतपःपराः।
आनृशंस्यगुणैर्युक्ताः कामक्रोधविवर्जिताः ॥ १८ ॥
प्रजानां पालने युक्ता धर्ममुत्तममास्थिताः।
गोब्राह्मणार्थे युध्यन्तः प्राप्ता गतिमनुत्तमाम् ॥ १९ ॥
एवं रुद्राः सवसवस्तथाऽऽदित्याः परन्तप।
साध्या राजर्षिसङ्घाश्च धर्ममेतं समाश्रिताः।
अप्रमत्तास्ततः स्वर्गं प्राप्ताः पुण्यैः स्वकर्मभिः॥ २० ॥[६३०]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मपर्वणि राजधर्मे देवस्थानवाक्ये एकविंशोऽध्यायः॥२१॥

हैं। (७-१३)

हे धर्मराज ! इससे आप भी यत्न-पूर्वक इसी भांति धर्मके कार्योंको पालन कीजिये। जो राजनीतिज्ञ जितेन्द्रिय राजा धर्मशास्त्रके तात्पर्यको विशेष रूपसे ग्रहण करके राज्य करते हुए प्रिय और अप्रिय वस्तुओंको समान समझते, यज्ञसे बचे हुए अन्नका भोजन, दुष्ट पुरुषोंको दण्ड, साधुओंके ऊपर कृपा करते तथा प्रजाको धर्ममार्गमें स्थापित करते हुए स्वयं निज धर्ममें तत्पर रहते हैं, और अन्तमें पुत्रको राज्यभार समर्पण करके वनवासी होकर वेदमें कही हुई विधिके अनुसार आसक्ति त्यागके कर्मोंके अनुष्ठानमें रत रहते हैं, उन्हें इस लोक और परलोक दोनोंमें शुभ फल प्राप्त होता है। आप जो निर्वाणमुक्तिके विषयको वर्णन करते थे, मेरे विचारमें वह अत्यन्त ही दुष्प्राप्य और अनेक विघ्नोंसे परिपूरित है। (१३-१७)

हे धर्मराज ! मैंने राजधर्मके विषयको वर्णन किया है; सत्य और दानपरायण अनेक राजा लोगोंने ऊपर कहे हुए धर्मके आसरे काम, क्रोध, नृशंसता त्यागके गोब्राह्मणकी रक्षाके वास्ते अस्त्र धारण करके प्रजा पालन करते, तथा निज उत्तम धर्मको उपार्जन करते हुए शीघ्र ही परम गतिको प्राप्त हैं। इसी

वैशम्पायन उवाच-अस्मिन्नेवान्तरे वाक्यं पुनरेवार्जुनोऽब्रवीत्।
निर्विण्णमनसं ज्येष्ठमिदं भ्रातरमच्युतम् ॥ १ ॥
क्षत्रधर्मेण धर्मज्ञ प्राप्य राज्यं सुदुर्लभम्।
जित्वा चारीन्नरश्रेष्ठ तप्यते किं भृशं भवान् ॥ २ ॥
क्षत्रियाणां महाराज संग्रामे निधनं मतम्।
विशिष्टं बहुभिर्यज्ञैः क्षत्रधर्ममनुस्मर ॥ ३ ॥
ब्राह्मणानां तपस्त्यागः प्रेत्य धर्मविधिः स्मृतः।
क्षत्रियाणां च निधनं संग्रामे विहितं प्रभो ॥ ४ ॥
क्षात्रधर्मो महारौद्रः शस्त्रनित्य इति स्मृतः।
वधश्च भरतश्रेष्ठ काले शस्त्रेण संयुगे ॥ ५ ॥
ब्राह्मणस्यापि चेद्राजन् क्षत्रधर्मेण वर्त्ततः।
प्रशस्तं जीवितं लोके क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ ६ ॥
न त्यागो न पुनर्यज्ञो न तपो मनुजेश्वर।
क्षत्रियस्य विधीयन्ते न परस्वोपजीवनम् ॥ ७ ॥
स भवान्सर्वधर्मज्ञो धर्मात्मा भरतर्षभ।

भांति रुद्र, वसु, आदित्य, साध्य और राजर्षि लोग सावधान होकर राजधर्मके सहारे अपने पुण्यकर्मोंसे स्वर्गलोकमें गये हैं। (१८—२०) [६३०]

शान्तिपर्वमें इक्कीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बाइस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, देवस्थान ऋषिके वचन समाप्त होनेपर अर्जुन फिर शोकित चित्तसे युक्त अपने जेठे भाई अच्युत युधिष्ठिरसे बोले, महाराज! आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार शत्रुओं-को पराजित करके इस दुर्लभ राज्यको प्राप्त किया है; तो अब किस कारणसे इतना दुःखित होरहे हैं। अनेक यज्ञोंके अनुष्ठानसे भी बढके युद्धभूमिमें क्षत्रिय पुरुषोंकी मृत्यु श्रेष्ठ है, वह क्षत्रियोंका धर्म कहके वर्णित है। ब्राह्मणोंको तपस्या तथा संन्यास और क्षत्रियोंकी युद्धमें मृत्यु होनी यही पारलौकिक धर्म है, काल प्राप्त होनेपर क्षत्रियोंको युद्धभूमिमें गमन करके शस्त्रसे मरना ही धर्म है; क्यों कि क्षत्रियधर्म शस्त्रमूलक और अत्यन्त ही कठिन है। (१-५)

क्षत्रियकुल ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ है, इससे यदि ब्राह्मण भी क्षत्रियधर्म अव-लम्बन करें, तो उनका जीवन धन्य है, महाराज! क्षत्रियोंके वास्ते संन्यास, समाधि, तपस्या और दूसरेके समीप

राजा मनीषी निपुणो लोके दृष्टपरावरः ॥ ८ ॥
त्यक्त्वा सन्तापजं शोकं दंशितो भव कर्मणि ।
क्षत्रियस्य विशेषेण हृदयं वज्रसन्निभम् ॥ ९ ॥
जित्वाऽरीन् क्षत्रधर्मेण प्राप्य राज्यमकण्टकम् ।
विजितात्मा मनुष्येन्द्र यज्ञदानपरो भव ॥ १० ॥
इन्द्रो वै ब्रह्मणः पुत्रः क्षत्रियः कर्मणाऽभवत् ।
ज्ञातीनां पापवृत्तीनां जघान नवतीर्नव ॥ ११ ॥
तच्चास्य कर्म पूज्यं च प्रशस्यं च विशाम्पते ।
तेनेन्द्रत्वं समापेदे देवानामिति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
स त्वं यज्ञैर्महाराज जयस्व बहुदक्षिणैः ।
यथैवेन्द्रो मनुष्येन्द्र चिराय विगतज्वरः ॥ १३ ॥
मा त्वमेवं गते किञ्चिच्छोचेथाः क्षत्रियर्षभ ।
गतास्ते क्षत्रधर्मेण शस्त्रपूताः परां गतिम् ॥ १४ ॥

भीख मांगके जीविका निर्वाह करनेकी विधि नहीं है। आप भी राजा, मनीषी सब कार्योंको जाननेवाले, धर्मात्मा और सम्पूर्ण धर्मोंके जाननेवाले हैं, आपका पर और अपर दोनों ही विषय विदित हैं; विशेष करके क्षत्रियोंका हृदय वज्रके समान कठोर होता है, इससे आप दुःख-जनित शोक त्यागके कर्मोंके अनुष्ठानमें कटिबद्ध होइये। आपने क्षत्रिय धर्मके अनुसार शत्रुओंका नाश करके यह निष्कण्टक राज्य प्राप्त किया है, इस समय इन्द्रियोंको वशमें करके दान और यज्ञ आदिक कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होइये। (६-१०)

मैंने सुना है, कि देवराज इन्द्र ब्राह्मण होकर भी केवल कार्यके वशमें होकर क्षत्रिय धर्मावलम्बी हुए हैं; उन्होंने पापी पुरुषोंकी नौ बार नौवे अर्थात् आठ सो दश जातियोंको पराजित किया था, उनका वह कर्म जगतमें पूजनीय और प्रशंसनीय कहके गिना गया है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है; और उस क्षत्रिय धर्मके प्रभावसे ही उन्होंने देवतावोंके बीच इन्द्रत्व पद पाया है। जैसे देवराज इन्द्रने निष्कण्टक होके यज्ञानुष्ठान किया था, वैसे ही आप भी इस निष्कण्टक राज्यको शासन करते हुए अनेक दक्षिणासे युक्त यज्ञ कार्यमें प्रवृत्त होइये। (११-१३)

महाराज! आप बीते हुए विषयोंके निमित्त तनिक भी शोक न कीजिये, कौरव लोग क्षत्रिय धर्मके अनुसार शरीर

भवितव्यं तथा तच्च यद् वृत्तं भरतर्षभ।
दिष्टं हि राजशार्दूल न शक्यमतिवर्तितुम् ॥ १५ ॥ [६४५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अर्जुनवाक्ये द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच–एवमुक्तस्तु कौन्तेयो गुडाकेशेन पाण्डवः।
नोवाच किञ्चित्कौरव्यस्ततो द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥

व्यास उवाच— बीभत्सोर्वचनं सौम्य सत्यमेतद्युधिष्ठिर।
शास्त्रदृष्टः परो धर्मः स्थितो गार्हस्थ्यमाश्रितः ॥ २ ॥
स्वधर्मं चर धर्मज्ञ यथाशास्त्रं यथाविधि।
न हि गार्हस्थ्यमुत्सृज्य तवारण्यं विधीयते ॥ ३ ॥
गृहस्थं हि सदा देवाः पितरोऽतिथयस्तथा।
भृत्याश्चैवोपजीवन्ति तान्भरस्व महीपते ॥ ४ ॥
वयांसि पशवश्चैव भूतानि च जनाधिप।
गृहस्थैरेव धार्यन्ते तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी ॥ ५ ॥
सोऽयं चतुर्णामेतेषामाश्रमाणां दुराचरः।

त्यागके तथा शस्त्रसे मरकर परम गतिको प्राप्त हुए हैं। हे राजन्! जो होनहार होना है, वह अवश्य होता है। प्रारब्धको अतिक्रम करनेमें कोई भी समर्थ नहीं हो सकता। (१४—१५)

बाइस अध्याय समाप्त। [६४५]

शान्तिपर्वमें तेईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! जितेन्द्रिय अर्जुनसे इस प्रकार प्रबोधित होनेपर भी कुरु-नन्दन युधिष्ठिरने कुछ भी उत्तर न दिया। तब महर्षि वेद-व्यास मुनि बोले, हे सौम्य युधिष्ठिर! अर्जुनने यथार्थ वचन कहे हैं; शास्त्रमें गृहस्थ धर्म ही उत्तम कहके वर्णित है। हे धर्म जाननेवाले युधिष्ठिर! इससे गृहस्थाश्रम त्यागके तुम्हें वनमें गमन करना उचित नहीं है; शास्त्रकी विधिके अनुसार अपने धर्म अर्थात् गृहस्थाश्रममें प्रवृत्त हो जाओ। देखो देवता, पितर, अतिथि और सेवक लोग सब कोई गृहस्थके ही आसरे जीविका निर्वाह करते हैं, इससे उन लोगोंको पालन करना उचित है। पशु, पक्षी आदि समस्त प्राणी गृहस्थोंके अवलम्बसे प्राण धारण करते हैं, इससे गृहस्थाश्रम ही सब आश्रमोंसे श्रेष्ठ है। (१–५)

महाराज! गृहस्थ धर्मका अनुष्ठान अत्यन्तही कठिन है; इससे अब तुम

तं चराद्य विधिं पार्थ दुश्चरं दुर्बलेन्द्रियैः ॥ ६ ॥
वेदज्ञानं च ते कृत्स्नं तपश्चाचरितं महत्।
पितृपैतामहं राज्यं धुर्यवद्वोढुमर्हसि ॥ ७ ॥
तपो यज्ञास्तथा विद्या भैक्ष्यमिन्द्रियसंयमः।
ध्यानमेकान्तशीलत्वं तुष्टिर्ज्ञानं च शक्तितः ॥ ८ ॥
ब्राह्मणानां महाराज चेष्टा संसिद्धिकारिका।
क्षत्रियाणां तु वक्ष्यामि तवापि विदितं पुनः ॥ ९ ॥
यज्ञो विद्या समुत्थानमसंतोषः श्रियं प्रति।
दण्डधारणमुग्रत्वं प्रजानां परिपालनम् ॥ १० ॥
वेदज्ञानं तथा कृत्स्नं तपः सुचरितं तथा।
द्रविणोपार्जनं भूरि पात्रे च प्रतिपादनम् ॥ ११ ॥
एतानि राज्ञां कर्माणि सुकृतानि विशाम्पते।
इमं लोकममुं चैव साधयन्तीति नः श्रुतम् ॥ १२ ॥
एषां ज्यायस्तु कौन्तेय दण्डधारणमुच्यते।
बलं हि क्षत्रिये नित्यं बले दंडः समाहितः ॥ १३ ॥

अजितात्मा पुरुषोंसे न सिद्ध होने योग्य गृहस्थाश्रमके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होजाओ। सम्पूर्ण वेद और शास्त्रोंमें तुम्हारी विलक्षण अभिज्ञता है, और तुमने बहुत कुछ तपका भी अनुष्ठान किया है; इस समय धुरंधर पुरुषोंके योग्य पिता पितामहकी भांति राज्यभारको ग्रहण करना ही तुम्हें उचित है। शक्तिके अनुसार तपस्या, यज्ञ, क्षमा, अनासक्ति, भिक्षावृत्ति, इन्द्रियसंयम, ध्यान, अत्यन्त नम्रता और ब्रह्मज्ञान के साधन आदि कार्य ब्राह्मणोंको ही सिद्धिकारक हैं। क्षत्रियोंके जो कुछ कर्त्तव्य कर्म हैं, उसे वर्णन करता हूं, उस विषयमें तुम भी अज्ञान नहीं हो; विद्या प्राप्त करना, उत्साह प्रकाश, यज्ञानुष्ठान, जो सम्पत्ति प्राप्त होवे उसमें असन्तोष, राजदण्ड को धारण करना, कठोरता, प्रजापालन, वेदज्ञान, तपस्याका अनुष्ठान, सच्चरित्रता, धन उपार्जन और उसे योग्यपात्रको दान करना; ये सब क्षत्रिय पुरुषोंके कर्त्तव्य--कर्म शास्त्रमें कहे गये हैं, जो लोग इन सम्पूर्ण कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे इस लोक और परलोकमें सिद्धि लाभ करते हैं। परन्तु इन सब कर्मोंके बीच क्षत्रियोंको दण्ड धारण करना ही मुख्य कर्म कहके वर्णित हुआ है, दण्डभी बलके आसरेसे धारण किया

एता क्रियाः क्षत्रियाणां राजन् संसिद्धिकारिकाः ।
अपि गाथामिमां चापि बृहस्पतिरगायत ॥ १४ ॥
भूमिरेतौ निगिरति सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १५ ॥
सुद्युम्नश्चापि राजर्षिः श्रूयते दण्डधारणात् ।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ १६ ॥
युधिष्ठिर उवाच— भगवन्कर्मणा केन सुद्युम्नो वसुधाधिपः ।
संसिद्धिं परमां प्राप्तः श्रोतुमिच्छामि तं नृपम् ॥ १७ ॥
व्यास उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
शङ्खश्च लिखितश्चास्तां भ्रातरौ संशितव्रतौ ॥ १८ ॥
तयोरावसथावास्तां रमणीयौ पृथक् पृथक् ।
नित्यपुष्पफलैर्वृक्षैरुपेतौ बाहुदामनु ॥ १९ ॥
ततः कदाचिल्लिखितः शङ्खस्याश्रममागतः ।
यदृच्छयाऽथ शङ्खोऽपि निष्क्रान्तोऽभवदाश्रमात् ॥२०॥
सोऽभिगम्याश्रमं भ्रातुः शङ्खस्य लिखितस्तदा ।

जाता है; इससे क्षत्रियोंमें बल होना परम आवश्यक है। (६-१३)

हे राजेन्द्र ! ये सम्पूर्ण कर्म क्षत्रियों की सिद्धि प्राप्त करानेवाले हैं। इस विषयमें बृहस्पतिने भी इस प्रकार कहा है कि, सांप जैसे चूहेको भक्षण करता है, वैसे ही शम-परायण राजा और संसारमें आसक्त ब्राह्मणको पृथ्वी शीघ्र-ही ग्रास करती है, इस प्रकार जनश्रुति है, कि राजऋषि सुद्युम्नने प्रचेता-पुत्र दक्षकी भांति एकमात्र दण्ड धारण करने के प्रभावसे ही परम सिद्धि प्राप्त की थी। राजा युधिष्ठिर बोले, हे भगवन् ! पृथ्वीपति सुद्युम्न किस कर्म फलसे परम सिद्धिको प्राप्त हुए थे ? मैं इस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं। (१४-१७)

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे धर्मराज युधिष्ठिर ! इस विषयमें एक प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध है, उसे मैं वर्णन करता हूं, तुम चित्त लगाके सुनो। शङ्ख और लिखित नामक अत्यन्त कठोर व्रत करनेवाले दो भाई थे। बाहुदा नदीके किनारे फल पुष्प लता और सुन्दर वृक्षोंसे शोभित अत्यन्त रमणीय अलग अलग उनके दो आश्रम थे। किसी समय लि-खित ऋषि इच्छानुसार अपने जेठे भाई शङ्ख ऋषिके आश्रमपर उपस्थित हुए, उस समय महर्षि शङ्ख अपने आश्रमसे

फलानि पातयामास सम्यक्परिणतान्युत ॥ २१ ॥
तान्युपादाय विस्रब्धो भक्षयामास स द्विजः ।
तस्मिंश्च भक्षयत्येव शङ्खोऽप्याश्रममागतः ॥ २२ ॥
भक्षयन्तं तु तं दृष्ट्वा शङ्खो भ्रातरमब्रवीत् ।
कुतः फलान्यवाप्तानि हेतुना केन खादसि ॥ २३ ॥
सोऽब्रवीद्भ्रातरं ज्येष्ठमुपसृत्याभिवाद्य च ।
इत एव गृहीतानि मयेति प्रहसन्निव ॥ २४ ॥
तमब्रवीत्तथा शङ्खस्तीव्ररोषसमन्वितः ।
स्तेयं त्वया कृतमिदं फलान्याददता स्वयम् ॥ २५ ॥
गच्छ राजानमासाद्य स्वकर्म कथयस्व वै ।
अदत्तादानमेवं हि कृतं पार्थिवसत्तम ॥ २६ ॥
स्तेनं मां त्वं विदित्वा च स्वधर्ममनुपालय ।
शीघ्रं धारय चौरस्य मम दण्डं नराधिप ॥ २७ ॥
इत्युक्तस्तस्य वचनात्सुद्युम्नं स नराधिपम् ।

किसी दूसरे स्थानपर गये थे। (१८-२०)

अनन्तर ऋषि लिखित शङ्खके आश्रम में पहुंचके, पके हुए फलोंको तोडने लगे और उन फलोंको ग्रहण करके प्रसन्नचित्तसे भोजन करनेमें प्रवृत्त हुए। इतने ही समयमें शङ्ख ऋषि अपने आश्रममें आके उपस्थित हुए और लिखित ऋषिको फल खाते देखकर उनसे पूछा कि, तुम किस कारणसे फल खा रहे हो! इन फलोंको तुमने कहां पाया? तब छोटे भाई लिखित अपने बडे भाई शङ्खके समीप जाकर उन्हें प्रणाम करके हंसते हुए यह वचन बोले कि, हे महात्मन्! मैंने आपके इस आश्रमसे ही फल ग्रहण किया है। उनसे ऐसे वचनको सुनके महर्षि शङ्ख अत्यन्त कुपित होके बोले, हे भाई! मेरे न रहनेपर तथा विना मेरी आज्ञाके इन फलोंको ग्रहण करनेसे तुम्हें चोरीका पाप लगा है; इससे दण्डित होनेके वास्ते अब तुम राजाके समीप गमन करो; और वहां जाकर अदत्त ग्रहण रूपी अपने पाप कर्मको सुना कर कहना कि, हे महाराज! आप मुझे चोर करके निश्चित कीजिये, राजधर्मको पालन करते हुए शीघ्र ही मुझे चोरोंके योग्य दण्ड दीजिये। (२१-२७)

अनन्तर व्रत करनेवाले महात्मा लिखितने अपने जेठे भाईकी ऐसी आज्ञा सुनकर राजा सुद्युम्नके समीप

अभ्यगच्छन्महाबाहो लिखितः संशितव्रतः ॥ २८ ॥
सुद्युम्नस्त्वन्तपोलभ्यः श्रुत्वा लिखितमागतम् ।
अभ्यगच्छत्सहामात्यः पद्भ्यामेव जनेश्वरः ॥ २९ ॥
तमब्रवीत्समागम्य स राजा धर्मवित्तमम् ।
किमागमनमाचक्ष्व भगवन्कृतमेव तत् ॥ ३० ॥
एवमुक्तः स विप्रर्षिः सुद्युम्नमिदमब्रवीत् ।
प्रतिश्रुत्य करिष्येति श्रुत्वा तत्कर्तुमर्हसि ॥ ३१ ॥
अनिसृष्टानि गुरुणा फलानि मनुजर्षभ ।
भक्षितानि महाराज तत्र मां शाधि मा चिरम् ॥३२॥
सुद्युम्न उवाच— प्रमाणं चेन्मतो राजा भवतो दण्डधारिणे ।
अनुज्ञायामपि तथा हेतुः स्याद्ब्राह्मणर्षभ ॥ ३३ ॥
स भवानभ्यनुज्ञातः शुचिकर्मा महाव्रतः ।
ब्रूहि कामानतोऽन्यांस्त्वं करिष्यामि हि ते वचः ॥३४॥
व्यास उवाच— संछन्द्यमानो ब्रह्मर्षिः पार्थिवेन महात्मना ।

गमन किया । राजा सद्युम्न द्वारपालके मुखसे धर्मज्ञ पुरुषोंमें अग्रणी लिखित ऋषिके आगमनका वृत्तान्त सुनकर अपने अनुयायी पुरुषोंके सहित पैदल ही द्वारपर आके बोले, हे भगवन् ? किस अभिप्रायसे यहां आपका आगमन हुआ है ? आपकी क्या आज्ञा है ? राजा सुद्युम्नके वचनको सुनके महर्षि लिखित बोले, महाराज ! पहिले " जो कार्यकी आज्ञा होगी, उसे मैं करूंगा " आप ऐसी प्रतिज्ञा कीजिये, तब पीछे मेरे मुखसे सुनकर उसे पालन करिये, मैंने अपने भाईकी अनुमतिके विना उसके आश्रममें जाके फल ग्रहण करके भक्षण किया है, शीघ्र ही मेरे ऊपर दण्ड प्रयोग कीजिये । (२८–३२)

महाराज सुद्युम्न बोले, भगवन् ! "राजाके दण्डप्रयोग करनेसे ही पापकी शान्ति होती है" यदि आपको ऐसा स्थिर ज्ञान होवे, तो राजाके क्षमा करने पर भी उस पापकी शान्ति होती है,– ऐसा ही समझिये । आप महाव्रत करने- वाले ब्राह्मण हैं; मैंने आपके अपराधको क्षमा किया, उससे आप पापरहित हुए । इस समय आपकी दूसरी और कौनसी अभिलाषा है, उसे वर्णन कीजिये । मैं आपकी समस्त कामना पूर्ण करूं- गा । (३३–३४)

वेदव्यास मुनि बोले, हे धर्मराज ! महात्मा पृथ्वीनाथ सुद्युम्नने इस भांति

नान्यं स वरयामास तस्माद्दण्डादृते वरम् ॥ ३५ ॥
ततः स पृथिवीपालो लिखितस्य महात्मनः ।
करौ प्रच्छेदयामास धृतदण्डो जगाम सः ॥ ३६ ॥
स गत्वा भ्रातरं शङ्खमार्तरूपोऽब्रवीदिदम् ।
धृतदण्डस्य दुर्बुद्धेर्भवांस्तत्क्षन्तुमर्हति ॥ ३७ ॥
शङ्ख उवाच— न कुप्ये तव धर्मज्ञ न त्वं दूषयसे मम ।
धर्मस्तु ते व्यतिक्रान्तस्ततस्ते निष्कृतिः कृता ॥३८॥
त्वं गत्वा बाहुदां शीघ्रं तर्पयस्व यथाविधि ।
देवानृषीन्पितॄंश्चैव मा चाधर्मे मनः कृथाः ॥ ३९ ॥
तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शङ्खस्य लिखितस्तदा ।
अवगाह्यापगां पुण्यामुदकार्थं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥
प्रादुरास्तां ततस्तस्य करौ जलजसन्निभौ ।
ततः सविस्मितो भ्रातुर्दर्शयामास तौ करौ ॥ ४१ ॥
ततस्तमब्रवीच्छङ्खस्तपसेदं कृतं मया ।

अपराध क्षमा करके लिखित ऋषिको सम्मानित किया; तौ भी महर्षि लिखित उनके निकट दण्डके अतिरिक्त और किसी विषयकी भी अभिलाषा नहीं की, तब राजा सुद्युम्नने दण्ड धारण करके महात्मा लिखितके दोनों हाथ काट दिये। अनन्तर लिखित ऋषि भुजा कटनेसे विकल होके अपने जेठे भाई महर्षि शङ्खके समीप गमन करके यह वचन बोले। हे महात्मन्! मैंने राजाके निकट जाके उचित दण्ड पाया है, अब आप मेरे अपराधको क्षमा कीजिये, छोटे भाईके वचनको सुनकर महर्षि शङ्ख बोले, हे भ्राता! तुमने मेरा कुछ भी अनिष्ट नहीं किया था, और मैं भी तुम्हारे ऊपर कुपित नहीं हुआ था; तुम धर्मसे भ्रष्ट हुए थे, इस ही कारण मैंने तुम्हें उस पापसे मुक्त किया है। इस समय शीघ्र ही बाहुदा नदीमें जाके देवता, ऋषि और पितरोंका तर्पण करो, अब कदापि ऐसी बुद्धि न करना। (३५—३९)

अनन्तर महर्षि लिखितने अपने बडे भाई शंखके वचनको सुनके बाहुदा नदीमें जाकर स्नानकरके ज्योंही तर्पण करनेकी इच्छा किया, त्योंही सहसा अंगुलियोंसे युक्त उनके दोनों हाथ प्रकट होगये, उससे लिखित अत्यन्त विस्मित होकर अपने बडे भाई शङ्खके समीप आके नवीन उत्पन्न हुए अपने

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	।।।)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१।।)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	।।।)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	।।।
१० सौप्तिकपर्व	(७५	१	१०४	।।। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	।।।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	।।)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	।।)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क

महाभारत

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,

स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिनाजिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री--स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

मा च तेऽत्र विशङ्काऽभूद्दैवमत्र विधीयते ॥ ४२ ॥

लिखित उवाच— किं तु नाहं त्वया पूतः पूर्वमेव महाद्युते।
यस्य ते तपसो वीर्यमीदृशं द्विजसत्तम ॥ ४३ ॥

शङ्ख उवाच— एवमेतन्मया कार्यं नाहं दण्डधरस्तव।
स च पूतो नरपतिस्त्वं चापि पितृभिः सह ॥ ४४ ॥

व्यास उवाच— स राजा पाण्डवश्रेष्ठ श्रेयान्वै तेन कर्मणा।
प्राप्तवान्परमां सिद्धिं दक्षः प्राचेतसो यथा ॥ ४५ ॥
एष धर्मः क्षत्रियाणां प्रजानां परिपालनम्।
उत्पथोऽन्यो महाराज मा स्म शोके मनः कृथाः ॥४६॥
आतुरस्य हितं वाक्यं शृणु धर्मज्ञसत्तम।
दण्ड एव हि राजेन्द्र क्षत्रधर्मो न मुण्डनम् ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥ [६९२]

दोनों हाथोंको दिखाया। महर्षि शंख उनके दोनों हाथोंको देखकर बोले, हे भ्राता! मेरे तपके प्रभावसे तुम्हारे दोनों हाथ फिर उत्पन्न हुए हैं; यह कुछ भी आश्चर्यका विषय नहीं है, क्यों कि दैव ही इस विषयके विधोंको करनेवाला है। अनन्तर लिखित ऋषि बोले, हे तेजस्विन्! जब कि आपका ऐसा तप प्रभाव है, तब आपने पहिले ही क्यों नहीं मुझे इस पापसे मुक्त किया? ऐसा होनेसे राजाके समीप मुझे न जाना पडता। शंख बोले, हे भ्राता! उस विषयमें यदि मुझे अधिकार होता, तो मैं अवश्य ही तुम्हें यहां ही उस पापसे मुक्त कर देता; परन्तु मैं तो तुम्हारा राजा नहीं हूं, जो दण्ड प्रयोग करके तुम्हें चोरीके पापसे मुक्त कर देता; इस कारणसे मैंने तुम्हें राजाके समीप भेजा था। तुम्हारे ऊपर विधिपूर्वक दण्ड प्रयोग करके राजा सुद्युम्न और तुम, अर्थात् तुम दोनों ही पितरोंके सहित मुक्त हुए। (४०-४४)

वेदव्यास मुनि बोले, हे पाण्डवश्रेष्ठ! मैंने जो कुछ तुम्हारे समीप वर्णन किया; उस भांति कर्मके प्रभावसे राजा सुद्युम्नने दक्ष प्रजापतिकी भांति इस लोकमें प्रतिष्ठा और परलोकमें परम सिद्धि प्राप्त की थी। प्रजाको पालन करना ही क्षत्रियोंका धर्म है, इसके अतिरिक्त तुम दूसरेको कुपथ समझो। तुम धर्म जाननेवाले पुरुषोंमें अग्रगण्य हो, इस लिये अपने भाई अर्जुनके वचनसे

वैशम्पायन उवाच- पुनरेव महर्षिस्तं कृष्णद्वैपायनो मुनिः ।
अजातशत्रुं कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
अरण्ये वसतां तात भ्रातॄणां ते मनस्विनाम् ।
मनोरथा महाराज ये तत्रासन्युधिष्ठिर ॥ २ ॥
तानि मे भरतश्रेष्ठ प्राप्नुवन्तु महारथाः ।
प्रशाधि पृथिवीं पार्थ ययातिरिव नाहुषः ॥ ३ ॥
अरण्ये दुःखवसतिरनुभूता तपस्विभिः ।
दुःखस्यान्ते नरव्याघ्र सुखान्यनुभवन्तु वै ॥ ४ ॥
धर्ममर्थं च कामं च भ्रातृभिः सह भारत ।
अनुभूय ततः पश्चात्प्रस्थाताऽसि विशाम्पते ॥ ५ ॥
अर्थिनां च पितॄणां च देवतानां च भारत ।
आनृण्यं गच्छ कौन्तेय तत्सर्वं च करिष्यसि ॥ ६ ॥
सर्वमेधाश्वमेधाभ्यां यजस्व कुरुनन्दन ।
ततः पश्चान्महाराज गमिष्यसि परां गतिम् ॥ ७ ॥

कर्म करो । अब शोक मत करो, प्रजाको पालन करनेके निमित्त राजदण्ड धारण करना ही क्षत्रिय धर्म है; शिर मुडाना राज धर्म नहीं है। (४५-४७)

शान्तिपर्वमें तेईस अध्याय समाप्त। [६९२]

शान्तिपर्वमें चौबीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर महर्षि वेदव्यास अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरको उपदेश करनेमें फिर प्रवृत्त होकर यह वचन बोले,हे पुत्र! हे युधिष्ठिर! वनमें वास करनेके समयसे तुम्हारे भाइयोंकी जो कुछ अभिलाषा है, उसे सफल करना इस समय कर्तव्य है; इससे तुम नहुष-पुत्र राजा ययातिकी भांति पृथ्वीको पालन करनेमें प्रवृत्त होजाओ। पहिले तुम लोगोंने तपस्यामें रत होके जङ्गलमें वास करते हुए केवल महादुःख भोग किये थे; इस समय वह महादुःख बीत गया; इससे कुछ दिनतक सुख अनुभव करो। हे भारत! तुम अपने भाइयोंके सङ्ग मिलकर कुछ दिनोंतक धर्म, अर्थ और कामका सेवन करो; अनन्तर फिर वनको प्रस्थान करना। आगे देवता, पितर और याचक लोगोंके ऋणको चुकाओ; पीछे वानप्रस्थ आदिक धर्मोंमें क्रमसे प्रवृत्त होना। (१-६)

हे महाराज! तुम अश्वमेध और सर्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान करो, ऐसा होनेसे पीछे परम गतिको प्राप्त होगे,

भ्रातॄंश्च सर्वान् क्रतुभिः संयोज्य बहुदक्षिणैः ।
संप्राप्तः कीर्तिमतुलां पाण्डवेय भविष्यसि ॥ ८ ॥
विज्ञस्ते पुरुषव्याघ्र वचनं कुरुसत्तम ।
शृणुष्वैवं यथा कुर्वन्न धर्माच्च्यवसे नृप ॥ ९ ॥
आददानस्य विजयं विग्रहं च युधिष्ठिर ।
समानधर्मकुशलाः स्थापयन्ति नरेश्वर ॥ १० ॥
देशकालप्रतीक्षी यो दस्यून्मर्षयते नृपः ।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ ११ ॥
आदाय बलिषड्भागं यो राष्ट्रं नाभिरक्षति ।
प्रतिगृह्णाति तत्पापं चतुर्थांशेन भूमिपः ॥ १२ ॥
निबोध च यथाऽऽतिष्ठन् धर्मान्न च्यवते नृपः ।
निग्रहाद्धर्मशास्त्राणामनुरुद्धयन्नपेतभीः ॥ १३ ॥
कामक्रोधावनादृत्य पितेव समदर्शनः ।
शास्त्रजां बुद्धिमास्थाय युज्यते नैनसा हि सः ॥ १४ ॥
दैवेनाभ्याहतो राजा कर्मकाले महाद्युते ।

और तुम अपने भाइयोंको अनेक दक्षिणा से युक्त यज्ञोंमें दीक्षित करो, ऐसा होनेसे इस लोकमें भी असीम कीर्ति प्राप्त कर सकोगे । हे राजन् ! जिस कार्यको करनेसे तुम किसी प्रकार फिर धर्मसे भ्रष्ट न हो सकोगे; उस विषयमें मैं विशेष उपदेश वचन कहता हूं, चित्त स्थिर करके सुनो । जो परधन हरनेवाले डाकू समान मनुष्य हैं, वेही राजाओंको युद्ध आदि कार्योंमें नियुक्त होनेकी व्यवस्था देते हैं । जो राजा शास्त्रजनित बुद्धि अवलम्बन करके देशकालकी प्रतीक्षा करके डाकुओंके विषयमें भी क्षमा करते हैं, उन्हें कदापि पापमें लिप्त नहीं होना पडता; और जो राजा राज्यका छठवां भाग ग्रहण करके भी यथा रीतिसे राज्यकी रक्षा नहीं करते, वे प्रजाके पापका चौथा भाग ग्रहण करते हैं । (७-१२)

हे युधिष्ठिर ! राजा लोग शास्त्रकी आज्ञाको उल्लङ्घन करनेसेही धर्मभ्रष्ट होते हैं; और शास्त्रके अनुकूल कार्य करनेसे निर्भय होकर समय व्यतीत कर सकते हैं । जो शास्त्रमें कही हुई रीतिको अवलम्बन कर काम, क्रोध त्यागके निरपेक्ष होकर पिताकी भांति प्रजा पालनमें तत्पर होते हैं, वे कदापि पापयुक्त कर्मोंमें लिप्त नहीं होते। यदि राजा

न साधयति यत्कर्म न तत्राहुरतिक्रमम् ॥ १५ ॥
तरसा बुद्धिपूर्वं वा निग्राह्या एव शत्रवः ।
पापैः सह न सन्दध्याद्राज्यं पुण्यं च कारयेत्॥ १६ ॥
शूराश्चार्याश्च सत्कार्या विद्वांसश्च युधिष्ठिर ।
गोमिनो धनिनश्चैव परिपाल्या विशेषतः ॥ १७ ॥
व्यवहारेषु धर्मेषु योक्तव्याश्च बहुश्रुताः ।
गुणयुक्तोपि नैकस्मिन् विश्वसेत विचक्षणः ॥ १८ ॥
अरक्षिता दुर्विनीतो मानीस्तब्धोऽभ्यसूयकः ।
एनसा युज्यते राजा दुर्दान्त इति चोच्यते ॥ १९ ॥
ये रक्षमाणा हीयन्ते दैवेनाभ्याहता नृप ।
तस्करैश्चापि हीयन्ते सर्वं तद्राजकिल्बिषम् ॥ २० ॥
सुमन्त्रिते सुनीते च सर्वतश्चोपपादिते ।
पौरुषे कर्मणि कृते नास्त्यधर्मो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

उपस्थित कार्यमें दैवी-संयोगसे किसी कर्मको करनेमें असमर्थ होजावे, तो ऐसा होनेसे उसे कार्य अतिक्रमकारी नहीं कहा जा सकता। बल बुद्धि वा कौशलसे शत्रुको पराजित करना उचित है; राज्यके बीच जिससे पाप कर्म न बढने पावे और सदा पुण्य कर्मोंका सोता बहता रहे; उस विषयमें यत्नशील होना उचित है। वीर पुरुष, पुण्यकर्म करनेवाले साधु, विद्वान, वैदिक कर्मोंके जाननेवाले ब्राह्मणों और धनी वैश्योंको विशेष यत्नके सहित पालन करना उचित है। व्यवहार और धर्मकार्योंमें बहुदर्शी पुरुषोंको नियुक्त करना उचित है, परन्तु अनेक गुणोंसे युक्त होनेपर भी एकही पुरुषका संपूर्ण रूपसे विश्वास करके कार्य करना उचित नहीं। (१३-१८)

जो राजा आशाके वशमें गर्वित, अभिमानी और विजयरहित होकर प्रजाका पालन नहीं करते, वे महाघोर पापमें फसके लोकसमाजमें अधर्मी कहके विख्यात होते हैं। जहां प्रजा यथारीतिसे रक्षित नहीं होती, दैवकी प्रतिकूलता अर्थात् राज्यमें अनावृष्टि आदि अनेक उपद्रवोंसे दुःखित तथा चोर डाकुओंसे पीडित होती है; उस स्थलमें संपूर्ण अनिष्टजनित पाप राजाको ही स्पर्श करता है। हे युधिष्ठिर! उत्तम मन्त्रणा और श्रेष्ठनीति अवलम्बन करके भली भांति विचारकर पुरुषार्थके सहित कार्य करनेसे कदापि अधर्मका संचार नहीं होता। अनुष्ठित कर्म सिद्ध भी हो

विच्छिद्यन्ते समारम्भाः सिद्ध्यन्ते चापि दैवताः ।
कृते पुरुषकारे तु नैनः स्पृशति पार्थिवम् ॥ २२ ॥
अत्र ते राजशार्दूल वर्तयिष्ये कथामिमाम् ।
यद्वृत्तं पूर्वराजर्षेर्हयग्रीवस्य पाण्डव ॥ २३ ॥
शत्रून्हत्वा हतस्याजौ शूरस्याक्लिष्टकर्मणः ।
असहायस्य संग्रामे निर्जितस्य युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
यत्कर्म वै निग्रहे शात्रवाणां योगश्चाग्र्यः पालने मानवानाम् ।
कृत्वा कर्म प्राप्य कीर्तिं स युद्धाद्वाजिग्रीवो मोदते स्वर्गलोके॥२५॥
संयुक्तात्मा समरेष्वाततायी शस्त्रैश्छिन्नो दस्युभिर्वध्यमानः ।
अश्वग्रीवः कर्मशीलो महात्मा संसिद्धार्थो मोदते स्वर्गलोके ॥ २६ ॥
धनुर्यूपो रशना ज्या शरः स्रुक्स्रुवः खड्गो रुधिरं यत्र चाज्यम् ।
रथो वेदी कामजो युद्धमग्निश्चातुर्होत्रं चतुरो वाजिमुख्याः ॥ २७ ॥
हुत्वा तस्मिन्यज्ञवह्नावथारीन्पापान्मुक्तो राजसिंहस्तरस्वी ।
प्राणान् हुत्वा चावभृथे रणे स वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥२८॥

सकते हैं और दैवकी प्रतिकूलतासे वे सब निष्फल भी हो सकते हैं; परन्तु यज्ञमें त्रुटि न होनेसे राजाको पापग्रस्त नहीं होना पडता। (१९—२२)

महाराज! जैसे पहिले कठिन कर्मों-के करनेवाले राजर्षि हयग्रीवने संग्राम-भूमिमें अनगिनत शत्रुओंका वध करके अन्तमें सहायरहित होकर प्राणत्याग किया था, उसे मैं तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं, सुनो! राजा हयग्रीव बहुतसे सत्कार्योंको करके अन्तमें युद्धभूमिमें प्राणत्याग कर उत्तम कीर्त्ति प्राप्त कर स्वर्गलोकमें सदा सुखभोग कर रहे हैं; अधिक क्या कहूं, जिसके किये हुए संपूर्ण कर्मोंको जाननेसेही प्रजा पालन और शत्रुओंके पराजित करनेके उत्तम उपाय मालूम हो सकते हैं? पुण्य कर्मोंके प्रभावसे सिद्ध मनोरथ महात्मा हयग्रीव कालक्रमसे डाकुओंके चढ आनेसे शस्त्र ग्रहणकर महाघोर युद्ध करके उनके शस्त्रोंकी चोट से क्षतविक्षत हो कर शरीर त्यागके स्वर्गवासके सुखको भोग रहे हैं। (२३—२६)

राजसिंह तपस्वी हयग्रीव उस पुरुष-रूपी यज्ञकी अग्निमें अनगिनती शत्रु-ओंकी आहुति देके, पापरहित होकर, अन्तमें अपना प्राण होमकर यज्ञ समाप्त करके देवलोकमें सुख भोग रहे हैं; उस यज्ञमें धनुषही यूप, रोदा यूपवेष्टन, बाण स्रुक; तलवार स्रुवा, देहसे झरता

राष्ट्रं रक्षन्बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वांल्लोकान् व्याप्य कीर्त्या मनस्वी वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥२९॥
दैवीं सिद्धिं मानुषीं दण्डनीतिं योगन्यासैः पालयित्वा महीं च ।
तस्माद्राजा धर्मशीलो महात्मा वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३० ॥
विद्वांस्त्यागी श्रद्दधानः कृतज्ञस्त्यक्त्वा लोकं मानुषं कर्म कृत्वा ।
मेधाविनां विदुषां संमतानां तनुत्यजां लोकमाक्रम्य राजा ॥ ३१ ॥
सम्यग्वेदान् प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राज्यं पालयित्वा महात्मा ।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे वाजिग्रीवो मोदते देवलोके ॥ ३२ ॥
जित्वा संग्रामान्पालयित्वा प्रजाश्च सोमं पीत्वा तर्पयित्वा द्विजाग्र्यान् ।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणे मोदते देवलोके ॥ ३३ ॥
वृत्तं यस्य श्लाघनीयं मनुष्याः सन्तो विद्वांसोऽर्हयन्त्यर्हणीयम् ।
स्वर्गं जित्वा वीरलोकानवाप्य सिद्धिं प्राप्तः पुण्यकीर्तिर्महात्मा ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये चतुर्विंशतितमोऽध्यायः ॥ २४ ॥ [७२६]

हुआ रुधिर ही घृत स्वरूप, रथही वेदी, युद्धमूलक क्रोध ही अग्नि और रथके चारों घोडेही चातुर्होत्रस्वरूप थे। उस महात्मा यज्ञ करनेवाले राजाने उत्तम नीति और बुद्धिकौशलसे राज्यको पालन कर संपूर्ण लोकोंमें कीर्त्ति स्थापित करके अन्तमें प्राणत्याग किया था। उन्होंने विषयासक्तिको त्याग और योग प्रभावसे दैवी और मानुषी सिद्धि प्राप्त करके दण्डनीति अवलम्बन करके पृथ्वी पालन किया था; और यथारीतिसे सब वेद शास्त्रोंको पढके चारों वर्णकी प्रजा यथा योग्य धर्मके कार्योंमें स्थापित किया था; वह श्रद्धा और कृतज्ञताके सहित कर्मोंका अनुष्ठान करके ज्ञानके प्रभावसे मेधावी तत्वज्ञ पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य श्रेष्ठलोकमें गमन करके सुख भोग रहे हैं। राज्य करनेके समयमें उन्होंने अनेकवार संग्राममें जय प्राप्त किया था, यज्ञमें सोमरस पान, उत्तम ब्राह्मणोंकी तृप्ति और युक्तिबलसे दण्ड धारण करके प्रजाको पालन किया था। विद्वान् पुरुष आजतक जिनके प्रशंसनीय चरित्रोंकी अत्यन्त प्रशंसा किया करते हैं, वह महात्मा राजा निज कीर्त्ति तथा पुण्यके प्रभावसे सिद्धि प्राप्त और स्वर्गलोकमें गमन करके वहां पर वीर पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य सुख भोग कर रहे हैं। (२५-३४) [२७६]

शांतिपर्वमें चोवीस अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच- द्वैपायनवचः श्रुत्वा कुपिते च धनञ्जये।
व्यासमामन्त्र्य कौन्तेयः प्रत्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच- न पार्थिवमिदं राज्यं न भोगाश्च पृथग्विधाः।
प्रीणयन्ति मनो मेऽद्य शोको मां रुन्धयत्ययम् ॥ २ ॥
श्रुत्वा वीरविहीनानामपुत्राणां च योषिताम्।
परिदेवयमानानां शान्तिं नोपलभे मुने ॥ ३ ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं व्यासो योगविदां वरः।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञो धर्मज्ञो वेदपारगः ॥ ४ ॥
व्यास उवाच—न कर्मणा लभ्यते चेज्यया वा नाप्यास्ति दाता पुरुषस्य कश्चित्।
पर्याययोगाद्विहितं विधात्रा कालेन सर्वं लभते मनुष्यः ॥ ५ ॥
न बुद्धिशास्त्राध्ययनेन शक्यं प्राप्तुं विशेषं मनुजैरकाले।
मूर्खोऽपि चाप्नोति कदाचिदर्थान्कालो हि कार्यं प्रतिनिर्विशेषः॥६॥
नाभूतिकालेषु फलं ददन्ति शिल्पानि मन्त्राश्च तथौषधानि।

शान्तिपर्वमें पच्चीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मराज युधिष्ठिर महर्षि द्वैपायन मुनिके वचनको सुनकर, तथा अर्जुनको कुपित देखके व्यासदेवमुनिसे बोले, हे महर्षि! मेरा चित्त इस समय शोकसे अत्यन्तही दुःखित हो रहा है, इससे इस संपूर्ण पृथ्वीके राज्य और अनेक भांतिके भोग्य वस्तुओंको प्राप्त करनेसे भी मुझे किसी भांति तृप्ति नहीं होती है। वीर पति और पुत्रोंसे रहित स्त्रियोंके विलापको सुनकर मेरे चित्तमें किसी प्रकारसे भी शान्ति प्राप्त नहीं होती है। (१—३)

राजा युधिष्ठिरके ऐसे वचनको सुनकर योगियोंमें अग्रगण्य, धर्मज्ञानसे युक्त संपूर्ण वेदोंके जाननेवाले महा बुद्धिमान वेदव्यास मुनि उनसे बोले, महाराज! कोई पुरुष कर्म वा यज्ञकार्योंसे कुछ भी प्राप्त नहीं कर सक्ते और और न कोई पुरुष किसीको दानकर सक्ते हैं; विधाताही समयके अनुसार सब पुरुषोंके प्राप्तिका विधान करता है; और उस विधाताके नियत किये हुए समयपरही मनुष्य समस्त वस्तुओंको पा सकते हैं। समय उपस्थित न होनेसे विद्या वा बुद्धिके प्रभावसे कोई धन लाभ करनेमें समर्थ नहीं होसकता और समयके अनुसार मूर्ख पुरुषभी धन प्राप्तकर सकता है; इससे संपूर्ण कार्योंके विषयमें कालको ही निरपेक्ष समझिये, अर्थात् कालसमयानुसार मूर्ख और पण्डितको समान रूपसे फल प्रदान करता है। जब पुरुषों

तान्येव कालेन समाहितानि सिद्ध्यन्ति वर्धन्ति च भूतिकाले॥७॥
कालेन शीघ्राः प्रवहन्ति वाताः कालेन वृष्टिर्जलदानुपैति।
कालेन पद्मोत्पलवज्जलं च कालेन पुष्यन्ति वनेषु वृक्षाः ॥ ८ ॥
कालेन कृष्णाश्च सिताश्च रात्र्यः कालेन चन्द्रः परिपूर्णबिम्बः।
नाकालतः पुष्पफलं द्रुमाणां नाकालवेगाः सरितो वहन्ति ॥ ९ ॥
नाकालमत्ताः खगपन्नगाश्च मृगद्विपाः शैलमृगाश्च लोके।
नाकालतः स्त्रीषु भवन्ति गर्भा नायान्त्यकाले शिशिरोष्णवर्षाः॥१०॥
नाकालतो म्रियते जायते वा नाकालतो व्याहरते च बालः।
नाकालतो यौवनमभ्युपैति नाकालतो रोहति बीजमुप्तम् ॥ ११ ॥
नाकालतो भानुरुपैति योगं नाकालतोऽस्तं गिरिमभ्युपैति।
नाकालतो वर्धते हीयते च चन्द्रः समुद्रोऽपि महोर्मिमाली॥ १२॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।

के दुःखका समय रहता है, तब तक विज्ञान, मन्त्र औषधि आदि कोई वस्तु भी फल प्रदान करनेमें समर्थ नहीं होती; और जब अभ्युदयका समय आता है, तब ये ही सब मन्त्र, औषधि आदि गुणकारी होके सिद्धिप्रद होती हैं। कालके प्रभावसे वायु प्रचण्ड वेगसे बहता है, बादल जलकी वर्षा करते, तालाब कमलों तथा नीलपद्म आदि पुष्पोंसे परिपूर्ण होते और वृक्षादिक फल फूलों-से युक्त होते हैं। इसी भांति कालके प्रभावसे कभी चन्द्रबिंब सोलह कला-से पूर्ण होता, कभी रात्रि महाघोर अन्धकारसे युक्त और कभी निर्मल ज्योतिसे विभूषित होती है, महाराज! बिना समय पहुंचे वृक्षादिक फूलने फलनेमें असमर्थ होते हैं, नदियां प्रबल वेगसे बहनेमें समर्थ नहीं होतीं, हाथी मृग आदि पशु सर्प तथा पक्षी बिना समय पहुंचे संयोगकी अभिलाषा नहीं करते। इसी भांति स्त्रियोंके गर्भ, शरद्-वसन्त आदि ऋतुओंका समागम, जीवोंके जन्म और मृत्यु, बालकोंके मुंहसे पहिले पहल वचन निकलना, युवा अवस्थाका आगमन, बोए हुए बीजके अंकुरे, मरीचि माली सूर्यका उदय और अस्त होना, शीत किरणधारी चन्द्रमाकी कला और तरङ्गमालासे युक्त समुद्रके तरङ्गों-की घटती बढती बिना समय पहुंचे कदापि नहीं होसकती। (४-१२)

महाराज! राजा सेनजित्ने दुःखित होकर जो वचन कहा था, आजतक सब कोई उस गाथा को वर्णन किया करते हैं; मैं उस ही पुराने इतिहासको तुम्हारे

गीतं राज्ञा सेनजिता दुःखार्तेन युधिष्ठिर ॥ १३ ॥
सर्वानेवैष पर्यायो मर्त्यान् स्पृशति दुःसहः ।
कालेन परिपक्वा हि म्रियन्ते सर्वपार्थिवाः ॥ १४ ॥
घ्नन्ति चान्यान्नरान् राजंस्तानप्यन्ये तथा नराः ।
संज्ञैषा लौकिकी राजन्न हिनस्ति न हन्यते ॥ १५ ॥
हन्तीति मन्यते कश्चिन्न हन्तीत्यपि चापरः ।
स्वभावतस्तु नियतौ भूतानां प्रभवाप्ययौ ॥ १६ ॥
नष्टे धने वा दारे वा पुत्रे पितरि वा मृते ।
अहो दुःखमिति ध्यायन्दुःखस्यापचितिं चरेत् ॥१७॥
स किं शोचसि मूढः सन् शोच्यान् किमनुशोचसि ।
पस्य दुःखेषु दुःखानि भयेषु च भयान्यपि ॥ १८ ॥
आत्माऽपि चायं न मम सर्वाऽपि पृथिवी मम ।
यथा मम तथाऽन्येषामिति पश्यन्न मुह्यति ॥ १९ ॥

समीप वर्णन करता हूं, सुनो ! यह दुःसह काल समयानुसार समस्त जीवोंको ग्रहण करता हैं, पृथ्वीको संपूर्ण वस्तु कालके प्रभावसे अपने समय पर नष्ट होजाती है । एक पुरुप किसी पुरुपका वध करता हैं, और कालक्रमसे वह भी दूसरेके हाथसे मारा जाता हैं, यथार्थमें कोई किसीको नहीं मारता और न कोई किसीके मारनेसे मरता हैं, तब कोई समझते हैं, कि " अमुक पुरुपने अमुकका वध किया, " और कितनेही बुद्धिमान पुरुप ऐसा समझते हैं, कि इस जगत्में कोई किसीका वध करनेवाला नहीं है; क्यों कि स्वभाव ही प्राणियोंके जन्म और मृत्युके विषयमें कारण है । (१३—१६)

मूर्ख लोग धनक्षय होने तथा पिता माता वा पुत्र स्त्री आदिकी मृत्यु होने-पर " अहो ! कैसा दुःख है ? हाय क्या हुआ ? " ऐसा ही समझके बीते हुए दुःखोंको केवल पुष्ट करते रहते हैं; इससे तुम क्यों मरण-धर्मशील कौरव और पाञ्चाल आदिक युद्धमें मरे हुए पुरुषोंके निमित्त शोक कर रहे हो ? वह तू दुःखितोंको और क्यों दुःख दे रहे हो ? विचार कर देखो, कि भय और शोककी जितनी बार आलोचना की जावे उतने ही बार उसकी अधिक बढती होगी, " इस शरीर वा पृथ्वीमें जो कुछ वस्तु है, उसमें कुछ भी मेरा नहीं है; अथवा इसमें जैसा मुझे अधिकार है, वैसाही दूसरेको भी है "—पण्डित

शोकस्थानसहस्राणि हर्षस्थानशतानि च।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् ॥ २० ॥
एवमेतानि कालेन प्रियद्वेष्याणि भागशः।
जीवेषु परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च ॥ २१ ॥
दुःखमेवास्ति न सुखं तस्मात्तदुपलभ्यते।
तृष्णार्तिप्रभवं दुःखं दुःखार्तिप्रभवं सुखम् ॥ २२ ॥
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्।
न नित्यं लभते दुःखं न नित्यं लभते सुखम् ॥ २३ ॥
सुखमेव हि दुःखान्तं कदाचिद्दुःखतः सुखम्।
तस्मादेतद् द्वयं जह्याच्च इच्छेच्छाश्वतं सुखम्॥ २४ ॥
सुखान्तप्रभवं दुःखं दुःखान्तप्रभवं सुखम्।
यन्निमित्तो भवेच्छोकस्तापो वा दुःखमूर्छितः।
आयासो वाऽपि यन्मूलस्तदेकाङ्गमपि त्यजेत्॥ २५ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं प्रियं वा यदि वाऽप्रियम्।

लोग ज्ञानसे इसी भांति विचार करके किसी वस्तुमें मोहित नहीं होते। इस पृथ्वीपर मूढ पुरुषही सैकडों शोक और सहस्रों भांतिके हर्ष आदि विषयोंमें मोहित होते हैं; परन्तु पण्डितोंको ये हर्ष शोकादि कदापि मोहित नहीं कर सकते। ये सब हर्ष आदिके विषय समय के अनुसार कभी प्रिय, कभी अप्रिय रूपसे मालूम होते हैं, इसी भांति वेही कभी सुख कभी दुःखरूपको धारण करके संपूर्ण जीवलोकोंमें भ्रमण किया करते हैं। मूढ पुरुषोंको आशाभङ्ग होनेसे ही दुःख और अभिलषित वस्तु मिलनेसे सुख प्राप्त होता है; परन्तु यथार्थमें यह संसार केवल दुःखकी हीका स्थान है, इसमें सुख कुछ भी नहीं है; इस कारण प्रायः दुःखकी ही अधिकता दीख पडती है। (१६-२२)

संसारमें आसक्त रहने वाले जीवोंको सुखके अनन्तर दुःख और दुःखके अनन्तर सुख प्राप्त होता है, वे कदापि सदाके वास्ते सुख वा दुःखके भोगी नहीं होते। इसी भांति कभी सुख कभी दुःख अवश्य ही प्राप्त होता रहता है; इससे जो पुरुष नित्य सुखकी इच्छा करते हैं, उन्हें इस अनित्य सुख तथा दुःख दोनोंको ही त्यागना उचित है। जिसके कारणसे दुःख जनित शोक और सन्ताप आदि अनेक क्लेश उपस्थित होते हैं; उसके एक अंगको भी अन्तःकरणमें

प्राप्तं प्राप्तमुपासीत हृदयेनापराजितः ॥ २६ ॥
ईषदप्यङ्ग दाराणां पुत्राणामाचरन्प्रियम्।
ततो ज्ञास्यसि कः कस्य केन वा कथमेव च ॥ २७ ॥
ये च मूढतमा लोके ये च बुद्धेः परं गताः।
त एव सुखमेधन्ते मध्यमः क्लिश्यते जनः ॥ २८ ॥
इत्यब्रवीन्महाप्राज्ञो युधिष्ठिर स सेनजित्।
परावरज्ञो लोकस्य धर्मवित्सुखदुःखवित् ॥ २९ ॥
येन दुःखेन यो दुःखी न स जातु सुखी भवेत्।
दुःखानां हि क्षयो नास्ति जायते ह्यपरात्परम्॥ ३० ॥
सुखं च दुःखं च भवाभवौ च लाभालाभौ मरणं जीवितं च।
पर्यायतः सर्वमवाप्नुवन्ति तस्माद्धीरो नैव हृष्येन्न शोचेत् ॥ ३१ ॥
दीक्षां राज्ञः संयुगे युद्धमाहुर्योगं राज्ये दण्डनीत्यां च सम्यक्।
वित्तत्यागो दक्षिणानां च यज्ञे सम्यग्दानं पावनानीति विद्यात् ॥ ३२ ॥

रहने देना योग्य नहीं है। महाराज! सुख, दुःख, प्रिय वा अप्रिय, जिस समयमें जो उपस्थित होवे, धीरज युक्त चित्तसे उसे भोगना ही उचित है। हे सौम्य! स्त्री पुत्र आदि स्वजनोंके प्रिय-कार्य साधनमें तनिक त्रुटि करनेसे मालूम हो सकता है, कि इस संसारके बीच कौन किस कारणसे किस भांति किसीका आत्मीय बान्धव हुआ है! इस पृथ्वीपर जो लोग अत्यन्त ही मूढ हैं, और जिन्होंने परमात्मज्ञान प्राप्त किया है, वे दोनों संप्रदायके पुरुष ही सुखपूर्वक समयको व्यतीत करते हैं; मध्यवर्ती अर्थात् अर्द्धज्ञानी पुरुष ही नाना भांतिके क्लेशोंसे क्लेशित होते हैं। (२३—२८)

हे राजन्! धर्मसुख और दुःखके कारणोंको जाननेवाले पर और अपर विषयोंके ज्ञाता महाबुद्धिमान राजा सेनजित्‌ने ऐसा ही वचन कहा था। जो पुरुष सदा पराये दुःखसे दुःखी होता है, वह कभी भी सुख प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकता। दुःखका कभी भी नाश नहीं होता, पर्याय क्रमसे दुःख सुख, संपत्ति, विपत्ति, हानि, लाभ, जन्म और मृत्यु संपूर्ण जीवोंको ही प्राप्त होती है; इससे पण्डित लोग उसमें शोकित वा आनन्दित नहीं होते। (२९—३१)

पण्डित लोग राजाओंके निमित्त युद्ध ही यज्ञ, दण्डनीतिकी आलोचनाको ही योग, यज्ञ आदि कर्मोंमें धन दानकी ही

रक्षन् राज्यं बुद्धिपूर्वं नयेन संत्यक्तात्मा यज्ञशीलो महात्मा ।
सर्वान् लोकान् धर्मदृष्ट्या चरंश्चाप्यूर्ध्वं देहान्मोदते देवलोके ॥३३॥
जित्वा सङ्ग्रामान्पालयित्वा च राष्ट्रं सोमं पीत्वा वर्धयित्वा प्रजाश्च ।
युक्त्या दण्डं धारयित्वा प्रजानां युद्धे क्षीणो मोदते देवलोके ॥३४॥
सम्यग्वेदान्प्राप्य शास्त्राण्यधीत्य सम्यग्राज्यं पालयित्वा च राजा ।
चातुर्वर्ण्यं स्थापयित्वा स्वधर्मे पूतात्मा वै मोदते देवलोके॥ ३५ ॥
यस्य वृत्तं नमस्यन्ति स्वर्गस्थस्यापि मानवाः ।
पौरजानपदामात्याः स राजा राजसत्तमः ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनजिदुपाख्याने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥ [७६२]

वैशम्पायन उवाच– अस्मिन्नेव प्रकरणे धनञ्जयमुदारधीः ।
अभिनीततरं वाक्यमित्युवाच युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
यदेतन्मन्यसे पार्थ न ज्यायोऽस्ति धनादिति ।
न स्वर्गो न सुखं नार्थो निर्धनस्येति तन्मृषा ॥ २ ॥

संन्यास कहके वर्णन करते हैं; अर्थात् समझना चाहिये, कि इन्हीं संपूर्ण कार्योंसे उनकी पवित्रता होती है। जो यज्ञ करनेवाले, महात्मा राजा बुद्धिके अनुसार राज्यकी रक्षा, समस्त प्राणियोंके ऊपर समदृष्टि, युद्धमें जयलाभ, यज्ञमें सोमरस पान, युक्तिके सहित दण्ड प्रयोग, यथा रीतिसे वेद और शास्त्रोंको पढना, चारों वर्णकी प्रजाको यथा रीतिसे स्वधर्ममें स्थापित करना इत्यादि कर्मोंको करके प्रजाके सुख समृद्धिकी उन्नति करते हुए अन्त समयमें युद्धभूमिके बीच शरीरत्याग करते हैं, वे अवश्य ही देवताओंके सङ्ग मिलके स्वर्गलोकमें परम सुख भोग करते हैं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, जिस राजाके परलोक गमन करनेके अनन्तर पुर तथा जनपदवासी समस्त प्रजा, और राज्यके सेवक लोग उसके चरित्रोंकी प्रशंसा किया करते हैं; उसे राजश्रेष्ठ समझना चाहिये। (३०–३६)

शान्तिपर्वमें पच्चीस अध्याय समाप्त।७६२

शान्तिपर्वमें छब्बीस अध्याय।

श्रीवैशंपायन मुनि बोले, हे महाराज जनमेजय! उस समय उदारबुद्धिवाले राजा युधिष्ठिर अर्जुनसे यह युक्तिपूरित वचन बोले, हे अर्जुन! तुम जो ऐसा समझते हो, कि धनसे बढके कुछ भी श्रेष्ठ नहीं है, और निर्द्धन पुरुषोंको स्वर्ग, सुख तथा लाभ नहीं होसकता,

स्वाध्याययज्ञसंसिद्धा दृश्यन्ते बहवो जनाः।
तपोरताश्च मुनयो येषां लोकाः सनातनाः ॥ ३ ॥
ऋषीणां समयं शश्वद्ये रक्षन्ति धनञ्जय।
आश्रिताः सर्वधर्मज्ञा देवास्तान्ब्राह्मणान्विदुः ॥ ४ ॥
स्वाध्यायनिष्ठान् हि ऋषीन् ज्ञाननिष्ठांस्तथाऽपरान्।
बुद्धयेथाः संततं चापि धर्मनिष्ठान् धनञ्जय ॥ ५ ॥
ज्ञाननिष्ठेषु कार्याणि प्रतिष्ठाप्यानि पाण्डव।
वैखानसानां वचनं यथा नो विदितं प्रभो ॥ ६ ॥
अजाश्च पृश्नयश्चैव सिकताश्चैव भारत।
अरुणाः केतवश्चैव स्वाध्यायेन दिवं गताः ॥ ७ ॥
अवाप्यैतानि कर्माणि वेदोक्तानि धनञ्जय।
दानमध्ययनं यज्ञो निग्रहश्चैव दुर्ग्रहः ॥ ८ ॥
दक्षिणेन च पन्थानमर्यम्णो ये दिवं गताः।
एतान् क्रियावतां लोकानुक्तवान्पूर्वमप्यहम् ॥ ९ ॥
उत्तरेण तु पन्थानं नियमाद्यं प्रपश्यसि।

यह तुम्हारी भ्रांति मात्र है। इस पृथ्वी पर अनेक मुनि तपस्याके प्रभावसे ही सनातन स्वर्गलोकमें गये हैं और बहुतेरे पुरुषोंको केवल स्वाध्यायरूप यज्ञसेही सिद्धि प्राप्त होती देखी गई है। जो लोग ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित और सदा स्वाध्यायमें रत होके सब धर्मोंके जानने वाले होते हैं; देवता लोग उन्हें ही ब्राह्मण समझते हैं। (१—४)

हे अर्जुन ! तुम स्वाध्याय-निष्ठ तथा ज्ञाननिष्ठ ऋषियोंको यथार्थ धर्मात्मा समझो और ज्ञाननिष्ठ पुरुषोंके उपदेशके अनुसार ही समस्त कार्योंको करना उचित है। वैखानस ऋषियोंका विषय भी इस प्रकारसे सुना गया है, कि अज, पृश्नि, सिकत, अरुण और केतु आदि वानप्रस्थ आश्रमी ऋषियोंने केवल स्वाध्यायके प्रभावसे ही स्वर्गलोकमें गमन किया है; जो लोग वेदमें कही हुई रीतिके अनुसार यज्ञ, दान, अध्ययन और कठिन इन्द्रिय-निग्रह आदि कार्योंके अनुष्ठानमें रत रहते हैं, वे सूर्यके दक्षिण मार्गके सहारे स्वर्गलोकमें गमन करते हैं; कर्मपरायण पुरुष की ऐसी ही गति वर्णित है, इसे मैंने पहिले ही तुमसे कहा है; और जिसे उत्तर पथ समझते हो; उसे अवलम्बन करके योगी लोग नियम आदि योगके

एते यागवतां लोका भान्ति पार्थ सनातनाः ॥ १० ॥
तत्रोत्तरां गतिं पार्थ प्रशंसन्ति पुराविदः ।
सन्तोषो वै स्वर्गतमः सन्तोषः परमं सुखम् ॥ ११ ॥
तुष्टेर्न किञ्चित्परमं सा सम्यक् प्रतितिष्ठति ।
विनीतक्रोधहर्षस्य सततं सिद्धिरुत्तमा ॥ १२ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीमां गाथां गीतां ययातिना ।
योऽभिप्रेत्याहरेत्कामान् कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः॥ १३ ॥
यदा चायं न बिभेति यदा चास्मान्न बिभ्यति ।
यदा नेच्छति न द्वेष्टि ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १४ ॥
यदा न भावं कुरुते सर्वभूतेषु पापकम् ।
कर्मणा मनसा वाचा ब्रह्म संपद्यते तदा ॥ १५ ॥
विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ।
तदाऽऽत्मज्योतिषः साधोर्निर्वाणमुपपद्यते ॥ १६ ॥
इदं तु शृणु मे पार्थ ब्रुवतः संयतेन्द्रियः ।
धर्ममन्ये वृत्तमन्ये धनमीहन्ति चापरे ॥ १७ ॥

प्रभावसे उस प्रकाशमय सनातन लोकमें गमन करते हैं; इस कारण पहिले समय के आचार्योंने उत्तर पथकी ही अधिक प्रशंसा किया करते हैं। सन्तोषसे ही पुरुषोंको स्वर्ग और परम सुख प्राप्त होते हैं, सन्तोषसे बढके दूसरी कुछ भी वस्तु श्रेष्ठ नहीं है; क्रोध हर्षसे रहित योगियों के निमित्त सन्तोष ही परम प्रतिष्ठा और उत्तम सिद्धिस्वरूप है। (५-१२)

इस विषयमें राजर्षि ययातिका कहा हुआ एक प्राचीन इतिहास है, श्रवण करो! उसके सुननेसे संपूर्ण वासना कूर्मशुण्डकी भांति भीतर ही लीन हो जाती है। जब योगी पुरुष इस जगतके बीच किसी जीवसे भयभीत नहीं होते और न उनसे ही कोई प्राणी भय करते हैं, तथा जब कि उन्हें किसी वस्तुमें भी इच्छा द्वेष नहीं उत्पन्न होता, तभी जानना चाहिये, कि उन्हें ब्रह्मप्राप्ति होगी। और जब वचन, मन तथा कार्य से प्राणीमात्रके अनिष्ट चिन्तामें प्रवृत्ति नहीं होते तबही वे निश्चय ब्रह्मस्वरूप प्राप्त करनेमें समर्थ होते हैं। जिनके हृदयसे अभिमान और मोह नष्ट होजाता है, उन आसक्तिरहित आत्मज्ञानसे युक्त साधु पुरुषोंको निर्वाण मुक्ति प्राप्त होसकती है। हे धनंजय! मैं और एक कथा वर्णन करता हूं, चित्त लगाके

धनहेतोर्य ईहेत तस्यानीहा गरीयसी ।
भूयान्दोषो हि वित्तस्य यश्च धर्मस्तदाश्रयः ॥ १८ ॥
प्रत्यक्षमनुपश्यामि त्वमपि द्रष्टुमर्हसि ।
वर्जनं वर्जनीयानामीहमानेन दुष्करम् ॥ १९ ॥
ये वित्तमभिपद्यन्ते सम्यक्त्वं तेषु दुर्लभम् ।
द्रुह्यतः प्रैति तत्प्राहुः प्रतिकूलं यथातथम् ॥ २० ॥
यस्तु संभिन्नवृत्तः स्याद्वीतशोकभयो नरः ।
अल्पेन तृषितो द्रुह्यन् भ्रूणहत्यां न बुध्यते ॥ २१ ॥
दुष्यन्त्याददतो भृत्या नित्यं दस्युभयादिव ।
दुर्लभं च धनं प्राप्य भृशं दत्वाऽनुतप्यते ॥ २२ ॥
अधनः कस्य किं वाच्यो विमुक्तः सर्वशः सुखी ।

सुनो। इस जगत्के बीच कोई धर्म, कोई धन और कोई कोई सदाचारकी इच्छा करते हैं; परन्तु धन जांचके धर्मोपार्जन की इच्छा करनेकी अपेक्षा उसका अनुष्ठान न करना ही उत्तम है; क्यों कि अर्थसे ही अनेक भांतिके दोष उत्पन्न होते हैं; इससे धनसे सिद्ध होनेवाले यज्ञ आदिक कर्म भी उस कारणसे दोष युक्त होजाते हैं; इसमें कुछ सन्देह नहीं हैं। (१३—१८)

इस विषयको मैंने परीक्षा करके देखा है, तुम्हें भी परीक्षा करके देखना उचित है। जो धनकी अभिलाषा करने वाले हैं; उन्हें अवश्य त्याग करने योग्य विषयोंको त्याग करना भी अत्यन्त कठिन होजाता है। जो धनवान है, उनसे सत्कर्मोंका अनुष्ठान होना अत्यन्त दुर्लभ है, क्यों कि दूसरेके अनिष्टके विना धन कदापि नहीं मिल सकता और धन प्राप्त होनेसे चोर आदिकोंसे अनेक भांतिके भयकी संभावना रहती है। इसके अतिरिक्त दुराचारी डाकू लोग स्नेह और भयको त्यागके थोडेसे धनके वास्ते भी मनुष्योंके ऊपर अनेक भांतिके अत्याचार करते हैं; परन्तु उसमें जो उन लोगोंको ब्रह्महत्या आदि महाघोर पापमें लिप्त होना पडता है; उसे नहीं जान सकते। अर्थसे आसक्त पुरुषोंको यह धन इतना प्यारा है, कि वे लोग दुर्लभ धनको पाकर अपने सेवकों को उचित वेतन देकर भी ऐसे सन्तापित होते हैं, जैसे डाकुओंसे धन लुटे जानेपर सब कोई शोकित होते हैं। और वेतन न देनेसे भी सेवक लोग वैसे अपने लोभी स्वामीकी निन्दा करते हैं। और देखिये, निर्द्धन मनुष्यको कोई

देवस्वमुपगृह्यैव धनेन न सुखी भवेत् ॥ २३ ॥
तत्र गाथां यज्ञगीतां कीर्तयन्ति पुराविदः ।
त्रयीमुपाश्रितां लोके यज्ञसंस्तरकारिकाम् ॥ २४ ॥
यज्ञाय सृष्टानि धनानि धात्रा यज्ञाय सृष्टः पुरुषो रक्षिता च ।
तस्मात्सर्वं यज्ञ एवोपयोज्यं धनं न कामाय हितं प्रशस्तम्॥ २५ ॥
एतत्स्वार्थे च कौन्तेय धनं धनवतां वर ।
धाता ददाति मर्त्येभ्यो यज्ञार्थमिति विद्धि तत् ॥२६॥
तस्माद् बुद्ध्यन्ति पुरुषा न हि तत्कस्यचिद् ध्रुवम् ।
श्रद्दधानस्ततो लोको दद्याचैव यजेत च ॥ २७ ॥
लब्धस्य त्यागमित्याहुर्न भोगं न च संक्षयम् ।
तस्य किं सञ्चये नार्थः कार्ये ज्यायसि तिष्ठति ॥ २८ ॥
ये स्वधर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः ।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ २९ ॥

भी कुछ नहीं कह सकता, वह मुक्त पुरुष जो कुछ प्राप्त होवे; उसहीमें सन्तुष्ट होकर सब भांतिसे सुखी रहता है,परन्तु धनसे कोई भी सुख प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। (१९-२३)

प्राचीन विषयोंके जाननेवाले पण्डितों ने यज्ञ विषयको भी जिस प्रकार विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, उसे कहता हूं; सुनो। विधाताने यज्ञके निमित्त धन उत्पन्न किया, और धनकी रक्षा करनेके वास्ते पुरुषको उत्पन्न किया है; इससे संपूर्ण धन यज्ञमें ही समर्पण करना उत्तम है; भोग आदि अभिलाषा पूर्ण करनेमें धन व्यय करना उचित नहीं है। हे अर्जुन? विधाता यज्ञ करनेके ही वास्ते मनुष्योंको धन प्रदान करते हैं, सुखविलासके वास्ते नहीं; तुम भी धनशाली पुरुषोंमें अग्रणी हो, इससे तुम्हें इस विषयको जानना उचित है। इस कारण ज्ञानी पुरुषोंने यह निश्चय किया है, कि यह धन जगत्में किसी पुरुषका भी नहीं है; इससे श्रद्धावान होकर यज्ञ और दान करना ही कर्त्तव्य कर्म है। (२४-२७)

पण्डितोंने उपार्जित किये हुए धनको दान करनेहीके वास्ते उपदेश किया है; भोगकी अभिलाष तथा अपव्यय करनेके वास्ते उपदेश नहीं किया है। दान आदिक सत्कार्योंके वर्त्तमान रहते अर्थ-सञ्चयकी क्या आवश्यकता है? परन्तु जो अल्पबुद्धिवाले मनुष्य धर्मभ्रष्ट पुरुषोंको धन दान करते हैं, वे परलोकमें

अनर्हते यद्ददाति न ददाति यदर्हते।
अर्हानर्हापरिज्ञानाद्दानधर्मोऽपि दुष्करः ॥ ३० ॥
लब्धानामपि वित्तानां बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ३१ ॥ [७९३]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरवाक्ये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

युधिष्ठिर उवाच- अभिमन्यौ हते बाले द्रौपद्यास्तनयेषु च।
धृष्टद्युम्ने विराटे च द्रुपदे च महीपतौ ॥ १ ॥
वृषसेने च धर्मज्ञे धृष्टकेतौ तु पार्थिवे।
तथाऽन्येषु नरेन्द्रेषु नानादेश्येषु संयुगे ॥ २ ॥
न च मुञ्चति मां शोको ज्ञातिघातिनमातुरम्।
राज्यकामुकमत्युग्रं स्ववंशोच्छेदकारिणम् ॥ ३ ॥
यस्याङ्के क्रीडमानेन मया वै परिवर्तितम्।
स मया राज्यलुब्धेन गाङ्गेयो युधि पातितः ॥ ४ ॥
यदा ह्येनं विघूर्णन्तमपश्यं पार्थसायकैः।
कम्पमानं यथा वज्रैः प्रेक्ष्यमाणं शिखण्डिना ॥ ५ ॥

एक सौ वर्षपर्यन्त सदा पुरीष भोजन करते रहते हैं। कुपात्रको देना, पात्रको न देना, ऐसी घटना केवल योग्य और अयोग्यका ज्ञान न रहनेसे ही होती है; इससे दानधर्म भी अत्यन्त कठिन है। हे अर्जुन! धन प्राप्त होनेपर उसे कुपात्रको देना और सत्पात्रको न देना; इन दोनोंमें समझ रक्खो, कि महा उलट फेर होजाता है। (२७-३१) [७९३]

शांतिपर्वमें छवीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सताईस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, अभिमन्यु, द्रौपदीके पांचों पुत्र, राजा द्रुपद, विराट धृष्टद्युम्न, धर्मात्मा वसुषेण (कर्ण) राजा धृष्टकेतु और अनेक देशीय राजाओंके युद्धभूमिमें मारे जानेसे मैं अत्यन्त ही दुःखित हुआ हूं। हाय! मैंने राज्यलोभसे संपूर्ण स्वजनोंका नाश करके इकबारगी अपने वंशका नाश किया है। (१-३)

जिसने गोदीमें लेकर हम लोगोंको लाडप्यारसे पालन करके बडा किया था, मैंने राज्यलोभसे उस भीष्म पितामहका भी वध किया है। प्रकाशमान बाणोंसे परिपूर्ण सिंहके समान ऊंचे शरीरवाले पुरुषसिंह भीष्म पितामह

जीर्णसिंहमिव प्रांशुं नरसिंहं पितामहम् ।
कीर्यमाणं शरैर्दृष्ट्वा भृशं मे व्यथितं मनः ॥ ६ ॥
प्राङ्मुखं सीदमानं च रथे पररथारुजम् ।
घूर्णमानं यथा शैलं तदा मे कश्मलोऽभवत् ॥ ७ ॥
यः स बाणधनुष्पाणिर्योधयामास भार्गवम् ।
बहून्यहानि कौरव्यः कुरुक्षेत्रे महामृधे ॥ ८ ॥
समेतं पार्थिवं क्षत्रं वाराणस्यां नदीसुतः ।
कन्यार्थमाह्वयद्वीरो रथेनैकेन संयुगे ॥ ९ ॥
येन चोग्रायुधो राजा चक्रवर्ती दुरासदः।
दग्धश्चास्त्रप्रतापेन स मया युधि घातितः ॥ १० ॥
स्वयं मृत्युं रक्षमाणः पाञ्चाल्यं यः शिखण्डिनम् ।
न बाणैः पातयामास सोऽर्जुनेन निपातितः ॥ ११ ॥
यदैनं पतितं भूमावपश्यं रुधिरोक्षितम् ।
तदैवाविशदत्युग्रो ज्वरो मां मुनिसत्तम ॥ १२ ॥
येन संवर्धिता बाला येन स्म परिरक्षिताः ।

जिस समय शिखण्डीसे आक्रान्त होके अर्जुनके वज्रसमान बाणोंके प्रहारसे विचालित होकर इधर उधर घूमने लगे, उस समय उनकी वैसी दशा देखकर मेरे अन्तःकरणमें जैसा दुःख उत्पन्न हुआ था; उसका वर्णन नहीं होसकता। विपक्षीय रथियोंको पीडित करनेवाले भीष्म पितामह रथके बीच पीडित होकर घूर्णायमान पर्वतकी भांति जब रथसे पूर्व ओर पृथ्वीपर गिरे थे; उस समय मैं ज्ञानसे रहित हुआ था, जिन्होंने धनुष बाण ग्रहण करके महायुद्धमें भृगुनन्दन परशुरामके सङ्ग कुरुक्षेत्रमें कई दिनतक युद्ध किया था; काशीपुरीमें कन्याके वास्ते जिन्होंने अकेले ही वहांपर इकट्ठे हुए संपूर्ण क्षत्रियोंको युद्धके वास्ते आह्वान किया था; जिनके अस्त्र प्रतापरूपी अग्निमें राजचक्रवर्त्ती पराक्रमी उग्रायुध क्षण भरके बीच भस्म होगया; मैंने उस भीष्म पितामहका भी युद्धभूमिके बीच वध किया है, साक्षात् मृत्युरूपी जानके भी जिन्होंने शिखण्डीका वध नहीं किया, अर्जुनने वैसे महात्मा भीष्म पितामहका वध किया है। हाय! क्या ही दुःखका विषय है। हे मुनिसत्तम ! जबसे मैंने उनको रुधिरपूरित शरीरसे पृथ्वीपर गिरते देखा, उस समयसे अत्यन्त शोकित

स मया राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना।
अल्पकालस्य राजस्य कृते मूढेन घातितः ॥ १३ ॥
आचार्यश्च महेष्वासः सर्वपार्थिवपूजितः।
अभिगम्य रणे मिथ्या पापेनोक्तः सुतं प्रति ॥ १४ ॥
तन्मे दहति गात्राणि यन्मां गुरुरभाषत।
सत्यमाख्याहि राजंस्त्वं यदि जीवति मे सुतः॥ १५ ॥
सत्यमामर्षयन् विप्रो मयि तत्परिपृष्टवान्।
कुञ्जरं चान्तरं कृत्वा मिथ्योपचरितं मया ॥ १६ ॥
सुभृशं राज्यलुब्धेन पापेन गुरुघातिना।
सत्यकञ्चुकमुन्मुच्य मया स गुरुराहवे ॥ १७ ॥
अश्वत्थामा हत इति निरुक्तः कुञ्जरे हते।
काँल्लोकांस्तु गमिष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥१८॥
अघातयं च यत्कर्णं समरेष्वपलायिनम् ॥ १९ ॥
ज्येष्ठभ्रातरमत्युग्रं को मत्तः पापकृत्तमः।
अभिमन्युं च यद्बालं जातं सिंहमिवाद्रिषु ॥ २० ॥

होरहा हूं। जिन्होंने बालक अवस्थामें पालन पोषण करके हम लोगोंको बडा किया था; मैंने अस्थिर राज्य-लोभसे उनका वध किया है इससे मैं तो अत्यन्त ही मूढ और पापी हूं, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (४-१३)

इसके अतिरिक्त संपूर्ण राजाओं में पूजनीय, युद्धभूमिमें स्थित महाधनुर्धारी द्रोणाचार्यके समीप गमन करके "आपका पुत्र मारा गया" कहके जो मिथ्या वचन कहा था, उस मिथ्या वचन कहनेके पापसे मेरा संपूर्ण शरीर भस्म हुआ जाता है। गुरुने जब मुझसे ऐसा पूछा था, कि "हे राजन्! मेरा पुत्र जीवित है, वा नहीं, तुम सत्य कहो!' आचार्यने समझा था, कि युधिष्ठिर सत्य कहेगा। परन्तु मैं ऐसा पापी हूं, कि राज्य लोभके कारण उस समय सत्यको छिपाते हुए मनमें हाथीका नाम लेकर स्पष्ट स्वरसे "अश्वत्थामा मारे गये," ऐसा वचन कहके गुरुके सङ्ग मिथ्या व्यवहार किया है, उस फलसे न जाने किस लोकमें गमन करूंगा, उसे नहीं कह सकता। (१४-१८)

और भी देखिये, युद्धमें पीछे न हटनेवाले महा पराक्रमी जेठ भाई कर्णका भी मैंने वध किया है; इससे मुझसे बढके अधिक पापी और कौन है? मैं

प्रावेशयमहं लुब्धो वाहिनीं द्रोणपालिताम् ।
तदाप्रभृति बीभत्सुं न शक्नोमि निरीक्षितुम् ॥ २१ ॥
कृष्णं च पुण्डरीकाक्षं किल्बिषी भ्रूणहा यथा ।
द्रौपदीं चापि दुःखार्तां पञ्चपुत्रैर्विना कृताम् ॥ २२ ॥
शोचामि पृथिवीं हीनां पञ्चभिः पर्वतैरिव ।
सोऽहमागस्करः पापः पृथिवीनाशकारकः ॥ २३ ॥
आसीन एवमेवेदं शोषयिष्ये कलेवरम् ।
प्रायोपविष्टं जानीध्वमथ मां गुरुघातिनम् ॥ २४ ॥
जातिष्वन्यास्वपि यथा न भवेयं कुलान्तकृत् ।
न भोक्ष्ये न च पानीयमुपभोक्ष्ये कथञ्चन ॥ २५ ॥
शोषयिष्ये प्रियान्प्राणानिहस्थोऽहं तपोधनाः ।
यथेष्टं गम्यतां काममनुजाने प्रसाद्य वः ॥ २६ ॥
सर्वे मामनुजानीत त्यक्ष्यामीदं कलेवरम् ॥ २७ ॥
वैशम्पायन उवाच–तमेवंवादिनं पार्थं बन्धुशोकेन विह्वलम् ।
मैवमित्यब्रवीद् व्यासो निगृह्य मुनिसत्तमः ॥ २८ ॥

ऐसा लोभी हूं, कि विजयकी लालसासे सिंह पुत्रके समान पराक्रमी सुभद्रा पुत्र अभिमन्युको द्रोणाचार्यसे रक्षित चक्रव्यूहके बीच प्रवेश करनेकी अनुमति दी थी। हे महाऋषि ! अधिक क्या कहूं भ्रूणहत्या करनेवाले पापी की भांति उस समयसे मैं पुण्डरीकाक्ष कृष्ण और अर्जुनके मुखकी ओर अच्छी प्रकार देखनेमें भी समर्थ नहीं होता हूं। उसी भांति पञ्चपर्वतोंसे रहित पृथ्वीकी भांति पांच पुत्रोंसे हीन अत्यन्त दुःखित द्रौपदी देवीकी ओर देखनेसे भी मैं शोकसे अत्यन्तही कातर होजाता हूं। मैं पृथ्वीके संपूर्ण क्षत्रियों और गुरुजनोंका नाश करके अत्यन्त ही अपराधी हुआ हूं, इससे मैं इस स्थानमें प्रायोपवेशन अवलम्बन करके अपने शरीरको सुखा दूंगा, ऐसा होनेसे फिर मुझे किसी जातिमें जन्म नहीं लेना पडेगा। आजसे मैं खाने पीनेकी संपूर्ण वस्तुओंका त्याग करके यहां पर ही स्थित होके अपने प्रिय प्राणको त्याग करूंगा। हे तपस्वी श्रेष्ठ ! मैं आपसे विनय पूर्वक कहता हूं, कि आप मुझे शरीर त्यागनेकी आज्ञा देकर अपने अभिलषित स्थान पर गमन कीजिये। (१८–२७)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजा युधिष्ठिर बन्धु-बान्धवोंके वियोगसे

व्यास उवाच— अतिवेलं महाराज न शोकं कर्तुमर्हसि ।
पुनरुक्तं तु वक्ष्यामि दिष्टमेतदिति प्रभो ॥ २९ ॥
संयोगा विप्रयोगान्ता जातानां प्राणिनां ध्रुवम् ।
बुद्बुदा इव तोयेषु भवन्ति न भवन्ति च ॥ ३० ॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तं हि जीवितम् ॥ ३१ ॥
सुखं दुःखान्तमालस्यं दाक्ष्यं दुःखं सुखोदयम् ।
भूतिः श्रीर्ह्रीर्धृतिः कीर्तिर्दक्षे वसति नालसे ॥ ३२ ॥
नालं सुखाय सुहृदो नालं दुःखाय शत्रवः ।
न च प्रज्ञाऽलमर्थेभ्यो न सुखेभ्योऽप्यलं धनम् ॥ ३३ ॥
यथा सृष्टोऽसि कौन्तेय धात्रा कर्मसु तत्कुरु ।
अत एव हि सिद्धिस्ते नेशस्त्वं कर्मणां नृप ॥ ३४ ॥ [८२७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मपर्वणि व्यासवाक्ये सप्तविंशतितमोऽध्यायः ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच- ज्ञातिशोकाभितप्तस्य प्राणानभ्युत्सिसृक्षतः ।

अत्यन्त शोकित वा विह्वल होके विलाप करने लगे; तब ऋषिसत्तम व्यासदेव बोले, महाराज ! योग अवलम्बन करके प्राण त्याग मत करो, तुम्हें इस प्रकारसे शोकित होना उचित नहीं है; मैं फिर तुम्हें उत्तम उपदेश करता हूं, सुनो। जैसे पानीके बुलबुले पानीमेंही उत्पन्न होके कुछ समयके अनन्तर फिर उसहीमें लवलीन होजाते हैं, वैसे ही प्राणी मात्र-का पहिले संयोग और पीछे वियोग हुआ करता है। सञ्चित वस्तु अन्तमें नाशमान होती है, उन्नतिके अनन्तर अवनति होती रहती है, जन्मके अनन्तर मृत्यु होती है, सुखके बाद दुःख होता है; अधिक क्या कहूं, इस जगत्‌के बीच जितनी वस्तु उत्पन्न हुई हैं, वे सबही प्रगट होके पीछे नाशमान हो जाती हैं, परन्तु आलससे दुःख और कार्यमें रत रहनेसे ही पुरुषोंको सुख प्राप्त होता है। ऐश्वर्य, लक्ष्मी, लज्जा, कीर्त्ति और धृति आदि गुण आलसी मनुष्यमें कदापि नहीं रह सकते, वह सुहृदपुरुषोंको सुख और शत्रुओंको दुःख देनेमें भी समर्थ नहीं हो सक्ता, बुद्धिसे धन और धनसे सुख भी नहीं प्राप्त कर सकता। हे राजन्! विधाताने तुम्हें धर्म करनेके ही निमित्त उत्पन्न किया है, कर्म त्याग करनेमें तुम्हें अधिकार नहीं है; इससे धर्मके

ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य व्यासः शोकमपानुदत् ॥ १ ॥
व्यास उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अश्मगीतं नरव्याघ्र तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥
अश्मानं ब्राह्मणं प्राज्ञं वैदेहो जनको नृपः ।
संशयं परिपप्रच्छ दुःखशोकसमन्वितः ॥ ३ ॥
जनक उवाच— आगमे यदि वाऽपाये ज्ञातीनां द्रविणस्य च ।
नरेण प्रतिपत्तव्यं कल्याणं कथमिच्छता ॥ ४ ॥
अश्मोवाच— उत्पन्नमिममात्मानं नरस्यानन्तरं ततः ।
तानि तान्यनुवर्तन्ते दुःखानि न सुखानि च ॥ ५ ॥
तेषामन्यतरापत्तौ यद्यद्वैवोपपद्यते ।
तदस्य चेतनामाशु हरत्यभ्रमिवानिलः ॥ ६ ॥
अभिजातोऽस्मि सिद्धोऽस्मि नास्मि केवलमानुषः ।

अनुष्ठानमें प्रवृत्त होनेसे ही तुम्हें सिद्धी प्राप्त होगी। (२८–३४) [८२७]

शान्तिपर्वमें सताईस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अठाईस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डवोंमें जेठे राजा युधिष्ठिर स्वजनवियोग रूपी दुःखसे सन्तापित होकर प्राण त्याग करनेके अभिलाषी हुए; तब मुनिसत्तम व्यासदेव उनके शोकको दूर करनेमें प्रवृत्त होकर बोले, महाराज! अश्म गीत नाम एक प्राचीन इतिहास मैं वर्णन करता हूं, सुनिये। किसी समय विदेह–राज जनकने शोक दुःखसे अत्यन्त ही सन्तापित होके अश्म नामक महाबुद्धि-मान एक ब्राह्मणसे संशय निवारण कर-नेके निमित्त यह प्रश्न किया, हे ब्राह्मण! स्वजन और धनकी बढती तथा नाश होनेके समय कल्याणकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको कैसा कार्य करना उचित है। (१–४)

अश्म बोले, मनुष्यके उत्पन्न होते ही सुख दुःख आके उसके अनुगामी होते हैं। सुख दुःख दोनोंका प्राप्त होना सम्भव रहता है, परन्तु उन दोनोंमेंसे जिस समय एक की अधिकता होती है, तब जैसे वायु बादलोंको छिन्न भिन्न कर देता है, वैसे ही वह मनुष्यकी चैतन्य शक्तिको हर लेता है। अभ्यु-दयके समय लोग समझते हैं, कि, मैं साधारण मनुष्य नहीं हूं, मैं श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, जो इच्छा करूं उसही कार्यको कर सकता हूं, इन तीन प्रकारके अभिमानमें मतवाले होके इक बारगी हिताहित विवेकसे रहित होते

इत्येभिर्हेतुभिस्तस्य त्रिभिश्चित्तं प्रसिच्यते ॥ ७ ॥
संप्रसक्तमना भोगान् विसृज्य पितृसञ्चितान् ।
परिक्षीणः परस्वानामादानं साधु मन्यते ॥ ८ ॥
तमतिक्रान्तमर्यादमाददानमसाम्प्रतम् ।
प्रतिषेधन्ति राजानो लुब्धा मृगमिवेषुभिः ॥ ९ ॥
ये च विंशति वर्षा वा त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
परेण ते वर्षशतान्न भविष्यन्ति पार्थिव ॥ १० ॥
तेषां परमदुःखानां बुद्ध्या भैषज्यमाचरेत् ।
सर्वप्राणभृतां वृत्तं प्रेक्षमाणस्ततस्ततः ॥ ११ ॥
मानसानां पुनर्योनिर्दुःखानां चित्तविभ्रमः ।
अनिष्टोपनिपातो वा तृतीयं नोपपद्यते ॥ १२ ॥
एवमेतानि दुःखानि तानि तानीह मानवम् ।
विविधान्युपवर्तन्ते तथा संस्पर्शजान्यपि ॥ १३ ॥
जरामृत्यू हि भूतानां खादितारौ वृकाविव ।
बलिनां दुर्बलानां च ह्रस्वानां महतामपि ॥ १४ ॥
न कश्चिज्जात्वतिक्रामेज्जरामृत्यू हि मानवः ।

हैं; इससे विषयोंमें अत्यन्त ही आसक्त होके अपव्ययसे सम्पूर्ण पैतृक धनको नष्ट करके शीघ्र ही निर्द्धन होजाते हैं; उस समय पराया धन हरण करनेको भी वे लोग उत्तम कार्य समझते हैं। अनन्तर जैसे व्याध मृग आदि पशुओं-का वध करता है, वैसे ही राजा भी उन नियम उल्लंघन करनेवाले तथा पर धन हरनेवाले दुष्ट मनुष्योंको दण्ड देता है; परन्तु जो बीस तथा तीस वर्षकी अव-स्थामें इन दुष्कर्मोंसे विरत होजाते हैं, वे लोग प्रायः एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवित नहीं रह सकते । इससे राजाको सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतरी वृतान्त जानके दरिद्रता आदि दुःखोंसे पीडित प्रजाके क्लेशोंको बुद्धिकौशलसे दूर करनेका उपाय करना चाहिये। (४–११)

"चित्त-विभ्रम और अनिष्ट-विषय" इन दोनोंके सिवा मानसिक दुःख उत्पन्न होनेका तीसरा कारण कोई भी नहीं है, भोगादिकोंसे अथवा अन्य विषयोंसे चाहे किसी भांतिसे दुःख क्यों न होवें—सब इन्हीं दो कारणोंके अन्तर्गत हैं। इस जगत्के बीच बडे, छोटे निर्बल बलवान आदि सब प्राणि-योंको जरा मृत्यु व्याघ्रकी भांति आके

अपि सागरपर्यन्तां विजित्येमां वसुन्धराम् ॥ १५ ॥
सुखं वा यदि वा दुःखं भूतानां पर्युपस्थितम् ।
प्रारब्धमवशैः सर्वं परिहारो न विद्यते ॥ १६ ॥
पूर्वे वयसि मध्ये वाऽप्युत्तरे वा नराधिप ।
अवर्जनीयास्तेऽर्था वै काङ्क्षिता ये ततोऽन्यथा ॥१७॥
अप्रियैः सह संयोगो विप्रयोगश्च सुप्रियैः ।
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं विधानमनुवर्तते ॥ १८ ॥
प्रादुर्भावश्च भूतानां देहत्यागस्तथैव च ।
प्राप्तिर्व्यायामयोगश्च सर्वमेतत्प्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥
गन्धवर्णरसस्पर्शा निवर्तन्ते स्वभावतः ।
तथैव सुखदुःखानि विधानमनुवर्तते ॥ २० ॥
आसनं शयनं यानमुत्थानं पानभोजनम् ।
नियतं सर्वभूतानां कालेनैव भवत्युत ॥ २१ ॥
वैद्याश्चाप्यातुराः सन्ति बलवन्तश्च दुर्बलाः ।
श्रीमन्तश्चापरे षण्ढा विचित्रः कालपर्ययः ॥ २२ ॥

भक्षण करती है। जो पुरुष अपने पराक्रम के प्रभावसे समुद्रके सहित सम्पूर्ण पृथ्वीको जय कर सकते हैं, वे भी जरा मृत्युको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते। सुख दुःख उपस्थित होनेसे अभिमान रहित होकर उसे भोग करना ही उचित है, क्यों कि प्रारब्धके अनुसार जो कुछ उपस्थित होता है, वह अपरिहार्य अर्थात् अटल है। १२-१६)

हे महाराज! देखिये प्राणीमात्र ही अजर अमर होनेकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु उसके विपरीति जरा, मृत्यु, उपस्थित होके किसीको बाल्य, किसीको युवा और किसीको वृद्धावस्थामें ग्रहण करती है; मृत्युके हाथसे कोई भी मुक्त नहीं होसकता। प्राणियोंको जन्म, मृत्यु, हानि, लाभ, प्रियवस्तुओंका संयोग वियोग, सुख, दुःख आदिक प्रारब्धके अनुसार ही होते हैं। इससे जैसे रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि स्वभावसे ही प्रकट होके अन्तमें निवृत्त होजाते हैं; उस भांति जाना, उठना, खाना पीना, बैठना, सुख दुःख इत्यादि समयानुसार प्राणियोंको प्रारब्धसे ही उत्पन्न होते हैं; और समय पूरा होनेसे नहीं रहते। इस संसारमें वैद्य भी रोगी होते हैं, बलवान पुरुष निर्बल और धनवान मनुष्य निर्द्धन होजाते हैं; इससे कालकी

कुले जन्म तथा वीर्यमारोग्यं रूपमेव च ।
सौभाग्यमुपभोगश्च भवितव्येन लभ्यते ॥ २३ ॥
सन्ति पुत्राः सुबहवो दरिद्राणामनिच्छताम् ।
नास्ति पुत्रः समृद्धानां विचित्रं विधिचेष्टितम् ॥ २४ ॥
व्याधिरग्निर्जलं शस्त्रं बुभुक्षाश्वापदो विषम् ।
ज्वरश्च मरणं जन्तोरुच्चाच्चपतनं तथा ॥ २५ ॥
निर्माणे यस्य यद्दिष्टं तेन गच्छति सेतुना ।
दृश्यते नाप्यतिक्रामन्न निष्क्रान्तोऽथवा पुनः ॥
दृश्यते चाप्यतिक्रामन्न निग्राह्योऽथवा पुनः ॥ २६ ॥
दृश्यते हि युवैवेह विनश्यन्वसुमान्नरः ।
दरिद्रश्च परिक्लिष्टः शतवर्षो जरान्वितः ॥ २७ ॥
अकिञ्चनाश्च दृश्यन्ते पुरुषाश्चिरजीविनः ।
समृद्धे च कुले जाता विनश्यन्ति पतङ्गवत् ॥ २८ ॥
प्रायेण श्रीमतां लोके भोक्तुं शक्तिर्न विद्यते ।

गतिको अत्यन्त विचित्र जानना चाहिये । (१७-२२)

बडे कुलमें जन्म, वीर्य, निरोगता, रूप, सौभाग्य और उपभोग ये सब होतव्यताके अनुसार ही प्राप्त होते हैं । इस पृथ्वीपर इच्छा न रहनेसे भी दरिद्रोंको अनेक पुत्र उत्पन्न होते हैं; परन्तु समृद्धि युक्त पुरुषोंको प्रार्थना करनेपर भी एक पुत्र उत्पन्न नहीं होता; इससे दैवके आश्चर्यमय कार्योंको अवलोकन करो । (२३--२४)

जरा, व्याधि,अवनति, भूख, प्यास, जल, अग्नि और विष आदिसे जो कुछ आपदा दीख पडती है, वह प्राणियोंको प्रारब्ध तथा सुकृत दुष्कृत आदि कर्मोंके फलके अनुसारही प्राप्त होती है । इस जगत्के बीच कोई पुरुष पाप न करके भी दण्ड पाता है, और कोई महाघोर अत्याचारी होकर भी राजदण्डसे छुटकारा पाता है; इससे प्रारब्धको अवश्य ही स्वीकार करना पडता है । इस पृथ्वीपर धनवान पुरुषोंको युवावस्थामें ही मृत्युके मुखमें पतित होते, और दरिद्र पुरुषोंको अत्यन्त क्लेशके सहित जरायुक्त होकर भी एक सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहते देखा जाता है; इससे छोटे वंशमें जन्म लेकर भी दीर्घजीवी और श्रेष्ठ कुलमें उत्पन्न हुए पुरुषको भी पतङ्गकी भांति नष्ट होते देखा जाता है । इस संसारके बीच श्रीमान पुरुष

काष्ठान्यपि हि जीर्यन्ते दरिद्राणां च सर्वशः ॥ २९ ॥
अहमेतत्करोमीति मन्यते कालनोदितः।
यद्यदिष्टमसन्तोषाद्दुरात्मा पापमाचरेत् ॥ ३० ॥
मृगयाक्षाः स्त्रियः पानं प्रसङ्गा निन्दिता बुधैः।
दृश्यन्ते पुरुषाश्चात्र संप्रयुक्ता बहुश्रुताः ॥ ३१ ॥
इति कालेन सर्वार्थानीप्सितानीप्सितानिह।
स्पृशन्ति सर्वभूतानि निमित्तं नोपलभ्यते ॥ ३२ ॥
वायुमाकाशमग्निं च चन्द्रादित्यावहाःक्षये।
ज्योतींषि सरितः शैलान्कः करोति बिभर्ति च॥ ३३ ॥
शीतमुष्णं तथाऽमर्षं कालेन परिवर्तते।
एवमेव मनुष्याणां सुखंदुःखे नरर्षभ ॥ ३४ ॥
नौषधानि न मन्त्राश्च न होमा न पुनर्जपाः।
त्रायन्ते मृत्युनोपेतं जरया चापि मानवम् ॥ ३५ ॥

प्रायः ऐश्वर्य भोग करनेमें समर्थ नहीं होते, अर्थात् अल्पायु होते हैं; परन्तु दरिद्र पुरुष अत्यन्त निकृष्ट वृत्तिसे ही जीविका निर्वाह करनेमें समर्थ होते हैं, उस निमित्त वे लोग दीर्घजीवी होसकते हैं। (२५—२९)

दुष्टात्मा पुरुष निज सुखके वास्ते पापकार्योंका भी अनुष्ठान करते तथा कालप्रेरित होकर उसे ही प्रिय समझते हैं। मृगया, जूआ, स्त्रियोंमें आसक्ति, मद्यपान व्यर्थप्रलाप, इन कई एक विषयोंको पण्डितोंने अत्यन्त निन्दित कहके वर्णन किया है; परन्तु बहुतसे शास्त्र जाननेवाले पुरुषोंको भी यहां संपूर्ण विषयोंमें आसक्त होते देखा जाता है। ईप्सित वा अनीप्सित संपूर्ण विषय समयानुसार प्राणियोंको आक्रमण करते हैं; उसमें दूसरा कोई भी कारण नहीं मालूम होता। वायु, आकाश, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, दिन, रात, ज्योति वाले पदार्थ, नदी और पहाडोंको किसने उत्पन्न किया है; और कौन सबको धारण करता है। अतएव काल ही सबको धारण करता, और कालके प्रभाव से ही समस्त वस्तु उत्पन्न होती हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! इस भांति सर्दी, गर्मी, वर्षा और मनुष्योंके सुख दुःख कालके प्रभावसे ही प्राप्त होते, और समयानुसार फिर नष्ट होजाते हैं। (३०–३४)

जब मनुष्य जरा-मृत्युसे ग्रस्त होते हैं, उस समय औषधि, मन्त्र, जप, होम आदिक कोई भी उसके परित्राण करनेमें

यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महोदधौ ।
समेत्य च व्यपेयातां तद्वद्भूतसमागमः ॥ ३६ ॥
ये चैव पुरुषाः स्त्रीभिर्गीतवाद्यैरुपस्थिताः ।
ये चानाथाः परान्नादाः कालस्तेषु समक्रियः ॥ ३७ ॥
मातापितृसहस्राणि पुत्रदारशतानि च ।
संसारेष्वनुभूतानि कस्य ते कस्य वा वयम् ॥ ३८ ॥
नैवास्य कश्चिद्भविता नायं भवति कस्यचित् ।
पथि सङ्गतमेवेदं दारबन्धुसुहृज्जनैः ॥ ३९ ॥
क्वासं क्व च गमिष्यामि कोन्वहं किमिहास्थितः ।
कस्मात्किमनुशोचेयमित्येवं स्थापयेन्मनः ॥ ४० ॥
अनित्ये प्रियसंवासे संसारे चक्रवद्गतौ ।
पथि सङ्गतमेवैतद्भ्राता माता पिता सखा ॥ ४१ ॥
न दृष्टपूर्वं प्रत्यक्षं परलोकं विदुर्बुधाः ।

समर्थ नहीं होते । जैसे महासागरमें दो काष्ठके टुकडे दो ओरसे आके एक स्थानमें मिल जाते हैं; और समयके अनुसार फिर अलग अलग होजाते हैं; वैसे ही प्राणियोंका भी समयके अनुसार संयोग-वियोग होता रहता है । जो पुरुष उत्तम स्त्रियोंके बीचमें रहके गीत-वाद्य आदिक सुखोंको भोगते रहते हैं, और जो पराये अन्नके आसरे जीवन धारण करनेवाले अनाथ पुरुष हैं; काल दोनोंके सङ्ग समान व्यवहार करता है; अर्थात् वे कोई भी मृत्युके मुखसे छुट-कारा नहीं पा सकते । इस संसारमें माता, पिता, स्त्री और पुत्र आदिक सैकडों तथा सहस्रों भांतिके संबन्ध दीख पडते हैं; परन्तु विचारपूर्वक देख-नेसे वे लोग किसके माता, पिता हैं; और हम लोग ही किसके आत्मीय बान्धव हैं ? कोई भी इस आत्माका आत्मीय नहीं है और न यह आत्मा किसीका आत्मीय बन्धु होसक्ता है । जैसे पथिक मार्गमें गमन करते हुए थोडे समयके वास्ते एक स्थानपर इकट्ठे विश्राम करके फिर यथायोग्य स्थानपर गमन करते हैं, इस संसारमें स्त्री पुत्र और स्वजनोंकी सङ्गति भी उसी भांति समझनी चाहिये । ३५-३९)

मैं कौन हूं, कहां हूं, और कहां आऊंगा । किस कारण इस संसारमें स्थित हूं, और क्यों शोक वा दुःख करता हूं ?" ज्ञानी पुरुषको ऐसा विचारना चाहिये, कि चक्रकी भांति

आगमांस्त्वनतिक्रम्य श्रद्धातव्यं बुभूषता ॥ ४२ ॥
कुर्वीत पितृदैवत्यं धर्म्याणि च समाचरेत्।
यजेच्च विद्वान्विधिवत्त्रिवर्गं चाप्युपाचरेत् ॥ ४३ ॥
सन्निमज्जेज्जगदिदं गम्भीरे कालसागरे।
जरामृत्युमहाग्राहे न कश्चिदवबुध्यते ॥ ४४ ॥
आयुर्वेदमधीयानाः केवलं सपरिग्रहाः।
दृश्यन्ते बहवो वैद्या व्याधिभिः समभिप्लुताः॥ ४५ ॥
ते पिबन्तः कषायांश्च सर्पींषि विविधानि च।
न मृत्युमतिवर्तन्ते वेलामिव महोदधिः ॥ ४६ ॥
रसायनविदश्चैव सुप्रयुक्तरसायनाः।
दृश्यन्ते जरया भग्ना नगा नागैरिवोत्तमैः ॥ ४७ ॥
तथैव तपसोपेताः स्वाध्यायाभ्यसने रताः।

घूमनेवाले संसारके बीच प्रियजनोंका एकत्र वास अनित्य है। जैसे मार्गमें चलते हुए पथिक लोग एक स्थानपर इकट्ठे होके थोडे समयतक विश्राम करते हैं; पिता, माता, भाई और मित्रों के समागमको भी उसी प्रकार जानना चाहिये। ज्ञानकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषको शास्त्र-विधिके अनुसार परमार्थ विषयमें श्रद्धा करनी उचित है। देखिये पण्डित लोग विना देखे ही परलोकके संपूर्ण विषयोंको जानते हैं। विद्वान पुरुषको भी देवता पितरोंकी पूजा अर्चासे शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार त्रिवर्गसेवन अर्थात् धर्म, अर्थ, काम आदि सत्कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित है। जरा मृत्यु रूपी ग्राहसे युक्त काल-रूपी समुद्रमें जो यह जगत् डूब रहा है, उसे कोई भी नहीं मालूम करता। (४०—४४)

कितने ही वैद्य आयुर्वेदको पढके भी परिवारके सहित व्याधिसे ग्रस्त होते हैं; जैसे समुद्रका वेग तटको उल्लङ्घन नहीं कर सकता, वैसे ही वे लोग नाना भांतिके घृत आदिक औषधि सेवन करके भी किसी प्रकार मृत्युको अति-क्रम करनेमें समर्थ नहीं होते। जैसे हाथी पर्वतोंपर निवास करके भी कभी कभी मतवाले होकर अपने दांतोंसे पर्वत तोडनेकी इच्छा करते हैं, वैसे ही रसा-यनिक तथा वैद्यक विद्याके जाननेवाले पण्डित लोग शरीररक्षाके निमित्त भली भांति रसायन प्रयोग करके भी प्रायः जरा मृत्युसे ग्रस्त होते दीख पडते हैं। इसी भांति दाता यज्ञशील, वेदपाठी

दातारो यज्ञशीलाश्च न तरन्ति जरान्तकौ ॥ ४८ ॥
न ह्यहानि निवर्तन्ते न मासा न पुनः समाः ।
जातानां सर्वभूतानां न पक्षा न पुनः क्षपाः ॥ ४९ ॥
सोऽयं विपुलमध्वानं कालेन ध्रुवमध्रुवः ।
नरोऽवशः समभ्येति सर्वभूतनिषेवितम् ॥ ५० ॥
देहो वा जीवतोऽभ्येति जीवो वाऽभ्येति देहतः ।
पथि सङ्गमभ्येति दारैरन्यैश्च बन्धुभिः ॥ ५१ ॥
नायमत्यन्तसंवासो लभ्यते जातु केनचित् ।
अपि स्वेन शरीरेण किमुतान्येन केनचित् ॥ ५२ ॥
क नु तेऽद्य पिता राजन् क नु तेऽद्य पितामहाः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽनघ॥ ५३ ॥
न चैव पुरुषो द्रष्टा स्वर्गस्य नरकस्य च ।
आगमस्तु सतां चक्षुर्नृपते तमिहाचर ॥ ५४ ॥
चरितब्रह्मचर्यो हि प्रजायेत यजेत च ।
पितृदेवमनुष्याणामानृण्यादनसूयकः ॥ ५५ ॥

और तपस्वी पुरुष भी जरा-मृत्युको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं होते। उत्पन्न हुए प्राणियोंके विषयमें वर्ष, महीना, पक्ष, दिन रात्रि आदि जो व्यतीत होजाते हैं, वे फिर लौटके नहीं आते। इससे अनित्य शरीरवाले मनुष्योंको समय पूर्ण होनेकी इच्छा न रहनेपर भी अवश्य ही संपूर्ण प्राणियोंके गमन करनेवाले चिरनिश्चित उस महापथसे ही गमन करना पडता है। शीघ्र ही देह जीवसे पृथक् होता है, वा जीवही देहसे पृथक् होजाता है। जो हो, जगत्के बीच स्त्री वा अन्य बन्धुवर्गोंकी जो संगति है, वह मार्गमें निवास करनेवाले पथिकोंकी भांति हैं! इस जगत्में कोई कदापि एक एक संग सदा सर्वदा निवास नहीं कर सकता, जब कि निज शरीरहीके साथ जीवके चिर सहवास-लाभकी संभावना नहीं है; तब दूसरेके साथ सदा एक संग सहवास कैसे स्थिर रह सकता है? (४५-५२)

हे पापरहित युधिष्ठिर! इस समय तुम्हारे पिता वा पितामह आदि पितर कहां हैं? इस समय वे लोग तुम्हें नहीं देखते हैं, और तुम भी उन लोगोंको नहीं देख सकते हो। हे राजेन्द्र! स्वर्ग और नरकको कोई पुरुष भी नहीं देख सकता; परन्तु शास्त्र ही पण्डितोंके नेत्र

स यज्ञशीलः प्रजने निविष्टः प्राग्ब्रह्मचारी प्रविविक्तचक्षुः।
आराधयेत्स्वर्गमिमं च लोकं परं च मुक्त्वा हृदयव्यलीकम् ॥५६॥
समं हि धर्मं चरतो नृपस्य द्रव्याणि चाभ्याहरतो यथावत्।
प्रवृत्तधर्मस्य यशोऽभिवर्धते सर्वेषु लोकेषु चराचरेषु ॥ ५७ ॥
इत्येवमाज्ञाय विदेहराजो वाक्यं समग्रं परिपूर्णहेतु।
अश्मानमामन्त्र्य विशुद्धबुद्धिर्ययौ गृहं स्वं प्रति शान्तशोकः॥५८॥
तथा त्वमप्यच्युत मुञ्च शोकमुत्तिष्ठ शक्रोपमहर्षमेहि।
क्षात्रेण धर्मेण मही जिता ते तां भुंक्ष्व कुन्तीसुत माऽवमंस्थाः॥५९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये अष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥ [८८६]

वैशम्पायन उवाच—अव्याहरति राजेन्द्रे धर्मपुत्रे युधिष्ठिरे।
गुडाकेशो हृषीकेशमभ्यभाषत पाण्डवः ॥ १ ॥
अर्जुन उवाच— ज्ञातिशोकाभिसन्तप्तो धर्मपुत्रः परन्तपः।

स्वरूप हैं; इससे तुम उसके अनुसार इस संसार यात्राका निर्वाह करो। इस संसारमें जन्म लेनेके अनन्तर देवता पितर और ऋषियोंके ऋणको चुकानेके निमित्त असूयारहित होके पहिले ब्रह्मचर्य फिर दारपरिग्रह कर सन्तान उत्पन्न कर, अनन्तर यज्ञादिकोंका अनुष्ठान करके इस लोक और परलोकका आराधन करे। धर्म कार्योंको समान रूपसे साधन करके जो लोग शास्त्रमें कही हुई विधिके अनुसार कर ग्रहण करते हैं;उन धर्म स्थापित करनेवाले राजाओंका यश समस्त लोकोंमें विख्यात होता है। शुद्ध बुद्धिवाले विदेह राज जनक इसी भांति हेतु पूरित संपूर्ण उपदेश वचनोंको सुन कर शोक रहित हुए और अश्म ऋषिको आमन्त्रण करके अपने घर लौट आये। हे अच्युत युधिष्ठिर! तुम इन्द्रके समान पराक्रमी हो, इससे शोक त्याग कर तुम्हें हर्षित होना उचित है। तुमने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार इस पृथ्वीको जय किया है, इस समय अब संपूर्ण पृथ्वीके राज्यको भोग करो! मेरे वचन में कुछ संशय मत करो। (५३-५९)

शान्तिपर्वमें अट्ठाईस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनत्तीस अध्याय।

श्रीवैशंपायन मुनि बोले, जब राजा युधिष्ठिरने वेदव्यासके उपदेश वचनोंको सुनके भी कुछ उत्तर नहीं दिया, तब पाण्डुपुत्र गुडाकेश अर्जुन हृषीकेश कृष्ण से यह वचन बोले, हे माधव! शत्रु नाशन धर्मपुत्र महाराज युधिष्ठिर ज्ञाति

एष शोकार्णवे मग्नस्तमाश्वासय माधव ॥ २ ॥
सर्वे स्म ते संशयिताः पुनरेव जनार्दन ।
अस्य शोकं महाबाहो प्रणाशयितुमर्हसि ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु गोविन्दो विजयेन महात्मना ।
पर्यवर्तत राजानं पुण्डरीकेक्षणोऽच्युतः ॥ ४ ॥
अनतिक्रमणीयो हि धर्मराजस्य केशवः ।
बाल्यात्प्रभृति गोविन्दः प्रीत्या चाभ्यधिकोऽर्जुनात्॥५॥
संप्रगृह्य महाबाहुर्भुजं चन्दनभूषितम् ।
शैलस्तम्भोपमं शौरिरुवाचाभिविनोदयन् ॥ ६ ॥
शुशुभे वदनं तस्य सुदंष्ट्रं चारुलोचनम् ।
व्याकोशमिव विस्पष्टं पद्मं सूर्य इवोदिते ॥ ७ ॥
वासुदेव उवाच—मा कृथाः पुरुषव्याघ्र शोकं त्वं गात्रशोषणम् ।
न हि ते सुलभा भूयो ये हताऽस्मिन् रणाजिरे ॥ ८ ॥
स्वप्नलब्धा यथा लाभा वितथाः प्रतिबोधने ।
एवं ते क्षत्रिया राजन् ये व्यतीता महारणे ॥ ९ ॥

वधके शोकसे अत्यन्त ही दुखित हुए हैं; इससे आप शोक रूपी समुद्रमें डूबते हुए राजा युधिष्ठिरको प्रबोधित कीजिये । हे जनार्दन ! हम लोगोंमेंसे किसीके वचन में इन्हें विश्वास नहीं होता है। (१-३)

श्रीवैशंपायन मुनि बोले, जब महात्मा अर्जुनने श्रीकृष्णसे ऐसा वचन कहा, तब पुण्डरीकाक्ष अच्युत कृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिरको धीरज धारण करानेमें प्रवृत्त हुए। केशव बालक अवस्थासे ही धर्मराज युधिष्ठिरके अर्जुनसे भी अधिक प्रिय थे, इससे उनके वचनको राजा युधिष्ठिर अवश्य ही मानते थे। कृष्ण राजा युधिष्ठिरके चन्दनचर्चित शैलस्तम्भ के समान भुजाको ग्रहण करके उत्तम वचन से उनके चित्तको प्रसन्न करने लगे जैसे सूर्य उदय होने पर कमल प्रफुल्लित होता है, वैसे ही वचन बोलनेके समयमें श्रीकृष्णके सुन्दर दर्शन, उत्तम दन्तपंक्तिसे युक्त मुख, नेत्र और शरीरकी शोभा हुई। श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हे पुरुष शार्दूल महाराज! जो लोग कुरुक्षेत्रके युद्धमें मारे गये हैं, उन लोगोंके फिर प्राप्त होनेकी किसी प्रकारसे भी अब सम्भावना नहीं है, इससे आप ऐसे शोकको परित्याग कीजिये। जैसे सपने में प्राप्त हुई वस्तु जागनेके अनन्तर नहीं दीख पडती, इस महायुद्धमें मरे

सर्वेऽप्यभिमुखाः शूरा विजिता रणशोभिनः।
नैषां कश्चित्पृष्ठतो वा पलायन्वापि पातितः ॥ १० ॥
सर्वे त्यक्त्वाऽऽत्मनः प्राणान्युद्ध्वा वीरा महामृधे।
शस्त्रपूता दिवं प्राप्ता न ताञ्छोचितुमर्हसि ॥ ११ ॥
क्षत्रधर्मरता शूरा वेदवेदाङ्गपारगाः।
प्राप्ता वीरगतिं पुण्यां तान्न शोचितुमर्हसि ॥ १२ ॥
मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन्।
अत्रैवोदाहरंतीममितिहासं पुरातनम् ॥ १३ ॥
सृञ्जयं पुत्रशोकार्तं यथाऽयं नारदोऽब्रवीत्।
सुखदुःखैरहं त्वं च प्रजाः सर्वाश्च सृञ्जय ॥ १४ ॥
अविमुक्ता मरिष्यामस्तत्र का परिदेवना।
महाभाग्यं पुरा राज्ञां कीर्त्यमानं मया शृणु ॥ १५ ॥
गच्छावधानं नृपते ततो दुःखं प्रहास्यसि।
मृतान्महानुभावांस्त्वं श्रुत्वैव पृथिवीपतीन् ॥ १६ ॥

हुए क्षत्रियोंको भी उस ही भांति समझ ना चाहिये। वे मरे हुए शूरवीर पुरुष सब ही युद्धभूमिमें सम्मुख संग्राम करके एक दूसरेके हाथसे मारे गये; उनके बीच कोई भी पुरुष पीठ दिखाके अथवा भागते हुए नहीं मारा गया; वे सब ही वीर शत्रुओंके सङ्ग युद्ध करके शस्त्रसे मरकर स्वर्ग लोकमें गये हैं, इससे उन लोगोंके निमित्त आप शोक न कीजिये (४—११)

महाराज! क्षत्रिय-धर्ममें रत, वेद वेदांगको जाननेवाले शूरवीर पुरुष अवश्य ही वीर पुरुषोंके योग्य पवित्र गतिको पाते हैं। आप परलोक प्राप्त हुए महात्मा पूर्व राजाओंके वृत्तान्तको सुननेहीसे मरे हुए बन्धु-बान्धवोंके निमित्त शोक नहीं करेंगे; इस विषयमें देवऋषि नारदने एक प्राचीन इतिहास कहा था, उसे सुनिये। पुत्र शोकसे आर्त्त हुए सृञ्जय राजाको नारद मुनिने यह उपदेश किया था कि, हे सृञ्जय! तुम, मैं वा अन्य मनुष्य कोई भी सुख दुःखसे छुटकारा नहीं पा सकते और हम सब लोगोंको ही एक दिन मरना होगा; तब विलाप करनेकी क्या आवश्यकता है? मैं तुम्हारे समीप पहिले समयके राजाओंका महात्म्य वर्णन करता हूं; उसे चित्त लगाके पूर्णरीतिसे सुननेसे ही तुम्हारा शोक नष्ट होजावेगा। उन महातेजस्वी राजाओंके वृत्तान्तको

शममानय सन्तापं शृणु विस्तरशश्च मे।
क्रूरग्रहाभिशमनमायुर्वर्धनमुत्तमम् ॥ १७ ॥
अग्रिमाणां क्षितिभुजामुपादानं मनोहरम्।
आविक्षितं मरुत्तं च मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ १८ ॥
यस्य सेन्द्राः सवरुणा बृहस्पतिपुरोगमाः।
देवा विश्वसृजो राज्ञो यज्ञमीयुर्महात्मनः ॥ १९ ॥
यः स्पर्धयाऽजयच्छक्रं देवराजं पुरन्दरम्।
शक्रप्रियैषी यं विद्वान्प्रत्याचष्ट बृहस्पतिः ॥ २० ॥
संवर्तो याजयामास यवीयान्स बृहस्पतेः।
यस्मिन्प्रशासति महीं नृपतौ राजसत्तम ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी विबभौ चैत्यमालिनी ॥ २१ ॥
आविक्षितस्य वै सत्रे विश्वेदेवाः सभासदः।
मरुतः परिवेष्टारः साध्याश्चासन्महात्मनः ॥ २२ ॥
मरुद्गणा मरुत्तस्य यत्सोममपिबंस्ततः।
देवान्मनुष्यान्गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ॥ २३ ॥

मुझसे सुनकर शोक परित्याग करो। राजाओंमें अग्रणी इन महात्मा राजाओंके सुन्दर मनोहर तथा पवित्र उपाख्यानको सुननेसे ही क्रूर ग्रह शान्त होते और आयु बढती है। (११-१७)

हे सृञ्जय! तुमने सुना होगा कि अविक्षितके पुत्र मरुत् नामक एक विख्यात राजा हुए थे; परन्तु वह भी परलोक गये हैं। जिस महात्मा मरुत राजाके विश्वसृक् अर्थात् सर्वस्वदान नामक यज्ञमें देवतोंके गुरु बृहस्पति प्रमुख इन्द्र और वरुण आदि देवता उपस्थित हुए थे; और जिन्होंने अहङ्कार पूर्वक देवराज इन्द्रको युद्धभूमिमें पराजित किया था; जिनके यज्ञानुष्ठानके समय विद्वान बृहस्पतिने इन्द्रकी प्रियकामनासे जिस मरुतराजाको यह कहकर कि मैं तुम्हारे यज्ञमें न जा सकूंगा, लौटा देने पर बृहस्पतिके ही कनिष्ठ भ्राता सम्वर्तने जिनके यज्ञको पूर्ण कराया था, जिनके शासन समयमें पृथ्वी राजविभवसे शोभित होकर विना हलसे जोते ही शस्य उत्पन्न करती थी। जिनके यज्ञमें विश्वेदेव सभासद, साध्यलोग परिवेष्टा हुए थे, और मरुद्गणने आकर सोमरस पान किया था। दक्षिणा देनेमें जो देवता, गन्धर्व और मनुष्योंसे भी बढ गये थे। जो धर्मज्ञान, वैराग्य और

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ २४ ॥
सुहोत्रं चैवातिथिनं मृतं सृञ्जय शुश्रुम।
यस्मिन्हिरण्यं ववृषे मघवा परिवत्सरम् ॥ २५ ॥
सत्यनामा वसुमती यं प्राप्यासीज्जनाधिपम्।
हिरण्यमवहन्नद्यस्तस्मिन् जनपदेश्वरे ॥ २६ ॥
कूर्मान्कर्कटकान्नक्रान्मकराञ्छिशुकानपि।
नदीष्ववपातयद्राजन्मघवा लोकपूजितः ॥ २७ ॥
हिरण्यान्पातितान्दृष्ट्वा मत्स्यान्मकरकच्छपान्।
सहस्रशोऽथ शतशस्ततोऽस्मयदथोऽतिथिः ॥ २८ ॥
तद्धिरण्यमपर्यन्तमावृतं कुरुजाङ्गले।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समर्पयत् ॥ २९ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ३० ॥

ऐश्वर्य, इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे; हे सृञ्जय! जब ऐसे गुणोंसे युक्त महात्मा मरुतराजानेभी परलोकमें गमन किया है; तब तुम्हें पुत्रके निमित्त शोक करना उचित नहीं है। (१८—२४)

हे सृञ्जय! सुहोत्र नामक एक विख्यात राजा थे, तुमने सुना होगा, उन्हें भी परलोकमें गमन करना पडा। जिस सुहोत्र राजाके राज्यमें इन्द्रने एक वर्ष पर्यन्त लगातार सुवर्णकी वर्षा की थी। जिन नरपतिको पति रूपसे पाके पृथ्वी "सत्यवती" नामसे विख्यात हुई थी। उनके राज्यशासनके समयमें संपूर्ण नदियोंमें स्वर्णमय जलजन्तु तैरते थे। उसका कारण यह है कि उन दिनों लोकपूजित इन्द्रने पृथ्वीकी सब नदियोंमें सोनेके कूर्म, कर्कट, घडियाल और शिशुमारकी वर्षा की थी। अधिक क्या कहा जावे, उन सैकडों तथा सहस्रों मच्छ, मकर और कच्छप आदि स्वर्णमय जलजन्तुओंको देखकर राजा सुहोत्र स्वयं विस्मित हुए थे। (२५-२८)

हे राजन्! अनन्तर राजा सुहोत्रने कुरुजाङ्गलमें यज्ञ आरंभ करके उस असीम सुवर्णके ढेरको ब्राह्मणोंको दान किया था, वह महात्मा सुहोत्र राजा धर्म, वैराग्य, ज्ञान और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे

अदक्षिणमयज्वानं चैत्य संशाम्य मा शुचः ।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ ३१ ॥
यः सहस्रं सहस्राणां श्वेतानश्वानवासृजत् ।
सहस्रं च सहस्राणां कन्या हेमपरिष्कृताः ॥ ३२ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।
यः सहस्रं सहस्राणां गजानामतिपाद्मिनाम् ॥ ३३ ॥
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत् ।
शतं शतसहस्राणि वृषाणां हेममालिनाम् ॥ ३४ ॥
गवां सहस्रानुचरं दक्षिणामत्यकालयत् ।
अङ्गस्य यजमानस्य तदा विष्णुपदे गिरौ ॥ ३५ ॥
अमाद्यदिन्द्रः सोमेन दक्षिणाभिर्द्विजातयः ।
यस्य यज्ञेषु राजेन्द्र शतसंख्येषु वै पुरा ॥ ३६ ॥
देवान्मनुष्यान् गन्धर्वानत्यरिच्यन्त दक्षिणाः ।
न जातो जनिता नान्यः पुमान्यः संप्रदास्यति ॥३७॥
यदङ्गः प्रददौ वित्तं सोमसंस्थासु सप्तसु ।
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥ ३८ ॥

पुत्रसे भी अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु वह भी मृत्युके ग्रासमें पतित हुए हैं। इससे तुम दान और यज्ञसे रहित अपने पुत्रके वास्ते शोक मत करो। हे सृञ्जय! तुमने अंगराज बृहद्रथका नाम सुना होगा, उनकी भी मृत्यु हुई है। जिन्होंने विष्णुपदगिरि पर यज्ञमें दीक्षित होकर रत्नादिसे भूषित दस लाख कन्या, और दस लाख घोडे, पद्मजाल चिन्हसे युक्त दस लाख हाथी, सहस्र गऊके सहित सुवर्णमालासे भूषित एक करोड वृषभ दक्षिणामें दिये। (२९-३५)

पहिले जिन्होंने एक सौ यज्ञ किये थे, जिन यज्ञोंमें सोमरस पान करके देवराज इन्द्र और दक्षिणा पाये हुए धनके मदसे एकबारही ब्राह्मण लोग मतवाले हुए थे। दक्षिणा देनेमें जो देवता, गन्धर्व और मनुष्योंसे बढ गये थे, जिन यज्ञोंमें सोमपानकी विधि है, उन अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उकथ्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र, अप्तोर्याम इन सात सोम-संस्थान नामक यज्ञोंमें अङ्गराज जिस प्रकार धनदान किया था, उस प्रकार धन दान करनेवाला कोई पुरुष इस पृथ्वीपर न हुआ, न होगा। हे सृञ्जय! वह अङ्गराज न्याय, धर्म, ज्ञान, वैराग्य

पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
शिबिमौशीनरं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ॥ ३९ ॥
य इमां पृथिवीं सर्वां चर्मवत्समवेष्टयत् ।
महता रथघोषेण पृथिवीमनुनादयन् ॥ ४० ॥
एकच्छत्रां महीं चक्रे जैत्रेणैकरथेन यः ।
यावदस्य गवाश्वं स्यादारण्यैः पशुभिः सह ॥ ४१ ॥
तावतीः प्रददौ गाः स शिबिरौशीनरोऽध्वरे ।
न वोढारं धुरं तस्य कञ्चिन्मेने प्रजापतिः ॥ ४२ ॥
न भूतं न भविष्यं च सर्वराजसु सृञ्जय ।
अन्यत्रौशीनराच्छैब्याद्राजर्षेरिन्द्रविक्रमात् ॥ ४३ ॥
अदक्षिणमयज्वानं मा पुत्रमनुतप्यथाः ।
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ॥
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ४४ ॥
भरतं चैव दौष्यन्तिं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।

और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी कालके ग्रासमें पतित हुए हैं; इससे तुम पुत्रके वास्ते क्यों शोक करते हो ? हे सृञ्जय ! तुमने उशीनर-पुत्र महाराज शिबिकी कथा भी सुनी होगी; उनकी भी मृत्यु हुई है। (३६—३९)

जिन्होंने इस पृथ्वीको शरीर तोपने वाले चमडेकी भांति हस्तगत किया था, जिन्होंने एकही जयशील रथपर चढके रथके बडे शब्दसे चारों ओर गुंजाकर संपूर्ण राजाओंको पराजित करके पृथ्वी-को एकछत्रके अधीन किया था, और जिन्होंने अपने तमाम जङ्गली और पलुए गौ, घोडे आदि पशुओंको मंगाके यज्ञमें दान किया था। अधिक क्या कहा जावे, प्रजापति ब्रह्माने उस समय समस्त राजाओंके बीच उशीनरपुत्र राजऋषि शिबिके अतिरिक्त और किसीको भी राज्यभार ग्रहण करनेके योग्य नहीं समझा था। देखिये वह महात्मा शिबि राजा धर्म अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु ऐसे गुणोंसे युक्त महात्मा शिबि राजाकी मृत्यु हुई है, तब तुम दान और यज्ञसे रहित अपने पुत्रके निमित्त शोक मत करो ! (४०—४४)

हे सृञ्जय ! महा ऐश्वर्यसे युक्त

शाकुन्तलं महात्मानं भूरिद्रविणसंचयम् ॥ ४५ ॥
यो बद्ध्वा त्रिशतं चाश्वान्देवेभ्यो यमुनामनु ।
सरस्वतीं विंशतिं च गंगामनु चतुर्दश ॥ ४६ ॥
अश्वमेधसहस्रेण राजसूयशतेन च ।
इष्टवान्स महातेजा दौष्यन्तिर्भरतः पुरा ॥ ४७ ॥
भरतस्य महत्कर्म सर्वराजसु पार्थिवाः ।
खं मर्त्या इव बाहुभ्यां नानुगन्तुमशक्नुवन् ॥ ४८ ॥
परं सहस्राद्यो बद्धान् हयान्वेदीर्वितत्य च ।
सहस्रं यत्र पद्मानां कण्वाय भरतो ददौ ॥ ४९ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ५० ॥
रामं दाशरथिं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
योऽन्वकम्पत वै नित्यं प्रजाः पुत्रानिवौरसान् ॥५१ ॥
विधवा यस्य विषये नानाथाः काश्चनाभवन् ।
सदैवासीत्पितृसमो रामो राज्यं यदन्वशात् ॥ ५२ ॥

शकुन्तलाके गर्भसे उत्पन्न हुए दुष्यन्त पुत्र महात्मा भरतकी कथा तुमने सुनी, होगी, जिस महातेजस्वी राजा भरतने देवताओंकी प्रीतिकी अभिलाषासे यमुनाके तीरपर तीस, सरस्वती नदीके किनारे बीस, गङ्गाके तीरपर चौदह इत्यादि इसी भांति क्रमसे एक हजार अश्वमेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंका अनुष्ठान किया था। जैसे मनुष्य बाहुबलके सहारे आकाशमें गमन करनेमें समर्थ नहीं होते, उसी भांति पृथ्वीके कोई राजा भी महाराज भरतके कर्मोंके अनुगामी होनेमें समर्थ नहीं होसकते। अधिक क्या कहा जावे, उस महात्मा राजा भरतने अनगिनत यज्ञवेदी आरम्भ करके उनमें एक सहस्रसे अधिक अर्बुद घोडे और पद्म सहस्र रत्न कण्व मुनिको दान किया था, वह धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु उन्होंने भी शरीर त्याग किया है; इससे तुम अपने पुत्रके वास्ते व्यर्थ शोक मत करो। (४५-५०)

हे सृञ्जय! राजा दशरथके पुत्र महात्मा रामचन्द्रका वृतान्त तुमने सुना होगा, उन्होंने भी शरीर त्याग किया है। जिन्होंने सदा प्रजाको अपने पुत्र समान पालन किया था; राज्यशासनमें

कालवर्षी च पर्जन्यः सस्यानि समपादयत्।
नित्यं सुभिक्षमेवासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५३ ॥
प्राणिनो नाप्सु मज्जन्ति नान्यथा पावकोऽदहत्।
रुजा भयं न तत्रासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५४ ॥
आसन्वर्षसहस्रिण्यस्तथा वर्षसहस्रकाः।
अरोगाः सर्वसिद्धार्था रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५५ ॥
नान्योन्येन विवादोऽभूत्स्त्रीणामपि कुतो नृणाम्।
धर्मनित्याः प्रजाश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति॥ ५६ ॥
सन्तुष्टाः सर्वसिद्धार्था निर्भयाः स्वैरचारिणः।
नराः सत्यव्रताश्चासन् रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५७ ॥
नित्यपुष्पफलाश्चैव पादपा निरुपद्रवाः।
सर्वा द्रोणदुघा गावो रामे राज्यं प्रशासति ॥ ५८ ॥
स चतुर्दशवर्षाणि वने प्रोष्य महातपाः।
दशाश्वमेधान् जारूथ्यानाजहार निरर्गलान् ॥ ५९ ॥
युवा श्यामो लोहिताक्षो मातङ्ग इव यूथपः।

जो अपने पिता दशरथके समान थे। और अधिक क्या कहा जावे, रामचन्द्रके राज्यशासनके समयमें कोई स्त्री विधवा नहीं थीं, न कोई अनाथ ही दीख पडते थे; यथा समयपर जलकी वर्षा होती थी; अन्न भी यथा समय पर उत्पन्न होते थे; इससे उनके राज्य शासनके समयमें किसी भांति दुर्भिक्ष नहीं उपस्थित हुआ था। उस समय किसीकी जलमें डूबके या अग्निमें भस्म होके मृत्यु नहीं हुई थी, और दूसरे किसी भांतिके रोगका भी भय नहीं था। (५१-५४)

रामचन्द्रके राज्यशासनके समय सब प्राणी सहस्र वर्ष पर्यन्त जीवित रहते, और सहस्र पुत्रवाले होते थे, और सबके अभिलषित मनोरथ सिद्ध होते थे, रोग रहित होके समय व्यतीत करते थे; उनके राज्यमें पुरुषोंकी बात तो दूर है, स्त्रियां भी आपसमें विवाद करनेमें प्रवृत्त नहीं होती थीं। उस समय सब कोई धर्ममें रत, सदा सन्तुष्ट चित्त, सत्यव्रती, अभिलाष विषयमें पूर्ण मनोरथ, निर्भय और स्वाधीन थे। वृक्ष सदा फूलफलोंसे युक्त रहते थे, गौयें बडे परिमाण दूध देती थीं। उस महातपस्वी रामचन्द्रने पिताके सत्यको पालन करनेके वास्ते चौदह वर्ष पर्यन्त वनमें निवास करके फिर राज्य शासनके समयमें तिगुनी

आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाभुजः ॥ ६० ॥
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
अयोध्याधिपतिर्भूत्वा रामो राज्यमकारयत् ॥ ६१ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ६२ ॥
भगीरथं च राजानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्येन्द्रो वितते यज्ञे सोमं पीत्वा मदोत्कटः ॥ ६३ ॥
असुराणां सहस्राणि बहूनि सुरसत्तमः ।
अजयद्बाहुवीर्येण भगवान्पाकशासनः ॥ ६४ ॥
यः सहस्रं सहस्राणां कन्या हेमविभूषिताः ।
ईजानो वितते यज्ञे दक्षिणामत्यकालयत ॥ ६५ ॥
सर्वा रथगताः कन्या रथाः सर्वे चतुर्युजः ।
शतं शतं रथे नागाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ ६६ ॥
सहस्रमश्वा एकैकं हस्तिनं पृष्ठतोऽन्वयुः ।

दक्षिणासे युक्त दश अश्वमेध यज्ञ पूर्ण किये थे । लाल नेत्रवाले श्याम सुन्दर युवा रामचन्द्र यूथपति हाथीके समान बलवान थे । उनकी आजानुलम्बितभुजा थीं, मुख कान्ति मनोहर और कन्धा सिंहस्कन्धके समान था । महात्मा रामचन्द्रने ग्यारह हजार वर्ष पर्यन्त निर्विघ्नताके सहित अयोध्यामें राज्य किया था । वह धर्म, अर्थ, वैराग्य और ज्ञान इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; उन्हें भी मनुष्य लीला समाप्त कर इस लोकको त्यागके परलोकमें गमन करना पडा, तब तुम्हें पुत्रके निमित्त शोक करना उचित नहीं है । (५४-६२)

हे सृञ्जय ! पहिले भगीरथ नामक एक बडे राजा हुए थे, उनका नाम तुमने सुना होगा? उन्हें भी मृत्यु मुखमें पतित होना पडा । जिसके यज्ञमें सोमरस पान करके सुरसत्तम भगवान् पाकशासनने मतवाले हाथीकी भांति मत्त होके अपने बाहुबलके सहारे एक हजार असुरोंको पराजित किया था । उन्होंने यज्ञमें रत्नोंसे भूषित करके एक हजार कन्यादान किया था, उनमेंसे हर एक कन्या चार घोडोंसे युक्त एक एक रथपर चढी थीं, हर एक रथके साथ सुवर्ण मालासे सुशोभित पद्मजाल चिन्हसे युक्त एक एकसौ हाथी, हर एक हाथीके सङ्ग एक हजार घोडे नियुक्त थे, हर एक घोडेके

गवां सहस्रमश्वेऽश्वे सहस्रं गव्यजाविकम् ॥ ६७ ॥
उपह्वरे निवसतो यस्याङ्के निषसाद ह ।
गङ्गा भागीरथी तस्मादुर्वशी चाभवत्पुरा ॥ ६८ ॥
भूरिदक्षिणमिक्ष्वाकुं यजमानं भगीरथम् ।
त्रिलोकपथगा गङ्गा दुहितृत्वमुपेयुषी ॥ ६९ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ७० ॥
दिलीपं च महात्मानं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यस्य कर्माणि भूरीणि कथयन्ति द्विजातयः ॥ ७१ ॥
य इमां वसुसंपूर्णां वसुधां वसुधाधिपः ।
ददौ तस्मिन्महायज्ञे ब्राह्मणेभ्यः समाहितः ॥ ७२ ॥
यस्येह यजमानस्य यज्ञे यज्ञे पुरोहितः ।
सहस्रं वारणान्हैमान्दक्षिणामत्यकालयत् ॥ ७३ ॥
यस्य यज्ञे महानासीद्यूपः श्रीमान्हिरण्मयः ।
तं देवाः कर्म कुर्वाणाः शक्रज्येष्ठा उपाश्रयन् ॥ ७४ ॥

सङ्ग एक हजार गऊ, सहस्र बकरे और सहस्र भेडे थे। अधिक क्या कहा जावे, उस इक्ष्वाकु कुलभूषण यज्ञशील बहुत सी दक्षिणा देनेवाले महात्मा भगीरथको त्रिलोक गामिनी गङ्गादेवी पिता स्वीकार करके उनकी जङ्घापर बैठी थी जिस स्थलमें गङ्गा भगीरथकी जङ्घापर बैठीं, उस स्थानमें उनका नाम उर्वशी और भागीरथी हुआ। वह धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे तथा तुम्हारेपुत्रसे श्रेष्ठ तथा अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी कालके ग्राससे मुक्त होनेमें समर्थ न हुए, इससे तुम यज्ञ और दक्षिणासे हीन अपने पुत्रके निमित्त वृथा शोक मत करो। (६३—७०)

हे संजय ! तुमने महात्मा दिलीप राजाका भी वृत्तान्त सुना होगा, जिसके अनेक उत्तम कर्म और कीर्त्तिकी कथाको ब्राह्मण लोग आज तक गाया करते हैं। जिन्होंने महायज्ञका अनुष्ठान करके रत्न पूरित पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान की थी, जिसके हर एक यज्ञमें पुरोहित ब्राह्मणको एक सहस्र सुवर्णमय हाथी दक्षिणामें प्राप्त हुई थीं। जिस के शोभायुक्त यज्ञमें स्तम्भ भी सुवर्णमय हुए थे; अधिक क्या कहा जावे, उस समय इन्द्र आदि देवताओंने भी आदिष्ट कार्योंको पूर्ण करके

चषाले यस्य सौवर्णे तस्मिन् यूपे हिरण्मये ।
ननृतुर्देवगन्धर्वाः षट् सहस्राणि सप्तधा ॥ ७५ ॥
अवादयत्तत्र वीणां मध्ये विश्वावसुः स्वयम् ।
सर्वभूतान्यमन्यन्त मम वादयतीत्ययम् ॥ ७६ ॥
एतद्राज्ञो दिलीपस्य राजानो नानुचक्रिरे ।
यस्येभा हेमसञ्छन्नाः पथि मत्ताः स्म शेरते ॥ ७७ ॥
राजानं शतधन्वानं दिलीपं सत्यवादिनम् ।
येऽपश्यन्सुमहात्मानं तेऽपि स्वर्गजितो नराः ॥ ७८ ॥
त्रयः शब्दा न जीर्यन्ते दिलीपस्य निवेशने ।
स्वाध्यायघोषो ज्याघोषो दीयतामिति वै त्रयः ॥७९॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ८० ॥
मान्धातारं यौवनाश्वं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यं देवा मरुतो गर्भं पितुः पार्श्वादपाहरन् ॥ ८१ ॥

महाराज दिलीपकी उपासना की थी और उनके यज्ञ मण्डपके हिरण्यमय स्तम्भ पर छः हजार देवता गन्धर्व इकट्ठे होकर नाचते और विश्वावसु बीचमें बैठके बीन बजाते थे। जिस बीनके बाजेको सुनकर समस्त श्रोताओंने समझा था, कि ये मुझे ही लक्ष्य करके बीन बजा रहे हैं। (७०-७६)

पृथ्वीके कोई राजा भी महाराज दिलीपके इस कार्यके अनुकरण करनेमें समर्थ न हुए। राजा दिलीपके ऐश्वर्य-की बात क्या कहूं, सुवर्ण भूषणोंसे भूषित मतवाले हाथी मदमत्त होकर मार्ग ही में शयन करते थे; अधिक क्या कहूं, उस शतधन्वा सत्यवादी महात्मा महाराज दिलीपका जिन मनुष्योंने दर्शन किया था, वे भी स्वर्गभागी हुए। जिसके राज भवनमें सदा सर्वदा धनुष टङ्कार युक्त वीरोंके सिंहनाद, वेदध्वनि और " देहि देहि " ये तीन भांतिके शब्द क्षण भरके वास्ते भी नहीं बन्द होते थे। देखिये महात्मा दिलीप धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; परन्तु उन्हें भी इस लोकको त्यागना पडा; इससे अब तुम पुत्रके वास्ते शोक मत करो। (७७—८०)

हे सृञ्जय ! युवनाश्वपुत्र महाराज मान्धाताकी कथा तुमने सुनी होगी;

समृद्धो युवनाश्वस्य जठरे यो महात्मनः ।
पृषदाज्योद्भवः श्रीमांस्त्रिलोकविजयी नृपः ॥ ८२ ॥
यं दृष्ट्वा पितुरुत्सङ्गे शयानं देवरूपिणम् ।
अन्योन्यमब्रुवन्देवा कमयं धास्यतीति वै ॥ ८३ ॥
मामेव धास्यतीत्येवमिन्द्रोऽथाभ्युपपद्यत ।
मान्धातेति ततस्तस्य नाम चक्रे शतक्रतुः ॥ ८४ ॥
ततस्तु पयसो धारां पुष्टिहेतोर्महात्मनः ।
तस्यास्ये यौवनाश्वस्य पाणिरिन्द्रस्य चास्रवत्॥ ८५ ॥
तं पिबन्पाणिमिन्द्रस्य शतमह्ना व्यवर्धत ।
स आसीद्द्वादशसमो द्वादशाहेन पार्थिवः ॥ ८६ ॥
तमिमं पृथिवी सर्वा एकाह्ना समपद्यत ।
धर्मात्मानं महात्मानं शूरमिन्द्रसमं युधि ॥ ८७ ॥

उनकी भी मृत्यु हुई है। राजा युवनाश्व ने पुत्र उत्पन्न करनेमें समर्थ दही युक्त अभिषिक्त घृत अपनी स्त्रीको न देकर भ्रमपूर्वक स्वयं पान किया था, उससे उनके ही गर्भ रह गया और मन्त्रित आज्यके प्रभावसे (रुधिर-संयोगके विना ही) वह बालक पितृ-गर्भमें दिनोंदिन बढने लगा; फिर मरुत आदि देवताओंने पितृगर्भको भेदकर उस बालकको निकाला था, अनन्तर वह बालक त्रिलोक-विजयी राजा हुआ था, ऐसी घटना किस प्रकार हुई, वह सम्पूर्ण वृतान्त वर्णन करता हूं, सुनो। उत्पन्न होते ही उस बालकके मृतपिता की गोदमें शयन करते देखकर देवता लोग आपसमें यह वचन कहने लगे, कि यह बालक किसका आसरा ग्रहण करेगा। (८१—८३)

अनन्तर देवराज इन्द्रने कहा, "अयं मामेव धास्यति" अर्थात् यह मेरा आसरा ग्रहण करेगा,-ऐसा कहके उन्होंने उस बालकका "मान्धाता" नाम रखा, और शरीरपुष्टिके निमित्त अपने हाथकी उङ्गली उसके मुंहमें डाल दी, तिसके अनन्तर उस उङ्गलीसे ही दूधकी धार बहने लगी। इन्द्रके हाथकी उङ्गलीके दूधको पीकर वह बालक दिनोंदिन इस प्रकार बढने लगा, कि बारह दिनमें ही बारह वर्षकी अवस्थाके समान मालूम हुआ; इसी भांति क्रमसे एक सौ दिन-तक इन्द्रकी उङ्गलीके दूधको पीकर पूर्ण अवस्थाको प्राप्त हुआ था। अनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी शूर, धर्मात्मा, महात्मा मान्धाता युद्धभूमिमें अङ्गार,

यश्चाङ्गारं तु नृपतिं मरुत्तमसितं गयम् ।
अङ्गं बृहद्रथं चैव मान्धाता समरेऽजयत् ॥ ८८ ॥
यौवनाश्वो यदाङ्गारं समरे प्रत्ययुध्यत ।
विस्फारैर्धनुषो देवा द्यौरभेदीति मेनिरे ॥ ८९ ॥
यत्र सूर्य उदेति स्म यत्र च प्रतितिष्ठति ।
सर्वं तद्यौवनाश्वस्य मान्धातुः क्षेत्रमुच्यते ॥ ९० ॥
अश्वमेधशतेनेष्ट्वा राजसूयशतेन च ।
अददद्रोहितान्मत्स्यान्ब्राह्मणेभ्यो विशाम्पते ॥ ९१ ॥
हैरण्यान् योजनोत्सेधानायतान्दशयोजनम् ।
अतिरिक्तान्द्विजातिभ्यो व्यभजंस्त्वितरे जनाः ॥९२॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९३ ॥
ययातिं नाहुषं चैव मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।

मरुत, असित, गय, अङ्गराज, बृहद्रथ आदि मुख्य मुख्य सम्पूर्ण राजाओंको पराजित करके एक ही दिनमें समस्त पृथ्वीके स्वामी हुए । जिस समय अङ्ग राज बृहद्रथके सङ्ग महाराज मान्धाता-का युद्ध हुआ था, उस समय देवताओंने उनके धनुषटङ्कारके शब्दको सुनकर समझा कि आकाश विदीर्ण हुआ चाहता है । उनके प्रबल प्रतापको कहांतक वर्णन करूं जहांसे सूर्य उदय होते और जहांपर जाके अस्त होते हैं अर्थात् अन्तिम सीमा पर्यन्त आजतक पृथ्वी " मान्धाता क्षेत्र " कहके विख्यात है । (८४–९०)

पृथ्वीपति मान्धाताने एक सौ अश्व मेध और एक सौ राजसूय यज्ञोंको पूर्ण करके ब्राह्मणोंको दक्षिणामें अनगिनत सुवर्ण मछली प्रदान की थी, दूसरी वस्तु ओंके दानकी कथा क्या कहूं ! जब कि मान्धाता राजाके यज्ञके अन्तमें ब्राह्मणों के अतिरिक्त दूसरी जातिके मनुष्योंने भी एक योजन ऊंचे और दश योजन चौडे सुवर्णके ढेरको बांट लिये थे; तब ब्राह्मणोंने कितना धन पाया था, उसका कहना बाहुल्यता मात्र है । हे सृञ्जय ! राजा मान्धाता धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य, इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी जब शरीर त्यागके इस लोकसे बिदा होगये हैं, तब पुत्रके निमित्त शोक करना तुम्हें उचित नहीं है । (९१–९३)

य इमां पृथिवीं कृत्स्नां विजित्य सह सागराम्॥ ९४ ॥
शम्यापातेनाभ्यतीयाद्वेदीभिश्चित्रयन्महीम् ।
ईजानः क्रतुभिर्मुख्यैः पर्यगच्छद्वसुन्धराम् ॥ ९५ ॥
इष्ट्वा क्रतुसहस्रेण वाजपेयशतेन च ।
तर्पयामास विप्रेन्द्रांस्त्रिभिः काञ्चनपर्वतैः ॥ ९६ ॥
व्यूढेनासुरयुद्धेन हत्वा दैतेयदानवान् ।
व्यभजत्पृथिवीं कृत्स्नां ययातिर्नहुषात्मजः ॥ ९७ ॥
अन्त्येषु पुत्रान्निक्षिप्य यदुद्रुह्युपुरोगमान् ।
पूरुं राज्येऽभिषिच्याथ सदारः प्राविशद्वनम् ॥ ९८ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ९९ ॥
अम्बरीषं च नाभागं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
यं प्रजा वव्रिरे पुण्यं गोप्तारं नृपसत्तमम् ॥ १०० ॥

हे सृञ्जय ! बोध होता है, तुमने नहुषपुत्र राजा ययातिका वृत्तान्त सुना होगा, उनकी भी मृत्यु हुई है। जिसने अपने बाहुबलसे सम्पूर्ण पृथ्वीको जय किया था, जिसने शम्यापात अर्थात् एक बलवान पुरुषके हाथसे फेंके जानेपर जितनी दूरमें एक मोटी तथा भारी लकडीका टुकडा गिर पडता है, उतनी दूरके घेरेमें यज्ञकी वेदीसे पृथ्वीको चित्रित और उत्तम यज्ञ करते हुए क्रमसे पृथ्वीकी सीमा अर्थात् समुद्रके किनारे पहुंचे थे। इसी भांति एक सौ वाजपेय और इसके अतिरिक्त एक हजार दूसरी भांतिके यज्ञोंका अनुष्ठान करके सुवर्णके बने हुए तीन पर्वत ब्राह्मणोंको दान दिये थे। नहुषपुत्र महाराज ययातिने युद्धभूमिमें अनगिनत दैत्य और दानवोंकी व्यूहबद्ध सेनाका नाश करके समस्त पृथ्वी विभाग कर अपने पुत्रोंको बांट दी थी, परन्तु अन्तमें यदु और द्रुह्य आदि पुत्रोंको निराश करके सबसे छोटे पुरुको समस्त राज्य पर अभिषिक्त करके स्त्रीके सहित वनको चले गये। हे सृञ्जय ! राजा ययाति धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; वह भी जब कालके कराल ग्राससे मुक्त न होसके, तब तुम किस कारण अपने पुत्रके वास्ते शोक करते हो ? । (९४—९९)

हे सृञ्जय ! तुमने नाभागपुत्र राजा अम्बरीषकी कथा सुनी होगी, वह भी

य: सहस्रं सहस्राणां राज्ञामयुतयाजिनाम् ।
ईजानो वितते यज्ञे ब्राह्मणेभ्य: सुसंहित: ॥ १०१ ॥
नैतत्पूर्वं जनाश्चक्रुर्न करिष्यन्ति चापरे ।
इत्यम्बरीषं नाभागिमन्वमोदन्त दक्षिणा: ॥ १०२ ॥
शतं राजसहस्राणि शतं राजशतानि च ।
सर्वेऽश्वमेधैरीजानास्तेऽन्वयुर्दक्षिणायनम् ॥ १०३ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथा: ॥ १०४ ॥
शशबिन्दुं चैत्ररथं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यस्य भार्या सहस्राणां शतमासीन्महात्मन: ॥१०५॥
सहस्रं तु सहस्राणां यस्यासन् शाशबिन्दवा: ।
हिरण्यकवचा: सर्वे सर्वे चोत्तमधन्विन: ॥ १०६ ॥
शतं कन्या राजपुत्रमेकैकं पृथगन्वयु: ।

मृत्युके मुखमें पतित हुए । जिस पृथ्वी पालक राजसत्तम अम्बरीषकी सब प्रजा साक्षात् पुण्यकी मूर्ति समझती थी, जिन्होंने अयुत यज्ञोंके अनुष्ठान किया था, वैसे ही दश हजार राजाओंको उपस्थित ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त किया था । बहुतेरे दीर्घदर्शी पुरुषोंने नाभाग पुत्र राजा अम्बरीषके ऐसे अद्भुत कार्यको देखकर कहा था, कि "पहिले कोई भी राजा ऐसा कार्य न कर सके और न भविष्य ही में कर सकेंगे" इसी भांति वारम्वार उनकी प्रशंसा की थी । हे सृञ्जय ! जो सब राजा यज्ञके समय ब्राह्मणोंकी सेवामें नियुक्त थे, उन लोगोंने महाराज अम्बरीषके महात्म्य प्रभावसे अश्वमेध यज्ञोंके फलके भागी होकर उत्तरायण मार्गसे हिरण्यगर्भ लोकमें गमन किया । हे सृञ्जय ! राजा अम्बरीष धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य, इन चार विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी मृत्युके कराल ग्रासमें पतित हुए; इससे पुत्रके वास्ते तुम व्यर्थ शोक मत करो । (१००–१०४)

हे सृंजय ! तुमने चित्ररथ-पुत्र शशबिन्दुका उपाख्यान सुना होगा, जिस महात्मा शशबिन्दु राजाके एक लाख स्त्री थीं और उन सम्पूर्ण स्त्रियोंसे दश लाख पुत्र उत्पन्न हुए थे; वे सब राजपुत्र सुवर्णमय कवचोंसे युक्त और महा धनुर्धर थे, उन हर एक राजपुत्रोंने एक एक सौ कन्याओंके सङ्ग विवाह किया

कन्यां कन्यां शतं नागा नागं नागं शतं रथाः॥१०७॥
रथे रथे शतं चाश्वा देशजा हेममालिनः।
अश्वे अश्वे शतं गावो गवां तद्वदजाविकम् ॥ १०८ ॥
एतद्धनमपर्यन्तमश्वमेधे महामखे।
शशबिन्दुर्महाराज ब्राह्मणेभ्यः समार्पयत् ॥ १०९ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ११० ॥
गयं चामूर्तरयसं मृतं शुश्रुम सृञ्जय।
यः स वर्षशतं राजा हुतशिष्टाशनोऽभवत् ॥ १११ ॥
यस्मै वह्निर्वरं प्रादात्ततो वव्रे वरान्गयः।
ददतो मेऽक्षयं वित्तं धर्मे श्रद्धा च वर्धताम् ॥ ११२ ॥
मनो मे रमतां सत्ये त्वत्प्रसादाद्धुताशन।
लेभे च कामांस्तान्सर्वान्पावकादिति नः श्रुतम्॥११३॥
दर्शे च पूर्णमासे च चातुर्मास्ये पुनः पुनः।

था। हर एक कन्याके सङ्ग एक सौ हाथी, प्रति हाथीके साथ एक सौ रथ, हर एक रथके सङ्ग सुवर्ण माला भूषित एक सौ उत्तम घोडे थे; हर एक घोडेके साथ एक सौ गऊ, प्रति गऊके सङ्ग एक एक सौ बकरे और मेढे नियुक्त थे। इस समस्त अपार धनको महाराज शशबिन्दुने अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंको दान किया था। हे सृंजय! राजा शशबिन्दु तुमसे धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु वह भी मृत्युके मुखसे मुक्त होनेमें समर्थ न होसके, इससे तुम पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो। (१०५—११०)

हे सृञ्जय! राजा अमूर्त्तरयसके पुत्र गयकी कथा तुमने सुनी होगी; उनकी भी मृत्यु हुई है। जिन्होंने एक सौ वर्षपर्यन्त यज्ञसे शेष अन्नको भोजन करके अपने जीवनको धारण किया था। अग्निने जब उन्हें वर देनेको कहा, तब उन्होंने यह वर मांगा, "हे अग्नि! तुम्हारी कृपासे मेरा धन अक्षय होवे, धर्म और सत्यमें मेरी अटल रूपमें सदा बुद्धि रत रहे," ऐसी जनश्रुति है, कि अग्निने राजा गयकी प्रार्थना सुनके उन्हें वही अभिलषित वर प्रदान किया था। (१११-११३)

राजा गय एक हजार वर्ष पर्यन्त दर्श-पौर्णमास, चातुर्मास और अश्वमेध

अयजद्धयमेधेन सहस्रं परिवत्सरान् ॥ ११४ ॥
शतं गवां सहस्राणि शतमश्वतराणि च ।
उत्थायोत्थाय वै प्रादात्सहस्रं परिवत्सरान् ॥ ११५ ॥
तर्पयामास सोमेन देवान्वित्तैर्द्विजानपि ।
पितॄन्स्वधाभिः कामैश्च स्त्रियः स पुरुषर्षभ ॥ ११६ ॥
सौवर्णां पृथिवीं कृत्वा दश व्यामां द्विरायताम् ।
दक्षिणामददद्राजा वाजिमेधे महाक्रतौ ॥ ११७ ॥
यावत्यः सिकता राजन् गङ्गायां पुरुषर्षभ ।
तावतीरेव गाः प्रादादामूर्तरयसो गयः ॥ ११८ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ ११९ ॥
रन्तिदेवं च सांकृत्यं मृतं सृञ्जय शुश्रुम ।
सम्यगाराध्य यः शक्राद्वरं लेभे महातपाः ॥ १२० ॥
अन्नं च नो बहु भवेदतिथींश्च लभेमहि ।
श्रद्धा च नो मा व्यगमन्मा च याचिष्म कञ्चन॥१२१॥

यज्ञके देवताओंकी पूजा अर्चामें नियुक्त थे। एक हजार वर्षतक राजा गयने प्रति यज्ञके अन्तमें सौ हजार अश्वतर दान की थी। इस ही भांति उस पुरुष श्रेष्ठने धनसे ब्राह्मणों, सोमरस पानसे देवताओं, स्वधासे पितरों और अभिलषित वस्तुओंके दानसे स्त्रियोंको तृप्त किया था। उन्होंने अश्वमेध यज्ञोंके पूर्ण होनेपर दश व्याम चौडी और एक सौ हाथ लम्बी सुवर्णकी कृत्रिम पृथ्वी बनाके ब्राह्मणोंको दान की थी। हे सृञ्जय! पृथ्वीपर जितने वालूके कण देख पडते हैं, महात्मा गयने उतनी ही गऊ ब्राह्मणोंको दान की थीं, हे सृञ्जय! महात्मा गय धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, उन्हें भी जब शरीर त्यागना पडा, तब तुम यज्ञ और दक्षिणामें हीन अपने पुत्रके निमित्त क्यों शोक करते हो ? (११४--११९)

हे सृञ्जय! तुमने महाराज रन्तिदेवकी कथा सुनी होगी, वह भी सदाके वास्ते इस पृथ्वीपर रहनेमें समर्थ नहीं हुए। जिस महातपस्वी रन्तिदेवने अपने तपके प्रभावसे इन्द्रसे यह वर मांगा था, कि "मेरे अपरम्पार अन्नके ढेर सदा-सर्वदा तैयार रहें, मेरे द्वारपर प्रति दिन अनगिनत अतिथि उपस्थित

उपातिष्ठन्त पशवः स्वयं तं संशितव्रतम् ।
ग्राम्यारण्या महात्मानं रन्तिदेवं यशस्विनम् ॥१२२॥
महानदी चर्मराशेरुत्क्लेदात्ससृजे यतः ।
ततश्चर्मण्वतीत्येवं विख्याता सा महानदी ॥ १२३ ॥
ब्राह्मणेभ्यो ददौ निष्कान्सदसि प्रतते नृपः ।
तुभ्यं निष्कं तुभ्यं निष्कमिति क्रोशन्ति वै द्विजाः ॥१२४॥
सहस्रं तुभ्यमित्युक्त्वा ब्राह्मणान्संप्रपद्यते ।
अन्वाहार्योपकरणं द्रव्योपकरणं च यत् ॥ १२५ ॥
घटाः पात्र्यः कटाहानि स्थाल्यश्च पिठराणि च ।
नासीत्किंचिदसौवर्णं रन्तिदेवस्य धीमतः ॥ १२६ ॥
सांकृते रन्तिदेवस्य यां रात्रिमवसन् गृहे ।
आलभ्यन्त शतं गावः सहस्राणि च विंशतिः ॥ १२७ ॥
तत्र स्म सूदाः क्रोशन्ति सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
सूपं भूयिष्ठमश्नीध्वं नाद्य मांसं यथा पुरा ॥ १२८ ॥

रहें, किसी समयमें भी मेरी श्रद्धा, कम न होवे, और मुझे किसीके समीप याञ्चा करनी न पडे, " इन्द्रने उन्हे इच्छानुसार वरदान किया। व्रत करनेवाले, महात्मा रन्तिदेवके यज्ञके समयमें गांव और वनके पशु स्वयं आके उपस्थित होते थे। उनके यज्ञमें मरे हुए पशुओंके रुधिर और चर्बीसे एक महानदी प्रकट हुई थी, वह आज तक पृथ्वीपर चर्मण्वती नामसे विख्यात है। (१२०-१२३)

जिस रन्तिदेवने सभाके बीच सुवर्णमुद्रा दान करनेके समय "तुम्हे एक सौ स्वर्ण मुद्रा दान करूंगा, तुम्हे एक सौ स्वर्णमुद्रा दूंगा, "-इसी भांति मन्त्रसे सङ्कल्प करके जब देनेको उद्यत हुए, तब ब्राह्मण लोग हम लोग एक सौ स्वर्णमुद्रा नहीं लेंगे,— ऐसा वचन कहके कोलाहल मचाने लगे; अनन्तर महात्मा रन्तिदेवने उन हर एक ब्राह्मणोंको एक एक हजार स्वर्ण मुद्रा प्रदान की थी। उस बुद्धिमान राजा रन्तिदेवकी पाकशालामें कलसी, कडाही, थाली लोटे आदि भोजनके पात्र सुवर्णके अतिरिक्त दूसरी धातुके नहीं थे; जिसके गृहमें रात्रिमें पहुंचे हुए अतिथियोंके वास्ते जिस रात्रिको बीस हजार गौवें प्राप्त कियीं, उस रात्रि में सुन्दर मणि जटित कुण्डलोंसे शोभित रसोई बनानेवाले पुरुष "आज पहिलेकी भांति मांस नहीं है, इससे तुम लोग आज

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १२९ ॥
सगरं च महात्मानं मृतं शुश्रुम सृञ्जय
ऐक्ष्वाकं पुरुषव्याघ्रमतिमानुषविक्रमम् ॥ १३० ॥
षष्टिः पुत्रसहस्राणि यं यान्तमनुजग्मिरे ।
नक्षत्रराजं वर्षान्ते व्यभ्रे ज्योतिर्गणा इव ॥ १३१ ॥
एकच्छत्रा मही यस्य प्रतापादभवत्पुरा ।
योऽश्वमेधसहस्रेण तर्पयामास देवताः ॥ १३२ ॥
यः प्रादात्कनकस्तम्भं प्रासादं सर्वकाञ्चनम् ।
पूर्णं पद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १३३ ॥
द्विजातिभ्योऽनुरूपेभ्यः कामांश्च विविधान्बहून् ।
यस्यादेशेन तद्वित्तं व्यभजन्त द्विजातयः ॥ १३४ ॥
खानयामास यः कोपात्पृथिवीं सागराङ्किताम् ।
यस्य नाम्ना समुद्रश्च सागरत्वमुपागतः ॥ १३५ ॥

इच्छानुसार दालके सङ्ग भोजन करो;" –ऐसे ही वचन कहते हुए अतिथियोंके समीप प्रार्थना करते थे। हे सृञ्जय! महाराज रन्तिदेव धर्म, अर्थ, ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, परन्तु उन्हें भी कालके कराल ग्रास में पतित होना पडा; इससे तुम यज्ञ और दक्षिणारहित अपने पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो। (१२४-१२९)

हे सृञ्जय! अत्यन्त पराक्रमी इक्ष्वाकु कुलभूषण पुरुष शार्दूल महात्मा सगर की कथा तुमने सुनी होगी; उन्हें भी परलोकमें गमन करना पडा। महाराज सगरके गमन करनेके समय साठ हजार पुत्र इस प्रकार उनके अनुगामी होते थे, जैसे शरदृतुमें चन्द्रमाके आस पास नक्षत्रमण्डली दीख पडती है। उन्होंने सम्पूर्ण पृथ्वीपर एकछत्र राज्य करके एक हजार अश्वमेध यज्ञोंके अनुष्ठानसे देवताओंको तृप्त किया था, और हर एक यज्ञोंके पूर्ण होनेपर राजा सगर ने सुवर्णस्तम्भ, सुन्दर नेत्र और उत्तम शरीरवाली स्त्रियोंके सहित उत्तम शय्यासे पूरित श्रेष्ठ मन्दिर प्रदान किये थे, उनकी आज्ञानुसार ब्राह्मणोंने उन समस्त वस्तुओंको आपस में बांट लिया था। (१३०—१३४)

राजा सगरने क्रुद्ध होकर पृथ्वीको खनके समुद्रको पुनर्वार उत्पन्न किया

स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १३६ ॥
राजानं च पृथुं वैन्यं मृतं शुश्रुम सृञ्जय ।
यमभ्यषिंचन्संभूय महारण्ये महर्षयः ॥ १३७ ॥
प्रथयिष्यति वै लोकान्पृथुरित्येव शब्दितः ।
क्षताद्यो वै त्रायतीति स तस्मात्क्षत्रियः स्मृतः॥१३८॥
पृथुं वैन्यं प्रजा दृष्ट्वा रक्ताः स्मेति यदब्रुवन् ।
ततो राजेति नामास्य अनुरागादजायत ॥ १३९ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी पुटके पुटके मधु ।
सर्वा द्रोणदुघा गावो वैन्यस्यासन्प्रशासतः ॥ १४० ॥
अरोगाः सर्वसिद्धार्था मनुष्या अकुतोभयाः ।
यथाभिकाममवसन् क्षेत्रेषु च गृहेषु च ॥ १४१ ॥
आपस्तस्तम्भिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।

था, उसही समयसे समुद्र सागर नामसे विख्यात हुआ है। वह धर्म, अर्थ,ज्ञान और वैराग्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ और तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे; तौ भी करालकाल उन्हें हस्तगत करनेमें न चुका; इससे तुम पुत्रके निमित्त शोक वृथा मत करो। (१३६–१३६)

हे सृञ्जय! तुमने वेणुपुत्र राजा पृथुकी कथा सुनी होगी, उन्हें भी इस लोकसे परलोकमें गमन करना पडा। जिस राजा पृथुको महर्षियोंने जङ्गलके बीच राज्यपद पर अभिषिक्त करके "ये पृथ्वीके सम्पूर्ण भागको उन्नत करेंगे; इससे इसका नाम पृथु हुआ" ऐसा वचन कहके उनका नाम पृथु रक्खा था; उन्होंने दुखःसे प्रजाओंका उद्धार किया था; इससे वह राजा क्षत्रिय शब्दसे प्रसिद्ध हुए; और सब प्रजा " हम सब तुम्हारे ऊपर अनुरक्त हैं " ऐसा अनुराग भाव प्रकाशित कर वह राजा कहके विख्यात हुए। (१३७–१३९)

राजा पृथुके राज्यशासनके समय विना हलसे जोते ही पृथ्वीमें अन्न उत्पन्न होते थे; वृक्षोंके हर एक पत्तोंमें मधु प्रकट होती और गौएं कलश परिमाण दूध देती थीं; उस समय सम्पूर्ण मनुष्योंकी अभिलाषा पूरी होती थी और सब कोई रोगरहित होकर घर तथा क्षेत्रमें अपनी इच्छानुसार निवास करते थे। जब महाराज पृथु समुद्र यात्रा करते थे, तब समुद्रकी लहरका शब्द बन्द हो जाता और नदियोंके जल स्तम्भित हो

सरितश्चानुदीर्यन्त ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥ १४२ ॥
हैरण्यांस्त्रिनलोत्सेधान्पर्वतानेकविंशतिम् ।
ब्राह्मणेभ्यो ददौ राजा योऽश्वमेधे महामखे ॥ १४३ ॥
स चेन्ममार सृञ्जय चतुर्भद्रतरस्त्वया ।
पुत्रात्पुण्यतरश्चैव मा पुत्रमनुतप्यथाः ॥ १४४ ॥
किंवा तूष्णीं ध्यायसे सृञ्जय त्वं न मे राजन्वाचमिमां शृणोषि ।
न चेन्मोघं विप्रलप्तं ममेदं पथ्यं मुमूर्षोरिव सुप्रयुक्तम् ॥ १४५ ॥
सृञ्जय उवाच–शृणोमि ते नारदवाचमेनां विचित्रार्थां स्रजमिव पुण्यगन्धाम् ।
राजर्षीणां पुण्यकृतां महात्मनां कीर्त्या युक्तानां शोकनिर्णाशनार्थाम् १४६ ॥
न ते मोघं विप्रलप्तं महर्षे दृष्ट्वैवाहं नारद त्वां विशोकः ।
शुश्रूषे ते वचनं ब्रह्मवादिन्न ते तृप्याम्यमृतस्येव पानात् ॥१४७ ॥
अमोघदर्शिन्मम चेत्प्रसादं सन्तापदग्धस्य विभो प्रकुर्याः ।

जाते थे; मार्गमें गमन करनेके समय उनके रथके ध्वजाकी कहीं पर किसी भांति भी रुकावट नहीं होती थी। उन्होंने वृहत् अश्वमेध यज्ञके अनुष्ठानमें एक हजार दोसौ हाथ ऊंचा सुवर्णका पर्वत तैयार कर ब्राह्मणोंको दान किया था। महाराज पृथु धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य इन चारों विषयोंमें तुमसे श्रेष्ठ तथा तुम्हारे पुत्रसे अधिक पुण्यात्मा थे, जब उन्हें भी मृत्युके मुखमें पतित होना पडा तब तुम यज्ञ दक्षिणाहीन अपने पुत्रके निमित्त व्यर्थ शोक मत करो। नारद मुनि बोले, हे सृञ्जय ! तुम मौनावलम्बन करके किसकी चिन्ता कर रहे हो ? तुम क्या मेरे इन सब वचनोंको नहीं सुनते हो ? यदि तुम नहीं सुनते हो, तो काल ग्रस्त रोगी पुरुषको औषध देनेकी भांति मेरे ये सब उपदेश युक्त वचन तुम्हारे समीपमें निष्फल तथा व्यर्थ हुए। (१२९–१४९)

सृञ्जय बोले, देवर्षि ! कीर्त्तिमान पवित्र चरित्रवाले महात्मा राजर्षियोंकी कथा, जो कि आपने मेरे समीप वर्णन की है, वह शोक मोहका नाश करनेवाली और सुगन्धि युक्त मालाकी भांति मनोहर है, मैंने विचित्र अर्थसे युक्त आपके संपूर्ण उपदेशोंको चित्त लगाके सुना है। हे ब्रह्मवादी–श्रेष्ठ महर्षि ! आपके कहे हुए; हितोपदेश वचन निष्फल नहीं हुए; अधिक क्या कहूं, आपके दर्शन मात्रसे ही मैं शोक रहित हुआ हूं। जैसे कोई अमृत पीके तृप्त नहीं होता, वैसे ही आपके उपदेश युक्त वचनोंको बार बार सुनकर भी मेरा

सुतस्य संजीवनमद्य मे स्यात्तवप्रसादात्सुतसङ्गमश्च ॥ १४८ ॥
नारद उवाच— यस्ते पुत्रो गमितोऽयं विजातः स्वर्णष्ठीवी यमदात्पर्वतस्ते ।
पुनस्तु ते पुत्रमहं ददामि हिरण्यनाभं वर्षसहस्रिणं च ॥१४९॥ [१०३५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासन पर्वणि षोडशराजोपाख्याने एकोनत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच- स कथं काञ्चनष्ठीवी सृञ्जयस्य सुतोऽभवत् ।
पर्वतेन किमर्थं वा दत्तस्तेन ममार च ॥ १ ॥
यदा वर्षसहस्रायुस्तदा भवति मानवः ।
कथमप्राप्तकौमारः सृञ्जयस्य सुतो मृतः ॥ २ ॥
उताहो नाममात्रं वै सुवर्णष्ठीविनोऽभवत् ।
कथं वा काञ्चनष्ठीवीत्येतदिच्छामि वेदितुम् ॥ ३ ॥
श्रीकृष्ण उवाच- अत्र ते वर्णयिष्यामि यथावृत्तं जनेश्वर ।

चित्त तृप्त नहीं होता है। हे देवर्षि! आपके समान महात्मा पुरुषोंके दर्शन कदापि निष्फल नहीं होते, इससे यदि आप पुत्र शोकसे शोकित मुझ दीनके ऊपर प्रसन्न हुए हों, तो आपकी कृपासे मेरा पुत्र फिर जीवित होके मेरे सङ्ग वार्त्तालाप करे। नारद मुनि बोले, हे सृञ्जय पर्वत ऋषिके वरप्रभावसे तुम्हें जो पुत्र प्राप्त हुआ था, तथा सुवर्णष्ठीवी नामक तुम्हारा जो गुणवान पुत्र इस समय प्राण रहित होकर पृथ्वी पर शयन कर रहा है, मैं तुम्हारे उस सुवर्णप्रद पुत्रको फिर जिला देता हूं; अब मेरे आशीर्वादसे इस बार एक हजार वर्ष पर्यन्त जीवित रहेगा। (१४६-१४९)

शान्तिपर्वमें उनतीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे कृष्ण! सृञ्जयराजका पुत्र सुवर्णष्ठीवी किस भांति हुआ और पर्वत ऋषिके वरसे उत्पन्न होके भी वह किस कारण अकालमें ही मृत्यु ग्रस्त हुआ? उस समयमें जब कि सब मनुष्योंकी आयु एक हजार वर्ष पर्यन्त थी, तब सृञ्जयपुत्रने कुमार अवस्थाके न बीतते ही क्यों यमलोकमें गमन किया? जो, क्या, उसका नाम मात्र सुवर्णष्ठीवी था, वा निष्ठीवनमें सुवर्ण उत्पन्न होता था, इस कारण उसका नाम सुवर्णष्ठीवी हुआ? यदि स्वाभाविक सुवर्ण उत्पन्न होता था, तो किस भांति वह सुवर्णष्ठीवी हुआ, मैं इस विषयको सुननेकी इच्छा करता हूं। (१-३)

श्रीकृष्ण बोले, महाराज! इस विषयमें

नारदः पर्वतश्चैव द्वावृषी लोकसत्तमौ ॥ ४ ॥
मातुलो भागिनेयश्च देवलोकादिहागतौ ।
विहर्तुकामौ संप्रीत्या मानुषेषु पुरा विभो ॥ ५ ॥
हविः पवित्रभोज्येन देवभोज्येन चैव हि ।
नारदो मातुलश्चैव भागिनेयश्च पर्वतः ॥ ६ ॥
तावुभौ तपसोपेताववनीतलचारिणौ ।
भुञ्जानौ मानुषान्भोगान् यथावत्पर्यधावताम् ॥ ७ ॥
प्रीतिमन्तौ मुदा युक्तौ समयं चैव चक्रतुः ।
यो भवेद्धृदि सङ्कल्पः शुभो वा यदि वाऽशुभः ॥ ८ ॥
अन्योन्यस्य च आख्येयो मृषा शापोऽन्यथा भवेत् ।
तौ तथेति प्रतिज्ञाय महर्षी लोकपूजितौ ॥ ९ ॥
सृञ्जयं श्वैत्यमभ्येत्य राजानमिदमूचतुः ।
आवां भवति वत्स्यावः कञ्चित्कालं हिताय ते ॥ १० ॥
यथावत्पृथिवीपाल आवयोः प्रगुणीभव ।
तथेति कृत्वा राजा तौ सत्कृत्योपचचार ह ॥ ११ ॥

कुछ घटना हुई थी, मैं वह सम्पूर्ण वृत्तान्त वर्णन करता हूं, आप सुनिये। लोक-सत्तम नारद और पर्वत दो ऋषि हैं; उन दोनोंमें मामा और भानजेका सम्बन्ध है, उसमें नारद मामा और पर्वत भानजे थे। पहिले किसी समयमें घृत चावल आदि अन्न भोजन करनेकी अभिलाषासे उन दोनों ऋषियोंने मर्त्त्यलोकमें आगमन किया था। अनन्तर वे दोनों ऋषि पृथ्वीपर मनुष्योंके योग्य सम्पूर्ण वस्तुओंको भोगते हुए चारों ओर भ्रमण करने लगे। उन दोनोंने प्रीतिपूर्वक आपसमें यह नियम स्थापित किया कि "चाहे शुभ हो चाहे अशुभ होवे, जिस समय हम लोगोंके बीच जैसे भावका उदय होगा; यदि कोई इसमें अन्यथाचरण करेगा, तो वह शापका भागी होगा। उन दोनों ऋषियोंने "ऐसाही होगा" यह वचन कहके ऊपर कहे हुए नियमको पालनकरनेके वास्ते प्रतिज्ञा की थी। अनन्तर सब लोगोंमें पूजित वे दोनों ऋषि राजा सृञ्जयके समीप जाके यह वचन बोले, हे महाराज! तुम्हारे हितके निमित्त हम दोनों इस स्थानपर कुछ दिनोंतक वास करेंगे; तुम हम लोगोंके उपर अनुकूल होकर यहांपर रहनेके वास्ते आज्ञा दो। राजा सृञ्जय उन दोनो

ततः कदाचित्तौ राजा महात्मानौ तपोधनौ ।
अब्रवीत्परमप्रीतः सुतेयं वरवर्णिनी ॥ १२ ॥
एकैव मम कन्यैषा युवां परिचरिष्यति ।
दर्शनीयाऽनवद्याङ्गी शीलवृत्तसमाहिता ॥ १३ ॥
सुकुमारी कुमारी च पद्मकिंजल्कसुप्रभा ।
परमं सौम्यमित्युक्तं ताभ्यां राजा शशास ताम् ॥१४॥
कन्ये विप्रावुपचर देववत्पितृवच्च ह ।
सा तु कन्या तथेत्युक्त्वा पितरं धर्मचारिणी ॥ १५ ॥
यथा निदेशं राज्ञस्तौ सत्कृत्योपचचार ह ।
तस्यास्तेनोपचारेण रूपेणाप्रतिमेन च ॥ १६ ॥
नारदं हृच्छयस्तूर्णं सहसैवाभ्यपद्यत ।
ववृधे हि ततस्तस्य हृदि कामो महात्मनः ॥ १७ ॥
यथा शुक्लस्य पक्षस्य प्रवृत्तो चन्द्रमाः शनैः ।
न च तं भागिनेयाय पर्वताय महात्मने ॥ १८ ॥

ऋषियोंके वचनको सुनते ही "जो आज्ञा" कहके उनकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुए। (४—११)

इस ही भांति कुछ दिन व्यतीत हुए, तब एक दिन राजा सृञ्जय प्रीतिपूर्वक उन दोनों महात्माओंसे बोले, हे दोनों महात्मन्! मेरा एक निवेदन सुनिये। मेरे एक पद्मपुष्पके समान सुन्दर रूपवाली, कामिनीकुलकी भूषण, शीलता आदि गुणोंसे युक्त सुकुमारी नामकी अनिन्दिता कन्या है, वह अकेली ही आप दोनों महात्माओंकी सेवा करेगी, इस विषयमें आप लोगोंका जो कुछ अभिप्राय हो; उसे प्रकाशित कीजिये। राजाके वचनको सुनकर उन दोनों ऋषियोंने "उत्तम है"– ऐसा कहके उस विषयमें अपनी सम्मति प्रकाशित की। तब राजा सृञ्जय अपनी कन्यासे यह वचन बोले। (१२–१४)

हे पुत्री! तुम पिता और देवताकी भांति इन दोनों ऋषियोंकी सेवा करो। पिताकी आज्ञा सुनके वह अनिन्दिता कन्या उन दोनों महात्माओंकी सेवा करने लगी। उसकी अकपट सेवा और सुन्दर रूपको देखकर थोडे ही समयके बीच महात्मा नारद ऋषिके अन्तःकरण में सहसा कामदेव प्रकट होके शुक्लपक्ष के चन्द्रमाकी भांति क्रमसे बढने लगा; परन्तु धर्मात्मा नारद ऋषिने लज्जापूर्वक अपने भानजे महात्मा पर्वत

शशंस हृच्छयं तीव्रं व्रीडमानः स धर्मवित्।
तपसा चेङ्गितैश्चैव पर्वतोऽथ बुबोध तम् ॥ १९ ॥
कामार्तं नारदं क्रुद्धः शशापैनं ततो भृशम्।
कृत्वा समयमव्यग्रो भवान्वै सहितो मया ॥ २० ॥
यो भवेद्धृदिसङ्कल्पः शुभो वा यदि वाऽशुभः।
अन्योन्यस्य स आख्येय इति तद्वै मृषा कृतम् ॥२१॥
भवता वचनं ब्रह्मंस्तस्मादेष शपाम्यहम्।
न हि कामं प्रवर्तन्तं भवानाचष्ट मे पुरा ॥ २२ ॥
सुकुमार्यां कुमार्यां ते तस्मादेष शपाम्यहम्।
ब्रह्मचारी गुरुर्यस्मात्तपस्वी ब्राह्मणश्च सन् ॥ २३ ॥
अकार्षीः समयभ्रंशमावाभ्यां यः कृतो मिथः।
शप्स्ये तस्मात्सुसंक्रुद्धो भवन्तं तं निबोध मे ॥ २४ ॥
सुकुमारी च ते भार्या भविष्यति न संशयः।
वानरं चैव ते रूपं विवाहात्प्रभृति प्रभो ॥ २५ ॥
संद्रक्ष्यन्ति नराश्चान्ये स्वरूपेण विनाशनम्।
स तद्वाक्यं तु विज्ञाय नारदः पर्वतं तथा ॥ २६ ॥

ऋषिके समीप निज मानसिक भावको प्रकाश नहीं किया। महर्षि पर्वतने अपने तपके प्रभावसे नारदको कामार्त्त समझा और अत्यन्त क्रुद्ध होके उनसे यह वचन बोले, "आपने स्वयं मेरे सङ्ग यह नियम किया था, कि" हम दोनोंके बीच जिसके मनमें शुभ अशुभ जैसे भावका उदय होगा उसी समय कपट रहित होकर आपसमें प्रकाश करेंगे; परन्तु तुमने वह प्रतिज्ञा झूठी, की क्यों कि राजपुत्री सुकुमारीके विषयमें जो आपकी काम-प्रवृति उत्पन्न हुई है, उसे इतने दिनोंतक आपने मेरे समीप प्रकाशित नहीं किया; इससे मैं आपको शाप दूंगा। आप मेरे गुरु, ब्रह्मचर्य व्रतमें निष्ठावान और तपस्वी ब्राह्मण हैं, परन्तु हम लोगोंके आपसमें किये हुए नियम को आपने उल्लङ्घन किया है, उस ही कारण मैं तुम्हें जैसा शाप दूंगा, उसे सुनो। (१४—२३)

राजकन्या सुकुमारी तुम्हारी भार्या होगी इसमें सन्देह नहीं है; परन्तु विवाह के समयसे आप स्वरूप भ्रष्ट होकर अपनी विवाहित स्त्री और अन्य मनुष्यों को वानर रूपसे दीख पड़ेंगे। देवर्षि नारदने अपने भानजेके अशुभ शाप-

अशपत्तमपि क्रोधाद्भागिनेयं स मातुलः ।
तपसा ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ॥ २७ ॥
युक्तोऽपि नित्यधर्मश्च न वै स्वर्गमवाप्स्यसि ।
तौ तु शप्त्वा भृशं क्रुद्धौ परस्परममर्षणौ ॥ २८ ॥
प्रतिजग्मतुरन्योन्यं क्रुद्धाविव गजोत्तमौ ।
पर्वतः पृथिवीं कृत्स्नां विचचार महामतिः ॥ २९ ॥
पूज्यमानो यथान्यायं तेजसा स्वेन भारत ।
अथ तामलभत्कन्यां नारदः सृञ्जयात्मजाम् ॥ ३० ॥
धर्मेण विप्रप्रवरः सुकुमारीमनिन्दिताम् ।
सा तु कन्या यथा शापं नारदं तं ददर्श ह ॥ ३१ ॥
पाणिग्रहणमन्त्राणां नियोगादेव नारदम् ।
सुकुमारी च देवर्षिं वानरप्रतिमाननम् ॥ ३२ ॥
नैवावमन्यत तदा प्रीतिमत्येव चाभवत् ।
उपतस्थे च भर्तारं न चान्यं मनसाऽप्यगात् ॥ ३३ ॥
देवं मुनिं वा यक्षं वा पतित्वे पतिवत्सला ।
ततः कदाचिद्भगवान्पर्वतोऽनुचचार ह ॥ ३४ ॥

युक्त वचन सुनके क्रुद्ध होकर उन्हें भी शाप दिया, कि " यद्यपि तुम तपसा, ब्रह्मचर्य, सत्य और दम आदि गुणोंसे युक्त तथा अटल रूपसे नित्य धर्ममें स्थित हो " तौभी मेरे शापसे अब पहिलेकी भांति स्वर्ग लोकमें गमन करनेमें समर्थ न होसकोगे। इसी भांति उन दोनों ऋषियोंने क्रोधपूर्वक एक दूसरेको शाप देकर क्रुद्ध हाथीकी भांति अपने अपने अभिलषित स्थानपर गमन किया। महाबुद्धिमान पर्वत ऋषि निज तेज प्रभावसे समस्त मनुष्योंमें सम्मानित होकर पृथ्वीपर भ्रमण करनेमें प्रवृत्त हुए, और विप्रवर नारद ऋषिने शास्त्र विधिके अनुसार सृञ्जयराजकी कन्या अति सुकुमारीको ग्रहण किया; परन्तु वह कन्या पाणीग्रहणके समयसे ही नारद ऋषिको पर्वत ऋषिके शाप प्रभावसे वानर रूपसे देखने लगी। आश्चर्यका यह विषय है, कि उस धर्मज्ञ राजपुत्रीने नारद ऋषिके बन्दरके समान मुख और रूपको देखकर भी उनकी अपमानना नहीं की, बल्कि प्रीति पूर्वक अपने स्वामीकी सेवा करनेमें प्रवृत्त हुई, उसने अपने पतिमें अनुरक्त होकर देवता, यक्ष, मुनि तथा अन्य किसी पुरुषको कभी मनसे भी

वनं विरहितं किंचित्तत्रापश्यत्स नारदम् ।
ततोऽभिवाद्य प्रोवाच नारदं पर्वतस्तदा ॥ ३५ ॥
भवान्प्रसादं कुरुतात्स्वर्गादेशाय मे प्रभो ।
तमुवाच ततो दृष्ट्वा पर्वतं नारदस्तथा ॥ ३६ ॥
कृताञ्जलिमुपासीनं दीनं दीनतरः स्वयम् ।
त्वयाऽहं प्रथमं शप्तो वानरस्त्वं भविष्यसि ॥ ३७ ॥
इत्युक्तेन मया पश्चाच्छप्तस्त्वमपि मत्सरात् ।
अद्य प्रभृति वै वासं स्वर्गे नावाप्स्यसीति ह ॥ ३८ ॥
तव नैतद्धिसदृशं पुत्रस्थाने हि मे भवान् ।
निवर्तयेतां तौ शापावन्योन्येन तदा मुनी ॥ ३९ ॥
श्रीसमृद्धं तदा दृष्ट्वा नारदं देवरूपिणम् ।
सुकुमारी प्रदुद्राव परपत्यभिशङ्कया ॥ ४० ॥
तां पर्वतस्ततो दृष्ट्वा प्रद्रवन्तीमनिन्दिताम् ।
अब्रवीत्तव भर्तैष नात्र कार्या विचारणा ॥ ४१ ॥

पतिभावसे नहीं देखा। तिसके अनन्तर किसी समय भगवान् पर्वत ऋषिने अपने मामा नारद ऋषिको वनके बीच एकान्त स्थानमें देखा। उस समय वह नारद ऋषिको प्रणाम करके यह वचन बोले, हे भगवन्! आप मेरे ऊपर प्रसन्न होके फिर स्वर्ग लोकमें गमन करनेकी अनुमति दीजिये। अनन्तर शापसे अत्यन्त दुःखित महात्मा नारद ऋषि अपने भानजे पर्वत ऋषिको शापसे कातर और हाथ जोडके उपासककी भांति अपने सम्मुख स्थित देखके उनसे बोले, हे तात! पहिले मुझे "तुम बन्दर होगे," यह कहके तुमने शाप दिया। तब मैंने भी क्रोधपूर्वक तुम्हें शाप दिया, कि "आजसे तुम अब स्वर्ग लोकमें गमन न कर सकोगे" देखो तुम मेरे पुत्रके समान हो, इससे मेरे सङ्ग ऐसा व्यवहार करना तुम्हें उचित नहीं था। इसी भांति वाद विवाद करके वे दोनों ऋषि शान्त होके आपसमें एक दूसरेको अपने शापसे मुक्त किया। (२४-३९)

तब देवर्षि नारद पहिलेकी भांति फिर अपने दिव्य स्वरूपको प्राप्त हुए, इधर राजपुत्री अति सुकुमारी श्रेष्ठ नारद ऋषिका देवतोंके समान तेजपुञ्जसे युक्त शरीर देखके अन्य पुरुष समझ उनके समीपसे भागने लगी। तब पर्वत ऋषि अनिन्दिता सुकुमारी राजपुत्रीको भागती देखके बोले, हे पतिव्रता! ये तुम्हारे

ऋषिः परमधर्मात्मा नारदो भगवान्प्रभुः ।
नवैवाभेयहृदयो मा तेऽभूदत्र संशयः ॥ ४२ ॥
सानुनीता बहुविधं पर्वतेन महात्मना ।
पर्वतोऽथ ययौ स्वर्गं नारदोऽभ्यगमद् गृहान् ॥ ४३ ॥
वासुदेव उवाच- प्रत्यक्षकर्ता सर्वस्य नारदो भगवानृषिः ।
एष वक्ष्यति ते पृष्टो यथा वृत्तं नरोत्तम ॥ ४४ ॥ [१०६९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि नारदपर्वतोपाख्याने त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३०

वैशम्पायन उवाच-ततो राजा पाण्डुसुतो नारदं प्रत्यभाषत ।
भगवञ्श्रोतुमिच्छामि सुवर्णष्ठीविसम्भवम् ॥ १ ॥
एवमुक्तस्तु स मुनिर्धर्मराजेन नारदः ।
आचचक्षे यथावृत्तं सुवर्णष्ठीविनं प्रति ॥ २ ॥
नारद उवाच— एवमेतन्महाबाहो यथाऽयं केशवोऽब्रवीत् ।
कार्यस्यास्य तु यच्छेषं तत्ते वक्ष्यामि पृच्छतः ॥ ३ ॥

वेही पति निरहानिरहमें उनके महात्मा नारद ऋषि हैं, इसमें कुछ सन्देह नहीं है, इसलिये तुम शङ्का रहित होकर इनकी अनुगामिनी बनो। महात्मा पर्वत ऋषि ने उस राजकन्याके समीप ऐसे विनय युक्त वचन कहके फिर आपहीके आपका वृत्तान्त वर्णन किया, तब राजकन्या सुकुमारी पर्वत ऋषिके मुख उनका वृत्तान्त सुनके शान्त हुई। अनन्तर महर्षि पर्वत स्वर्गलोक और नारद ऋषिने अपने घरकी ओर गमन किया। (४०-४३)

श्रीकृष्ण बोले, महाराज! मैंने आपके समीप जिस वृत्तान्तको वर्णन किया, वह सब जिन्होंने प्रत्यक्ष देखा था, वह भगवान् नारद ऋषि यहीं पर बैठे हुए हैं; इससे आपके पूछनेपर ये स्वयं ही शेष वृत्तान्त वर्णन करेंगे। (४४) [१०६९]

शान्तिपर्वमें तीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें इकतीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर नारद मुनिसे यह वचन बोले, हे भगवन्! मैं उस सुवर्णष्ठीवीकी उत्पत्तिका वृत्तान्त आपके मुखसे सुननेकी इच्छा करता हूं। नारद मुनि युधिष्ठिरके पूछने पर सुवर्णष्ठीवीकी उत्पत्ति आदि सम्पूर्ण वृत्तान्तको वर्णन करनेमें प्रवृत्त होकर बोले, महाराज! महात्मा कृष्णने तुम्हारे समीप जो कुछ वर्णन किया, वह सब सत्य है, शेष वृत्तान्त मैं कहता हूं, तुम सुनो। (१-३)

अहं च पर्वतश्चैव स्वस्रीयो मे महामुनिः।
वस्तुकामावभिगतौ सृञ्जयं जयतां वरम् ॥ ४ ॥
तत्रावां पूजितौ तेन विधिदृष्टेन कर्मणा।
सर्वकामैः सुविहितौ निवसावोऽस्य वेश्मनि ॥ ५ ॥
व्यतिक्रान्तासु वर्षासु समये गमनस्य च।
पर्वतो मामुवाचेदं काले वचनमर्थवत् ॥ ६ ॥
आवामस्य नरेन्द्रस्य गृहे परमपूजितौ।
उषितौ समये ब्रह्मंस्तद्विचिन्तय साम्प्रतम् ॥ ७ ॥
ततोऽहमब्रुवं राजन्पर्वतं शुभदर्शनम्।
सर्वमेतत्त्वयि विभो भागिनेयोपपद्यते ॥ ८ ॥
वरेण च्छन्द्यतां राजा लभतां यद्यदिच्छति।
आवयोस्तपसा सिद्धिं प्राप्नोतु यदि मन्यसे ॥ ९ ॥
तत आहूय राजानं सृञ्जयं जयतां वरम्।
पर्वतोऽनुमतो वाक्यमुवाच कुरुपुङ्गव ॥ १० ॥
प्रीतौ स्वो नृपसत्कारैर्भवदार्जवसंभृतैः।

किसी समय मैं और मेरे भानजे महामुनि पर्वत ऋषि अर्थात् हम दोनोंने थोडे समयतक निवास करनेके वास्ते विजयी श्रेष्ठ राजा सृञ्जयके समीप गमन किया; वह यथारीतिके सत्कार्योंसे हम दोनोंकी सेवामें नियुक्त हुए। हम लोग उनके राजमन्दिरमें वास करके खाने पीनेकी समस्त वस्तुओंसे सम्मानित होकर वहां पर निवास करने लगे। इसी भांति वर्षाकाल बीतने पर जब हम लोगोंके गमन करनेका समय उपस्थित हुआ, तब पर्वत ऋषि मुझे सम्बोधन करके उस समयके अनुसार मुझसे यह वचन बोले, " हे ब्रह्मन्! हम लोगोंने इतने दिनोंतक इस राजाके घरमें परम सुखसे निवास किया है इस समय कैसे प्रत्युपकारसे इसका कल्याण होसकता है; इस विषयका विचार करो। " शुभ दर्शन पर्वत ऋषिके मुखसे ऐसा वचन सुनके मैंने कहा, " हे भागिनेय! तुम सब विषयोंके पूर्ण करनेमें समर्थ हो, इससे ऐसा कहना तुम्हें योग्य ही है, तुम राजाको इच्छानुसार वर देकर कृतार्थ करो। अथवा यदि तुम्हारी इच्छा होवे तो राजा सृञ्जय हम दोनोंके तप प्रभावसे सिद्धि प्राप्त करें। (४-९)

तिसके अनन्तर पर्वत ऋषि विजयी श्रेष्ठ राजा सृञ्जयसे यह वचन बोले, हे

आवाभ्यामभ्यनुज्ञातो वरं नृवर चिन्तय ॥ ११ ॥
देवानामविहिंसायां न भवेन्मानुषक्षयम्।
तद् गृहाण महाराज पूजार्हो नौ मतो भवान् ॥ १२॥

सृञ्जय उवाच— प्रीतौ भवन्तौ यदि मे कृतमेतावता मम।
एष एव परो लाभो निर्वृत्तो मे महाफलः ॥ १३ ॥
तमेवं वादिनं भूयः पर्वतः प्रत्यभाषत।
वृणीष्व राजन्सङ्कल्पं यत्ते हृदि चिरं स्थितम् ॥ १४ ॥

सृञ्जय उवाच— अभीप्सामि सुतं वीरं वीर्यवन्तं दृढव्रतम्।
आयुष्मन्तं महाभागं देवराजसमद्युतिम् ॥ १५ ॥

पर्वत उवाच— भविष्यत्येष ते कामो न त्वायुष्मान्भविष्यति।
देवराजाभिभूत्यर्थं सङ्कल्पो ह्येष ते हृदि ॥ १६ ॥
ख्यातः सुवर्णष्ठीवीति पुत्रस्तव भविष्यति।
रक्ष्यश्च देवराजात्स देवराजसमद्युतिः ॥ १७ ॥

राजन्! तुम्हारी निष्कपट सेवासे हम लोग बहुत प्रसन्न हुए हैं, इससे आज्ञा देता हूं, कि तुम्हारे मनमें जो अभिलाषा हो उसे इसही समय विशेष समालोचना करके देखो, यह कहनेका यही अभिप्राय है, कि देवताओंकी हिंसामें प्रवृत्त न होनेसे मनुष्योंका कदापि नाश नहीं होता, इससे तुम इस विषयमें सावधान होकर इच्छानुसार वर मांगो; क्यों कि तुम मेरे समीप वर ग्रहण करनेके योग्य पात्र हो। (९-१२)

सृञ्जय बोले, यदि आप दोनों मेरे ऊपर प्रसन्न हुए हैं, तब मुझे समस्त वस्तु प्राप्त हुई हैं; यही मेरे वास्ते परम लाभ तथा महत् फल समझिये, राजा सृञ्जयका ऐसा वचन सुनके पर्वत ऋषि बोले, हे राजन्! जो सङ्कल्प बहुत दिनोंसे तुम्हारे अन्तःकरणमें विराजमान है, उस ही चिर-संकल्पित वरको तुम इस समय हम लोगोंके समीप मांगो। राजा सृञ्जय बोले, हे महर्षि! हमारी यह इच्छा है, कि महासौभाग्य युक्त, आयुष्मान, वीर्यवान, दृढव्रती, वीर और देवराज इन्द्रके समान तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न होवे। उनके ऐसे वचन को सुनके पर्वत ऋषि बोले, महाराज! तुमने जो वर मांगा, वह तुम्हारी सम्पूर्ण इच्छा पूरी होगी; इसके अतिरिक्त तुम्हारे पुत्रके मलमूत्रसे सुवर्ण उत्पन्न होगा, इससे वह सुवर्णष्ठीवी नामसे विख्यात होगा। परन्तु तुमने मन ही मन देवराज इन्द्रके पराभवकी इच्छा की

तच्छ्रुत्वा सृञ्जयो वाक्यं पर्वतस्य महात्मनः ।
प्रसादयामास तदा नैतदेवं भवेदिति　　॥ १८ ॥
आयुष्मान्मे भवेत्पुत्रो भवतस्तपसा मुने ।
न च तं पर्वतः किंचिदुवाचेन्द्रव्यपेक्षया　　॥ १९ ॥
तमहं नृपतिं दीनमब्रुवं पुनरेव च ।
स्मर्तव्योऽस्मि महाराज दर्शयिष्यामि ते सुतम् ॥२०॥
अहं ते दयितं पुत्रं प्रेतराजवशं गतम् ।
पुनर्दास्यामि तद्रूपं मा शुचः पृथिवीपते　　॥ २१ ॥
एवमुक्त्वा तु नृपतिं प्रयातौ स्वो यथेप्सितम् ।
सृञ्जयश्च यथाकामं प्रविवेश स्वमन्दिरम्　　॥ २२ ॥
सृञ्जयस्याथ राजर्षेः कस्मिंश्चित्कालपर्यये ।
जज्ञे पुत्रो महावीर्यस्तेजसा प्रज्वलन्निव　　॥ २३ ॥
ववृधे स यथाकालं सरसीव महोत्पलम् ।
बभूव काञ्चनष्ठीवी यथार्थं नाम तस्य तत्　　॥ २४ ॥

थी; इससे तुम्हारा पुत्र दीर्घजीवी नहीं होगा। जो हो, तुम इन्द्रके समान तेजस्वी पुत्रकी सदा सर्वदा देवराज इन्द्रसे रक्षा करना। (१३-१७)

राजा सृञ्जय पर्वतऋषिके मुखसे ऐसा वचन सुनतेही अत्यन्त भय भीत होकर उनसे बोले, "हे भगवन्! ऐसा अनिष्ट न होवे, आपके तपप्रभावसे मेरा पुत्र दीर्घायु हो," इसी भांति विनययुक्त वचनोंसे उन्हें प्रसन्न करनेके निमित्त यत्न करने लगे; परन्तु पर्वतऋषिने इन्द्रके कल्याणकी इच्छा करके राजा सृञ्जयके वचनका कुछ भी उत्तर नहीं दिया। तब मैंने राजा सृञ्जयको अत्यन्त ही दीनभावसे युक्त देखकर कहा। महाराज! तुम आपदग्रस्त होनेपर मुझे स्मरण करना; तो उसही समय तुम मेरा दर्शन पाओगे और तुम्हारा वह प्रियपुत्र यदि यमलोकमें भी गया होगा, तौभी मैं उसे ज्योंका त्यों तुम्हारे समीप लाके उपस्थित करूंगा; इससे अब इस विषयके वास्ते शोक मत करो। (१८-२१)

राजा सृञ्जयसे ऐसा वचन कहके भानजे पर्वतऋषि और मैं, दोनोंने ही अपने अभिलषित स्थानपर गमन किया; सृञ्जय भी अपने राजभवनमें गये। कुछ दिनके अनन्तर राजऋषि सृञ्जयके अग्नि के समान तेजस्वी महापराक्रमी एक पुत्र उत्पन्न हुआ, और वह बालक तालावमें स्थित बडे कमलकी भांति

तदद्भुततमं लोके पप्रथे कुरुसत्तम ।
बुबुधे तच्च देवेन्द्रो वरदानं महर्षितः ॥ २५ ॥
ततः स्वाभिभवाद्भीतो बृहस्पतिमते स्थितः ।
कुमारस्यान्तरप्रेक्षी बभूव बलवृत्रहा ॥ २६ ॥
चोदयामास तद्वज्रं दिव्यास्त्रं मूर्तिमत्स्थितम् ।
व्याघ्रो भूत्वा जहीमं त्वं राजपुत्रमिति प्रभो ॥ २७॥
प्रवृद्धः किल वीर्येण मामेषोऽभिभविष्यति ।
सृञ्जयस्य सुतो वज्र यथैनं पर्वतोऽब्रवीत् ॥ २८ ॥
एवमुक्तस्तु शक्रेण वज्रः परपुरञ्जयः ।
कुमारमन्तरप्रेक्षी नित्यमेवान्वपद्यत ॥ २९ ॥
सृञ्जयोऽपि सुतं प्राप्य देवराजसमद्युतिम् ।
हृष्टः सान्तःपुरो राजा वननित्यो बभूव ह ॥ ३० ॥
ततो भागीरथी तीरे कदाचिन्निर्जने वने ।

क्रमसे बढने लगा। परन्तु पर्वतऋषिके वरप्रभावसे उस बालकके निष्ठीवनसे प्रकृत रूपसे सुवर्ण उत्पन्न होने लगा; इसही कारण उसका नाम भी सुवर्णष्ठीवी हुआ। (२२-२४)

नारद मुनि बोले, हे कुरुसत्तम युधिष्ठिर! तिसके अनन्तर यह लोक-विसयकर समाचार चारों ओर फैल गया और बलि तथा वृत्रासुरके नाश करनेवाले भगवान् इन्द्रने भी सुना, कि पर्वतऋषिके वर प्रभावसे राजा सृञ्जयके एक अद्भुत पुत्र उत्पन्न हुआ है; उससे उन्होंने अपनी पराजयके भयसे डरके बृहस्पतिके निकट सब वृत्तान्त प्रकाश किया; फिर देवतोंके गुरु बृहस्पतिकी सम्मतिके अनुसार उस राजपुत्रका छिद्र खोजने लगे और मूर्त्तिमान दिव्य अस्त्र वज्रको सम्बोधन करके बोले, हे वज्र! पर्वतऋषिकेवर प्रभावसे राजा सृञ्जयको एक पुत्र उत्पन्न हुआ है, वह युवा अवस्था प्राप्त होनेसे अवश्य ही मुझे पराजित करेगा: इससे तुम बाघका रूप धारण करके उसका वध करो,ऐसा कहके उन्होंने उस बालकके मारनेकी इच्छासे वज्र चलाया तब शत्रुओंके जीतनेवाला वज्र इन्द्रकी ऐसी आज्ञा सुनकर गुप्तरीतिसे उस राजपुत्रका छिद्र खोजता हुआ उसके पीछे घूमने लगा। इधर राजा सृञ्जय देवराज इन्द्रके समान तपस्वी पुत्रको पाके प्रसन्न चित्तसे अन्तःपुरवासी जनोंके सहित उस राजकुमारकी रक्षाके वास्ते सर्वदा वनमें निवास करने लगे। (२५-३०)

धात्री द्वितीयो बालः स क्रीडार्थं पर्यधावत ॥ ३१ ॥
पञ्चवर्षकदेशीयो बालो नागेन्द्रविक्रमः।
सहसोत्पतितं व्याघ्रमाससाद महाबलम् ॥ ३२ ॥
स बालस्तेन निष्पिष्टो वेपमानो नृपात्मजः।
व्यसुः पपात मेदिन्यां ततो धात्री विचुक्रुशे ॥ ३३ ॥
हत्वा तु राजपुत्रं स तत्रैवान्तरधीयत।
शार्दूलो देवराजस्य माययान्तर्हितस्तदा ॥ ३४ ॥
धात्र्यास्तु निनदं श्रुत्वा रुदत्या परमार्तवत्।
अभ्यधावत तं देशं स्वयमेव महीपतिः ॥ ३५ ॥
स ददर्श शयानं तं गतासुं पीतशोणितम्।
कुमारं विगतानन्दं निशाकरमिव च्युतम् ॥ ३६ ॥
स तमुत्सङ्गमारोप्य परिपीडितमानसः।
पुत्रं रुधिरसंसिक्तं पर्यदेवयदातुरः ॥ ३७ ॥
ततस्ता मातरस्तस्य रुदत्यः शोककर्शिताः।

इसी भांति वह बालक क्रमसे पांच वर्षकी अवस्थाका होगया, परन्तु वह थोडी अवस्थाका होकर भी गजराजके समान पराक्रमी हुआ था। उस ही समय एक दिन उस राजपुत्रने खेलनेके वास्ते केवल दासीके साथ गङ्गातीरके निकट निर्जन वनके बीच गमन किया। वहां पहुंचते ही सहसा महाबली पराक्रमी एक शेरको उछलके सम्मुख आते देखकर वह बालक उसके सन्मुख हुआ परन्तु उसी समय उस व्याघ्रके हस्तगत होके पिसके तथा प्राणरहित होके पृथ्वीमें गिर पडा, उसे देखकर दासी चिल्लाके रोने लगी। इधर इन्द्रकी माया प्रभावसे व्याघ्ररूपी वज्र उस ही स्थानमें अन्तर्द्धान होगया। अनन्तर रोती हुई दासीका अत्यन्त आरत शब्द सुनके राजा सृञ्जय स्वयं उस ही ओर दौडे और वहां पहुंचके देखा, कि "आनन्द रहित गिरे, हुए चन्द्रमा के समान, राजपुत्र प्राणरहित होके पृथ्वीमें गिरा हुआ है, और किसी हिंसक पशुने उसके गलेका रुधिर पीया है।" उस समय राजा सृञ्जय अत्यन्त दुःखित होकर उस रुधिर लिपटे शरीरसे युक्त मरे हुए पुत्रको गोदमें उठाके आरत स्वरसे विलाप करने लगे। तिसके अनन्तर उस राजकुमारकी माता भी पुत्रकी विपद वार्त्ता सुनकर अत्यन्त ही शोकके सहित रोदन करती हुई जिस स्थानमें राजा

अभ्यधावन्त तं देशं यत्र राजा स सृञ्जयः ॥ ३८ ॥
ततः स राजा सस्मार मामेव गतमानसः ।
तदाऽहं चिन्तनं ज्ञात्वा गतवांस्तस्य दर्शनम् ॥ ३९ ॥
मयैतानि च वाक्यानि श्रावितः शोकलालसः ।
यानि ते यदुवीरेण कथितानि महीपते ॥ ४० ॥
सञ्जीवितश्चापि पुनर्वासवानुमते तदा ।
भवितव्यं तथा तच्च न तच्छक्यमतोऽन्यथा ॥ ४१ ॥
तत ऊर्ध्वं कुमारस्तु स्वर्णष्ठीवी महायशाः ।
चित्तं प्रसादयामास पितुर्मातुश्च वीर्यवान् ॥ ४२ ॥
कारयामास राज्यं च पितरि स्वर्गते नृप ।
वर्षाणां शतमेकं च सहस्रं भीमविक्रमः ॥ ४३ ॥
तत ईजे महायज्ञैर्बहुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
तर्पयामास देवांश्च पितृंश्चैव महाद्युतिः ॥ ४४ ॥
उत्पाद्य च बहून्पुत्रान्कुलसन्तानकारिणः ।
कालेन महता राजन्कालधर्ममुपेयिवान् ॥ ४५ ॥

सृञ्जय विलाप कर रहे थे, वहांपर उपस्थित हुई। (३१-३८)

राजा सृञ्जयने बहुत देरतक रोदन करनेके अनन्तर एकाग्रचित्त होकर मुझे स्मरण किया, मैं उसे जानके उस ही समय शोकसे व्याकुल राजाके पास उपस्थित हुआ। अनन्तर क्षण भर पहिले यदुवीर कृष्णने जो तुम्हारे समीप वर्णन किया, वही सब प्राचीन राज-ऋषियोंका इतिहास उनके समीप वर्णन किया; तिसके अनन्तर इन्द्रकी सम्मतिसे उनके पुत्रको भी फिर जिला दिया। हे राजन्! इससे यह निश्चय जान रखो, कि जो होनहार है, वह अवश्य होता है, किसी प्रकार उसमें अन्यथा नहीं होसकता। जो हो, अनन्त पराक्रमी महायशस्वी राजपुत्र सुवर्णष्ठिवीने फिर जीवित होकर पिता माताको प्रसन्न किया; और कुछ समयके अनन्तर राजा सृञ्जयके परलोक गमन करने पर महाबली अत्यन्त तेजस्वी राजपुत्रने पिताकी राजगद्दी पर बैठके ग्यारह सौ वर्ष पर्यन्त निर्विघ्नता के सहित राज्य शासन किया। इतने दिन में उन्होंने बहुतसी दक्षिणासे युक्त अनेक यज्ञोंके अनुष्ठानसे देवता और पितरोंको तृप्त कर बहुतसे पुत्रोंको उत्पन्न करके कुलको बढाया था। इसी भांति बहुत दिनतक अतुल ऐश्वर्य भोगके

स त्वं राजेन्द्र सञ्जातं शोकमेनं निवर्तय ।
यथा त्वां केशवः प्राह व्यासश्च सुमहातपाः ॥ ४६ ॥
पितृपैतामहं राज्यमास्थाय धुरमुद्वह ।
इष्ट्वा पुण्यैर्महायज्ञैरिष्टं लोकमवाप्स्यसि ॥ ४७ ॥ [११२६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि स्वर्णष्ठीविसंभवोपाख्याने एकत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच–तूष्णीं भूतं तु राजानं शोचमानं युधिष्ठिरम् ।
तपस्वी धर्मतत्त्वज्ञः कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत् ॥ १ ॥
व्यास उवाच— प्रजानां पालनं धर्मो राज्ञां राजीवलोचन ।
धर्मः प्रमाणं लोकस्य नित्यं धर्मानुवर्तिनः ॥ २ ॥
अनुतिष्ठस्व तद्राजन्पितृपैतामहं पदम् ।
ब्राह्मणेषु तपो धर्मः स नित्यो वेदनिश्चितः ॥ ३ ॥
तत्प्रमाणं ब्राह्मणानां शाश्वतं भरतर्षभ ।
तस्य धर्मस्य कृत्स्नस्य क्षत्रियः परिरक्षिता ॥ ४ ॥

वह भी अन्त समयमें परलोक को गये। (३९–४५)

हे महाराज युधिष्ठिर ! इससे महातपस्वी व्यासदेव और श्रीकृष्णने तुम्हें जैसा उपदेश किया है, उस ही भांति पिता पितामहसे प्राप्त हुए राज्यभारको ग्रहण करो और लोकोंको पवित्र करनेवाले महा यज्ञोंका अनुष्ठान करके देवताओंको तृप्त करनेके वास्ते यत्न करो; ऐसा होनेसे तुम शरीर त्यागनेके अनन्तर अपने अभिलषित लोकमें गमन कर सकोगे। (४६–४७) [११२६]

शान्तिपर्वमें इकत्तीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बत्तीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कि सम्पूर्ण धर्मतत्त्वके जाननेवाले महा तपस्वी श्रीकृष्णचन्द्र द्वैपायनऋषि राजा युधिष्ठिर को शोकसे आरत और मौनभावसे स्थित देखकर बोले, हे राजीवलोचन धर्मराज ! राजाओंको प्रजा पालन करना ही एक मात्र धर्म है; और सदा धर्म करनेवाले मनुष्योंका धर्म ही प्रमाण स्वरूप है; इससे तुम पिता पितामहसे रक्षित उस ही राजधर्मको पालन करो। (१—२)

हे भरतकुल तिलक ! तपस्या केवल ब्राह्मणोंका ही धर्म है, ऐसी विधि वेदमें दृढ रूपसे निश्चित है; वह नित्य धर्म ब्राह्मणोंका मूल स्वरूप है; परन्तु समस्त धर्मोंके रक्षक क्षत्रिय हैं। क्योंकि तपस्या

यः स्वयं प्रतिहन्ति स्म शासनं विषये रतः ।
स बाहुभ्यां विनिग्राह्यो लोकयात्राविघातकः ॥ ५ ॥
प्रमाणमप्रमाणं यः कुर्यान्मोहवशं गतः
भृत्यो वा यदि वा पुत्रस्तपस्वी वाथ कश्चन ॥ ६ ॥
पापान्सर्वैरुपायैस्तान्नियच्छेच्छातयीत वा ।
अतोऽन्यथा वर्तमानो राजा प्राप्नोति किल्बिषम् ॥७॥
धर्मं विनश्यमानं हि यो न रक्षेत्स धर्महा ।
ते त्वया धर्महन्तारो निहताः सपदानुगाः ॥ ८ ॥
स्वधर्मे वर्तमानस्त्वं किं नु शोचसि पाण्डव ।
राजा हि हन्याद्दद्याच्च प्रजा रक्षेच्च धर्मतः ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच- न तेऽभिशङ्के वचनं यद्ब्रवीषि तपोधन ।
अपरोक्षो हि ते धर्मः सर्वधर्मविदांवर ॥ १० ॥
मया त्ववध्या बहवो घातिता राज्यकारणात् ।

में निष्ठावान ब्राह्मण लोग विघ्नोंसे विना रक्षित हुए किसी भांति भी धर्म-का अनुष्ठान करनेमें समर्थ नहीं हो सक्के । यदि कोई पुरुष विषय लोभके वशमें होकर राजशासन उलङ्घन करे, तो उस लोकयात्रामें विघ्न डालनेवाले पुरुषको दण्ड देना राजाका कर्त्तव्य है। सेवक, पुत्र या तपस्वी आदि कोई पुरुष क्यों न हों, यदि मोहके वशमें होकर प्रमाण प्रमाणको अप्रमाण करनेमें प्रवृत्त होवें, तो जिस उपायसे होसके उन पापी पुरुषोंका शासन अथवा उनका वध करना उचित है; इसमें अन्यथा चरण करनेसे राजाको पापमें लिप्त होना पडता है । किसी दुष्ट पुरुषको धर्म लुप्त करते देखके यदि राजा उस दुष्टको दण्ड देके धर्मकी रक्षा न करे, तो धर्म लुप्त होनेका सब पाप राजाको ही लगता है । हे युधिष्ठिर ! तुमने धर्मलोपक दुर्योधन आदि दुष्ट राजाओंको मारके यथार्थ रूपसे क्षत्रिय धर्मकी रक्षा की है, तब किस कारण तुम व्यर्थ शोक करते हो ? धर्म पूर्वक प्रजापालन, दान और दुष्टोंका दमन करना, ये ही राजा-ओंके प्रकृत धर्म हैं । (३—९)

युधिष्ठिर व्यासदेवके वचनोंको सुनके बोले, हे तपोधन ! आप धर्मज्ञ पुरुषोंमें अग्रणी हैं; तथा धर्मके सम्पूर्ण तत्व आपको गुप्त भावसे विदित हैं, इससे आपके उपदेश युक्त वचनोंका मैं कुछ भी संशय नहीं करता हूं, परन्तु मैंने जो राज्यके वास्ते भीष्म- द्रोणाचार्य आदि कई एक

तानि कर्माणि मे ब्रह्मन्दहन्ति च पचन्ति च ॥ ११ ॥

व्यास उवाच- ईश्वरो वा भवेत्कर्ता पुरुषो वाऽपि भारत।
हठो वा वर्तते लोके कर्मजं वा फलं स्मृतम् ॥ १२ ॥
ईश्वरेण नियुक्तो हि साध्वसाधु च भारत।
कुरुते पुरुषः कर्म फलमीश्वरगामि तत् ॥ १३ ॥
यथा हि पुरुषश्छिन्द्याद् वृक्षं परशुना वने।
छेत्तुरेव भवेत्पापं परशोर्न कथञ्चन ॥ १४ ॥
अथवा तदुपादानात्प्राप्नुयात्कर्मणः फलम्।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १५ ॥
न चैतदिष्टं कौन्तेय यदन्येन कृतं फलम्।
प्राप्नुयादिति यस्माच्च ईश्वरे तन्निवेशय ॥ १६ ॥
अथापि पुरुषः कर्ता कर्मणोः शुभपापयोः।

अवध्य पुरुषोंका वध किया है, वही दुष्कर्म मेरे हृदयको भस्म किये डालता है। श्री वेदव्यास मुनि बोले, हे राजेन्द्र! युद्धभूमिमें जो सब वीर मारे गये, उनका वध करनेवाला ईश्वर, जीव स्वभाव, अथवा उनके किये हुए कर्मोंके फल हैं? यदि कहो कि जीव ईश्वरकी प्रेरणासे शुभाशुभ कर्मोंमें प्रवृत्त होता है, तो तुम्हें शोक करना उचित नहीं है; क्यों कि उस शुभाशुभ कर्मोंके फलको देनेवाला कर्त्ता ईश्वर ही है, वही फल भोगेगा। उसका दृष्टान्त देखो, कि यदि कोई पुरुष वनमें एक वृक्ष काटे, तो वृक्ष काटनेका पाप उस काटनेवाले को ही लगेगा; कुल्हाडेको पाप नहीं लग सकता। यदि कहो, कि कुल्हाडा अचेतन अर्थात् जड वस्तु है, इसही कारण पापभागी नहीं हो सकता; परन्तु जीव चैतन्य है, इसही कारण नियोज्य कर्त्ता होनेसे वह शुभाशुभ कर्मोंका अवश्य फलभागी होगा। तो वृक्ष काटनेवालेको पाप न लगकर कुल्हाडा बनाने वालेको भी तो पाप लग सकता है? (१०—१५)

हे कुन्तीनन्दन! कभी ऐसा विचार मत करो, कि उस नियोज्यकर्ता कुल्हाडा बनानेवालेको भी वृक्ष काटनेवालेके पाप-फलमें लिप्त होना पडेगा! क्यों कि एक पुरुषने वृक्ष काटा और दूसरेको उस पापका भागी होना पडेगा, यह सिद्धान्त कदापि युक्ति-पूरित नहीं हो सकता। इससे तुम भी सब कर्मोंके फलको प्रयोजन-कर्त्ता ईश्वर ही को समर्पण करो। यदि कहो, जीवही शुभा-

न परो विद्यते तस्मादेवमेतच्छुभं कृतम् ॥ १७ ॥
न हि कश्चित्कचिद्राजन्दिष्टं प्रतिनिवर्तते ।
दण्डशस्त्रकृतं पापं पुरुषे तन्न विद्यते ॥ १८ ॥
यदि वा मन्यसे राजन् हतमेकं प्रतिष्ठितम् ।
एवमप्यशुभं कर्म न भूतं न भविष्यति ॥ १९ ॥
अथाभिपत्तिर्लोकस्य कर्तव्या पुण्यपापयोः ।
अभिपन्नमिदं लोके राज्ञामुद्यतदण्डनम् ॥ २० ॥
तथापि लोके कर्माणि समावर्तन्ति भारत ।
शुभाशुभफलं चैते प्राप्नुवन्तीति मे मतिः ॥ २१ ॥
एवमप्यशुभं कर्म कर्मणस्तत्फलात्मकम् ।

शुभ कर्मोंका कर्त्ता है, उसे प्रेरणा करनेवाला कोई भी नहीं है, ऐसा माननेसे जगन्नियन्ता कोई भी नहीं स्वीकार किया जा सकता; ऐसा होनेसे तुम्हें किसका भय है। तुमने शुभ अथवा अशुभ जो कुछ कर्म किये हैं, वेही उत्तम हैं! हे राजन्! इस समय मैं जो कहता हूं, उसे विशेष रूपसे निश्चय करो। वृक्ष काटनेवालेका पाप कदापि नियोज्यकर्त्ता कुल्हाडा बनानेवालेको नहीं लग सकता यह तुम निश्चय समझ रक्खो, कि कोई भी दैवको अतिक्रम करनेमें समर्थ नहीं हो सकता, अर्थात् सब कोई दैवके वशमें होके शुभाशुभ कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं। यदि तुम स्वभावकोही कर्त्ता समझते हो, तो भूत और भविष्यत् किसी कालमें भी तुम्हारे साथ पापका सम्बन्ध नहीं होसकता। हे युधिष्ठिर! यदि तुम्हें सब लोगोंके धर्माधर्मकी मीमांसा करनेकी इच्छा हो, तो शास्त्रसे ही इसका निर्णय होसकता; क्यों कि धर्माधर्म शास्त्रमूलक हैं। इससे उस शास्त्रमें ही जब राजाका दण्ड धारण कर्त्तव्यका विधि वर्णित है; तब तुम्हें इतने शोकका कौनसा विषय है। (१६-२०)

हे राजशार्दूल यदि तुम यह समझते हो, कि शास्त्रका मत ऐसा ही है और सब लोग शास्त्र विधि अनुसार कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, इसे स्वीकार करता हूं; परन्तु शुभ और अशुभ कर्मोंके फल स्वयं ही जीवके सम्बन्धमें आप ही आके उपस्थित होते हैं और उन कर्मोंके फल भी जीवको प्राप्त होते हैं; तो मैं जो कुछ कहता हूं, उसे निश्चय करो। पापसे अशुभ कर्म करनेकी प्रवृत्ति होती है इससे तुम असत् फलदायक सम्पूर्ण कर्मोंको सब भांतिसे त्याग कर अब

त्यज त्वं राजशार्दूल मैवं शोके मनः कृथाः ॥ २२ ॥
स्वधर्मे वर्तमानस्य सापवादेऽपि भारत ।
एवमात्मपरित्यागस्तव राजन्न शोभनः ॥ २३ ॥
विहितानि हि कौन्तेय प्रायश्चित्तानि कर्मणाम् ।
शरीरवांस्तानि कुर्यादशरीरः पराभवेत् ॥ २४ ॥
तद्राजन् जीवमानस्त्वं प्रायश्चित्तं करिष्यसि ।
प्रायश्चित्तमकृत्वा तु प्रेत्य तप्तासि भारत ॥ २५ ॥ [११५१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तविधौ द्वात्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच– हताः पुत्राश्च पौत्राश्च भ्रातरः पितरस्तथा ।
श्वशुरा गुरवश्चैव मातुलाश्च पितामहाः ॥ १ ॥
क्षत्रियाश्च महात्मानः सम्बन्धिसुहृदस्तथा ।
वयस्या भागिनेयाश्च ज्ञातयश्च पितामह ॥ २ ॥
बहवश्च मनुष्येन्द्रा नानादेशसमागताः ।
घातिता राज्यलुब्धेन मयैकेन पितामह ॥ ३ ॥
तांस्तादृशानहं हत्वा धर्मनित्यान्महीक्षितः ।

शोक चिन्तासे रहित हो जाओ । हे राजन् ! तुमने यथार्थ रीतिसे निज धर्म पालन किया है, इससे अब तुम्हें लोकनिन्दित आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होना उचित नहीं है । और देखिये इस लोकमें पापकर्मोंके प्रायश्चित्तकी विधि है; परन्तु प्रायश्चित जीवित अवस्थामें ही सहजमें किया जा सकता है; शरीर नष्ट होनेपर किस प्रकार प्रायश्चित होसकेगा? हे युधिष्ठिर ? शरीरकी रक्षा करनेसे तुम अनायास ही प्रायश्चित्तके अनुष्ठान करनेमें समर्थ होसकोगे, और यदि तुम विना प्रायश्चित्त किये ही शरीर त्याग करोगे; तो परलोकमें तुम्हें अत्यन्त ही पश्चाताप करना पडेगा । (२१–२५)

शान्तिपर्वमें बत्तीस अध्याय समाप्त । ११५१

शान्तिपर्वमें तैंतीस अध्याय ।

राजा युधिष्ठिर वेदव्यास मुनिसे यह वचन बोले, हे पितामह ! हे तपोधन ! मैंने राज्यलोभसे पुत्र, पौत्र, भ्राता, चचा, पितामह, गुरु, स्वसुर, मामा, भानजे, स्वजन, सुहृद, मित्र सम्बन्धी आदि तथा दूसरे बहुतेरे क्षत्रियोंका नाश किया है ! जो सब राजा दोनों ओरकी सहायता करनेके वास्ते कुरुक्षेत्रमें आके उपस्थित हुए थे, उनके बीच एक भी

असकृत्सोमपान्वीरान्किं प्राप्स्यामि तपोधन ॥ ४ ॥
दह्यामयनिशमद्यापि चिन्तयानः पुनः पुनः।
हीनां पार्थिवसिंहैस्तैः श्रीमद्भिः पृथिवीमिमाम् ॥ ५ ॥
दृष्ट्वा ज्ञातिवधं घोरं हतांश्च शतशः परान्।
कोटिशश्च नरानन्यान्परितप्ये पितामह ॥ ६ ॥
का नु तासां वरस्त्रीणामवस्थाऽद्य भविष्यति।
विहीनानां तु तनयैः पतिभिर्भ्रातृभिस्तथा ॥ ७ ॥
अस्मानन्तकरान्घोरान्पाण्डवान्वृष्णिसंहतान्।
आक्रोशन्त्यः कृशा दीनाः प्रपतिष्यन्ति भूतले ॥८॥
अपश्यन्त्यः पितॄन्भ्रातॄन्पतीन्पुत्रांश्च योषितः।
त्यक्त्वा प्राणान् स्त्रियः सर्वा गमिष्यन्ति यमक्षयम् ॥९॥
वत्सलत्वाद् द्विजश्रेष्ठ तत्र मे नास्ति संशयः।
व्यक्तं सौक्ष्म्याच्च धर्मस्य प्राप्स्यामः स्त्रीवधं वयम् ॥१०॥

पुरुष जीते जी घर न जासके, सब कोई रणभूमिमें मरकर यमलोकवासी हुए! हे महर्षि! आप केवल मुझे ही इन सब लोगोंके नाशकी जड समझिये। जो लोग सदासर्वदा धर्म और यज्ञके अनुष्ठानमें रत रहते थे, वैसे धर्मात्मा राजा और स्वजन-बान्धवोंको नाश करके इस पुरुष हीन पृथ्वीके राज्यको ग्रहण करनेमें मुझे कौनसा सुख मिलेगा? उन सम्पूर्ण श्रीमान् राजाओंसे रहित पृथ्वी की दुर्दशाको वारम्वार विचारके मेरा हृदय अब भी रातादिन भस्म हुआ जाता है। (१-५)

विशेष करके भयङ्कर स्वजनहत्या और दोनों ओरकी सेनाके अनगिनत पुरुषोंको मृत्युके मुखमें पतित होते देख कर मेरा चित्त किसी प्रकार भी शान्त नहीं होता है। हाय! इस कुरुक्षेत्रके युद्धमें जिनके पति, पुत्र और भाई मारे गये हैं; उन स्वजनहीन दीन कुलाङ्गना स्त्रियोंकी इस समय कैसी दशा होगी; उसे मैं नहीं कह सकता हूं। वे सब स्त्रियें तनुक्षीण और दीनभावसे युक्त होकर "क्रूर पाण्डवोंने वृष्णिवंशियोंके सङ्ग मिलके हमारे पति, पुत्र आदि आत्मीय पुरुषोंका वध किया है," ऐसे वचनोंको कहके हम लोगोंकी निन्दा करती हुई पृथ्वीमें गिरेंगी। वे सब स्त्रियें पिता भ्राता, पति और पुत्रोंके मुख न देखकर स्नेह-बन्धनसे युक्त होके शोकित तथा अत्यन्त दुःखित होकर प्राण त्याग के यमलोकमें गमन करेंगी;

यद्वयं सुहृदो हत्वा कृत्वा पापमनन्तकम् ।
नरके निपतिष्यामो ह्यधः शिरस एव ह ॥ ११ ॥
शरीराणि विमोक्ष्यामस्तपसोग्रेण सत्तम ।
आश्रमाणां विशेषं त्वमथाचक्ष्व पितामह ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच-युधिष्ठिरस्य तद्वाक्यं श्रुत्वा द्वैपायनस्तदा ।
निरीक्ष्य निपुणं बुद्ध्या ऋषिः प्रोवाच पाण्डवम्॥१३॥

व्यास उवाच— मा विषादं कृथा राजन् क्षत्रधर्ममनुस्मरन् ।
स्वधर्मेण हता ह्येते क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ॥ १४ ॥
काङ्क्षमाणाः श्रियं कृत्स्नां पृथिव्यां च महद्यशः ।
कृतान्तविधिसंयुक्ताः कालेन निधनं गताः ॥ १५ ॥
न त्वं हन्ता न भीमोऽयं नार्जुनो न यमावपि ।
कालः पर्यायधर्मेण प्राणानादत्त देहिनाम् ॥ १६ ॥
न तस्य मातापितरौ नानुग्राह्यो हि कश्चन ।

और धर्मकी जैसी सूक्ष्म गति है, उससे हम लोगोंको ही स्त्री वधरूपी पापमें लिप्त होना होगा; इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। हमने जब राज्यलोभसे आत्मीय पुरुषोंका नाश करके बहुतसा पाप किया है, तब हमको शिर नीचा करके महाघोर नरकमें गमन करना पडेगा; इसमें कौन सन्देह कर सकता है? इससे हे ऋषिसत्तम पितामह ! आप सब आश्रमोंके विशेष लक्षण मेरे समीप वर्णन कीजिये। आपके उपदेशके अनुसार मैं कठिन तपस्या करके शरीर त्याग करूंगा। (६-१२)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले,श्रीवेदव्यास मुनि धर्मपुत्र युधिष्ठिरके ऐसे वचनको सुनकर निजबुद्धि अनुसार समालोचना करके उनसे बोले, हे राजन् ! तुम क्षत्रिय धर्मको स्मरण करके अपने हृदयके शोकको दूर करो। क्यों कि वे सम्पूर्ण क्षत्रिय पुरुष निजधर्मके अनुसार युद्ध भूमिमें मारे गये हैं। वे सब कोई इस पृथ्वीपर महत् यश और परम सौभाग्यकी अभिलाषासे युद्ध करनेमें प्रवृत्त हुए थे; परन्तु समय पूर्ण होनेसे ही वे लोग कालके वशमें होके प्राणरहित होगये, तुम, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव तुम लोग कोई भी उन लोगोंके मारनेवाले नहीं हो। पर्याय क्रमसे धर्मपूर्वक कालने ही उन लोगोंका प्राणहरण किया है। उस कालका कोई माता, पिता, भ्राता तथा अनुग्रहका पात्र नहीं है। जो सम्पूर्ण प्रजाके

कर्मसाक्षी प्रजानां यस्तेन कालेन संहृताः ॥ १७ ॥
हेतुमात्रमिदं तस्य विहितं भरतर्षभ ।
यद्धन्ति भूतैर्भूतानि तदस्मै रूपमैश्वरम् ॥ १८ ॥
कर्मसूत्रात्मकं विद्धि साक्षिणं शुभपापयोः ।
सुखदुःखगुणोदर्कं कालं कालफलप्रदम् ॥ १९ ॥
तेषामपि महाबाहो कर्माणि परिचिन्तय ।
विनाशहेतुकानि त्वं यैस्ते कालवशं गताः ॥ २० ॥
आत्मनश्च विजानीहि नियतव्रतशासनम् ।
यदा त्वमीदृशं कर्म विधिनाऽऽक्रम्य कारितः ॥ २१ ॥
त्वष्ट्रेव विहितं यन्त्रं यथा चेष्टयितुर्वशे ।
कर्मणा कालयुक्तेन तथेदं चेष्टते जगत् ॥ २२ ॥
पुरुषस्य हि दृष्ट्वेमामुत्पत्तिमनिमित्ततः ।
यदृच्छया विनाशं च शोकहर्षावनर्थकौ ॥ २३ ॥
व्यलीकमपि यत्त्वत्र चित्तवैतंसिकं तव ।

किये हुए कर्मोंका साक्षी है, उस ही कालके प्रभावसे युद्धमें प्रवृत्त हुए क्षत्रिय पुरुष मृत्युको प्राप्त हुए हैं, तब जो काल एक प्राणीको अन्य प्राणीके द्वारा नष्ट करता है वह केवल निमित्त मात्र समझा जाता है; और ऐसाही उसका नियत कार्य है। (१३-१८)

हे महाराज! पुण्य पापके साक्षी स्वरूप कालको कर्म सूत्रात्मक समझनेसे अर्थात् जीवके किये हुए कर्म ही भविष्य में सुख तथा दुःख रूपसे परिणत होते हैं; इससे ईश्वर जीवके किये हुए कर्मोंके फलको प्रदान करके शुभाशुभ कर्मोंमें लिप्त नहीं होता। हे पाण्डुपुत्र! वे सब क्षत्रिय पुरुष जिन कर्मोंसे युद्धमें मारे गये हैं, उन लोगोंके नाशके मूल कारण उनके सम्पूर्ण कर्मों और अपने किये हुए तपस्या तथा व्रत आदि विषयों को विचारके देखो! क्यों कि तुम अत्यन्त ही क्षमाशील और अजातशत्रु हो, तौभी पूर्व कर्मके प्रभावसे दैवने स्वयं तुम्हें इस हिंसात्मक युद्ध कर्ममें प्रवृत्त कराके अनेक पुरुषोंका नाश करा या है। इससे रहटकी भांति यह जगत् ईश्वरके वशमें होकर कालप्रेरित कर्मसे ही प्रवर्त्तित होता है। (१९-२२)

इस पृथ्वीपर प्राणियोंकी उत्पत्ति और नाशके विषयको विचार कर देख नेसे हर्ष वा शोक करना निरर्थक होता है। महाराज! तुम अब व्यर्थ शोक

तदर्थमिष्यते राजन्प्रायश्चित्तं तदाचर ॥ २४ ॥
इदं तु श्रूयते पार्थ युद्धे देवासुरे पुरा ।
असुरा भ्रातरो ज्येष्ठा देवाश्चापि यवीयसः ॥ २५ ॥
तेषामपि श्रीनिमित्तं महानासीत्समुच्छ्रयः ।
युद्धं वर्षसहस्राणि द्वात्रिंशदभवत्किल ॥ २६ ॥
एकार्णवां महीं कृत्वा रुधिरेण परिप्लुताम् ।
जघ्नुर्दैत्यांस्तथा देवास्त्रिदिवं चाभिलेभिरे ॥ २७ ॥
तथैव पृथिवीं लब्ध्वा ब्राह्मणा वेदपारगाः ।
संश्रिता दानवानां वै साह्यार्थं दर्पमोहिताः ॥ २८ ॥
शालावृका इति ख्यातास्त्रिषु लोकेषु भारत ।
अष्टाशीति सहस्राणि ते चापि विबुधैर्हताः ॥ २९ ॥
धर्मव्युच्छित्तिमिच्छन्तो येऽधर्मस्य प्रवर्तकाः ।
हन्तव्यास्ते दुरात्मानो देवैर्दैत्या इवोल्बणाः ॥ ३० ॥
एकं हत्वा यदि कुले शिष्टानां स्यादनामयम् ।
कुलं हत्वा च राष्ट्रं च न तद्वृत्तोपघातकम् ॥ ३१ ॥

मत करो, बल्कि, उन दुष्कर्मोंके निमित्त प्रायश्चित्तकी जैसी विधि है, उसका अनुष्ठान करना उचित है। पहिले देवासुर युद्धके विषयमें ऐसा सुना गया है, कि असुर जेठे और देवता लोग उनसे छोटे थे। राजलक्ष्मीके वास्ते देवता और असुरोंमें महाघोर भ्रातृ-विरोध उपस्थित हुआ; बत्तीस सहस्र वर्ष पर्यन्त उन लोगोंमें महाभयङ्कर युद्ध होता रहा, अधिक क्या कहा जावे, समुद्रकी भांति उस समय पृथ्वी रुधिरसे परिपूरित होगई। तिसके अनन्तर देवता लोगोंने दैत्योंको पराजित करके स्वर्ग लोकके राज्यको प्राप्त किया। उसी समय कितने ही वेद जाननेवाले ब्राह्मण पृथ्वीको पाके अभिमानसे मोहित होकर दैत्योंकी सहायतामें तत्पर होगये। (२३-२८)

हे भारत! वे अठासी हजार दुष्टात्मा पृथ्वीपर शालावृक नामसे विख्यात थे; वे लोग अपने मूर्खताके कारण देवताओंके हाथसे मारे गये। महाराज! पृथ्वी-मण्डलमें जो लोग धर्मको नष्ट करके अधर्मकी वृद्धि करते हैं; उन दुष्टोंका इस प्रकार नाश करना चाहिये, जैसे देवताओंने दैत्योंका नाश किया था। यदि एकके नाश होनेसे कुलभरकी आपद दूर होवे, तो अवश्य ही एकका नाश करना उचित है, यदि एक कुलके

अधर्मरूपो धर्मो हि कश्चिदस्ति नराधिप ।
धर्मश्चाधर्मरूपोऽस्ति तच्च ज्ञेयं विपश्चिता ॥ ३२ ॥
तस्मात्संस्तम्भयात्मानं श्रुतवानसि पाण्डव ।
देवैः पूर्वगतं मार्गमनुयातोऽसि भारत ॥ ३३ ॥
न हीदृशा गमिष्यन्ति नरकं पाण्डवर्षभ ।
भ्रातॄनाश्वासयैतांस्त्वं सुहृदश्च परन्तप ॥ ३४ ॥
यो हि पापसमारम्भे कार्ये तद्भावभावितः ।
कुर्वन्नपि तथैव स्यात्कृत्वा च निरपत्रपः ॥ ३५ ॥
तस्मिंस्तत्कलुषं सर्वं समाप्तमिति शब्दितम् ।
प्रायश्चित्तं न तस्यास्ति ह्रासो वा पापकर्मणः ॥ ३६ ॥
त्वं तु शुक्लाभिजातीयः परदोषेण कारितः ।
अनिच्छमानः कर्मेदं कृत्वा च परितप्यसे ॥ ३७ ॥

नष्ट करनेसे राज्य भरके सम्पूर्ण प्राणियोंकी रक्षा होती हो, तो उस कुल भरको नष्ट करनेसे भी धर्म नष्ट नहीं होता। हे राजन्! इसी भांति कोई कोई अधर्मके कार्य हैं, जो धर्म रूपसे परिणत होते हैं, और कोई कोई धर्मके कार्य भी अधर्मरूपसे गिने जाते हैं; पण्डित लोग इस विषयको विशेष रूपसे जानते हैं। (२९—३२)

हे भारत! तुम सब शास्त्रोंके विषयोंको भली भांति जानते हो और देवता तथा पूर्व राजऋषियोंके आचरित प्राचीन मार्गके ही अनुगामी हुए हो; इससे अब शोक मत करो। तुम यह निश्चय जान रखो, कि तुम्हारे समान धर्मात्मा और सदाचारी पुरुष नरकमें कदापि गमन नहीं करते। इससे अब तुम इस समय अपने इन भाइयों और सुहृद पुरुषोंको धीरज धारण कराओ। जो पुरुष मनमें इच्छा करके पाप कर्मोंमें प्रवृत्त होते हैं और पाप कर्म करके कुछ भी पश्चाताप नहीं करते, वेही पुरुष संपूर्ण पापोंके भागी होते हैं, ऐसा वेदमें कहा है। ऐसे पापाचारी पुरुषोंके पापके प्रायश्चित्तकी विधि नहीं है, इससे उन पापियोंका पाप नहीं घट सकता, परन्तु तुम सदा धर्म कार्योंमें रत रहते हो और पाप कर्म करनेके वास्ते मनमें भी इच्छा नहीं करते; केवल दुर्योधन आदिके दोषने ही तुम्हें युद्ध करनेमें प्रवृत्त कराया था, और कार्य समाप्त करके पश्चाताप भी कर रहे हो, इससे तुम्हें प्रायश्चित्त करनेमें अधिकार है। (३३—३७)

अश्वमेधो महायज्ञः प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
तमाहर महाराज विपाप्मैवं भविष्यसि ॥ ३८ ॥
मरुद्भिः सह जित्वाऽरीन्भगवान्पाकशासनः ।
एकैकं क्रतुमाहृत्य शतकृत्वः शतक्रतुः ॥ ३९ ॥
धूतपाप्मा जितस्वर्गो लोकान्प्राप्य सुखोदयान् ।
मरुद्गणैर्वृतः शक्रः शुशुभे भासयन्दिशः ॥ ४० ॥
स्वर्गे लोके महीयन्तमप्सरोभिः शचीपतिम् ।
ऋषयः पर्युपासन्ते देवाश्च विबुधेश्वरम् ॥ ४१ ॥
सेयं त्वामनुसम्प्राप्ता विक्रमेण वसुन्धरा ।
निर्जिताश्च महीपाला विक्रमेण त्वयाऽनघ ॥ ४२ ॥
तेषां पुराणि राष्ट्राणि गत्वा राजन्सुहृद्वृतः ।
भ्रातॄन्पुत्रांश्च पौत्रांश्च स्वे स्वे राज्येऽभिषेचय ॥ ४३ ॥
बालानपि च गर्भस्थान्सान्त्वेन समुदाचरन् ।
रञ्जयन्प्रकृतीः सर्वाः परिपाहि वसुन्धराम् ॥ ४४ ॥

हे महाराज! अश्वमेध नामक महायज्ञके अनुष्ठान करनेसे ही इसका प्रायश्चित्त कहा गया है, इससे तुम अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो। भगवान इन्द्रने देवताओंके सङ्ग मिलके बार बार दैत्योंका नाश करते हुए एक एक करके क्रमसे एक सौ अश्वमेध यज्ञोंको पूर्ण किया था, इसहीसे वह शतक्रतु नामसे विख्यात हुए और पाप रहित होकर स्वर्गलोक जय और परम सुख प्राप्त कर सब दिशाओंको प्रकाशित करते हुए मरुद्गणके सहित स्वर्ग लोकके राज्यपर शोभित हो रहे हैं। देखो देवतोंके राजा शचीपति इन्द्र अप्सराओंके सहित महामहिमासे युक्त होकर किस प्रकार सुखपूर्वक स्वर्ग लोकमें विराजमान हैं। इस समय तुमने भी अपने पराक्रमसे सब राजाओंको पराजित किया है, और समस्त पृथ्वीपर भी तुम्हारा अधिकार हुआ है, इससे अब तुम सुहृद पुरुषोंके सङ्ग मिलके राजा और युद्धमें मरे हुए राजाओंके नगरमें गमन करके उन लोगोंके पुत्र, पौत्र वा भ्राता जो कोई वर्त्तमान हों, उन्हें उनके पैतृक राज्यपर अभिषिक्त करो। यदि उन लोगोंके बीच कोई बालक हो, तौ भी सदाचार और सान्त वचनसे उन्हें राज्यपद पर प्रतिष्ठित करके सब प्रजाके मनको रञ्जन करते हुए पृथ्वीको पालन करो। (३८—४४)

कुमारो नास्ति येषां च कन्यास्तत्राभिषेचय ।
कामाशयो हि स्त्रीवर्गः शोकमेवं प्रहास्यसि ॥ ४५ ॥
एवमाश्वासनं कृत्वा सर्वराष्ट्रेषु भारत ।
यजस्व वाजिमेधेन यथेन्द्रो विजयी पुरा ॥ ४६ ॥
अशोच्यास्ते महात्मानः क्षत्रियाः क्षत्रियर्षभ ।
स्वकर्मभिर्गता नाशं कृतान्तबलमोहिताः ॥ ४७ ॥
अवाप्तः क्षत्रधर्मस्ते राज्यं प्राप्तमकण्टकम् ।
रक्षस्व धर्मं कौन्तेय श्रेयान्यः प्रेत्य भारत ॥ ४८ ॥ [११९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीयोपाख्याने त्रयस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिर उवाच— कानि कृत्वेह कर्माणि प्रायश्चित्तीयते नरः ।
किं कृत्वा मुच्यते तत्र तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
व्यास उवाच— अकुर्वन्विहितं कर्म प्रतिषिद्धानि चाचरन् ।

जो राजा एक बारगी राजपुत्रोंसे रहित होगये हैं, वहां पर यदि मृत राजाओंकी कन्या हों, तो उन्हें राज्यपर अभिषिक्त कीजिये; क्यों कि स्त्रियोंके पूर्ण मनोरथ होनेसे ही फिर वंशकी बढती होसकेगी; इसी भांति कार्य करनेसे तुम्हारा शोक दूर होगा। महाराज! तुम इसी भांतिसे राज्यके सब प्रजाको सुखी करते हुए असुरोंके नाश करनेवाले इन्द्रकी भांति अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करो। कुरुक्षेत्रकी युद्धभूमिमें जो सब महात्मा क्षत्रियोंकी मृत्यु हुई है, उनके वास्ते शोक करना उचित नहीं है, क्यों कि वे सब वीर योद्धा कालके वशमें मोहित होकर क्षत्रिय धर्मके अनुसार युद्धभूमिमें मारे गये हैं। इस समय तुमने क्षत्रियोंके यथार्थ धर्म और निष्कण्टक राज्य दोनों ही प्राप्त किया है, इससे निज धर्मके अनुसार राज्य शासन करो; ऐसा होनेसे ही परलोकमें तुम्हारा कल्याण होगा। (४५–४८)

शान्तिपर्वमें तैंतीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चौतीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे महर्षि पितामह, मनुष्यको कैसा कर्म करनेसे प्रायश्चित करना पडता है; और किन कार्योंके करनेसे वे लोग उन पापोंसे छूट सकते हैं! आप यह वृत्तान्त मेरे समीप कहिये। (१)

युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनके वेदव्यास मुनि बोले, प्रतिषिद्ध कर्म करनेवाले और विहित कर्म न करनेवाले तथा जो

प्रायश्चित्तीयते ह्येवं नरो मिथ्याऽनुवर्तयन् ॥ २ ॥
सूर्येणाभ्युदितो यश्च ब्रह्मचारी भवत्युत ।
तथा सूर्याभिनिर्मुक्तः कुनखी श्यावदन्नपि ॥ ३ ॥
परिवित्तिः परिवेत्ता ब्रह्मघ्नो यश्च कुत्सकः ।
दिधिषूपपतिर्यः स्यादग्रे दिधिषुरेव च ॥ ४ ॥
अवकीर्णी भवेद्यश्च द्विजातिवधकस्तथा ।
अतीर्थे ब्राह्मणस्त्यागी तीर्थे चाप्रतिपादकः ॥ ५ ॥
ग्रामघाती च कौन्तेय मांसस्य परिविक्रयी ।
यश्चाग्नीनपविध्येत तथैव ब्रह्मविक्रयी ॥ ६ ॥
गुरुस्त्रीवधको यश्च पूर्वः पूर्वस्तु गर्हितः ।
वृथा पशुसमालम्भी गृहदाहस्य कारकः ॥ ७ ॥
अनृतेनोपवर्ती च प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।

मिथ्या कार्योंमें प्रवृत्त होते हैं, वेसब ही प्रायश्चित्त करनेके योग्य हैं । ब्रह्मचारी पुरुष यदि सूर्यके उदय और अस्त होने के समय शयन करते रहें तो उन्हें भी पापग्रस्त होना पडता है । कुनखी अर्थात् पूर्व जन्ममें जो पुरुष सुवर्ण चोरी किये रहते हैं, दूसरे जन्ममें उनके हाथ पांवके नख दूषित हो जाते हैं, इस लोकमें वेही पुरुष कुनखी कहके प्रसिद्ध हैं। पहिले जन्ममें शराब पीनेवाले पुरुषोंके दूसरे जन्ममें दांत काले हो जाते हैं; वे पुरुष श्यावदन्ती नामसे विख्यात होते हैं । जिस पुरुषका छोटा भाई अपना आगे विवाह करता है, वह जेष्ठ परिवित्ति नामसे प्रसिद्ध होता है । परिवेत्ता अर्थात् जो पुरुष जेठे भाईके रहते हुए पहिले अपना विवाह करता है; जेठी बहिनके रहते छोटी बहिनका ब्याह होनेसे उस छोटीके पतिका नाम दिधिषूपति कहके प्रसिद्ध होता है । छोटीका पहिले ब्याह होनेसे उसकी जेठी बहिन को जो ब्याहता है, वह पुरुष दिधिषुका उपपति कहके विख्यात होता है । ब्रह्मघाती, परनिन्दक; अवकीर्णी अर्थात् व्रतभ्रष्ट, द्विजातियोंके वध करनेवाले, सत्पात्रको वेद विद्या न देनेवाले और कुपात्रको वेद विद्या दान करनेवाले, ग्रामघाती, मांस बेचनेवाले, अग्नित्यागी ब्राह्मण, पोषकका अध्यापक, गुरुस्त्री घातक, वंश परम्परा से निन्दित पुरुष, अधर्मसे वृथा पशुओंकी हिंसा करनेवाले, घर जलानेवाले, चोरीसे जीविका निर्वाह करनेवाले, गुरुजनोंसे विरुद्धता करनेवाले और नियम उल्लङ्घन

एतान्येनांसि सर्वाणि व्युत्क्रान्तसमयश्च यः ॥ ८ ॥
अकार्याणि तु वक्ष्यामि यानि तानि निबोध मे ।
लोकवेदविरुद्धानि तान्येकाग्रमनाः शृणु ॥ ९ ॥
स्वधर्मस्य परित्यागः परधर्मस्य च क्रिया ।
अयाज्ययाजनं चैव तथाऽभक्ष्यस्य भक्षणम् ॥ १० ॥
शरणागतसंत्यागो भृत्यस्याभरणं तथा ।
रसानां विक्रयश्चापि तिर्यग्योनिवधस्तथा ॥ ११ ॥
आधानादीनि कर्माणि शक्तिमान्न करोति यः ।
अप्रयच्छंश्च सर्वाणि नित्यदेयानि भारत ॥ १२ ॥
दक्षिणानामदानं च ब्राह्मणस्वाभिमर्शनम् ।
सर्वाण्येतान्यकार्याणि प्राहुर्धर्मविदो जनाः ॥ १३ ॥
पित्रा विवदते पुत्रो यश्च स्याद्गुरुतल्पगः ।
अप्रजायन्नरव्याघ्र भवत्यधार्मिको नरः ॥ १४ ॥
उक्तान्येतानि कर्माणि विस्तरेणेतरेण च ।
यानि कुर्वन्न कुर्वंश्च प्रायश्चित्तीयते नरः ॥ १५ ॥

करनेवाले, ये सब पापग्रस्त पुरुष ही प्रायश्चित्त करनेके अधिकारी हैं। (२-८)

हे कुन्तीनन्दन ! इस समय अकार्य अर्थात् लौकिक और वेद विरुद्ध कार्यों-को तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं, चित्त लगाके सुनो। निज धर्म त्यागके पराये धर्म कार्योंका अनुष्ठान करना, जो वस्तु मांगने योग्य न हो उन्हें जांचना, अभक्ष वस्तुओंको भक्षण करना, शरणागतको परित्याग करना, सेवकोंका पालन न करना, रस अर्थात् लवण तथा गुण आदि वेचना, पशु पक्षी, आदिका नाश करना, सामर्थ रहते भी स्त्रीको गर्भ-धारण न कराना, और प्रतिदिन देने योग्य गोग्रास आदि न देना, संकल्प की हुई वस्तुको दान न करना और ब्राह्मणों के ऊपर अत्याचार करना इन ऊपर कहे हुए कार्योंको धर्म जाननेवाले पुरुषोंने अकार्य कहके वर्णन किया है। जो पुत्र पिताके सङ्ग विवाद करते हैं, जो गुरु-शय्या गामी हैं। और जो उचित समय पर निज स्त्रीसे सन्तान उपत्न्न नहीं करते वे सब ही प्रायश्चित्त करनेके योग्य हैं। महाराज ! जिन कर्मोंके करने और जिनके न करनेसे मनुष्योंको प्रायश्चित करना पडता है, उसे मैंने संक्षेप और विस्तारके सहित तुम्हारे समीप वर्णन किया है, अब पाप कर्म करनेपर भी

एतान्येव तु कर्माणि क्रियमाणानि मानवः ।
येषु येषु निमित्तेषु न लिप्यन्तेऽथ तान् शृणु ॥ १६ ॥
प्रगृह्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे ।
जिघांसन्तं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत् ॥ १७ ॥
इति चाप्यत्र कौन्तेय मन्त्रो वेदेषु पठ्यते ।
वेदप्रमाणविहितं धर्मं च प्रब्रवीमि ते ॥ १८ ॥
अपेतं ब्राह्मणं वृत्ताद्यो हन्यादाततायिनम् ।
न तेन ब्रह्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ १९ ॥
प्राणात्यये तथाऽऽज्ञानादाचरन्मदिरामपि ।
आदेशितो धर्मपरैः पुनः संस्कारमर्हति ॥ २० ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं कौन्तेयाभक्ष्यभक्षणम् ।
प्रायश्चित्तविधानेन सर्वमेतेन शुद्ध्यति ॥ २१ ॥
गुरुतल्पं हि गुर्वर्थं न दूषयति मानवम् ।
उद्दालकः श्वेतकेतुं जनयामास शिष्यतः ॥ २२ ॥

जिन कारणोंसे पापी नहीं होना पडता, उसे वर्णन करता हूं, सुनो। (९–१६)

वेद जाननेवाला ब्राह्मण भी यदि शस्त्र ग्रहण करके युद्ध भूमिमें गमन करे, जो युद्ध करनेवाले ब्राह्मणोंका वध करनेपर भी ब्रह्महत्याका पाप नहीं लगता। हे कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! मैंने जैसी व्यवस्था कही है, वेदमें भी इस विषयका प्रमाण है। जो वेद प्रमाणसे युक्त और विहित धर्म कहके वर्णित हैं, वह मैं तुम्हारे समीप कहता हूं। निज वृत्तिसे भ्रष्ट आततांई ब्राह्मणका वध करनेसे मारनेवालेको जो ब्रह्महत्याके पापमें नहीं लिप्त होना पडता, उसका कारण यही है कि उस आततांईका क्रोधही उसके वध करनेवाले पुरुषके क्रोध उत्पन्न होनेका मूल है। यदि अज्ञानता और असाध्य व्याधिसे जीवन नष्ट होता होवे, तो ऐसे समयमें धर्मात्मा ज्ञानी वैद्यके उपदेशके अनुसार सुरापान करनेपर फिर संस्कार मात्र करनेसे ही सुरापानके पापसे मुक्त हो सकेंगे। (१७—२०)

हे महाराज! अभ्यक्ष्य वस्तुओंके भक्षणसे जो पाप कहे हैं, विहित प्रायश्चित्त करनेसे मनुष्य उन सब पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। गुरुकी आज्ञानुसार गुरुपत्नीके सङ्ग गमन करनेसे मनुष्यको पाप नहीं लगता, उसका प्रमाण यह है, कि उद्दालक मुनिने शिष्यके द्वारा अपनी

स्तेयं कुर्वंश्च गुर्वर्थमापत्सु न निषिध्यते ।
बहुशः कामकारेण न चेद्यः संप्रवर्त्तते ॥ २३ ॥
अन्यत्र ब्राह्मणस्वेभ्य आददानो न दुष्यति ।
स्वयमप्राशिता यश्च न स पापेन लिप्यते ॥ २४ ॥
प्राणत्राणेऽनृतं वाच्यमात्मनो वा परस्य च ।
गुर्वर्थे स्त्रीषु चैव स्याद्विवाहकरणेषु च ॥ २५ ॥
नावर्तते व्रतं स्वप्ने शुक्रमोक्षे कथञ्चन ।
आज्यहोमः समिद्धेऽग्नौ प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ २६ ॥
पारिवित्त्यं तु पतिते नास्ति प्रव्रजिते तथा ।
भिक्षिते पारदार्यं च तद्धर्मस्य न दूषकम् ॥ २७ ॥
वृथा पशुसमालम्भं नैव कुर्यान्न कारयेत् ।
अनुग्रहः पशूनां हि संस्कारो विधिनोदितः ॥ २८ ॥
अनर्हे ब्राह्मणे दत्तमज्ञानात्तन्न दूषकम् ।

स्त्रीसे श्वेतकेतु नाम पुत्र उत्पन्न कराया था । आपद काल उपस्थित होनेपर गुरुके निमित्त चोरी कर्म करनेसे भी पाप नहीं लगता; परन्तु वह शिष्य गुरुके हित साधनके सिवा अपनी अभिलाषासे यदि चोरी कर्ममें प्रवृत्त न होवे, वह चोरी किया हुआ धन यदि ब्रह्मस्व न हो और चोरी करनेवाला यदि उसे स्वयं भोग करनेकी इच्छा न करे, उसे पापमें नहीं लिप्त होना पडेगा । अपने वा दूसरेके प्राण रक्षाके निमित्त, गुरुके वास्ते, विवाह और स्त्रीसे रति करनेके समयमें मिथ्या वचन कहनेसे मनुष्य पापी नहीं होसकता । (२१-२५)

ब्रह्मचारी पुरुषका वीर्य यदि स्वप्नमें स्खलित होजावे, तो फिरसे उपनयनकी विधि नहीं है; उसके प्रायश्चित्तके वास्ते जलती हुई अग्निमें घृत होम करनेकी विधि है । बडा भाई यदि विवाहके पहिले ही पतित वा परिव्राजक होजावे, तो छोटा भाई विवाह कर सकता है; ऐसा करनेसे पारिवित्ति दोषमें नहीं फंसना पडता । पराई स्त्री यदि कामसे आरत होके स्वयं आकर रति करनेकी इच्छा करे, तो उसके सङ्ग भोग करनेसे धर्म नष्ट नहीं होता; पशुओंका वध करना वा दूसरेको पशुओंके वध करनेमें प्रवृत्त कराना उचित नहीं है, परन्तु यज्ञमें जो मन्त्र पढकर पशुओंका संस्कार होता है, वह पशुओंके ऊपर कृपा प्रकाशित हुई है, कहके वेदमें वर्णित है । तीर्थस्थानमें यदि कोई पुरुष अज्ञानताके

सत्काराणां तथा तीर्थे नित्यं वा प्रतिपादनम् ॥ २९ ॥
स्त्रियास्तथाऽपचारिण्या निष्कृतिः स्याददूषिका ।
अपि सा पूयते तेन न तु भर्त्ता प्रदुष्यति ॥ ३० ॥
तत्त्वं ज्ञात्वा तु सोमस्य विक्रयः स्याददोषवान् ।
असमर्थस्य भृत्यस्य विसर्गः स्याददोषवान् ।
वनदाहो गवामर्थे क्रियमाणो न दूषकः ॥ ३१ ॥
उक्तान्येतानि कर्माणि यानि कुर्वन्न दुष्यति ।
प्रायश्चित्तानि वक्ष्यामि विस्तरेणैव भारत ॥ ३२ ॥ [१२३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैय्यासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये चतुस्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

व्यास उवाच— तपसा कर्मणा चैव प्रदानेन च भारत ।
पुनाति पापं पुरुषः पुनश्चेन्न प्रवर्त्तते ॥ १ ॥

कारण प्रतिदिन योग्यपात्रको दान न देकर अयोग्य ब्राह्मणोंको दान देवे तो उससे धर्म लोप नहीं होता। स्त्रीके दुराचारिणी होनेसे उसके सङ्ग रति और भोजन आदि कर्म न करके उसे धिकार देकर पृथक् स्थानमें रखनेसे स्त्री पुरुष दोनों ही निर्दोष होते हैं, अर्थात् मूर्ख स्त्रियां धिकार प्रदानसे तिरस्कृत होनेसे ही पाप रहित हो सकती हैं, और पुरुष स्त्रीका सङ्ग त्यागनेसे निर्दोष होते हैं। (२९-३०)

जो पुरुष "इससे देवता लोग तृप्त होकर मनुष्योंके इच्छानुयाई अर्थात् अन्न उत्पन्नके योग्य जलवृष्टि करते हैं," इससे सोमरस दोनों लोकोंका उपकारक है,—इस प्रकार सोमरसके तत्वको जानते हैं, वे सोमरस बेचनेके पापी नहीं होते। कार्य करनेमें असमर्थ सेवकको परित्याग करनेसे स्वामीको दोषभागी नहीं होना पडता; सब गौओंकी रक्षा करनेके वास्ते सम्पूर्ण वनको भस्म किया जा सकता है। महाराज! मैंने जिन कर्मोंकी कथा कही है, यदि ऊपर कहे हुए कारणसे वे सब कार्य किये जावें; तो उन कर्मोंके करनेवाले पुरुषोंको पापी नहीं होना पडता। अब प्रायश्चित्तके विषयको विस्तारपूर्वक वर्णन करूंगा, ध्यानदेके सुनो। (३१—३२)[१२३१]

शान्तिपर्वमें चौतीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पैंतीस अध्याय।

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, महाराज! प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर यदि मनुष्य फिर पूर्व कृत पापाचरणमें प्रवृत्त न होवे, तो तपस्या, यज्ञके अनुष्ठान और गौ

एककालं तु भुञ्जीत चरन्भैक्ष्यं स्वकर्मकृत् ।
कपालपाणिः खट्वाङ्गी ब्रह्मचारी सदोत्थितः ॥ २ ॥
अनसूयुरधःशायी कर्म लोके प्रकाशयन् ।
पूर्णैर्द्वादशभिर्वर्षैर्ब्रह्महा विप्रमुच्यते ॥ ३ ॥
लक्ष्यः शस्त्रभृतां वा स्याद्विदुषामिच्छयाऽऽत्मनः ।
प्रास्येदात्मानमग्नौ वा समिद्धे त्रिरवाक्शिराः ॥ ४ ॥
जपन्वान्यतमं वेदं योजनानां शतं व्रजेत् ।
सर्वस्वं वा वेदविदे ब्राह्मणायोपपादयेत् ॥ ५ ॥
धनं वा जीवनायालं गृहं वासपरिच्छदम् ।
मुच्यते ब्रह्महत्याया गोप्ता गोब्राह्मणस्य च ॥ ६ ॥
षड्भिर्वर्षैः कृच्छ्रभोजी ब्रह्महा पूयते नरः ।
मासे मासे समश्नंस्तु त्रिभिर्वर्षैः प्रमुच्यते ॥ ७ ॥

तथा सुवर्ण दानसे पापसे मुक्त हो-सकता है। सेवक न रखके निज कार्योंको स्वयं करते हुए भिक्षावृत्ति अवलम्बन करके एक बार भोजन करे, ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित हो कपाल पाणि होकर पृथ्वीपर भ्रमण करते हुए असूया-रहित होके निज दोष प्रकाशित करे और रात्रिके समय भूमिपर शयन करे, इसी भांति नियम पूर्वक बारह वर्ष व्यतीत करनेसे ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष ब्रह्म-हत्याके पापसे छूट जाता है। अथवा यदि इच्छा हो, तो व्यवस्था देनेवाले पण्डितके मतके अनुसार अस्त्रजीवी धनुर्द्धारी पुरुषके बाणका निशाना होकर प्राणत्याग करे; अथवा अवाक्शिरा होके जलती हुई अग्निमें प्रवेश करके अपने शरीरको भस्म कर देवे, अथवा किसी एक वेदमन्त्रको जपते हुए तीन सौ योजन मार्ग भ्रमण करके किसी तीर्थ स्थानमें उपस्थित होनेसे, वा वेद जाननेवाले ब्राह्मणको अपना सर्वस्व दान करनेसे; अथवा उस ब्राह्मणको जीवनके समय पर्यन्त अन्न वस्त्र और गृहदान करनेसे भी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होसकता है। परन्तु यदि प्राण सङ्कटके समय गो ब्राह्मणकी रक्षा कर सके, तो उस ही समय ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो सकता है। (१-६)

यदि कृच्छ्रभोजी होसके, अर्थात् पहिले तीन दिन सवेरे, फिर तीन दिन सन्ध्याके समय और फिर तीन दिन तक बिना मांगी वस्तुओंका भोजन करना होगा और शेषके तीन दिनमें कुछ भी भोजन न करने पावेगा, इसीको

संवत्सरेण मासाशी पूयते नात्र संशयः।
तथैवोपवसन् राजन् स्वल्पेनापि प्रपूयते ॥ ८ ॥
क्रतुना चाश्वमेधेन पूयते नात्र संशयः।
ये चाप्यवभृथस्नाताः केचिदेवंविधा नराः ॥ ९ ॥
ते सर्वे धूतपाप्मानो भवन्तीति परा श्रुतिः।
ब्राह्मणार्थे ततो युद्धे मुच्यते ब्रह्महत्यया ॥ १० ॥
गवां शतसहस्रं तु पात्रेभ्यः प्रतिपादयेत्।
ब्रह्महा विप्रमुच्येत सर्वपापेभ्य एव च ॥ ११ ॥
कपिलानां सहस्राणि यो दद्यात्पञ्चविंशतिम्।
दोग्ध्रीणां स च पापेभ्यः सर्वेभ्यो विप्रमुच्यते॥ १२ ॥
गोसहस्रं सवत्सानां दोग्ध्रीणां प्राणसंशये।

कृच्छ्र भोजन कहते हैं; इसी भांति नियम पूर्वक छः वर्ष वितानेसे पुरुष पापसे रहित हो सकते हैं। यदि प्रत्येक महीनेसे प्रथम सप्ताहमें सवेरे, दूसरे सप्ताहमें अयाचित भोजन करके चौथे, सप्ताहमें अनशन व्रत करे, तो तीन वर्षमें ही ब्रह्महत्याके पापसे छूट जाता है। यदि पहिले महीनेमें प्रातःकाल, दूसरेमें सन्ध्याके समय, तीसरेमें विना मांगा हुआ भोजन करके चौथे महीनेमें उपवास व्रत करे,—तो क्रमसे एक वर्षतक इसी भांति नियम पूर्वक रहनेसे ब्रह्महत्या करनेवाला पुरुष अपने पापसे छूटेगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। और यदि महीने भरसे अधिक समय तक कुछ भी भोजन न करके केवल जल पीके प्राण धारण करके रह सके तो इस प्रकार अनशन व्रत करनेवाला पुरुष थोडे ही समयमें पापरहित होता है। (७—८)

हे महाराज! ब्रह्महत्या वा चाहे किसी प्रकारके पापी क्यों न हों—दक्षिणा युक्त अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान करके अवभृत अर्थात् यज्ञके शेषमें स्नान करनेसे ही ऊपर कहे हुए सब पापोंसे मुक्तहो सकते हैं। महाराज! ब्रह्महत्या आदि अनेक भांतिके पापी जो अश्वमेध यज्ञ करनेसे पापरहित होसकते हैं, इसका वेदमें प्रमाण है। इसी भांति यदि ब्राह्मणके प्राण रक्षामें प्रवृत्त होकर युद्धमें मारा जावे तौभी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त हो सकता है, अथवा उत्तम ब्राह्मणको एक लाख गऊ दान करनेसे भी ब्रह्महत्याका पाप छूट जाता है; परन्तु दूध देनेवाली पचीश हजार कपिला गऊ दान करे तौभी पापसे

साधुभ्यो वै दरिद्रेभ्यो दत्वा मुच्येत किल्बिषात्॥१३॥
शतं वै यस्तु काम्बोजान्ब्राह्मणेभ्यः प्रयच्छति।
नियतेभ्यो महीपाल स च पापात्प्रमुच्यते ॥ १४ ॥
मनोरथं तु यो दद्यादेकस्मा अपि भारत।
न कीर्तयेत दत्वा यः स च पापात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥
सुरापानं सकृत्कृत्वा योऽग्निवर्णां सुरां पिबेत्।
स पावयत्यथात्मानमिह लोके परत्र च ॥ १६ ॥
मरुप्रपातं प्रपतन् ज्वलनं वा समाविशन्।
महाप्रस्थानमातिष्ठन्मुच्यते सर्वकिल्बिषैः ॥ १७ ॥
बृहस्पतिसवेनेष्ट्वा सुरापो ब्राह्मणः पुनः।
समितिं ब्राह्मणो गच्छेदिति वै ब्रह्मणः श्रुतिः॥ १८॥
भूमिप्रदानं कुर्याद्यः सुरां पीत्वा विमत्सरः।
पुनर्न च पिबेद्राजन्संस्कृतः स च शुध्यति ॥ १९ ॥
गुरुतल्पी शिलां तप्तामायसीमभिसंविशेत्।

छूटेगा; और यदि किसी दरिद्र साधु पुरुषको आहारके अभावमें प्राण संशय उपस्थित हो, तो उस समयमें एक हजार बछडोंसे युक्त दुग्धवती गऊ दान करनेसे भी ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होसकेगा; परन्तु जितेन्द्रिय ब्राह्मणको केवल सौ काम्बोजदेशीय घोडे दान करनेसे ही पापरहित होगा। यदि याचकको उसकी अभिलाषा अनुसार वस्तु दान कर सके और दान करके किसीके समीप प्रकाश न करे; तो एक पुरुषको दान देकर ही ब्रह्महत्याके पापसे मुक्त होसकेगा। (९—१५)

एक बार सुरापान करनेसे अग्निवर्ण सुरापान करे, तो इस लोक परलोकमें आत्माको उत्तीर्ण कर सकेगा; अथवा जलरहित स्थानमें ऊंचे पहाडके ऊपरसे गिरने, वा जलती हुई अग्निमें प्रवेश करने अथवा महाप्रस्थान-यात्रा अर्थात् केदाराचलपर गमन करके हिमालयमें चढके प्राणत्याग करनेसे भी सुरापानके पापसे मुक्ति लाभ होसकती है। सुरापान करनेवाला ब्राह्मण बृहस्पतिसव नाम यज्ञके अनुष्ठानसे भी सुरापानके पापसे छूटके फिर ब्राह्मण समाजमें मिल सकता है; ऐसा वेदमें वर्णित है। यदि प्रायश्चित्तके अनन्तर फिर सुरापानमें प्रवृत्त न होवे, तो मत्सरहीन होकर भूमिदान करनेसे ही पापरहित होसकेगा। गुरुस्त्री गमन करनेवाला पुरुष जलती हुई

अवकृत्यात्मनः शेफं प्रव्रजेदूर्ध्वदर्शनः ॥ २० ॥
शरीरस्य विमोक्षेण मुच्यते कर्मणोऽशुभात् ।
कर्मभ्यो विप्रमुच्यन्ते यत्ताः संवत्सरं स्त्रियः ॥ २१ ॥
महाव्रतं चरेद्यस्तु दद्यात्सर्वस्वमेव तु ।
गुर्वर्थे वा हतो युद्धे स मुच्येत्कर्मणोऽशुभात् ॥ २२ ॥
अनृतेनोपवर्ती चेत्प्रतिरोद्धा गुरोस्तथा ।
उपाहृत्य प्रियं तस्मै तस्मात्पापात्प्रमुच्यते ॥ २३ ॥
अवकीर्णिनिमित्तं तु ब्रह्महत्या व्रतं चरेत् ।
गोचर्मवासाः षण्मासांस्तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २४ ॥
परदारापहारी तु परस्यापरहरन्वसु ।
संवत्सरं व्रती भूत्वा तथा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २५ ॥
धनं तु यस्यापहरेत्तस्मै दद्यात्समं वसु ।
विविधेनाभ्युपायेन तदा मुच्येत किल्बिषात् ॥ २६ ॥

लोहयुक्त शिलासे लिपटके प्राणत्याग करे, तो उस पापसे मुक्त होसकता है; अथवा अपना लिङ्ग काटके उर्ध्वदृष्टि होकर परिव्राजक होनेपर भी गुरुपत्नी गमनके पापसे निस्तार पा सकता है। किसी प्रकारके पाप क्यों न हों, शरीर त्याग करनेसे वे सब छूट जाते हैं, परन्तु जिन सब पापोंका वर्णन किया गया है, यदि स्त्रियां उन पापोंमें लिप्त हों, तो वे एकवर्ष पर्यन्त आहारविहार आदि भोगोंको त्यागके इन्द्रिय संयम करनेसे ही पापरहित होसकती हैं। (१६-२१)

जो पुरुष महाव्रतके अनुष्ठान अर्थात् एक महीने पर्यन्त सब भोजन करनेकी वस्तुओंको और जल पीना भी परित्याग करे, तो वह सब पापोंसे मुक्त हो सकता है; और सर्वस्वदान करनेसे भी मुक्ति लाभ कर सकेगा। अथवा गुरुको प्राण रक्षाके वास्ते युद्धमें मरनसे भी पुरुष सम्पूर्ण पापोंसे मुक्त होसकता है। गुरुके समीप मिथ्या व्यवहार वा अप्रिय कार्य करनेसे फिर उनके इच्छानुयाई प्रिय कार्य करनेसे उस पापसे मुक्त होगा। यदि कोई पुरुष ब्रह्मचर्य आदि व्रत करनेवालोंका व्रत भङ्ग करे, तो उसे छः महीनेतक गोचर्म आढके ब्रह्महत्या-के समान व्रतका अनुष्ठान करना होगा, तब वह उस पापसे मुक्त होसकेगा। पराये धन और स्त्री हरनेवाले पुरुषको सात वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रतका अनुष्ठान करना होगा, ऐसा करनेसे उसका पाप छूट सकता है; अथवा जिनकी जैसी

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रेण संयतात्मा व्रते स्थितः।
परिवेत्ता भवेत्पूतः परिवित्तिस्तथैव च ॥ २७ ॥
निवेश्यं तु पुनस्तेन सदा तारयता पितॄन्।
न तु स्त्रियो भवेद्दोषो न तु सा तेन लिप्यते ॥ २८ ॥
भोजनं ह्यन्तराशुद्धं चातुर्मास्ये विधीयते।
स्त्रियस्तेन प्रशुध्यन्ति इति धर्मविदो विदुः ॥ २९ ॥
स्त्रियस्त्वाशङ्किताः पापा नोपगम्या विजानता।
रजसा ता विशुध्यन्ते भस्मना भाजनं यथा ॥ ३० ॥
पादजोच्छिष्टकांस्यं यद्गवाघ्रातमथापि वा।
गण्डूषोच्छिष्टमपि वा विशुध्येद्दशभिस्तु तत् ॥ ३१ ॥

वस्तु हरण करे, उसे अनेक भांतिके उपायसे वैसी ही वस्तु प्रदान करनेसे भी पापरहित हो सकता है। (२२-२६)

परिवेत्ता और परिवित्ति ये दोनों ही इन्द्रियसंयम करके बारह दिन प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करनेसे पवित्र हो सकेंगे। परन्तु परिवित्त अर्थात् जेष्ठ भ्राता छोटे भाईके विवाहको अनन्तर स्त्रीका पाणिग्रहण करके यज्ञानुष्ठान करे, तो उसे भी छोटे भाईकी भांति बारह दिन तक प्राजापत्य व्रतका अनुष्ठान करके प्रायश्चित्त करना होगा; इससे अन्यथा प्रायश्चित्त नहीं करना पडेगा; और परिवेत्ता अर्थात् छोटे भाईका जेष्ठ भ्राताके प्रायश्चित्त करनेके अनन्तर फिर दो परिग्रह करना होगा, इनके विना उसकी शुद्धि नहीं होसकेगी, इससे वह श्राद्ध आदि कर्मोंसे पितरोंका उद्धार भी न कर सकेगा। परन्तु इन परिवेत्ता आदि कोंकी प्रथम विवाहिता स्त्रियोंको पाप नहीं लगेगा, क्यों कि स्त्रियोंको पुरुष कृत पापोंमें लिप्त नहीं होना पडता। अधिक क्या कहें यदि स्त्रियोंसे कोई महापाप भी होजावे, तो अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले वस्तुओंके भोजनसे चातुर्मास व्रतका अनुष्ठान करनेसे ही वह पापरहित हो सकती हैं, धर्म जाननेवाले पुरुषोंने ऐसी ही विधि वर्णन की है। स्त्रियां यदि मन ही मन किसी पापाचरणके अनुष्ठानका सङ्कल्प करें, अथवा विना जाने किसी पापाचारी पुरुषके सङ्ग व्यभिचारमें प्रवृत्त होवे, तो ऋतुकाल उपस्थित होनेसे वे भस्मसे मले हुए पात्रकी भांति शुद्ध होंगी। (२७-३०)

भोजन करनेके पात्र ब्राह्मण वा शूद्रोंके जूठे अथवा गौवोंके सूंघनेपर पञ्चगव्य, मट्टी, जल, भस्म, खटाई और

चतुष्पात्सकलो धर्मो ब्राह्मणस्य विधीयते ।
पादावकृष्टो राजन्ये तथा धर्मो विधीयते ॥ ३२ ॥
तथा वैश्ये च शूद्रे च पादः पादो विधीयते ।
विद्यादेवंविधेनैषां गुरुलाघवनिश्चयम् ॥ ३३ ॥
तिर्यग्योनिवधं कृत्वा द्रुमांछित्त्वेतरान्बहून् ।
त्रिरात्रं वायुभक्षः स्यात्कर्म च प्रथयन्नरः ॥ ३४ ॥
अगम्यागमने राजन्प्रायश्चित्तं विधीयते ।
आर्द्रवस्त्रेण षण्मासान्विहार्यं भस्मशायिना ॥ ३५ ॥
एष एव तु सर्वेषामकार्याणां विधिर्भवेत् ।
ब्रह्मणोक्तेन विधिना दृष्टान्तागमहेतुभिः ॥ ३६ ॥
सावित्रीमप्यधीयीत शुचौ देशे मिताशनः ।
अहिंसो मन्दकोऽजल्पो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः॥ ३७ ॥
अहःसु सततं तिष्ठेदभ्याकाशं निशां स्वपन् ।

अग्नि-इन दश वस्तुओंसे शुद्ध होंगे, ब्राह्मणोंको चतुष्पाद धर्मके अनुष्ठान करनेकी विधि है, क्षत्रियोंको त्रिपाद, वैश्यको द्विपाद और शूद्रको केवल एक पाद मात्र धर्मके अनुष्ठानकी विधि कही गई है। प्रायश्चित्तके विषयको भी धर्मानुष्ठानके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्री और वैश्य आदि वर्णोंके लाघव और गौरवके सहित विचारना उचित है । तिर्यग् योनि अर्थात् पशु पक्षियोंके वध करने तथा नाना भांतिके वृक्ष आदिकोंके काटनेपर जन—समाजमें अपने किये हुए कर्मको प्रकाशित करते हुए तीन वार वायु पान करके रहनेसे ही पुरुष पाप रहित होंगे । अगम्यागमन करनेसे शरीरमें भस्म लगाके भीगे हुए वस्त्रसे अपने सब शरीरको ढांके धुनीकी भस्म रूपी शय्या पर शयन और शतरुद्री पाठ करते हुए छः महीना बितानेसे उस पापसे मुक्त होंगे । परन्तु दृष्टान्त भूत शास्त्रमें कहे हुए हेतुपूरित वचनोंके साथ वेद विहित वाक्योंको ऐक्यता करके सम्पूर्ण पाप कर्मोंके प्रायश्चित्तकी व्यवस्था देनी होगी, अर्थात् वेदमें यदि किसी स्थलमें प्रायश्चित्त आदिके विषयमें अस्पष्ट विधि हो, तो शास्त्रोंमें जिस स्थलमें उस विषयकी स्पष्ट विधि दीख पडे, उसे युक्तिसे विचारके उस ही दृष्टान्तके अनुसार अस्पष्ट वेदविधिकी व्याख्या करके व्यवस्था देनी चाहिये । (३१-३७)

ब्राह्मण यदि अज्ञानताके वशमें

त्रिरह्नि त्रिर्निशायां च सवासाजलमाविशेत् ॥ ३८ ॥
स्त्री शूद्रं पतितं चापि नाभिभाषेद्व्रतान्वितः ।
पापान्यज्ञानतः कृत्वा मुच्येदेवं व्रतो द्विजः ॥ ३९ ॥
शुभाशुभफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्र तत्कर्ता लभते फलम् ॥ ४० ॥
तस्माद्दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् ॥ ४१ ॥
कुर्याच्छुभानि कर्माणि निवर्तेत्पापकर्मणः ।
दद्यान्नित्यं च वित्तानि तथा मुच्येत किल्बिषात्॥४२॥
अनुरूपं हि पापस्य प्रायश्चित्तमुदाहृतम् ।
महापातकवर्जं तु प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४३ ॥

होकर कोई पापाचारण करे, तो वह राग द्वेष मान और अपमानसे रहित होके गायत्री मन्त्रका जप करे, पाप विशेषमें जितने दिनोंतक व्रताचरण करना होगा, उतने दिनोंतक प्रतिदिन अनावृत स्थलमें खडा रहे, रात्रिके समय कुशा पर शयन करे और दिनमें तीनवार तथा रात्रिके समयमें भी तीन वार तालावमें गमन करके वस्त्र सहित स्नान करे, स्त्री, शूद्र और पतित पुरुषोंके सङ्ग वार्तालाप न करे, इसी भांति व्रताचरण करनेसे समस्त पापोंसे मुक्त होगा। मनुष्य पाप वा पुण्य जो कुछ करते हैं परलोकमें गमन करनेपर अग्नि, जल और वायु आदि महा भूतोंके अधिष्ठाता देवता लोग उनके किये हुए सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मोंके साक्षी रहती हैं; इस से पर लोकमें मनुष्योंको अवश्यही शुभाशुभ कर्मोंके फलको भोगना पडता है। परन्तु पुरुषोंके किये हुए सत् अथवा असत् कर्मोंमेंसे जब जिसकी अधिकता होती है, तब वह कर्म एक दूसरेको दबाके कर्त्ताको इस ही लोकमें फल देता है। जैसे सदा पापकर्मोंके अनुष्ठान करनेवाले पुरुषोंके पापकी अधिकता होकर शीघ्र ही उसे पापका फल भोगना पडता है, वैसेही ज्ञानकी आलोचना, तपस्या और यज्ञानुष्ठानसे पुरुष पापरहित होके इस ही लोकमें शुभ कर्मोंके फलभागी होते हैं: इससे सदा पाप कर्मोंसे निवृत्त होके प्रतिदिन दान और शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करना उचित है; ऐसा करनेसे उस पुरुषको पापकर्मोंमें लिप्त नहीं होना पडता। (३७-४२)

हे महाराज! जिन जिन पापोंकी कथा वर्णित हुई है उनके अनुरूप ही

भक्ष्याभक्ष्येषु चान्येषु वाच्यावाच्ये तथैव च ।
अज्ञानज्ञानयो राजन् विहितान्यनुजानतः ॥ ४४ ॥
जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ ४५ ॥
शक्यते विधिना पापं यथोक्तेन व्यपोहितुम् ।
आस्तिके श्रद्दधाने च विधिरेष विधीयते ॥ ४६ ॥
नास्तिका श्रद्दधानेषु पुरुषेषु कदाचन ।
दम्भद्वेषप्रधानेषु विधिरेष न दृश्यते ॥ ४७ ॥
शिष्टाचारश्च शिष्टश्च धर्मो धर्मभृतां वर ।
सेवितव्यो नरव्याघ्र प्रेत्येह च सुखेप्सुना ॥ ४८ ॥
स राजन्मोक्ष्यसे पापात्तेन पूर्णेन हेतुना ।

प्रायश्चित्तकी विधि कही गई; अब महा पातकके अतिरिक्त भक्ष्य, अभक्ष्य, पात्र और अपात्र इत्यादि नाना प्रकारके विषयोंकी व्यवस्थाका वर्णन करता हूं, सुनो। यह जो ज्ञान और अज्ञान कृत पापोंकी विधि कही गई है, वह बालक और अत्यन्त मूर्ख तथा पशु तुल्य अन्त्यजजातिके निमित्त नहीं है; उसे श्रेष्ठकुलमें उत्पन्न हुए बुद्धिमान वा किञ्चित ज्ञानवान पुरुषोंके विषयमें ही समझना चाहिये। इसी भांति यदि बुद्धि मान पुरुष किसी पापकर्म करनेकी इच्छा करके उसके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होते हैं, तो वे अधिक पापी होंगे, और यदि अज्ञानताके कारण दैवी संयोगसे कदाचित पाप कर्म होजावे, तो वह उसकी लघुता समझी जाती है, इससे उसका प्रायश्चित्त भी थोडा होगा। जैसा पापाचरण होगा, उसके अनुरूप ही प्रायश्चित्त करनेसे वह पाप नष्ट होता है, परन्तु शास्त्रमें कही हुई ये सम्पूर्ण विधि नास्तिक और अश्रद्धावान पुरुषोंके सम्बन्धमें नहीं कही गई हैं, इन्हें श्रद्धावान और आस्तिकोंके विषयमें ही जानना चाहिये; क्यों कि शास्त्रमें दम्भ और द्वेषयुक्त पुरुषोंके विषयमें कोई भी विधि नहीं दीख पडती; कारण शास्त्रमें शिष्टाचार ही धर्म कहके वर्णित हुआ है; इससे इस लोक और परलोकमें कल्याण प्राप्तिकी अभिलाषा करनेवाले पुरुषोंको इन्हीं शास्त्रोक्त विधिके अनुसार चलना उचित है। (४३-४८)

महाराज! मैंने तुमसे पहिलेही कहा है, कि क्षत्रियधर्म अथवा निज प्राण रक्षाके निमित्त महादुष्ट पुरुषोंका वध करनेसे मारनेवालेको कदापि पापमें

प्राणार्थं वा धनेनैषामथवा नृपकर्मणा ॥ ४९ ॥
अथवा ते घृणा काचित्प्रायश्चित्तं चरिष्यसि ।
मा त्वेवानार्यजुष्टेन मन्युना निधनं गमः ॥ ५० ॥
वैशम्पायन उवाच- एवमुक्तो भगवता धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
चिन्तयित्वा मुहूर्तेन प्रत्युवाच तपोधनम् ॥५१॥ [१२८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि प्रायश्चित्तीये पञ्चत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच- किं भक्ष्यं चाप्यभक्ष्यं च किं च देयं प्रशस्यते ।
किं च पात्रमपात्रं वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
व्यास उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
सिद्धानां चैव संवादं मनोश्चैव प्रजापतेः ॥ २ ॥
ऋषयस्तु व्रतपराः समागम्य पुरा विभुम् ।
धर्मं पप्रच्छुरासीनमादिकाले प्रजापतिम् ॥ ३ ॥
कथमन्नं कथं पात्रं दानमध्ययनं तपः ।

लिप्त नहीं होना पडता, इस ही कारण तुम भी दुष्टात्मा कौरवोंका वध करनेसे पापी नहीं हुए। यह सब जानके भी यदि तुम्हारे चित्तकी ग्लानि नहीं दूर होती है, तो शास्त्रविधिके अनुसार प्रायश्चित्त करो, परन्तु जैसे अनार्य लोग मनके दुःखको न सहके आत्मघाती होते हैं, वैसे आचरण करनेमें तुम्हें कदापि प्रवृत्त होना उचित नहीं है; श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज जनमेजय! धर्मराज युधिष्ठिर तपस्वी वेदव्यास मुनिके मुखसे इस सम्पूर्ण उपदेशयुक्त वचनोंको सुनके क्षणभर चिन्ता करके उनसे कहने लगे। (४९-५१)

शान्तिपर्वमें पैंतीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें छत्तीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, हे महर्षि पितामह! द्विजातियोंके निमित्त कौनसे अभक्ष्य और कौनसे भक्ष्य हैं? दोनोंमें कौनसा दान बडा है। और उसके पात्र तथा अपात्र कैसे हैं? उसे मेरे समीप प्रकाशित करके कहिये! श्रीवेदव्यास मुनि बोले, महाराज! इस विषयमें प्रजापति मनुने सिद्ध तथा ऋषियोंसे एक प्राचीन इतिहास कहा था, उसे सुनो। आदिकालमें किसी समय व्रत करनेवाले ऋषियोंने इकठे होकर प्रजापति विभु भगवान् मनुके समीप गमन करके धर्म विषयमें कई एक प्रश्न किये, उन्होंने कहा, हे प्रजापति! हम लोग

कार्याकार्यं च यत्सर्वं शंस वै त्वं प्रजापते ॥ ४ ॥
तैरेवमुक्तो भगवान्मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत् ।
शुश्रूषध्वं यथावृत्तं धर्मं व्यास समासतः ॥ ५ ॥
अनादेशे जपो होम उपवासस्तथैव च ।
आत्मज्ञानं पुण्यनद्यो यत्र प्रायश्च तत्परा ॥ ६ ॥
अनादिष्टं तथैतानि पुण्यानि धरणीभृतः ।
सुवर्णप्राशनमपि रत्नादिस्नानमेव च ॥ ७ ॥
देवस्थानाभिगमनमाज्यप्राशनमेव च ।
एतानि मेध्यं पुरुषं कुर्वन्त्याशु न संशयः ॥ ८ ॥
न गर्वेण भवेत्प्राज्ञः कदाचिदपि मानवः ।
दीर्घमायुरथेच्छन्हि त्रिरात्रं चोष्णपो भवेत् ॥ ९ ॥

किस प्रकार पात्रको अन्नदान करें ? पवित्रता किस प्रकार होसकती है, दान, अध्ययन, तपस्या कार्य और अकार्य क्या है ? इन विषयोंको आप हम लोगोंके समीप वर्णन कीजिये। (१-४)

ऋषियोंके ऐसे वचन सुनके भगवान् स्वयम्भू मनु बोले, हे ऋषि लोगों ! तुम लोग संक्षेप और विस्तारके सहित यथारीतिसे धर्मकी कथा सुनो। जिन जिन स्थानोंमें पुण्यशीला नदियां बहती हैं और शास्त्रोंमें जिन देशोंके सम्बन्धमें कोई दोष नहीं वर्णित हुए हैं, बहुतसे साधु पुरुष जिन स्थानोंमें निवास करते हैं, उन स्थानोंमें जप, होम, उपवास, आत्मज्ञानका विचार इत्यादि तपस्याके अनुष्ठानसेही लोगोंकी पवित्रता होसकती है। ऊपर कहे हुए स्थानोंमें जप होम आदि शुभ कर्मोंके अनुष्ठानसे जिस प्रकार मनुष्योंकी पवित्रताका विषय वर्णित हुआ है, वैसे ही कई एक पापोंके फलकी विधिका पृथक् रूपसे वर्णन करनेकी सामान्यता समझके केवल सुवर्ण, आज्य प्राशन, स्वर्ण आदि पञ्च रत्नोंसे युक्त जलमें स्नान, देव स्थानोंके दर्शनकी यात्रा तथा ब्रह्मगिरि आदि कई एक लोकपावन पर्वतोंके दर्शन इत्यादि कई एक वस्तुको ही पण्डितोंने सामान्य रूपसे अशुभ कर्मोंको नाश करनेवाली प्रायश्चित्तकी विधि कहके वर्णन की है, उस विधिके अनुसार कार्य करनेसे पुरुष शीघ्र ही पाप कर्मोंसे मुक्त हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं है। (५—८)

बहुत दिनोंतक जीवित रहनेकी आशा रहनेपर किसीको भी अवज्ञा करनी उचित नहीं है; यदि अज्ञानताके कारण ऐसा कार्य होजावे, तो उस दोषको

अदत्तस्यानुपादानं दानमध्ययनं तपः ।
अहिंसा सत्यमक्रोध इज्या धर्मस्य लक्षणम् ॥ १० ॥
स एव धर्मः सोऽधर्मो देशकाले प्रतिष्ठितः ।
आदानमनृतं हिंसा धर्मो ह्यावस्थिकः स्मृतः ॥ ११ ॥
द्विविधौ चाप्युभावेतौ धर्माधर्मौ विजानताम् ।
अप्रवृत्तिः प्रवृत्तिश्च द्वैविध्यं लोकवेदयोः ॥ १२ ॥
अप्रवृत्तेरमर्त्यत्वं मर्त्यत्वं कर्मणः फलं ।
अशुभस्याशुभं विद्याच्छुभस्य शुभमेव च ।
एतयोश्चोभयोः स्यातां शुभाशुभतया तथा ॥ १३ ॥
दैवं च दैवसंयुक्तं प्राणश्च प्राणदश्च ह ।
अपेक्षा पूर्वकरणादशुभानां शुभं फलम् ॥ १४ ॥

दूर करनेके वास्ते त्रिरात्र उष्णपान करे। विना दी हुई वस्तुको ग्रहण न करना, दान, अध्ययन, तपस्या, अहिंसा, सत्य व्यवहार, क्षमा और देवताओंकी पूजा इत्यादि कई एकको धर्मका लक्षण जानना चाहिये। परन्तु इस प्रकारका धर्म भी देशकालके अनुसार कभी कभी अधर्मरूपसे गिना जाता है और प्रतिग्रह, मिथ्या व्यवहार और हिंसा आदि अधर्मके कार्य भी अवस्थाविशेष अर्थात् प्राण संशय आदि स्थलोंमें धर्मरूपसे माने जाते हैं। (९-११)

हे कुन्तीनन्दन! बुद्धिमान पुरुषोंके सम्बन्धमें धर्म और अधर्म यही दो प्रकारसे कहे गये हैं। वह धर्माधर्म फिर लौकिक और वैदिक मतके अनुसार शुभाशुभ और प्रवृत्ति निवृत्ति भेदसे दो दो अंशोंमें विभक्त है, उसमें प्रवृत्ति वैदिक और शुभाशुभ लौकिक है। प्रवृत्ति अर्थात् वेदविहित ज्योतिष्टोम आदि यज्ञोंके अनुष्ठान, इनके फल बारबार संसारमें जन्म और मृत्यु हैं और निवृत्ति मार्गका फल तत्वज्ञान तथा ब्रह्म प्राप्ति है। इसी भांतिसे लौकिकमें भी परोपकार आदि शुभ कर्मोंका अनुष्ठान करनेसे जनसमाजके बीच प्रशंसा और अर्थलाभ आदि शुभ फल मिलता है, और असत् कार्य अर्थात् जनसमाजके बीच अत्याचार करनेसे जगत्में निन्दा होती और राजदण्ड आदि अशुभ फल मिलते हैं; इससे वैदिक मार्गकी भांति लोकमें भी शुभाशुभ कर्मोंके फलके अनुसार धर्माधर्म जानना चाहिये। दैव इच्छा, शास्त्रमें कहे हुए कर्म, निज प्राणरक्षा, माता पिता, स्वामी आदि तथा पालन करनेवाला, इनके अनुरोध

ऊर्ध्वं भवति सन्देहादिह दृष्टार्थमेव च।
अपेक्षा पूर्वकरणात्प्रायश्चित्तं विधीयते ॥ १५ ॥
क्रोधमोहकृते चैव दृष्टान्तागमहेतुभिः।
शरीराणामुपक्लेशो मनसश्च प्रियाप्रिये।
तदौषधैश्च मन्त्रैश्च प्रायश्चित्तैश्च शाम्यति ॥ १६ ॥
उपवासमेकरात्रं दण्डोत्सर्गे नराधिपः।
विशुद्धयेदात्मशुद्धयर्थं त्रिरात्रं तु पुरोहितः ॥ १७ ॥
क्षयं शोकं प्रकुर्वाणो न म्रियेत यदा नरः।
शस्त्रादिभिरुपाविष्टस्त्रिरात्रं तत्र निर्दिशेत् ॥ १८ ॥
जातिश्रेण्यधिवासानां कुलधर्मांश्च सर्वतः।
वर्जयन्ति च ये धर्मं तेषां धर्मो न विद्यते ॥ १९ ॥
दश वा वेदशास्त्रज्ञास्त्रयो वा धर्मपाठकाः।

से अन्याय कार्य करनेसे भी शुभ फल मिलता है। परन्तु इस पृथ्वीके बीच जो श्येन यज्ञ आदि कर्मोंके फलकी भांति शीघ्र ही फलित होते हैं; अथवा जो उत्तर कालमें फलित होसकेगा, कहके सन्देहास्पद होगा, उसे केवल लोकानुरोधसे किसी मनुष्यको लक्ष्य करके वैसा अनिष्ट कार्य करनेसे कर्त्ताको प्रायश्चित्त करना पड़ेगा। (१२-१५)

यदि कोई पुरुष क्रोध वा मोहके वशमें होके निज मनकी सन्तुष्टि वा असन्तुष्टि करनेवाले कार्यको करे, तो वह शास्त्रमें कहे हुए प्रमाण और युक्तिके अनुसार शरीरको सुखानेवाले उपवास आदि प्रायश्चित्त करके शुद्ध होगा; अथवा हविष्यान्न भोजन, आत्माको पवित्र करनेवाले मन्त्रोंके जप और तीर्थाटन करनेसे भी उस पापसे मुक्त होसकेगा। राजा यदि अज्ञान और क्रोधसे वशमें होकर दण्ड चलावे, तो एकरात्रि और पुरोहित त्यागनेपर तीन रात्रि उपवास करके पवित्र होसकता है। कोई पुरुष यदि पुत्रादिकी मृत्युसे शोकित होके शस्त्र आदिसे आत्महत्या करनेमें प्रवृत्त होके भी कृतकार्य न होसके, तो वह तीन दिन उपवास व्रत करनेसे आत्महत्या-प्रवृत्ति दोषसे मुक्त होगा, शास्त्रमें ऐसी ही विधि वर्णित है। जो लोग सब भांतिसे ब्राह्मणत्वादि जातिधर्म, गृहस्थी आदि आश्रमोंके धर्म, देशाचार और कुलाचारको त्यागते हैं, उन लोगोंको प्रायश्चित्त करनेका अधिकार नहीं है। (१६-१९)

हे ऋषिलोगो! मैंने जो सब

यद्ब्रूयुः कार्य उत्पन्ने स धर्मो धर्मसंशये ॥ २० ॥
अनड्वान्मृत्तिका चैव तथा क्षुद्रपिपीलिकाः ।
श्लेष्मातकस्तथा विप्रैरभक्ष्यं विषमेव च ॥ २१ ॥
अभक्ष्या ब्राह्मणैर्मत्स्याः शुल्कैर्ये वै विवर्जिताः ।
चतुष्पात्कच्छपादन्यो मण्डूका जलजाश्च ये ॥ २२ ॥
भासा हंसाः सुपर्णाश्च चक्रवाकाः प्लवा बकाः ।
काको मद्गुश्च गृध्रश्च श्येनोलूकस्तथैव च ॥ २३ ॥
क्रव्यादा दंष्ट्रिणः सर्वे चतुष्पात्पक्षिणश्च ये ।
येषां चोभयतो दन्ताश्चतुर्दंष्ट्राश्च सर्वशः ॥ २४ ॥
एडकाश्वखरोष्ट्रीणां सूतिकानां गवामपि ।
मानुषीणां मृगीणां च न पिबेद्ब्राह्मणः पयः ॥ २५ ॥
प्रेतान्नं सूतिकान्नं च यच्च किञ्चिदनिर्दशम् ।
अभोज्यं चाप्यपेयं च धेनोर्दुग्धमनिर्दशम् ॥ २६ ॥
राजान्नं तेज आदत्ते शूद्रान्नं ब्रह्मवर्चसम् ।

व्यवस्था कही है, उसे वैसे ही समझो; परन्तु धर्मविषयमें कोई संशय उत्पन्न होनेपर दश जन वेद शास्त्रोंके जाननेवाले अथवा धर्मशास्त्र जाननेवाले तीन पण्डित जैसी व्यवस्था दें, उसे ही धर्म कहके ग्रहण करना होगा। बैल, मिट्टी, विष, मलमूत्रके कीडे, चीटी आदि द्विजातियोंके निमित्त अभक्ष्य है। शुल्करहित, मछरी और कछुएके अतिरिक्त मेडक आदि चार पांववाले जलजन्तुओंका भक्षण भी निषेध है। जलमें तैरने में समर्थ बगुले, गरुड, भाष, बाज, कौवे, चकवे, मद्गु, गिद्ध, हंस और उल्लू आदि पक्षी भक्षणीय नहीं हैं; इनके अतिरिक्त दांतवाले, मांसभक्षी और चार पांववाले पक्षी भी द्विजातियोंके अभक्ष्य जानो। जिनके दोनों ओर दांत हैं और चार दांतवाले पक्षियोंका मांस भी नहीं खाना चाहिये। मानुषी, हरिनी, ऊटनी, भेडी और गदही आदिकों का दूध ब्राह्मणोंको नहीं पीना चाहिये। नवप्रसूता गौका दूध भी दशदिनके विना बीते पीना उचित नहीं है। मृताशौचके मनुष्यने बनाया हुआ, नवप्रसूता स्त्रीका बनाया हुआ और दश दिनके विना बीते नवप्रसूता गौके दूधमेका बना हुआ पायस आदि भोजन करना उचित नहीं है। (२०–२६)

राजाके अन्नखानेसे तेज, शूद्रके घर भोजन करनेसे ब्रह्मवर्चस अर्थात् वेदा-

आयुः सुवर्णकारान्नमवीरायाश्च योषितः ॥ २७ ॥
विष्ठा वार्धुषिकस्यान्नं गणिकान्नमथेन्द्रियम् ।
मृष्यन्ति ये चोपपतिं स्त्रीजितान्नं च सर्वशः ॥ २८ ॥
दीक्षितस्य कदर्यस्य क्रतुविक्रयिकस्य च ।
तक्षणश्चर्मावकर्तुश्च पुंश्चल्या रजकस्य च ॥ २९ ॥
चिकित्सकस्य यच्चान्नमभोज्यं रक्षिणस्तथा ।
गणग्रामाभिशस्तानां रङ्गस्त्रीजीविनां तथा ॥ ३० ॥
परिवित्तीनां पुंसां च वन्दिद्यूतविदां तथा ।
वामहस्ताहृतं चान्नं भक्तं पर्युषितं च यत् ॥ ३१ ॥
सुरानुगतमुच्छिष्टमभोज्यं शेषितं च यत् ।
पिष्टस्य चेक्षुशाकानां विकाराः पयसस्तथा ॥ ३२ ॥
सक्तुधानाकरम्भाणां नोपभोग्याश्चिरस्थिताः ।
पायसं कृसरं मांसमपूपाश्च वृथाकृताः ॥ ३३ ॥

व्ययनकी प्रतिभा, स्वर्णकार और अवीरा स्त्रीके घर भोजन करनेसे आयु क्षीण होती है । वार्द्धुषिक अर्थात् व्याज ग्रहण करनेवालोंका अन्न मलरूपी और गणिकाके अन्न खानेसे वीर्य-ह्रास होता है । जो निजपत्नी आदि दुश्चरित्रवाली स्त्रियोंके उपपतियोंको देखके क्षमा करते हैं और जो पुरुष स्त्रियोंके वशीभूत हैं, उनका अन्न भोजन निषेध है । यज्ञके निमित्त पशु वध होते ही और होम आदिके बिना समाप्त हुए यज्ञ करनेवाले पुरुषका अन्न भोजन न करे । सोम रस बेचनेवाले, सूम, तक्षु, व्यभिचारिणी, चिकित्सा करनेवाले, नगर रक्षकका और स्त्री जीवीका अन्न भी भक्षणीय नहीं है । इसी भांति परिवित्त, स्तुति करनेवाले और जुआरी पुरुषोंका अन्न भी नहीं ग्रहण करना चाहिये । गणान्न और ग्राम-दूषित पुरुषका भी अन्न ग्रहण करना उचित नहीं है । पर्यूषित और बायें हाथसे ग्रहण किये हुए भोजनको खाना नहीं चाहिये । जो निज आत्मीय पुरुषोंको न देकर अपने ही वास्ते खाने योग्य वस्तुवोंको संग्रह करता है, उसका तथा सुरासे स्पर्श हुआ अन्न और जूठा भोजन नहीं करना चाहिये । पिष्टक, इखके रस और शाक बिगडनेसे त्यागके योग्य है । सत्तू, अष्टयव और दहीसे युक्त सत्तू भी बहुत समय बीतने पर खाना उचित नहीं है । दूध युक्त पायस, कृशरान्न अर्थात् तिलयुक्त अन्न, पिष्टक और मांस देवताओंके निमित्त तैयार

अपेयाश्चाप्यभक्ष्याश्च ब्राह्मणैर्गृहमेधिभिः।
देवानृषीन्मनुष्यांश्च पितॄन् गृह्याश्च देवताः ॥ ३४ ॥
पूजयित्वा ततः पश्चाद्गृहस्थो भोक्तुमर्हति।
यथा प्रव्रजितो भिक्षुस्तथैव स्वे गृहे वसेत् ॥ ३५ ॥
एवं वृत्तः प्रियैर्दारैः संवसन् धर्ममाप्नुयात्।
न दद्याद्यशसे दानं न भयान्नोपकारिणे ॥ ३६ ॥
न नृत्यगीतशीलेषु हासकेषु च धार्मिकः।
न मत्ते चैव नोन्मत्ते न स्तेने न च कुत्सके ॥ ३७ ॥
न वाग्घीने विवर्णे वा नाङ्गहीने न वामने।
न दुर्जने दौष्कुले वा व्रतैर्यो वा न संस्कृतः ॥ ३८ ॥
न श्रोत्रियमृते दानं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते।
असम्यक्चैव यद्दत्तमसम्यक् च प्रतिग्रहः॥
उभयं स्यादनर्थाय दातुरादातुरेव च ॥ ३९ ॥
यथा खदिरमालंब्य शिलां वाप्यर्णवं तरन्।

हुए हों, तो ग्रहण करना उचित नहीं है। (२७-३३)

हे महाराज! गृहमेधी ब्राह्मण आदि को जो कुछ अपेय और अभक्ष्य वस्तु हैं, उसे मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया, परन्तु देवता, ऋषि, पितर, अतिथि और प्रात्यहिक गृह देवताकी पूजा अर्चना करके अनिषिद्ध वस्तुवोंको भोजन करना उचित है। इसी भांति गृहस्थ मनुष्य प्रव्राजित चारों आश्रमोंकी भांति गृहमें ही पापरहित होके रह सकते हैं, अर्थात् स्त्रीके सहित ऊपर कहे हुए सदाचारसे युक्त होकर गृहस्थ-पुरुष गृहस्थाश्रममें ही धर्म लाभ करने में समर्थ होंगे। धर्मात्मा पुरुषको यशकी अभिलाषा वा भयके कारण दान करना नहीं चाहिये। और नाचने गानेके व्यवसायी, भांड, मतवाले उन्मत्त, चोर निन्दक, बहिरे, अङ्गहीन, बदसूरत, बौने, दुर्जन, नीचकुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुष, उपकारी और जो लोग ब्रह्मचर्य आदि व्रतोंसे हीन हैं, उन्हें दान देना उचित नहीं है। श्रोत्रियके अतिरिक्त वेदज्ञानसे रहित ब्राह्मणको भी दान देना निषेध है, क्योंकि वैसा दान और प्रतिग्रह ग्रहण करना अन्याय कार्य कहा गया है, इससे वैसे दान देने और लेनेवाले दोनों ही अनर्थमें फंसते हैं। जैसे खदिर वा शिला ग्रहण करके समुद्र तरनेकी इच्छा करनेवाले पुरुषोंके सब उद्यम

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई.	।।।)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥) साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥) साढेतीन	।।।)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	।।।
१० सौप्तिकपर्व	(७५	१	१०४	।।। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	।।।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।)
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	।।)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

मज्जेत मज्जतस्तद्वद्दाता यश्च प्रतिग्रही ॥ ४० ॥
काष्ठैरार्द्रैर्यथा वन्हिरुपस्तीर्णो न दीप्यते ।
तपः स्वाध्यायचारित्रैरेवं हीनः प्रतिग्रही ॥ ४१ ॥
कपाले यद्वदापः स्युः श्वदृतौ च यथा पयः ।
आश्रयस्थानदोषेण वृत्तहीने तथा श्रुतम् ॥ ४२ ॥
निर्मन्त्रो निर्व्रतो यः स्यादशास्त्रज्ञोऽनसूयकः ।
अनुक्रोशात्प्रदातव्यं हीनेष्वव्रतिकेषु च ॥ ४३ ॥
न वै देयमनुक्रोशाद्दीनार्तातुरकेष्वपि ।
आप्ताचारित इत्येव धर्म इत्येव वा पुनः ॥ ४४ ॥
निष्कारणं स्मृतं दत्तं ब्राह्मणे ब्रह्मवर्जिते ।
भवेदपात्रदोषेण न चात्रास्ति विचारणा ॥ ४५ ॥
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः ।
ब्राह्मणश्चानधीयानस्त्रयस्ते नाम बिभ्रति ॥ ४६ ॥

निष्फल होते और उन्हें अवश्य ही जलमें डूबना पडता है, वैसे ही दाता और ग्रहीता दोनों ही पापरूपी समुद्रमें डूबते हैं। (३४-४०)

भींगे काष्ठकी अग्निकी भांति तपस्या स्वाध्याय और सच्चरित्रतासे हीन ब्राह्मण को तेजरहित जानना चाहिये; इससे ऐसे ब्राह्मणको दान देना निष्फल है। जैसे कपाल पात्रमें स्थित जल और कुत्तेके चमडेमें रखनेसे दूध आधार दोष से अपवित्र होता है, वैसेही सदाचार रहित ब्राह्मणोंके निकट वेदकी भी प्रतिभा नहीं प्राप्त होती। मन्त्रहीन, व्रत रहित, शास्त्र न जाननेवाले और असूया युक्त लोगोंको केवल दयाके वशमें होकर दान दिया जा सकता है, अर्थात् दीन, भूखे, आतुर, मन्त्रहीन और व्रतहीन आदि पुरुषोंको दान देनेके समय "यह शिष्टाचार वा धर्म है ?" ऐसा विचारके दान करना उचित नहीं है; उन्हें शास्त्रादिसे पीडित न करके केवल दया युक्त होके दान दिया जा सकता है; वेदज्ञानसे रहित ब्राह्मणको दान देनेसे वह निष्फल हो जाता है,- ऐसा ही शास्त्रमें कहा गया है; विशेष करके अपात्रको दान देनेसे दान करने- वालेको पापमें फंसना होता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (४१-४५)

काठके बने हुए हाथी, चमडेसे बने हुए मृग और वेदज्ञानसे हीन ब्राह्मण ये तीनों नाम मात्रके ही हैं, इनसे कोई भी कार्य पूर्ण नहीं हो सकता। जैसे

यथा षण्ढोऽफलः स्त्रीषु यथा गौर्गवि चाफला ।
शकुनिर्वाप्यपक्षः स्यान्निर्मन्त्रो ब्राह्मणस्तथा ॥ ४७ ॥
ग्रामधान्यं यथा शून्यं यथा कूपश्च निर्जलः ।
यथा हुतमनग्नौ च तथैव स्यान्निराकृतौ ॥ ४८ ॥
देवतानां पितॄणां च हव्यकव्यविनाशकः ।
शत्रुरर्थहरो मूर्खो न लोकान्प्राप्तुमर्हति ॥ ४९ ॥
एतत्ते कथितं सर्वं यथा वृत्तं युधिष्ठिर ।
समासेन महद्ध्येतच्छ्रोतव्यं भरतर्षभ ॥ ५० ॥ [१३३२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि व्यासवाक्ये षट्त्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिर उवाच– श्रोतुमिच्छामि भगवन् विस्तरेण महामुने ।
राजधर्मान् द्विजश्रेष्ठ चातुर्वर्ण्यस्य चाखिलान् ॥ १ ॥
आपत्सु च यथा नीतिः प्रणेतव्या द्विजोत्तम ।
धर्म्यमालक्ष्य पन्थानं विजयेयं कथं महीम् ॥ २ ॥

नपुंसक पुरुषोंसे स्त्रियोंके और वन्ध्या स्त्रीसे पुरुषोंके कार्य सिद्ध नहीं हो सकते; उसी भांति वेदज्ञानसे हीन ब्राह्मणोंसे भी मनुष्योंके कार्य नहीं पूर्ण होते। और पङ्खरहित पक्षी, शस्यहीन धान्य, जलरहित कूएं और मन्त्रज्ञानसे रहित ब्राह्मणोंको एक समान ही जानना चाहिये। अधिक क्या कहा जावे, भस्ममें आहुति देनेकी भांति मूर्ख ब्राह्मणको दान देना सब भांति निष्फल होता है। मूर्ख शत्रुस्वरूप है, क्यों कि वह अर्थापहारी और देवता पितरोंके उद्देश्यसे दिये हुए हव्य कव्यका नाशक है, इससे मूर्खको इस लोक और परलोकमें कहीं भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती।

श्रीवेदव्यास मुनि बोले, हे भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तुमने जो कुछ प्रश्न किये, मैंने संक्षेपसे उन सब प्रश्नोंका उत्तर यथा रीतिसे वर्णन किया है, यह अब विस्तारसे अवश्य सुनना चाहिये। (४६—५०) [१३३२]

शान्तिपर्वमें छत्तीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सैंतीस अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे ऋषि सत्तम भगवन्! ब्राह्मण आदि चारों वर्णोंके सब धर्म विशेष करके राजधर्म और आपत्काल उपस्थित होने पर मनुष्योंको किस प्रकारकी नीति अवलम्बन करना उचित है और धर्मके गमन करते हुए किस प्रकार पृथ्वी जय कर सकूंगा,—

प्रायश्चित्तकथा ह्येषा भक्ष्याभक्ष्यविवर्जिता।
कौतूहलानुप्रवणा हर्षं जनयतीव मे　　॥ ३ ॥
धर्मचर्या च राज्यं च नित्यमेव विरुध्यते।
एवं मुह्यति मे चेतश्चिन्तयानस्य नित्यशः　　॥ ४ ॥
वैशम्पायन उवाच-तमुवाच महाराज व्यासो वेदविदांवरः।
नारदं समभिप्रेक्ष्य सर्वज्ञानां पुरातनम्　　॥ ५ ॥
श्रोतुमिच्छसि चेद्धर्मं निखिलेन नराधिप।
प्रैहि भीष्मं महाबाहो वृद्धं कुरुपितामहम्　　॥ ६ ॥
स ते धर्मरहस्येषु संशयान्मनसि स्थितान्।
छेत्ता भागीरथीपुत्रः सर्वज्ञः सर्वधर्मवित्　　॥ ७ ॥
जनयामास यं देवी दिव्या त्रिपथगा नदी।
साक्षाद्ददर्श यो देवान्सर्वानिन्द्रपुरोगमान्　　॥ ८ ॥
बृहस्पतिपुरोगांस्तु देवर्षीनसकृत्प्रभुः।
तोषयित्वोपचारेण राजनीतिमधीतवान्　　॥ ९ ॥

इस सम्पूर्ण वृत्तान्तको विस्तार पूर्वक सुननेकी इच्छा करता हूं। भक्ष्याभक्ष्य और उपवास आदि महत् कौतूहलसे युक्त आपके कही हुई प्रायश्चित्तकी कथा मेरे चित्तको अत्यन्त ही आनन्दित कर रही है। परन्तु राज्य पालन और धर्म आचरण इन दोनोंका आपसमें सदा विरुद्ध भाव है; इससे एक ही पुरुषके द्वारा ये दोनों आपसमें विरुद्ध भावोंसे युक्त कार्य कैसे अनुष्ठित हो सकते हैं? इस हीकी चिन्ता करके मेरा चित्त बार बार मोहित होता है। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे महाराज जनमेजय! वेद वादियोंमें अग्रणी श्रीवेदव्यास मुनि धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसे वचनोंको सुनके सम्पूर्ण ज्ञान तत्वके जाननेवाले प्राचीन ऋषि नारद मुनिकी ओर देखकर युधिष्ठिरसे बोले, महाराज! यदि तुम्हें भली भांति सम्पूर्ण धर्म तत्व जाननेकी इच्छा हुई हो, तो तुम कुरुपितामह बूढे भीष्मके निकट गमन करो। धर्म रहस्यके विषयमें तुम्हारे चित्तमें जो कुछ सन्देह है, सब धर्मोंके जाननेवाले गङ्गानन्दन भीष्म तुम्हारी शङ्का दूर करनेमें समर्थ होंगे। (१-७)

महाराज! स्वर्ग लोकमें जो त्रिपथ गामिनी होके बह रही है, उसही गङ्गादेवीसे जिसकी उत्पत्ति हुई है उस गङ्गानन्दन महात्मा भीष्मने इन्द्रआदि देवताओं और बृहस्पति आदि देवर्षि-

उशना वेद यच्छास्त्रं यच्च देवगुरुर्द्विजः ।
यच्च धर्मं सवैयाख्यं प्राप्तवान्कुरुसत्तमः ॥ १० ॥
भार्गवाच्च्यवनाच्चापि वेदानङ्गोपबृंहितान् ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्वसिष्ठाच्चरितव्रतः ॥ ११ ॥
पितामहसुतं ज्येष्ठं कुमारं दीप्ततेजसम् ।
अध्यात्मगतितत्त्वज्ञमुपाशिक्षत यः पुरा ॥ १२ ॥
मार्कण्डेयमुखात्कृत्स्नं यतिधर्ममवाप्तवान् ।
रामादस्त्राणि शक्राच्च प्राप्तवान्पुरुषर्षभः ॥ १३ ॥
मृत्युरात्मेच्छया यस्य जातस्य मनुजेष्वपि ।
तथाऽनपत्यस्य सतः पुण्यश्लोकादिविश्रुताः ॥ १४ ॥
यस्य ब्रह्मर्षयः पुण्या नित्यमासन्सभासदः ।
यस्य नाविदितं किञ्चिज्ज्ञानयज्ञेषु विद्यते ॥ १५ ॥
स ते वक्ष्यति धर्मज्ञः सूक्ष्मधर्मार्थतत्त्ववित् ।
तमभ्येहि पुरा प्राणान्स विमुञ्चति धर्मवित् ॥ १६ ॥

योंका प्रत्यक्ष दर्शन कर अनेक भांतिसे उनकी पूजा अर्चा करके सब राजनीति विद्या सीखी थी। दैत्योंके गुरु शुक्राचार्य और देवताओंके गुरु बृहस्पति जिन सब शास्त्र और धर्मतत्त्वोंको जानते हैं, कौरवोंमें श्रेष्ठ भीष्मने उन दोनों महात्माओंसे वह सब विद्या प्राप्त की है। विशेष करके उस महाबाहु भीष्मने व्रत करके भृगुकुलनन्दन परशुराम, शुक्राचार्य, च्यवन और महात्मा वसिष्ठके निकट साङ्गोपाङ्ग सब वेदोंको पढा था। पहिले उन्होंने अध्यात्म विद्याके सारतत्त्वको जाननेवाले ब्रह्माके जेठे पुत्र महातेजस्वी सनत्कुमार के समीप सब अध्यात्मविद्या सीखी थी और मार्कण्डेय मुनिके मुखसे समस्त यतिधर्म भी श्रवण किया था। इसके अतिरिक्त उस पुरुषश्रेष्ठने इन्द्र और परशुरामजीसे सब अस्त्रशस्त्रोंकी विद्या सीखी थी। जिन्होंने मनुष्य लोकमें जन्म लेकर भी इच्छामरण प्राप्त किया है; और अपत्यहीन होनेपर भी जिसके पुण्यका प्रभाव सब लोकोंमें विख्यात हुआ है, अधिक क्या कहा जावे, पवित्रात्मा ऋषि लोग जिसके निकट सभासद होकर विराजमान रहते थे, और ज्ञान तथा जानने योग्य वस्तुओंमें जिसे कुछ भी अविदित नहीं है, वही सूक्ष्म धर्म अर्थके तत्त्वको जाननेवाले धर्मज्ञान विशारद भीष्म तुम्हें धर्म उपदेश करेंगे; परन्तु उस महात्माके प्राणत्याग होनेके

एवमुक्तस्तु कौन्तेयो दीर्घप्रज्ञो महामतिः ।
उवाच वदतां श्रेष्ठं व्यासं सत्यवतीसुतम् ॥ १७ ॥
युधिष्ठिर उवाच—वैशसं सुमहत्कृत्वा ज्ञातीनां रोमहर्षणम् ।
आगस्कृत्सर्वलोकस्य पृथिवीनाशकारकः ॥ १८ ॥
घातयित्वा तमेवाजौ छलेनाजिह्मयोधिनम् ।
उपसंप्रष्टुमर्हामि तमहं केन हेतुना ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच-ततस्तं नृपतिश्रेष्ठं चातुर्वर्ण्यहितेप्सया ।
पुनराह महाबाहुर्यदुश्रेष्ठो महामतिः ॥ २० ॥
वासुदेव उवाच— नेदानीमतिनिर्बन्धं शोके त्वं कर्तुमर्हसि ।
यदाह भगवान्व्यासस्तत्कुरुष्व नृपोत्तम ॥ २१ ॥
ब्राह्मणास्त्वां महाबाहो भ्रातरश्च महौजसः ।
पर्जन्यमिव घर्मान्ते नाथमाना उपासते ॥ २२ ॥
हतशिष्टाश्च राजानः कृत्स्नं चैव समागतम् ।
चातुर्वर्ण्यं महाराज राष्ट्रं ते कुरुजाङ्गलम् ॥ २३ ॥

पहिले ही तुम उनके समीप गमन करो । (८-१६)

इतनी कथा सुनके महाबुद्धिमान दीर्घदर्शी राजा युधिष्ठिर ज्ञानियोंमें अग्रणी सत्यवती पुत्र भगवान वेदव्यास मुनिसे बोले, हे महर्षि ! मैंने रोएंको खडे करनेवाले अत्यन्त बृहत् स्वजन-हत्या करके सब लोगोंके समीप पृथ्वी-नाशक तथा अपराधी कहके गिना गया हूं, विशेष करके भीष्म पितामह रणभूमिमें सरल भावसे युद्ध कर रहे थे; तौ भी मैंने कपट व्यवहारके सहित उनका वध कराया है; इससे अब मैं क्या कहके उनके समीप जाके धर्मविषयमें प्रश्न करनेमें समर्थ हूंगा ? श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, राजाओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरके ऐसे वचन सुनके यदुकुल श्रेष्ठ महाबुद्धिमान श्रीकृष्णचन्द्र चारों वर्णकी प्रजाके हितकी अभिलाषा करके बोले (१७-२०)

महाराज ! बीते हुए शोकके विषयमें आपको अब बारबार अत्यन्त शोक प्रकाश करना उचित नहीं है । भगवान वेदव्यास मुनिने जो कुछ वचन कहे, उसके अनुष्ठानमें यत्नवान होइये । जैसे ग्रीष्मकालके अन्तमें जल चाहनेवाले प्राणी जलके निमित्त बादलोंकी उपासना करते हैं, वैसे ही आपके ये महाबलवान् भाई और ब्राह्मणलोग आपकी उपासना कर रहे हैं, यह देखिये, युद्धमें मरनेसे

प्रियार्थमपि चैतेषां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ।
नियोगादस्य च गुरोर्व्यासस्यामिततेजसः ॥ २४ ॥
सुहृदामस्मदादीनां द्रौपद्याश्च परन्तप ।
कुरु प्रियममित्रघ्न लोकस्य च हितं कुरु ॥ २५ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तः स कृष्णेन राजा राजीवलोचनः ।
हितार्थं सर्वलोकस्य समुत्तस्थौ महामनाः ॥ २६ ॥
सोऽनुनीतो नरव्याघ्र विष्टरश्रवसा स्वयम् ।
द्वैपायनेन च तथा देवस्थानेन जिष्णुना ॥ २७ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिरनुनीतो युधिष्ठिरः ।
व्यजहान्मानसं दुःखं सन्तापं च महायशाः ॥ २८ ॥
श्रुतवाक्यः श्रुतनिधिः श्रुतश्रव्यविशारदः ।
व्यवस्य मनसः शान्तिमगच्छत्पाण्डुनन्दनः ॥ २९ ॥
स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य स्वपुरं प्रविवेश ह ॥ ३० ॥
प्रविविक्षुः स धर्मज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।

बचे हुए राजा और कुरुजाङ्गलवासी राष्ट्रकी चारों वर्णकी सभामें एकत्रित हैं। इससे आप इन लोगों, महात्मा ब्राह्मणों, हम सब कोई सुहृद मित्रों, द्रौपदीके अनुरोध और महातेजस्वी वेदव्यास मुनिकी आज्ञानुसार इस प्रियकार्यका अनुष्ठान कीजिये। हे शत्रु-नाशन! आप यदि भीष्म पितामहके निकट उपदेश ग्रहण करेंगे, तो जगत्‌का कल्याण होगा। (२१-२५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पुरुषसिंह महाबुद्धिमान राजीवलोचन युधिष्ठिर श्रीकृष्णके वचनको सुनके सबके हितकी इच्छा करके उठे, उन्होंने खुद श्रीकृष्ण, अर्जुन महर्षि वेदव्यास और देवस्थान आदि ऋषियोंके विनीत वचनोंसे प्रबोधित होकर धीरज धरके अपना मानसिक दुःख सन्ताप परित्याग किया। पाण्डुपुत्र महायशस्वी राजा युधिष्ठिर वेदवाक्य तथा वेदोंके अर्थ विचारवाले ग्रन्थ तथा मीमांसा और नीतिशास्त्रके जाननेवाले थे; इससे उन्होंने वेद शास्त्रके सब वचनोंको निश्चय करके अपने चित्तको शान्त किया; और नक्षत्रोंसे घिरे हुए चन्द्रमाकी भांति ऋषियों और भाइयोंमें घिरके अन्धराज धृतराष्ट्रको आगे करके हस्तिनापुर गमन करनेमें प्रवृत्त हुए। (२६—३०)

अर्चयामास देवांश्च ब्राह्मणांश्च सहस्रशः ॥ ३१ ॥
ततो नवं रथं शुभ्रं कम्बलाजिनसंवृतम् ।
युक्तं षोडशभिर्गोभिः पाण्डुरैः शुभलक्षणैः ॥ ३२ ॥
मन्त्रैरभ्यर्चितं पुण्यैः स्तूयमानश्च बन्दिभिः ।
आरुरोह यथा देवः सोमोऽमृतमयं रथम् ॥ ३३ ॥
जग्राह रश्मीन्कौन्तेयो भीमो भीमपराक्रमः ।
अर्जुनः पाण्डुरं छत्रं धारयामास भानुमत् ॥ ३४ ॥
ध्रियमाणं च तच्छत्रं पाण्डुरं रथमूर्धनि ।
शुशुभे तारकाकीर्णं सितमभ्रमिवाम्बरे ॥ ३५ ॥
चामरव्यजने त्वस्य वीरौ जगृहतुस्तदा ।
चन्द्ररश्मिप्रभे शुभ्रे माद्रीपुत्रावलंकृते ॥ ३६ ॥
ते पञ्च रथमास्थाय भ्रातरः समलंकृताः ।

धर्म जाननेवाले कुन्ती पुत्र राजा युधिष्ठिरने राज नगरीमें प्रवेश करनेकी इच्छा करके पहिले देवता और सहस्रों ब्राह्मणोंकी पूजा की। उस समय आज्ञा पाते ही उस ही स्थलमें शुभ लक्षणोंसे युक्त पाण्डुर वर्ण सोलह बैल जुते हुए उत्तम उत्तम कम्बल और अजिनयुक्त एक सफेद रथ वहां लाया गया। अनन्तर पवित्र वेदमन्त्रोंसे वह रथ पूजित हुआ। तब राजा युधिष्ठिर इस प्रकार उस रथपर चढे, जैसे भगवान चन्द्रमा अपने अमृतमय रथपर चढते हैं। रथपर चढने के समय बन्दीजन चारों ओरसे राजा युधिष्ठिरकी स्तुति करने लगे। महापराक्रमी भीमसेनने उस रथके सारथी होके घोडोंकी बागडोर ग्रहण की और अर्जुन मणि रत्नोंसे भूषित श्वेतछत्र ग्रहण करके राजा युधिष्ठिरके पीछे खडे हुए। (३१–३५)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! उस रथके ऊपर मोतियोंकी माला शोभित जब उस श्वेतछत्रको ग्रहण करके महात्मा अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरके सिरपर धारण किया, तब उस समय बोध हुआ, मानो आकाश मण्डलमें तारापुञ्जसे युक्त एक श्वेत मेघ उदित हुआ है, अनन्तर माद्रीपुत्र महावीर नकुल सहदेव चन्द्रकिरणके समान प्रकाशमान अनेक भांतिकी मणिरत्नोंसे भूषित सफेद चवर ग्रहण करके दोनों ओर खडे होकर डुलाने लगे। जिससमय उन पांचो भाइयोंने अनेक भांतिके आभूषणोंसे भूषित होकर रथपर चढके हस्तिनापुरकी ओर गमन किया, उस समय वह रथ सब

भूतानीव समस्तानि राजन्ददृशिरे तदा। ॥ ३७ ॥
आस्थाय तु रथं शुभ्रं युक्तमश्वैर्मनोजवैः।
अन्वयात्पृष्ठतो राजन्युयुत्सुः पाण्डवाग्रजम् ॥ ३८ ॥
रथं हेममयं शुभ्रं शैब्यसुग्रीवयोजितम्।
सह सात्यकिना कृष्णः समास्थायान्वयात्कुरून् ॥३९॥
नरयानेन तु ज्येष्ठः पिता पार्थस्य भारत।
अग्रतो धर्मराजस्य गान्धारीसहितो ययौ ॥ ४० ॥
कुरुस्त्रियश्च ताः सर्वाः कुन्ती कृष्णा तथैव च।
यानैरुच्चावचैर्जग्मुर्विदुरेण पुरस्कृताः ॥ ४१ ॥
ततो रथाश्च बहुला नागाश्च समलंकृताः।
पादाताश्च हयाश्चैव पृष्ठतः समनुव्रजन् ॥ ४२ ॥
ततो वैतालिकैः सूतैर्मागधैश्च सुभाषितैः।
स्तूयमानो ययौ राजा नगरं नागसाह्वयम् ॥ ४३ ॥
तत्प्रयाणं महाबाहोर्बभूवाप्रतिमं भुवि।
आकुलाकुलमुत्कुष्टं हृष्टपुष्टजनाकुलम् ॥ ४४ ॥

प्राणियोंको पञ्चभूतमय देहकी भांति बोध होने लगा। अनन्तर युयुत्सु मनके समान वेगगामी घोडोंके रथपर चढकर महाराज युधिष्ठिरके अनुगामी हुए; और श्रीकृष्ण सात्यकिके सहित शैब्य और सुग्रीव आदि घोडोंसे युक्त सुवर्णमय सफेद रथपर चढके कौरवोंके पीछे पीछे गमन करने लगे। अन्धे धृतराष्ट्र गान्धारीके सहित पालकीमें चढके धर्मराज युधिष्ठिरके आगे आगे गमन करने लगे तिसके पीछे कुन्ती द्रौपदी और अन्य कौरवोंकी स्त्रियां नाना भांतिकी सवारियोंमें बैठके विदुरके सङ्ग चलीं। (३६-४१)

अनन्तर भली भांति वस्त्र और भूषणोंसे भूषित रथी, गजपति, घुडसवार आदि सेना उनके पीछे गमन करने लगी। उस समय वैतालिक और सूत, मागध, सुललित भाषामें स्तुति पाठ करते हुए राजाओंके सङ्ग हस्तिनापुरकी ओर गमन करने लगे। (४२-४३)

महाराज! राजा युधिष्ठिर इस ही भांति जब चतुरंगिनी सेना और स्वजनों में घिरकर गमन करने लगे, उस समय सब मार्गमें बहुत भीड इकट्ठी होगई और वे सब लोग आनन्दित और हर्षित होके आपसमें वार्त्तालाप करते थे; उससे उस समयमें महाकोलाहल

अभियाने तु पार्थस्य नरैर्नगरवासिभिः ।
नगरं राजमार्गाश्च यथावत्समलंकृताः ॥ ४५ ॥
पाण्डुरेण च माल्येन पताकाभिश्च मेदिनी ।
संस्कृतो राजमार्गोऽभूद्धूपनैश्च प्रधूपितः ॥ ४६ ॥
अथ चूर्णैश्च गन्धानां नानापुष्पप्रियङ्गुभिः ।
माल्यदामभिरासक्तै राजवेश्माभिसंवृतम् ॥ ४७ ॥
कुम्भाश्च नगरद्वारि वारिपूर्णा नवा दृढाः ।
सिताः सुमनसो गौराः स्थापितास्तत्र तत्र ह ॥४८ ॥
यथा स्वलंकृतं द्वारं नगरं पाण्डुनन्दनः ।
स्तूयमानः शुभैर्वाक्यैः प्रविवेश सुहृद्वृतः॥ ४९ ॥[१३८१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिरप्रवेशे सप्तत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच- प्रवेशने तु पार्थानां जनानां पुरवासिनाम् ।
दिदृक्षूणां सहस्राणि समाजग्मुः सहस्रशः ॥ १ ॥
स राजमार्गः शुशुभे समलंकृतचत्वरः ।

सुनाई देता था । पृथापुत्र राजा युधिष्ठिर नगरमें आवेंगे, इस समाचारको सुनके नगरवासियोंने पहिलेसे ही नगरको विधिपूर्वक सज्जित कर रखा था । उस समय नगरके बीच मार्गोंमें फूलोंसे सब भूमि इस प्रकार सजाई गई थीं, कि सब मार्ग पुष्पमय बोध होते थे; उस समय सब राजमार्ग धूपदीपसे युक्त और ध्वजा पताकासे परिपूरित थे; राजनगरीमें रहनेवाले कर्मचारियोंने फूल माला तथा प्रियंगु आदि सुगन्धित वस्तुओंसे गृहोंको सज्जित कर रखा था। नगरके दरवाजे तथा समस्त पुरवासियोंके द्वारपर जलयुक्त धातुके नवीन कलश दीख पडते थे; और जगह जगह सुन्दर अङ्गोंसे युक्त महासुन्दरी मनको हरनेवाली कन्यायें खडी की गई थीं । पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने सुहृद मित्रोंके सहित पुरवासियोंके मङ्गलजनक वचन सुनते हुए ऊपर कहे हुए शोभासे शोभित और मङ्गल लक्षणोंसे युक्त नगरके भीतर प्रवेश किया (४४—४९) [१३८१]

शान्तिपर्वमें सैंतीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अडतीस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पृथापुत्रोंको नगरमें प्रवेश करते सुनकर अनगिनत पुरवासी उनके दर्शनकी लालसासे इकट्ठे हुए । उस समय राज-

यथा चन्द्रोदये राजन्वर्धमानो महोदधिः ॥ २ ॥
गृहाणि राजमार्गेषु रत्नवन्ति महान्ति च ।
प्राकम्पन्तीव भारेण स्त्रीणां पूर्णानि भारत ॥ ३ ॥
ताः शनैरिव सव्रीडं प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ।
भीमसेनार्जुनौ चैव माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥
धन्या त्वमसि पाञ्चालि या त्वं पुरुषसत्तमान् ।
उपतिष्ठसि कल्याणि महर्षीनिव गौतमी ॥ ५ ॥
तव कर्माण्यमोघानि व्रतचर्या च भाविनि ।
इति कृष्णां महाराज प्रशशंसुस्तदा स्त्रियः ॥ ६ ॥
प्रशंसावचनैस्तासां मिथः शब्दैश्च भारत ।
प्रीतिजैश्च तदा शब्दैः पुरमासीत्समाकुलम् ॥ ७ ॥
तमतीत्य यथा युक्तं राजमार्गं युधिष्ठिरः ।
अलंकृतं शोभमानमुपायाद्राजवेश्म ह ॥ ८ ॥
ततः प्रकृतयः सर्वाः पौरा जानपदास्तदा ।
ऊचुः कर्णसुखा वाचः समुपेत्य ततस्ततः ॥ ९ ॥
दिष्ट्या जयसि राजेन्द्र शत्रूञ्छत्रुनिषूदन ।

मार्ग और चौतरे इस प्रकार शोभित हुए थे, जैसे चन्द्रमाको देखके समुद्र उमडता है। राज मार्गके दोनों ओर नाना भांतिके अलङ्कारोंसे शोभित बडी बडी अटारियां स्त्रियोंके समूहसे परिपूर्ण होकर इस प्रकार बोध होती थीं, मानो उनके भारसे हिल रही हैं। वे सब स्त्रियां लज्जासे युक्त तथा मृदुस्वरसे द्रौपदीको कहती थीं,—हे पाञ्चाली! हे कल्याणि! महर्षियोंकी उपासना करनेवाली गौतमीकी भांति तुम सदा सर्वदा पुरुषश्रेष्ठ पाण्डवोंकी उपासना करती हो, तुम्हारे व्रताचरण आदि सब कर्म अमोघ हैं; इससे तुम धन्य हो। ऐसा वचन कहके युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी भी प्रशंसा करने लगीं। उन लोगोंके उस प्रीति और प्रेमसे पूर्ण प्रशंसासूचक आपसकी वार्तालापसे वे सब अटारियां परिपूरित हो रही थीं। (१—७)

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने राजमार्गको अतिक्रम करके अनेक अलङ्कारोंसे भूषित राजपुरीमें प्रवेश किया। उस समय सब मनुष्य तथा पुरवासी लोग उनके सम्मुख उपस्थित होकर कहने लगे, हे शत्रुनाशन! हे राजेन्द्र! भाग्य

दिष्ट्या राज्यं पुनः प्राप्तं धर्मेण च बलेन च ॥ १० ॥
भव नस्त्वं महाराज राजेह शरदां शतम्।
प्रजाः पालय धर्मेण यथेन्द्रस्त्रिदिवं तथा ॥ ११ ॥
एवं राजकुलद्वारि मङ्गलैरभिपूजितः।
आशीर्वादान् द्विजैरुक्तान्प्रतिगृह्य समन्ततः ॥ १२ ॥
प्रविश्य भवनं राजा देवराजगृहोपमम्।
श्रुत्वा विजयसंयुक्तं रथात्पश्चादवातरत् ॥ १३ ॥
प्रविश्याभ्यन्तरं श्रीमान्दैवतान्यभिगम्य च।
पूजयामास रत्नैश्च गन्धमाल्यैश्च सर्वशः ॥ १४ ॥
निश्चक्राम ततः श्रीमान्पुनरेव महायशाः।
ददर्श ब्राह्मणांश्चैव सोऽभिरूपानवस्थितान् ॥ १५ ॥
स संवृतस्तदा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
शुशुभे विमलश्चन्द्रस्तारागणवृतो यथा ॥ १६ ॥
तांस्तु वै पूजयामास कौन्तेयो विधिवद्द्विजान्।
धौम्यं गुरुं पुरस्कृत्य ज्येष्ठं पितरमेव च ॥ १७ ॥

से ही आपने विजय लाभ करके फिर राज्य प्राप्त किया है; यह सब आपके धर्मप्रभावसे ही हुआ है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है, इस समय आप हम लोगोंके राजा होकर देवराज इन्द्रकी भांति प्रजाको पालन करते हुए एक सौ वर्ष पर्यन्त राज्य भोग कीजिये, इसी प्रकार कानोंको सुख देनेवाले वचन सब कोई कहने लगे। (८-११)

श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर राजनगरीके बीच प्रजाओंके मङ्गलमय वचनोंसे पूजित होके, और ब्राह्मणोंके आशीर्वादको सुनते तथा पुरवासी और राजसेवकोंके जय शब्दसे सत्कृत होते हुए राजभवनकी बाहिरी कक्षामें प्रवेश करनेके अनन्तर रथसे उतरे। और भीतर प्रवेश करके अनेक भांतिकी मणि रत्न और सुगन्धित पुष्पमालासे शोभित मन्दिरमें प्रतिष्ठित देवमूर्त्तियोंके दर्शन करके धूप दीप, फलपुष्प नैवेद्यसे उनकी पूजा की। तिसके अनन्तर मांगलिक वस्तुओंको हाथमें ग्रहण किये हुए कितने ही महात्मा ब्राह्मणोंका दर्शन किया। उस समय महायशस्वी राजा युधिष्ठिर आशीर्वाद देनेवाले ब्राह्मणोंके बीचमें घिरके इस प्रकार शोभित हुए, जैसे तारापुञ्जके बीचमें चन्द्रमा शोभित होता है। अनन्तर उन्होंने गुरु

सुमनोमोदकै रत्नैर्हिरण्येन च भूरिणा।
गोभिर्वस्त्रैश्च राजेन्द्र विविधैश्च किमिच्छकैः ॥ १८ ॥
ततः पुण्याहघोषोऽभूद्दिवं स्तब्ध्वेव भारत।
सुहृदां प्रीतिजननः पुण्यः श्रुतिसुखावहः ॥ १९ ॥
हंसवद्विदुषां राजा द्विजानां तत्र भारतीम्।
शुश्रुवे वेदविदुषां पुष्कलार्थपदाक्षराम् ॥ २० ॥
ततो दुन्दुभिनिर्घोषः शङ्खानां च मनोरमः।
जयं प्रवदतां तत्र स्वनः प्रादुरभून्नृप ॥ २१ ॥
निःशब्दे च स्थिते तत्र ततो विप्रजने पुनः।
राजानं ब्राह्मणच्छद्मा चार्वाको राक्षसोऽब्रवीत्॥ २२॥
तत्र दुर्योधनसखा भिक्षुरूपेण संवृतः।
साक्षः शिखी त्रिदण्डी च धृष्टो विगतसाध्वसः २३॥
वृतः सर्वैस्तथा विप्रैराशीर्वादविवक्षुभिः।
परं सहस्रै राजेन्द्र तपोनियमसंवृतैः ॥ २४ ॥

धौम्य और जेठे पिता धृतराष्ट्रको सत्कृत कर ब्राह्मणोंके बीचमें गमन करके उन लोगोंसे कहने लगे, कि आप लोगोंकी क्या इच्छा है, आपकी क्या अभिलाषा है? इसी भांति प्रत्येक ब्राह्मणसे प्रश्न करते हुए बहुतसा सुवर्ण, रत्न, वस्तु, मनोहर मोदक और गऊ दान कर हर एक ब्राह्मणको सन्तुष्ट करके उनकी पूजा की।(१६-१८)

उस समय सम्पूर्ण दर्शक तथा पुरवासी लोग उन वेदज्ञ ब्राह्मणोंके पदपदाक्षरोंसे युक्त मनोहर आशीर्वाद वचनोंका एकवारगी हंसनिनादकी भांति सुनने लगे। महाराज! सुहृदमित्रोंके आनन्दको बढानेवाले उन पुण्यात्मा ब्राह्मणोंका आशीर्वाद शब्द एकवारगी इस प्रकार समुत्थित होकर ऐसा बोध हुआ, कि उस शब्दसे आकाशमण्डल गूंज उठा। उस समय अनेक पुरुषोंके जयजयकार, शङ्ख और नगाडोंके शब्द, मिलके तुमुल शब्द सुनाई देने लगा। कुछ समयके अनन्तर जब पुरवासी और ब्राह्मणोंका शब्द बन्द होकर सन्नाटा छागया, तब उस समय दुर्योधनका मित्र चार्वाक राक्षस मायाप्रभावसे रुद्राक्षकी माला, शिखा और त्रिदण्ड धारण कर भिक्षुक ब्राह्मणका वेष बनाके उस स्थानमें आके उपस्थित हुआ। वह दुष्ट महात्मा पाण्डवोंके अनिष्टकी अभिलाषा करके लज्जा और भयरहित होकर राजा-

स दुष्टः पापमाशंसुः पाण्डवानां महात्मनाम् ।
अनामन्त्र्यैव तान् विप्रांस्तमुवाच महीपतिम् ॥ २५ ॥
चार्वाक उवाच—इमे प्राहुर्द्विजाः सर्वे समारोप्य वचो मयि ।
धिक् भवन्तं कुनृपतिं ज्ञातिघातिनमस्तु वै ॥ २६ ॥
किं तेन स्याद्धि कौन्तेय कृत्वेमं ज्ञातिसंक्षयम् ।
घातयित्वा गुरूंश्चैव मृतं श्रेयो न जीवितम् ॥ २७ ॥
इति ते वै द्विजाः श्रुत्वा तस्य दुष्टस्य रक्षसः ।
विव्यथुश्चुक्रुशुश्चैव तस्य वाक्यप्रधर्षिताः ॥ २८ ॥
ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे स च राजा युधिष्ठिरः ।
व्रीडिताः परमोद्विग्नास्तूष्णीमासन् विशांपते ॥ २९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—प्रसीदन्तु भवन्तो मे प्रणतस्याभियाचतः ।
प्रत्यासन्नव्यसनिनं न मां धिक्कर्तुमर्हथ ॥ ३० ॥
वैशम्पायन उवाच-ततो राजन् ब्राह्मणास्ते सर्व एव विशांपते ।

ओंकी मण्डली तथा ब्राह्मणोंके बीचमें गमन करके किसीसे भी कुछ वार्तालाप न करके एकवारगी राजा युधिष्ठिरके समीप आके उनसे बोला । (१९–२५)

महाराज ! ये सब ब्राह्मण लोग जो मेरे ऊपर धिक्कार शब्दका प्रयोग कर रहे हैं, वह केवल आरोपित वचन मात्र है; प्रत्युत वे आपको कह रहे हैं, कि "तुम ज्ञातिहत्या करनेवाले, दुष्ट राजा हो इससे तुम्हें धिक्कार है ! " हे कुन्ती-नन्दन ! स्वजनोंका वध करके तुम्हें जो कुछ प्राप्त हुआ है, उसका कुछ भी प्रयोजन नहीं है, विशेष करके गुरुहत्या करने पर जीनेसे मरना ही उत्तम है। ब्राह्मण लोग उस दुष्ट राक्षसके वचनको सुनके अत्यन्त दुःखित होके चिल्लाने लगे, उन ब्राह्मणोंने और स्वयं धर्मराजने भी लज्जासे व्याकुल होकर कुछ समय तक शिर नीचा करके मौनावलम्बन किया । अनन्तर युधिष्ठिर बोले, हे ब्राह्मण लोगों ! मैं विनयपूर्वक आप लोगोंसे प्रार्थना करता हूं, कि आप लोग मेरे ऊपर प्रसन्न होइये; मैं स्वयं सुखभोगनेके वास्ते राज्यग्रहणकी अभिलाषा नहीं करता हूं; परंतु चिर-कालसे दुःखित अपने इन भाइयोंके वास्ते राज्यग्रहण करता हूं; इससे आप लोग अब मेरे विषयमें धिक्कार प्रदान न कीजिये । (२६—३०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, ब्राह्मण लोग राजा युधिष्ठिरकी कातरता युक्त वचन सुनके बोले, महाराज ! हम

ऊचुर्नैतद्वचोऽस्माकं श्रीरस्तु तव पार्थिव ॥ ३१ ॥
जज्ञुश्चैव महात्मानस्ततस्तं ज्ञानचक्षुषा ।
ब्राह्मणा वेदविद्वांसस्तपोभिर्विमलीकृताः ॥ ३२ ॥
ब्राह्मणा ऊचुः— एष दुर्योधनसखा चार्वाको नाम राक्षसः ।
परिव्राजकरूपेण हितं तस्य चिकीर्षति ॥ ३३ ॥
न वयं ब्रूम धर्मात्मन् व्येतु ते भयमीदृशम् ।
उपतिष्ठतु कल्याणं भवन्तं भ्रातृभिः सह ॥ ३४ ॥
वैशम्पायन उवाच—ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे हुङ्कारैः क्रोधमूर्छिताः ।
निर्भर्त्सयन्तः शुचयो निजघ्नुः पापराक्षसम् ॥ ३५ ॥
स पपात विनिर्दग्धस्तेजसा ब्रह्मवादिनाम् ।
महेन्द्राशनिनिर्दग्धः पादपोऽङ्कुरवानिव ॥ ३६ ॥
पूजिताश्च ययुर्विप्रा राजानमभिनन्द्य तम् ।

लोगोंने ये सब वचन नहीं कहे हैं, वरन अब भी कहते हैं, कि आपकी श्री बढे। उन वेद जाननेवाले तपस्वी महात्मा ब्राह्मणोंने धर्मराज युधिष्ठिरसे ऐसा वचन कहके उस कपट वेषवाले ब्राह्मणके विषयको जाननेकी कोशिश की, और ज्ञाननेत्रसे क्षणमात्रमें सब जान लिया; अर्थात् उसे चार्वाक राक्षस समझा। तब वे लोग युधिष्ठिरको सम्बोधन करके बोले, महाराज हम लोगोंने कोई विरुद्ध वचन नहीं कहा, इससे आपका मानसिक शोक और दुःख दूर होवे, आप भाइयोंके सहित बहुत दिनों तक जीवित रहके परम सुखके सहित राज्य भोग कीजिये। इस दुष्टात्माको हमने ज्ञानसे पहचान लिया है, यह दुर्योधन का मित्र चार्वाक नामका राक्षस है, दुर्योधनके हितकी अभिलाषासे परिव्राजक वेषसे आपके निकट आके तुम्हारे अनिष्टकी इच्छासे ऐसा वचन कह रहा है। (३१—३४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! उन सब पवित्रात्मा ब्राह्मणोंने राजा युधिष्ठिरसे ऐसा वचन कहते हुए अत्यन्त क्रोधित होकर उस पापाचारी राक्षस की अनेक भांतिसे निन्दा करके हुङ्कारसे ही उसे भस्म कर दिया। तब चार्वाक राक्षस उस समय ब्राह्मणोंके तेज प्रभाव से इस प्रकार भस्म होगया, जैसे इन्द्रके वज्रप्रभावसे नवीन अंकुरोंसे युक्त वृक्ष भस्म होजाते हैं। जब ब्राह्मणोंने इस प्रकार राक्षसका नाश किया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने सुहृद मित्रोंके सहित अत्यन्त आनन्दित होके उन महात्मा

राजा च हर्षमापेदे पाण्डवः ससुहृज्जनः ॥ ३७ ॥ [१४१८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवधे अष्टत्रिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायन उवाच—ततस्तत्र तु राजानं तिष्ठन्तं भ्रातृभिः सह ।
उवाच देवकीपुत्रः सर्वदर्शी जनार्दनः ॥ १ ॥
वासुदेव उवाच— ब्राह्मणास्तात लोकेऽस्मिन्नर्चनीयाः सदा मम ।
एते भूमिचरा देवा वाग्विषाः सुप्रसादकाः ॥ २ ॥
पुरा कृतयुगे राजंश्चार्वाको नाम राक्षसः ।
तपस्तेपे महाबाहो बदर्यां बहुवार्षिकम् ॥ ३ ॥
वरेण छन्द्यमानश्च ब्रह्मणा च पुनः पुनः ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो वरयामास भारत ॥ ४ ॥
द्विजावमानादन्यत्र प्रादाद्वरमनुत्तमम् ।

ब्राह्मणोंकी विधि पूर्वक पूजा की और ब्राह्मणोंने भी राजा युधिष्ठिरको प्रसन्न करके अपने अपने स्थानोंपर गमन किया । (३५—३७) [१४१८]

शान्तिपर्वमें अडतीस अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें उनचालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, सर्वदर्शी देवकीनन्दन जनार्दन कृष्ण भाइयोंके सहित बैठे हुए धर्मराजसे बोले, महाराज ! इस पृथ्वीमण्डलके बीच ब्राह्मणोंकी ही सब भांतिसे पूजा करनी हम लोगोंको उचित है; क्यों कि ब्राह्मणोंके समीप सदा सर्वदा विनीत भावसे रहनेसे वे लोग प्रसन्न होके विनयी भक्तोंकी मङ्गलकामना सिद्ध करते हैं । जो दुष्टात्मा अभिमानसे मतवाले होके ब्राह्मणोंकी अवज्ञा करते हैं, वे उस ही समय वज्र सदृश उनके अव्यर्थ शापरूपी अग्निमें भस्म होजाते हैं; इस ही कारण ब्राह्मण लोग इस जगत्‌के बीच वाक्‌वज्र और भूदेव कहके प्रसिद्ध हैं । महाराज ! मैं एक प्राचीन इतिहास कहता हूं, सुनिये । सत्‌युगमें चार्वाक राक्षसने बदरिकाश्रममें स्थित होके महाघोर तपस्या करके ब्रह्माको प्रसन्न किया था । (१—२)

जब पितामह ब्रह्मा वर देनेके वास्ते उसके समीप उपस्थित हुए उस समय उसने यह वर मांगा था, कि " किसी प्राणीसे भी मुझे भय उत्पन्न न होवे," जगत्पति ब्रह्माने उसकी प्रार्थना सुनके उसे वरदान किया, कि, " किसी प्राणीसे भी तुम्हें भय नहीं होगा, परन्तु ब्राह्मणोंकी अवमानना करनेसे उस ही

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददौ तस्मै जगत्पतिः ॥ ५ ॥
स तु लब्धवरः पापो देवानमितविक्रमः ।
राक्षसस्तापयामास तीव्रकर्मा महाबलः ॥ ६ ॥
ततो देवाः समेताश्च ब्रह्माणमिदमब्रुवन् ।
वधाय रक्षसस्तस्य बलविप्रकृतास्तदा ॥ ७ ॥
तानुवाच ततो देवो विहितस्तत्र वै मया ।
यथाऽस्य भविता मृत्युरचिरेणेति भारत ॥ ८ ॥
राजा दुर्योधनो नाम सखाऽस्य भविता नृषु ।
तस्य स्नेहावबद्धोऽसौ ब्राह्मणानवमंस्यते ॥ ९ ॥
तत्रैनं रुषिता विप्रा विप्रकारप्रधर्षिताः ।
धक्ष्यन्ति वाग्बलाः पापं ततो नाशं गमिष्यति॥ १० ॥
स एष निहतः शेते ब्रह्मदण्डेन राक्षसः ।
चार्वाको नृपतिश्रेष्ठ मा शुचो भरतर्षभ ॥ ११ ॥
हतास्ते क्षत्रधर्मेण ज्ञातयस्तव पार्थिव ।
स्वर्गताश्च महात्मानो वीराः क्षत्रियपुङ्गवाः ॥ १२॥

समय तुम्हारी मृत्यु होगी।" वह पापी राक्षस ब्रह्माके समीप वर पाके अत्यन्त पराक्रमी तीव्र कर्म करनेवाला और महाबलवान होके इस जगत्के सब प्राणियोंको दुःखित करनेमें प्रवृत्त हुआ। देवताओंने क्रमसे चार्वाक राक्षसके उपद्रवसे व्याकुल तथा दुःखित हो ब्रह्माके निकट गमन कर उसके वधके निमित्त अनुरोध किया। उस समय अव्ययदेव ब्रह्माने उन देवताओंसे कहा, हे देवतो! शीघ्र ही उस दुराचारी राक्षसकी जिस भांति मृत्यु होगी, मैंने वह उपाय स्थिर कर रखा है, सुनो। मनुष्यलोकमें राजा दुर्योधन चार्वाक राक्षसका मित्र होगा उस ही मित्रता स्नेहसे बद्ध होकर वह ब्राह्मणोंका अपमान करेगा; उससे वाक्य बल सम्पत्तिसे युक्त ब्राह्मण लोग क्रुद्ध होके उस पापी चार्वाकको शापरूपी अग्निसे भस्म कर देंगे। (३-९)

उस समय देवता लोग ब्रह्माका ऐसा वचन सुनके निश्चिन्त होके अपने स्थानोंपर गये। हे राजेन्द्र! इस ही कारण से वह दुष्टात्मा चार्वाक राक्षस आज ब्राह्मणोंके तेजप्रभावसे भस्म होगया, इससे आप उसके वास्ते कुछ भी शोक न कीजिये और अपने मृत स्वजनोंके वास्ते भी अब आप चित्तको ग्लानियुक्त न कीजिये; क्यों कि वे वीरोंमें

स त्वमातिष्ठ कार्याणि मा तेऽभूद् ग्लानिरच्युत ।
शत्रून् जहि प्रजा रक्ष द्विजांश्च परिपूजय ॥ १३ ॥ [१४३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि चार्वाकवरदानादिकथने एकोनचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः कुन्तीसुतो राजा गतमन्युर्गतज्वरः ।
काञ्चने प्राङ्मुखो हृष्टो न्यषीदत्परमासने ॥ १ ॥
तमेवाभिमुखौ पीठे प्रदीप्ते काञ्चने शुभे ।
सात्यकिर्वासुदेवश्च निषीदतुररिन्दमौ ॥ २ ॥
मध्ये कृत्वा तु राजानं भीमसेनार्जुनावुभौ ।
निषीदतुर्महात्मानौ श्लक्ष्णयोर्मणिपीठयोः ॥ ३ ॥
दान्ते सिंहासने शुभ्रे जाम्बूनदविभूषिते ।
पृथापि सहदेवेन सहास्ते नकुलेन च ॥ ४ ॥
सुधर्मा विदुरो धौम्यो धृतराष्ट्रश्च कौरवः ।
निषेदुर्ज्वलनाकारेष्वासनेषु पृथक् पृथक् ॥ ५ ॥
युयुत्सुः सञ्जयश्चैव गान्धारी च यशस्विनी ।

मुख्य महात्मा क्षत्रिय पुरुष युद्धमें मरके स्वर्गलोगमें गये हैं; इससे आप इस समय शत्रु जय, प्रजापालन और ब्राह्मणोंकी पूजा अर्चा आदि अपने कर्त्तव्य कर्मोंके अनुष्ठानमें प्रवृत्त होजाइये । (१०—१२) [१४३१]

शान्तिपर्वमें उनचालिस अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें चालिस अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके वचनको सुनके मानसिक चिन्ता तथा दुःखको दूर किया और पूर्व ओर मुंह करके सुवर्णके आसनपर बैठे । शत्रुनाशन कृष्ण और सात्यकी राजा युधिष्ठिरके सम्मुखमें ही प्रकाशमान स्वर्णासन पर बैठ गये । महात्मा भीमसेन और अर्जुन राजा युधिष्ठिरको बीचमें करके उनके बगलमें ही मणिरत्नोंसे जटित सुन्दर पीठासनोंपर बैठे; पाण्डवोंकी माता कुन्तीदेवी नकुल सहदेवको सङ्ग लेकर सुवर्णभूषित हाथीदांतके सफेद आसनपर बैठी (१–४)

राजा दुर्योधनके पुरोहित सुधर्मा, पाण्डवपुरोहित धौम्य मुनि, राजा धृतराष्ट्र और विदुर आदि सब कोई अग्निके समान प्रकाशमान आसनोंपर पृथक् पृथक् बैठ गये । यशस्विनी गान्धारी सञ्जय और युयुत्सु राजा धृतराष्ट्रके

धृतराष्ट्रो यतो राजा ततः सर्वे समाविशन् ॥ ६ ॥
तत्रोपविष्टो धर्मात्मा श्वेताः सुमनसोऽस्पृशत्।
स्वस्तिकानक्षतान्भूमिं सुवर्णं रजतं मणिम् ॥ ७ ॥
ततः प्रकृतयः सर्वाः पुरस्कृत्य पुरोहितम्।
ददृशुर्धर्मराजानमादाय बहुमङ्गलम् ॥ ८ ॥
पृथिवीं च सुवर्णं च रत्नानि विविधानि च।
आभिषेचनिकं भाण्डं सर्वसंभारसंभृतम् ॥ ९ ॥
काञ्चनौदुम्बरास्तत्र राजताः पृथिवीमयाः।
पूर्णकुम्भाः सुमनसो लाजा बर्हींषि गोरसम् ॥ १० ॥
शमीपिप्पलपालाशसमिधो मधुसर्पिषी।
स्रुच औदुम्बरः शङ्खस्तथा हेमविभूषितः ॥ ११ ॥
दाशार्हेणाभ्यनुज्ञातस्तत्र धौम्यः पुरोहितः।
प्रागुदक्प्रवणे वेदीं लक्षणेनोपलिख्य च ॥ १२ ॥
व्याघ्रचर्मोत्तरे शुक्ले सर्वतोभद्र आसने।
दृढपादप्रतिष्ठाने हुताशनसमत्विषि ॥ १३ ॥

समीपमें ही बैठे। तिसके अनन्तर धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने सफेद पुष्प, भूमि, सोना, चांदी, मणि, अक्षत और सब भांतिकी उत्तम वस्तुओंसे अङ्कित देवता,पीठ आदि स्पर्श किया। उस ही समय सब प्रजा तथा पुरवासियोंने अनेक भांतिके मणि, रत्न, मृत्तिका, सुवर्ण और अनेक भांतिकी माङ्गलिक वस्तुओंको ग्रहण करके पुरोहितके सङ्ग आके राजदर्शन किया। तिसके अनन्तर सोना, चांदी और काष्ठमय पृथ्वीकी मूर्त्ति, पूर्ण घडे, फूल, माला, कुश, दूध, दही आदि वस्तु और पीपल, पलाश, सेमल, आम तथा उडुम्बर आदि काष्ठोंके बने हुए श्रुवे सुवर्ण भूषित शङ्ख, और मधु, घृत आदि सम्पूर्ण माङ्गलिक वस्तु उस स्थलमें लाके रखी गई। (४-११)

अनन्तर पाण्डवोंके पुरोहित बुद्धिमान धौम्य मुनिने श्रीकृष्णकी सम्मतिसे पूर्व और उत्तर भागमें क्रमसे नीची करके सब शुभ लक्षणोंसे युक्त सुन्दर वेदी तैयार करके उसके निकटमें ही जलती हुई अग्निके समान दृढ चरण अर्थात् पायासे युक्त ऊपरके हिस्सेमें व्याघ्र चर्मसे भूषित श्वेतवर्ण सर्वभद्र नाम आसन पर राजा युधिष्ठिर और द्रौपदीको बैठाकर विहित मन्त्रोंको



युधिष्ठिर का राज्याभिषेक

(स॰/सा॰ मुद्रणालय–अहमदाबाद)

(शांतिपर्व अ० ४०)

उपवेश्य महात्मानं कृष्णां च द्रुपदात्मजाम् ।
जुहाव पावकं धीमान्विधिमन्त्रपुरस्कृतम् ॥ १४ ॥
तत उत्थाय दाशार्हः शङ्खमादायपूजितम् ।
अभ्यषिञ्चत्पतिं पृथ्व्याः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ १५ ॥
धृतराष्ट्रश्च राजर्षिः सर्वाः प्रकृतयस्तथा ।
अनुज्ञातोऽथ कृष्णेन भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ १६ ॥
पाञ्चजन्याभिषिक्तश्च राजाऽमृतमुखोऽभवत् ।
ततोऽनुवादयामासुः पणवानकदुन्दुभीन् ॥ १७ ॥
धर्मराजोऽपि तत्सर्वं प्रतिजग्राह धर्मतः ।
पूजयामास तांश्चापि विधिवद्भूरिदाक्षिणः ॥ १८ ॥
ततो निष्कसहस्रेण ब्राह्मणान् स्वस्ति वाचयन् ।
वेदाध्ययनसंपन्नान्धृतिशीलसमन्वितान् ॥ १९ ॥
ते प्रीता ब्राह्मणा राजन्स्वस्त्यूचुर्जयमेव च ।
हंसा इव च नर्दन्तः प्रशशंसुर्युधिष्ठिरम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिर महाबाहो दिष्ट्या जयसि पाण्डव ।
दिष्ट्या स्वधर्मं प्राप्तोऽसि विक्रमेण महाद्युते ॥ २१ ॥

उच्चारण करते हुए अग्निमें आहुति देनेमें प्रवृत्त हुए । होमकार्य समाप्त होनेपर श्रीकृष्णने उठके लोकपूजित शङ्ख ग्रहण करके कुन्तीनन्दन पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरको अभिषिक्त किया। अनन्तर कृष्णकी आज्ञासे राजा धृतराष्ट्र और सब प्रजा जल लेके राजा युधिष्ठिरके ऊपर अभिषेचन करनेमें प्रवृत्त हुई; परन्तु धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर भाइयोंके सहित पाञ्चजन्य शङ्खके जलसे अभिषिक्त होकर अत्यन्त दर्शनीय हुए। उसही समय ढोल नगाडे आदि बाजे बजने लगे। (१२—१७)

तिसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने प्रजाके दिये हुए उपहार आदि ग्रहण करके बहुतसा धन देकर उन लोगोंको सत्कृत किया, और वेद पढनेवाले धृति तथा शीलसे युक्त स्वस्तिवाचक ब्राह्मणोंको एक एक हजार स्वर्णमुद्रा दान किया। ब्राह्मण लोग अत्यन्त प्रसन्न होकर प्रीतिपूर्वक हंसोंकी भांति मधुर शब्दसे जय हो; जय हो; स्वस्ति स्वस्तिः—हे महाबाहो ! भाग्यसे ही तुम्हारी विजय हुई है; हे महातेजस्विन्! तुमने प्रारब्धहीसे पराक्रम द्वारा क्षत्रिय धर्म लाभ किया है; प्रारब्धसे ही

दिष्ट्या गाण्डीवधन्वा च भीमसेनश्च पाण्डवः ।
त्वं चापि कुशली राजन्माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २२ ॥
मुक्ता वीरक्षयात्तस्मात्संग्रामाद्विजितद्विषः ।
क्षिप्रमुत्तरकार्याणि कुरु सर्वाणि भारत ॥ २३ ॥
ततः प्रत्यर्चितः सद्भिर्धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
प्रतिपेदे महद्राज्यं सुहृद्भिः सह भारत ॥ २४ ॥ [१४५५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराभिषेके चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच–प्रकृतीनां च तद्वाक्यं देशकालोपबृंहितम् ।
श्रुत्वा युधिष्ठिरो राजा सोन्तरं प्रत्यभाषत ॥ १ ॥
धन्याः पाण्डुसुता नूनं येषां ब्राह्मणपुङ्गवाः ।
तथ्यान्वाप्यथवाऽतथ्यान् गुणानाहुः समागताः ॥२ ॥
अनुग्राह्या वयं नूनं भवतामिति मे मतिः ।
यदेवं गुणसम्पन्नानस्मान्ब्रूथ विमत्सराः ॥ ३ ॥
धृतराष्ट्रो महाराजः पिता मे दैवतं परम् ।
शासनेऽस्य प्रिये चैव स्थेयं मत्प्रियकांक्षिभिः ॥ ४ ॥

गाण्डीव धनुर्द्धारी अर्जुन, भीम, नकुल सहदेव और तुम शत्रुओंको पराजित करके वैसे भयङ्कर संग्रामसे मुक्त हुए हो; इस समय अब जो कुछ कर्तव्य कर्म करना बाकी है, उसके अनुष्ठानमें शीघ्र प्रवृत्त हो जाओ । इसी भांति आशीर्वाद युक्त वचन कहते हुए सब कोई राजा युधिष्ठिरकी अत्यन्त प्रशंसा करने लगे । धर्मराज युधिष्ठिरने उन साधुओंसे इस प्रकार पूजित होकर सुहृदों के सहित बहुत बडे भारी राज्य भारको ग्रहण किया। (१८–२४) [१४५५]

शान्तिपर्वमें चालीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकचालीस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर प्रजा और ब्राह्मणोंके देशकालके अनुसार सब वचन सुनके बोले, हे ब्राह्मण लोगो ! पाण्डुपुत्र धन्य हैं, क्योंकि चाहे सत्य हो, चाहे मिथ्या ही हो, आप लोग उपस्थित होके उनके गुणोंको वर्णन कर रहे हैं। विशेष करके आप लोग जब मत्सरताहीन होके हम लोगोंको गुण–सम्पन्न कहते हैं; तब यह बोध होता है कि हम निश्चय ही आप लोगोंके कृपापात्र हैं । देखिये, ये जो हमारे जेठे पिता महाराज धृतराष्ट्र हैं, वह हम लोगोंके पास देवता स्वरूप

एतदर्थं हि जीवामि कृत्वा ज्ञातिवधं महत् ।
अस्य शुश्रूषणं कार्यं मया नित्यमतन्द्रिणा ॥ ५ ॥
यदि चाहमनुग्राह्यो भवतां सुहृदां तथा ।
धृतराष्ट्रे यथापूर्वं वृत्तिं वर्तितुमर्हथ ॥ ६ ॥
एष नाथो हि जगतो भवतां च मया सह ।
अस्यैव पृथिवी कृत्स्ना पाण्डवाः सर्व एव च ॥ ७ ॥
एतन्मनसि कर्तव्यं भवद्भिर्वचनं मम ।
अनुज्ञाप्याथ तान् राजा यथेष्टं गम्यतामिति ॥ ८ ॥
पौरजानपदान्सर्वान्विसृज्य कुरुनन्दनः ।
यौवराज्येन कौन्तेयं भीमसेनमयोजयत् ॥ ९ ॥
मन्त्रे च निश्चये चैव षाड्गुण्यस्य च चिन्तने ।
विदुरं बुद्धिसंपन्नं प्रीतिमान्स समादिशत् ॥ १० ॥
कृताकृतपरिज्ञाने तथाऽऽयव्ययचिन्तने ।

हैं, इससे आप लोग यदि मेरे प्रियकार्य तथा कल्याणके अभिलाषी हैं, तो इनके प्रियकार्योंके करनेमें नियुक्त रहियेगा। अधिक क्या कहूं, मैं जो इस प्रकार स्वजनोंको मारके भी अबतक जीवन धारण कर रहा हूं; वह केवल आलस रहित होके इनकी सेवा टहलके निमित्त ही समझियेगा। मैं यदि आप लोगों और सुहृद पुरुषोंका कृपा पात्र होऊं, तो आप लोग धृतराष्ट्रके सङ्ग पहिलेकी ही भांति व्यवहार कीजिये। ये हमारे, आपके और जगत्के स्वामी हैं; यह सब पृथ्वी और पाण्डव लोग इनके अधीन हैं। (१—७)

मैंने जो कुछ कहा, आप लोग मेरे उस वचनको स्मरण रखियेगा। राजा युधिष्ठिरने इसी भांति ब्राह्मणोंके समीप धृतराष्ट्रको "राजा" कहके, सबको विदित करके ब्राह्मणोंको निज निज स्थानोंपर जानेके वास्ते विदा किया। तिसके अनन्तर उन्होंने पुरवासी तथा जनपदवासी सब प्रजाको विदा कर राजकार्यमें प्रवृत्त होके प्रीति पूर्वक भीमसेनको युवराज किया। मन्त्र निश्चय, शत्रुवोंके सङ्ग सन्धि स्थापन, युद्धके निमित्त यात्रा, शत्रुता करके निवास, दोनों ओर सन्धि करना और किला आदिक वा किसीका आश्रय ग्रहण करना इत्यादि राज्य-रक्षाके विषयमें ऊपर कहे हुए छः उपायोंके विचारके निमित्त बुद्धिमान विदुरको नियुक्त किया; कर्त्तव्याकर्त्तव्य विषयों और आय व्ययके

सञ्जयं योजयामास वृद्धं सर्वगुणैर्युतम् ॥ ११ ॥
बलस्य परिमाणे च भक्तवेतनयोस्तथा।
नकुलं व्यादिशद्राजा कर्मणां चान्ववेक्षणे ॥ १२ ॥
परचक्रोपरोधे च दुष्टानां चावमर्दने।
युधिष्ठिरो महाराज फाल्गुनं व्यादिदेश ह ॥ १३ ॥
द्विजानां देवकार्येषु कार्येष्वन्येषु चैव ह।
धौम्यं पुरोधसां श्रेष्ठं नित्यमेव समादिशत् ॥ १४ ॥
सहदेवं समीपस्थं नित्यमेव समादिशत्।
तेन गोप्यो हि नृपतिः सर्वावस्थो विशांपते ॥१५ ॥
यान्यानमन्यद्योग्यांश्च येषु येष्विह कर्मसु।
तांस्तांस्तेष्वेव युयुजे प्रीयमाणो महीपतिः ॥ १६ ॥
विदुरं सञ्जयं चैव युयुत्सुं च महामतिम्।
अब्रवीत्परवीरघ्नो धर्मात्मा धर्मवत्सलः ॥ १७ ॥
उत्थायोत्थाय यत्कार्यमस्य राज्ञः पितुर्मम।
सर्वं भवद्भिः कर्तव्यमप्रमत्तैर्यथायथम् ॥ १८ ॥
पौरजानपदानां च यानि कार्याणि सर्वशः।

विचारके निमित्त सब गुणोंसे वृद्ध सञ्जयको नियत किया। सेनाका परिमाण, उन्हें अन्न और वेतन देने, तथा सेनाके सब कार्योंको देखनेके निमित्त नकुलको नियुक्त किया और दुष्टोंके दमन तथा शत्रु राज्य आक्रमणका भार अर्जुनको सौंपा। प्रात्यहिक ब्राह्मणों और देव कार्योंका भार निज पुरोहित धौम्य मुनिको सौंपा। (८—१४)

केवल सहदेवको सर्वदा अपने समीपमें रहनेके निमित्त आज्ञा दी; क्योंकि धर्मराज हर समय सहदेवसे रक्षित होना कर्त्तव्य कार्य समझते थे। पृथ्वीनाथ युधिष्ठिरने इसके अतिरिक्त जो कार्य जिस पुरुषके योग्य समझा अत्यन्त प्रीतिके सहित उसे उस ही कार्य पर नियुक्त कर दिया। तिसके अनन्तर धर्मराज धर्मात्मा शत्रुनाशन राजा युधिष्ठिर महाबुद्धिमान् विदुर और युयुत्सुसे बोले,—हमारे जेठे पिता राजा धृतराष्ट्रको जब जिस कार्यकी आवश्यकता होगी, उस ही समय आप लोग स्वयं उठके आलस रहित होकर उन कार्योंको पूरा कीजियेगा। और नगर तथा जनपदवासी प्रजाके सम्बन्धमें जो कुछ कार्य उपस्थित होगा, उसे

राजानं समनुज्ञाप्य तानि कर्माणि भागशः॥ १९ ॥ १४७४

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि भीमादिकर्मनियोगे एकचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४१ ॥

वैशम्पायन उवाच-ततो युधिष्ठिरो राजा ज्ञातीनां ये हता युधि।
श्राद्धानि कारयामास तेषां पृथगुदारधीः ॥ १ ॥
धृतराष्ट्रो ददौ राजा पुत्राणामौर्ध्वदेहिकम्।
सर्वकामगुणोपेतमन्नं गाश्च धनानि च ॥ २ ॥
रत्नानि च विचित्राणि महार्हाणि महायशाः।
युधिष्ठिरस्तु द्रोणस्य कर्णस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
धृष्टद्युम्नाभिमन्युभ्यां हैडिम्बस्य च रक्षसः।
विराटप्रभृतीनां च सुहृदामुपकारिणाम् ॥ ४ ॥
द्रुपदद्रौपदेयानां द्रौपद्या सहितो ददौ।
ब्राह्मणानां सहस्राणि पृथगेकैकमुद्दिशन् ॥ ५ ॥
धनैरत्नैश्च गोभिश्च वस्त्रैश्च समतर्पयत्।
ये चान्ये पृथिवीपाला येषां नास्ति सुहृज्जनः ॥ ६ ॥
उद्दिश्योद्दिश्य तेषां च चक्रे राजौर्ध्वदेहिकम्।

महाराज धृतराष्ट्रकी आज्ञा लेकर अपने अपने कार्यभारके अनुसार पूर्ण कीजियेगा। (१५—१९) [१४७४]

शान्तिपर्वमें एकतालीस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बयालीस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, उदार बुद्धिसे युक्त राजा युधिष्ठिरने कुरुक्षेत्रके युद्धमें मरे हुए स्वजनोंका फिर पृथक् रूपसे श्राद्ध कराया और अन्धे राजा महायशस्वी धृतराष्ट्रने भी अपने पुत्रोंके श्राद्धमें अन्न, रत्न और गौ आदिक सब वस्तु इच्छानुसार ब्राह्मणोंको दान किया। (१—२)

विशेष करके धर्मपुत्र युधिष्ठिरने द्रौपदीके सहित एकत्रित होके महात्मा द्रोणाचार्य, कर्ण, धृष्टद्युम्न, अभिमन्यु, हिडिम्बापुत्र घटोत्कच, द्रौपदीके पांचो पुत्र और परम हितैषी राजा विराट आदि मृत सुहृद मित्रोंके श्राद्धमें हर एकके नामसे एक एक हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराके उन्हें धन, रत्न, वस्त्र और गऊ आदि दान किया। इसके अतिरिक्त जिन राजाओंके पुत्रादि तथा इष्टमित्रोंमें किसीको जीवित नहीं देखा, उनके श्राद्ध करनेके अनन्तर हर एकके नामसे एक एक धर्मशाला,

सभाः प्रपाश्च विविधास्तटाकानि च पाण्डवः ॥ ७ ॥
सुहृदां कारयामास सर्वेषामौर्ध्वदेहिकम् ।
स तेषामनृणो भूत्वा गत्वा लोकेष्ववाच्यताम् ॥ ८ ॥
कृतकृत्योऽभवद्राजा प्रजा धर्मेण पालयन् ।
धृतराष्ट्रं यथा पूर्वं गान्धारीं विदुरं तथा ॥ ९ ॥
सर्वांश्च कौरवान्मान्यान्भृत्यांश्च समपूजयत् ।
याश्च तत्र स्त्रियः काश्चिद्धतवीरा हतात्मजाः ॥ १० ॥
सर्वास्ताः कौरवो राजा संपूज्यापालयद्घृणी ।
दीनान्धकृपणानां च गृहाच्छादनभोजनैः ॥११॥
आनृशंस्यपरो राजा चकारानुग्रहं प्रभुः ।
स विजित्य महीं कृत्स्नामानृण्यं प्राप्य वैरिषु ।
निःसपत्नः सुखी राजा विजहार युधिष्ठिरः ॥१२॥ [१४८६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्राद्धक्रियायां द्विचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायन उवाच—अभिषिक्तो महाप्राज्ञो राज्यं प्राप्य युधिष्ठिरः ।

तालाव, कूआं आदिक खुदवाके उनके वंशधर पुत्र पौत्रोंके करने योग्य कार्यको पूर्ण किया। वह इसी भांति आत्मीय और मृत सुहृद पुरुषोंके श्राद्ध आदि, कार्य समाप्त करके उनके ऋण तथा लोकनिन्दासे रहित होके कृतार्थ हुए, और धर्म पूर्वक प्रजा पालन करते हुए पहिलेकी भांति राजा धृतराष्ट्र, गान्धारी विदुर आदि पूजनीय कौरवों और मुख्य मुख्य पदोंपर प्रतिष्ठित सेवकोंको अत्यन्त सम्मानके सहित प्रतिपालन करने लगे। जो सब स्त्रियां स्वामी और पुत्ररहित होकर वहां पर निवास करती थीं, कुरुराज युधिष्ठिर कृपापूर्वक अत्यन्त सम्मानके सहित उनका भरण पोषण करने लगे। अनन्तर उन्होंने कृपाके वशमें होकर अन्धे, लूले, लङ्गडे और दीन दुःखियोंको घर, वस्त्र और भोजनकी सामग्री प्रदान करके कृपा प्रकाशित की। इसी भांति राजा युधिष्ठिर पृथ्वी विजय करके शत्रुवोंके निकट अऋणी हुए, और निष्कण्टक तथा सुखी होकर राज्य-भोगनेमें प्रवृत्त हुए। (३-१२) [१४८६]

शान्तिपर्वमें बयालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तैंतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मराज युधिष्ठिर फिर राज्य पाकर तथा राज्यपद

दाशार्हं पुण्डरीकाक्षमुवाच प्राञ्जलिः शुचिः ॥ १ ॥
तव कृष्ण प्रसादेन नयेन च बलेन च।
बुद्ध्या च यदुशार्दूल तथा विक्रमणेन च ॥ २ ॥
पुनः प्राप्तमिदं राज्यं पितृपैतामहं मया।
नमस्ते पुण्डरीकाक्ष पुनः पुनररिन्दम ॥ ३ ॥
त्वामेकमाहुः पुरुषं त्वामाहुः सात्वतां पतिम्।
नामभिस्त्वां बहुविधैः स्तुवन्ति प्रयता द्विजाः ॥ ४ ॥
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसम्भव।
विष्णो जिष्णो हरे कृष्ण वैकुण्ठ पुरुषोत्तम ॥ ५ ॥
अदित्याः सप्तधा त्वं तु पुराणो गर्भतां गतः।
पृश्निगर्भस्त्वमेवैकस्त्रियुगं त्वां वदन्त्यपि ॥ ६ ॥
शुचिश्रवा हृषीकेशो घृतार्चिर्हंस उच्यते।
त्रिचक्षुः शम्भुरेकस्त्वं विभुर्दामोदरोऽपि च ॥ ७ ॥
वराहोऽग्निर्बृहद्भानुर्वृषभस्तार्क्ष्यलक्षणः।
अनीकसाहः पुरुषः शिपिविष्ट उरुक्रमः ॥ ८ ॥

पर अभिषिक्त होके हाथ जोडके शुद्ध भावसे पुण्डरीकाक्ष दाशार्ण कृष्णसे बोले। (१)

हे शत्रुनाशन! हे यदुकुल सिंह कृष्ण! हमने तुम्हारे ही बल, बुद्धि, नीति और पराक्रमके प्रभाव तथा तुम्हारीही प्रसन्नतासे पिता पितामहसे प्राप्त हुए राज्यको फिर पाया है। हे पुण्डरीकाक्ष! तुम्हें वारम्वार प्रणाम है। सब शास्त्र तुम्हें अद्वितीय पुरुष सात्वत पुरुषोंकी गति स्वरूप कहके वर्णन करते हैं। द्विज लोग यत्नपूर्वक तुम्हारे विविध नामोंको उच्चारण करते हुए तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं। तुम ही पुरुषोत्तम जिष्णु, विष्णु, कृष्ण वैकुण्ठ, विश्वात्मा और जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले हो; इससे हे विश्वकर्मन्! तुम्हें नमस्कार है। तुम्हींने सप्तधा अदितिके गर्भसे जन्म ग्रहण किया है और पुराणोंमें तुम ही पृश्निगर्भ कहके विख्यात हो, पण्डित लोग तुम्हें त्रियुग कहके वर्णन करते हैं। तुमही शुचिश्रवा अर्थात् पुण्यकीर्त्ति, हृषीकेश, घृतार्चिः (यज्ञेश्वर) हंस, त्रिनेत्र, शम्भू विभू और दामोदर नामसे वर्णित होते हो। तुम वाराह, अग्नि, सूर्य, वृषभध्वज, गरुडध्वज, अनीकसाह (शत्रु सेना विमर्दी) पुरुष (जीव) शिपिविष्ट

वरिष्ठ उग्रसेनानीः सत्यो वाजसनिर्गुहः।
अच्युतश्च्यावनोऽरीणां संस्कृतो विकृतिर्वृषः ॥ ९ ॥
कृष्णधर्मस्त्वमेवादिर्वृषदर्भो वृषाकपिः।
सिन्धुर्विधर्मस्त्रिककुप् त्रिधामा त्रिदिवाच्च्युतः॥१०॥
सम्राड् विराट् स्वराट् चैव सुरराजो भवोद्भवः।
विभुर्भूरतिभूः कृष्णः कृष्णवर्त्मा त्वमेव च ॥ ११ ॥
स्विष्टकृद्भिषजावर्तः कापिलस्त्वं च वामनः।
यज्ञो ध्रुवः पतङ्गश्च यज्ञसेनस्त्वमुच्यसे ॥ १२ ॥
शिखण्डी नहुषो बभ्रुर्दिवस्पृक् त्वं पुनर्वसुः।
सुबभ्रू रुक्मयज्ञश्च सुषेणो दुन्दुभिस्तथा ॥ १३ ॥
गभस्तिनेमिः श्रीपद्मः पुष्करः पुष्पधारणः।
ऋभुर्विभुः सर्वसूक्ष्मश्चारित्रं चैव पठ्यसे ॥ १४ ॥
अम्भोनिधिस्त्वं ब्रह्मा त्वं पवित्रं धाम धामवित्।
हिरण्यगर्भं त्वामाहुः स्वधा स्वाहा च केशव ॥ १५ ॥
योनिस्त्वमस्य प्रलयश्च कृष्ण त्वमेवेदं सृजसि विश्वमग्रे।

(सर्वान्तरव्यापी), उरुक्रम, वरिष्ठ, उग्र सेनानी, देवसेनानी, सत्य, राजसनि (अन्नप्रद) हो। तुम स्वयं अच्युत और शत्रुओंके नाश करनेवाले हो। तुम संस्कृति (ब्राह्मण रूप) और विकृति (अनुलोम प्रतिलोम जाति रूप) हो। तुम श्रेष्ठ, ऊर्ध्ववर्त्मा, अद्रि, वृषदर्भ और वृषाकपि हो। तुम ही सिन्धु, विधर्म (निर्गुण) त्रिककुत, त्रिधामा, त्रिदिवाच्युत (अवतीर्ण मूर्त्ति) हो। (१-१०)

तुम ही सम्राट्, विराट्, स्वराट्, सुरराज भवकारणविभू, भू (सत्व रूप) अभिभू (अशरीर) कृष्ण, कृष्णवर्त्मा, स्विष्टकृत् (अभिलाषा पूर्ण करनेवाले,) भिषजावर्त्त (दोनों अश्विनीकुमारोंके पिता सूर्य) हो, तुम ही कपिल, वामन यज्ञ, ध्रुव, गरुड और यज्ञसेन नामसे विख्यात हो। तुम ही शिखण्डी, नहुष, बभ्रु (महेश्वर), दिवस्पृक, पुनर्वसु नाम नक्षत्र, सुबभ्रु (अत्यन्त पीतवर्ण) उक्थ यज्ञ, सुषेण, दुन्दुभि, गभस्तिनेमि, श्रीपद्म, पुष्कर, पुष्पधारण, ऋभु, विभु, और सर्वसूक्ष्म हो, वेदमें तुम्हारे ही चरित्रोंके विषय गाये जाते हैं। तुम अम्भोनिधि ब्रह्मा, पवित्र धाम, धामवित् हो; श्रुति तुम्हारे ही नामको हिरण्यगर्भ कहके तुम्हारे महात्म्यका वर्णन करती है। तुम ही स्वाहा, स्वधा

विश्वं चेदं त्वद्वशे विश्वयोने नमोऽस्तु ते शार्ङ्गचक्रासिपाणे॥१६॥
एवं स्तुतो धर्मराजेन कृष्णः सभामध्ये प्रीतिमान्पुष्कराक्षः।
तमभ्यनन्दद्भारतं पुष्कलाभिर्वाग्भिर्ज्येष्ठं पाण्डवं यादवाग्र्यः॥१७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवस्तुतौ त्रिचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः॥ ४३॥ [१५०३]

वैशम्पायन उवाच– ततो विसर्जयामास सर्वाः प्रकृतयो नृपः।
विविशुश्चाभ्यनुज्ञाता यथा स्वानि गृहाणि ते ॥ १ ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा भीमं भीमपराक्रमम्।
सान्त्वयन्नब्रवीच्छ्रीमानर्जुनं यमजौ तथा ॥ २ ॥
शत्रुभिर्विविधैः शस्त्रैः क्षतदेहा महारणे।
श्रान्ता भवन्तः सुभृशं तापिताः शोकमन्युभिः ॥३॥
अरण्ये दुःखवसतीर्मत्कृते भरतर्षभाः।
भवद्भिरनुभूता हि यथा कुपुरुषैस्तथा ॥ ४ ॥
यथासुखं यथाजोषं जयोऽयमनुभूयताम्।

और केशव हो; तुम ही इस जगत्के कारण और प्रलयस्वरूप हो; हे कृष्ण! पहिले ही तुम इसकी सृष्टि करते हो। हे विश्वयोनि! हे शार्ङ्गपाणि! हे खड्ग पाणि! चक्रपाणि! यह संसार तुम्हारे वशमें स्थित है, इससे तुम्हें नमस्कार है। (११-१६)

यदुकुल शिरोमणि कमल नेत्र कृष्णने इसी भांति सभाके बीच पाण्डवोंमें जेठे राजा युधिष्ठिरके स्तुतियुक्त वचनोंसे सत्कृत तथा पूजित होके अत्यन्त प्रीतिके सहित उचित वचनोंसे उन्हें भी आनन्दित किया। (१७) [१५०३]

शान्तिपर्वमें तैंतालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चवालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने सभामें स्थित पुरुषोंको विदा किया, तब उन लोगोंने अपने गृहोंकी ओर गमन किया। पश्चात् वह महापराक्रमी, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवको धीरज देके आदर पूर्वक यह वचन बोले, हे भरतश्रेष्ठ! तुम लोग महासंग्राममें शत्रुओंके अस्त्रोंसे क्षत विक्षत शरीरसे युक्त होकर थक गये हो, विशेष करके तुम लोगोंने राजपुत्र होकर भी मेरे वास्ते बहुत दिनोंतक वनवास कर क्रोध और शोकसे दुःखित होके साधारण पुरुषोंकी भांति अनेक क्लेश सहे; इससे आज रात्रिको अपनी इच्छानुसार विजय-सुख अनुभव

विश्रान्ताँल्लब्धविज्ञानान् श्वः समेताऽस्मि वः पुनः॥ ५॥
ततो दुर्योधनगृहं प्रासादैरुपशोभितम् ।
बहुरत्नसमाकीर्णं दासीदाससमाकुलम् ॥ ६ ॥
धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञातं भ्रात्रा दत्तं वृकोदरः ।
प्रतिपेदे महाबाहुर्मन्दिरं मघवानिव ॥ ७ ॥
यथा दुर्योधनगृहं तथा दुःशासनस्य तु ।
प्रासादमालासंयुक्तं हेमतोरणभूषितम् ॥ ८ ॥
दासीदाससुसंपूर्णं प्रभूतधनधान्यवत् ।
प्रतिपेदे महाबाहुरर्जुनो राजशासनात् ॥ ९ ॥
दुर्मर्षणस्य भवनं दुःशासनगृहाद्वरम् ।
कुबेरभवनप्रख्यं मणिहेमविभूषितम् ॥ १० ॥
नकुलाय वरार्हाय कर्शिताय महावने ।
ददौ प्रीतो महाराज धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥
दुर्मुखस्य च वेश्माग्र्यं श्रीमत्कनकभूषणम् ।
पूर्णपद्मदलाक्षीणां स्त्रीणां शयनसंकुलम् ॥ १२ ॥
प्रददौ सहदेवाय सन्ततं प्रियकारिणे ।
मुमुदे तच्च लब्ध्वाऽसौ कैलासं धनदो यथा ॥ १३ ॥

करो । जब तुम लोगोंकी बुद्धि प्रकृतिस्थ और तुम्हारी थकावट दूर हो, तब तुम लोग प्रातःकाल फिर आके मेरे निकट उपस्थित होना । (१–५)

धर्मराज युधिष्ठिरने भाइयोंको ऐसी आज्ञा देकर राजा धृतराष्ट्र की अनुमति से अनेक मणि रत्नोंसे शोभित, दास दासियोंसे युक्त दुर्योधनका घर भीमसेनको समर्पण किया; उन्होंने इन्द्रके अपने मन्दिरमें प्रवेश करने की भांति उस गृहके भीतर प्रवेश किया । अनन्तर प्रासादमाला शोभित सुवर्णके तोरणोंसे युक्त दुर्योधनके भवन समान ही अनेक धनधान्य और दासदासियोंसे पूरा दुःशासनका गृह महाबाहु अर्जुनको समर्पण किया । तिसके अनन्तर वनवास क्लेशसे दुःखित नकुलको मणि रत्नोंसे युक्त कुबेर गृहके समान दुःशासनके गृहसे भी श्रेष्ठ दुर्मर्षणके गृहको अत्यन्त प्रीतिके सहित प्रदान किया । प्रिय कार्योंके करनेवाले सहदेव सुवर्ण भूषित पद्मपत्रनयना स्त्री और उत्तम शय्या तथा सम्पूर्ण सम्पत्तियोंसे भूषित दुर्मुखका उत्तम गृह पाके कैलासधाममें वासस्थान

युयुत्सुर्विदुरश्चैव सञ्जयश्च विशांपते ।
सुधर्मा चैव धौम्यश्च यथा स्वान् जग्मुरालयान्॥१४॥
सह सात्यकिना शौरिरर्जुनस्य निवेशनम् ।
विवेश पुरुषव्याघ्रो व्याघ्रो गिरिगुहामिव ॥ १५ ॥
तत्र भक्ष्यान्नपानैस्ते मुदिताः सुसुखोषिताः ।
सुखप्रबुद्धा राजानमुपतस्थुर्युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥ [१५१९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गृहविभागे चतुश्चत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

जनमेजय उवाच— प्राप्य राज्यं महाबाहुर्धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
यदन्यदकरोद्विप्र तन्मे वक्तुमिहार्हसि ॥ १ ॥
भगवान्वा हृषीकेशस्त्रैलोक्यस्य परो गुरुः ।
ऋषे यदकरोद्वीरस्तच्च व्याख्यातुमर्हसि ॥ २ ॥
वैशम्पायन उवाच— शृणु तत्त्वेन राजेन्द्र कीर्त्यमानं मयाऽनघ ।
वासुदेवं पुरस्कृत्य यदकुर्वत पाण्डवाः ॥ ३ ॥
प्राप्य राज्यं महाराज कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
चातुर्वर्ण्यं यथायोग्यं स्वे स्वे स्थाने न्यवेशयत् ॥ ४ ॥

पाये हुए कुबेरकी भांति आनन्दित हुए। (६—१३)

विदुर, सञ्जय, युयुत्सु, राजपुरोहित धौम्य और सुधर्मा आदिने अपने अपने गृहोंमें गमन किया। जैसे शार्दूल पर्वत की कन्दरामें प्रवेश करता है, वैसे ही पुरुषसिंह श्रीकृष्णने सात्यकिके सहित अर्जुनके गृहमें प्रवेश किया। उन सबोंने उन गृहोंमें अन्न आदिक खाने पीनेकी वस्तुओंसे तृप्त होकर परम सुखसे रात्रि बिताई और भोरके समय फिर सब कोई स्नान आदिसे निवृत्त होके राजाके समीप सभामें उपस्थित हुए। (१४-१६)

शान्तिपर्वमें चवालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पैंतालिस अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, हे विप्रर्षि! महाबाहु धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिरने राज्य पानेके अनन्तर जो कुछ कार्य किये और त्रिलोक गुरु भगवान कृष्णने उस समय जो कुछ कार्य किया हो; उसे आप मेरे समीप वर्णन कीजिये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! कृष्णके सहित पाण्डवोंने जो कुछ कार्य किये, मैं वह सब वृत्तान्त वर्णन करता हूं, सुनिये। (१-३)

कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरने राज्य

ब्राह्मणानां सहस्रं च स्नातकानां महात्मनाम् ।
सहस्रं निष्कमेकैकं दापयामास पाण्डवः ॥ ५ ॥
तथाऽनुजीविनो भृत्यान्संश्रितानतिथीनपि ।
कामैः सन्तर्पयामास कृपणांस्तर्ककानपि ॥ ६ ॥
पुरोहिताय धौम्याय प्रादादयुतशः स गाः ।
धनं सुवर्णं रजतं वासांसि विविधान्यपि ॥ ७ ॥
कृपाय च महाराज गुरुवृत्तिमवर्तत ।
विदुराय च राजाऽसौ पूजां चक्रे यतव्रतः ॥ ८ ॥
भक्ष्यान्नपानैर्विविधैर्वासोभिः शयनासनैः ।
सर्वान्सन्तोषयामास संश्रितान्ददतांवरः ॥ ९ ॥
लब्धप्रशमनं कृत्वा स राजा राजसत्तम ।
युयुत्सोर्धार्तराष्ट्रस्य पूजां चक्रे महायशाः ॥ १० ॥
धृतराष्ट्राय तद्राज्यं गान्धार्यै विदुराय च ।
निवेद्य सुस्थवद्राजा सुखमास्ते युधिष्ठिरः ॥ ११ ॥
तथा सर्वं सनगरं प्रसाद्य भरतर्षभ ।

पानेके अनन्तर चारों वर्णकी प्रजाको निज निज धर्ममें स्थापित कर, एक हजार महात्मा स्नातक ब्राह्मणोंको एक एक सहस्र स्वर्णमुद्रा दान करके फिर अनुजीवी सेवकों और उस समय वहांपर इकट्ठे हुए अतिथियोंको तृप्त किया; अधिक क्या कहा जावे, उन्होंने कृपण और विरुद्ध मतावलम्बी पुरुषोंकी भी अभिलाषा पूरी करनेमें त्रुटि नहीं की। महायशस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने निज पुरोहित धौम्य मुनिको दश हजार गऊ और सोना, चांदीसे युक्त अनेक भांतिके मणिरत्न तथा वस्त्र आदि प्रदान करके कृपाचार्यको पहिलेकी भांति अपना गुरु नियत किया; परन्तु विदुर और धृतराष्ट्र पुत्र युयुत्सुको विशेष रूपसे सम्मानित किया। दान देनेवाले पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरने अपने आश्रित सब पुरुषोंको ही भोजन, पान, शयन, आसन और वस्त्र आदिसे सन्तोषित किया। उन्होंने नगरनिवासियोंको प्रसन्न करके प्राप्त हुए राज्यमें शान्ति स्थापित किया, और धृतराष्ट्र, गान्धारी तथा विदुरको सब राज्यभार सौंपके निश्चिन्त होकर सुखपूर्वक निवास करने लगे। (३-११)

अनन्तर सबेरा होनेपर राजा युधिष्ठिरने हाथ जोडके महात्मा कृष्णके

वासुदेवं महात्मानमभ्यगच्छत्कृताञ्जलिः ॥ १२ ॥
ततो महति पर्यङ्के मणिकाञ्चनभूषिते ।
ददर्श कृष्णमासीनं नीलमेघसमद्युतिम् ॥ १३ ॥
जाज्वल्यमानं वपुषा दिव्याभरणभूषितम् ।
पीतकौशेयवसनं हेम्नेवोपगतं मणिम् ॥ १४ ॥
कौस्तुभेनोरसिस्थेन मणिनाभिविराजितम् ।
उद्यतेवोदयं शैलं सूर्येणाभिविराजितम् ॥ १५ ॥
नौपम्यं विद्यते तस्य त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।
सोभिगम्य महात्मानं विष्णुं पुरुषविग्रहम् ॥ १६ ॥
उवाच मधुरं राजा स्मितपूर्वमिदं तदा ।
सुखेन ते निशा कच्चिद्व्युष्टा बुद्धिमतां वर ॥ १७ ॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि तवाच्युत ।
तथैवोपश्रिता देवी बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ १८ ॥
वयं राज्यमनुप्राप्ताः पृथिवी च वशे स्थिता ।
तव प्रसादाद्भगवंस्त्रिलोकगतिविक्रम ॥ १९ ॥
जयं प्राप्ता यशश्चाग्र्यं न च धर्मच्युता वयम् ।

समीप गमन किया। उन्होंने वहां जाके देखा, कि दिव्य आभूषणोंसे भूषित, पीताम्बरधारी, नीलमणिके समान तेजसे युक्त श्रीकृष्णचन्द्र सुवर्णजडित मणिके समान शरीरसे प्रज्वलित होके सुवर्ण-मणि भूषित वृहत शय्याके ऊपर बैठे हैं; उनका वक्षस्थल कौस्तुभ मणिसे इस प्रकार शोभित हो रहा था, जैसे उदय हुए सूर्यके सहित उदयाचल पर्वत शोभित होता है। महाराज! तीनों लोकके बीच ऐसी कोई भी वस्तु नहीं दीख पडती, जिससे श्रीकृष्णचन्द्रके उस समयके शोभाकी उपमा होसके।

उस समय धर्मात्मा युधिष्ठिर पुरुषविग्रह महात्मा विष्णुके समीप पहुंचके हंसकर मधुर वचनसे कहने लगे। हे पुरुषोत्तम! हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ! सुखपूर्वक रात्रि बीती है न? इस समय तुम्हारी बुद्धि प्रसन्न तो है? (१२-१८)

हे त्रिविक्रम भगवान! तुम्हारी कृपासे ही हम लोगोंने फिर राज्य पाया तथा सब पृथ्वी भी हमारे वशमें हुई है; तुम्हारे प्रसादसे ही हम लोग क्षत्रिय धर्मसे भ्रष्ट नहीं हुए, तुम्हारी कृपासे ही हमारी युद्धमें विजय हुई और उत्तम यश प्राप्त हुआ है। शत्रुनाशन युधिष्ठिर

तं तथा भाषमाणं तु धर्मराजमरिन्दमम् ।
नोवाच भगवान्किञ्चिद्ध्यानमेवान्वपद्यत ॥ २० ॥ [१५३९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच—किमिदं परमाश्चर्यं ध्यायस्यामितविक्रम ।
कच्चिल्लोकत्रयस्यास्य स्वस्ति लोकपरायण ॥ १ ॥
चतुर्थं ध्यानमार्गं त्वमालम्ब्य पुरुषर्षभ ।
अपक्रान्तो यतो देवस्तेन मे विस्मितं मनः ॥ २॥
निगृहीतो हि वायुस्ते पञ्चकर्मा शरीरगः ।
इन्द्रियाणि प्रसन्नानि मनसि स्थापितानि ते ॥ ३ ॥
वाक् च सत्त्वं च गोविन्द बुद्धौ संवेशितानि ते ।
सर्वे चैव गुणा देवाः क्षेत्रज्ञे ते निवेशिताः ॥ ४ ॥
नेङ्गन्ति तव रोमाणि स्थिरा बुद्धिस्तथा मनः ।
काष्ठकुड्यशिलाभूतो निरीहश्चासि माधव ॥ ५ ॥
यथा दीपो निवातस्थो निरिङ्गो ज्वलते पुनः ।

इसी भांति स्तुति कर रहे थे, तोभी श्रीकृष्ण भगवानने कुछ भी उत्तर नहीं दिया; क्यों कि उस समय वह ध्यानमें प्रवृत्त थे । (१९-२०)

शान्तिपर्वमें पैंतालिस अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें छियालिस अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे अमित पराक्रमी ! आज मैं यह कैसा आश्चर्य देख रहा हूं; तुम, ध्यानमें प्रवृत्त हुए ? देव ! तुम तुरीय ध्यानपथ (जाग्रत स्वप्न और सुषुप्तिसे अतीव स्वरूप अवस्था) अवलम्बन करके स्थूल, सूक्ष्म और कारण इन तीनों शरीरोंसे अपक्रान्त होकर स्थित होरहे हो, उसे देखके मेरा मन विस्मित होता है। देख रहा हूं कि तुमने प्राण आदि पञ्च कर्म निर्वाहक शरीरस्थ प्राणवायुको निरोध किया (रोका) है; हे गोविन्द ! तुमने सब इन्द्रियोंको प्रसन्न करके मनके बीच स्थापित किया है और वाक् तथा मनको बुद्धिमें लीन किया है। शब्द आदि पञ्च विषय अपने अपने आधारके आसरे स्थित हैं। तुम्हारे शरीरके सब रोएं और मन,बुद्धि स्थिर भावसे स्थित हैं, इससे तुम काष्ट वा शिलाकी भांति चेष्टा रहित हो रहे हो । (१—५)

हे भगवन् ! जैसे दीपशिखा वायु रहित स्थानमें स्थिरताके सहित जलती

तथाऽसि भगवन्देव पाषाण इव निश्चलः ॥ ६ ॥
यदि श्रोतुमिहार्हामि न रहस्यं च ते यदि।
छिन्धि मे संशयं देव प्रपन्नायाभियाचते ॥ ७ ॥
त्वं हि कर्ता विकर्ता च क्षरं चैवाक्षरं च हि।
अनादिनिधनश्चाद्यस्त्वमेव पुरुषोत्तम ॥ ८ ॥
त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय शिरसा प्रणताय च।
ध्यानस्यास्य यथा तत्त्वं ब्रूहि धर्मभृतांवर ॥ ९ ॥
ततः स्वे गोचरे न्यस्य मनोबुद्धीन्द्रियाणि सः।
स्मितपूर्वमुवाचेदं भगवान्वासवानुजः ॥ १० ॥
वासुदेव उवाच— शरतल्पगतो भीष्मः शाम्यन्निव हुताशनः।
मां ध्याति पुरुषव्याघ्रस्ततो मे तद्गतं मनः ॥ ११ ॥
यस्य ज्यातलनिर्घोषं विस्फूर्जितमिवाशनेः।
न सेहे देवराजोऽपि तमस्मि मनसा गतः ॥ १२ ॥
येनाभिजित्य तरसा समस्तं राजमण्डलम्।
ऊढास्तिस्रस्तु ताः कन्यास्तमस्मि मनसा गतः ॥ १३ ॥
त्रयोविंशतिरात्रं यो योधयामास भार्गवम्।

रहती हैं, अथवा जैसे पत्थर एक ही स्थलमें पड़ा रहता है, वैसे ही तुम भी आज चेष्टा रहितके समान दीख पड़ते हो। हे देव! यदि यह गोपनीय न होवे और मैं सुननेका पात्र होऊं, तो यह प्रार्थना है, कि आप मुझ शरणागतके इस संशयको दूर कीजिये। हे धार्मिकप्रवर! हे पुरुषोत्तम! तुम क्षर, अक्षर, कर्ता और अकर्त्ता हो। तुम अनादि और मृत्युसे रहित हो, और तुम ही आदि पुरुष हो। मैं तुम्हारा शरणागत भक्त शिर झुकाके तुम्हें प्रणाम करता हूं, कि आप इस ध्यानके यथार्थ कारणको मेरे समीप प्रकाशित कीजिये; उस समय इन्द्रके भ्राता श्रीकृष्ण भगवान् मन बुद्धि और इन्द्रियोंको पहिलेकी भांति निज निज स्थलोंमें स्थापित करके इसप्रकार धर्मराज युधिष्ठिरसे बोले। (६-१०)

महाराज! शान्त होनेवाली अग्निकी भांति तेजस्वी शरशय्यापर स्थित पुरुष-सिंह भीष्म मेरा ध्यान कर रहे हैं, उसी कारण मैं भी उनके ध्यानमें प्रवृत्त था। जिन्होंने स्वयंवरके बीच अपने तेजके प्रभावसे सब राजाओंको पराजित करके तीनों कन्याओंको हरण किया, जिसके वज्र समान धनुषटङ्कार और तलत्राणके

न च रामेण निस्तीर्णस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १४ ॥
एकीकृत्येन्द्रियग्रामं मनः संयम्य मेधया ।
शरणं मामुपागच्छत्ततो मे तद्गतं मनः ॥ १५ ॥
यं गङ्गा गर्भविधिना धारयामास पार्थिव ।
वसिष्ठशिक्षितं तात तमस्मि मनसा गतः ॥ १६ ॥
दिव्यास्त्राणि महातेजा यो धारयति बुद्धिमान् ।
साङ्गांश्च चतुरो वेदांस्तमस्मि मनसा गतः ॥ १७ ॥
रामस्य दयितं शिष्यं जामदग्न्यस्य पाण्डव ।
आधारं सर्वविद्यानां तमस्मि मनसा गतः ॥ १८ ॥
स हि भूतं भविष्यच्च भवच्च भरतर्षभ ।
वेत्ति धर्मविदां श्रेष्ठं तमस्मि मनसा गतः ॥ १९ ॥
तस्मिन्हि पुरुषव्याघ्रे कर्मभिः स्वैर्दिवं गते ।
भविष्यति मही पार्थ नष्टचन्द्रेव शर्वरी ॥ २० ॥
तद्युधिष्ठिर गाङ्गेयं भीष्मं भीमपराक्रमम् ।
अभिगम्योपसंगृह्य पृच्छ यत्ते मनोगतम् ॥ २१ ॥
चातुर्विद्यं चातुर्होत्रं चातुराश्रम्यमेव च ।

शब्दको इन्द्र भी नहीं सह सकते थे; जिन्होंने तेईस दिनोंतक भृगुकुल शिरोमणि परशुरामके सङ्ग युद्ध किया था; परशुराम जिसे किसी प्रकार पराजित करनेमें समर्थ नहीं हुए; जिसे गङ्गादेवीने निजगर्भमें धारण किया और वसिष्ठ मुनिने अपना शिष्य बनाया था, जिस महातेजस्वीने बुद्धिप्रभावसे सब दिव्य अस्त्रोंकी विद्या और सांगोपांग चारों वेदोंको पढा था। हे महाराज! वही परशुरामके प्रिय शिष्य सब विद्याके आधार स्वरूप भीष्म मन और सब इन्द्रियोंको संयम करके एकाग्रचित्तसे मेरे शरणागत हुए हैं; उसी कारण मैं भी उनके ध्यानमें प्रवृत्त हुआ था। उस धर्मात्मा भीष्मको भूत-भविष्य और वर्त्तमान कालके सब विषयोंका ज्ञाता समझियेगा। (११—१९)

महाराज! पुरुषशार्दूल भीष्म जब अपने कर्मके प्रभावसे शरीरको त्याग कर स्वर्ग लोकमें गमन करेंगे, तब यही पृथ्वी चन्द्रमासे हीन होकर रात्रिके समान बोध होगी; इससे आप महापराक्रमी गङ्गानन्दन भीष्मके समीप उपस्थित होके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, यज्ञादिक और चारों आश्रमोंके धर्म तथा निखिल

राजधर्मांश्च निखिलान् पृच्छैनं पृथिवीपते ॥ २२ ॥
तस्मिन्नस्तमिते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
ज्ञानान्यस्तं गमिष्यन्ति तस्मात्त्वां चोदयाम्यहम् ॥२३॥
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथ्यं वचनमुत्तमम् ।
साश्रुकण्ठः स धर्मज्ञो जनार्दनमुवाच ह ॥ २४ ॥
यद्भवानाह भीष्मस्य प्रभावं प्रति माधव ।
तथा तन्नात्र संदेहो विद्यते मम माधव ॥ २५ ॥
महाभाग्यं च भीष्मस्य प्रभावश्च महाद्युते ।
श्रुतं मया कथयतां ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥ २६ ॥
भवांश्च कर्ता लोकानां यद्ब्रवीत्यरिसूदन ।
तथा तदनभिध्येयं वाक्यं यादवनन्दन ॥ २७ ॥
यदि त्वनुग्रहवती बुद्धिस्ते मयि माधव ।
त्वामग्रतः पुरस्कृत्य भीष्मं यास्यामहे वयम् ॥ २८ ॥
आवृत्ते भगवत्यर्के स हि लोकान् गमिष्यति ।
त्वद्दर्शनं महाबाहो तस्मादर्हति कौरवः ॥ २९ ॥
तव चाद्यस्य देवस्य क्षरस्यैवाक्षरस्य च ।

राजधर्म और इससे अतिरिक्त जो कुछ पूछनेकी इच्छा हो, वह सब पूछिये। महाराज! कौरवकुल धुरन्धर भीष्मके परलोक गमन करनेके अनन्तर पृथ्वीसे सब ज्ञान शास्त्र इकबारगी तुमसे हो जायेंगे। इसी कारण मैं आपको उन महात्माके समीप जानेके वास्ते कहता हूं। (२०—२३)

धर्म जाननेवाले युधिष्ठिर श्रीकृष्ण चन्द्रके सारगर्भ उत्तम वचन सुनके धीमे स्वरसे बोले, हे कृष्ण! आपने भीष्मके प्रभाव विषयक जो कुछ वचन कहे उसमें मुझे कुछ भी सन्देह नहीं है, मैंने भीष्मके प्रारब्ध और प्रभावकी कथा पहिले महात्मा ब्राह्मणोंके मुखसे अनेक बार सुनी है, विशेष करके सब लोगोंके कर्त्ता होकर जब तुम भी उनकी प्रशंसा कर रहे हो; तब उसमें सन्देहही क्या है। हे शत्रुसूदन! यदि मेरे ऊपर आपकी अत्यन्त कृपा प्रकाशित करनेकी इच्छा हुई हो, तो तुम स्वयं हमको अपने सङ्ग भीष्मके समीप ले चलो। हे यदुनन्दन! कुरुकुल शिरोमणि भीष्म सूर्यके उत्तरायण होने पर शरीर त्याग करेंगे, इससे उन्हें दर्शन देना आपका कर्तव्य है। हे भगवन्! तुम आदि

दर्शनं त्वस्य लाभः स्यात्त्वं हि ब्रह्ममयो निधिः ॥३०॥

वैशम्पायन उवाच-श्रुत्वैवं धर्मराजस्य वचनं मधुसूदनः।
पार्श्वस्थं सात्यकिं प्राह रथो मे युज्यतामिति ॥ ३१ ॥
सात्यकिस्त्वाशु निष्क्रम्य केशवस्य समीपतः।
दारुकं प्राह कृष्णस्य युज्यतां रथ इत्युत ॥ ३२ ॥
स सात्यकेराशु वचो निशम्य रथोत्तमं काञ्चनभूपिताङ्गम्।
मसारगल्वर्कमयैर्विभङ्गैर्विभूषितं हेमनिबद्धचक्रम् ॥ ३३ ॥
दिवाकरांशुप्रभमाशुगामिनं विचित्रनानामणिभूषितान्तरम्।
नवोदितं सूर्यमिव प्रतापिनं विचित्रतार्क्ष्यध्वजिनं पताकिनम् ॥३४॥
सुग्रीवशैब्यप्रमुखैर्वराश्वैर्मनोजवैः काञ्चनभूषिताङ्गैः।
संयुक्तमावेदयदच्युताय कृताञ्जलिर्दारुको राजसिंह ॥ ३५ ॥ [१५७४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि महापुरुषस्तवे पञ्चचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जनमेजय उवाच-शरतल्पे शयानस्तु भरतानां पितामहः।

देव, क्षर, अक्षर, ब्रह्ममय और परमनिधि हो, इस आसन्नमृत्युके समय पितामह एकबार तुम्हारा दर्शन करें, यही मेरी इच्छा है। (२४—३०)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, मधुसूदन कृष्णने धर्मराज युधिष्ठिरके वचनको सुनके समीपमें ही स्थित सात्यकिसे कहा तुम शीघ्र ही मेरे रथको सज्जित करो; इतना वचन सुनते ही सात्यकि उसी समय वहांसे उठके दारुक सारथीके निकट जाके यह वचन बोले, तुम शीघ्र ही श्रीकृष्णके रथको सज्जित करो। अनन्तर दारुकने सात्यकिके वचनको सुनते ही सुवर्णभूषित बहुतसे मरकत, चन्द्रकान्त, सूर्यकान्त मणिमय सुवर्ण भूषित चक्र-सहित सूर्य किरणके समान प्रकाशमान शीघ्रगामी, मध्यभागमें अनेक भांतिके मणि रत्न सुवर्णके आभूषणोंसे भूषित, शत्रुओंको दुःखित करनेवाले, मनके समान वेगपूर्वक गमन करनेवाले, शैब्य और सुग्रीव आदि घोडोंसे युक्त अनेक भांतिकी पताका और गरुड ध्वजासे शोभित उत्तम रथको सज्जित करके हाथ जोडके श्रीकृष्णचन्द्र से निवेदन किया। (३१-३५) १५७४

शान्तिपर्वमें छियालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सैंतालिस अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, हे ऋषिवर ! पितामह भीष्मदेवने शरशय्यापर स्थित होके किस प्रकार योग अवलम्बन

कथमुत्सृष्टवान्देहं कं च योगमधारयत् ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच-शृणुष्वावहितो राजन् शुचिर्भूत्वा समाहितः ।
भीष्मस्य कुरुशार्दूल देहोत्सर्गं महात्मनः ॥ २ ॥
निवृत्तमात्रे त्वयन उत्तरे वै दिवाकरे ।
समावेशयदात्मानमात्मन्येव समाहितः ॥ ३ ॥
विकीर्णांशुरिवादित्यो भीष्मः शरशतैश्चितः ।
शुशुभे परया लक्ष्म्या वृतो ब्राह्मणसत्तमैः ॥ ४ ॥
व्यासेन वेदविदुषा नारदेन सुरर्षिणा ।
देवस्थानेन वात्स्येन तथाऽश्मकसुमन्तुना ॥ ५ ॥
तथा जैमिनिना चैव पैलेन च महात्मना ।
शाण्डिल्यदेवलाभ्यां च मैत्रेयेण च धीमता ॥ ६ ॥
असितेन वसिष्ठेन कौशिकेन महात्मना ।
हारीतलोमशाभ्यां च तथाऽऽत्रेयेण धीमता ॥ ७ ॥
बृहस्पतिश्च शुक्रश्च च्यवनश्च महामुनिः ।
सनत्कुमारः कपिलो वाल्मीकिस्तुम्बुरुः कुरुः ॥ ८ ॥
मौद्गल्यो भार्गवो रामस्तृणबिन्दुर्महामुनिः ।
पिप्पलादोऽथ वायुश्च संवर्तः पुलहः कचः ॥ ९ ॥

करके शरीर त्याग किया था, आप उसे मेरे समीप वर्णन कीजिये। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज ! तुम पवित्र और एकाग्र चित्त होकर भीष्मके शरीर त्यागनेके विषयको श्रवण करो। जब सूर्य दक्षिणायन मार्गसे उत्तरायण गमन करनेमें प्रवृत्त हुए, तभी भीष्म पितामहने स्थिर होके अपना चित्त, आत्मामें लगाया। महाराज ! उस समय भीष्मदेव महात्मा ब्राह्मणोंके बीचमें स्थित और अनेक बाणोंसे परिपूरित शरीरसे इस प्रकार शोभित हुए, जैसे किरणधारी भगवान् सूर्य शोभित होते हैं। (१—४)

उस समय वेद जाननेवाले व्यासदेव, देवऋषि नारद, महात्मा देवस्थान, वात्स्य, अश्मक, सुमन्तु, जैमिनि, महात्मा पैल, शाण्डिल्य, देवरात, धीमान् मैत्र, असित, वशिष्ठ, महात्मा कौशिक, हारीत, लोमश, बुद्धिमान अत्रि, बृहस्पति, शुक्राचार्य, महामुनि च्यवन, सनत्कुमार, कपिल, वाल्मीक, तुम्बुरु, कुरु, मौद्गल्य, भृगुनन्दन परशुराम, महामुनि तृणबिन्दु, पिप्पलाद, वायु,

काश्यपश्च पुलस्त्यश्च क्रतुर्दक्षः पराशरः ।
मरीचिरङ्गिराः काश्यो गौतमो गालवो मुनिः ॥ १० ॥
धौम्यो विभाण्डो माण्डव्यो धौम्रः कृष्णानुभौतिकः ।
उलूकः परमो विप्रो मार्कण्डेयो महामुनिः ॥ ११ ॥
भास्करिः पूरणः कृष्णः सूतः परमधार्मिकः ।
एतैश्चान्यैर्मुनिगणैर्महाभागैर्महात्मभिः ॥ १२ ॥
श्रद्धादमशमोपेतैर्वृतश्चन्द्र इव ग्रहैः ।
भीष्मस्तु पुरुषव्याघ्रः कर्मणा मनसा गिरा ॥ १३ ॥
शरतल्पगतः कृष्णं प्रदध्यौ प्राञ्जलिः शुचिः ।
स्वरेण हृष्टपुष्टेन तुष्टाव मधुसूदनम् ॥ १४ ॥
योगेश्वरं पद्मनाभं विष्णुं जिष्णुं जगत्पतिम् ।
कृताञ्जलिपुटो भूत्वा वाग्विदां प्रवरः प्रभुः ।
भीष्मः परमधर्मात्मा वासुदेवमथास्तुवत् ॥ १५ ॥
भीष्म उवाच— आरिराधयिषुः कृष्णं वाचं जिगदिषामि याम् ।
तया व्याससमासिन्या प्रीयतां पुरुषोत्तमः ॥ १६ ॥
शुचिं शुचिपदं हंसं तत्पदं परमेष्ठिनम् ।

सम्वर्त्त, पुलह, कठ, काश्यप, क्रतु, दक्ष, पराशर, मरीचि, आङ्गिरा, काश्यप, गौतमकुलमें उत्पन्न हुए महामुनि गालव, धौम्य, विभाण्ड, माण्डव्य, धौम्र, कृष्णानुभौतिक, महर्षि, उलूक, महामुनि मार्कण्डेय, भास्करी, पूरण, कृष्ण, परम धार्मिक सूत,—ये सम्पूर्ण ऋषि तथा इनके अतिरिक्त और भी बहुतेरे श्रद्धा दम और शमसे युक्त महा तपस्वी महात्मा मुनियोंसे घिरकर पुरुषसिंह भीष्म इस प्रकार शोभित हुए, जैसे नक्षत्रोंके बीच भगवान चन्द्रमाकी शोभा दीख पडती है। अनन्तर वह पवित्र भावसे हाथ जोडके कर्म, मन और वचनसे एकाग्रचित्त होकर श्रीकृष्णचन्द्रका ध्यान करने लगे; और हृष्ट-पुष्ट स्वरसे मधुसूदन कृष्णकी स्तुति करने लगे। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! बोलनेवालोंमें मुख्य परम धर्मात्मा भीष्मने जिस प्रकार हाथ जोडके पद्मनाभ योगेश्वर विष्णु, जिष्णु, जगत्पति श्रीकृष्ण भगवानकी स्तुति की थी, मैं उसे वर्णन करता हूं, आप सुनिये। (५-१५)

भीष्म बोले, हे पुरुषोत्तम! तुम पवित्र और शुचिपद हो, तुम पारमेष्ठपद,



राजा युधिष्ठिर और भगवान् श्रीकृष्ण

(स. सा. मुद्रणालय-अहमदाबाद) (शांतिपर्व अ० ४७)

मुक्त्वा सर्वात्मनाऽऽत्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम्॥१७॥
अनाद्यन्तं परं ब्रह्म न देवा नर्षयो विदुः।
एकोऽयं वेद भगवान् धाता नारायणो हरिः ॥ १८॥
नारायणादृषिगणास्तथा सिद्धमहोरगाः।
देवा देवर्षयश्चैव यं विदुः परमव्ययम् ॥ १९ ॥
देवदानवगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
यं न जानन्ति को ह्येष कुतो वा भगवानिति॥ २० ॥
यस्मिन्विश्वानि भूतानि तिष्ठन्ति च विशन्ति च।
गुणभूतानि भूतेशे सूत्रे मणिगणा इव ॥ २१ ॥
यस्मिन्नित्ये तते तन्तौ दृढे स्रगिव तिष्ठति।
सदसद्ग्रथितं विश्वं विश्वाङ्गे विश्वकर्मणि ॥ २२ ॥
हरिं सहस्रशिरसं सहस्रचरणेक्षणम्।
सहस्रबाहुमुकुटं सहस्रवदनोज्ज्वलम् ॥ २३ ॥
प्राहुर्नारायणं देवं यं विश्वस्य परायणम्।
अणीयसामणीयांसं स्थविष्ठं च स्थवीयसाम् ॥ २४ ॥

प्रजापति और आत्मस्वरूप हो, इससे मैं अब तुम्हारेमें चित्त समर्पण करके एकान्त भावसे तुम्हारी उपासनाका अभिलाषी होकर जो कुछ कहनेकी इच्छा करता हूं, आप उस संक्षेप और विस्तार युक्त मेरे कहे हुए वचनोंके दोषोंको त्यागके मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये। आदि अन्त रहित परब्रह्मके स्वरूपको ठीक सब लोकोंके रचनेवाले भगवान विधाता नारायण हरि ही जानते हैं; इनके अतिरिक्त देवता वा ऋषि कोई भी उनके रूपको नहीं जान सकते। नारायणकी कृपासे ही देव गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, सर्प, सिद्ध और देवऋषि लोग उस सनातन परमेश्वरको परम अव्यय मानते हैं; परन्तु कोई भी यह नहीं जानते कि "ये कौन हैं; कहांसे किस प्रकार ये भगवान् हुए हैं!" (१५-२०)

जिस अविनाशी ब्रह्ममें जगत्के सम्पूर्ण प्राणी प्रलय कालके समय इस प्रकार लीन होजाते हैं, जैसे धागेमें मालाकी मणियें गुथी रहती हैं; यह जगत् जिस विश्वाङ्ग जगत् कर्त्ता नित्यपुरुषके रूपमें स्थित है, ऋषि लोग जिसे सहस्र-शीर्षा, सहस्राक्ष, सहस्र चरण, सहस्र बाहु, सहस्र मुकुट, सहस्र शरीरोंसे प्रकाशमान, जगदाधार नारायण देव, सब सूक्ष्म वस्तुओंसे सूक्ष्म, स्थूलसे भी

गरीयसां गरिष्ठं च श्रेष्ठं च श्रेयसामपि ॥ २५ ॥
यं वाकेष्वनुवाकेषु निषत्सूपनिषत्सु च।
गृणन्ति सत्यकर्माणं सत्यं सत्येषु सामसु ॥ २६ ॥
चतुर्भिश्चतुरात्मानं सत्वस्थं सात्वतां पतिम्।
यं दिव्यैर्देवमर्चन्ति गुह्यैः परमनामभिः ॥ २७ ॥
यस्मिन्नित्यं तपस्तप्तं यदङ्गेष्वनुतिष्ठति।
सर्वात्मा सर्ववित्सर्वः सर्वज्ञः सर्वभावनः ॥ २८ ॥
यं देवं देवकी देवी वसुदेवादजीजनत्।
भौमस्य ब्रह्मणो गुप्त्यै दीप्तमग्निमिवारणिः ॥ २९ ॥
यमनन्यो व्यपेताशीरात्मानं वीतकल्मषम्।
दृष्ट्वाऽऽनन्त्याय गोविन्दं पश्यत्यात्मानमात्मनि॥३०॥
अतिवाय्विन्द्रकर्माणमतिसूर्यातितेजसम्।
अतिबुद्धीन्द्रियात्मानं तं प्रपद्ये प्रजापतिम् ॥ ३१ ॥

स्थूल, गुरु पदार्थोंसे भी गुरुतर और उत्तम वस्तुओंसे भी श्रेष्ठ कहके वर्णन करते हैं। जो वाक्, अनुवाक् निषत्, उपनिषत् और सत्य स्वरूप है; जिसकी साम वेदके बीच सत्य और सत्यकर्मा आदि नामोंसे स्तुति होती है। (२१—२६)

साधक लोग ब्रह्म, जीव, अहंकार इन चारों अध्यात्मतत्वोंके वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चार परमगुह्य दिव्य नामोंको उच्चारण करके सदा बुद्धिसे अभिव्यक्त और भक्तोंके ईश्वर जानके जिनकी पूजा अर्चा किया करते हैं; तथा तिसकी प्रीतिके निमित्त स्वधर्मरूपी तपस्याका अनुष्ठान करते हैं; जिसकी कृपासे आचरित तपका प्रभाव चित्तमें आके उपस्थित होता है; मैं उस चैतन्य स्वरूप, सर्वज्ञ, सबको उत्पन्न करनेवाले, सर्वेश्वर भगवानका शरणागत हुआ हूं। दो अरणिकी अग्निकी भांति, जो भगवान् पृथ्वी, ब्राह्मण, वेद और यज्ञ रक्षाके निमित्त वसुदेव देवकीसे उत्पन्न हुए हैं और योगी लोग एकाग्रचित्त होकर सब वासना त्यागके एक मात्र मोक्षपथके निमित्त जिसकी उपासना करते हुए निज आत्मामें ही जिस स्वरूपका दर्शन करते हैं, मैं उसही निर्मल ज्योतिस्स्वरूप सर्वेश्वर गोविन्द कृष्णकी शरण हूं। (२५-३०)

जो निज तेज प्रभावसे सूर्य, कर्मसे वायु और इन्द्रको अतिक्रम करके विद्यमान है; मैं उसही बुद्धि तथा मन आदि इन्द्रियोंसे अतीत परमात्माकी

पुराणे पुरुषं प्रोक्तं ब्रह्म प्रोक्तं युगादिषु।
क्षये सङ्कर्षणं प्रोक्तं तमुपास्यमुपास्महे ॥ ३२ ॥
यमेकं बहुधाऽऽत्मानं प्रादुर्भूतमधोक्षजम्।
नान्यभक्ताः क्रियावन्तो यजन्ते सर्वकामदम्॥ ३३ ॥
यमाहुर्जगतः कोशं यस्मिन्सन्निहिताः प्रजाः।
यस्मिँल्लोकाः स्फुरन्तीमे जले शकुनयो यथा ॥ ३४ ॥
ऋतमेकाक्षरं ब्रह्म यत्तत्सदसतोः परम्।
अनादिमध्यपर्यन्तं न देवा नर्षयो विदुः।
यं सुरासुरगन्धर्वाः सिद्धा ऋषिमहोरगाः ॥ ३५ ॥
प्रयता नित्यमर्चन्ति परमं दुःखभेषजम्।
अनादिनिधनं देवमात्मयोनिं सनातनम् ॥ ३६ ॥
अप्रेक्ष्यमनभिज्ञेयं हरिं नारायणं प्रभुम्।
यं वै विश्वस्य कर्तारं जगतस्तस्थुषां पतिम्।
वदन्ति जगतोऽध्यक्षमक्षरं परमं पदम् ॥ ३७ ॥

शरण हूं, जो पुराणमें पुरुष, युगादिकोंमें ब्रह्म और प्रलय समयमें सङ्कर्षण नामसे वर्णित है, मैं उसी उपास्य देवकी उपासनामें प्रवृत्त हुआ हूं। जो एक होकर भी अनेक रूप दीख पडते हैं,और कर्म योगी पुरुष अनन्य भक्तिसे युक्त होकर जिसकी उपासना करते रहते हैं; मैं उसी सर्व कामप्रद भगवानकी शरण हूं। ज्ञानी लोग जिसे जगत्कोष कहते हैं, यह सब प्रजा जिसके रूपमें स्थित है और जलमें तैरनेवाले हंस तथा कारण्डव आदि पक्षियोंकी भांति सब प्राणी जिसकी चैतन्य सत्वासे चेष्टमान होते हैं, देवता और ऋषि लोग भी जिसके स्वरूपको नहीं जान सकते; मैंने उसी आदि, अन्त, मध्य अवस्था और सत् असत्से रहित सत्य स्वरूप, एकाक्षर परब्रह्म परमेश्वरका आसरा ग्रहण किया है। (३१—३५)

देवता, असुर, सिद्ध, गन्धर्व, सर्प और ऋषि लोग सदा स्थिर भावसे जिसकी उपासना किया करते हैं; जो भव रोगके छुडानेमें परम वैद्य स्वरूप है; मैं उसी अनादि अविनाशी, नेत्र आदि इन्द्रियोंके अगोचर, सर्वकारण, सनातन,परमात्म स्वरूप,सर्व शक्तिमान नारायण हरिके शरणागत हुआ हूं। वेद जिसको जगत्कर्त्ता, स्थावर जङ्गमात्मक जगत्के पालक, सर्वाध्यक्ष, अक्षर और परमाधार करके वर्णन करते हैं; जिन्होंने

हिरण्यवर्णं यं गर्भमदितेर्दैत्यनाशनम् ।
एकं द्वादशधा जज्ञे तस्मै सूर्यात्मने नमः ॥ ३८ ॥
शुक्ले देवान्पितॄन्कृष्णे तर्पयत्यमृतेन यः ।
यश्च राजा द्विजातीनां तस्मै सोमात्मने नमः ॥ ३९ ॥
महतस्तमसः पारे पुरुषं ह्यतितेजसम् ।
यं ज्ञात्वा मृत्युमत्येति तस्मै ज्ञेयात्मने नमः ॥ ४० ॥
यं बृहन्तं बृहत्युक्थे यमग्नौ यं महाध्वरे ।
यं विप्रसङ्घा गायन्ति तस्मै वेदात्मने नमः ॥ ४१ ॥
ऋग्यजुःसामधामानं दशार्धहविरात्मकम् ।
यं सप्ततन्तुं तन्वन्ति तस्मै यज्ञात्मने नमः ॥ ४२ ॥
चतुर्भिश्च चतुर्भिश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च ।
हूयते च पुनर्द्वाभ्यां तस्मै होमात्मने नमः ॥ ४३ ॥
यः सुपर्णो यजुर्नाम छन्दो गात्रस्त्रिवृच्छिराः ।
रथन्तरं बृहत्साम तस्मै स्तोत्रात्मने नमः ॥ ४४ ॥

एक होकर भी दैत्योंको नाश करनेके वास्ते अदिति गर्भसे बारह अंशोंमें विभक्त होकर अवतार लिया था, उस हिरण्यवर्ण सूर्यमूर्ति परमात्माको, नमस्कार करता हूं। जो महाअन्धकारसे अतीत स्वयं ज्योतिस्वरूप तथा सब स्थानोंमें पूर्ण हैं, जिसे जाननेसे ही साधक लोग जन्म मृत्युसे छूटकर परम पद पाते हैं, उस ज्ञेयरूप परमात्माको नमस्कार है। जो अमृतसे शुक्लपक्षमें देवतों और कृष्णपक्षमें पितरोंको तृप्त करता है और जगत्में द्विजराज नामसे प्रसिद्ध है; उस सोममूर्ति परमात्माको नमस्कार है। ऋषिलोग जिसे उक्थके बीच बहवृच और अग्निहोत्र आदिक महायज्ञोंमें अध्वर्यू नामसे वर्णन करके सामगान करते हैं; उस वेदात्मक पुरुष को नमस्कार है। (३६-४१)

ऋक् यजु और साम ये तीनों वेद ही जिसके धाम हैं, जो जव, दधियुक्त सत्तू, परिवाप, पुरोडाश और दूध यही पञ्च हविरात्मक है, जो वेदके बीच गायत्री आदि सात छन्दोंसे विस्तृत हुआ है, उस यज्ञात्मक पुरुषको नमस्कार है। जो "आश्रावय" आदि सप्त दश अक्षरोंसे अग्निमें होम होता है, उस होमात्मक पुरुषको नमस्कार है। जो वेद पुरुष और यजु नामसे विख्यात है; गायत्री आदिक छन्द ही जिसके हाथोंके अवयव हैं, ऋक्, यजु और साम इन

यः सहस्रसमे सत्रे जज्ञे विश्वसृजामृषिः।
हिरण्यपक्षः शकुनिस्तस्मै हंसात्मने नमः ॥ ४५ ॥
पादाङ्गं सन्धिपर्वाणं स्वरव्यञ्जनभूषणम्।
यमाहुरक्षरं दिव्यं तस्मै वागात्मने नमः ॥ ४६ ॥
यज्ञाङ्गो यो वराहो वै भूत्वा गामुज्जहार ह।
लोकत्रयहितार्थाय तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ४७ ॥
यः शेते योगमास्थाय पर्यङ्के नागभूषिते।
फणासहस्ररचिते तस्मै निद्रात्मने नमः ॥ ४८ ॥
यस्तनोति सतां सेतुमृतेनामृतयोनिना।
धर्मार्थव्यवहाराङ्गैस्तस्मै सत्यात्मने नमः ॥ ४९ ॥
यं पृथग्धर्मचरणाः पृथग्धर्मफलैषिणः।
पृथग्धर्मैः समर्चन्ति तस्मै धर्मात्मने नमः ॥ ५० ॥
यतः सर्वे प्रसूयन्ते ह्यनङ्गात्माङ्गदेहिनः।

तीनों वेदोंसे युक्त यज्ञ ही जिसका मस्तक है और बृहत् रथन्तर ही जिसकी प्रीतिस्वरूप है; उस स्तोत्रात्मक पुरुषको नमस्कार है। जो सर्वज्ञ पुरुष प्रजापति आदिकोंके सहस्र वर्ष यज्ञ करनेके अनन्तर यज्ञसे हिरण्यपक्ष युक्त हंसरूपसे उत्पन्न हुए थे; उस हंसरूपी परमात्माको नमस्कार है। (४२-४५)

वैदिक पद ही जिसके अङ्ग, सन्धि आदिक अंगुली स्वर और व्यजन ही जिसके भूषण हैं, तथा वेदके बीच जो दिव्य अक्षर कहके वर्णित हुआ है; उस वागाधिष्ठात्री परम देवताको नमस्कार है। जिन्होंने तीनों लोकोंके हितकी अभिलाषासे यज्ञमें वाराहमूर्त्ति धारण करके रसातलमें गई हुई पृथ्वीका उद्धार किया था, उस वीर्यात्मक पुरुषको नमस्कार है। जो योगनिद्रा अवलम्बन करके सहस्र फनोंसे युक्त नाग भूषित शय्यापर शयन करते हैं, उस निद्रात्मक पुरुषको नमस्कार है। जो वाक् आदि इन्द्रियोंको जीतकर मोक्षके कारण वेदमें कहे हुए उपायसे साधुओंको संसारके दुःखोंसे छुडाके मुक्त करता है; उस सत्यात्माको नमस्कार है। हर एक पृथक् पृथक् धर्म अवलम्बन करनेवाले पुरुष इच्छानुसार विविध फलोंकी अभिलाषासे जिसकी पूजा किया करते हैं, उस धर्मात्माको नमस्कार है। (४६-५०)

जिससे सब प्राणियोंकी उत्पत्ति होती हैं और जो सबके शरीरमें स्थित काम-मय देह अर्थात् मनके उन्मादजनक है;

उन्मादः सर्वभूतानां तस्मै कामात्मने नमः ॥ ५१ ॥
यं च व्यक्तस्थमव्यक्तं विचिन्वन्ति महर्षयः।
क्षेत्रे क्षेत्रज्ञमासीनं तस्मै क्षेत्रात्मने नमः ॥ ५२ ॥
यं त्रिधात्मानमात्मस्थं वृतं षोडशभिर्गुणैः।
प्राहुः सप्तदशं सांख्यास्तस्मै सांख्यात्मने नमः ॥५३॥
यं विनिद्रा जितश्वासाः सत्वस्थाः संयतेन्द्रियाः।
ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानास्तस्मै योगात्मने नमः॥५४॥
अपुण्यपुण्यो परमे यं पुनर्भवनिर्भयाः।
शान्ताः संन्यासिनो यान्ति तस्मै मोक्षात्मने नमः॥५५॥
योऽसौ युगसहस्रान्ते प्रदीप्तार्चिर्विभावसुः।
संभक्षयति भूतानि तस्मै घोरात्मने नमः ॥ ५६ ॥
संभक्ष्य सर्वभूतानि कृत्वा चैकार्णवं जगत्।
बालः स्वपिति यश्चैकस्तस्मै मायात्मने नमः ॥५७॥
तद्यस्य नाभ्यां संभूतं यस्मिन्विश्वं प्रतिष्ठितम्।
पुष्करे पुष्कराक्षस्य तस्मै पद्मात्मने नमः ॥ ५८ ॥

उस कामात्मा पुरुषको नमस्कार है। महर्षि लोगोंने जिस अव्यक्त पुरुषको देहके बीच स्थित क्षेत्रज्ञ कहके निश्चय किया है; उस क्षेत्रात्माको नमस्कार है। चैतन्य और नित्य स्वरूपसे स्थित रहनेपर भी सांख्यवादी जिसे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों अवस्था, एकादश इन्द्रिय और पञ्च महाभूत आदि सोलह गुणोंसे युक्त,उदारतनु, सब सङ्ख्यात्मक कहके वर्णन करते हैं; उस संख्यात्मा पुरुषको नमस्कार है। जितेन्द्रीयोगी पुरुष निद्रा और श्वासवायुको जीतके जिस ज्योतिरूपका हृदयमें दर्शन करते हैं; उस योगात्माको नमस्कार है। पाप पुण्यसे परे, शान्त संन्यासी लोग आवागमनसे छूटकर जिसे पाते हैं, उस मोक्षात्माको नमस्कार है। (५१–५५)

जो दिव्य परिमाणसे सहस्र युगोंके अन्तमें जलती हुई शिखासे युक्त अग्नि रूपसे सब भूतोंको भक्षण करता है, उस घोरात्माको प्रणाम है। जो सब वस्तुओंको भस्म और जगत्को एक समुद्रमय करके एक मात्र बालक रूपसे निद्रित होता है; उस मायात्मक पुरुषको प्रणाम है। पुष्कर लोचन अजेय नाभीस्थलसे जो कमल उत्पन्न होता है, जिससे जगत् प्रतिष्ठित हुआ है, उस पद्मात्माको प्रणाम है। समुद्रके समान

सहस्रशिरसे चैव पुरुषायामितात्मने।
चतुःसमुद्रपर्याययोगनिद्रात्मने नमः ॥ ५९ ॥
यस्य केशेषु जीमूता नद्यः सर्वाङ्गसन्धिषु।
कुक्षौ समुद्राश्चत्वारस्तस्मै तोयात्मने नमः ॥ ६० ॥
यस्मात्सर्वाः प्रसूयन्ते सर्गप्रलयविक्रियाः।
यस्मिंश्चैव प्रलीयन्ते तस्मै हेत्वात्मने नमः ॥ ६१ ॥
यो निषण्णो भवेद्रात्रौ दिवा भवति विष्ठितः।
इष्टानिष्टस्य च द्रष्टा तस्मै द्रष्टात्मने नमः ॥ ६२ ॥
अकुण्ठं सर्वकार्येषु धर्मकार्यार्थमुद्यतम्।
वैकुण्ठस्य च तद्रूपं तस्मै कार्यात्मने नमः ॥ ६३ ॥
त्रिःसप्तकृत्वो यः क्षत्रं धर्मव्युत्क्रान्तगौरवम्।
क्रुद्धो निजघ्ने समरे तस्मै क्रौर्यात्मने नमः ॥ ६४ ॥
विभज्य पञ्चधाऽऽत्मानं वायुर्भूत्वा शरीरगः।
यश्चेष्टयति भूतानि तस्मै वाय्वात्मने नमः ॥ ६५ ॥
युगेष्वावर्तते योगैर्मासर्त्वयनहायनैः।

चार भांतिके काम जिसके प्रभावसे नष्ट होते हैं, उस अनगिनत शिर और असंख्य योगात्मक पुरुषको नमस्कार है। जिसके केशोंमें सम्पूर्ण बादलोंके समूह, अङ्गसन्धियोंमें नदियां और हृदयमें चार समुद्र स्थित हैं, उस जलमय पुरुषको प्रणाम है। जिससे प्राणियोंकी उत्पत्ति और मृत्युरूपी विकार उत्पन्न होता है, और महाप्रलयके समय जिसमें सम्पूर्ण जगत्के प्राणी लीन होते हैं, उस कारणात्माको नमस्कार है। (५९—६१)

जो प्राणियोंकी निद्रित अवस्थामें भी जागता रहता है, और कर्त्ता न होनेपर भी स्वभावस्थामें कर्त्ताकी भांति बोध होता है; परन्तु यथार्थमें वह प्राणियोंके किये हुए शुभाशुभ कर्मोंका द्रष्टामात्र है; उस साक्षीस्वरूप चैतन्य पुरुषको नमस्कार है। जो किसी कार्यमें शोकित नहीं होता और धर्म-कार्यके निमित्त उद्यत रहता है, उस सर्वत्र पूर्ण वैकुण्ठरूपी कार्यात्मक पुरुषको प्रणाम है। जिसने क्रुद्ध होकर इक्कीस बार युद्धभूमिमें धर्म-मर्यादा उलङ्घन करनेवाले क्षत्रियोंका नाश किया था, उस क्रूरात्माको प्रणाम है। जो प्राण आदि पांच अंशोंमें विभक्त होके शरीरस्थ वायु रूपसे प्राणियोंको चैतन्य करता है; उस

सर्गप्रलययोः कर्ता तस्मै कालात्मने नमः ॥ ६६ ॥
ब्रह्म वक्त्रं भुजौ क्षत्रं कृत्स्नमूरूदरं विशः ।
पादौ यस्याश्रिताः शूद्रास्तस्मै वर्णात्मने नमः ॥६७॥
यस्याग्निरास्यं द्यौर्मूर्धा खं नाभिश्चरणौ क्षितिः ।
सूर्यश्चक्षुर्दिशः श्रोत्रे तस्मैः लोकात्मने नमः ॥ ६८॥
परः कालात्परो यज्ञात्परात्परतरश्च यः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य तस्मै विश्वात्मने नमः ॥ ६९ ॥
विषये वर्तमानानां यं तं वैशेषिकैर्गुणैः ।
प्राहुर्विषयगोप्तारं तस्मैः गोप्त्रात्मने नमः ॥ ७० ॥
अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥ ७१ ॥
प्राणानां धारणार्थाय योऽन्नं भुंक्ते चतुर्विधम् ।

वायुमय पुरुषको प्रणाम है। जो युग युगमें योगमायासे मत्स्य, कूर्म, वराह आदि रूपोंको धारण करके अवतार लेता है और महीना, ऋतु, अयन तथा वर्ष आदि रूपसे उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके कार्योंको पूर्ण करता है, उस कालरूपी पुरुषको नमस्कार है।(६२-६६)

ब्राह्मण जिसके मुख, क्षत्रिय जिसकी दोनों भुजा, वैश्य जिसके उरुस्थल और शूद्र जिसके दोनों चरणोंके आसरेसे प्रकट होके स्थित हैं, उस वर्णात्मा पुरुषको प्रणाम है। स्वर्ग जिसका सिर, अग्नि, मुख, आकाश नाभी, सूर्य नेत्र, दिशा कान और पृथ्वी जिसका चरण है, उस सम्पूर्ण लोकमय पुरुषको प्रणाम है। (६७—६८)

कालसे भिन्न सम्पूर्ण यज्ञोंके अधिष्ठात्री देवता हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ है;जो स्वयं अनादि और जगत्‌का आदि पुरुष है; उस विश्वात्माको नमस्कार है। राग द्वेषसे युक्त अज्ञानी लोग शब्द, स्पर्श आदि विषयोंमें वर्त्तमान श्रोत्रादिक इन्द्रियोंका अनादर करके, जिसे विषय गोप्ता समझते हैं; उस गोप्तृरूपी परमात्माको नमस्कार है। जो अन्न, पान और इन्धनरूपसे शारीरक रस और बलको बढाता है, तथा जो सब प्राणियोंको धारण कर रहा है; उस प्राणमय पुरुषको नमस्कार है। (६८–७१)

जो प्राणियोंके प्राणधारणके निमित्त चारों प्रकारके अन्नोंको भोजन करता है, और शरीरके भीतर प्रवेश करके उन भोजन किये हुए चारों भांतिके अन्नोंको परिपाक करता है; उस पाकात्मक पुरुष

अन्तर्भूतः पचत्यग्निस्तस्मै पाकात्मने नमः ॥ ७२ ॥
पिङ्गेक्षणसटं यस्य रूपं दंष्ट्रानखायुधम् ।
दानवेन्द्रान्तकरणं तस्मैः दृप्तात्मने नमः ॥ ७३ ॥
यं न देवा न गन्धर्वा न दैत्या न च दानवाः ।
तत्त्वतो हि विजानन्ति तस्मै सूक्ष्मात्मने नमः ॥७४॥
रसातलगतः श्रीमाननन्तो भगवान्विभुः ।
जगद्धारयते कृत्स्नं तस्मै वीर्यात्मने नमः ॥ ७५ ॥
यो मोहयति भूतानि स्नेहपाशानुबन्धनैः ।
सर्गस्य रक्षणार्थाय तस्मै मोहात्मने नमः ॥ ७६ ॥
आत्मज्ञानमिदं ज्ञानं ज्ञात्वा पञ्चस्ववस्थितम् ।
यं ज्ञानेनाभिगच्छन्ति तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥७७ ॥
अप्रमेयशरीराय सर्वतो बुद्धिचक्षुषे ।
अनन्तपरिमेयाय तस्मै दिव्यात्मने नमः ॥ ७८ ॥
जटिने दण्डिने नित्यं लम्बोदरशरीरिणे ।
कमण्डलुनिषङ्गाय तस्मै ब्रह्मात्मने नमः ॥ ७९ ॥

को नमस्कार है। जिसके जटा और नेत्र पिंगलवर्ण और दांत तथा नख जिसके शस्त्र हैं; उस दुर्जय दैत्यनाशक नृसिंह रूपधारी परमात्माको नमस्कार है। (७२-७३)

जिसे देवता, दानव, यक्ष, गन्धर्व आदि कोई भी यथार्थ रूप जाननेमें समर्थ नहीं हैं, उस सूक्ष्मात्माको प्रणाम है। (७४)

जो सर्वशक्तिमान सर्वव्यापक भगवान रसातलमें प्रवेश करके सम्पूर्ण जगत्को धारण कर रहे हैं; उस वीर्यात्माको नमस्कार है। जो सृष्टिरक्षाके वास्ते जगत्के सब प्राणियोंको स्नेह पाशसे मोहित कर रहा है; उस मोहात्मा परम पुरुषको प्रणाम है। योगी लोग ज्ञान साधनसे शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध इन पाचों विषयोंसे ज्ञानको पृथक् करके पवित्र ज्ञान मात्रसे आत्म स्वरूप जानके जिसे प्राप्त करते हैं उस ज्ञानस्वरूप परमात्माको नमस्कार है।७५-७७

जिसके ज्ञानरूपी नेत्र सर्व-वर्तमान है, जो अगोचर स्वरूप है; और जिसमें ये सम्पूर्ण विषय स्थित रहते हैं; उस दिव्यात्माको नमस्कार है। जो सदा जटा और दण्डधारी है, लम्बोदर शरीर युक्त कमण्डलु ही जिसका तूणीर है; उस ब्रह्मात्माको नमस्कार है। जो सदा

शूलिने त्रिदशेशाय त्र्यम्बकाय महात्मने।
भस्मदिग्धोर्ध्वलिङ्गाय तस्मै रुद्रात्मने नमः ॥ ८० ॥
चन्द्रार्धकृतशीर्षाय व्यालयज्ञोपवीतिने।
पिनाकशूलहस्ताय तस्मै उग्रात्मने नमः ॥ ८१ ॥
सर्वभूतात्मभूताय भूतादिनिधनाय च।
अक्रोधद्रोहमोहाय तस्मै शान्तात्मने नमः ॥ ८२ ॥
यस्मिन्सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वतश्च यः।
यश्च सर्वमयो नित्यं तस्मै सर्वात्मने नमः ॥ ८३ ॥
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसम्भव।
अपवर्गस्थभूतानां पञ्चानां परतः स्थितः ॥ ८४ ॥
नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु।
नमस्ते दिक्षु सर्वासु त्वं हि सर्वमयो निधिः ॥ ८५ ॥
नमस्ते भगवन्विष्णो लोकानां प्रभवाप्यय।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ ८६ ॥
न हि पश्यामि ते भावं दिव्यं हि त्रिषु वर्त्मसु।

शरीरमें खाक लगाये हुए शूल धारण करके विराजमान रहता है; उस त्रिदश नाथ, त्रिनेत्र ऊर्ध्वलिंग रुद्रात्माको नमस्कार है। अर्द्धचन्द्र जिसके माथेका भूषण और सर्प जिसके यज्ञोपवीत हैं, उस शूल और पिनाकधारी उग्रात्माको नमस्कार है। जो सब प्राणियोंका आत्मस्वरूप है, जो अहंकारको नाश करनेवाला है; उस क्रोध, मोह और द्रोहसे रहित शान्तात्माको नमस्कार है। यह संसार जिसके प्रभावसे स्थित है, जिससे जगत्‌की उत्पत्ति होती है, जो सब स्थानोंमें विराजमान है, जो स्वयं विश्वरूप और सब प्राणियोंका आत्मा स्वरूप है; उस नित्यस्वरूप सर्व मय परम पुरुषको प्रणाम है। (७८-८३)

हे विश्वकर्मन्! हे जगत्‌के उत्पन्न करनेवाले! तुम पञ्च भूतोंसे पृथक् और नित्य मुक्ति स्वरूप हो, इससे तुम्हें प्रणाम है। तुम तीनों लोकों, सब दिशाओं और तीनों कालोंमें समभावसे विद्यमान हो, तुम ही सर्वमय और निधिस्वरूप हो, इससे तुम्हें नमस्कार है। हे भगवान! हे विष्णु! तुम इस जगत्‌को उत्पन्न करनेवाले और अव्यय स्वरूप हो? इससे तुम्हें प्रणाम है। हे हृषीकेश! तुम जगत्कर्त्ता, संहर्त्ता और अपराजेय हो; इससे तुम्हें प्रणाम है।

त्वां तु पश्यामि तत्त्वेन यत्ते रूपं सनातनम् ॥ ८७ ॥
दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा ।
विक्रमेण त्रयो लोकाः पुरुषोऽसि सनातनः ॥ ८८ ॥
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ।
सप्तमार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ८९ ॥
अतसीपुष्पसंकाशं पीतवाससमच्युतम् ।
ये नमस्यन्ति गोविन्दं न तेषां विद्यते भयम् ॥ ९० ॥
एकोऽपि कृष्णस्य कृतः प्रणामो दशाश्वमेधावभृथेन तुल्यः ।
दशाश्वमेधी पुनरेति जन्म कृष्णप्रणामी न पुनर्भवाय ॥ ९१ ॥
कृष्णव्रताः कृष्णमनुस्मरन्तो रात्रौ च कृष्णं पुनरुत्थिता ये ।
ते कृष्णदेहाः प्रविशन्ति कृष्णमाज्यं यथा मन्त्रहुतं हुताशे ॥९२॥
नमो नरकसंत्रासरक्षामण्डलकारिणे ।
संसारनिम्नगावर्ततरिकाष्ठाय विष्णवे ॥ ९३ ॥

हे भगवन् ! यद्यपि मैं तुम्हारे वर्त्तमान आदि त्रिकालस्थित दिव्यभावके दर्शनमें समर्थ नहीं हूं, तथापि तुम्हारा जो सनातन स्वरूप है, उसे तत्वज्ञानसे दर्शन कर रहा हूं । तुम्हारे मस्तकसे द्युलोक, चरणसे भूलोक और तुम्हारे पराक्रमसे तीनों लोक व्याप्त हैं; तुम्हीं साक्षात् सनातन पुरुष हो। सम्पूर्ण दिशा तुम्हारी भुजा, सूर्य तुम्हारे नेत्र और पापरहित प्रजापति ही तुम्हारे वीर्य स्वरूप हैं; तुम महातेजमय वायु रूपसे ऊपरके सप्तछिद्रों को रोकके स्थित हो । (८४-८९)

अतसी पुष्पके समान रूपवाले पीताम्बरधारी अच्युत गोविन्दको जो प्रणाम करते हैं, उन लोगोंको कुछ भी भय उपस्थित नहीं होता । दश अश्वमेध यज्ञोंके समाप्तिमें अवभृत स्नान करनेसे जितना फल प्राप्त होता है, वह श्रीकृष्ण भगवान के एक वार के प्रणाम की समानता भी नहीं कर सकता । क्यों कि उन दश अश्वमेध यज्ञोंके करनेवाले पुरुषोंको फिर जन्म लेना होता है, परन्तु कृष्णको प्रणाम करनेवालोंको जन्म मरण रूपी दुःखोंको नहीं भोगना पडता । कृष्ण ही जिसके व्रत हैं, और सोते, उठते जो लोग श्रीकृष्णका स्मरण करते हैं, तथा योगपूर्वक उनके ध्यानमें रत होते हैं, वे इस प्रकार उनके स्वरूपमें लीन होजाते हैं जैसे मन्त्रसे युक्त घृत अग्निमें प्रवेश करता है । (९०-९२)

जो नरक भयके छोडानेवाले और संसार सागरसे पार करनेके निमित्त

नमो ब्रह्मण्यदेवाय गोब्राह्मणहिताय च।
जगद्धिताय कृष्णाय गोविन्दाय नमोनमः ॥ ९४ ॥
प्राणकान्तारपाथेयं संसारोच्छेदभेषजम्।
दुःखशोकपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥ ९५ ॥
यथा विष्णुमयं सत्यं तथा विष्णुमयं जगत्।
यथा विष्णुमयं सर्वं पाप्मा मे नश्यतां तथा ॥ ९६ ॥
त्वां प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९७ ॥
इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीडितः।
वाग्यज्ञेनार्चितो देवः प्रीयतां मे जनार्दनः ॥ ९८ ॥
नारायणः परं ब्रह्म नारायणपरं तपः।
नारायणः परो देवः सर्वं नारायणः सदा ॥ ९९ ॥
वैशम्पायन उवाच– एतावदुक्त्वा वचनं भीष्मस्तद्गतमानसः।
नम इत्येव कृष्णाय प्रणाममकरोत्तदा ॥ १०० ॥
अभिगम्य तु योगेन भक्तिं भीष्मस्य माधवः।

नौका स्वरूप हैं; उस विष्णु भगवानको बार बार प्रणाम है। जो गऊ ब्राह्मण और सब जगत्के हितकारी हैं, उस जगत् त्राणकर्त्ता ब्रह्मण्यदेव कृष्ण भगवानको वारम्बार प्रणाम है। "हरि"– इन दो अक्षरोंसे युक्त नाम प्राणियोंको कठिन मार्गोंसे भी पार करता है, यह संसार सागरके तरनेका उपाय और शोक दुःखको नाश करनेवाला है। जब कि सत्य विष्णुमय, जगत् विष्णुमय, और सब वस्तु विष्णुमय हैं, तब मेरा चित्त भी विष्णुमय होके पापरहित होवे। हे पुण्डरीकाक्ष! हे सुरसत्तम! यह भक्त अभिलषित गति पानेकी इच्छासे सब भांतिसे एकमात्र तुम्हारा ही शरणागत हुआ है, इस समय जिसमें मङ्गल हो; आप उसी का विचार कीजिये। (९३–९७)

हे जनार्दन! तुम विद्या और तपस्या के कारणस्वरूप विष्णु हो, आप मेरे स्तुति वचनरूपी यज्ञसे पूजित होके तृप्त तथा प्रसन्न हूजिये; वेद, तपस्या और देवता इत्यादि जो कुछ वस्तु है, वह सबही नित्य—नारायण रूप हैं। (९८—९९)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, कुरुकुल शिरोमणि भीष्मने इतना वचन कहके उनमें चित्त लगाके श्रीकृष्णको प्रणाम

त्रैलोक्यदर्शनं ज्ञानं दिव्यं दत्वा ययौ हरिः ॥ १०१ ॥
तस्मिन्नुपरते शब्दे ततस्ते ब्रह्मवादिनः ।
भीष्मं वाग्भिर्बाष्पकण्ठास्तमानर्चुर्महामतिम् ॥१०२॥
ते स्तुवन्तश्च विप्राग्र्याः केशवं पुरुषोत्तमम् ।
भीष्मं च शनकैः सर्वे प्रशशंसुः पुनः पुनः ॥ १०३ ॥
विदित्वा भक्तियोगं तु भीष्मस्य पुरुषोत्तमः ।
सहसोत्थाय संहृष्टो यानमेवान्वपद्यत ॥ १०४ ॥
केशवः सात्यकिश्चापि रथेनैकेन जग्मतुः ।
अपरेण महात्मानौ युधिष्ठिरधनञ्जयौ ॥ १०५ ॥
भीमसेनो यमौ चोभौ रथमेकं समाश्रिताः ।
कृपो युयुत्सुः सूतश्च सञ्जयश्च परन्तपः ॥ १०६ ॥
ते रथैर्नगराकारैः प्रयाताः पुरुषर्षभाः ।
नेमिघोषेण महता कम्पयन्तो वसुन्धराम् ॥ १०७ ॥
ततो गिरः पुरुषवरस्तवान्विता द्विजेरिताः पथि सुमनाः स शुश्रुवे ।
कृताञ्जलिं प्रणतमथापरं जनं स केशिहा मुदितमनाऽभ्यनन्दत ॥१०८॥

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० राजधर्मानुशासन० भीष्मस्तवराजे सप्तचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥४७॥

किया। तब उस समय श्रीकृष्ण भगवानने योगप्रभावसे भीष्मके शरीरके भीतर प्रवेश कर उन्हें भक्ति और त्रिकाल दर्शन ज्ञान प्रदान करके फिर निज शरीरमें आगमन किया। महाबुद्धिमान् भीष्मके वचन समाप्त होनेपर मुख्य मुख्य ब्रह्मवादी ब्राह्मण लोगोंने वचनसे उनकी पूजा की। अनन्तर वे लोग पुरुषोत्तम कृष्णकी स्तुति करके मृदु स्वरसे बार बार भीष्मकी प्रशंसा करने लगे। (१००-१०३)

इधर पुरुष श्रेष्ठ श्रीकृष्णचन्द्र योगबलसे भीष्मकी भक्तिके विषयको जानके अत्यन्त आनन्दके सहित सहसा उठके रथपर चढे। यदुवीर सात्यकि कृष्णके रथपर चढके उनके सङ्ग गमन करनेमें प्रवृत्त हुए। महात्मा युधिष्ठिर और अर्जुन एक रथपर और भीमसेन तथा माद्रीपुत्र नकुल सहदेव एक दूसरे रथपर चढके गमन करने लगे। पुरुषश्रेष्ठ शत्रुनाशन कृपाचार्य, युयुत्सु और सूतकुलमें उत्पन्न हुए सञ्जयने एक बहुत बडे रथपर चढके रथ शब्दसे पृथ्वीको कंपाते हुए प्रस्थान किया। मधुसूदन पुरुषसिंह कृष्णने गमन करनेके समय मार्गमें कितने ही ब्राह्मणोंके अनेक भांतिके

वैशम्पायन उवाच–ततः स च हृषीकेशः स च राजा युधिष्ठिरः।
कृपादयश्च ते सर्वे चत्वारः पाण्डवाश्च ते ॥ १ ॥
रथैस्तैर्नगरप्रख्यैः पताकाध्वजशोभितैः।
ययुराशु कुरुक्षेत्रं वाजिभिः शीघ्रगामिभिः ॥ २ ॥
तेऽवतीर्य कुरुक्षेत्रं केशमज्जास्थिसंकुलम्।
देहन्यासः कृतो यत्र क्षत्रियैस्तैर्महात्मभिः ॥ ३ ॥
गजाश्वदेहास्थिचयैः पर्वतैरिव संचितम्।
नरशीर्षकपालैश्च शङ्खैरिव च सर्वशः ॥ ४ ॥
चितासहस्रप्राचितं वर्मशस्त्रसमाकुलम्।
आपानभूमिं कालस्य तथा भुक्तोज्झितामिव ॥ ५ ॥
भूतसङ्घानुचरितं रक्षोगणनिषेवितम्।
पश्यन्तस्ते कुरुक्षेत्रं ययुराशु महारथाः ॥ ६ ॥
गच्छन्नेव महाबाहुः सर्वयादवनन्दनः।
युधिष्ठिराय प्रोवाच जामदग्न्यस्य विक्रमम् ॥ ७ ॥

स्तुतियुक्त वचनको सुनके तथा कितने ही पुरुषोंको विनीतभावसे स्थित देखकर आनन्दके सहित उन लोगोंको प्रसन्न किया। (१०४–१०८) [१६८२]

शान्तिपर्वमें सैंतालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अठतालिस अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! इसी भांति श्रीकृष्णचन्द्र, भाइयोंके सहित राजा युधिष्ठिर और कृपाचार्य आदि सब कोई शीघ्रगामी घोडों और ध्वजा पताकाओंसे युक्त नगरके समान रथोंपर चढके कुरुक्षेत्रकी ओर गमन करने लगे। युधिष्ठिर आदि महारथी लोग जहांपर महात्मा क्षत्रियोंने युद्धमें प्राणत्याग किया था; उस प्रेत-राक्षसोंसे सेवित यमराजके स्थान तथा श्मशानभूमिके समान कुरुक्षेत्रमें पहुंचके किसी किसी स्थानमें ढेरके ढेर केश, मज्जा और हड्डी आदिक तथा कहीं कहीं मरे हुए हाथी घोडोंके शरीर और हड्डिओंको पर्वतके समूहके समान देखने लगे; और कहीं वर्म और टूटे शस्त्रोंके समूह तथा कहींपर सहस्रों चिता दीख पडती थीं; और कहींपर शङ्खके समान मनुष्योंके सिरकी सफेद खोपडियोंको देखते हुए शीघ्रताके सहित आगे गमन करने लगे। मार्गमें जाते हुए यदुनन्दन कृष्णने युधिष्ठिरसे जमदग्निपुत्र परशुराम के पराक्रमका विषय वर्णन करना आरम्भ किया। (१—७)

अमी रामह्रदाः पञ्च दृश्यन्ते पार्थ दूरतः।
तेषु सन्तर्पयामास पितॄन् क्षत्रियशोणितैः ॥ ८ ॥
त्रिःसप्तकृत्वो वसुधां कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः।
इहेदानीं ततो रामः कर्मणो विरराम ह ॥ ९ ॥
युधिष्ठिर उवाच—त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी कृता निःक्षत्रिया पुरा।
रामेणेति तथाऽऽत्थ त्वमत्र मे संशयो महान्॥ १० ॥
क्षत्रबीजं यथा दग्धं रामेण यदुपुङ्गव।
कथं भूयः समुत्पत्तिः क्षत्रस्यामितविक्रम ॥ ११ ॥
महात्मना भगवता रामेण यदुपुङ्गव।
कथमुत्सादितं क्षत्रं कथं वृद्धिमुपागतम् ॥ १२ ॥
महता रथयुद्धेन कोटिशः क्षत्रिया हताः।
तथाभूच्च मही कीर्णा क्षत्रियैर्वदतां वर ॥ १३ ॥
किमर्थं भार्गवेणेदं क्षत्रमुत्सादितं पुरा।
रामेण यदुशार्दूल कुरुक्षेत्रे महात्मना ॥ १४ ॥
एतन्मे छिन्धि वार्ष्णेय संशयं तार्क्ष्यकेतन।
आगमो हि परः कृष्ण त्वत्तो नो वासवानुज॥ १५ ॥

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हे महाराज! भृगुनन्दन परशुरामने जिस स्थानपर युद्धमें क्षत्रियोंके रुधिरसे पांच तालावों को भरके पितरोंका तर्पण किया था, ये वेही पांचों रामह्रद दूरसे दीख पडते हैं। महात्मा परशुराम इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके अब इस क्रूर कर्मसे विरक्त हुए हैं। राजा युधिष्ठिर बोले, हे यदुकुलश्रेष्ठ! हे अमित पराक्रमी! तुमने जो परशुरामजीके इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करनेकी कथा कही, उससे मुझे अत्यन्त ही संशय उत्पन्न हुआ है, यदि परशुरामने अपने शस्त्ररूपी अग्निमें सब क्षत्रिय बीज ही भस्म कर दिया; तो फिर किस प्रकार उनकी उत्पत्ति हुई? और करोडों क्षत्रियोंने महाघोर रथ युद्धमें मरके अपने मृत शरीरोंसे पृथ्वीको परिपूरित किया; महात्मा परशुराम भगवानने अकेले ही किस प्रकार क्षत्रियकुलका नाश किया; और फिर किस भांति उनकी वृद्धि हुई। (८-१३)

हे कृष्ण! भृगुनन्दन परशुरामने कुरुक्षेत्रके बीच किस कारणसे क्षत्रिय कुलका नाश किया? हे वार्ष्णेय! हे गरुडध्वज! तुम मेरे इन सब संशयोंको

वैशम्पायन उवाच-ततो यथावत्स गदाग्रजः प्रभुः शशंस तस्मै निखिलेन तत्त्वतः।
युधिष्ठिरायाप्रतिमौजसे तदा यथाऽभवत् क्षत्रियसङ्कुला मही॥१६॥
इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि रामोपाख्याने अष्टचत्वारिंशत्तमोऽध्यायः ॥ ४८ ॥ [१६९८]

वासुदेव उवाच—शृणु कौन्तेय रामस्य प्रभावो यो मया श्रुतः।
महर्षीणां कथयतां विक्रमं तस्य जन्म च ॥ १ ॥
यथा च जामदग्न्येन कोटिशः क्षत्रिया हताः।
उद्भूता राजवंशेषु ये भूयो भारते हताः ॥ २ ॥
जह्नोरजस्तु तनयो बलाकाश्वस्तु तत्सुतः।
कुशिको नाम धर्मज्ञस्तस्य पुत्रो महीपते ॥ ३ ॥
अग्र्यन्तपः समातिष्ठत्सहस्राक्षसमो भुवि।
पुत्रं लभेयमजितं त्रिलोकेश्वरमित्युत ॥ ४ ॥
तमुग्रतपसं दृष्ट्वा सहस्राक्षः पुरन्दरः।

दूर करो; तुम्हारा वचन मैं वेदसे भी श्रेष्ठ समझता हूं। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर सर्वशक्तिमान गदा पद्मधारी भगवान कृष्णने जिस प्रकार पृथ्वी क्षत्रियोंके मृत शरीरोंसे परिपूर्ण हुई थी, उस वृत्तान्तको महाबलवान धर्मराज युधिष्ठिरके समीप यथार्थ रूपसे वर्णन करनेमें प्रवृत्त हुए। (१४-१६)
शान्तिपर्वमें अठतालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनचास अध्याय।

श्रीकृष्ण बोले, महाराज! मैंने महर्षियोंके मुखसे भृगुनन्दन परशुरामके जन्म और उनके पराक्रम विषयक कथाको जिस भांति सुनी है; वह सब वृत्तान्त वर्णन करता हूं, सुनो। उन महात्मा परशुरामजीने जिस प्रकार क्रोडों क्षत्रियोंका वध किया था और ये सब क्षत्रिय जिस भांति फिर राजवंशमें उत्पन्न हुए अर्थात् जो लोग उस समय भारतयुद्धमें मरे थे, उनकी पुनरुत्पत्तिका वृत्तान्त भी कहूंगा। पहिले समयमें जन्हु नाम एक राजा थे; अज नाम उनके एक पुत्र हुआ; अजके पुत्र बलाकाश्व और बलाकाश्वके कुशिक नाम एक धर्मात्मा पुत्र उत्पन्न हुआ। कुछ कालके अनन्तर इन्द्रके समान पराक्रमी महात्मा कुशिकने विचारा, कि मेरे सब प्राणियोंसे अजेय त्रिलोकेश्वरके समान एक पुत्र उत्पन्न हो, ऐसी इच्छा करके महाराज महात्मा कुशिक तपस्या करनेमें प्रवृत्त हुए। सहस्र नेत्रवाले भगवान् इन्द्रने महात्मा

समर्थं पुत्रजनने स्वयमेवान्वपद्यत ॥ ५ ॥
पुत्रत्वमगमद्राजंस्तस्य लोकेश्वरेश्वरः ।
गाधिर्नामा भवत्पुत्रः कौशिकः पाकशासनः ॥ ६ ॥
तस्य कन्याऽभवद्राजन्नाम्ना सत्यवती प्रभो ।
तां गाधिर्भृगुपुत्राय ऋचीकाय ददौ प्रभुः ॥ ७ ॥
तस्याः प्रीतः स शौचेन भार्गवः कुरुनन्दन ।
पुत्रार्थं श्रपयामास चरुं गाधेस्तथैव च ॥ ८ ॥
आहूयोवाच तां भार्यां ऋचीको भार्गवस्तदा ।
उपयोज्यश्चरुरयं त्वया मात्राऽप्ययं तव ॥ ९ ॥
तस्या जनिष्यते पुत्रो दीप्तिमान्क्षत्रियर्षभः ।
अजय्यः क्षत्रियैर्लोके क्षत्रियर्षभसूदनः ॥ १० ॥
तवापि पुत्रं कल्याणि धृतिमन्तं शमात्मकम् ।
तपोन्वितं द्विजश्रेष्ठं चरुरेष विधास्यति ॥ ११ ॥
इत्येवमुक्त्वा तां भार्यां ऋचीको भृगुनन्दनः ।
तपस्यभिरतः श्रीमान् जगामारण्यमेव हि ॥ १२ ॥

कुशिककी कठोर तपस्या देखकर तथा उन्हें अभिलषित पुत्र लाभके यथार्थ अधिकारी समझके स्वयं ही उनका पुत्र होना स्वीकार किया । (१—५)

महाराज ! देवोंके राजा भगवान इन्द्र महात्मा कुशिकके पुत्ररूपसे जन्म लेकर गाधि नामसे विख्यात हुए। कुछ समयके अनन्तर महात्मा गाधिके सत्यवती नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई । उस कन्याको उन्होंने भृगुनन्दन महात्मा ऋचीकको प्रदान किया । महात्मा ऋचीकने निज भार्याके शुद्ध व्यवहारसे अत्यन्त प्रसन्न होकर उसके और गाधिराजके पुत्र उत्पन्न होनेके वास्ते यज्ञसे दो चरु उत्पन्न किये। अनन्तर अपनी स्त्रीको समीप बुलाके उससे बोले, हे कल्याणी ! इन दोनों चरुओंको ग्रहण करो । इसमेंसे यह चरु अपनी माताको देना और इस चरुको तुम भक्षण करना, ऐसा होनेसे तुम्हारी माताके सब शस्त्रधारी प्राणियोंसे अजेय क्षत्रियोंमें अग्रगण्य अत्यन्त तेजस्वी एक पुत्र उत्पन्न होगा; वह पुत्र पृथ्वीके सब क्षत्रियोंको दमन करनेवाला होगा और इस दूसरे चरुके प्रभावसे तुम्हारे भी धृतिमान शान्तस्वभाववाला महा तपस्वी एक पुत्र उत्पन्न होगा। (६-११)

भृगुनन्दन ऋचीकने भार्यासे इतनी

एतस्मिन्नेव काले तु तीर्थयात्रापरो नृपः ।
गाधिः सदारः संप्राप्तः ऋचीकस्याश्रमं प्रति ॥ १३ ॥
चरुद्वयं गृहीत्वा च राजन्सत्यवती तदा ।
भर्तुर्वाक्यं तदाऽव्यग्रा मात्रे हृष्टा न्यवेदयत् ॥ १४ ॥
माता तु तस्याः कौन्तेय दुहित्रे स्वं चरुं ददौ ।
तस्याश्चरुमथाज्ञानादात्मसंस्थं चकार ह ॥ १५ ॥
अथ सत्यवती गर्भं क्षत्रियान्तकरं तदा ।
धारयामास दीप्तेन वपुषा घोरदर्शनम् ॥ १६ ॥
तामृचीकस्तदा दृष्ट्वा तस्या गर्भगतं द्विजम् ।
अब्रवीद्भृगुशार्दूलः स्वां भार्यां देवरूपिणीम् ॥ १७ ॥
मात्राऽसि व्यंसिता भद्रे चरुव्यत्यासहेतुना ।
भविष्यति हि ते पुत्रः क्रूरकर्माऽत्यमर्षणः ॥ १८ ॥
उत्पत्स्यति च ते भ्राता ब्रह्मभूतस्तपोरतः ।
विश्वं हि ब्रह्म सुमहच्चरौ तव समाहितम् ॥ १९ ॥
क्षत्रवीर्यं च सकलं तव मात्रे समर्पितम् ।

कथा कहके तपस्या करनेके वास्ते वनके बीच गमन किया। उसी समय गाधिराज तीर्थयात्रा करते हुए स्त्री सहित महात्मा ऋचीकके आश्रममें उपस्थित हुए। उन दोनोंको निज आश्रममें आया हुआ देखके ऋचीक-पत्नी सत्यवतीने दोनों चरुओंको लेकर हर्ष पूर्वक माताके समीप गमन करके दोनों ही भाग उसके हाथमें देकर स्वामीके कहे हुए सब वृत्तान्तको वर्णन किया। गाधिराजकी स्त्रीने भ्रमसे अपना चरु कन्याको देकर उसके चरुको आप भक्षण किया। अनन्तर सत्यवतीने क्षत्रियोंको नाश करनेवाला, अग्निके समान प्रकाशमान अत्यन्त तेजस्वी एक पुत्र गर्भमें धारण किया। उस समय भृगुशार्दूल भगवान ऋचीक वहांपर आके उपस्थित हुए और योग प्रभावसे निजभार्या देवरूपिणी सत्यवतीके गर्भस्थ पुत्रको देखके उससे कहने लगे। (१२—१७)

हे भद्रे! चरु अदलबदल होनेसे कारण तुम अपनी मातासे ठगी गई; इस कारण तुम्हारा पुत्र क्रुद्ध स्वभाव और क्रूरकर्मोंका करनेवाला होगा और तुम्हारी माताके गर्भसे अत्यन्त तपस्वी ब्रह्मनिष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा। इसका कारण यह है कि तुम्हारा चरु ब्रह्मतेजसे

विपर्ययेण ते भद्रे नैतदेवं भविष्यति ॥ २० ॥
मातुस्ते ब्राह्मणो भूयात्तव च क्षत्रियः सुतः ।
सैवमुक्ता महाभागा भर्त्रा सत्यवती तदा ॥ २१ ॥
पपात शिरसा तस्मै वेपन्ती चाब्रवीदिदम् ।
नार्होऽसि भगवन्नद्य वक्तुमेवंविधं वचः ।
ब्राह्मणापसदं पुत्रं प्राप्स्यसीति हि मां प्रभो ॥ २२ ॥
ऋचीक उवाच—नैष सङ्कल्पितः कामो मया भद्रे तथा त्वयि ।
उग्रकर्मा समुत्पन्नश्चरुव्यत्यासहेतुना ॥ २३ ॥
सत्यवत्युवाच— इच्छन् लोकानपि मुने सृजेथाः किं पुनः सुतम् ।
शमात्मकमृजुं पुत्रं दातुमर्हसि मे प्रभो ॥ २४ ॥
ऋचीक उवाच—नोक्तपूर्वानृतं भद्रे स्वैरेष्वपि कदाचन ।
किमुताग्निं समाधाय मन्त्रवच्चरुसाधने ॥ २५ ॥
दृष्टमेतत्पुरा भद्रे ज्ञातं च तपसा मया ।
ब्रह्मभूतं हि सकलं पितुस्तव कुलं भवेत् ॥ २६ ॥

परिपूर्ण था, और तुम्हारी माताके चरुमें सम्पूर्ण क्षत्रिय तेज परिपूरित था, परन्तु उसके उलटफेर होनेसे पुत्रभी तुम दोनोंके विपरीत होंगे अर्थात् तुम्हारे गर्भसे क्षत्रिय और तुम्हारी माताके गर्भसे ब्राह्मण लक्षण युक्त पुत्र उत्पन्न होगा। तब सत्यवती स्वामीके मुखसे ऐसा वचन सुनके पृथ्वीमें गिर पडी और कांपती हुई विनय पूर्वक उनसे यह वचन बोली। हे भगवन् "तुम्हारे ब्राह्मणाधम पुत्र उत्पन्न होगा।" आप मेरे विषयमें ऐसा वचन न प्रयोग करिये; क्यों कि आप तपके प्रभावसे सब विषयोंको पूर्ण करनेमें समर्थ हैं। (१८—२२)

ऋचीक मुनि बोले, हे भद्रे! तुम यह मत समझो, कि मैंने पहिलेसे ही तुम्हारे वास्ते ऐसा सङ्कल्प किया था; केवल चरु बदलनेसे ही तुम्हारे गर्भसे कठोर कर्म करनेवाला पुत्र उत्पन्न होगा। सत्यवती बोली, हे भगवन्! उत्तम पुत्र उत्पन्न होनेकी बात ही क्या है! आप इच्छा करनेसे तीनों लोकोंको फिरसे उत्पन्न कर सकते हैं; इससे कृपा करके मेरे गर्भसे एक शम परायण शान्त स्वभाव युक्त पुत्र उत्पन्न करिये। ऋचीक मुनि बोले, हे कल्याणी! यज्ञकी अग्निसे चरु प्राप्त करनेकी बात तो बहुत दूर है, मैंने कभी परिहासके मिषसे भी मिथ्या वचन नहीं कहा है।

सत्यवत्युवाच— काममेवं भवेत्पौत्रो ममेह तव च प्रभो ।
शमात्मकमहं पुत्रं लभेयं जयतां वर ॥ २७ ॥
ऋचीक उवाच— पुत्रे नास्ति विशेषो मे पौत्रे च वरवर्णिनि ।
यथा त्वयोक्तं वचनं तथा भद्रे भविष्यति ॥ २८ ॥
वासुदेव उवाच—ततः सत्यवती पुत्रं जनयामास भार्गवम् ।
तपस्यभिरतं शान्तं जमदग्निं यतव्रतम् ॥ २९ ॥
विश्वामित्रं च दायादं गाधिः कुशिकनन्दनः ।
यः प्राप ब्रह्मसमितं विश्वैर्ब्रह्मगुणैर्युतम् ॥ ३० ॥
ऋचीको जनयामास जमदग्निं तपोनिधिम् ।
सोऽपि पुत्रं ह्यजनयज्जमदग्निः सुदारुणम् ॥ ३१ ॥
सर्वविद्यां गतं श्रेष्ठं धनुर्वेदस्य पारगम् ।
रामं क्षत्रियहन्तारं प्रदीप्तमिव पावकम् ॥ ३२ ॥

विशेष करके तुम्हारे पिताके कुलमें जो शम परायण ब्रह्मज्ञ पुत्र उत्पन्न होके अपने सब कुलको ब्राह्मण धर्मावलम्बी करेगा; उसे मैंने पहिलेसे ही तपस्याके प्रभावसे जान लिया था। (२३-२६)

सत्यवती बोली, हे भगवन् आपने जो कभी भी मिथ्या वचन नहीं कहे, इसे मैं स्वीकार करती हूं; परन्तु पुत्र और पौत्रमें कुछ भी विशेष अनन्तर नहीं है; इससे आपकी कृपासे मेरा पौत्र क्षत्रियधर्म युक्त क्रूरकर्मोंका करनेवाला और मेरा पुत्र शमपरायण ब्रह्मनिष्ठ होवे। महात्मा ऋचीक मुनि बोले, हे वरवर्णिनि! पुत्र और पौत्रमें जो विशेष अनन्तर नहीं है, मैं इस वचनको स्वीकार करता हूं; इससे तुमने जैसी अभिलाषा की है, वैसा ही होगा।

श्रीकृष्ण बोले, महाराज! समय पूरा होने पर ऋचीकपत्नी सत्यवतीके जमदग्नि नाम एक पुत्र उत्पन्न हुआ, वह पुत्र तपस्यामें रत, इन्द्रिय जीतनेवाला और शान्त प्रकृतिवाला हुआ था, इधर कुशिकपुत्र महात्मा गाधिराजके भी ब्राह्मण लक्षण युक्त विश्वामित्र नाम एक पुत्र उत्पन्न हुआ, जो कुछ दिनोंके अनन्तर क्रमसे ब्रह्मत्व प्राप्त करके सम्पूर्ण पृथ्वीके बीच ब्रह्मर्षि कहके विख्यात हुए थे। (२७-३०)

तिसके अनन्तर ऋचीक-पुत्र तपस्वी जमदग्निके एक महातेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ। युवा अवस्था प्राप्त होनेपर वह अग्निके समान अत्यन्त तेजस्वी होकर धनुर्वेद आदि सब विद्या पढके क्षत्रिय नाशक राम नामसे सम्पूर्ण पृथ्वीके

तोषयित्वा महादेवं पर्वते गन्धमादने ।
अस्त्राणि वरयामास परशुं चातितेजसम् ॥ ३३ ॥
स तेनाकुण्ठधारेण ज्वलितानलवर्चसा ।
कुठारेणाप्रमेयेण लोकेष्वप्रतिमोऽभवत् ॥ ३४ ॥
एतस्मिन्नेव काले तु कृतवीर्यात्मजो बली ।
अर्जुनो नाम तेजस्वी क्षत्रियो हैहयाधिपः ॥ ३५ ॥
दत्तात्रेयप्रसादेन राजा बाहुसहस्रवान् ।
चक्रवर्ती महातेजा विप्राणामाश्वमेधिके ॥ ३६ ॥
ददौ स पृथिवीं सर्वां सप्तद्वीपां सपर्वताम् ।
स्वबाह्वस्त्रबलेनाजौ जित्वा परमधर्मवित् ॥ ३७ ॥
तृषितेन च कौन्तेय भिक्षितश्चित्रभानुना ।
सहस्रबाहुर्विक्रान्तः प्रादाद्भिक्षामथाग्नये ॥ ३८ ॥
ग्रामान्पुराणि राष्ट्राणि घोषांश्चैव तु वीर्यवान् ।
जज्वाल तस्य बाणाग्राच्चित्रभानुर्दिधक्षया ॥ ३९ ॥
स तस्य पुरुषेन्द्रस्य प्रभावेण महौजसः ।
ददाह कार्त्तवीर्यस्य शैलानथ वनस्पतीन् ॥ ४० ॥

बीच विख्यात हुए; उन्होंने गन्धमादन पर्वत पर जाके कठिन तपस्यासे महादेवको प्रसन्न करके तीक्ष्ण धारसे युक्त परशु, और दूसरे सब अस्त्र शस्त्रोंको प्राप्त किया, और जलती हुई अग्निके समान तीक्ष्ण धारवाले प्रचण्ड फरसेसे ही वह सब लोकोंके बीच अद्वितीय वीर योद्धा कह के विख्यात हुए। (३१-३४)

उस समय हैहय देशमें कृतवीर्यपुत्र सहस्रबाहु अर्जुन नाम एक महाबली राजा थे। उस धर्मात्मा महातेजस्वी अर्जुनने महर्षि दत्तात्रेयकी कृपासे निज अस्त्र और बाहु बलके प्रभावसे सब पृथ्वी जय करके चक्रवर्त्ती राज्य प्राप्त किया और अश्वमेध यज्ञमें पर्वत वन और सात द्वीपवाली पृथ्वी ब्राह्मणोंको दान की। किसी समयमें अग्नि देवने भूखे होकर तृण काष्ठ आदि वस्तुओंको भस्म करनेकी अभिलाषासे राजा सहस्रबाहु अर्जुनके समीप आके प्रार्थना की; उन्होंने अग्निदेवको वन पर्वतोंके सहित ग्राम नगर और राज्य समर्पण किया; उससे अग्नि भगवानने अत्यन्त प्रसन्न होकर महातेजस्वी पुरुषेन्द्र कार्त्तवीर्य अर्जुनके प्रभावसे उनके बाणके अग्र-

स शून्यमाश्रमं रम्यमापवस्य महात्मनः ।
ददाह पवनेनेद्धश्चित्रभानुः सहैहयः ॥ ४१ ॥
आपवस्तु ततो रोषाच्छशापार्जुनमच्युत ।
दग्धेऽऽश्रमे महाबाहो कार्तवीर्येण वीर्यवान् ॥ ४२ ॥
त्वया न वर्जितं यस्मान्ममेदं हि महद्वनम् ।
दग्धं तस्माद्रणे रामो बाहूंस्ते छेत्स्यतेऽर्जुन ॥ ४३ ॥
अर्जुनस्तु महातेजा बली नित्यं शमात्मकः ।
ब्रह्मण्यश्च शरण्यश्च दाता शूरश्च भारत ॥ ४४ ॥
नाचिन्तयत्तदा शापं तेन दत्तं महात्मना ।
तस्य पुत्रास्तु बलिनः शापेनासन्पितुर्वधे ॥ ४५ ॥
निमित्ताद्बलिप्ता वै नृशंसाश्चैव सर्वदा ।
जमदग्निधेन्वास्ते वत्समानीन्युर्भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
अज्ञातं कार्तवीर्येण हैहयेन्द्रेण धीमता ।
तन्निमित्तमभूद्युद्धं जामदग्नेर्महात्मना ॥ ४७ ॥
ततोऽर्जुनस्य बाहूंस्तांश्छित्वा रामो रुषान्वितः ।

भागसे प्रकट होके पर्वतोंके सहित सम्पूर्ण वनस्पतियोंको भस्म कर दिया। अग्निने हैहयराजकी सहायता पाके तथा वायुके प्रभावसे बढके निर्जन स्थानमें स्थित महातेजस्वी महात्मा महर्षि वशिष्ठ मुनिके मनोहर आश्रम पर्यन्तका भी भस्म कर दिया। (३५-४१)

महाराज! इसी प्रकार कार्त्तवीर्य अर्जुनके प्रभावसे निज आश्रमको भस्म हुआ देखकर महातेजस्वी वशिष्ठ मुनिने उसे शाप दिया। हे अर्जुन! तुमने जो मेरे इस वन और आश्रमको भस्म किया है; इस अपराधके कारण परशुराम तुम्हारे सब हाथोंको काटेंगे। महात्मा वशिष्ठ मुनिके शाप देनेपर भी महा पराक्रमी शमपरायण, ब्रह्मनिष्ठ, शरणागत पालक, दानी, महातेजस्वी बलवान सहस्रबाहु अर्जुनने उनके शापकी कुछ भी पर्वाह न की। परन्तु, राजा सहस्रबाहु अर्जुनके बलवान पुत्र ही उनके वधके कारण होगये, अर्थात् वे लोग शाप प्रभावसे अभिमानमें मत्त होकर दुष्टताके सहित परशुरामकी अनुपस्थितिमें महर्षि जमदग्निके होमकी गऊके बछडे हर ले गये। परन्तु यह कार्य हैहयराजाकी अजानकारीमें हुआ था, तौभी महात्मा जमदग्नि मुनिके सङ्ग उनका महाघोर विरोध उपस्थित

तं भ्रमन्तं ततो वत्सं जामदग्न्यः स्वमाश्रमम् ॥ ४८॥
प्रत्यानयत राजेन्द्र तेषामन्तःपुरात्प्रभुः ।
अर्जुनस्य सुतास्ते तु संभूयाबुद्धयस्तदा ॥ ४९ ॥
गत्वाऽऽश्रममसंबुद्धा जमदग्नेर्महात्मनः ।
अपातयन्त भल्लाग्रैः शिरः कायान्नराधिप ॥ ५० ॥
समित्कुशार्थं रामस्य निर्यातस्य यशस्विनः ।
ततः पितृवधामर्षाद्रामः परममन्युमान् ॥ ५१ ॥
निःक्षत्रियां प्रतिश्रुत्य महीं शस्त्रमगृह्णत ।
ततः स भृगुशार्दूलः कार्तवीर्यस्य वीर्यवान् ॥ ५२ ॥
विक्रम्य निजघानाशु पुत्रान्पौत्रांश्च सर्वशः ।
स हैहयसहस्राणि हत्वा परममन्युमान् ॥ ५३ ॥
चकार भार्गवो राजन्महीं शोणितकर्दमाम् ।
स तथाऽऽशु महातेजाः कृत्वा निःक्षत्रियां महीम् ॥५४॥
कृपया परयाऽऽविष्टो वनमेव जगाम ह ।
ततो वर्षसहस्रेषु समतीतेषु केषुचित् ॥ ५५ ॥

हुआ । (४२—४७)

उसी समय परशुराम युद्धमें प्रवृत्त होकर सहस्रबाहु अर्जुनकी सब भुजाओंको काटके राजभवनके भीतर स्थित अपनी गौवोंके बछडोंको लेकर अपनी कुटीपर लौट आये। तिसके अनन्तर किसी समय यशस्वी परशुराम कुश और काष्ठ लानेके निमित्त वनमें गये थे, उसी समयमें सहस्रबाहु अर्जुनके मूर्ख पुत्रोंने उनकी अवज्ञा की; और सबने एकत्रित होके महात्मा जमदग्नि ऋषिके आश्रममें गमन करके भालेसे उनका सिर काट डाला । भृगुकुलसिंह महातेजस्वी परशुराम पिताके वधसे अत्यन्त कुपित हुए और क्रोधसे व्याकुल होकर उन्होंने प्रतिज्ञा करके अस्त्र ग्रहण किया, कि "मैं इस सम्पूर्ण पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित करूंगा।" अनन्तर महात्मा परशुरामने अपना पराक्रम प्रकाशित करके युद्धमें कार्त्तवीर्य अर्जुनके पुत्र और पौत्रोंको शीघ्र ही मारडाला। महाराज! अनन्तर भृगुनन्दन परशुरामने क्रुद्ध होके युद्धमें हैहयवंशीय सहस्रों क्षत्रियोंका वध करके उनके रुधिरसे पृथ्वीको कीचडमय कर दिया। तिसके अनन्तर महात्मा परशुराम अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार पृथ्वीको क्षत्रियोंसे सूनी करके अत्यन्त कृपायुक्त

क्षेपं संप्राप्तवांस्तत्र प्रकृत्या कोपनः प्रभुः ।
विश्वामित्रस्य पौत्रस्तु रैभ्यपुत्रो महातपाः ॥ ५६ ॥
परावसुर्महाराज क्षिप्त्वाऽऽह जनसंसदि ।
ये ते ययातिपतने यज्ञे सन्तः समागताः ॥ ५७ ॥
प्रतर्दनप्रभृतयो राम किं क्षत्रिया न ते । ॥ ५८ ॥
मिथ्याप्रतिज्ञो राम त्वं कत्थसे जनसंसदि ।
भयात्क्षत्रियवीराणां पर्वतं समुपाश्रितः ॥ ५९ ॥
सा पुनः क्षत्रियशतैः पृथिवी सर्वतः स्तृता ।
परावसोर्वचः श्रुत्वा शस्त्रं जग्राह भार्गवः ॥ ६० ॥
ततो ये क्षत्रिया राजन् शतशस्तेन वर्जिताः ।
ते विवृद्धा महावीर्याः पृथिवीपतयोऽभवन् ॥ ६१ ॥
स पुनस्तान् जघानाशु बालानपि नराधिप ।
गर्भस्थैस्तु मही व्याप्ता पुनरेवाभवत्तदा ॥ ६२ ॥

होकर वनमें चले गये; वनमें तपस्या करते हुए परशुरामको कई हजार वर्ष बीत गये। तब विश्वामित्र-पौत्र रैभ्यके पुत्र महातपस्वी परावसु जनसमाजके बीच परशुरामकी निन्दा करके उनसे यह वचन बोले, हे राम! स्वर्गसे पतित हुए ययाति राजाके निमित्त जो यज्ञ हुआ था, और उस यज्ञमें जो प्रतर्दन आदि राजा आके एकत्रित थे, वे क्या क्षत्रिय नहीं हैं? तुमने जो जनसमाजके बीच पृथ्वीको क्षत्रियोंसे रहित करनेकी प्रतिज्ञा करके अपनी बड़ाई की थी; तुम्हारी वह सब प्रतिज्ञा मिथ्या हुई! क्यों कि इस समय पृथ्वी फिर अनगिनत क्षत्रियोंसे परिपूर्ण है; हम लोगोंने समझ लिया, कि तुम इन सब वीरोंके भयसे ही इस पर्वतपर आके निवास कर रहे हो। (४८-५९)

महाराज! क्रुद्ध स्वभाव वाले भगवान परशुरामने परावसुके ऐसे निन्दा युक्त वचनोंको सुनके अपना अपमान समझकर फिर शस्त्र ग्रहण किया। जो क्षत्रिय पहिली बारके युद्धमें किसी भांति जीवित बच गये थे, उन्हीं महाबलवान क्षत्रियोंसे ही क्षत्रिय वंश बढा, और धीरे धीरे वेही सब क्षत्रिय सन्तान सारी पृथ्वीके राजा होगये थे। भृगुनन्दन परशुरामने फिर शीघ्र ही युद्धभूमिमें उपस्थित होके बालकों तथा पुत्र पौत्रोंके सहित सब क्षत्रियोंको मारडाला। तिसके अनन्तर जो बालक गर्भमें थे, उन्ही सब क्षत्रियपुत्रोंसे

जातं जातं स गर्भं तु पुनरेव जघान ह ।
अरक्षंश्च सुतान् कांश्चित्तदा क्षत्रिययोषितः ॥ ६३ ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं कृत्वा निःक्षत्रियां प्रभुः ।
दक्षिणामश्वमेधान्ते कश्यपायाददत्ततः ॥ ६४ ॥
स क्षत्रियाणां शेषार्थं करेणोद्दिश्य कश्यपः ।
स्रुक्प्रग्रहवता राजंस्ततो वाक्यमथाब्रवीत् ॥ ६५ ॥
गच्छ तीरं समुद्रस्य दक्षिणस्य महामुने ।
न ते मद्विषये राम वस्तव्यमिह कर्हिचित् ॥ ६६ ॥
ततः शूर्पारकं देशं सागरस्तस्य निर्ममे ।
सहसा जामदग्न्यस्य सोपरान्तमहीतलम् ॥ ६७ ॥
कश्यपस्तां महाराज प्रतिगृह्य वसुन्धराम् ।
कृत्वा ब्राह्मणसंस्थां वै प्रविष्टः सुमहद्वनम् ॥ ६८ ॥
ततः शूद्राश्च वैश्याश्च यथा स्वैरप्रचारिणः ।
अवर्तन्त द्विजाग्र्याणां दारेषु भरतर्षभ ॥ ६९ ॥

पृथ्वी फिर परिपूरित होगई, परशुराम जीने इस वृत्तान्तको सुनते ही फिर आके उनका वध किया। महाराज! इसी भांति जब जब क्षत्रियोंके पुत्र गर्भसे उत्पन्न होके बढते थे, तब तब परशुराम वनसे आके उनका संहार करते थे; परन्तु उस समय बहुतसे क्षत्रियोंकी स्त्रियोंने अति कौशलके सहित अपने गर्भकी रक्षा की थी। इधर महातेजस्वी भगवान परशुरामने क्रमसे इक्कीस बार पृथ्वीको निःक्षत्रिय करके अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया और दक्षिणामें कश्यप मुनिको सारी पृथ्वी दान कर दी। (६०-६४)

महर्षि कश्यपने क्षत्रिय बालकोंकी रक्षा करनेकी अभिलाषासे हाथमें स्रुवा लेकर पृथ्वीका दान ग्रहण करके परशुरामसे कहा, हे राम! इस समय यह पृथ्वी मेरी हुई है; अब इस पृथ्वीपर वास करना तुम्हें उचित नहीं है; तुम शीघ्रही दक्षिण समुद्रके तीर गमन करो। इधर समुद्रने महात्मा परशुरामके निमित्त पृथ्वी सीमाको त्यागके अपने उदरमें शूर्पारक नाम स्थान बना रक्खा। महर्षि कश्यप परशुरामसे सब पृथ्वी दान लेकर ब्राह्मणोंको समर्पण करके निज स्थानमें चले गये (६५—६८)

महाराज! जब पृथ्वी राजासे रहित हो गई, तब बलवान पुरुष निर्बल पुरुषोंको दुःख देने लगे, शूद्र, वैश्य

अराजके जीवलोके दुर्बला बलवत्तरैः ।
पीड्यन्ते न हि विप्रेषु प्रभुत्वं कस्यचित्तदा ॥ ७० ॥
ततः कालेन पृथिवी पीड्यमाना दुरात्मभिः ।
विपर्ययेण तेनाशु प्रविवेश रसातलम् ॥ ७१ ॥
अरक्ष्यमाणा विधिवत्क्षत्रियैर्धर्मरक्षिभिः ।
तां दृष्ट्वा द्रवतीं तत्र संत्रासात्स महामनाः ॥ ७२ ॥
ऊरुणा धारयामास कश्यपः पृथिवीं ततः ।
धृता तेनोरुणा येन तेनोर्वीति मही स्मृता ॥ ७३ ॥
रक्षणार्थं समुद्दिश्य ययाचे पृथिवीं तदा ।
प्रसाद्य कश्यपं देवी वरयामास भूमिपम् ॥ ७४ ॥
पृथिव्युवाच— सन्ति ब्रह्मन्मया गुप्ताः स्त्रीषु क्षत्रियपुङ्गवाः ।
हैहयानां कुले जातास्ते संरक्षन्तु मां मुने ॥ ७५ ॥
अस्ति पौरवदायादो विदूरथसुतः प्रभो ।
ऋक्षैः संवर्धितो विप्र ऋक्षवत्यथ पर्वते ॥ ७६ ॥
तथाऽनुकम्पमानेन यज्वनाऽथामितौजसा ।
पराशरेण दायादः सौदासस्याभिरक्षितः ॥ ७७ ॥

आदिक इच्छानुसार द्विजोंकी स्त्रियोंसे अधर्म करने लगे । अधिक क्या कहा जावे, उस समय डाकुओंके उपद्रवसे किसी को भी अपने धन पर अधिकार तथा प्रभुता न रही । इसी भांति समय की गति विपरीत होनेपर पृथ्वी धर्मपालक क्षत्रियोंसे यथारीति न रक्षित होनेके कारण दुष्टोंके भारसे अत्यन्त दुःखित होके पातालमें जानेके निमित्त उद्यत हुई । महातपस्वी कश्यप मुनिने पृथ्वीको पातालमें गमन करनेके वास्ते उद्यत देखकर उसे उरु पर धारण किया, पृथ्वी कश्यप मुनिके उरु पर धारण होनेके कारण उर्वी नामसे विख्यात हुई । अनन्तर पृथ्वीने अपनी रक्षाके वास्ते महात्मा कश्यपको प्रसन्न करके धर्मात्मा राजाकी प्रार्थना की । (६९-७४)

पृथ्वी बोली, हे ब्रह्मन् ! कितनी ही स्त्रियोंसे क्षत्रिय सन्तान उत्पन्न होके मुझसे रक्षित होकर गुप्तरीतिसे निवास कर रहे हैं, मैं तुम्हारे समीप उनके कुल और गोत्रका वर्णन करती हूं आप सुनके मेरी रक्षाका उपाय करिये । कितने ही हैहयवंशीय धर्मात्मा क्षत्रिय जीवित हैं, पुरुवंशीय विदूरथ पुत्र ऋक्षवान पर्वत पर रीछोंसे रक्षित होकर

सर्वकर्माणि कुरुते शूद्रवत्तस्य स द्विजः ।
सर्वकर्मेत्यभिख्यातः स मां रक्षतु पार्थिवः ॥ ७८ ॥
शिबिपुत्रो महातेजाः गोपतिर्नाम नामतः ।
वने संवर्धितो गोभिः सोऽभिरक्षतु मां मुने ॥ ७९ ॥
प्रतर्दनस्य पुत्रस्तु वत्सो नाम महाबलः ।
वत्सैः संवर्धितो गोष्ठे स मां रक्षतु पार्थिवः ॥ ८० ॥
दधिवाहनपौत्रस्तु पुत्रो दिवि रथस्य च ।
गुप्तः स गौतमेनासीद्गङ्गाकूलेऽभिरक्षितः ॥ ८१ ॥
बृहद्रथो महातेजा भूरिभूतिपरिष्कृतः ।
गोलांगुलैर्महाभागो गृध्रकूटेऽभिरक्षितः ॥ ८२ ॥
मरुत्तस्यान्ववाये च रक्षिताः क्षत्रियात्मजाः ।
मरुत्पतिसमा वीर्ये समुद्रेणाभिरक्षिताः ॥ ८३ ॥
एते क्षत्रियदायादास्तत्र तत्र परिश्रुताः ।
व्योकारहेमकारादिजातिं नित्यं समाश्रिताः ॥ ८४ ॥

वहां पर निवास कर रहा है। सौदास राजपुत्र जिसकी पराशर मुनिने कृपा करके रक्षा की है; वह भी जीवित है; परन्तु उसके संस्कार आदि सब कर्म शूद्रजातिकी भांति किये गये हैं; इसीसे अब वह सर्व-कर्मा नामसे विख्यात है। शिबिपुत्र महातेजस्वी गोपति वनके बीच गौवोंके दूधसे प्रतिपालित होकर जीवित है। प्रतर्दनपुत्र महाबलवान वत्स गौवोंके समूहमें बछडोंके साथ मिलके गौवोंका दूध पीके प्राण धारण करता है। गङ्गाके किनारे गौतम-वंशीय किसी ब्राह्मणने कृपा करके दधिवाहन-पौत्र दिविरथके पुत्रकी रक्षा की है। ७५-८१

महर्षि भूरिभूतिने महातेजस्वी बृहद्रथका संस्कार आदि कर्म किया है, वह भाग्यवान बालक गृध्रकूट पर्वत पर गोलांगुलोंसे रक्षित होकर प्राण धारण करता है। इन्द्रके समान पराक्रमी कितने ही मरुत्तवंशी क्षत्रिय भी जीवित हैं; समुद्रने उन लोगोंकी रक्षा की है। हे महान् ! ये सब क्षत्रिय पुरुष आके दुष्ट डाकुओंसे मेरी रक्षा करें। हे विप्र ! मैंने जिन क्षत्रियोंका वृत्तान्त कहा है, वे सब प्राणभयसे ऊपर कहे हुए स्थानोंमें गुप्त रीतिसे निवास कर रहे हैं; इसके अतिरिक्त कितनेही शिल्पी और सोनारोंके घरोंमें वेष बदलके बहुतसे क्षत्रिय पुरुष विद्यमान हैं। यदि ये सब श्रेष्ठ कुलोंमें उत्पन्न हुए

यदि मामभिरक्षन्ति ततः स्थास्यामि निश्चला ।
एतेषां पितरश्चैव तथैव च पितामहाः ॥ ८५ ॥
मदर्थं निहता युद्धे रामेणाक्लिष्टकर्मणा ।
तेषामपचितिश्चैव मया कार्या महामुने ॥ ८६ ॥
न ह्यहं कामये नित्यमतिक्रान्तेन रक्षणम् ।
वर्तमानेन वर्तेयं तत्क्षिप्रं संविधीयताम् ॥ ८७ ॥
वासुदेव उवाच- ततः पृथिव्या निर्दिष्टांस्तान्समानीय कश्यपः ।
अभ्यषिञ्चन्महीपालान्क्षत्रियान्वीर्यसंमतान् ॥ ८८ ॥
तेषां पुत्राश्च पौत्राश्च येषां वंशाः प्रतिष्ठिताः ।
एवमेतत्पुरा वृत्तं यन्मां पृच्छसि पाण्डव ॥ ८९ ॥
वैशम्पायन उवाच- एवं ब्रुवंस्तं च यदुप्रवीरो युधिष्ठिरं धर्मभृतां वरिष्ठम् ।
रथेन तेनाशु ययौ महात्मा दिशः प्रकाशन्भगवानिवार्कः ॥९०॥ १७८८
इति श्रीमहाभारते० शान्ति० राजधर्मानुशासन० रामोपाख्याने एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥४९॥

क्षत्रिय पुरुष आके मेरी रक्षा करें, तो मैं अवश्य ही स्थिरताके सहित स्थित होऊंगी। देखिये, इन क्षत्रियोंके पिता, पितामह आदि सब पुरुष मेरे ही निमित्त कठिन कर्मोंके करनेवाले परशुरामके हाथसे मारे गये हैं; इससे मैं अवश्य ही उनके कुलमें उत्पन्न हुए तथा मरनेसे बचे हुए वीर धुरीण पुत्र पौत्रोंको अपना स्वामी स्वीकार करके उन मृत राजाओंके ऋणसे मुक्त होऊंगी। हे महर्षि ! अधिक क्या कहूं, मैंने जो कुछ वचन कहा यदि वैसा ही हो, तो मैं स्थिरताके सहित निवास कर सकती हूं; परन्तु मर्यादारहित दुष्ट पुरुषों तथा डाकुओंसे रक्षित होना किसी प्रकार भी स्वीकार नहीं करूंगी; इससे आप शीघ्रताके सहित उन राजपुरुषोंको, राज्यपद पर प्रतिष्ठित करनेका उपाय करिये। (८२-८७)

श्रीकृष्ण बोले, महाराज ! तिसके अनन्तर महात्मा कश्यप मुनिने पृथ्वीके वचनको सुनके उन बलवीर्यसे युक्त सब क्षत्रिय पुत्रोंको लाके राज्यपदपर अभिषिक्त किया। जिन राजाओंके पुत्र पौत्र आदि जीवित थे, इसी भांति उन लोगोंका वंश फिर राज्यपदपर प्रतिष्ठित हुआ। हे राजेन्द्र ! तुमने मुझसे जो कुछ प्रश्न किये मैंने वह सब वृत्तान्त यथारीतिसे तुम्हारे समीप वर्णन किया। श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, हे राजन् जनमेजय ! इसी भांति यदुकुल श्रेष्ठ महात्मा श्रीकृष्णचन्द्र धार्मिक पुरुषोंमें

वैशम्पायन उवाच- ततो रामस्य तत्कर्म श्रुत्वा राजा युधिष्ठिरः।
विस्मयं परमं गत्वा प्रत्युवाच जनार्दनम् ॥ १ ॥
अहो रामस्य वार्ष्णेय शक्रस्येव महात्मनः।
विक्रमो वसुधा येन क्रोधान्निःक्षत्रिया कृता ॥ २ ॥
गोभिः समुद्रेण तथा गोलांगूलर्क्षवानरैः।
गुप्ता रामभयोद्विग्ना क्षत्रियाणां कुलोद्वहाः ॥ ३ ॥
अहो धन्यो नृलोकोऽयं सभाग्याश्च नरा भुवि।
यत्र कर्मेदृशं धर्म्यं द्विजेन कृतमित्युत ॥ ४ ॥
तथा वृत्तौ कथां तात तावच्युतयुधिष्ठिरौ।
जग्मतुर्यत्र गाङ्गेयः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ ५ ॥
ततस्ते ददृशुर्भीष्मं शरप्रस्तरशायिनम्।

अग्रणी राजा युधिष्ठिरसे प्राचीन कथा कहते हुए सूर्य किरण समान प्रकाशमान रथसे सब दिशा प्रकाशित करने तथा वायुके समान वेगगामी रथपर चढे हुए गमन करने लगे। (८८-९०) [१७८८]

शान्तिपर्वमें उनचास अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पचास अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर भृगुकुल शिरोमणि परशुरामजीके अद्भुत कर्मोंको सुनके अत्यन्त ही विस्मित हुए और जनार्दन कृष्णसे बोले, हे वृष्णिनन्दन कृष्ण! मैं इन्द्रके समान अत्यन्त पराक्रमी परशुरामके पराक्रमको कथा सुनके अत्यन्त ही आश्चर्य युक्त हुआ हूं, क्यों कि उन्होंने क्रुद्ध होकर अकेले ही सब पृथ्वीको निःक्षत्रिय कर दिया था, यह भी अत्यन्त ही आश्चर्यका विषय है, कि मरनेसे बचे हुए क्षत्रिय सन्तानोंने परशुरामके भयसे व्याकुल होकर गऊ, गोलाङ्गूल, ऋक्ष, बन्दर और समुद्रके आसरेसे अपनी प्राणरक्षा की थी। अहो! इस जीव लोकको धन्य है और इस पृथ्वीके मनुष्योंको भी धन्य है, क्यों कि ब्राह्मणोंमें अग्रगण्य महर्षि कश्यपने इस प्रकार धर्म कार्य किया है, अर्थात् कृपा करके राजपुत्रोंकी रक्षा करके पृथ्वीको धर्मपूर्वक रक्षित किया है। महाराज! श्रीकृष्ण और राजा युधिष्ठिर इसी भांति वार्त्तालाप करते हुए चलते चलते सात्यकि आदि वीरोंके सहित उन स्थानपर जा पहुंचे, जहां गङ्गानन्दन भीष्म शरशय्यापर शयन कर रहे थे। उन लोगोंने वहांपर पहुंचके देखा, कि बहती हुई नदीके किनारे परम पवित्र स्थानमें शरशय्या-

स्वरश्मिजालसंवीतं सायं सूर्यसमप्रभम् ॥ ६ ॥
उपास्यमानं मुनिभिर्देवैरिव शतक्रतुम् ।
देशे परमधर्मिष्ठे नदीमोघवतीमनु ॥ ७ ॥
दूरादेव तमालोक्य कृष्णो राजा च धर्मजः ।
चत्वारः पाण्डवाश्चैव ते च शारद्वतादयः ॥ ८ ॥
अवस्कन्द्याथ वाहेभ्यः संयम्य प्रचलं मनः ।
एकीकृत्येन्द्रियग्राममुपतस्थुर्महामुनीन् ॥ ९ ॥
अभिवाद्य तु गोविन्दः सात्यकिस्ते च पार्थिवाः ।
व्यासादीनृषिमुख्यांश्च गाङ्गेयमुपतस्थिरे ॥ १० ॥
ततो वृद्धं तथा दृष्ट्वा गाङ्गेयं यदुकौरवाः ।
परिवार्य ततः सर्वे निषेदुः पुरुषर्षभाः ॥ ११ ॥
ततो निशाम्य गाङ्गेयं शाम्यमानमिवानलम् ।
किञ्चिद्दीनमना भीष्ममिति होवाच केशवः ॥ १२ ॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रसन्नानि यथा पुरा ।
कच्चिन्न व्याकुला चैव बुद्धिस्ते वदतां वर ॥ १३ ॥
शराभिघातदुःखार्त्ते कच्चिद्गात्रं न दूयते ।
मानसादपि दुःखाद्धि शारीरं बलवत्तरम् ॥ १४ ॥

पर स्थित महात्मा भीष्म मानो अपने तेजसे सन्ध्या कालके सूर्य समान प्रकाशित होरहे हैं। (१-६)

अनन्तर श्रीकृष्ण भगवान, कृपाचार्य और भीष्म-अर्जुन आदि पुरुषश्रेष्ठ वीर भगवान इन्द्रकी उपासना करनेवाले देवतोंकी भांति मुनियोंसे पूजित भीष्मको दूरसे ही देखके सब कोई रथसे उतरे, और सब इन्द्रियों तथा चञ्चल चित्तको संयम करके पहिले मुख्य मुख्य मुनियों तथा व्यास आदिक ऋषियोंको प्रणाम करके फिर गङ्गानन्दन भीष्म की उपासना करनेमें प्रवृत्त हुए। तिसके अनन्तर पुरुषश्रेष्ठ यादव और कौरव लोग महातपस्वी गङ्गानन्दन भीष्मका दर्शन करके उनके चारों ओर बैठ गये। (७—११)

तब यदुनन्दन कृष्ण शान्त होती हुई अग्निकी भांति भीष्मको क्रमशः शाम्य भावसे देखकर किञ्चित् दीन चित्तसे बोले,—हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ! इस समय आपका चित्त पहिलेकी भांति प्रसन्न तो है? आपकी बुद्धि व्याकुल तो नहीं हुई है? बाणोंके चोटकी पीडासे

वरदानात्पितुः कामं छन्दमृत्युरसि प्रभो।
शान्तनोर्धर्मनित्यस्य न त्वेतन्मम कारणम् ॥ १५ ॥
सुसूक्ष्मोऽपि तु देहे वै शल्यो जनयते रुजम्।
किं पुनः शरसङ्घातैश्चितस्य तव पार्थिव ॥ १६ ॥
कामं नैतत्तवाख्येयं प्राणिनां प्रभवाप्ययौ।
उपदेष्टुं भवाञ्शक्तो देवानामपि भारत ॥ १७ ॥
यच्च भूतं भविष्यं च भवच्च पुरुषर्षभ।
सर्वं तज्ज्ञानवृद्धस्य तव भीष्म प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥
संहारश्चैव भूतानां धर्मस्य च फलोदयः।
विदितस्ते महाप्राज्ञ त्वं हि धर्ममयो निधिः ॥ १९ ॥
त्वां हि राज्ये स्थितं स्फीते समग्राङ्गमरोगिणम्।
स्त्रीसहस्रैः परिवृतं पश्यामीवोर्ध्वरेतसम् ॥ २० ॥

आपका शरीर पीडित तो नहीं है। क्योंकि मानसिक दुःखोंसे भी शारीरक क्लेश प्रबल होते हैं। मैं जानता हूं, कि आप निज पिता महाराज शन्तनुके वर प्रभावसे इच्छानुयायी मृत्यु प्राप्त करनेमें समर्थ हुए हैं। अधिक क्या कहूं आपने जिस प्रकार पिताको सन्तुष्ट करके इच्छामरण वर प्राप्त किया है; वैसा पितृसन्तोषरूपी कारण हम लोगोंमें विद्यमान नहीं है। तथापि जब कि मनुष्य शरीरमें एक कांटेके गड जानेसे भी शरीरको क्लेश होता है तब अनगिनत बाणोंकी चोटसे जो आपके शरीरमें पीडा होगी इसमें क्या आश्चर्य है! परन्तु इसे मैं अवश्य ही स्वीकार करूंगा, कि ऊपर कहे हुए सुख दुःख साधारण पुरुषोंका ही आक्रमण कर सकते हैं; आप ऐसे पुरुषोंको क्लेश आदिक कदापि मोहित तथा दुःखित नहीं कर सकते; क्यों कि आप प्राणियोंकी उत्पत्ति और लय आदि सम्पूर्ण तत्वोंका देवताओंको भी उपदेश करनेमें समर्थ है। (१२—१७)

हे भरतर्षभ! आप इस पृथ्वीके बीच सम्पूर्ण ज्ञानी पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं। अधिक क्या कहूं, भूत, वर्त्तमान और भविष्य इन तीनों कालोंके जो कुछ जानने योग्य विषय हैं, आप उन सब वृत्तान्तोंको जानते हैं। हे महाबुद्धिमान! धर्मके फलोंकी प्राप्ति और प्राणियोंका संहार यह सब आपको विदित है; क्यों कि आप धर्मात्मा और धर्मके आधार स्वरूप हैं। हे कुरुश्रेष्ठ! दार-परित्याग रूपी प्रतिज्ञाके पहिले

ऋते शान्तनवाद्भीष्मात्त्रिषु लोकेषु पार्थिव।
सत्यधर्मान्महावीर्याच्छूराद्धर्मैकतत्परात् ॥ २१ ॥
मृत्युमावार्य तपसा शरसंस्तरशायिनः।
निसर्गप्रभवं किञ्चिन्न च तातानुशुश्रुम ॥ २२ ॥
सत्ये तपसि दाने च यज्ञाधिकरणे तथा।
धनुर्वेदे च वेदे च नीत्यां चैवानुरक्षणे ॥ २३ ॥
अनृशंसं शुचिं दान्तं सर्वभूतहिते रतम्।
महारथं त्वत्सदृशं न कञ्चिदनुशुश्रुम ॥ २४ ॥
त्वं हि देवान्सगन्धर्वानसुरान् यक्षराक्षसान्।
शक्तस्त्वेकरथेनैव विजेतुं नात्र संशयः ॥ २५ ॥
स त्वं भीष्म महाबाहो वसूनां वासवोपमः।
नित्यं विप्रैः समाख्यातो नवमोऽनवमो गुणैः ॥ २६ ॥
अहं च त्वाऽभिजानामि यस्त्वं पुरुषसत्तम।
त्रिदशेष्वपि विख्यातस्त्वं शक्त्या पुरुषोत्तमः ॥२७॥

भी जब कि आप वैसे समृद्धियुक्त राज्यके बीच सहस्रों स्त्रियोंके बीच घिरे रहते थे, उस समय भी मैंने आपको रोगरहित शरीरसे युक्तऊर्ध्वरेता ब्रह्मचारी पुरुषके समान देखता था। धर्मपरायण सत्यनिष्ठ महाबली पराक्रमी शान्तनुपुत्र भीष्मके अतिरिक्त तीनों लोकके बीच दूसरे ऐसे किसी प्राणीका प्रभाव नहीं सुना गया,जो शरशय्यापर शयन करके तपके प्रभावसे मृत्युको इच्छानुसार निवारण कर रखे। (१८-२२)

भरतकुल शिरोमणि! सत्य,तपस्या, दान, युद्ध, यज्ञ, धनुर्वेद, वेद और शरणागतको पालन करनेवाला आपके समान दूसरा कोई भी पुरुष नहीं है; और अनृशंसता, पवित्र स्वभाव, इन्द्रिय-संयम, सम्पूर्ण प्राणियोंके हितमें रत रहनेवाला और युद्धमें अद्वितीय रथी ही आपके समान इस पृथ्वीपर दूसरा कौन है? आप जो अकेले ही युद्धमें देवता, गन्धर्व, असुर, यक्ष और राक्षसोंको पराजित करनेमें समर्थ हैं, उसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। वसु अंशसे जन्म ग्रहण करनेसे यद्यपि ब्राह्मण लोग आपकी गणना नवम वसुमें करते हैं, तौभी निज गुणोंके प्रभावसे आप सब वसुओंसे भी श्रेष्ठ होकर इन्द्रकी समान ताको पहुंचे हैं। हे पुरुष सत्तम! आप निज पराक्रमके प्रभावसे देवलोकमें भी विख्यात हुए हैं; आपके ज्ञान और

मनुष्येषु मनुष्येन्द्र न दृष्टो न च मे श्रुतः ।
भवतो वा गुणैर्युक्तः पृथिव्यां पुरुषः क्वचित् ॥ २८ ॥
त्वं हि सर्वगुणै राजन्देवानप्यतिरिच्यसे ।
तपसा हि भवाञ्शक्तः स्रष्टुं लोकांश्चराचरान् ॥ २९ ॥
किं पुनश्चात्मनो लोकानुत्तमानुत्तमैर्गुणैः ।
तदस्य तप्यमानस्य ज्ञातीनां संक्षयेन वै ॥ ३० ॥
ज्येष्ठस्य पाण्डुपुत्रस्य शोकं भीष्म व्यपानुद ।
ये हि धर्माः समाख्याता चातुर्वर्ण्यस्य भारत ॥३१॥
चातुराश्रम्यसंयुक्ताः सर्वे ते विदितास्तव ।
चातुर्विद्ये च ये प्रोक्ताश्चातुर्होत्रे च भारत ॥ ३२ ॥
योगे सांख्ये च नियता ये च धर्माः सनातनाः ।
चातुर्वर्ण्यस्य यश्चोक्तो धर्मो न स्म विरुध्यते ॥ ३३ ॥
सेव्यमानः सवैयाख्यो गाङ्गेय विदितस्तव ।
प्रतिलोमप्रसूतानां वर्णानां चैव यः स्मृतः ॥ ३४ ॥
देशजातिकुलानां च जानीषे धर्मलक्षणम् ।
वेदोक्तो यश्च शिष्टोक्तः सदैव विदितस्तव ॥ ३५ ॥

सामर्थ्यके विषय आदि मुझसे कुछ भी छिपे हुए नहीं हैं। (२३–२७)

हे पुरुषेन्द्र ! इस पृथ्वीपर आपके समान गुणशाली कोई पुरुष विद्यमान है, ऐसा न कहीं देखा गया और न कहींपर सुननेमें ही आया। हे पुरुषोत्तम ! आप सब गुणोंमें देवताओंसे भी श्रेष्ठ हुए हैं और निज तपस्याके प्रभावसे चराचर प्राणियोंकी नयी सृष्टि भी करनेमें समर्थ हैं। ऐसे समयमें आप जो उत्तम गुणोंके प्रभावसे अपने गमन करने योग्य उत्तम लोकको प्राप्त करेंगे; उसमें सन्देह ही क्या है। इससे आप इस समय निज उपदेशसे स्वजन-नाश शोकसे व्याकुल पाण्डवोंमें जेठे महाराज युधिष्ठिरका शोक दूर करिये। क्यों कि चारों वर्ण, चारों आश्रम, चारों विद्या, चातुर्होत्र, वेद, सांख्य, योग और शिष्टाचार आदि जो कुछ धर्म हैं, वे सब आपको विदित हैं; अधिक क्या कहा जावे, जो चातुर्वर्णोंके विरुद्ध नहीं हैं, उन सब धर्मके गूढ तात्पर्य अर्थोंको व्याख्याके सहित आप जानते हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिलोमजात वर्णधर्म, जातिधर्म, देशधर्म और कुलधर्म आदि जो सब लक्षण वेदशास्त्रोंमें वर्णित

इतिहासपुराणार्थाः कात्स्न्येन विदितास्तव ।
धर्मशास्त्रं च सकलं नित्यं मनसि ते स्थितम् ॥ ३६ ॥
ये च केचन लोकेऽस्मिन्नर्थाः संशयकारकाः ।
तेषां छेत्ता नास्ति लोके त्वदन्यः पुरुषर्षभ ॥ ३७ ॥
स पाण्डवेयस्य मनः समुत्थितं नरेन्द्र शोकं व्यपकर्ष मेधया ।
भवद्विधा ह्युत्तमबुद्धिविस्तरा विमुह्यमानस्य नरस्य शान्तये ॥३८॥१८२६

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ५०

वैशम्पायन उवाच- श्रुत्वा तु वचनं भीष्मो वासुदेवस्य धीमतः।
किञ्चिदुन्नाम्य वदनं प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- नमस्ते भगवन्कृष्ण लोकानां प्रभवाप्यय ।
त्वं हि कर्ता हृषीकेश संहर्ता चापराजितः ॥ २ ॥
विश्वकर्मन्नमस्तेऽस्तु विश्वात्मन्विश्वसंभव ।
अपवर्गस्थभूतानां पञ्चानां परतः स्थित ॥ ३ ॥

हैं, वे सब भी आपसे अविदित नहीं हैं। (२८—३५)

हे पुरुषश्रेष्ठ! अर्थ सहित निखिल धर्मशास्त्र और पुराण आदिकोंके सब तात्पर्य आपके मनमें विशेष करके इस संसारके बीच जिन विषयोंके अर्थोंमें संशय हैं; उसे छेदन करनेवाला आपके अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष होसक्ता है? इससे आप अपने ज्ञानप्रभावसे धर्मराज युधिष्ठिरके मनमें उत्पन्न हुए शोकको दूर कीजिये, क्यों कि आपके समान ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका जन्म केवल शोकादिकोंसे मोहित मनुष्योंके चित्तमें शान्ति स्थापित करानेके वास्ते होता है। (३५—३८) [१८२६]

शान्तिपर्वमें पचास अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकावन अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज! कुरुकुल शिरोमणि भीष्म बुद्धिमान कृष्णके वचनको सुनके कुछ वदन झुकाके हाथ जोडके उनसे बोले, हे भगवन्! तुम ही इस जगत्की उत्पत्ति और प्रलय करनेवाले हो; इससे तुम्हें नमस्कार है। हे कृष्ण! हे विश्वकर्मन्! तुम्हीं इस जगत्की आत्मा हो, तुमसे ही यह संसार उत्पन्न हुआ है। हे हृषीकेश! तुम सम्पूर्ण लोगोंमें अजेय हो, तुम्ही सृष्टिकर्त्ता और संहर्त्ता हो। तुम ही अपवर्ग अर्थात् नित्य मुक्त स्वरूप हो, तुम पञ्च महाभूतों और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि पांचों गुणोंसे पृथक् हो। तुम स्वर्ग, मर्त्य लोक

नमस्ते त्रिषु लोकेषु नमस्ते परतस्त्रिषु।
योगीश्वर नमस्तेऽस्तु त्वं हि सर्वपरायणः ॥ ४ ॥
मत्संश्रितं यदात्थ त्वं वचः पुरुषसत्तम।
तेन पश्यामि ते दिव्यान्भावान् हि त्रिषु वर्त्मसु ॥५॥
तच्च पश्यामि गोविन्द यत्ते रूपं सनातनम्।
सप्तमार्गा निरुद्धास्ते वायोरमिततेजसः ॥ ६ ॥
दिवं ते शिरसा व्याप्तं पद्भ्यां देवी वसुन्धरा।
दिशो भुजा रविश्चक्षुर्वीर्ये शुक्रः प्रतिष्ठितः ॥ ७ ॥
अतसीपुष्पसङ्काशं पीतवाससमच्युतम्।
वपुर्ह्यनुमिमीमस्ते मेघस्येव सविद्युतः ॥ ८ ॥
त्वत्प्रपन्नाय भक्ताय गतिमिष्टां जिगीषवे।
यच्छ्रेयः पुण्डरीकाक्ष तद्ध्यायस्व सुरोत्तम ॥ ९ ॥
वासुदेव उवाच—यतः खलु परा भक्तिर्मयि ते पुरुषर्षभ।
ततो मया वपुर्दिव्यं त्वयि राजन्प्रदर्शितम् ॥ १० ॥

और पाताल इन तीनों लोकों और तीनों कालोंमें विद्यमान हो; तथापि इनसे भिन्न समझे जाते हो! इससे तुम्हें नमस्कार है। हे योगीश्वर! तुम सबके आश्रय स्वरूप हो, इसे तुम्हें प्रणाम है। (१—४)

हे पुरुषोत्तम! तुमने प्रसन्न होकर मेरे गुणोंका वर्णन किया है, उससे मुझे दिव्य-नेत्र प्राप्त हुआ है; जिसके प्रभावसे मैं त्रिलोक स्थित दिव्य भाव और आपके सनातन रूपका दर्शन करनेमें समर्थ हुआ हूं! तुम अत्यन्त तेजस्वी वायुरूपसे सप्तछिद्रोंको निरोध करके सबके हृदयमें स्थित हो। तुम्हारे शिरसे आकाश और चरणसे पृथ्वी व्याप्त है, दिशा तुम्हारी भुजा, सूर्य नेत्र और इन्द्र तुम्हारे पराक्रमके प्रभावसे प्रतिष्ठित हैं। हे अच्युत! तुम्हारा शरीर अतसीपुष्पके समान है, वह पीतवस्त्रोंसे युक्त होकर इस प्रकार शोभित होरहा है, जैसे आकाशमण्डलमें बिजलीसे युक्त बादलोंकी शोभा होती है। हे देवोंमें श्रेष्ठ! हे पुण्डरीकाक्ष! मैं तुम्हारा शरणागत भक्त हूं, मैं उत्तम गति पानेकी अभिलाषासे तुमसे प्रार्थना कर रहा हूं; इससे जिस प्रकार मेरा कल्याण होवे, आप उसीका विधान करिये। (५—९)

श्रीकृष्णचन्द्र बोले, हे कुरुनाथ! तुम जो कपटरहित होकर मेरी भक्तिमें

न ह्यभक्ताय राजेन्द्र भक्तायानृजवेन च।
दर्शयाम्यहमात्मानं न चाशान्ताय भारत ॥ ११ ॥
भवांस्तु मम भक्तश्च नित्यं चार्जवमास्थितः।
दमे तपसि सत्ये च दाने च निरतः शुचिः ॥ १२ ॥
अर्हस्त्वं भीष्म मां द्रष्टुं तपसा स्वेन पार्थिव।
तव ह्युपस्थिता लोका येभ्यो नावर्तते पुनः ॥ १३ ॥
पञ्चाशतं षट् च कुरुप्रवीर शेषं दिनानां तव जीवितस्य।
ततः शुभैः कर्मफलोदयैस्त्वं समेष्यसे भीष्म विमुच्य देहम्॥१४॥
एते हि देवा वसवो विमानान्यास्थाय सर्वे ज्वलिताग्निकल्पाः।
अन्तर्हितास्त्वां प्रतिपालयन्ति काष्ठां प्रपद्यन्तमुदक्पतङ्गम्॥ १५॥
व्यावर्तमाने भगवत्युदीचीं सूर्ये जगत्कालवशं प्रपन्ने।
गन्तासि लोकान्पुरुषप्रवीर नावर्तते यानुपलभ्य विद्वान् ॥ १६ ॥
अमुं च लोकं त्वयि भीष्म याते ज्ञानानि नंक्ष्यन्त्यखिलेन वीर।

तत्पर रहते हो, उसी कारण तुमने मेरी दिव्य मूर्त्तिका दर्शन किया है। भक्तिरहित, कपटी भक्त और शान्ति रहित पुरुष मेरी दिव्य मूर्तिका दर्शन करनेमें समर्थ नहीं होसकते। परन्तु तुम मेरे अत्यन्तही भक्त और विनय सम्पन्न हो। विशेष करके तुम तपस्या, दया और दान आदि कर्मोंमें सदा सर्वदा रत रहते हो; तुम्हारा स्वभाव अत्यन्त निर्मल है; तुम निज तपस्याके प्रभावसे मेरी दिव्य मूर्ति दर्शनके योग्य पात्र हो। हे भीष्म! जिस स्थानमें गमन करनेसे जीवोंकी पुनरावृत्ति नहीं होती, तुम्हें उसी स्थानमें मैं भेजूंगा, परन्तु इस समय अभी तीस दिवस तुम्हारे जीवनका समय बाकी है, कार्योंको कर सकते हैं, आप तीसही दिनोंमें उससे अधिक कर्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करके उसे पूर्ण करनेमें समर्थ होंगे। इसके अनन्तर शरीर त्यागके अपने अभिलषित स्थानमें गमन कीजियेगा। यह देखिये, जलती हुई अग्निके समान वसु और देवता लोग विमानोंपर चढके अलक्षित भावसे सूर्यके उत्तरायण कालकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। (१०—१५)

हे कुरुश्रेष्ठ! तत्वज्ञानी पुरुष जिस लोकमें जाके फिर मर्त्यलोकमें नहीं आते; भगवान सूर्यके उत्तरायण होनेपर तुम शरीर त्यागनेके उपरान्त उस ही स्थानमें गमन करोगे। हे भीष्म! जब तुम इस लोकसे गमन करोगे, तब उस समय ज्ञान लुप्त प्राय होजायगा, उसी कारणसे

अतस्तु सर्वे त्वयि सन्निकर्षं समागता धर्मविवेचनाय ॥ १७ ॥
तज्ज्ञातिशोकोपहतश्रुताय सत्याभिसन्धाय युधिष्ठिराय।
प्रब्रूहि धर्मार्थसमाधियुक्तं सत्यं वचोऽस्यापनुदाशु शोकम् ॥१८॥[१८४४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

वैशम्पायन उवाच– ततः कृष्णस्य तद्वाक्यं धर्मार्थसहितं हितम्।
श्रुत्वा शान्तनवो भीष्मः प्रत्युवाच कृताञ्जलिः ॥१॥
लोकनाथ महाबाहो शिव नारायणाच्युत।
तव वाक्यमुपश्रुत्य हर्षेणास्मि परिप्लुतः ॥ २ ॥
किं चाहमभिधास्यामि वाक्यं ते तव सन्निधौ।
यदा वाचोगतं सर्वं तव वाचि समाहितम् ॥ ३ ॥
यच्च किञ्चित्क्वचिल्लोके कर्तव्यं क्रियते च यत्।
त्वत्तस्तन्निःसृतं देव लोके बुद्धिमतो हि ते ॥ ४ ॥
कथयेद्देवलोकं यो देवराजसमीपतः।
धर्मकामार्थमोक्षाणां सोऽर्थं ब्रूयात्तवाग्रतः ॥ ५ ॥

ये सब कोई धर्म-जिज्ञासु होकर तुम्हारे समीप आके उपस्थित हुए हैं। उससे स्वजन-नाशरूपी शोकसे दुःखित सत्य-वादी युधिष्ठिरको आप धर्म, अर्थ और समाधि, तथा योगयुक्त सत्य वचनोंका उपदेश करके इनका शोक दूर करिये। (१६—१८) [१८४४]

शान्तिपर्वमें एकावन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बावन अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर शान्तनुपुत्र भीष्मने श्रीकृष्ण चन्द्रके धर्म, अर्थ-युक्त लोक हितकर वचनको सुनके हाथ जोडके उन्हें उत्तर दिया। हे जगन्नाथ! तुम साक्षात् शिव स्वरूप अव्यय पुरुष नारायण हो; तुम्हारे वचनोंको सुनके मेरा हृदय आनन्दसे पुलकित होरहा है। जब कि हर एक विषयोंमें कहने योग्य जो कुछ वचन हैं, वे सब पहिलेसे ही तुम्हारे वचनरूपी वेदोंमें विद्यमान हैं; तब मैं तुम्हारे सम्मुख किस कथाका उपदेश करनेमें समर्थ होसकता हूं, इस लोक और परलोकमें कल्याणकी अभिलाषा करके बुद्धिमान पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं, और इस संसारमें जो कुछ करने योग्य कार्य है, वह सब तुमसे ही प्रकट हुए हैं। इससे जो पुरुष देवराज इन्द्रके समीप देवलोकका भी वृत्तान्त कहनेमें

शराभितापाद्व्यथितं मनो मे मधुसूदन ।
गात्राणि चावसीदन्ति न च बुद्धिः प्रसीदति ॥ ६ ॥
न च मे प्रतिभा काचिदस्ति किंचित्प्रभाषितुम् ।
पीड्यमानस्य गोविन्द विषानलसमैः शरैः ॥ ७ ॥
बलं मे प्रजहातीव प्राणाः संत्वरयन्ति च ।
मर्माणि परितप्यन्ति भ्रान्तचित्तस्तथा ह्यहम् ॥ ८ ॥
दौर्बल्यात्सज्जते वाङ् मे स कथं वक्तुमुत्सहे ।
साधु मे त्वं प्रसीदस्व दाशार्ह कुलवर्धन ॥ ९ ॥
तत्क्षमस्व महाबाहो न ब्रुयां किञ्चिदच्युत ।
त्वत्सन्निधौ च सीदेद्धि वाचस्पतिरपि ब्रुवन् ॥ १० ॥
न दिशः संप्रजानामि नाकाशं न च मेदिनीम् ।
केवलं तव वीर्येण तिष्ठामि मधुसूदन ॥ ११ ॥
स्वयमेव भवांस्तस्माद्धर्मराजस्य यद्धितम् ।

समर्थ है; वही पुरुष तुम्हारे सम्मुख धर्म, अर्थ, काम और मोक्षके यथार्थ वृत्तान्तको कह सकेगा। (१-५)

हे मधुसूदन ! मेरा शरीर बाणोंकी चोटसे अत्यन्त पीडित है, उससे मेरा चित्त व्याकुल होरहा है, मेरा सम्पूर्ण शरीर शिथिल होरहा है, मेरी बुद्धि चञ्चल हो रही है। हे गोविन्द ! विष तथा वज्रके समान बाणोंकी चोटसे मेरे सब अङ्ग अत्यन्त ही पीडित होरहे हैं, इसी कारण मेरी बुद्धि इस प्रकार प्रतिभा-रहित होरही है, कि वचन कहनेमें प्रवृत्ति नहीं होती है। मेरा शरीर धीरे धीरे बलहीन हुआ जाता है, प्राण शरीरसे बाहर हुआ चाहता है और मेरे मर्मस्थल इस प्रकार पीडित होरहे हैं, कि उससे वारम्वार मेरा चित्त भ्रमित होता है। जब कि निर्बलताके कारण मेरे मुखसे वचन भी बार बार नहीं बाहर होते हैं; तब मैं धर्म उपदेश करनेका किस प्रकार उत्साह कर सकता हूं ? हे दाशार्ह कुलवर्द्धन कृष्ण ! मैं तुमसे क्षमा प्रार्थना करता हूं, आप कृपा करके मेरे ऊपर प्रसन्न हूजिये, मैं कुछ भी नहीं कह सकूंगा ? विशेष करके तुम्हारे समीप उपदेश करनेमें बृहस्पति भी अवसन्न हो सकते हैं। (६-१०)

हे मधुसूदन ! मेरा चित्त इस प्रकार भ्रान्त हो रहा है, कि आकाश, पृथ्वी और दिशा भी मुझे विशेष रूपसे नहीं मालूम होती है; केवल तुम्हारे तेजके

तद्ब्रवीत्वाशु सर्वेषामागमानां त्वमागमः ॥ १२ ॥
कथं त्वयि स्थिते कृष्णे शाश्वते लोककर्तरि ।
प्रब्रूयान्मद्विधः कश्चिद्गुरौ शिष्य इव स्थिते ॥ १३ ॥
वासुदेव उवाच– उपपन्नमिदं वाक्यं कौरवाणां धुरन्धरे ।
महावीर्ये महासत्वे स्थिरे सर्वार्थदर्शिनि ॥ १४ ॥
यच्च मामात्थ गाङ्गेय बाणघातरुजं प्रति ।
गृहाणात्र वरं भीष्म मत्प्रसादकृतं प्रभो ॥ १५ ॥
न ते ग्लानिर्न ते मूर्छा न दाहो न च ते रुजा ।
प्रभविष्यन्ति गाङ्गेय क्षुत्पिपासे न चाप्युत ॥ १६ ॥
ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ ।
न च ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धेः प्रादुर्भविष्यति ॥ १७ ॥
सत्वस्थं च मनो नित्यं तव भीष्म भविष्यति ।
रजस्तमोभ्यां रहितं घनैर्मुक्त इवोडुराट् ॥ १८ ॥

प्रभावसे जीवन धारण कर रहा हूं, इससे धर्मराज युधिष्ठिरका जिसमें हित हो; तुम स्वयं ही उस विषयका उपदेश करो; क्योंकि तुम वेदशास्त्रोंके नियन्ता हो। हे कृष्ण! सब लोकोंके कर्त्ता नित्यपुरुषस्वरूप तुम निकटमें ही उपस्थित हो, ऐसी अवस्थामें मेरे समान पुरुष किस प्रकार धर्मका वक्ता होसक्ता है? ऐसा होनेसे जैसे गुरुके उपस्थित रहते कोई शिष्य उपदेश बने, मेरा उपदेश करना भी तुम्हारे समीप वैसा ही समझा जावेगा। श्रीकृष्ण चन्द्र बोले, हे गङ्गानन्दन भीष्म! तुमने जो कुछ वचन कहा, वह सब वचन सर्वार्थदर्शी, स्थिर-प्रतिज्ञ, महा-पराक्रमशाली कौरव-शिरोमणि महात्मा भीष्मके योग्य ही है। तुमने जो बाणोंकी पीडाका वर्णन किया, उसके वास्ते मैं प्रसन्न होकर तुम्हें वरदान देता हूं, अबसे शारीरक पीडा, तथा दाह, मूर्च्छा आदि किसी प्रकारकी पीडा और भूख, प्यास आदिके क्लेश तुम्हारे चित्तको कदापि दुःखित न कर सकेंगे। (११—१६)

हे पापरहित! इस समय तुम्हारे ज्ञानकी प्रतिभा पूरी रीतिसे प्रकाशित होगी; तुम्हारी बुद्धि अबसे किसी विषयमें भी भ्रमित न होगी। आजसे तुम्हारा चित्त रज और तमोगुणसे रहित होकर केवल सतोगुणमें इस प्रकार स्थित होगा, जैसे चन्द्रमा मेघमण्डलसे मुक्त हो निर्मल ज्योतिसे युक्त होकर आकाशमें

यद्यच्च धर्मसंयुक्तमर्थयुक्तमथापि च ।
चिन्तयिष्यसि तत्राग्र्या बुद्धिस्तव भविष्यति ॥१९॥
इमं च राजशार्दूल भूतग्रामं चतुर्विधम् ।
चक्षुर्दिव्यं समाश्रित्य द्रक्ष्यस्यमितविक्रम ॥ २० ॥
संसरन्तं प्रजाजालं संयुक्तो ज्ञानचक्षुषा ।
भीष्म द्रक्ष्यसि तत्त्वेन जले मीन इवामले ॥ २१ ॥
वैशम्पायन उवाच– ततस्ते व्याससहिताः सर्व एव महर्षयः ।
ऋग्यजुः सामसहितैर्वचोभिः कृष्णमार्चयन् ॥ २२ ॥
ततः सर्वार्तवं दिव्यं पुष्पवर्षं नभस्तलात् ।
पपात यत्र वार्ष्णेयः सगाङ्गेयः सपाण्डवः ॥ २३ ॥
वादित्राणि च सर्वाणि जगुश्चाप्सरसां गणाः ।
न चाहितमनिष्टं च किञ्चित्तत्र प्रदृश्यते ॥ २४ ॥
ववौ शिवः सुखो वायुः सर्वगन्धवहः शुचिः ।
शान्तायां दिशि शान्ताश्च प्रावदन्मृगपक्षिणः ॥२५॥

स्थित होता है। तुम जिस धर्म वा अर्थका विचार करोगे, वह विषय तुम्हारी बुद्धिमें पूर्ण रीतिसे प्रकाशित होगा। हे महापराक्रमी! तुम दिव्य चक्षुके सहारे चार प्रकारके प्राणियोंके सूक्ष्म तत्वोंको जान सकोगे, और वे सब निर्मल जलमें स्थित मछलियोंकी भांति जिस प्रकार इस संसारमें विचरण कर रहे हैं; उस सम्पूर्ण वृत्तान्तको भी तुम ज्ञान नेत्रके सहारे यथार्थ रूपसे देख सकोगे। (१७—२१)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, श्रीकृष्ण भगवानने जब भीष्मको ऐसा वरदान किया, तब व्यासदेव आदिक ऋषियोंने ऋक्, यजु और सामवेदके मन्त्रोंसे उनकी पूजा की; उस समय आकाशसे श्रीकृष्ण गङ्गानन्दन भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरके ऊपर सब ऋतुओंमें उत्पन्न होनेवाले फूलोंके समूहों की वर्षा होने लगी, नाना भांतिके बाजे बजने लगे और अप्सरा गीत गाती हुई नृत्य करने लगीं। उस समय वहांपर किसी प्रकारके अनिष्ट विषय नहीं दीख पडे। सब प्रकारसे सुख जनक शीतल, मन्द और सुगन्ध युक्त वायु बहने लगा; सम्पूर्ण दिशा निर्मल हो गई, मृग आदि, पशु पक्षी आनन्दित होके शान्त भावसे चारों ओर भ्रमण करने लगे। तिसके अनन्तर जैसे अग्नि भगवान बहुत बडे वनको भस्म करके जङ्गलके

ततो मुहूर्ताद्भगवान्सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
दहन्वनमिवैकान्ते प्रतीच्यां प्रत्यदृश्यत ॥ २६ ॥
ततो महर्षयः सर्वे समुत्थाय जनार्दनम् ।
भीष्ममामन्त्रयांचक्रू राजानं च युधिष्ठिरम् ॥ २७ ॥
ततः प्रणाममकरोत्केशवः सहपाण्डवः ।
सात्यकिः सञ्जयश्चैव स च शारद्वतः कृपः ॥ २८ ॥
ततस्ते धर्मनिरताः सम्यक् तैरभिपूजिताः ।
श्वः समेष्याम इत्युक्त्वा यथेष्टं त्वरिता ययुः ॥२९॥
तथैवामन्त्र्य गाङ्गेयं केशवः पाण्डवास्तथा ।
प्रदक्षिणमुपावृत्य रथानारुरुहुः शुभान् ॥ ३० ॥
ततो रथैः काञ्चनचित्रकूबरैर्महीधराभैः समदैश्च दन्तिभिः ।
हयैः सुपर्णैरिव चाशुगामिभिः पदातिभिश्चात्तशरासनादिभिः॥ ३१ ॥
ययौ रथानां पुरतो हि सा चमूस्तथैव पश्चादतिमात्रसारिणी ।

एक भागमें दीख पडते हैं वैसे ही सहस्र किरणधारी भगवान सूर्य अपने प्रचण्ड तेजसे जगत्को तपाके पश्चिम दिशामें दीख पडे। (२२-२६)

सूर्यको पश्चिम दिशामें देखकर महर्षि लोगोंने सन्ध्योपासना करनेके निमित्त सहसा उठके जनार्दन कृष्ण, गङ्गानन्दन भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरके समीप विदा होनेकी प्रार्थना की। महात्मा कृष्ण, पाण्डव लोग, सात्यकि, सञ्जय और कृपाचार्य आदि पुरुषोंने उन ऋषि मुनियोंको प्रणाम किया। धर्मात्मा ऋषि लोग कृष्ण आदि महात्मा पुरुषोंसे पूर्ण रीतिसे पूजित और सत्कृत होकर कल्ह हम लोग फिर आवेंगे, ऐसा वचन कहके निज निज अभिलषित स्थानोंपर चले गये। तब महात्मा कृष्ण और पाण्डव लोगोंने भीष्मको सम्बोधन करके उनकी प्रदक्षिणा की और फिर अपने उत्तम रथोंपर चढके प्रस्थान करनेके निमित्त तैयार हुए। उस समय सुवर्ण मय सुन्दर ध्वजा पताकाओंसे शोभित रथ, गरुडके समान शीघ्र गमन करने वाले घोडे और पर्वतके समान बडे शरीरवाले हाथियोंके समूह सज्जित होनेपर गजसवार, रथी, घुडसवार निज वाहनपर और पैदल योद्धालोग हाथमें धनुष ग्रहण करके उनके सङ्ग चलनेको तैयार हुए। अनन्तर वह चतुरङ्गिनी सेना सज्जित होकर दो भागोंमें विभक्त हुई और भगवान कृष्ण तथा धर्मराज

पुरश्च पश्चाच्च यथा महानदी तमृक्षवन्तं गिरिमेत्य नर्मदा ॥ ३२ ॥
ततः पुरस्ताद्भगवान्निशाकरः समुत्थितस्तामभिहर्षयंश्चमूम् ।
दिवाकरापीतरसा महौषधीः पुनः स्वकेनैव गुणेन योजयन् ॥३३॥
ततः पुरं सुरपुरसंमितद्युति प्रविश्य ते यदुवृषपाण्डवास्तदा ।
यथोचितान्भवनवरान्समाविशन् श्रमान्विता मृगपतयो गुहा इव ॥३४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि युधिष्ठिराद्यागमने द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥ [१८७८]

वैशम्पायन उवाच-ततः शयनमाविश्य प्रसुप्तो मधुसूदनः ।
याममात्रार्धशेषायां यामिन्यां प्रत्यबुद्ध्यत ॥ १ ॥
स ध्यानपथमाविश्य सर्वज्ञानानि माधवः ।
अवलोक्य ततः पश्चाद्दध्यौ ब्रह्म सनातनम् ॥ २ ॥
ततः स्तुतिपुराणज्ञा रक्तकण्ठाः सुशिक्षिताः ।
अस्तुवन्विश्वकर्माणं वासुदेवं प्रजापतिम् ॥ ३ ॥
पठन्ति पाणिस्वनिकास्तथा गायन्ति गायकाः ।

युधिष्ठिरके आगे पीछे होकर इस प्रकार गमन करने लगी, जैसे ऋक्षवान पर्वतके आगे पीछेसे परिक्रमा करती हुई महानदी नर्मदा गमन करती है। (२७—३२)

इधर भगवान चन्द्रमा अपनी शीतल किरणोंसे उस व्यूहबद्ध सेनाके पुरुषोंके चित्तको आनन्दित और प्रचण्ड प्रभाकर औषधियोंमें रस प्रदान करते हुए पूर्वदिशामें उदय हुए। तिसके अनन्तर यदुपति कृष्ण, सात्यकि और पाण्डव लोग इन्द्रपुरीके समान लक्ष्मीसे युक्त हस्तिना पुरी में उपस्थित हुए; और जैसे थका हुआ सिंह पर्वतकी कन्दरामें प्रविष्ट होता है, वैसे ही उन महात्मा पुरुषोंसे उस राज-नगरीमें प्रवेश किया। (३३-३४) [१८७८]

शान्तिपर्वमें बावन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तिरपन अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर मधुसूदन कृष्णने राजभवनमें गमन करके उत्तम पलङ्गके ऊपर जाके शयन किया, और आधीरात बाकी रहते ही उठके पहिले इन्द्रियों और बुद्धिको स्थिर करके परब्रह्म परमेश्वरका ध्यान किया। कुछ समयके अनन्तर मनोहर कण्ठ और स्वरोंसे युक्त शास्त्र और पुराणोंके जानने वाले बन्दीजन प्रजापति, विश्वकर्मा श्रीकृष्ण भगवानकी स्तुति करने लगे। उस ही समय

शङ्खानथ मृदङ्गांश्च प्रवाद्यन्ति सहस्रशः ॥ ४ ॥
वीणापणववेणूनां स्वनश्चातिमनोरमः ।
प्रहास इव विस्तीर्णः शुश्रुवे तस्य वेश्मनः ॥ ५ ॥
ततो युधिष्ठिरस्यापि राज्ञो मङ्गलसंहिताः
उच्चैरुर्मधुरा वाचो गीतवादित्रनिःस्वनाः ॥ ६ ॥
तत उत्थाय दाशार्हः स्नातः प्राञ्जलिरच्युतः ।
जप्त्वा गुह्यं महाबाहुरग्नीनाश्रित्य तस्थिवान् ॥ ७ ॥
ततः सहस्रं विप्राणां चतुर्वेदविदां तथा ।
गवां सहस्रेणैकैकं वाचयामास माधवः ॥ ८ ॥
मङ्गलालम्भनं कृत्वा आत्मानमवलोक्य च ।
आदर्शे विमले कृष्णस्ततः सात्यकिमब्रवीत् ॥ ९ ॥
गच्छ शैनेय जानीहि गत्वा राजनिवेशनम् ।
अपि सज्जो महातेजा भीष्मं द्रष्टुं युधिष्ठिरः ॥ १० ॥
ततः कृष्णस्य वचनात्सात्यकिस्त्वरितो ययौ ।
उपगम्य च राजानं युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

सहस्रों ढोल, मृदङ्ग शंख, बीन और बासुरी आदि बाजे बजने लगे; गीत गानेवाले कोमल स्वरोंसे मीठे गीत गाने लगे । उस समय गीत और बाजोंके शब्दसे पूरित होकर भगवान कृष्णका शयनागार इस प्रकार बोध होता था, मानो ऊंचे स्वरसे हंस रहा रहा है । इधर राजा युधिष्ठिरके निकट भी मङ्गल-जनक स्तुतिपाठ, बाजोंके शब्द और कोमल, स्वरोंसे युक्त उत्तम गीत आदि सुनाई देने लगे । (१-६)

तिसके अनन्तर महाबाहु श्रीकृष्ण-चन्द्र स्नान कर हाथ जोडकर गुप्त मन्त्रोंका जप किया, और होम कार्य समाप्त करके राजमन्दिरके बाहर आये, उस समय चारों वेदोंके जाननेवाले एक हजार ब्राह्मण उनके समीप आकर उपस्थित हुए । श्रीकृष्ण भगवानने उन हर एक ब्राह्मणोंको एक एक गऊ दान की; उन सम्पूर्ण ब्राह्मणोंने आनन्दित होकर दान ग्रहण करके उनका स्वस्तिवाचन किया। तब कृष्ण सम्पूर्ण मांगलिक वस्तुवोंको स्पर्श करके, दर्पणमें अपने स्वरूपका दर्शन करके, सात्यकिसे बोले; हे सात्यकि! महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर भीष्मके दर्शनकी इच्छासे उनके समीप जानेके वास्ते तैयार हुए हैं, वा नहीं, तुम उनके मन्दिरमें जाके देख आओ ।

युक्तो रथवरो राजन्वासुदेवस्य धीमतः ।
समीपमापगेयस्य प्रयास्यति जनार्दनः ॥ १२ ॥
भवत्प्रतीक्षः कृष्णोऽसौ धर्मराज महाद्युते ।
यदत्रानन्तरं कृत्यं तद्भवान्कर्तुमर्हति ॥ १३ ॥
एवमुक्तः प्रत्युवाच धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
युधिष्ठिर उवाच– युज्यतां मे रथवरः फाल्गुनाप्रतिमद्युते ॥ १४ ॥
न सैनिकैश्च यातव्यं यास्यामो वयमेव हि ।
न च पीडयितव्यो मे भीष्मो धर्मभृतां वरः ॥ १५ ॥
अतः पुरःसराश्चापि निवर्त्तन्तु धनञ्जय ।
अद्यप्रभृति गाङ्गेयः परं गुह्यं प्रवक्ष्यति ॥ १६ ॥
अतो नेच्छामि कौन्तेय पृथक्जनसमागमम् ।
वैशम्पायन उवाच-स तद्वाक्यमथाज्ञाय कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः ॥ १७ ॥
युक्तं रथवरं तस्मादाचचक्षे नरर्षभः ।
ततो युधिष्ठिरो राजा यमौ भीमार्जुनावपि ॥ १८ ॥
भूतानीव समस्तानि ययुः कृष्णनिवेशनम् ।

सात्यकिने कृष्णकी आज्ञा सुनके धर्मराज युधिष्ठिरके समीप जाके यह वचन कहा महाराज ! बुद्धिमान् कृष्णका रथ सज्जित है, वह गंगानन्दन भीष्मको देखनेकी इच्छासे तुम्हारी प्रतीक्षा करके स्थित हैं; इस समय जो कुछ कर्तव्य कार्य करना हो, उसे कहिये । धर्मराज युधिष्ठिर सात्यकिका वचन सुन कर अर्जुनसे बोले, हे महा तेजस्वी अर्जुन ! तुम मेरे वास्ते उत्तम रथ सज्जित करने- की आज्ञा दो । (७–१४)

आज केवल हम लोग ही कई एक पुरुष महात्मा भीष्मके निकट जावेंगे, सेना ले चलने की कुछ भी आवश्यकता नहीं है, क्यों कि धर्मात्मा पुरुषोंमें अग्रणी महात्मा भीष्म पितामहको सेनाके कोलाहलसे क्लेश देना उचित नहीं है; इससे आज तुम सेनाको सङ्ग चलनेके वास्ते निषेध करो । भीष्म पितामह आजसे अत्यन्त गुप्त धर्मकथा- का उपदेश करेंगे, इससे मैं उस स्थान- पर अन्य साधारण पुरुषोंके भीडकी इच्छा नहीं करता हूं । श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, महाराज ! कुन्तीपुत्र महा- बाहु अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरकी आज्ञा सुनके शीघ्रही रथ सज्जित कराके उनके समीप आके, निवेदन किया । तब धर्म- राज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल,

आगच्छत्स्वथ कृष्णोऽपि पाण्डवेषु महात्मसु॥ १९ ॥
शैनेयसहितो धीमान् रथमेवान्वपद्यत।
रथस्थाः संविदं कृत्वा सुखां पृष्ट्वा च शर्वरीम्॥ २० ॥
मेघघोषै रथवरैः प्रययुस्ते नरर्षभाः।
बलाहकं मेघपुष्पं शैब्यं सुग्रीवमेव च ॥ २१ ॥
दारुकश्चोदयामास वासुदेवस्य वाजिनः।
ते हया वासुदेवस्य दारुकेण प्रचोदिताः ॥ २२ ॥
गां खुराग्रैस्तथा राजन्लिखन्तः प्रययुस्तदा।
ते ग्रसन्त इवाकाशं वेगवन्तो महाबलाः ॥ २३ ॥
क्षेत्रं धर्मस्य कृत्स्नस्य कुरुक्षेत्रमवातरन्।
ततो ययुर्यत्र भीष्मः शरतल्पगतः प्रभुः ॥ २४ ॥
आस्ते महर्षिभिः सार्धं ब्रह्मा देवगणैर्यथा।
ततोऽवतीर्य गोविन्दो रथात्स च युधिष्ठिरः ॥ २५ ॥
भीमो गाण्डीवधन्वा च यमौ सात्यकिरेव च।
ऋषीनभ्यर्चयामासुः करानुद्यम्य दक्षिणान् ॥ २६ ॥
स तैः परिवृतो राजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः।

और सहदेव पाचों भाई मिलके कृष्णके समीप गये। महात्मा पाण्डवोंके आगमन करते ही श्रीकृष्ण भगवान सात्यकि के सहित अपने रथ पर चढे। वे सब पुरुष श्रेष्ठ वीर लोग आपसमें "तुम्हारी सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत हुई?" इत्यादि कुशल प्रश्न करते हुए बादलके शब्द समान अपने रथोंके शब्दसे पृथ्वीको परिपूरित करते हुए गमन करने लगे। अनन्तर श्रीकृष्णके मेघपुष्प, बलाहक, शैब्य और सुग्रीव नामक चारों घोडे दारुक सारथीके चलानेपर इस प्रकार प्रकार वेगपूर्वक गमन करने लगे, मानो आकाश मार्गसे उडे जाते हैं। इसी भांति महात्मा पाण्डवोंके रथ भी शीघ्रताके सहित गमन करने लगे, अधिक क्या कहा जावे? क्षणभरमें वे सब रथ कुरुक्षेत्र नामक धर्मक्षेत्रमें आके उपस्थित हुए और क्रमसे जिस स्थानमें देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्माकी भांति भीष्म महर्षियोंसे घिरे हुए शरशय्यापर शयन कर रहे थे, उनके समीप आके स्थित हुए। तब श्रीकृष्ण, धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, गाण्डीवधारी अर्जुन, नकुल, सहदेव और सात्यकि आदि महातेजस्वी पुरुष रथसे उतरे और दाहिने

अभ्याजगाम गाङ्गेयं ब्रह्माणमिव वासवः ॥ २७ ॥
शरतल्पे शयानं तमादित्यं पतितं यथा ।
स ददर्श महाबाहुं भयाचागतसाध्वसः ॥ २८ ॥ [१९०६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासन पर्वणि भीष्माभिगमने त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

जनमेजय उवाच—धर्मात्मनि महावीर्ये सत्यसन्धे जितात्मनि ।
देवव्रते महाभागे शरतल्पगतेऽच्युते ॥ १ ॥
शयाने वीरशयने भीष्मे शान्तनुनन्दने ।
गाङ्गेये पुरुषव्याघ्रे पाण्डवैः पर्युपासिते ॥ २ ॥
काः कथाः समवर्तन्त तस्मिन्वीरसमागमे ।
हतेषु सर्वसैन्येषु तन्मे शंस महामुने ॥ ३ ॥
वैशम्पायन उवाच-शरतल्पगते भीष्मे कौरवाणां धुरन्धरे ।
आजग्मुर्ऋषयः सिद्धा नारदप्रमुखा नृप ॥ ४ ॥
हतशिष्टाश्च राजानो युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
धृतराष्ट्रश्च कृष्णश्च भीमार्जुनयमास्तथा ॥ ५ ॥

हाथसे ऋषियोंकी पूजा की।(१५-२६)

अनन्तर राजा युधिष्ठिरने तारामण्डल से युक्त चन्द्रमाकी भांति भाइयोंके बीच घिरकर उपदेश ग्रहणकी अभिलाषासे इस प्रकार गङ्गानन्दन भीष्मके समीप गमन किया, जैसे इन्द्र देवतोंके सहित ब्रह्माके निकट गमन करते हैं। उन्होंने उस स्थानमें स्थित होकर भय युक्त चित्तसे स्वर्गभ्रष्ट आदित्यके समान शरशय्यापर महाबाहु भीष्म पितामहका दर्शन किया! (२७-२८) [१९०६]

शान्तिपर्वमें तिरपन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चौवन अध्याय।

राजा जनमेजय बोले, हे महाऋषि! उस भयङ्कर वीर समागममें सम्पूर्ण सेनाके नष्ट होनेके अनन्तर वीर-शय्या रूपी शरशय्यापर शयन करते हुए सत्यवादी, जितेन्द्रिय, महापराक्रमी, पुरुषसिंह गङ्गादेवीके गर्भसे उत्पन्न हुए शान्तनुपुत्र महातेजस्वी धर्मात्मा भीष्म पितामहने पाण्डवोंसे उपासित होकर जिन कथाओंका प्रसंग किया हो, वह सम्पूर्ण वृत्तान्त मेरे समीप वर्णन कीजिये। (१-३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, नारद आदि सिद्ध महर्षि लोग और अन्धराज धृतराष्ट्र, धर्मराज युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव और युद्धमें

तेऽभिगम्य महात्मानो भरतानां पितामहम्।
अन्वशोचन्त गाङ्गेयमादित्यं पतितं यथा ॥ ६ ॥
मुहूर्तमिव च ध्यात्वा नारदो देवदर्शनः।
उवाच पाण्डवान्सर्वान्हताशिष्टांश्च पार्थिवान् ॥ ७ ॥
प्राप्तकालं समाचक्षे भीष्मोऽयमनुयुज्यताम्।
अस्तमेति हि गाङ्गेयो भानुमानिव भारत ॥ ८ ॥
अयं प्राणानुत्सिसृक्षुस्तं सर्वेऽभ्यनुपृच्छत।
कृत्स्नान् हि विविधान्धर्मांश्चातुर्वर्ण्यस्य वेत्त्ययम्॥९ ॥
एष वृद्धः पराँल्लोकान्संप्राप्नोति तनुं त्यजन्।
तं शीघ्रमनुयुङ्ध्वं संशयान्मनसि स्थितान् ॥ १० ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्ते नारदेन भीष्ममीयुर्नराधिपाः।
प्रष्टुं चाशक्नुवन्तस्ते वीक्षांचक्रुः परस्परम् ॥ ११ ॥
ततोवाच हृषीकेशं पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
नान्यस्तु देवकीपुत्राच्छक्तः प्रष्टुं पितामहम् ॥ १२ ॥

मरनेसे बचे हुए राजा लोग दूसरे दिन सवेरा होते ही कुरु पाण्डवोंके पितामह कुलधुरन्धर गंगानन्दन भीष्मके समीप गमन करके उन्हें आकाशभ्रष्ट सूर्यकी भांति शरशय्यापर शयन करते देखकर दुःख करने लगे। अनन्तर देवऋषि नारद मुनिने मुहूर्त्त भर तक चिन्ता करके युद्धमें मरनेसे बचे हुए राजाओं और पाण्डवोंसे बोले, देखो सूर्यके अस्त होनेकी भांति गंगानन्दन भीष्मका मृत्युकाल निकटवर्त्ती हुआ है। इससे तुम लोगोंको जो कुछ पूछना हो, उसे इस ही समय पूछ लो; क्योंकि इस समय महात्मा भीष्मने प्राण त्यागनेका सङ्कल्प किया है; इससे तुम लोग धर्म जिज्ञासामें प्रवृत्त होजाओ; ये चारों वर्णोंके धर्म विशेष रूपसे जानते हैं। (४-९)

हे राजा लोगो! तुम लोग मेरा वचन चित्त लगाके सुनो, यह ज्ञान वृद्ध भीष्म अवश्य ही शरीर त्यागके परलोकमें गमन करेंगे; तुम लोगोंको जिस विषयमें संशय हो, वह इनसे पूंछके अपनी शंका निवारण करो। राजा लोग नारद मुनिके वचनोंको सुनके सब कोई भीष्मके निकट उपस्थित हुए। परन्तु किसी विषयमें कुछ प्रश्न करनेमें समर्थ न हुए, वे सब कोई आपसमें एक दूसरेके मुखकी ओर देखने लगे। उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हृषीकेश कृष्णसे

प्रत्याहर यदुश्रेष्ठ त्वमग्रे मधुसूदन ।
त्वं हि नस्तात सर्वेषां सर्वधर्मविदुत्तमः ॥ १३ ॥
एवमुक्तः पाण्डवेन भगवान्केशवस्तदा ।
अभिगम्य दुराधर्षं प्रत्याहारयदच्युतः ॥ १४ ॥
वासुदेव उवाच—कच्चित्सुखेन रजनी व्युष्टा ते राजसत्तम ।
विस्पष्टलक्षणा बुद्धिः कच्चिच्चोपस्थिता तव ॥ १५ ॥
कच्चिज्ज्ञानानि सर्वाणि प्रतिभान्ति च तेऽनघ ।
न ग्लायते च हृदयं न च ते व्याकुलं मनः ॥ १६ ॥
भीष्म उवाच— दाहो मोहः श्रमश्चैव क्लमो ग्लानिस्तथा रुजा ।
तव प्रसादाद्वार्ष्णेय सद्यः प्रतिगतानि मे ॥ १७ ॥
यच्च भूतं भविष्यच्च भवच्च परमद्युते ।
तत्सर्वमनुपश्यामि पाणौ फलमिवार्पितम् ॥ १८ ॥
वेदोक्ताश्चैव ये धर्मा वेदान्ताधिगताश्च ये ।
तान्सर्वान्संप्रपश्यामि वरदानात्तवाच्युत ॥ १९ ॥

बोले, हे देवकी नन्दन ! हे मधुसूदन ! हे यदुकुल भूषण ! तुम्हारे अतिरिक्त दूसरा कौन पुरुष पितामहके निकट प्रश्न करनेमें समर्थ होगा ? हे भ्राता ! हम सब लोगोंके बीच तुम ही पूर्ण-रीतिसे धर्म विषयके जाननेवाले हो; इससे पहिले तुम्हीं पितामहके समीप प्रश्न करो। (१०-१३)

अनन्तर उस समय श्रीकृष्ण भगवान् युधिष्ठिरके वचनको सुनके महात्मा भीष्मके निकट गमन करके यह वचन बोले, हे राजसत्तम ! गत रात्रि तुमने सुखसे व्यतीत की है न ? तुम्हारी बुद्धि भली भांति स्थिर तो है ! हे पाप रहित ! तुम्हारा ज्ञान अच्छी प्रकार प्रकाशित तो है ? तुम्हारा चित्त पीडासे कातर होकर व्याकुल तो नहीं है ? भीष्म बोले हे वृष्णिनन्दन कृष्ण ! कल्ह जो तुमने प्रसन्न होकर मुझे वरदान दिया, तभीसे मेरे शरीरसे मोह, थकावट, दाह, खिन्नता, ग्लानि और सम्पूर्ण पीडा दूर होगई है। हे अच्युत ! हे महातेजस्वी ! तुम्हारे वर-दानके प्रभावसे मैं भूत, वर्त्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालोंके सम्पूर्ण विषयोंको हाथमें स्थित फलकी भांति और वेदशास्त्रोंमें जो कुछ धर्म आदिक विषय वर्णित हुए हैं, उसे प्रत्यक्षकी भांति अवलोकनकर रहा हूं। (१४-१८)

हे जनार्दन ! देश, जाति और कुल

शिष्टैश्च धर्मो यः प्रोक्तः स च मे हृदि वर्तते।
देशजातिकुलानां च धर्मज्ञोऽस्मि जनार्दन ॥ २० ॥
चतुर्ष्वाश्रमधर्मेषु योऽर्थः स च हृदि स्थितः।
राजधर्मांश्च सकलानवगच्छामि केशव ॥ २१ ॥
यत्र यत्र च वक्तव्यं तद्वक्ष्यामि जनार्दन।
तव प्रसादाद्धि शुभा मनो मे बुद्धिराविशत् ॥ २२ ॥
युवेवास्मि समावृत्तस्त्वदनुध्यानबृंहितः।
वक्तुं श्रेयः समर्थोऽस्मि त्वत्प्रसादाज्जनार्दन ॥ २३ ॥
स्वयं किमर्थं तु भवान् श्रेयो न प्राह पाण्डवम्।
किं ते विवक्षितं चात्र तदाशु वद माधव ॥ २४ ॥
वासुदेव उवाच- यशसः श्रेयसश्चैव मूलं मां विद्धि कौरव।
मत्तः सर्वेऽभिनिर्वृत्ता भावाः सदसदात्मकाः ॥ २५॥
शीतांशुश्चन्द्र इत्युक्ते लोके को विस्मयिष्यति।
तथैव यशसा पूर्णे मयि को विस्मयिष्यति ॥ २६ ॥

विषयक तथा महात्मा पुरुषोंके कहे हुए जो कुछ धर्म हैं, वह मेरे अन्तःकरणमें स्थित हैं। हे जनार्दन! तुम्हारी कृपासे मेरा मन कल्याण करनेवाली बुद्धिसे युक्त हुआ है; इससे सम्पूर्ण राज धर्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आदि चारों आश्रम सम्बन्धीय धर्मोंके जो कुछ उद्देश्य हैं; वे सब मुझे मालूम हुए हैं। जिन स्थलोंमें जो कुछ कहना उचित है, मैं उसे कहूंगा। अधिक क्या कहूं, तुम्हारे ध्यानके प्रभावसे मेरे शरीरमें फिर युवा अवस्थाके समान बल प्राप्त हुआ है; उससे अब मैं लोकहितकर धर्मकथाको कहनेमें समर्थ होऊंगा। परन्तु तुम किस कारणसे धर्मराज युधिष्ठिरको धर्मोपदेश नहीं करते हो? इस विषयमें तुम्हारा क्या विचार है, उसे शीघ्र मेरे समीप प्रकाशित करो। (१९—२४)

अनन्तर श्रीकृष्णचन्द्र भीष्मका वचन सुनके उनसे बोले, हे कौरव! तुम कल्याण और कीर्त्तिका मूल कारण मुझे ही समझो, सत् और असत् भाव मुझसे ही प्रकट हुए हैं। देखिये यदि कोई चन्द्रमाको शीत-किरणवाला कहके प्रशंसा करे, तो कोई पुरुष इसमें आश्चर्य नहीं कर सक्ता। इसी भांति कृष्ण "कीर्त्तिपूर्ण है" कहके यदि कोई पुरुष मेरा गुण वर्णन करे तो इसमें कोई भी आश्चर्ययुक्त नहीं हो सक्ता।

आधेयं तु मया भूयो यशस्तव महाद्युते ।
ततो मे विपुला बुद्धिस्त्वयि भीष्म समर्पिता ॥ २७ ॥
यावद्धि पृथिवीपाल पृथ्वीयं स्थास्यति ध्रुवा ।
तावत्तवाक्षया कीर्तिर्लोकाननुचरिष्यति ॥ २८ ॥
यच्च त्वं वक्ष्यसे भीष्म पाण्डवायानुपृच्छते ।
वेदप्रवाद इव ते स्थास्यते वसुधातले ॥ २९ ॥
यश्चैतेन प्रमाणेन योक्ष्यत्यात्मानमात्मना ।
सफलं सर्वपुण्यानां प्रेत्य चानुभविष्यति ॥ ३० ॥
एतस्मात्कारणाद्भीष्म मतिर्दिव्या मया हि ते ।
दत्ता यशो विप्रथयेत्कथं भूयस्तवेति ह ॥ ३१ ॥
यावद्धि प्रथते लोके पुरुषस्य यशो भुवि ।
तावत्तस्याक्षया कीर्तिर्भवतीति विनिश्चिता ॥ ३२ ॥
राजानो हतशिष्टास्त्वां राजन्नभित आसते ।
धर्माननुयुयुक्षन्तस्तेभ्यः प्रब्रूहि भारत ॥ ३३ ॥
भवान् हि वयसा वृद्धः श्रुताचारसमन्वितः ।
कुशलो राजधर्माणां सर्वेषामपराश्च ये ॥ ३४ ॥

हे महातेजस्वी ! मैंने इस पृथ्वीपर तुम्हारे यशको अधिक विस्तार करनेकी अभिलाषासे तुम्हें निर्मल बुद्धि प्रदान की है। जबतक यह पृथ्वी रहेगी, तबतक तुम्हारी यह अक्षय कीर्त्ति जगत्के बीच प्रकाशित रहेगी । हे भीष्म ! तुम प्रश्नके अनुसार धर्मराज युधिष्ठिरको जो कुछ धर्मका उपदेश करोगे, वे सब तुम्हारे उपदेश वचन वेदवाक्यके समान जगत्के बीच प्रमाणिक होंगे । जो पुरुष उस प्रमाणके अनुसार लोकयात्रा निर्वाह करेंगे, वे परलोकमें सम्पूर्ण पुण्यफलोंको भोगनेमें समर्थ होंगे । हे भीष्म ! पृथ्वीमें किस प्रकार तुम्हारा यश विस्तार होगा इस विषयको विचार कर मैंने तुम्हें दिव्य बुद्धि प्रदान की है। इस पृथ्वीपर जबतक लोग किसी पुरुषके यशकी गाथा करते हैं, तबतक वह यश गान ही उनकी अक्षय कीर्त्तिका मूल समझा जाता है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। (२६-३२)

हे राजेन्द्र ! कुरुक्षेत्रकी युद्धमें मरनेसे बचेहुए राजा लोग धर्म जिज्ञासु होकर तुम्हारे चारों ओर स्थित हैं; तुम इन लोगोंको राजधर्मोपदेश करो । तुम अवस्थामें सबसे वृद्ध वैदिक और

जन्मप्रभृति ते कश्चिद्वृजिनं न ददर्श ह ।
ज्ञातारं सर्वधर्माणां त्वां विदुः सर्वपार्थिवाः ॥ ३५ ॥
तेभ्यः पितेव पुत्रेभ्यो राजन्ब्रूहि परं नयम् ।
ऋषयश्चैव देवाश्च त्वया नित्यमुपासिताः ॥ ३६ ॥
तस्माद्वक्तव्यमेवेदं त्वयाऽवश्यमशेषतः ।
धर्मं शुश्रूषमाणेभ्यः पृष्टेन च सता पुनः ॥ ३७ ॥
वक्तव्यं विदुषा चेति धर्ममाहुर्मनीषिणः ।
अप्रतिब्रुवतः कष्टो दोषो हि भविता प्रभो ॥ ३८ ॥
तस्मात्पुत्रैश्च पौत्रैश्च धर्मान्पृष्टान्सनातनान् ।
विद्वान् जिज्ञासमानैस्त्वं प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ ३९ ॥ [१९४५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुष्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

वैशम्पायन उवाच– अथाब्रवीन्महातेजाः वाक्यं कौरवनन्दनः ।
हन्त धर्मान्प्रवक्ष्यामि दृढे वाङ्मनसी मम ॥ १ ॥
तव प्रसादाद्गोविन्द भूतात्मा ह्यसि शाश्वतः ।

लौकिक आचारोंसे युक्त और राजधर्म आदि सम्पूर्ण धर्मोंके जाननेवाले हो; जन्मसे आजपर्यन्त कोई पुरुष तुम्हारा कुछ भी पापाचरण नहीं देख सका; विशेष करके पृथ्वीके सम्पूर्ण राजा लोग तुम्हें सब धर्मोंका जाननेवाला समझते हैं, क्यों कि बाल्यावस्थासे ही तुमने देवता और ऋषियोंकी उपासना करी हैं; इससे जैसे पिता पुत्रोंको उत्तम नीति उपदेश करता है, वैसे ही तुम भी इन राजाओंको धर्मका उपदेश करो। प्राचीन पण्डितोंने धर्मविषय ऐसा कहा है, कि धर्म जिज्ञासु होकर प्रश्न करे, तो उसे धर्मोपदेश करना उचित है, इससे धर्म विषय सुननेके अभिलाषी राजाओंको उपदेश करना तुम्हारा कर्त्तव्य कार्य है। विद्वन्! धर्मजिज्ञासु पुरुषको उपदेश न करनेसे पापमें फसना होता है; ऐसा ही शास्त्रोंमें वर्णित है; इससे तुम्हारे ये पुत्र तथा पौत्र लोग धर्मजिज्ञासु होकर जो कुछ प्रश्न करें, तुम प्रश्नके अनुसार ही उन लोगोंको धर्मोपदेश करो। (३३-३९)

शान्तिपर्वमें चौवन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पचपन अध्याय।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर कौरवोंमें मुख्य महातेजस्वी भीष्म यह वचन बोले, हे गोविन्द!

युधिष्ठिरस्तु धर्मात्मा मां धर्माननुपृच्छतु ॥
एवं प्रीतो भविष्यामि धर्मान्वक्ष्यामि चाखिलान् ॥ २ ॥
यस्मिन् राजर्षभे जाते धर्मात्मनि महात्मनि ।
अहृष्यन् ऋषयः सर्वे स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ३ ॥
सर्वेषां दीप्तयशसां कुरूणां धर्मचारिणाम् ।
यस्य नास्ति समः कश्चित्स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥४॥
धृतिर्दमो ब्रह्मचर्यं क्षमा धर्मश्च नित्यदा ।
यस्मिन्नोजश्च तेजश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ५ ॥
संबन्धीनतिथीन्भृत्यान्संश्रितांश्चैव यो भृशम् ।
संमानयति सत्कृत्य स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ६ ॥
सत्यं दानं तपः शौर्यं शान्तिर्दाक्ष्यमसंभ्रमः ।
यस्मिन्नेतानि सर्वाणि स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ७ ॥
यो न कामान्न संरम्भान्न भयान्नार्थकारणात् ।
कुर्यादधर्मं धर्मात्मा स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ ८ ॥
सत्यनित्यः क्षमानित्यो ज्ञाननित्योऽतिथिप्रियः ।
यो ददाति सतां नित्यं स मां पृच्छतु पाण्डवः॥ ९ ॥

तुम सब प्राणियोंके नित्य आत्मस्वरूप हो; तुम्हारी कृपासे मेरा वचन और मन दृढ हुआ है; इससे मैं प्रसन्नताके सहित धर्मकथा कहूंगा; परन्तु धर्मात्मा युधिष्ठिर धर्मविषयमें मुझसे प्रश्न करे, तो मैं प्रीतिपूर्वक धर्मविषयकी व्याख्या करूंगा। जिस धर्मशील महात्मा पुरुषके जन्म लेनेपर ऋषि लोग आनन्द सागर में मग्न हुए थे; वह पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे प्रश्न करे। यशस्वी, धर्मचारी कौरवोंके बीच कोई भी जिसके समान नहीं है; धृति, दम, ब्रह्मचर्य, क्षमा, धर्म, तेज, और बल जिसमें सदा विद्यमान रहता है। (१-५)

जो सम्बन्धी, सेवक, अतिथि और आश्रितोंको यथा योग्य आदरके सहित सम्मानित करते हैं; सत्य, दान, तपस्या, वीरता, शान्ति, दक्षता और सावधानता आदि सम्पूर्ण धर्म जिसमें सदासर्वदा विराजमान रहते हैं, जो धर्मात्मा काम, क्रोध, भय, लोभ और अर्थके वशमें होकर कदापि अधर्म कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होते; जो सत्य, क्षमा और ज्ञान विषयमें सदा दृढताके सहित स्थित रहते हैं; और जो नित्य सत्पात्र अतिथीको दान देता है, जो यज्ञ, अध्ययन, धर्म

इज्याध्ययननित्यश्च धर्मे च निरतः सदा ।
क्षान्तः श्रुतरहस्यश्च स मां पृच्छतु पाण्डवः ॥ १० ॥
वासुदेव उवाच– लज्जया परयोपेतो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ ११ ॥
लोकस्य कदनं कृत्वा लोकनाथो विशांपते ।
अभिशापभयाद्भीतो भवन्तं नोपसर्पति ॥ १२ ॥
पूज्यान्मान्यांश्च भक्तांश्च गुरून्संबन्धिबान्धवान् ।
अर्घार्हानिषुभिर्भित्त्वा भवन्तं नोपसर्पति ॥ १३ ॥
भीष्म उवाच– ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः ।
क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम् ॥ १४ ॥
पितॄन्पितामहान् भ्रातॄन्गुरून्संबन्धिबान्धवान् ।
मिथ्याप्रवृत्तान्यः संख्ये निहन्याद्धर्म एव सः ॥ १५ ॥
समयत्यागिनो लुब्धान्गुरूनपि च केशव ।

और शान्तिमार्गमें सर्वदा रत रहते हैं, जिन्होंने धर्मके सम्पूर्ण रहस्योंको सुना है; वही पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर मुझसे धर्म विषयमें प्रश्न करें ।(६-१०)

भीष्मका इतना वचन सुनकर श्रीकृष्ण भगवान् बोले, हे कौरव शिरोमणि ! धर्मराज युधिष्ठिरने गुरु आदि पूज्य पुरुषों और सेवक, सम्बन्धी, ब्रह्मवादी भक्त और माननीय पुरुषोंका कुरुक्षेत्रके युद्धमें वध किया है; इसी कारण अत्यन्त लज्जित होकर आपके भयसे भयभीत हुए हैं; इसीसे वह तुम्हारे सम्मुख आनेमें समर्थ नहीं होते हैं; क्यों कि जिन लोगोंका नाना भांतिकी वस्तुओंसे सन्मान करना उचित था, उनके शरीरको अस्त्रोंसे छेदन किया है; इस ही निमित्त धर्मराज युधिष्ठिर तुम्हारी दृष्टिके सम्मुख नहीं स्थित होसकते हैं। भीष्म बोले, हे कृष्ण! जैसे ब्राह्मणोंके निमित्त दान, अध्ययन और तपस्या ही धर्म है, वैसे ही क्षत्रियोंके निमित्त युद्धमें शत्रुओंके शरीरको अस्त्रोंसे छेदन करना ही धर्म है। पिता, पितामह, भ्राता, गुरु, सम्बन्धी आदिक कोई क्यों न हों, यदि वे लोग निरर्थक आके युद्धमें प्रवृत्त हों; तो उस ही समय उनका वध करना उचित है, क्यों कि यही क्षत्रियोंका धर्म है; शास्त्रोंमें ऐसा ही वर्णित है। (११-१५)

हे कृष्ण ! जो नियम उल्लङ्घन करनेवाले, लोभी अत्याचारी गुरुका

निहन्ति समरे पापान्क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १६ ॥
यो लोभान्न समीक्षेत धर्मसेतुं सनातनम् ।
निहन्ति यस्तं समरे क्षत्रियो वै स धर्मवित् ॥ १७ ॥
लोहितोदां केशतृणां गजशैलां ध्वजद्रुमाम् ।
महीं करोति युद्धेषु क्षत्रियो यः स धर्मवित् ॥ १८ ॥
आहूतेन रणे नित्यं योद्धव्यं क्षत्रबन्धुना ।
धर्म्यं स्वर्ग्यं च लोक्यं च युद्धं हि मनुरब्रवीत् ॥ १९ ॥
वैशम्पायन उवाच-एवमुक्तस्तु भीष्मेण धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः ।
विनीतवदुपागम्य तस्थौ संदर्शनेऽग्रतः ॥ २० ॥
अथास्य पादौ जग्राह भीष्मश्चापि ननन्द तम् ।
मूर्ध्नि चैनमुपाघ्राय निषीदेत्यब्रवीत्तदा ॥ २१ ॥
तमुवाचाथ गाङ्गेयो वृषभः सर्वधन्विनाम् ।
मां पृच्छ तात विश्रब्धं मा भैस्त्वं कुरुसत्तम॥२२॥ [१९६७]

इति श्रीमहा०शान्ति०राजधर्मानुशासन०कृष्णं प्रति युधिष्ठिरवाक्ये पंचपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥५५

युद्धभूमिमें वध करते हैं, वेही धर्मात्मा क्षत्रिय हैं। जो पुरुष लोभके वशमें होकर सनातन धर्म मार्गको उल्लङ्घन करते हैं, उनके मारनेवाले क्षत्रिय ही धर्मात्मा कहे जाते हैं। जो युद्धमें प्रवृत्त होकर इस पृथ्वीको रुधिररूपी जल, केशरूपी तृण, हाथी रूपी पर्वत, और ध्वजा पताका रूपी वृक्षोंसे परिपूरित करनेमें समर्थ हैं; वेही धर्मात्मा क्षत्रिय कहे जाते हैं। युद्धमें आह्वान करनेपर अपना आत्मीय और पराया विचार न करके श्रेष्ठ क्षत्रिय पुरुषोंको उनके संग युद्धमें प्रवृत्त होना उचित है; क्योंकि भगवान मनुने धर्म युद्धको क्षत्रियोंके निमित्त इस लोक और परलोकमें कल्याण दायक कहके वर्णन किया है।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, धर्मराज युधिष्ठिरने भीष्मका वचन सुनके अत्यन्त विनीत भावसे उनके दृष्टिके सम्मुख उपस्थित होकर उनके दोनों चरणोंको छूके उन्हें प्रणाम किया। तब सम्पूर्ण धनुर्धारियोंमें अग्रणी भीष्मने उनका मस्तक सूंघके उन्हें आनन्दित किया। अनन्तर महातेजस्वी भीष्म युधिष्ठिरको बैठनेकी आज्ञा देकर यह वचन बोले, हे कुरुकुल तिलक! हे तात! तुम कुछ भी शंका मत करो, तुम निर्भयताके सहित शुद्ध चित्तसे मेरे समीप प्रश्न करो। (१६—२२) [१९६७]

शान्तिपर्वमें पचपन अध्याय समाप्त।

वैशम्पायन उवाच-प्रणिपत्य हृषीकेशमभिवाद्य पितामहम् ।
अनुमान्य गुरून्सर्वान्पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
युधिष्ठिर उवाच- राज्ञां वै परमो धर्म इति धर्मविदो विदुः।
महान्तमेतं भारं च मन्ये तद् ब्रूहि पार्थिव ॥ २ ॥
राजधर्मान्विशेषेण कथयस्व पितामह ।
सर्वस्य जीवलोकस्य राजधर्मः परायणम् ॥ ३ ॥
त्रिवर्गो हि समासक्तो राजधर्मेषु कौरव ।
मोक्षधर्मश्च विस्पष्टः सकलोऽत्र समाहितः ॥ ४ ॥
यथा हि रश्मयोऽश्वस्य द्विरदस्यांकुशो यथा ।
नरेन्द्रधर्मो लोकस्य तथा प्रग्रहणं स्मृतम् ॥ ५ ॥
तत्र चेत्संप्रमुह्येत धर्मे राजर्षिसेविते ।
लोकस्य संस्था न भवेत्सर्वं च व्याकुली भवेत् ॥ ६ ॥
उद्यन्हि यथा सूर्यो नाशयत्यशुभं तमः ।
राजधर्मास्तथाऽलोक्यां निक्षिपन्त्यशुभां गतिम् ॥७॥
तदग्रे राजधर्मान् हि मदर्थं त्वं पितामह ।

शान्तिपर्वमें छप्पन अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने हृषीकेश कृष्ण और भीष्मको प्रणाम करके उस स्थलमें स्थित गुरुजनोंकी अनुमतिसे प्रश्न करना आरम्भ किया। हे पितामह ! धर्म जाननेवाले पुरुष राजधर्मको ही परमधर्म समझते हैं और मैं भी उसके भारको ग्रहण करना अत्यन्त कठिन समझता हूं; इससे आप विशेष करके राजधर्मका ही वर्णन करिये। राज धर्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंके जीवनका अवलम्ब रूप है; क्यों कि धर्म, अर्थ, काम ये त्रिवर्ग और मोक्षधर्म ये सब पूर्णरीतिसे राजधर्मसे ही होसकते हैं। जैसे घोडेको लगाम और हाथियोंको अंकुश नियममें स्थित रखता है, वैसे ही राज्यधर्म ही सम्पूर्ण प्राणियोंको यथायोग्य नियमोंमें स्थित रखता है। यदि राज-ऋषियोंसे सेवित राजधर्ममें पुरुषोंको मोह उपस्थित होवे, तो सम्पूर्ण नियम तितर बितर होजाते हैं और उससे सम्पूर्ण प्रजा इकबारगी व्याकुल होजाती है। जैसे सूर्य उदय होकर महाघोर अन्धकारको नष्ट कर देते है, वैसे ही राजधर्मसे सम्पूर्ण प्राणियोंकी अशुभ गति निवारित होती है। (१—७)

प्रब्रूहि भरतश्रेष्ठ त्वं हि धर्मभृतां वरः ॥ ८ ॥
आगमश्च परस्त्वत्तः सर्वेषां नः परन्तप।
भवन्तं हि परं बुद्धौ वासुदेवोऽभिमन्यते ॥ ९ ॥
भीष्म उवाच— नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥१०॥
शृणु कार्त्स्न्येन मत्तस्त्वं राजधर्मान्युधिष्ठिर।
निरुच्यमानान्नियतो यच्चान्यदपि वाञ्छसि ॥ ११ ॥
आदावेव कुरुश्रेष्ठ राज्ञा रञ्जनकाम्यया।
देवतानां द्विजानां च वर्तितव्यं यथाविधि ॥ १२ ॥
दैवतान्यर्चयित्वा हि ब्राह्मणांश्च कुरूद्वह।
आनृण्यं याति धर्मस्य लोकेन च समर्च्यते ॥ १३ ॥
उत्थानेन सदा पुत्र प्रयतेथा युधिष्ठिर।
न ह्युत्थानमृते दैवं राज्ञामर्थं प्रसाधयेत् ॥ १४ ॥
साधारणं द्वयं ह्येतद्दैवमुत्थानमेव च।
पौरुषं हि परं मन्ये दैवन्निश्चित्य मुच्यते ॥ १५ ॥

हे पितामह! आप इस भरतकुलमें तथा सम्पूर्ण धर्म जाननेवाले पुरुषोंमें अग्रगण्य हैं; इससे पहिले मुझे राजधर्मका उपदेश कीजिये। हे शत्रुनाशन! जब कि श्रीकृष्ण भी आपको परमज्ञानी समझते हैं, तो आपके निकट धर्म उपदेश सुनना ही हम लोगोंके निमित्त कल्याणकारी है। भीष्म बोले, मैं महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण, ऋषि और उस महत् धर्मको नमस्कार करके नित्य धर्मकी व्याख्या करूंगा। हे तात युधिष्ठिर! मैं सम्पूर्ण रूपसे राजधर्मका निश्चय करके कहता हूं, तुम चित्त लगाके पूर्ण रीतिसे राज्यधर्म तथा अन्य धर्म भी जिसके सुननेकी तुम्हारी इच्छा हो! मुझसे सुनो। राजा क्षत्रिय न होनेपर भी प्रजाके अनुरागपात्र होनेके निमित्त शास्त्रविधिके अनुसार देवता, ब्राह्मणोंमें श्रद्धा और भक्ति प्रकाश करे। राजा देवता और ब्राह्मणोंकी पूजा करनेसे उनसे अऋणी होकर सम्पूर्ण प्रजाओंमें श्रद्धाभाजन होता है। (८—१३)

हे पुत्र युधिष्ठिर! तुम सदासर्वदा पुरुषार्थके निमित्त यत्न करना। पुरुषके उद्योगके विना केवल दैवके आसरे राजाओंके कार्य नहीं सिद्ध होसकते; भाग्य और पुरुषार्थ समान होनेपर भी

विपन्ने च समारम्भे सन्तापं मा स्म वै कृथाः।
घटस्वैव सदात्मानं राज्ञामेष परो नयः ॥ १६ ॥
न हि सत्यादृते किञ्चिद्राज्ञां वै सिद्धिकारकम्।
सत्ये हि राजा निरतः प्रेत्य चेह च नन्दति ॥ १७ ॥
ऋषीणामपि राजेन्द्र सत्यमेव परं धनम्।
तथा राज्ञां परं सत्यान्नान्यद्विश्वासकारणम् ॥ १८ ॥
गुणवान् शीलवान्दान्तो मृदुर्धर्म्यो जितेन्द्रियः।
सुदर्शः स्थूललक्ष्यश्च न भ्रश्येत सदा श्रियः ॥ १९ ॥
आर्जवं सर्वकार्येषु श्रयेथाः कुरुनन्दन।
पुनर्नयविचारेण त्रयीसंवरणेन च ॥ २० ॥
मृदुर्हि राजा सततं लङ्घ्यो भवति सर्वशः।
तीक्ष्णाच्चोद्विजते लोकस्तस्मादुभयमाश्रय ॥ २१ ॥

मैं पुरुषार्थको श्रेष्ठ समझता हूं; क्यों कि पुरुषार्थ लोगोंको प्रत्यक्षही फल देता है और भाग्य भी किये हुए पूर्व पुरुषार्थ का फल मात्र है। पुरुषार्थ करनेसे यदि आरम्भ किये हुए कर्मोंके फल सिद्ध न होवे, तो पुरुष लोकापवादसे, और फल सिद्ध होनेसे दुःखोंसे मुक्त होसकता है। हे कुरुकुलश्रेष्ठ! यदि दैवी संयोगसे आरम्भ किया हुआ कर्म निष्फल होजावे, तौभी मनमें कदापि दुखित होना नहीं चाहिये; फिर द्विगुणित यत्नके सहित उसे सिद्ध करनेके निमित्त कार्यमें प्रवृत्त होना उचित है; क्यों कि यही राजाओं की परम नीति है। परन्तु सत्य जिस प्रकार राजाओंके कार्यको सिद्ध करनेवाला है, वैसा दूसरे किसी यत्नसे भी राजाओंके कार्य सिद्ध नहीं हो सकते; सत्यमें तत्पर रहनेवाले राजा इस लोक और परलोकमें परम आनन्द प्राप्त कर सकते हैं। हे राजेन्द्र! सत्य ऋषियोंका भी परम धन है और राजाओंका भी विश्वास उत्पन्न करानेका कारण सत्यके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है, गुणवान, शीलयुक्त,दयावान, सत्यवादी, धर्मनिष्ठ, जितेन्द्रिय, प्रजाके ऊपर प्रीति करनेवाले उदार राजा कदापि श्रीभ्रष्ट नहीं होते। (१४-१९)

हे कुरुनन्दन! अपने छिद्रोंको छिपाना और पराये छिद्रको अन्वेषण करते हुए अपने विचारोंको गुप्त रखना और न्यायके अनुसार विचार पूर्वक समस्त कार्योंमें सरलता अवलम्बन करना चाहिये। राजाके मृदुभाव अवलम्ब न करनेसे सम्पूर्ण प्रजा उसके नियमोंको

अदण्ड्याश्चैव ते पुत्र विप्राश्च ददतां वर ।
भूतमेतत्परं लोके ब्राह्मणो नाम पाण्डव ॥ २२ ॥
मनुना चैव राजेन्द्र गीतौ श्लोकौ महात्मना ।
धर्मेषु स्वेषु कौरव्य हृदि तौ कर्तुमर्हसि ॥ २३ ॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २४ ॥
अयो हन्ति यदाश्मानमग्निना वारि हन्यते ।
ब्रह्म च क्षत्रियो द्वेष्टि तदा सीदन्ति ते त्रयः ॥ २५ ॥
एवं कृत्वा महाराज नमस्या एव ते द्विजाः ।
भौमं ब्रह्म द्विजश्रेष्ठा धारयन्ति समर्चिताः ॥ २६ ॥
एवं चैव नरव्याघ्र लोकत्रयविघातकाः ।
निग्राह्या एव सततं बाहुभ्यां ये स्युरीदृशाः ॥ २७ ॥
श्लोकौ चोशनसा गीतौ पुरा तात महर्षिणा ।
तौ निबोध महाराज त्वमेकाग्रमना नृप ॥ २८ ॥

अतिक्रम करती है और कठोर भाव ग्रहण करनेसे सब कोई उसके भयसे व्याकुल होते हैं; इससे तुम्हें यथा योग्य कोमलता और कठोरता दोनों ही अवलम्बन करना उचित है। हे पाण्डुपुत्र उदारबुद्धि युधिष्ठिर ! तुम कदापि ब्राह्मणोंको दण्ड विधान मत करना; क्यों कि इस लोकमें तपके प्रभावसे ब्राह्मण ही सम्पूर्ण पुरुषोंमें श्रेष्ठ हैं। हे राजेन्द्र ! मनुभगवानने इस विषयमें दो श्लोक कहे हैं, तुम्हें निज धर्मविषय में उन दोनों श्लोकोंको हृदयङ्गम करना उचित है। "जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है; इससे उनका तेज सम्पूर्ण स्थानोंमें पूर्ण होनेपर भी स्वयोनिमें शान्त होजाता है। जिस समय लोह पत्थरको विदीर्ण करता है, अग्नि जलको सुखाती है, क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करते हैं; उस समय वे शीघ्र ही तेजभ्रष्ट होके नष्ट होते हैं।" (२०-२५)

हे राजेन्द्र ! इससे ब्राह्मण लोग सदा प्रणाम करने योग्य हैं; श्रेष्ठ ब्राह्मण लोग पूर्ण रीतिसे पूजित होनेसे वेद और यज्ञोंको धारण करते हैं। हे भरतर्षभ ! जो पुरुष ब्राह्मणोंके योग्य सम्मान लाभकी अभिलाषा करे, उन्हें बाहुबलके सहारे पराजित करके दण्ड देना उचित है। हे तात ! पहिले समय में महर्षि शुक्राचार्यने जो श्लोक कहा था,

उद्यम्य शस्त्रमायान्तमपि वेदान्तगं रणे।
निगृह्णीयात्स्वधर्मेण धर्मापेक्षी नराधिपः ॥ २९ ॥
विनश्यमानं धर्मं हि योऽभिरक्षेत्स धर्मवित्।
न तेन धर्महा स स्यान्मन्युस्तन्मन्युमृच्छति ॥ ३० ॥
एवं चैव नरश्रेष्ठ रक्ष्या एव द्विजातयः।
सापराधानपि हि तान्विषयान्ते समुत्सृजेत् ॥ ३१ ॥
अभिशस्तमपि ह्येषां कृपायीत विशांपते।
ब्रह्मघ्ने गुरुतल्पे च भ्रूणहत्ये तथैव च ॥ ३२ ॥
राजद्विष्टे च विप्रस्य विषयान्ते विसर्जनम्।
विधीयते न शारीरं दण्डमेषां कदाचन ॥ ३३ ॥
दयिताश्च नरास्ते स्युर्भक्तिमन्तो द्विजेषु ये।
न कोशः परमोऽन्योऽस्ति राज्ञां पुरुषसञ्चयात् ॥ ३४॥

उसे तुम चित्त लगाके सुनो। "वेदवेदान्त जाननेवाला ब्राह्मण यदि शस्त्र ग्रहण करके युद्धभूमिमें आगमन करे, तो धर्मात्मा राजा शस्त्र आदिकोंके प्रभावसे उसे बांधके कैद करे, परन्तु कदापि उसका वध न करे, जो आततायी पुरुषोंसे नष्ट होते हुए धर्मकी सब भांतिसे रक्षा करते हैं, वेही धर्म जाननेवाले धर्मात्मा राजा कहाते हैं; आततायी पुरुषोंका वध करनेसे पाप नहीं होता। आततायीका क्रोध ही दूसरेको उत्तेजित करके अपना नाश कराता है, इससे आततायीके मारनेसे पाप नहीं होता। (२९—३०)

हे नरनाथ! ब्राह्मणोंकी अवश्य रक्षा करनी चाहिये, ब्राह्मण यदि अपराध करे, तो उसे राज्यसे बाहर करना चाहिये; परन्तु प्राण नाश करना उचित नहीं है। हे प्रजानाथ! ब्राह्मण यदि परस्त्रीके सङ्ग व्यभिचार दोषसे अपवाद युक्त होवे, तौभी उसके ऊपर कृपा प्रकाश करना कर्त्तव्य है। ब्रह्महत्या, गुरुपत्नी सहवास और भ्रूणहत्या आदि तीन प्रकारके पापग्रस्त तथा राजद्रोही होने पर उसे निजराज्यसे बाहर करना उचित है; परन्तु बेत-कोड़ोंकी चोटसे उसके शरीरको पीडित करना वा शारीरक दण्ड देना उचित नहीं है। जो लोग ब्राह्मणोंमें भक्ति करते हैं, उन्हेंही प्रिय समझके निज कार्योंमें नियुक्त करना चाहिये, क्यों कि राजाओंके चाहे कितनाही धन रत्नसे युक्त खजाना क्यों न होवे, ब्राह्मण भक्त पुरुषोंके संग्रहकी अपेक्षा

दुर्गेषु च महाराज षट्सु ये शास्त्रनिश्चिताः ।
सर्वदुर्गेषु मन्यन्ते नरदुर्गं सुदुस्तरम् ॥ ३५ ॥
तस्मान्नित्यं दया कार्या चातुर्वर्ण्ये विपश्चिता ।
धर्मात्मा सत्यवाक् चैव राजा रञ्जयति प्रजाः ॥ ३६ ॥
न च क्षान्तेन ते नित्यं भाव्यं पुत्र समन्ततः ।
अधर्मो हि मृदू राजा क्षमावानिव कुञ्जरः ॥ ३७ ॥
बार्हस्पत्ये च शास्त्रे च श्लोको निगदितः पुरा ।
अस्मिन्नर्थे महाराज तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३८ ॥
क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः ।
हस्तियन्ता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति ॥ ३९ ॥
तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो नैव भवेन्नृपः ।
वासन्तार्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः ॥ ४० ॥
प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्यागमैरपि ।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव नित्यशः ॥ ४१ ॥

कोई भी कोष उत्तम नहीं कहे जा सकते। महाराज ! पण्डित लोग मरु (वालुकामय स्थान), जल, भूमि, वन, पर्वत और मनुष्य आदि छः और बाकी सब भांतिके दुर्ग (किला) से मनुष्य दुर्गको ही अति दुस्तर कहके वर्णन करते हैं, इससे बुद्धिमान राजाओंको ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णकी प्रजाके ऊपर दया प्रकाशित करनी उचित है। राजाके धर्मात्मा और सत्यवादी होनेसे सम्पूर्ण प्रजा उस पर अनुरक्त होती है। (३१-३६)

हे पुत्र ! तुम सब जातिकी प्रजा समूहके विषयमें क्षमा प्रकाशित न करना, क्यों कि राजा क्षमाशील हाथीके समान मृदुस्वभाव युक्त होनेसे धर्म विरोधी कहे जाते हैं। महाराज ! इस विषयमें बृहस्पति प्रणीत शास्त्रमें जो श्लोक कथित है, उसे मैं वर्णन करता हूं, चित्त स्थिर करके सुनो ! जैसे महावत क्षमाशील हाथीके मस्तकपर ही चढनेकी इच्छा करता है, वैसे ही राजाके क्षमाशील होनेपर नीच पुरुष उसकी आज्ञाकी उल्लङ्घन करके मनमाना कार्य करते हैं; इससे जैसे वसन्त ऋतुके सूर्य अत्यन्त शीतल और प्रचण्ड किरणधारी तथा बहुत तेजस्वी नहीं होते, वैसे ही राजाको भी सदा अत्यन्त कठोर भाव अवलम्बन करना उचित नहीं है। महाराज ! प्रत्यक्ष, अनुमान उपमान

व्यसनानि च सर्वाणि त्यजेथा भूरिदक्षिण ।
न चैव न प्रयुञ्जीत सङ्कीर्णं परिवर्जयेत् ॥ ४२ ॥
लोकस्य व्यसनी नित्यं परिभूतो भवत्युत ।
उद्वेजयति लोकं च योऽतिद्वेषी महीपतिः ॥ ४३ ॥
भवितव्यं सदा राज्ञा गर्भिणीसहधर्मिणा ।
कारणं च महाराज श्रृणु येनेदमिष्यते ॥ ४४ ॥
यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम् ।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम् ॥ ४५ ॥
वर्तितव्यं कुरुश्रेष्ठ सदा धर्मानुवर्तिना ।
स्वं प्रियं तु परित्यज्य यद्यल्लोकहितं भवेत् ॥ ४६ ॥
न सन्त्याज्यं च ते धैर्यं कदाचिदपि पाण्डव ।
धीरस्य स्पष्टदण्डस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ ४७ ॥
परिहासश्च भृत्यैस्ते नात्यर्थं वदतां वर ।
कर्तव्यो राजशार्दूल दोषमत्र हि मे श्रृणु ॥ ४८ ॥

और आगम आदि प्रमाणोंसे शत्रु-मित्रोंकी सदा परीक्षा करनी उचित है। (३७—४१)

हे राजेन्द्र ! तुम मृगया आदि सम्पूर्ण व्यसनोंको परित्याग करो; परन्तु इकवारगी परित्याग न करके केवल मात्र उसमें आसक्ति रहित होना ही उचित है। क्यों कि व्यसनोंमें फंसे हुए पुरुष सदा क्लेशित होते हैं। राजा यदि प्रजाद्रोही होवे, तो राजा प्रजामें विरोध बढता है; इससे गर्भ धारण करनेवाली माता जैसे गर्भस्थित बालकके निमित्त व्यवहार करती है; वैसे ही राजाको भी प्रजाको पालन करना योग्य है। महा-राज ! जिस कारणसे ऐसी उपमा दीगई है, उसे सुनिये। जैसे गर्भधारिणी माता अपने इच्छानुसार निज इष्ट वस्तुओंको त्यागके भी गर्भस्थ बालकके कल्याणकी चेष्टा करती है; उसी भांति प्रजा समूहके मङ्गलकी इच्छासे राजाको भी कार्य करना उचित है। हे कुरुनन्दन ! जिन कार्योंके करनेसे प्रजाका कल्याण हो, अपने मनकी अभिलाषा त्यागके भी सदा उस ही धर्मका अनुगामी होना चाहिये। हे पाण्डुनन्दन ! तुम कभी धीरज रहित मत होना, क्यों कि राजाके धीर और दण्डधारी होनेसे उसे कहीं भय उपस्थित नहीं होता। (४२—४७)

हे राजशार्दूल ! सेवकोंके सङ्ग सदा

अवमन्यन्ति भर्तारं सङ्घर्षादुपजीविनः ।
स्वे स्थाने न च तिष्ठन्ति लङ्घयन्ति च तद्वचः ॥ ४९ ॥
प्रेष्यमाणा विकल्पन्ते गुह्यं चाप्यनुयुञ्जते ।
अयाच्यं चैव याचन्ते भोज्यान्याहारयन्ति च ॥५० ॥
क्रुध्यन्ति परिदीप्यन्ति भूमिपायाधितिष्ठते ।
उत्कोचैर्वञ्चनाभिश्च कार्याण्यनुविहन्ति च ॥ ५१ ॥
जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः ।
स्त्रीरक्षिभिश्च सज्जन्ते तुल्यवेषा भवन्ति च ॥ ५२ ॥
वान्तं निष्ठीवनं चैव कुर्वते चास्य सन्निधौ ।
निर्लज्जा राजशार्दूल व्याहरन्ति च तद्वचः ॥ ५३ ॥
हयं वा दन्तिनं वापि रथं वा नृपसत्तम ।

परिहास करना उचित नहीं है; क्यों कि उससे जो दोष उत्पन्न होते हैं, मैं उन्हें वर्णन करता हूं। उपजीवी सेवकोंके सङ्ग सदा सहवास करनेसे वे लोग स्वामीका पूर्णरीतिसे सम्मान नहीं करते; मर्यादा अतिक्रम करके स्वामीकी आज्ञा उल्लंघन करते हैं; कार्योंके विचारके समय सम्पूर्ण कार्योंमें संशय उत्पन्न करते, गोपन करने योग्य छिद्रोंको प्रकाशित कर देते हैं; जो वस्तु मांगने योग्य नहीं हैं, उन्हें भी मांगते हैं; राजाके सम्मुखमें ही उसके भोजनकी वस्तुओंको खाते और उसके ऊपर क्रोध कर राजाकी बुद्धिसे भी अपनी बुद्धिकी श्रेष्ठता प्रकाशित करते हैं। महाराज! अधिक क्या कहा जावे, वे लोग राज शासन अतिक्रम करके लोगोंसे घूस लेकर राजाके समीप उनके मिथ्या गुण दोषोंको वर्णन करके सम्पूर्ण कार्योंको नष्ट कर देते हैं; कृत्रिम आज्ञापत्र बनाके राज अधिकृत देशोंको निःसार करते हैं; राजा जैसा वस्त्र पहिनता है, वे लोग भी वैसे ही वस्त्रोंको पहनके राजाकी समानता करते और अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंके ऊपर आसक्त होकर क्रमसे अन्तःपुरके बीच प्रवेश करनेकी भी इच्छा करते हैं। (४८—५२)

हे राजशार्दूल! वैसे सेवक लोग ऐसे निर्लज्ज हो जाते हैं, कि राजाके सम्मुख में ही बडे आवाजके साथ जमुआई करते हैं और जोर जोर से थूंकते हैं और राजाके अत्यन्त गुप्त विषयोंको भी दूसरेके निकट प्रकाशित कर देते हैं। राजाके मृदु स्वभाव और परिहास युक्त होनेसे उपजीवी सेवक लोग राजाका अनादर करके उनके समानही घोडे,

अभिरोहन्त्यनादृत्य हर्षुले पार्थिवे मृदौ ॥ ५४ ॥
इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुष्टचेष्टितम् ।
इत्येवं सुहृदो वाचं वदन्ते परिषद्गताः ॥ ५५ ॥
क्रुद्धे चास्मिन्हसन्त्येव न च हृष्यन्ति पूजिताः ।
संहर्षशीलाश्च तदा भवन्त्यन्योन्यकारणात् ॥ ५६ ॥
विस्रंसयन्ति मन्त्रं च विवृण्वन्ति च दुष्कृतम् ।
लीलया चैव कुर्वन्ति सावज्ञास्तस्य शासनम् ॥ ५७ ॥
अलङ्कारे च भोज्ये च तथा स्नानानुलेपने ।
हेलनानि नरव्याघ्र स्वस्थास्तस्योपशृण्वतः ॥ ५८ ॥
निन्दते स्वानधीकारान्सन्त्यजन्ते च भारत ।
न वृत्त्या परितुष्यन्ति राजदेयं हरन्ति च ॥ ५९ ॥
क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा ।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोकांश्चैव वदन्त्युत ॥ ६० ॥
एते चैवापरे चैव दोषाः प्रादुर्भवन्त्युत ।
नृपतौ मार्दवोपेते हर्षुले च युधिष्ठिर ॥ ६१ ॥ [२०२८]

इति श्रीमहाभारते० शान्ति०राजधर्मानुशासन० राजधर्मकथने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥५६॥

हाथी और रथोंपर चढनेकी अभिलाषा करते हैं। वे लोग सुहृद पुरुषोंसे युक्त सभाके बीचमें ही राजाको कहा करते हैं, हे राजन्! आप इस कार्यको करनेमें समर्थ न होंगे और यह आपकी दुरभिसन्धि है। राजाके क्रोध करनेपर वे लोग हंसी करते और यदि राजा सत्कार करे, तो उस समय वे लोग उसे गोपन करके अन्य कारणोंसे हर्षित होते हैं। वे लोग खेलवाडकी भांति राजाज्ञाकी अवज्ञा करके उसके दुष्कर्मोंको प्रकाशित करते और मन्त्रणा तथा विचारको भेदकर दूसरेके निकट प्रकाशित कर देते हैं। (५३—५७)

अलंकार, भोजन, स्नान और चंदन लगाना इन कार्योंमें राजाकी अवहेलना करते हैं। वह सुनता है यह देखकर भी निर्भयताके साथ अपना कार्य करते जाते हैं। अपने अधिकारकी निन्दा करते हैं, अधिकार छोडभी देते हैं, वेतन मिलनेपर सन्तुष्ट नहीं होते और राजाको देने योग्य धन स्वयं हरण करते हैं। जिस प्रकार सूत्रधार पक्षी आदिकों का खेल करते हैं उस प्रकार वे राजाको नचाते हैं। राजा हमारी आज्ञामें है ऐसा लोगोंकोभी कहते हैं। हे युधिष्ठिर

भीष्म उवाच— नित्योद्युक्तेन वै राज्ञा भवितव्यं युधिष्ठिर।
प्रशस्यते न राजा हि नारीवोद्यमवर्जितः ॥ १ ॥
भगवानुशना चाह श्लोकमत्र विशांपते।
तदिहैकमना राजन् गदतस्तं निबोध मे ॥ २ ॥
द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ३ ॥
तदेतन्नरशार्दूल हृदि त्वं कर्तुमर्हसि।
सन्धेयानभिसन्धत्स्व विरोध्यांश्च विरोधय ॥ ४ ॥
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य विपरीतं य आचरेत्।
गुरुर्वा यदि वा मित्रं प्रतिहन्तव्य एव सः ॥ ५ ॥
मरुत्तेन हि राज्ञा वै गीतः श्लोकः पुरातनः।
राजाधिकारे राजेन्द्र बृहस्पतिमते पुरा ॥ ६ ॥

राजा विनोद करनेवाला मृदु हुआ तो ये और इस प्रकारके अनेक दोष होते हैं॥ (५८—६१) [२०२८]

शान्तिपर्वमें छप्पन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सतावन अध्याय।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! राजाको सदा उद्यमशील होना उचित है; क्यों कि राजा स्त्रियोंकी भांति उद्यम रहित होनेसे प्रशंसा प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं हो सकते। हे क्षत्रीय धर्मयुक्त महाराज! इस विषयमें भगवान् भृगुनन्दनने जो श्लोक कहा है, उसे मैं कहता हूं। चित्त लगाके सुनो। जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहे आदि जन्तुओंको ग्रास करता है, वैसे ही भूमि विरोध रहित राजाको और जो वेदाध्ययनके निमित्त देशान्तरोंमें गमन नहीं करते, वैसे ब्राह्मण वा यतीको ग्रास करती है; अर्थात् वैसे राजा और ब्राह्मण शीघ्र ही नष्ट भ्रष्ट होजाते हैं। हे पुरुषसिंह! मेरा यह उपदेश तुम्हारे अन्तःकरणमें सदा विराजमान रहे, अर्थात् जिसके सङ्ग सन्धि करना उचित है, उसके सङ्ग सन्धि करे और जिसके साथ विरोध करना योग्य है, उससे विरोध करे। जो स्वामी, अनुयायी, सेवक, सुहृदमित्र, कोष, राष्ट्र, किला और बल इन सप्ताङ्ग युक्त राज्य अथवा इसमें किसी एक अङ्गके सङ्ग विरुद्ध आचरण करे, तो मित्र अथवा गुरु होने पर भी उसका प्राणनाश करना उचित है। (१–५)

हे राजेन्द्र! इस विषयमें बृहस्पतिमतके अनुसार मरुतराजने राजाओंके कर्त्तव्य कर्ममें एक श्लोक कहा था,

गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः ।
उत्पथप्रतिपन्नस्य दण्डो भवति शाश्वतः ॥ ७ ॥
बाहोः पुत्रेण राज्ञा च सगरेण च धीमता ।
असमञ्जाः सुतो ज्येष्ठस्त्यक्तः पौरहितैषिणा ॥ ८ ॥
असमञ्जाः सरय्वां स पौराणां बालका नृप ।
न्यमज्जयदतः पित्रा निर्भर्त्स्य स विवासितः ॥ ९ ॥
ऋषिणोद्दालकेनापि श्वेतकेतुर्महातपाः ।
मिथ्या विप्रानुपचरन्संत्यक्तो दयितः सुतः ॥ १० ॥
लोकरञ्जनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः ।
सत्यस्य रक्षणं चैव व्यवहारस्य चार्जवम् ॥ ११ ॥
न हिंस्यात्परवित्तानि देयं काले च दापयेत् ।
विक्रान्तः सत्यवाक्क्षान्तो नृपो न चलते पथः ॥ १२ ॥
आत्मवांश्च जितक्रोधः शास्त्रार्थकृतनिश्चयः ।
धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च सततं रतः ॥ १३ ॥
त्रय्यां संवृतमन्त्रश्च राजा भवितुमर्हति ।

उसे सुनो। गुरु कार्याकार्य विवेकसे हीन, गर्वित और कुमार्गी हो, तो उसे राज्यसे निकाल देना चाहिये । महाराज ! पहिले समयमें सगर पुत्र असमञ्जा पुरवासियोंके बालकोंको बल पूर्वक सरयू नदीमें डुबा देता था, इसी कारण बाहुपुत्र बुद्धिमान सगरने पुरवासियोंके हितकी अभिलाषासे अपने जेष्ठ पुत्र असमञ्जाकी निन्दा करके उसे राज्यसे निकाल दिया था। महातपस्वी श्वेतकेतु अतिथि सत्कार करूंगा कहके वृथा निमतण कर आता था, इस ही कारण पिताके प्रियपात्र होनेपर भी उसके पिता उद्दालक मुनिने उसे परित्याग किया था । इससे सदा प्रजा रञ्जनमें प्रवृत्त रहना, सत्यकी रक्षा और प्रजा- पालन ही राजाओंका सनातन धर्म है। पराये धनके वास्ते लोभ करना राजाको योग्य नहीं, सेवकोंको यथा समय पर वेतन प्रदान करना उचित है। महाराज! राजा लोग सत्यवादी क्षमाशील और पराक्रम युक्त होनेसे ही निर्दिष्टमार्गसे विचलित नहीं होते । (६—१२)

जिसने क्रोध और मनकी वृत्तियोंको वशीभूत किया है, शास्त्रमें कहे हुए वचनोंमें जिसे अविश्वास नहीं है; जो सदा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चतुर्वर्गोंमें रत रहते हैं, जिनके विचारको

वृजिनं च नरेन्द्राणां नान्यचाररक्षणात्परम् ॥ १४ ॥
चातुर्वर्ण्यस्य धर्माश्च रक्षितव्या महीक्षिता।
धर्मसंकररक्षा च राज्ञां धर्मः सनातनः ॥ १५ ॥
न विश्वसेच्च नृपतिर्न चात्यर्थं च विश्वसेत्।
षाड्गुण्यगुणदोषांश्च नित्यं बुद्ध्यावलोकयेत् ॥ १६ ॥
द्विड्छिद्रदर्शी नृपतिर्नित्यमेव प्रशस्यते।
त्रिवर्गे विदितार्थश्च युक्ताचारोपधिश्च यः ॥ १७ ॥
कोशस्योपार्जनरतिर्यमवैश्रवणोपमः।
वेत्ता च दशवर्गस्य स्थानवृद्धिक्षयात्मनः ॥ १८ ॥
अभृतानां भवेद्भर्ता भृतानामन्ववेक्षकः।

दूसरे पुरुष नहीं जान सकते ऐसी त्रिविध शक्तिसे युक्त पुरुष ही राजा होने योग्य है। राजन्! साधारण पुरुषोंके निकट मन्त्रणा प्रकाशित होनेकी अपेक्षा राजाओंको इससे बढके और दूसरा कोई भी सङ्कट नहीं है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके धर्मकी रक्षा करना राजा का कर्त्तव्य कार्य है; क्यों कि धर्म सङ्कर होनेसे प्रजाको बचाना ही राजाओंका सनातन धर्म है! यद्यपि किसीका विश्वास न करके स्वजनोंका विश्वास करना ही राजाओंको उचित है, तथापि उन लोगोंके विषयमें भी पूर्ण रीतिसे विश्वास करना अनुचित है! राजा निज बुद्धिसे बलवानके सङ्ग सन्धि करे, अपने समान पुरुषके साथ विग्रह, अपने से निर्बल राजाओंके दुर्ग आदिको आक्रमण करना और स्वयं निर्बल होनेसे निज दुर्गके आसरे निवास करना इत्यादि राजनीतिके परिणाम रूपी फल जय और पराजयका विचार करके कार्य करे (१३-१६)

जो राजा अपने छिद्रोंको गोपन करके शत्रुओंके छिद्रोंको देखता है, वह धर्म, अर्थ और काम इन त्रिवर्गोंके यथार्थ तत्वको जानता है। जो यथा योग्य स्थानोंमें जासूसोंको नियुक्त करके शत्रुपक्षीय सेवकोंके बीच धन देकर भी उन लोगोंके बीच भेद उत्पन्न कर सकता है; वह सबके निकट प्रशंसा प्राप्तके योग्य है। यमराजके समान प्रभावशाली, और सद्विचारक, कुबेरके तुल्य कोष सञ्चयमें रत, नाश और वृद्धिजनक कार्योंके अवस्था विशेषके गुण दोषोंको मालूम करना राजाका कर्त्तव्य कार्य है। राजा भूखोंको भोजन देनेवाला, सुखी पुरुषोंके तत्वोंको जानने-

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२)	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥) साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥) साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥)
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	॥) बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥) " "	।)
१२ शान्तिपर्व ।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	८४ " ८५)	२	२३२	१॥) डेढ	॥)
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८" १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७ १८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।)

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८० [शांतिपर्व अंक ४]

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिना जिल्द ६०) " " "

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

नृपतिः सुमुखश्च स्यात्स्मितपूर्वाभिभाषता ॥ १९ ॥
उपासिता च वृद्धानां जिततन्द्रिरलोलुपः ।
सतां वृत्ते स्थितमतिः सन्तोष्यश्चारुदर्शनः ॥ २० ॥
न चाददीत वित्तानि सतां हस्तात्कदाचन ।
असद्भ्यश्च समादद्यात्सद्भ्यस्तु प्रतिपादयेत् ॥ २१ ॥
स्वयं प्रहर्ता दाता च वश्यात्मा रम्यसाधनः ।
काले दाता च भोक्ता च शुद्धाचारस्तथैव च ॥ २२ ॥
शूरान्भक्तानसंहार्यान्कुले जातानरोगिणः ।
शिष्टान् शिष्टाभिसंबन्धान्मानिनोऽनवमानिनः॥२३॥
विद्याविदो लोकविदः परलोकान्ववेक्षकान् ।
धर्मे च निरतान्साधूनचलानचलानिव ॥ २४ ॥
सहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपरिष्कृतः ।
तैश्च तुल्यो भवेद्भोगैश्छत्रमात्राज्ञयाधिकः ॥ २५ ॥
प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत्सदा ।

वाला, वृद्धोंका उपासक, आलसरहित, लोभहीन और प्रसन्न चित्तवाला होवे । महाराज ! सदा प्रसन्न रहना, साधु-पुरुषोंके गमन करने योग्य मार्गसे विचरण करना और प्रजासमूहके संग हंसके प्रसन्नता सहित उन्हें आनन्दित करना राजाका कर्त्तव्य कर्म है । साधु पुरुषोंसे कर लेना उचित नहीं है, वरन दुष्ट पुरुषोंके धनको छीनके साधुओंको दान करना उचित है । (१७—२१)

राजाको युद्धविद्यामें निपुण, यथा समयमें दान देनेवाला, शुद्धाचारी जितेन्द्रिय, यथा समयपर भोजन करनेवाला तथा मनोहर भूषणोंको धारण करनेवाला होना चाहिये, जो सब मनुष्य शूरवीर, स्वामीभक्त, रोगहीन, उत्तम शिष्टाचार और परिवारयुक्त, विद्वान, धार्मिक, साधु और स्थिर-स्वभाववाले हैं; जो दूसरेसे प्रतारित नहीं होते, किसीकी अवमानना नहीं करते, सब लोगोंके चरित्रोंको जानते, परलोकको मानते और ऐश्वर्यकी अभिलाषा करते हैं; राजा वैसे ही पुरुषोंको अपना सहायक बनाकर उनके संग समान भावसे विषयादिकोंको भोगे; केवल मात्र छत्रधारण और राजाज्ञा-प्रचार करनेमें ही राजाकी उन लोगोंसे अधिकता रहती है । महाराज ! प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों प्रकारकी वृत्तिको समभावसे परीक्षा करके कार्यमें प्रवृत्त

एवं कुर्वन्नरेन्द्रोऽपि न खेदमिह विन्दति ॥ २६ ॥
सर्वाभिशङ्की नृपतिर्यश्च सर्वहरो भवेत्।
स क्षिप्रमनृजुर्लुब्धः स्वजनेनैव बध्यते ॥ २७ ॥
शुचिस्तु पृथिवीपालो लोकचित्तग्रहे रतः।
न पतत्यरिभिर्ग्रस्तः पतितश्चावतिष्ठते ॥ २८ ॥
अक्रोधनो ह्यव्यसनी मृदुदण्डो जितेन्द्रियः।
राजा भवति भूतानां विश्वास्यो हिमवानिव ॥ २९ ॥
प्राज्ञस्त्यागगुणोपेतः पररन्ध्रेषु तत्परः।
सुदर्शः सर्ववर्णानां नयापनयवित्तथा ॥ ३० ॥
क्षिप्रकारी जितक्रोधः सुप्रसादो महामनाः।
अरोषप्रकृतिर्युक्तः क्रियावानविकत्थनः ॥ ३१ ॥
आरब्धान्येव कार्याणि सुपर्यवसितानि च।
यस्य राज्ञः प्रदृश्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३२ ॥
पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।

होनेसे राजाको दुःखभागी नहीं होना पड़ता। (२२--२६)

राजा यदि किसीका भी विश्वास न करे, अथवा लोभके वशमें होकर दूसरेकी वृत्तिमें व्यर्थ दोष लगाके उसके धनको हरण करे, तो उसके स्वजन पुरुष थोडे ही समयमें उसका नाश कर देते हैं, जो शुद्धचरित्रवाले राजा सदा सर्वदा प्रजासमूहको आनन्दित करनेमें प्रवृत्त रहते हैं, वह कभी भी शत्रुओंसे पराजित होके स्थानभ्रष्ट नहीं होते; यदि शत्रुओंसे पराजित भी होवें; तौभी वह शीघ्र ही निज पदपर फिर प्रतिष्ठित होते हैं। राजा यदि क्रोधहीन मृदु दण्ड देनेवाला, जितेन्द्रिय होके मृगयादिक व्यसनोंमें आसक्त न होवे, तो वह हिमालयके समान स्थिर होकर सम्पूर्ण प्रजाका विश्वासपात्र होता है। जो राजा बुद्धिमान, दानशील, धर्मात्मा, पराये छिद्रोंका अनुसन्धान करनेवाला, प्रसन्नमुख, चारों वर्णोंको यथा नियमोंमें स्थित करनेवाला, क्रोधरहित, मनस्वी, क्रियावान, आत्मश्लाघारहित होकर योगाभ्यासमें रत रहता है; और जिसके सेवक लोग भी क्रोधरहित चित्तसे राजकार्योंमें तत्पर रहते, तथा जिसके अनुष्ठित कार्य निर्विघ्नताके सहित समाप्त होते हैं; वह राजसत्तम कहाता है। (२७-३२)

जैसे पुत्र पिताके गृहमें निर्भयचि-

निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः ॥ ३३ ॥
अगूढविभवा यस्य पौरा राष्ट्रनिवासिनः ।
नयापनयवेत्तारः स राजा राजसत्तमः ॥ ३४ ॥
स्वकर्मनिरता यस्य जना विषयवासिनः ।
असंघातरता दान्ताः पाल्यमाना यथाविधि ॥ ३५ ॥
वश्या नेया विधेयाश्च न च संघर्षशीलिनः ।
विषये दानरुचयो नरा यस्य स पार्थिवः ॥ ३६ ॥
न यस्य कूटं कपटं न माया न च मत्सरः ।
विषये भूमिपालस्य तस्य धर्मः सनातनः ॥ ३७ ॥
यः सत्करोति ज्ञानानि ज्ञेये परहिते रतः ।
सतां वर्त्मानुगस्त्यागी स राजा राज्यमर्हति ॥ ३८ ॥
यस्य चाराश्च मन्त्राश्च नित्यं चैव कृताकृताः ।
न ज्ञायन्ते हि रिपुभिः स राजा राज्यमर्हति ॥ ३९ ॥
श्लोकश्चायं पुरा गीतो भार्गवेण महात्मना ।
आख्याते रामचरिते नृपतिं प्रति भारत ॥ ४० ॥

पसे निवास करते हैं, वैसे ही जिसके राज्यमें सम्पूर्ण मनुष्य निर्भयताके सहित सब स्थानोंमें भ्रमण करते हैं; वह भी राजसत्तम कहा जाता है । जिसके पुरवासी प्रजा ऐश्वर्यशाली और निज धर्मोंमें तत्पर रहती है, उसे ही राजोंमें अत्यन्त श्रेष्ठ कहा जाता है। और जिसके राज्यभरकी सब प्रजा राजाके वशमें स्थिर, नीतिनिपुण राजाज्ञाकी पालन करनेवाली, ऐश्वर्ययुक्त, और दान धर्ममें रत रहके यथा रीतिसे पालित और शासित होकर आपसमें विरोध न करके निज निज कर्त्तव्य कर्मोंमें तत्पर रहती है; वही राजा श्रेष्ठ गिना जाता है । जिस राजाके राज्यमें चोरी, डकैती, माया, मत्सर और अधर्म आदि नहीं होते, वह सनातन धर्मको पालन करनेवाला राजा उत्तम फलोंको प्राप्त करता है। जो ज्ञानवान पण्डितोंका आदर करते, शास्त्रोंको पढते और पुरवासी तथा सम्पूर्ण प्रजाके हितमें तत्पर रहते हैं, वैसे श्रेष्ठ मार्गसे गमन करनेवाले दानशील पुरुष ही राजा होनेके योग्य हैं । शत्रुलोग जिसके दूतोंको मिलाके राजाके विचारोंको नहीं जान सकते, वह राजा ही राजत्व लाभ करने योग्य है । (३३-३९)

हे राजेन्द्र ! महात्मा भृगुनन्दन

राजानं प्रथमं विन्देत्ततो भार्यां ततो धनम् ।
राजन्यसति लोकस्य कुतो भार्या कुतो धनम् ॥४१॥
तद्राज्ये राज्यकामानां नान्यो धर्मः सनातनः ।
ऋते रक्षां तु विस्पष्टां रक्षा लोकस्य धारिणी ॥ ४२ ॥
प्राचेतसेन मनुना श्लोकौ चेमावुदाहृतौ ।
राजधर्मेषु राजेन्द्र ताविहैकमनाः शृणु ॥ ४३ ॥
षडेतान्पुरुषो जह्याद्भिन्नां नावमिवार्णवे ।
अप्रवक्तारमाचार्यमनधीयानमृत्विजम् ॥ ४४ ॥
अरक्षितारं राजानं भार्यां चाप्रियवादिनीम् ।
ग्रामकामं च गोपालं वनकामं च नापितम् ॥ ४५ ॥ २०७२

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

भीष्म उवाच— एतत्ते राजधर्माणां नवनीतं युधिष्ठिर ।
बृहस्पतिर्हि भगवान्नान्यं धर्मं प्रशंसति ॥ १ ॥

शुक्राचार्यने पहिले समयमें रामचरित्रोंको वर्णन करते हुए एक श्लोक कहा था, " प्रजाको चाहिये कि राजाको ही सबसे श्रेष्ठ समझके उसकी रक्षा करे, तिसके अनन्तर भार्या और धनकी रक्षामें यत्नवान होवे; क्यों कि राजाके न रहने पर उसकी भार्या कहां रहेगी, और धनकी रक्षा भी किस प्रकार हो सकती है ? इससे सब लोगोंको सब भांतिसे राजाकी रक्षा करना ही कर्त्तव्य है; इसी प्रकार राज्यकी अभिलाषा करनेवाले राजाको भी प्रजाकी रक्षाके अतिरिक्त सनातन धर्म दूसरा नहीं है; क्योंकि उनकी रक्षा ही प्रजाको प्रसन्न करनेका मूल कारण है । " हे राजेन्द्र ! राजधर्मके विषयमें प्राचेतस मनुने जो दो श्लोक कहे हैं; मैं उन दोनों श्लोकोंको उदाहरण स्वरूपसे वर्णन करता हूं,- मनुष्योंको उचित है, कि उपदेश न करनेवाले गुरु, वेदपाठ तथा अध्ययन हीन पुरोहित, रक्षा न करनेवाले राजा, अप्रिय वचन बोलनेवाली भार्या, ग्रामकी अभिलाषा करनेवाले अहीर और वनवासकी इच्छावाले नाई को इस प्रकार त्याग देवे, जैसे नावपर चढनेवाले पुरुष टूटी नौकाको त्याग देते हैं । (४०-४५) [२०७३]

शान्तिपर्वमें सतावन अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें अठावन अध्याय ।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! संपूर्ण राज्यकी प्रजाकी रक्षा करना ही राजधर्मका सार है, क्योंकि भगवान्

विशालाक्षश्च भगवान्काव्यश्चैव महातपाः ।
सहस्राक्षो महेन्द्रश्च तथा प्राचेतसो मनुः ॥ २ ॥
भरद्वाजश्च भगवांस्तथा गौरशिरा मुनिः ।
राजशास्त्रप्रणेतारो ब्रह्मण्या ब्रह्मवादिनः ॥ ३ ॥
रक्षामेव प्रशंसन्ति धर्मं धर्मभृतां वर ।
राज्ञां राजीवताम्राक्ष साधनं चात्र मे शृणु ॥ ४ ॥
चारश्च प्रणिधिश्चैव काले दानममत्सरात् ।
युक्त्या दानं च चादानमयोगेन युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
सतां संग्रहणं शौर्यं दाक्ष्यं सत्यं प्रजाहितम् ।
अनार्जवैरार्जवैश्च शत्रुपक्षस्य भेदनम् ॥ ६ ॥
केतनानां च जीर्णानामवेक्षा चैव सीदताम् ।
द्विविधस्य च दण्डस्य प्रयोगः कालचोदितः ॥ ७ ॥
साधूनामपरित्यागः कुलीनानां च धारणम् ।
निचयश्च निचेयानां सेवा बुद्धिमतामपि ॥ ८ ॥

बृहस्पतिने इसके अतिरिक्त दूसरे किसी धर्मकी प्रशंसा नहीं की है । हे धार्मिक पुरुषोंमें अग्रणी युधिष्ठिर ! भगवान् विशालाक्ष, महा तपस्वी शुक्राचार्य, सहस्र नेत्रवाले इन्द्र, भगवान भरद्वाज और गौरशिरा मुनि आदि धार्मिक पुरुष लोकरक्षारूपी राजधर्म की ही प्रशंसा किया करते हैं । हे युधिष्ठिर ! इस समय लोकरक्षा विषयक सम्पूर्ण युक्तियोंको सुनो । (१-४)

यथा नियमपूर्वक जासूसोंको नियत करना, दूत भेजना, समयानुसार दान और मत्सर रहित पुरुषोंसे उत्तम युक्ति ग्रहण करना, दुष्ट उपायके सहारे प्रजासे कर संग्रह न करना, सत्यवादी होना, समयके अनुसार वीरता और कार्यदक्षता प्रकाशित करनी, प्रजाके हित साधनमें तत्पर रहना, सरल वा कुटिल उपायको अवलम्बन करके शत्रुपक्षके मनुष्योंके बीच मतभेद कराना, साधुपुरुषोंको संग्रह करना, पुराने और टूटने योग्य मकानोंका निरीक्षण करके उन्हें दृढ करनेका यत्न, शारीरिक और अर्थदंण्डको यथासमय पर प्रयोग करना, साधु और उत्तम कुलोंमें उत्पन्न हुए पुरुषोंको परित्याग न करके उन्हें यथा योग्य कार्योंपर नियुक्त करना, जिन्हें संग्रह करना योग्य है उन पुरुषोंको संग्रह करना, बुद्धिमानोंकी सेवा, सेनाके पुरुषोंको उत्साहित करना, सदा प्रजाकी

बलानां हर्षणं नित्यं प्रजानामन्ववेक्षणम् ।
कार्येष्वखेदः कोशस्य तथैव च विवर्धनम् ॥ ९ ॥
पुरगुप्तिरविश्वासः पौरसङ्घातभेदनम् ।
अरिमध्यस्थमित्राणां यथावच्चान्ववेक्षणम् ॥ १० ॥
उपजापश्च भृत्यानामात्मनः पुरदर्शनम् ।
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा ॥ ११ ॥
नीतिधर्मानुसरणं नित्यमुत्थानमेव च ।
रिपूणामनवज्ञानं नित्यं चानार्यवर्जनम् ॥ १२ ॥
उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य तन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥ १३ ॥
उत्थानेनामृतं लब्धमुत्थानेनासुरा हताः ।
उत्थानेन महेन्द्रेण श्रैष्ठ्यं प्राप्तं दिवीह च ॥ १४ ॥
उत्थानवीरः पुरुषो वाग्वीरानधितिष्ठति ।
उत्थानवीरान्वाग्वीरा रमयन्त उपासते ॥ १५ ॥
उत्थानहीनो राजा हि बुद्धिमानपि नित्यशः ।

अवस्थाको देखते रहना, कोष बढाना; कार्यमें ढीलापन न करना, पहरियोंका विश्वास न करके स्वयं निज राज्यकी प्रजाओंका अनुसन्धान लेते रहना, अन्य पुरुषोंसे पुरवासी प्रजा और राजसेवकोंके बीच भेद उत्पन्न करा देना, गुप्तरीतिसे शत्रुओंके निकटमें स्थित मित्रोंके यथार्थ तत्वको निश्चय करना,स्वयं अन्तःपुरकी ओर दृष्टि रखना, भृत्योंका इकबारगी विश्वास न करना, शत्रुओंको धीरज देना और उनकी अवज्ञा न करनी, दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग न करना; और सदा उद्योगी होकर नीतिमार्गका अनुगामी होना, राजाका कर्तव्य कार्य है। (५-१२)

बृहस्पतिने राजाओंके निमित्त उद्योगको ही राजधर्मका मूल कहा है। हे युधिष्ठिर! इस विषयोंमें मैं एक प्राचीन श्लोक कहता हूं उसे सुनो, देवताओंने उद्योगसे अमृत लाभ करके असुरोंको मारा था; और इन्द्र अपने उद्योगसे ही तीनों लोकोंके बीच विख्यात होके स्वर्गलोकके राजा हुए हैं। उद्योगी पुरुष पण्डितोंके ऊपर भी आधिपत्य करते और पण्डित लोग स्तुति आदि वचनोंसे उन्हें प्रसन्न करते हुए उनकी उपासना किया करते हैं। राजा बुद्धिमान होनेपर भी उद्योगरहित होनेके

प्रधर्षणीयः शत्रूणां भुजङ्ग इव निर्विषः ॥ १६ ॥
न च शत्रुरवज्ञेयो दुर्बलोपि बलीयसा।
अल्पोऽपि हि दहत्यग्निर्विषमल्पं हिनस्ति च ॥ १७ ॥
एकाङ्गेनापि संभूतः शत्रुर्दुर्गमुपाश्रितः।
सर्वं तापयते देशमपि राज्ञः समृद्धिनः ॥ १८ ॥
राज्ञो रहस्यं तद्वाक्यं यथार्थं लोकसंग्रहः।
हृदि यच्चास्य जिह्मं स्यात्कारणेन च यद्भवेत् ॥ १९ ॥
यच्चास्य कार्यं वृजिनमार्जवेनेह निर्जयेत्।
दम्भनार्थं च लोकस्य धर्मिष्ठामाचरेत्क्रियाम् ॥ २० ॥
राज्यं हि सुमहत्तन्त्रं धार्यते नाकृतात्मभिः।
न शक्यं मृदुना वोढुमायासस्थानमुत्तमम् ॥ २१ ॥
राज्यं सर्वामिषं नित्यमार्जवेनेह धार्यते।
तस्मान्मिश्रेण सततं वर्तितव्यं युधिष्ठिर ॥ २२ ॥
यद्यप्यस्य विपत्तिः स्याद्रक्षमाणस्य वै प्रजाः।
सोऽप्यस्य विपुलो धर्म एवं वृत्ता हि भूमिपाः ॥ २३ ॥

कारण विषरहित सर्पकी भांति अपने शत्रुओंसे पराजित होता है। और निर्बल शत्रुकी भी अवज्ञा करनी बलवान पुरुषको कदापि उचित नहीं है, क्यों कि अग्नि तनिक भी होनेसे भस्म करती और थोडा सा विष भी प्राण नाश कर सकता है। शत्रु हाथी घोडे आदि सब अङ्गोंमेंसे एक अंग मात्र लेकर ही दुर्गमें आश्रय ग्रहण करनेपर और समृद्धिमान श्रेष्ठ राजाके सम्पूर्ण देशोंको पीडित कर सकता है। (१३—१८)

राजाको उचित है, कि अपने गोपनीय वचन, शत्रु विजयके निमित्त सेना संग्रह, शारीरिक और मानासिक कुटिलता तथा जो कुछ हीन कार्य करे, सम्पूर्ण मनुष्योंके निकट सरलता प्रकाशित करके उन कर्मोंको यत्नपूर्वक गोपन करे। मनुष्य संग्रह करनेवाला राजा सदा धर्माचरणमें प्रवृत्त रहे; क्योंकि दुष्टस्वभाववाले पुरुष कदापि विशाल राज्यकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते। हे युधिष्ठिर ! इसी प्रकार अत्यन्त दयालु पुरुष भी राज्यकी रक्षा नहीं कर सक्ता और सरल प्रकृति अवलम्बन करनेसे भी राज्यकी रक्षा नहीं हो सकती। इससे सरलता और कठोरता युक्त दोनों ही वृत्तियोंको अवलम्बन करना चाहिये। यदि इस नियमसे प्रजाकी रक्षा करनेमें

एष ते राजधर्माणां लेशः समनुवर्णितः।
भूयस्ते यत्र संदेहस्तद् ब्रूहि कुरुसत्तम ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच–ततो व्यासश्च भगवान्देवस्थानोऽश्म एव च।
वासुदेवः कृपश्चैव सात्यकिः सञ्जयस्तथा ॥ २५ ॥
साधु साध्विति संहृष्टाः पुष्यमाणैरिवाननैः।
अस्तुवंश्च नरव्याघ्रं भीष्मं धर्मभृतां वरम् ॥ २६ ॥
ततो दीनमना भीष्ममुवाच कुरुसत्तमः।
नेत्राभ्यामश्रुपूर्णाभ्यां पादौ तस्य शनैः स्पृशन् ॥२७॥
श्व इदानीं स्वसंदेहं प्रक्ष्यामि त्वां पितामह।
उपैति सविता ह्यस्तं रसमापीय पार्थिवम् ॥ २८ ॥
ततो द्विजातीनभिवाद्य केशवः कृपश्च ते चैव युधिष्ठिरादयः।
प्रदक्षिणीकृत्य महानदीसुतं ततो रथानारुरुहुर्मुदान्विताः ॥ २९ ॥
दृषद्वतीं चाप्यवगाह्य सुव्रताः कृतोदकार्थाः कृतजप्यमङ्गलाः।
उपास्य सन्ध्यां विधिवत्परंतपास्ततः पुरं ते विविशुर्गजाह्वयम् ॥३०॥

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० राजधर्मा०युधिष्ठिरादिस्वस्थानगमने अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ५८

राजाको विपत्ति भी उपस्थित होवे, तौभी इसही नीतिसे गमन करना उसका सनातन मार्ग है, क्यों कि ऐसी वृत्ति अवलम्बन करना ही राजाका कर्त्तव्य कर्म है। हे कुरुनन्दन! यह सामान्य रूपसे राजधर्मका कुछ अंश वर्णित हुआ है; अब तुम्हें जिन विषयोंमें सन्देह होवे, उसे मेरे समीप प्रकाशित करो। (१९—२४)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर भगवान व्यासदेव, देवस्थान, अश्म, श्रीकृष्ण, कृपाचार्य, सात्यकि और सञ्जय धर्मात्मा पुरुषोंमें अग्रणी पुरुषसिंह भीष्मको धन्य धन्य कहके उनकी स्तुति करने लगे। महाराज! उस समय वे सब कोई इस प्रकार आनन्दित होकर प्रसन्न हुए थे, जैसे सूर्यके उदय होनेसे कमलका पुष्प खिलता है। अनन्तर राजा युधिष्ठिर दुःखित चित्तसे आखोंमें आंसू भरकर भीष्मके दोनों चरणोंको स्पर्श करके बोले, हे पितामह! मुझे जिन विषयोंमें सन्देह है उसे कलह आपके निकट प्रकाशित करूंगा; क्योंकि अब सूर्यदेव अस्त हुआ चाहते हैं। तिसके अनन्तर शत्रुनाशन यशस्वी कृष्ण, कृपाचार्य और राजा युधिष्ठिर आदि सब पुरुषोंने ब्राह्मणोंको प्रणाम करके गङ्गानन्दन

वैशंपायन उवाच— ततः कल्यं समुत्थाय कृतपूर्वाह्णिकक्रियाः ।
ययुस्ते नगराकारै रथैः पाण्डवयादवाः ॥ १ ॥
प्रतिपद्य कुरुक्षेत्रं भीष्ममासाद्य चानघ ।
सुखां च रजनीं पृष्ट्वा गांगेयं रथिनां वरम् ॥ २ ॥
व्यासादीनभिवाद्यर्षीन्सर्वैस्तैश्चाभिनन्दिताः ।
निषेदुरभितो भीष्मं परिवार्य समन्ततः ॥ ३ ॥
ततो राजा महातेजा धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्भीष्मं प्रतिपूज्य यथाविधि ॥ ४ ॥
युधिष्ठिर उवाच— य एष राजन् राजेति शब्दश्चरति भारत ।
कथमेष समुत्पन्नस्तन्मे ब्रूहि परन्तप ॥ ५ ॥
तुल्यपाणिभुजग्रीवस्तुल्यबुद्धीन्द्रियात्मकः ।
तुल्यदुःखसुखात्मा च तुल्यपृष्ठमुखोदरः ॥ ६ ॥
तुल्यशुक्रास्थिमज्जा च तुल्यमांसासृगेव च ।

भीष्मकी प्रदक्षिणा की; फिर दृषद्वती नदीमें यथारीतिसे माङ्गलिक जप, सन्ध्योपासन और तर्पण आदि कर्मोंको समाप्त करके पश्चात् हस्तिनापुरमें प्रवेश किया। (२५—३०) [२१०३]

शान्तिपर्वमें अठावन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनसठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, अनन्तर पाण्डव और यादवोंने दूसरे दिन प्रातःकालके नित्यकर्मोंको समाप्त करके रथमें चढकर फिर भीष्मके समीप जानेके वास्ते हस्तिनापुरसे प्रस्थान किया, उस समय पाण्डव और यादवोंके रथ मार्गमें गमन करते हुए नगरके समान बोध होते थे। अनन्तर वे सब कोई कुरुक्षेत्रमें पहुंचकर पापरहित गङ्गानन्दन भीष्मसे इस प्रकार कुशल प्रश्न करने लगे, कि "आपने सुखपूर्वक रात्रि व्यतीत की है न?" फिर व्यास आदि महर्षियोंको नमस्कार करके सब कोई पुरुषश्रेष्ठ भीष्मके चारों ओर बैठ गये। तिसके अनन्तर महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर भीष्मकी यथारीतिसे पूजा करके हाथ जोडके कहने लगे। (१-४)

राजा युधिष्ठिर बोले, हे शत्रुनाशन भरतनन्दन! इस पृथ्वीपर " राजा " शब्द प्रचलित है, इसकी किस प्रकार उत्पत्ति हुई है; आप इस विषयको मेरे समीप वर्णन करिये। इस पृथ्वीपर हाथ, पांव, मुख, उदर, ग्रीवा, शुक्र, हड्डी, मांस, मज्जा, रुधिर, बुद्धि, इन्द्रिय, आत्मा, सुख, इच्छा, निश्वास, प्राण,

निःश्वासोच्छ्वासतुल्यश्च तुल्यप्राणशरीरवान् ॥ ७ ॥
समानजन्ममरणः समः सर्वगुणैर्नृणाम् ।
विशिष्टबुद्धीन् शूरांश्च कथमेकोऽधितिष्ठति ॥ ८ ॥
कथमेको महीं कृत्स्नां शूरवीरार्यसंकुलाम् ।
रक्षत्यपि च लोकस्य प्रसादमभिवांछति ॥ ९ ॥
एकस्य तु प्रसादेन कृत्स्नो लोकः प्रसीदति ।
व्याकुले चाकुलः सर्वो भवतीति विनिश्चयः ॥ १० ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
कृत्स्नं तन्मे यथातत्त्वं प्रब्रूहि वदतां वर ॥ ११ ॥
नैतत्कारणमल्पं हि भविष्यति विशाम्पते ।
यदेकस्मिन् जगत्सर्वं देववद्याति सन्नतिम् ॥ १२ ॥
भीष्म उवाच— नियतस्त्वं नरव्याघ्र शृणु सर्वमशेषतः ।
यथा राज्यं समुत्पन्नमादौ कृतयुगेऽभवत् ॥ १३ ॥
न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः ।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम् ॥ १४ ॥
पाल्यमानास्तथाऽन्योऽन्यं नरा धर्मेण भारत ।

शरीर, जन्म, मृत्यु और अन्य गुण मनुष्योंमें समान होनेपर भी किस कारणसे एक ही पुरुष बुद्धिमान और शूरवीर पुरुषोंके ऊपर आधिपत्य करता है ? एक पुरुष ही इस शूरवीर और श्रेष्ठ पुरुषोंसे युक्त सम्पूर्ण पृथ्वीकी रक्षा करता है, और सब कोई उसके प्रसन्न करनेकी अभिलाषा करते हैं ? हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ भरतर्षभ ! उस एक पुरुषके प्रसन्न होनेसे सब कोई प्रसन्न और उसके व्याकुल होनेसे सम्पूर्ण पुरुष व्याकुल होते हैं; यह रीति जो सदासे प्रचलित है, मैं उसके सुननेकी इच्छा करता हूं; इससे आप विस्तारपूर्वक इस वृत्तान्तको वर्णन कीजिये । (५-११)

हे नरनाथ ! सब मनुष्य जो एक ही पुरुषकी आज्ञामें चलते हैं; इसका कारण भी सामान्य न होगा । भीष्म बोले, हे पुरुषसिंह युधिष्ठिर ! पहिले सतयुगमें जिस प्रकार प्रथम राजत्व स्थापित हुआ था, उसे मैं कहता हूं, चित्त लगाके सुनो । पहिले राजा वा राज्य, तथा दण्डकर्त्ता और दण्ड कुछ भी नहीं था, प्रजा ही धर्मकी अनुगामिनी होकर आपसमें एक दूसरेकी रक्षा करती थी । हे भारत ! इसी भांति एक दूसरेकी रक्षा

खेदं परमुपाजग्मुस्ततस्तान्मोह आविशत् ॥ १५ ॥
ते मोहवशमापन्ना मनुजा मनुजर्षभ ।
प्रतिपत्तिविमोहाच्च धर्मस्तेषामनीनशत् ॥ १६ ॥
नष्टायां प्रतिपत्तौ च मोहवश्या नरास्तदा ।
लोभस्य वशमापन्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ १७ ॥
अप्राप्तस्याभिमर्शं तु कुर्वन्तो मनुजास्ततः ।
कामो नामापरस्तत्र प्रत्यपद्यत वै प्रभो ॥ १८ ॥
तांस्तु कामवशं प्राप्तान् रागो नामाभिसंस्पृशत् ।
रक्ताश्च नाभ्यजानन्त कार्याकार्यं युधिष्ठिर ॥ १९ ॥
अगम्यागमनं चैव वाच्यावाच्यं तथैव च ।
भक्ष्याभक्ष्यं च राजेन्द्र दोषादोषं च नात्यजन् ॥२०॥
विप्लुते नरलोके वै ब्रह्म चैव ननाश ह ।
नाशाच्च ब्रह्मणो राजन्धर्मो नाशमथागमत् ॥२१॥
नष्टे ब्रह्मणि धर्मे च देवांस्त्रासः समाविशत् ।
ते त्रस्ता नरशार्दूल ब्रह्माणं शरणं ययुः ॥ २२ ॥
प्रसाद्य भगवन्तं ते देवं लोकपितामहम् ।

करते हुए वे सब कोई क्रमसे थक गये और उनका चित्त भ्रमित होने लगा। हे पुरुषश्रेष्ठ ! इसी भांति चित्त विभ्रम उपस्थित होनेपर ज्ञान लोप होनेसे उनके धर्म कार्य नष्ट होने लगे। हे भरतर्षभ क्रमसे मोह और लोभ उपस्थित होनेपर वे लोग अप्राप्त वस्तुओंकी भी इच्छा करने लगे; इससे विषयवासना और इन्द्रिय सुख आदि कामनाओंने उनके चित्तको आक्रमण किया। (१२-१८)

हे युधिष्ठिर ! इसी भांति भोगाभिलाष उपस्थित होनेपर वे लोग उसमें इस प्रकार अनुरक्त हुए, कि कर्त्तव्याकर्त्तव्य, ज्ञान और अनेक सद्वचनोंसे रहित होगये। हे राजेन्द्र ! इसी कारण उन लोगोंमें अगम्य गमन, भक्ष्याभक्ष्य और दोष अदोषका कुछ भी विचार न रहा। हे राजन् ! मनुष्य लोग इस प्रकार ज्ञानहीन होके विषयोंमें आसक्त हुए, तो वेद आदिक नष्टभ्रष्ट होने लगे और यज्ञादिक कर्म धर्म भी लुप्त होगये। हे पुरुषसिंह ! इसी भांति जब वेदादिक धर्म लुप्त होगये, तब देवता लोग भयभीत होकर जगत् पितामह ब्रह्माकी शरणमें उपस्थित होकर उनको

ऊचुः प्राञ्जलयः सर्वे दुःखवेगसमाहताः ॥ २३ ॥
भगवन्नरलोकस्थं ग्रस्तं ब्रह्म सनातनम् ।
लोभमोहादिभिर्भावैस्ततो नो भयमाविशत् ॥ २४ ॥
ब्राह्मणश्च प्रणाशेन धर्मो व्यनशदीश्वर ।
ततः स्म समतां याता मर्त्यैस्त्रिभुवनेश्वर ॥ २५ ॥
अधो हि वर्षमस्माकं नरास्तूर्ध्वप्रवर्षिणः ।
क्रियाव्युपरमात्तेषां ततो गच्छामसंशयम् ॥ २६ ॥
अत्र निःश्रेयसं यन्नस्तद्ध्यायस्व पितामह ।
त्वत्प्रभावसमुत्थोऽसौ स्वभावो नो विनश्यति॥ २७ ॥
तानुवाच सुरान्सर्वान्स्वयम्भूर्भगवान् स्तुतः ।
श्रेयोऽहं चिन्तयिष्यामि व्येतु वोऽभीः सुरर्षभाः॥२८॥
ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम् ।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चैवाभिवर्णितः ॥ २९ ॥
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा ।

स्तुति करने लगे; और दुःखित चित्तसे हाथ जोडके यह वचन बोले, हे भगवन्! मनुष्योंमें लोभ और मोह आदिक भावोंके उदय होनेसे सनातन वेदधर्म लुप्त हुआ है, इस ही कारण हम लोगोंको भय उपस्थित हुआ है। (१९-२४)

हे त्रिलोकी नाथ! ब्राह्मण और वेदोंके लुप्त होनेसे यज्ञ आदिक धर्म कर्म भी नष्ट हुए हैं; इससे हम लोग इस समय मर्त्यलोक वासी मनुष्योंकी समानताको प्राप्त हुए हैं। मनुष्य लोग हम लोगोंके निमित्त यज्ञमें आहुति प्रदान करते थे, और यज्ञसे तृप्त होकर हम लोग जलकी वर्षा करके मनुष्योंको आनन्दित करते थे; परन्तु इस समय सम्पूर्ण कर्मोंके लुप्त होनेसे हम लोग भी नष्ट प्राय होगये हैं। हे पितामह! आपकी कृपासे हम लोगोंको जो कुछ ऐश्वर्य प्राप्त हुए थे, वह सब नष्ट हो रहे हैं; इससे इस समयमें जिस भांति हम लोगोंका कल्याण होवे, आप अनुग्रह कर उसीका विधान करिये। (२५—२७)

तिसके अनन्तर स्वयम्भू भगवान ब्रह्मा उन देवताओंसे बोले, हे देवता लोगो! हम लोग भय मत करो, जिससे तुम लोगोंका मङ्गल होगा, मैं वही उपाय करूंगा। अनन्तर पितामह ब्रह्माने निज बुद्धिके प्रभावसे एक सौ हजार अध्यायोंसे युक्त एक शास्त्र बनाके उसमें धर्म, अर्थ और कामका विस्तार पूर्वक

चतुर्थो मोक्ष इत्येव पृथगर्थः पृथग्गुणः ॥ ३० ॥
मोक्षस्यास्ति त्रिवर्गोऽन्यः प्रोक्तः सत्त्वं रजस्तमः ।
स्थानं वृद्धिः क्षयश्चैव त्रिवर्गश्चैव दण्डजः ॥ ३१ ॥
आत्मा देशश्च कालश्चाप्युपायाः कृत्यमेव च ।
सहायाः कारणं चैव षड्वर्गो नीतिजः स्मृतः ॥ ३२ ॥
त्रयी चान्वीक्षिकी चैव वार्ता च भरतर्षभ ।
दण्डनीतिश्च विपुला विद्यास्तत्र निदर्शिताः ॥ ३३ ॥
आमात्यरक्षा प्रणिधी राजपुत्रस्य लक्षणम् ।
चारश्च विविधोपायः प्रणिधेयः पृथग्विधः ॥ ३४ ॥
साम भेदः प्रदानं च ततो दण्डश्च पार्थिव ।
उपेक्षा पञ्चमी चात्र कार्त्स्न्येन समुदाहृता ॥ ३५ ॥
मन्त्रश्च वर्णितः कृत्स्नस्तथा भेदार्थ एव च ।
विभ्रमश्चैव मन्त्रस्य सिद्ध्यासिद्ध्योश्च यत्फलम् ॥३६॥
सन्धिश्च त्रिविधाभिख्यो हीनो मध्यस्तथोत्तमः ।
भयसत्कारवित्ताख्यं कार्त्स्न्येन परिवर्णितम् ॥ ३७ ॥

वर्णन किया, ब्रह्माने धर्म अर्थ और कामको त्रिवर्ग कहके विख्यात किया, और त्रिवर्गसे विपरीत फलदायक पृथक् गुणविशिष्ट मोक्षनाम चतुर्थ पदका उस ही शास्त्रमें वर्णन किया । मोक्षको भी सकाम कर्म भेदसे सत्त्व, रज और तमरूपी त्रिवर्ग और निष्काम भेदसे उससे पृथक् अन्य एकवर्ग वर्णन किया । हे भरतश्रेष्ठ ! वणिकोंके धनकी रक्षा, तपस्वियोंकी बढती और चोरोंके नष्ट करनेके वास्ते त्रिवर्ग आत्मा, देश, काल, उपाय, प्रयोजन और सहाय नीतिसे उत्पन्न हुए, ये षड्वर्ग कर्म-काण्ड, ज्ञान-काण्ड, कृषि, वाणिज्य, जीवि-काकाण्ड और विशाल दण्डनीति, ये सब विषय जगत् पितामह ब्रह्माके बनाये हुए एक लक्ष अध्यायोंमें पूर्ण रीतिसे वर्णित हैं । (२८-३३)

हे राजन् ! सेवकोंकी रक्षा, ब्राह्मण और राजपुत्रोंके लक्षण, अनेक उपायके सहित जासूसोंको नियुक्त करना, ब्रह्म-चारी आदि वेषधारी गुप्त चरोंको पृथक् पृथक् रूपसे नियत करना और साम, दान, भेद, दण्ड और उपेक्षा ये सब विषय उस शास्त्रमें विस्तार पूर्वक वर्णित हुए हैं । मन्त्र, भेदार्थ मन्त्रविभ्रम और सिद्ध असिद्धिके फल भी उसमें कहे गये हैं । भययुक्त सत्कार सहित और

यात्राकालाश्च चत्वारस्त्रिवर्गस्य च विस्तरः ।
विजयो धर्मयुक्तश्च तथार्थविजयश्च ह ॥ ३८ ॥
आसुरश्चैव विजयस्तथा कार्त्स्न्येन वर्णितः ।
लक्षणं पञ्चवर्गस्य त्रिविधं चात्र वर्णितम् ॥ ३९ ॥
प्रकाशश्चाप्रकाशश्च दण्डोऽथ परिशब्दितः ।
प्रकाशोऽष्टविधस्तत्र गुह्यश्च बहुविस्तरः ॥ ४० ॥
रथा नागा हयाश्चैव पादाताश्चैव पाण्डव ।
विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ ४१ ॥
अङ्गान्येतानि कौरव्य प्रकाशानि बलस्य तु ।
जङ्गमाजङ्गमाश्चोक्ताश्चूर्णयोगा विषादयः ॥ ४२ ॥
स्पर्शे चाभ्यवहार्ये चाप्युपांशुर्विविधः स्मृतः ।
अरिर्मित्र उदासीन इत्येतेऽप्यनुवर्णिताः ॥ ४३ ॥
कृत्स्ना मार्गगुणाश्चैव तथा भूमिगुणाश्च ह ।
आत्मरक्षणमाश्वासः सर्गाणां चान्ववेक्षणम् ॥ ४४ ॥
कल्पना विविधाश्चापि नृनागरथवाजिनाम् ।
व्यूहाश्च विविधाभिख्या विचित्रं युद्धकौशलम् ॥ ४५ ॥

धनग्रहण रूपी उत्तम, मध्यम और अधम सन्धि भी उसमें वर्णित है। चतुर्विध यात्राकाल, त्रिवर्ग विस्तार, धर्मयुक्त विजय, अर्थ विजय और अन्याय पूर्वक कर्मोंसे असुरविजय पूर्ण रीतिसे उस शास्त्रोंमें वर्णित हैं। उत्तम, मध्यम और अधम भेदसे सेवक, राष्ट्र, किला, बल और कोष इन पञ्चवर्गोंके सब लक्षण वर्णित हुए हैं। प्रकाश और गुप्त दोनों भांतिकी सेना उसमें कही गई हैं; और अष्टविध प्रकाश और गुह्य बहुत विस्तारसे वर्णित हुआ है। (३४-४०)

हे पाण्डुनन्दन ! रथ, हाथी, घोडे, पत्ति, विष्टि, नाविक, भार उठानेवाले दूत और उपदेष्टा ये आठ प्रकारके बलके अङ्ग हैं। वस्त्रादिक, अन्न आदि भोजन की वस्तु और अभिचारिक कार्योंमें जङ्गम अजङ्गम अर्थात् विषादिक चूर्ण योगरूप दण्ड वर्णित है। हे भरतर्षभ ! उस शास्त्रमें मित्र, शत्रु और उदासीन पुरुषोंके लक्षण भी वर्णित हुए हैं। ग्रह नक्षत्र आदिके मार्गगुण, भूमिगुण, मन्त्र और यन्त्रोंसे आत्मरक्षा, धैर्य और रथ निर्माण आदि कार्योंको अवलोकन करना, मनुष्य,हाथी और घोडोंके बल-

उत्पाताश्च निपाताश्च सुयुद्धं सुपलायितम्।
शस्त्राणां पालनं ज्ञानं तथैव भरतर्षभ ॥ ४६ ॥
बलव्यसनयुक्तं च तथैव बलहर्षणम्।
पीडा चापद्कालश्च पत्तिज्ञानं च पाण्डव ॥ ४७ ॥
तथाख्यातविधानं च योगः सञ्चार एव च।
चोरैराटविकैश्चोग्रैः परराष्ट्रस्य पीडनम् ॥ ४८ ॥
अग्निदैर्गरदैश्चैव प्रतिरूपककारकैः।
श्रेणिमुख्योपजापेन वीरुधश्छेदनेन च ॥ ४९ ॥
दूषणेन च नागानामातङ्कजननेन च।
आराधनेन भक्तस्य प्रत्ययोपार्जनेन च ॥ ५० ॥
सप्ताङ्गस्य च राज्यस्य ह्रासवृद्धी समञ्जसम्।
दूतसामर्थ्यसंयोगात्सराष्ट्रस्य विवर्धनम् ॥ ५१ ॥
अरिमध्यस्थमित्राणां सम्यक्प्रोक्तं प्रपञ्चनम्।
अवमर्दः प्रतीघातस्तथैव च बलीयसाम् ॥ ५२ ॥

पुष्टिके अनेक भांतिके यत्न, योग, नाना भांतिके व्यूह, विचित्र युद्ध कौशल, धूमकेतु प्रभृति उत्पात, उल्कापात, शस्त्रोंको तीक्ष्ण करनेकी विधि और उनके चलाने तथा निवारण करनेकी विधि पूर्ण रीतिसे वर्णित है। (४१–४६)

हे पाण्डुपुत्र सब बलोंकी बढती, क्षय, और पीडा; आपत कालमें सेनाके गुण दोषोंका ज्ञान, नगारे आदि बाजोंके शब्द सहित यात्रा कालमें गमन करनेका विधान, ध्वजा पताकासे युक्त रथ आदि वाहन, मन्त्रादिकोंसे शत्रुओंको मोहित करनेकी विधि इत्यादि ये सब विषय उस शास्त्रमें वर्णित हुए हैं। चोर, डकैत, जङ्गली भील-किरात, अग्नि, विष और कृत्रिम पत्र बनानेवाले पुरुषोंसे बलवान शत्रुओंमें भेद कराना, खेती कटवाना, मन्त्र और औषधियोंके प्रयोगसे हाथी, घोडोंको दूषित करना, प्रजाको भय दिखाना, अनुयायियोंका आदर और सबके मनमें विश्वास उत्पन्न कराके शत्रुराज्यको पीडित करनेकी विधि उस शास्त्रमें विशेष रूपसे वर्णन की गई है। और सप्तांग राज्यकी बढती ह्रास, शांति स्थापन, राज्यको बढाना, बलवान पुरुषोंको संग्रह करना इत्यादि ये सब विषय उसमें वर्णित हैं। (४७–५१)

शत्रुके निकटमें रहनेवाले मित्रोंमें भेद, बलवान शत्रुको यत्नपूर्वक पीडित करना, सूक्ष्म विचार, खलोंका नाश,

व्यवहारः सुसूक्ष्मश्च तथा कण्टकशोधनम् ।
श्रमो व्यायामयोगश्च त्यागो द्रव्यस्य संग्रहः ॥ ५३ ॥
अभृतानां च भरणं भृतानां चान्ववेक्षणम् ।
अर्थस्य काले दानं च व्यसने चाप्रसङ्गिता ॥ ५४ ॥
तथा राजगुणाश्चैव सेनापतिगुणाश्च ह ।
कारणं च त्रिवर्गस्य गुणदोषास्तथैव च ॥ ५५ ॥
दुश्चेष्टितं च विविधं वृत्तिश्चैवानुवर्तिनम् ।
शङ्कितत्वं च सर्वस्य प्रमादस्य च वर्जनम् ॥ ५६ ॥
अलब्धलाभो लब्धस्य तथैव च विवर्धनम् ।
प्रदानं च विवृद्धस्य पात्रेभ्यो विधिवत्ततः ॥ ५७ ॥
विसर्गोऽर्थस्य धर्मार्थं कामहेतुकमुच्यते ।
चतुर्थं व्यसनाघाते तथैवात्रानुवर्णितम् ॥ ५८ ॥
क्रोधजानि तथोग्राणि कामजानि तथैव च ।
दशोक्तानि कुरुश्रेष्ठ व्यसनान्यत्र चैव ह ॥ ५९ ॥
मृगयाक्षास्तथा पानं स्त्रियश्च भरतर्षभ ।
कामजान्याहुराचार्याः प्रोक्तानीह स्वयम्भुवा ॥ ६० ॥

मल्लयुद्ध, शस्त्र चलाना, दान धन संग्रह, भूखोंको भोजन, सेवकोंके कार्योंका निश्चय, समयके अनुसार धनव्यय, मृगया आदि व्यसनोंमें अनिच्छा, सावधानता आदि राजगुण, शूरता, वीरता और धीरता आदि सेनापतिके गुण और त्रिवर्गके गुणदोष तथा कारण उस शास्त्रमें विस्तारपूर्वक वर्णित हुए हैं। नाना भांति की दुरभिसन्धि, अनुयायी और सेवकोंकी यथा योग्य वृत्ति, सब भांतिके प्रमादोंकी शक्ति, तत्व, निवारण विधि, अप्राप्त अर्थका लाभ, प्राप्त अर्थकी बढती, और बढाये हुए धनको विधिपूर्वक सत्पात्रोंको दान करना, यज्ञादि धर्म कर्मोंमें दान, काम्यदान और विपद उपस्थित होनेपर धन दान करनेकी विधि भी उस लक्ष श्लोकवाले शास्त्रमें वर्णित है। हे कुरुश्रेष्ठ! लक्ष अध्यायवाले शास्त्रके बीच क्रोध और कामसे उत्पन्न हुए दश प्रकारके व्यसनोंका भी वर्णन है। (५२–५९)

हे भरतर्षभ! तिसके बीच पितामह ब्रह्माने कहा है, जूआ, मृगया, सुरापान और स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्ति ये चारों व्यसन कामसे उत्पन्न होते हैं। कठोर वचन, क्रुद्धस्वभाव, कठोर दण्ड,

वाक्पारुष्यं तथोग्रत्वं दण्डपारुष्यमेव च।
आत्मनो निग्रहस्त्यागो ह्यर्थदूषणमेव च ॥ ६१ ॥
यन्त्राणि विविधान्येव क्रियास्तेषां च वर्णिताः।
अवमर्दः प्रतीघातः केतनानां च भञ्जनम् ॥ ६२ ॥
चैत्यद्रुमावमर्दश्च रोधः कर्मानुशासनम्।
अपस्करोऽथ वसनं तथोपायाश्च वर्णिताः ॥ ६३ ॥
पणवानकशंखानां भेरीणां च युधिष्ठिर।
उपार्जनं च द्रव्याणां परिमर्दश्च तानि षट् ॥ ६४ ॥
लब्धस्य च प्रशमनं सतां चैवाभिपूजनम्।
विद्वद्भिरेकीभावश्च दानहोमविधिज्ञता ॥ ६५ ॥
मंगलालंभनं चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया।
आहारयोजनं चैव नित्यमास्तिक्यमेव च ॥ ६६ ॥
एकेन च यथोत्थेयं सत्यत्वं मधुरा गिरः।
उत्सवानां समाजानां क्रियाः केतनजास्तथा ॥ ६७ ॥
प्रत्यक्षाश्च परोक्षाश्च सर्वाधिकरणेष्वथ।
वृत्तेर्भरतशार्दूल नित्यं चैवान्ववेक्षणम् ॥ ६८ ॥

निग्रह, क्रोधके वशमें होकर आत्महत्या करनी और अर्थ दूषण ये छःही व्यसन क्रोधसे प्रकट होते हैं। उस शास्त्रमें यन्त्र बनानेके निमित्त नाना भांतिके कौशल और उसकी क्रियाका वर्णन है। शत्रु-ओंको पीडित करना युद्ध-मार्गोंको ठीक करना, कांटोंसे युक्त लताओंका नाश, कृषिकर्मकी रक्षा, आवश्यकीय वस्तुओंका संग्रह, वर्म और वर्मनि-र्म्माणकी युक्तियोंका भी उस शास्त्रमें वर्णन हुआ है। हे युधिष्ठिर! उसमें ढोल, मृदङ्ग, शङ्ख, भेरी आदि बाजोंके लक्षण और मणि, पशु, भूमि, वस्त्र, दासी और सुवर्ण आदि छः प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह, रक्षा, दान, साधु-ओंका पूजन, पण्डितोंका सत्कार, दान और होमके नियमोंका ज्ञान, सुवर्ण आदि मांगलिक वस्तुओंका स्पर्श, शरीरको अलंकृत करना, भोजनके नियम और आस्तिकता आदि सम्पूर्ण विषय कहे गये हैं। (६०-६६)

हे भरतर्षभ! विषय उत्थापित करना, वचनकी सत्यता, सभा और उ-त्सवोंके बीच वचनकी मधुरता, ध्वजारोह-णादिक गृहकार्य, साधारण पुरुष जिन स्थानोंमें बैठते हैं; उन स्थानोंमें प्रत्यक्ष

अदण्ड्यत्वं च विप्राणां युक्त्या दण्डनिपातनम् ।
अनुजीवी स्वजातिभ्यो गुणेभ्यश्च समुद्भवः ॥ ६९ ॥
रक्षणं चैव पौराणां राष्ट्रस्य च विवर्धनम् ।
मंडलस्था च या चिन्ता राजन् द्वादशराजिका ॥७० ॥
द्वासप्ततिविधा चैव शरीरस्य प्रतिक्रिया ।
देशजातिकुलानां च धर्माः समनुवर्णिताः ॥ ७१ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च मोक्षश्चात्रानुवर्णिताः ।
उपायाश्चार्थलिप्सा च विविधा भूरिदक्षिण ॥ ७२ ॥
मूलकर्मक्रिया चात्र मायायोगश्च वर्णितः ।
दूषणं स्रोतसां चैव वर्णितं चास्थिरांभसाम् ॥ ७३ ॥
यैर्यैरुपायैर्लोकस्तु न चलेदार्यवर्त्मनः ।
तत्सर्वं राजशार्दूल नीतिशास्त्रेऽभिवर्णितम् ॥ ७४ ॥
एतत्कृत्वा शुभं शास्त्रं ततः स भगवान्प्रभुः ।
देवानुवाच संहृष्टः सर्वाञ्छक्रपुरोगमान् ॥ ७५ ॥
उपकाराय लोकस्य त्रिवर्गस्थापनाय च ।

और परोक्षमें जिन कार्योंके अनुष्ठान होते हैं उसका अनुसन्धान, ब्राह्मणोंको अदण्डित करना, युक्तिपूर्वक दण्ड विधि, अनुजीवी और स्वजातिके पुरुषोंके गुण अनुसार उनकी मर्यादा स्थापित करनी, पुरवासियोंकी रक्षा, और राज्य बढ़ानेकी विधि पूरी रीतिसे उस शास्त्रमें वर्णित है। हे राजेन्द्र ! शत्रु, मित्र और उदासीन प्रत्येकमें चार चार भेदोंसे द्वादश राजमण्डल विषयक युक्ति, वेदशास्त्रोंमें कही हुई पवित्रता, बहत्तर प्रकारके शरीर संस्कार और देश, जाति तथा कुल भेदसे पृथक् पृथक् धर्म भी उसमें कहे गये हैं। हे बहुतसी दक्षिणा देनेवाले ! उसमें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, अनेक भांतिके उपाय और अर्थलिप्साके विषय सम्पूर्ण रूपसे वर्णित हुए हैं। कोष बढानेकी विधि कृषि आदि कार्य, मायायोग और बंधे हुए स्रोतके जलके समस्त दोष कहे गये हैं। (६७—७३)

हे राजशार्दूल ! जिन जिन उपायों को अवलम्बन करनेसे मनुष्य लोग आर्य पुरुषोंके अवलम्बित मार्गसे विचलित नहीं होते; वे सब विषय पितामह के बनाये हुए नीतिशास्त्रमें वर्णित हैं। भगवान लोकनाथ पितामह इस मंगल जनक शास्त्र बनाके नन्तर प्रसन्न चित्तसे

नवनीतं सरस्वत्या बुद्धिरेषा प्रभाविता ॥ ७६ ॥
दण्डेन सहिता ह्येषा लोकरक्षणकारिका ।
निग्रहानुग्रहरता लोकाननुचरिष्यति ॥ ७७ ॥
दण्डेन नीयते चेदं दण्डं नयति वा पुनः ।
दण्डनीतिरिति ख्याता त्रीँल्लोकानभिवर्तते ॥ ७८ ॥
षाड्गुण्यगुणसारैषा स्थास्यत्यग्रे महात्मसु ।
धर्मार्थकाममोक्षाश्च सकला ह्यत्र शब्दिताः ॥ ७९ ॥
ततस्तां भगवान्नीतिं पूर्वं जग्राह शंकरः ।
बहुरूपो विशालाक्षः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ८० ॥
प्रजानामायुषो ह्रासं विज्ञाय भगवान् शिवः ।
संचिक्षेप ततः शास्त्रं महार्थं ब्रह्मणा कृतम् ॥ ८१ ॥
वैशालाक्षमिति प्रोक्तं तदिन्द्रः प्रत्यपद्यत ।
दशाध्यायसहस्राणि सुब्रह्मण्यो महातपाः ॥ ८२ ॥
भगवानपि तच्छास्त्रं संचिक्षेप पुरंदरः ।
सहस्रैः पंचभिस्तात यदुक्तं बाहुदंतकम् ॥ ८३ ॥

इन्द्रादिक देवताओंसे बोले, कि मैंने सम्पूर्ण लोकोंके उपकार और त्रिवर्ग संस्थापनके वास्ते दूधके नवनीत समान समस्त वाक्योंके साररूपी यह युक्ति प्रकाशकी है । लोकरक्षा करनेवाली इस युक्तिको दण्डके सहित प्रयोग करनेसे यह सम्पूर्ण प्राणियोंके निग्रहमें समर्थ होकर पृथ्वीपर प्रचारित होगी । यह जगत् दण्डसे बना है, अथवा जगत्से ही दण्ड प्रकट हुआ है; इसीसे यह नीति तीनों लोकके बीच दण्डनीति कहके विख्यात होगी । समस्त षाड्गुण्यगुणोंका सारभूत यह शास्त्र सदा महात्माओंके आगे स्थित रहेगा; क्यों कि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष ये सब इसके बीच वर्णित हुए हैं। तिसके अनन्तर बहु रूप, विशालाक्ष, स्थाणु भगवान उमापति शङ्करने पहिले ही उस नीतिशास्त्रको ग्रहण किया। (७४-८०)

भगवान शिवने सब प्रजाके आयुका समय घटा हुआ जानके पितामह कृत उस महार्थ शास्त्रको संक्षिप्त किया। महातपस्वी ब्राह्मणोंके हितमें दक्ष इन्द्रने दस हजार अध्याय वाले उस वैशालाक्ष नाम नीतिशास्त्रको ग्रहण कर संक्षेप करके पांच हजार अध्याय किया और वह शास्त्र बाहुदन्तक नामसे विख्यात हुआ,

अध्यायानां सहस्रैस्तु त्रिभिरेव बृहस्पतिः।
संचिक्षेपेश्वरो बुद्धया बार्हस्पत्यं तदुच्यते ॥ ८४ ॥
अध्यायानां सहस्रेण काव्यः संक्षेपमब्रवीत्।
तच्छास्त्रममितप्रज्ञो योगाचार्यो महायशाः ॥ ८५ ॥
एवं लोकानुरोधेन शास्त्रमेतन्महर्षिभिः।
संक्षिप्तमायुर्विज्ञाय मर्त्यानां ह्रासमेव च ॥ ८६ ॥
अथ देवाः समागम्य विष्णुमूचुः प्रजापतिम्।
एको योऽर्हति मर्त्येभ्यः श्रेष्ठ्यं वै तं समादिश ॥८७॥
ततः संचिन्त्य भगवान्देवो नारायणः प्रभुः।
तैजसं वै विरजसं सोऽसृजन्मानसं सुतम् ॥ ८८ ॥
विरजास्तु महाभागः प्रभुत्वं भुवि नैच्छत।
न्यासायैवाभवद् बुद्धिः प्रणीता तस्य पाण्डव ॥ ८९ ॥
कीर्तिमांस्तस्य पुत्रो भूत्सोऽपि पंचातिगोऽभवत्।
कर्दमस्तस्य तु सुतः सोऽप्यतप्यन्महत्तपः ॥ ९० ॥
प्रजापतेः कर्दमस्य त्वनंगो नाम वै सुतः।
प्रजा रक्षयिता साधुर्दण्डनीतिविशारदः ॥ ९१ ॥

हे तात! वह इस समय बार्हस्पत्य शास्त्र कहके पुकारा जाता है। अत्यन्त बुद्धिमान् योगाचार्य महायशस्वी शुक्रने उसे संक्षेप करके एक हजार अध्याय किया। इसी भांति सम्पूर्ण प्राणियोंके आयुष्काल की अल्पताके अनुसार महर्षियोंने अपनी अपनी बुद्धिके प्रभावसे उस शास्त्रको संक्षेप किया। अनन्तर देवताओंने प्रजापति विष्णुके निकट उपस्थित होके कहा,—"जो सम्पूर्ण मृत्युलोकवासी प्राणियोंके ऊपर प्रभुता कर सके, आप वैसे किसी एक पुरुषको आज्ञा करिये।" अनन्तर देवोंके प्रभु भगवान नारायणने तैजस और विरजा नाम दो मानस पुत्र उत्पन्न किये। (८१-८८)

हे पाण्डु- पुत्र! उनमें महाभाग विरजाने भूमण्डल पर प्रभुता करनेकी इच्छा नहीं की; क्यों कि उनकी बुद्धि सन्न्यासप्रवृत्तिमें अनुरक्त हुई। उनके कीर्तिमान नाम जो पुत्र उत्पन्न हुआ था; वह भी पञ्चत्वको प्राप्त हुआ। कीर्तिमानके पुत्र कर्दमने भी अत्यन्त तपस्या की। प्रजापति कर्दमके दण्डनीति जाननेवाला अनंग नाम पुत्र हुआ था, वही प्रजाकी रक्षा करने लगा, तिसके

अनंगपुत्रोऽतिबलो नीतिमानभिगम्य वै ।
प्रतिपेदे महाराज्यमथेंद्रियवशोऽभवत् ॥ ९२ ॥
मृत्योस्तु दुहिता राजन्सुनीथा नाम मानसी ।
प्रख्याता त्रिषु लोकेषु याऽसौ वेनमजीजनत् ॥ ९३ ॥
तं प्रजासु विधर्माणं रागद्वेषवशानुगम् ।
मन्त्रपूतैः कुशैर्जघ्नुर्ऋषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९४ ॥
ममन्थुर्दक्षिणं चोरुमृषयस्तस्य मन्त्रतः ।
ततोऽस्य विकृतो जज्ञे ह्रस्वांगः पुरुषोऽभुवि ॥ ९५ ॥
दग्धस्थूणा प्रतीकाशो रक्ताक्षः कृष्णमूर्धजः ।
निषीदेत्येवमूचुस्तमृषयो ब्रह्मवादिनः ॥ ९६ ॥
तस्मान्निषादाः संभूताः क्रूराः शैलवनाश्रयाः ।
ये चान्ये विन्ध्यनिलया म्लेच्छाः शतसहस्रशः॥९७॥
भूयोऽस्य दक्षिणं पाणिं ममन्थुस्ते महर्षयः ।
ततः पुरुष उत्पन्नो रूपेणेन्द्र इवापरः ॥ ९८ ॥
कवची बद्धनिस्त्रिंशः सशरः सशरासनः ।
वेदवेदांगविच्चैव धनुर्वेदे च पारगः ॥ ९९ ॥

अनन्तर अनंग पुत्र नीतिमान् अतिबल राज्य पाके इन्द्रिय परायण हुए। तीनों लोकमें विख्यात सुनीथा नाम्नी मृत्युकी जो मानसी कन्या थी, उसीसे वेन का जन्म हुआ। (८९—९३)

अतिबल-पुत्र वेन राग, द्वेषके वशमें होकर प्रजाके ऊपर अधर्म आचरण करने लगे; तब ब्रह्मवादी ऋषियोंने मन्त्र-पूरित कुशोंसे उन्हें मार डाला। तिसके अनन्तर उन ऋषियोंने मन्त्र पढके वेनकी दहिनी जङ्घाको मथा, उससे पृथ्वीपर कुरूप-वेष, जलते हुए स्थूण समान लाल नेत्र, बिखरे केश और छोटे अङ्ग वाला एक पुरुष उत्पन्न हुआ। उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने उसे "निषीद" अर्थात् पतित हो, ऐसा ही कहा, इससे उस पुरुषसे जो क्रूर मनुष्य उत्पन्न भये, उन सबोंने "निषाद" नामसे विख्यात होके पहाड तथा वनोंका आसरा ग्रहण किया। हे राजन्! इस समय जो सब विन्ध्याचल पर्वतपर वास करते हैं, और दूसरे जो अनगिनत म्लेच्छ हैं; ये सब उन्हीं निषादोंसे उत्पन्न हुए हैं। अनन्तर महर्षियोंने फिर वेनका दहिना हाथ मथा, उससे कवचधारी, बद्धनिस्त्रिंश धनुष बाणसे

तं दंडनीतिः सकला श्रिता राजन्नरोत्तमम् ।
ततस्तु प्रांजलिर्वैन्यो महर्षींस्तानुवाच ह ॥ १०० ॥
सुसूक्ष्मा मे समुत्पन्ना बुद्धिर्धर्मार्थदर्शिनी ।
अनया किं मया कार्यं तन्मे तत्त्वेन शंसत ॥ १०१ ॥
यन्मां भवन्तो वक्ष्यंति कार्यमर्थसमन्वितम् ।
तदहं वै करिष्यामि नात्र कार्या विचारणा ॥ १०२ ॥
तमूचुस्तत्र देवास्ते ते चैव परमर्षयः ।
नियतो यत्र धर्मो वै तमशङ्कः समाचर ॥ १०३ ॥
प्रियाप्रिये परित्यज्य समः सर्वेषु जन्तुषु ।
कामं क्रोधं च लोभं च मानं चोत्सृज्य दूरतः ॥१०४॥
यश्च धर्मात्प्रविचलेल्लोके कश्चन मानवः ।
निग्राह्यस्ते स्वबाहुभ्यां शश्वद्धर्ममवेक्षता ॥ १०५ ॥
प्रतिज्ञां चाधिरोहस्व मनसा कर्मणा गिरा ।
पालयिष्याम्यहं भौमं ब्रह्म इत्येव चासकृत् ॥१०६॥
यश्चात्र धर्मो नित्योक्तो दंडनीतिव्यपाश्रयः ।

युक्त, वेद वेदांग और धनुर्वेद जाननेवाला द्वितीय इन्द्रके समान एक दूसरा पुरुष उत्पन्न हुआ। (९४—९९)

महाराज! दण्डनीतिने मानो मूर्त्तिमयी होके उसका आसरा ग्रहण किया। तिसके अनन्तर वेनपुत्र हाथ जोडके महर्षियोंसे बोले, मुझे जो अत्यन्त सूक्ष्म बुद्धि उत्पन्न हुई है, उससे मैं किन कार्योंका अनुष्ठान करूंगा, वह आप लोग मुझसे सत्य ही कहिये। आप लोग मुझसे जो अर्थयुक्त कार्य करनेको कहेंगे, मैं शीघ्र ही उसे पूर्ण करूंगा, उसमें कुछ सन्देह नहीं है। अनन्तर देवताओं और परमर्षियोंने उससे कहा, "तुम नियमपूर्वक निर्भय-चित्तसे धर्मयुक्त कार्योंका आचरण करो। तुम काम, क्रोध, लोभ और अभिमान त्यागके और प्रिय अप्रियका विचार न करके सब जन्तुओंमें समभाव प्रकाशित करना। पृथ्वीपर जो कोई मनुष्य धर्ममार्गसे विचलित होगा, तुम धर्मकी ओर दृष्टि रखके अपने बाहुबलसे उसे दण्ड देना। (१००-१०५)

हे शत्रुतापन! तुम मन, और वचनसे ऐसी प्रतिज्ञा करो, कि अखिल भौम पदार्थको ब्रह्मस्वरूप जानके पालन करूंगा; स्वेच्छाचारी होकर, दण्डनीतिके नियम अनुसार जो सब धर्म कहे

तमशङ्कः करिष्यामि स्ववशो न कदाचन ॥ १०७ ॥
अदण्ड्या मे द्विजाश्चेति प्रतिजानीहि हे विभो।
लोकं च संकरात्कृत्स्नं त्रातास्मीति परंतप ॥ १०८ ॥
वैन्यस्ततस्तानुवाच देवानृषिपुरोगमान्।
ब्राह्मणा मे महाभागा नमस्याः पुरुषर्षभाः ॥ १०९ ॥
एवमस्त्विति वैन्यस्तु तैरुक्तो ब्रह्मवादिभिः।
पुरोधाश्चाभवत्तस्य शुक्रो ब्रह्ममयो निधिः ॥ ११० ॥
मन्त्रिणो वालखिल्याश्च सारस्वत्यो गणस्तथा।
महर्षिर्भगवान्गर्गस्तस्य सांवत्सरोऽभवत् ॥ १११ ॥
आत्मनाऽष्टम इत्येव श्रुतिरेषा परा नृषु।
उत्पन्नौ वंदिनौ चास्य तत्पूर्वौ सूतमागधौ ॥ ११२ ॥
तयोः प्रीतो ददौ राजा पृथुर्वैन्यः प्रतापवान्।
अनूपदेशं सूताय मगधं मगधाय च ॥ ११३ ॥
समतां वसुधायाश्च स सम्यगुदपादयत्।
वैषम्यं हि परं भूमेरासीदिति च नः श्रुतम् ॥ ११४ ॥
मन्वन्तरेषु सर्वेषु विषमा जायते मही।
उज्जहार ततो वैन्यः शिलाजालान्समन्ततः ॥ ११५ ॥

गये हैं, निर्भयचित्तसे उन्हींका आचरण करूंगा; द्विजातिगण मुझसे अदण्ड और मैं सब प्राणियोंको सङ्कटसे रक्षा करूंगा। तिसके अनन्तर वेनपुत्र उन ऋषियों तथा देवताओंसे बोले, पुरुषश्रेष्ठ महाभाग ब्राह्मण लोग मेरे नमस्य होवें। उन ब्रह्मवादी ऋषियोंने "ऐसा ही होगा" कहके अंगीकार किया, तब ब्रह्ममय निधिस्वरूप भगवान शुक्र उनके पुरोहित हुए। सारस्वत्य और वालिखिल्य गण उनके मन्त्री और महर्षि गर्ग भगवान ज्योतिर्विद हुए। इसी भांति शरीर भेदमें विष्णुसे अष्टम पर्याय वेनपुत्र पृथुने पृथ्वीपर राज्य स्थापित किया ऐसे ही जनश्रुति है। इसके पहिले ही सूत और मागध नामक उनके दो वन्दी उत्पन्न हुए थे। (१०६–११२)

प्रतापी वेनपुत्र पृथुने उन दोनोंके ऊपर प्रसन्न होकर सूतको अनूपदेश और मागधको मगध देश प्रदान किया। महाराज! हमने सुना है, पहिले भूमिमें अत्यन्त ही वैषम्यदोष था, क्यों कि प्रति मन्वन्तरोंमें पृथ्वी सर्वत्र ही विषम

धनुष्कोट्या महाराज तेन शैला विवर्धिताः ।
स विष्णुना च देवेन शक्रेण विबुधैः सह ॥ ११६ ॥
ऋषिभिश्च प्रजापालैर्ब्राह्मणैश्चाभिषेचितः ।
तं साक्षात्पृथिवी भेजे रत्नान्यादाय पाण्डव ॥११७ ॥
सागरः सरितां भर्ता हिमवांश्चाचलोत्तमः ।
शक्रश्च धनमक्षय्यं प्रादात्तस्मै युधिष्ठिर ॥ ११८ ॥
रुक्मं चापि महामेरुः स्वयं कनकपर्वतः ।
यक्षराक्षसभर्ता च भगवान्नरवाहनः ॥ ११९ ॥
धर्मे चार्थे च कामे च समर्थं प्रददौ धनम् ।
हया रथाश्च नागाश्च कोटिशः पुरुषास्तथा ॥ १२० ॥
प्रादुर्बभूवुर्वैन्यस्य चिन्तनादेव पाण्डव ।
न जरा न च दुर्भिक्षं नाधयो व्याधयस्तथा ॥ १२१ ॥
सरीसृपेभ्यः स्तेनेभ्यो न चान्योन्यात्कदाचन ।
भयमुत्पद्यते तत्र तस्य राज्ञोऽभिरक्षणात् ॥ १२२ ॥
आपस्तस्तंभिरे चास्य समुद्रमभियास्यतः ।
पर्वताश्च ददुर्मार्गं ध्वजभङ्गश्च नाभवत् ॥ १२३ ॥

हुई थी, उस ही कारण वेन पुत्रने धनुषसे पत्थरोंकी शिला उठाके वर्द्धित करते हुए पृथ्वीको समत्व सम्पादन किया। हे पाण्डुपुत्र! इसी भांति पृथु इन्द्र आदिक देवताओं, विष्णु प्रजापालक और ब्राह्मणोंसे अभिषिक्त हुए; रत्नपूरित वसुन्धरा मानो मूर्त्तिमयी होकर उनकी प्रणयिनी हुई। ११२-११७

हे युधिष्ठिर! सरितापति समुद्र, पर्वतोंमें उत्तम हिमवान और देवराज इन्द्रने उन्हें अविनाशी धन प्रदान किया। कनकपर्वत सुमेरुने स्वयं आके सुवर्ण प्रदान किया। यक्ष और राक्षसोंके स्वामी नरवाहन भगवान कुबेरने धर्म, अर्थ काम इन त्रिवर्ग साधनमें समर्थ धन प्रदान किया। हे पाण्डुनन्दन! उस पृथुके चिन्तन करते ही अननिगत रथ, हाथी और पुरुष उत्पन्न होने लगे। उनके राज्य शासनके समयमें जरा, दुर्भिक्ष, आधि अथवा व्याधि कुछ भी नहीं थी। उनके शासनके समयमें सर्प अथवा चोरोंसे भी दूसरेको भय नहीं उपस्थित होता था, वह जब समुद्रमें गमन करते थे; उस समय तरङ्ग मालासे युक्त समुद्रका जल स्तम्भित होजाता; सम्पूर्ण पर्वत दो भागोंमें बंटके उन्हें

तेनेयं पृथिवी दुग्धा सस्यानि दश सप्त च।
यक्षराक्षसनागैश्चापीप्सितं यस्य यस्य यत् ॥ १२४ ॥
तेन धर्मोत्तरश्चायं कृतो लोको महात्मना।
रञ्जिताश्च प्रजाः सर्वास्तेन राजेति शब्दयते ॥ १२५ ॥
ब्राह्मणानां क्षतत्राणात्ततः क्षत्रिय उच्यते।
प्रथिता धर्मतश्चेयं पृथिवी बहुभिः स्मृता ॥ १२६ ॥
स्थापनं चाकरोद्विष्णुः स्वयमेव सनातनः
नातिवर्तिष्यते कश्चिद्राजंस्त्वामिति भारत ॥ १२७ ॥
तपसा भगवान्विष्णुराविवेश च भूमिपम्।
देववन्नरदेवानां नमते यं जगन्नृपम् ॥ १२८ ॥
दण्डनीत्या च सततं रक्षितव्यं नरेश्वर।
नाधर्षयेत्तथा कश्चिच्चारनिष्पन्ददर्शनात् ॥ १२९ ॥
शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
आत्मना कारणैश्चैव समस्येह महीक्षितः ॥ १३० ॥

मार्ग प्रदान करते थे। अधिक क्या कहें उनकी कहीं भी गतिरोध वा ध्वजा भङ्ग आदि अशकुन नहीं उपस्थित होते थे। उन्होंने शस्यके वास्ते इस पृथ्वीको सत्तरह वार दोहन किया था; उससे यक्ष, राक्षस और सर्पोंने अपनी समस्त अभिलषित वस्तुओंको पाया था। (११८-१२४)

इसी भांति उस महात्मा पृथुने भूलोकमें धर्म स्थापित करके प्रजापुञ्जके मनको रञ्जन किया, उसी समयसे पृथ्वीमें "राजा" शब्द प्रचलित हुआ। ब्राह्मणोंको क्षतसे परित्राण करनेसे क्षत्रिय कहलाये; पृथुने धर्मपूर्वक मेदिनीको प्रथित किया था, उसी कारण यह धरा पृथिवी नामसे विख्यात हुई। हे भारत! सनातन विष्णुने स्वयं उनकी यह मर्यादा स्थापित की, कि "हे राजन्! तुम्हें कोई भी अतिक्रम न कर सकेगा" भगवान विष्णुने तपके प्रभावसे भूपतिके शरीरमें प्रवेश किया। महाराज! अखिल जगत् देव-सदृश उस नरदेवके समीप नत होता रहता है। हे नरनाथ! जिसमें चारवृत्ति अवलोकन द्वारा कोई नष्ट करनेमें समर्थ न होसके; उसी भांतिकी दण्ड-नीतिसे नियमानुसार राज्य रक्षा करनी उचित है। (१२५-१२९)

हे राजेन्द्र! राजा की चित्तवृत्ति और कर्मोंके समतानुसार उसके लिये

को हेतुर्यद्वशे तिष्ठेल्लोको दैवादृते गुणात्।
विष्णोर्ललाटात्कमलं सौवर्णमभवत्तदा ॥ १३१॥
श्रीः सम्भूता यतो देवी पत्नी धर्मस्य धीमतः।
श्रियः सकाशादर्थश्च जातो धर्मेण पाण्डव ॥ १३२॥
अथ धर्मस्तथैवार्थः श्रीश्च राज्ये प्रतिष्ठिता।
सुकृतस्य क्षयाच्चैव स्वर्लोकादेत्य मेदिनीम् ॥ १३३॥
पार्थिवो जायते तात दण्डनीतिविशारदः।
महत्त्वेन च संयुक्तो वैष्णवेन नरो भुवि ॥ १३४॥
बुद्ध्या भवति संयुक्तो माहात्म्यं चाधिगच्छति।
स्थापितं च ततो देवैर्न कश्चिदतिवर्तते।
तिष्ठत्येकस्य च वशे तं चेदं न विधीयते ॥ १३५॥
शुभं हि कर्म राजेन्द्र शुभत्वायोपकल्पते।
तुल्यस्यैकस्य यस्यायं लोको वचसि तिष्ठते ॥ १३६॥
योऽस्य वै मुखमद्राक्षीत्सौम्यं सोऽस्य वशानुगः।

हुए शुभ कार्यादिकोंके फल शुभरूपसे परिणत होते हैं। हे युधिष्ठिर! सब प्राणी जो एक ही पुरुषके वशीभूत होते हैं; यह दैव निर्बन्ध ही उसका कारण है; दूसरा कोई भी कारण नहीं है। हे पाण्डुनन्दन! उसी समय विष्णुके मस्तकसे एक सुनहला कमल प्रकट हुआ, उसीसे बुद्धिमान धर्मकी पत्नी अर्थात् पालयित्री स्त्री उत्पन्न हुई। धर्मतः श्रीसे ही सब अर्थ उत्पन्न हुए। तभी से राज्यमें श्री, अर्थ और धर्म ये तीनों ही प्रतिष्ठित हुए। मनुष्य पूर्व जन्मके किये हुए सुकृतके क्षय होनेपर स्वर्ग लोकसे पृथ्वीपर आगमन करके सतोगुणावलम्बी, बुद्धिमान, दण्डनीति जाननेवाले भूपति होकर जन्म ग्रहण करते और तिसके अनन्तर देवताओंसे अभिषिक्त होकर असीम महात्म्यको प्राप्त होते हैं। महाराज! अखिल जगत् जो एक ही पुरुषके वशीभूत होता है और उसके शासनको अतिक्रम नहीं करता, उसका यही कारण है, परन्तु वह जगत्‌विधान कर्त्ता है, ऐसा कोई न ख्याल करे। (१३०—१३५)

हे राजेन्द्र! सुभ कर्मोंके फल शुभ रूपसे ही परिणत होते हैं, देखिये हाथ पांव आदि अवयव सबके समान ही होते हैं, तौभी सब कोई एक ही की आज्ञामें चलते हैं। जो उसके मनोहर मुखको देखता है, वही उसके वशमें

सुभगं चार्थवन्तं च रूपवन्तं च पश्यति ॥ १३७ ॥
महत्त्वात्तस्य दण्डस्य नीतिर्विस्पष्टलक्षणा ।
नयश्चारश्च विपुलो येन सर्वमिदं ततम् ॥ १३८ ॥
आगमश्च पुराणानां महर्षीणां च सम्भवः ।
तीर्थवंशश्च वंशश्च नक्षत्राणां युधिष्ठिर ॥ १३९ ॥
सकलं चातुराश्रम्यं चातुर्होत्रं तथैव च ।
चातुर्वर्ण्यं तथैवात्र चातुर्विद्यं च कीर्तितम् ॥ १४० ॥
इतिहासाश्च वेदाश्च न्यायः कृत्स्नश्च वर्णितः ।
तपो ज्ञानमहिंसा च सत्यासत्ये नयः परः ॥ १४१ ॥
वृद्धोपसेवा दानं च शौचमुत्थानमेव च ।
सर्वभूतानुकम्पा च सर्वमत्रोपवर्णितम् ॥ १४२ ॥
भुवि चाधोगतं यच्च तच्च सर्वं समर्पितम् ।
तस्मिन्पैतामहे शास्त्रे पाण्डवैतन्न संशयः ॥ १४३ ॥
ततो जगति राजेन्द्र सततं शब्दितं बुधैः ।
देवाश्च नरदेवाश्च तुल्या इति विशाम्पते ॥ १४४ ॥
एतत्ते सर्वमाख्यातं महत्त्वं प्रतिराजसु ।

हो जाता है; मङ्गलमय रूपवान और धनवान ही उसका दर्शन करते हैं । हे युधिष्ठिर ! उसका महा दण्ड ही पृथ्वीमें धर्म संस्थापनका मूल, स्पष्ट लक्षणवाली नीति और सुन्दर रीतिका प्रचार दीख पडता है । हे युधिष्ठिर ! इसी भांति पितामहके बनाये हुए शास्त्रके बीच पुराणोंके आगम, महर्षियोंके सम्भव, तीर्थ और नक्षत्रों की उत्पति गार्हस्थ्य आदि चारों आश्रमोंके नियम, चातुर्होत्र, चारों वर्ण और चारों विद्या प्रभृति सब ही वर्णित हैं । (१३६-१४०)

इतिहास, वेद, न्याय, तपस्या, ज्ञान, अहिंसा, सत्य, मिथ्या और उत्तम नीति सब विस्तारके सहित वर्णित हैं । वृद्धोंकी सेवा, दान, पवित्रता, उत्थान और सब प्राणियोंके ऊपर दया प्रकाश करना, ये सब उस शास्त्रमें वर्णित हैं । हे पाण्डुपुत्र ! अधिक क्या कहूं, इस पृथ्वीपर जो कार्य हैं, वह सब पितामहके बनाये हुए उस शास्त्रमें निःसन्देह रूपसे वर्णित हुए हैं । हे राजेन्द्र ! उस ही समयसे पण्डित लोग " देव और नरदेव समान हैं, "—ऐसा ही कहा करते हैं । हे भरत श्रेष्ठ महाराज ! ये ही सब राजाओंके कर्त्तव्य विषय सब

कात्स्न्येन भरतश्रेष्ठ किमन्यदिह वर्तते ॥ १४५ ॥ [२२४८]

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सूत्राध्याये एकोनषष्टितमोऽध्यायः५९

वैशम्पायन उवाच– ततः पुनः स गाङ्गेयमभिवाद्य पितामहम् ।
प्राञ्जलिर्नियतो भूत्वा पर्यपृच्छद्युधिष्ठिरः ॥ १ ॥
के धर्माः सर्ववर्णानां चातुर्वर्ण्यस्य के पृथक् ।
चातुर्वर्ण्याश्रमाणां च राजधर्माश्च के मताः ॥ २ ॥
केन वै वर्धते राष्ट्रं राजा केन विवर्धते ।
केन पौराश्च भृत्याश्च वर्धन्ते भरतर्षभ ॥ ३ ॥
कोशं दण्डं च दुर्गं च सहायान्मन्त्रिणस्तथा ।
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्कीदृशान्वर्जयेन्नृपः ॥ ४ ॥
केषु विश्वसितव्यं स्याद्राज्ञा कस्याश्चिदापदि ।
कुतो वाऽऽत्मा दृढं रक्ष्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच— नमो धर्माय महते नमः कृष्णाय वेधसे ।
ब्राह्मणेभ्यो नमस्कृत्य धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान्॥ ६ ॥
अक्रोधः सत्यवचनं संविभागः क्षमा तथा ।

भांतिसे कहे गये, अब कहिये दूसरा कौनसा विषय कहूं ? (१४१–१४५)

शान्तिपर्वमें उनसठ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें साठ अध्याय ।

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, तिसके अनन्तर नियमशील युधिष्ठिरने गंगानन्दन भीष्म पितामहको प्रणाम करके फिर पूंछा, हे कुरुश्रेष्ठ पितामह ! अनुलोम और विलोम जात वर्णोंके साधारण धर्म क्या हैं ? ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंके चारों वर्णोंसे पृथक् धर्म और आश्रम क्या हैं ? कौन धर्म राजधर्म कहके माना जाता है ? किस भांति राज्य बढता है और कौनसा उपाय अवलम्बन करनेसे राजा और पुरवासियोंकी उन्नत अवस्था हो सकती है ? राजा कैसे कोष, दण्ड, किला, सहाय, मन्त्री, ऋत्विक, पुरोहित और गुरुको परित्याग करे ? पितामह ! किस भांतिकी आपद उपस्थित होनेपर कैसे मनुष्यका विश्वास करना उचित है ? और किस विषयसे आत्माकी सब भांतिसे रक्षा करनी उचित है ? आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये। (१–५)

भीष्म बोले, मैं उस महत् धर्म, पूर्णब्रह्म कृष्ण भगवानको, प्रणाम करके नित्य धर्मकी व्याख्या करूंगा। हे युधिष्ठिर ! क्रोध न करना, सत्यवचन,

प्रजनः स्वेषु दारेषु शौचमद्रोह एव च ॥ ७ ॥
आर्जवं भृत्यभरणं न वै ते सार्ववर्णिकाः ।
ब्राह्मणस्य तु यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि केवलम् ॥ ८ ॥
दममेव महाराज धर्ममाहुः पुरातनम् ।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव तत्र कर्म समाप्यते ॥ ९ ॥
तं चेद्द्विजमुपागच्छेद्वर्तमानं स्वकर्मणि ।
अकुर्वाणं विकर्माणि शान्तं प्रज्ञानतर्पितम् ॥ १० ॥
कुर्वीतापत्यसन्तानमथो दद्याद्यजेत च ।
संविभज्य च भोक्तव्यं धनं सद्भिरितीर्यते ॥ ११ ॥
परिनिष्ठितकार्यस्तु स्वाध्यायेनैव ब्राह्मणः ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यान्मैत्रो ब्राह्मण उच्यते ॥ १२ ॥
क्षत्रियस्यापि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ।
दद्याद्राजन्न याचेत यजेत न च याजयेत् ॥ १३ ॥
नाध्यापयेदधीयीत प्रजाश्च परिपालयेत् ।

संविभाग, क्षमा, निज स्त्रीमें सन्तोष, पवित्रता किसीसे वैर न करना, विनीतता और सेवकोंका पालन ये नव अनुलोम और विलोम जाति वर्णोंके साधारण धर्म हैं । और इसके अतिरिक्त जो सनातनधर्म केवल ब्राह्मणोंके ही आचरित हैं,उसे कहता हूं सुनो,महाराज ! दम अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह, तपके क्लेशोंमें सहनशीलता और जिससे दूसरे सब सांसारिक कार्योंकी समाप्ति होती है, वैसे वेदको अध्ययन करना ही ब्राह्मणोंका सनातन धर्म है । इसी भांति शान्त प्रकृतिवाले बुद्धिमान ब्राह्मण दुष्कर्मोंमें रत न होके निज कर्मोंमें तत्पर रहने पर यदि अर्थ स्वयं ही उसके समीप उपस्थित होवे, तो सन्तान उत्पन्न होनेकी अभिलाषासे दार परिग्रह करके वह सदा ध्यान और यज्ञ आदि सत्कर्म करे। और भी पण्डितोंने कहा है, कि उस अर्थको स्वजनोंके सहित समभावसे भोग करे। वेदाध्यनके सङ्ग ही ब्राह्मणोंके सब कार्य समाप्त होते हैं, इसके अनन्तर और कोई कर्म करे, वा न करे, वह सब प्राणियोंका प्रियमित्र ब्राह्मण कहके विख्यात होता है । (६-१२)

हे भारत ! क्षत्रियोंके जो पृथक् धर्म हैं, वह भी तुमसे कहता हूं, सुनो ! महाराज ! क्षत्रिय दान करे परन्तु किसीसे मांगे नहीं; यज्ञ आदि करे,

नित्योद्युक्तो दस्युवधे रणे कुर्यात्पराक्रमम् ॥ १४ ॥
ये तु क्रतुभिरीजानाः श्रुतवन्तश्च भूमिपाः ।
य एवाहवजेतारस्त एषां लोकजित्तमाः ॥ १५ ॥
अविक्षतेन देहेन समराद्यो निवर्तते ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ १६ ॥
एवं हि क्षत्रबन्धूनां मार्गमाहुः प्रधानतः ।
नास्य कृत्यतमं किञ्चिदन्यद्दस्युनिबर्हणात् ॥ १७ ॥
दानमध्ययनं यज्ञो राज्ञां क्षेमो विधीयते ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण योद्धव्यं धर्ममीप्सता ॥ १८ ॥
स्वेषु धर्मेष्ववस्थाप्य प्रजाः सर्वा महीपतिः ।
धर्मेण सर्वकृत्यानि शमनिष्ठानि कारयेत् ॥ १९ ॥
परिनिष्ठितकार्यस्तु नृपतिः परिपालनात् ।
कुर्यादन्यन्न वा कुर्यादैन्द्रो राजन्य उच्यते ॥ २० ॥
वैश्यस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि शाश्वतम् ।

परन्तु याजकता न करे; अध्ययन करे, पर किसीको पढावे नहीं; प्रजापुञ्जको सब भांतिसे पालन करे, सदा डाकुओंके वधमें नियुक्त रहे और रणभूमिमें पराक्रम प्रकाशित करे। जो राजा अश्वमेध आदि यज्ञोंको करके पृथ्वी मण्डलपर महत् कीर्त्ति स्थापित करते और जो युद्धक्षेत्रमें विजय प्राप्त करते हैं; वेही त्रिलोकवासी सब प्राणियोंको अपने वशमें कर सकते हैं। क्षत्रियोंको अक्षत शरीरसे युद्धसे पलायमान होने पर दीर्घदर्शी पण्डित लोग उनके वैसे कर्मकी प्रशंसा नहीं करते; इससे धर्मकी अभिलाष करने वाला राजा विशेष यत्नके सहित युद्ध करे। क्षत्रबन्धु अर्थात् अधम क्षत्रियोंको मुख्य करके यही मार्ग अवलम्बन करना उचित है; परन्तु डाकुओंको दमन करनेके अतिरिक्त दूसरे कोई भी कर्म उनके कर्त्तव्य कार्य कहके नहीं बोध होते। दान, अध्ययन और यज्ञ ही राजाओंके निमित्त मङ्गलकारी हैं। (१३-१८)

राजा प्रजा समूहको उनके निज धर्म स्थित करके धर्म पूर्वक समभावसे सब कार्योंको सिद्ध करे। इसी भांति प्रजापालन करनेसे राजाओंके सब कार्य समाप्त होते हैं। इसके अनन्तर वे कोई कार्य करें, वा न करें; सब प्राणियोंके मुख्य राजा कहके प्रसिद्ध होते हैं। हे युधिष्ठिर! वैश्योंका भी जो सब नित्यधर्म है, वह तुमसे कहता हूं, सुनो।

दानमध्ययनं यज्ञः शौचेन धनसंचयः ॥ २१ ॥
पितृवत्पालयेद्वैश्यो युक्तः सर्वान्पशूनिह ।
विकर्म तद्भवेदन्यत्कर्म यत्स समाचरेत् ॥ २२ ॥
रक्षया स हि तेषां वै महत्सुखमवाप्नुयात् ।
प्रजापतिर्हि वैश्याय सृष्ट्वा परिददौ पशून् ॥ २३ ॥
ब्राह्मणाय च राज्ञे च सर्वाः परिददे प्रजाः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ २४ ॥
षण्णामेकां पिबेद्धेनुं शताच्च मिथुनं हरेत् ।
लब्धाच्च सप्तमं भागं तथा शृङ्गे कला खुरे ॥ २५ ॥
सस्यानां सर्वबीजानामेषा सांवत्सरी भृतिः ।
न च वैश्यस्य कामः स्यान्न रक्षेयं पशूनिति ॥ २६ ॥
वैश्ये चेच्छति नान्येन रक्षितव्याः कथंचन ।
शूद्रस्यापि हि यो धर्मस्तं ते वक्ष्यामि भारत ॥ २७ ॥
प्रजापतिर्हि वर्णानां दासं शूद्रमकल्पयत् ।

वैश्य दान, अध्ययन, यज्ञ, उत्तम उपायके सहारे धन सञ्चय और अनुराग पूर्वक पिताकी भांति पशुओंका पालन करे, दूसरा कुछ भी कार्य न करे; क्यों कि इसके अतिरिक्त दूसरे सब कार्य ही उसके अकर्त्तव्य कहके वर्णित हुए हैं। प्रजापतिने सृष्टिके अनन्तर ब्राह्मणोंको बनाया है, राजाओंको सब जाति वाली प्रजा और वैश्योंको समस्त पशु प्रदान किया है, इससे वैश्य उस ही रीतीके अनुसार पशुरक्षामें नियुक्त रहनेसे महत् सुख प्राप्त करता है। इसके अनन्तर वह जिस वृत्तिको अवलम्बन करेगा तथा जिस उपायके सहारे जीविका निर्वाह करेगा, वह भी कहता हूं। (१९-२४)

जो वैश्य छः गऊ पालन करे, वह निज वेतन रूपी एक गऊका दूध पीवे! सौ गऊकी रक्षा करनेवाला निज वार्षिक वेतनरूप एक गो-मिथुन पावेगा। सींग और खुरके अतिरिक्त द्रव्यके वाणिज्यसे प्राप्त हुआ और सब भांतिके शस्य तथा बीजका सातवां भाग उसका अंश कहके वर्णित हुआ है; और यही उसका एक वर्षका वेतन है। वैश्य पशुओंके पालनेमें अनिच्छा प्रकाशित न करे, और इसके इच्छा करनेपर दूसरे किसी वर्णवालेको ही सब पशुओंकी रक्षा करना कर्त्तव्य नहीं है। हे भारत! शूद्रोंके भी जो सब पृथक् धर्म हैं, उसे कहता हूं, सुनो। (२५-२७)

तस्माच्छूद्रस्य वर्णानां परिचर्या विधीयते ॥ २८ ॥
तेषां शुश्रूषणाच्चैव महत्सुखमवाप्नुयात् ।
शूद्र एतान्परिचरेत्त्रीन्वर्णाननुपूर्वशः ॥ २९ ॥
संचयांश्च न कुर्वीत जातु शूद्रः कथंचन ।
पापीयान्हि धनं लब्ध्वा वशे कुर्याद्गरीयसः ॥ ३० ॥
राज्ञा वा समनुज्ञातः कामं कुर्वीत धार्मिकः ।
तस्य वृत्तिं प्रवक्ष्यामि यच्च तस्योपजीवनम् ॥ ३१ ॥
अवश्यं भरणीयो हि वर्णानां शूद्र उच्यते ।
छत्रं वेष्टनमौशीरमुपानद्व्यजनानि च ॥ ३२ ॥
यातयामानि देयानि शूद्राय परिचारिणे ।
अधार्याणि विशीर्णानि वसनानि द्विजातिभिः ॥३३॥
शूद्रायैव प्रदेयानि तस्य धर्मधनं हि तत् ।
यं च कंचिद्द्विजातीनां शूद्रः शुश्रूषुराव्रजेत् ॥ ३४ ॥
कल्प्यां तेन तु ते प्राहुर्वृत्तिं धर्मविदो जनाः ।
देयः पिंडोऽनपत्याय भर्तव्यौ वृद्धदुर्बलौ ॥ ३५ ॥

प्रजापतिने शूद्रको अन्य सब वर्णोंका दास कहके वर्णन किया है, इससे सब वर्णवालोंकी सेवा करना ही शूद्रका कर्त्तव्य है, उनकी सेवा करनेसे ही शूद्रको महत् सुख प्राप्त होता है। शूद्र पर्याय क्रमसे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंकी सेवामें नियुक्त रहे, परन्तु कभी भी धन सञ्चय न करे, क्योंकि वह धनवान होनेसे अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंको वशीभूत और पाप कर्मोंके करनेमें प्रवृत्त होगा; परन्तु राजाकी आज्ञानुसार लोभके वशमें न होकर धर्म प्रधान कार्योंको करनेके वास्ते थोडा धन सञ्चय कर सकेगा। शूद्र जिस वृत्तिका अवलम्बन करेगा और जिस उपायके सहारे जीविका निर्वाह करेगा; वह भी कहता हूं। (२८-३१)

शूद्र, ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंका अवश्य ही पालनीय है, उशीर वेष्टन, पुराना छत्र, जूता और व्यजन आदि परिचरण शूद्रको प्रदान करना योग्य है। न पहरने योग्य पुराने वस्त्र शूद्रको देना उचित है, क्यों कि वह उसका ही धर्म-धन है। धर्मात्मा मनुष्य कहा करते हैं, कि शूद्र सेवा करनेकी इच्छासे द्विजातियोंके बीच यदि किसीके पास जाय, तो वह उसके उपयुक्त वृत्तिको उसे प्रदान करे। प्रतिपालक

शूद्रेण तु न हातव्यो भर्ता कस्यांचिदापदि।
अतिरेकेण भर्तव्यो भर्ता द्रव्यपरिक्षये ॥ ३६ ॥
न हि स्वमस्ति शूद्रस्य भर्तृहार्यधनो हि सः।
उक्तस्त्रयाणां वर्णानां यज्ञस्तस्य च भारत ॥
स्वाहाकारवषट्कारौ मंत्रः शूद्रे न विद्यते ॥ ३७ ॥
तस्माच्छूद्रः पाकयज्ञैर्यजेताव्रतवान्स्वयम्।
पूर्णपात्रमयीमाहुः पाकयज्ञस्य दक्षिणाम् ॥ ३८ ॥
शूद्रः पैजवनो नाम सहस्राणां शतं ददौ।
ऐन्द्राग्नेन विधानेन दक्षिणामिति नः श्रुतम् ॥ ३९ ॥
यतो हि सर्ववर्णानां यज्ञस्तस्यैव भारत।
अग्रे सर्वेषु यज्ञेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४० ॥
दैवतं हि महच्छ्रद्धा पवित्रं यजतां च यत्।

द्विजातिके अपत्य हीन होने पर शूद्र उसे पिण्डदान करे और वृद्ध तथा दुर्बल होनेपर उसका पालन भी करे। अधिक कहां तक कहें चाहे कैसी ही विपत् क्यों न उपस्थित होवे, किसी अवस्थामें भी स्वामीको परित्याग करना शूद्रका कर्त्तव्य नहीं है। स्वामी की दीन दशा उपस्थित होनेपर अपने परिवारसे भी अधिक उसका पालन करना शूद्रका कर्त्तव्य है; क्योंकि शूद्रका जो कुछ धन आदि रहता है, वह सब उसके स्वामीका है, उसमें उसे कुछ अधिकार नहीं है। हे भरतनन्दन! ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके लिये धर्म और यज्ञ आदि वर्णित हुए हैं, परन्तु शूद्रोंको स्वाहाकार वषट्कार और अन्य वैदिक मन्त्रोंमें अधिकार नहीं है; इससे वे लोग स्वयं श्रौतव्रतसे रहित होकर ग्रहशान्ति और वैश्वदेवादि छोटे यज्ञोंको करते हुए शास्त्रोक्त पूर्णपात्रमयी दक्षिणा प्रदान करे। (३२-३८)

महाराज! मैंने सुना है, पहिले पैजवन नाम शूद्रने ऐन्द्राग्नी-विधानसे यज्ञ करके दक्षिणा स्वरूप एक लाख गऊ दान किया था। हे भारत ब्राह्मण आदि तीनों वर्ण जो कुछ यज्ञ आदि करते हैं, उनके सेवक शूद्र भी उसके फल भागी होते हैं। महाराज! सब यज्ञोंसे श्रद्धा यज्ञ ही श्रेष्ठ है और यजमानोंकी पवित्र श्रद्धा महत् देवता है। ब्राह्मण भी निज निज सेवक शूद्रोंके महत् देवता हैं, इससे वे लोग श्रद्धाके सहित उनकी आराधना करनेसे अवश्य ही स्वामीकृत यज्ञादिकोंके फलभागी

दैवतं हि परं विप्राः स्वेन स्वेन परस्परम् ॥ ४१ ॥
अयजन्निह सर्वैस्ते तैस्तैः कामैः समाहिताः ।
संसृष्टा ब्राह्मणैरेव त्रिषु वर्णेषु सृष्टयः ॥ ४२ ॥
देवानामपि ये देवा यद्ब्रूयुस्ते परं हितम् ।
तस्माद्वर्णैः सर्वयज्ञाः संसृज्यन्ते न काम्यया ॥ ४३ ॥
ऋग्यजुःसामवित्पूज्यो नित्यं स्याद्देववद्द्विजः ।
अनृग्यजुरसामा च प्राजापत्य उपद्रवः ।
यज्ञो मनीषया तात सर्ववर्णेषु भारत ॥ ४४ ॥
नास्य यज्ञकृतो देवा ईहन्ते नेतरे जनाः ।
ततः सर्वेषु वर्णेषु श्रद्धायज्ञो विधीयते ॥ ४५ ॥
स्वं दैवतं ब्राह्मणाः स्वेन नित्यं परान्वर्णानयजन्नेवमासीत् ।
अवरो वितानः संसृष्टो वैश्यो ब्राह्मणास्त्रिषु वर्णेषु यज्ञसृष्टः ॥ ४६ ॥
तस्माद्वर्णा ऋजवो ज्ञातिवर्णाः संसृज्यन्ते तस्य विकार एव ।

होंगे। ब्राह्मणोंसे ही इतर तीनों वर्णोंकी सृष्टि हुई है, इससे वे लोग स्थिर होके कामनाके सहित यज्ञादि न करने पर भी अवश्य ही ब्राह्मणोंके किये हुए यज्ञादिकोंके फलभागी हुआ करते हैं। जो देवताओंके भी देवता हैं, वे ब्राह्मण लोग जो कुछ कहें, वही मङ्गलजनक है। इसही कारण शूद्र आदि वर्ण श्रौत वा स्मार्त्त यज्ञोंको न करें, ब्राह्मणोंकी आज्ञाके अनुसार ही कार्योंमें प्रवृत्त होवें। (३९—४३)

ऋक्, यजु और साम वेद जाननेवाले ब्राह्मण शूद्रोंके निकट देवताके समान पूजनीय होते हैं, और दासरूपसे परिगणित शूद्र त्रिवर्णातिरिक्त होकर भी प्रजापति-दैवत कहके गिना जाता है। हे तात भारत! सङ्कल्प करके देवताओंके निमित्त द्रव्यत्यागरूपी यज्ञमें सब वर्णवालोंको अधिकार है; अधम वर्ण शूद्र भी यदि वैसा यज्ञ करे, तो देवता लोग तथा उत्तम वर्णवाले भी उसके यज्ञभागको ग्रहण करते हैं। महाराज! इस ही कारण सब वर्णोंके वास्ते श्रद्धायज्ञकी विधि वर्णित हुई है। (४४—४५)

ब्राह्मण लोग क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंके असाधारण देवता हैं, इससे वे आत्मीय ब्राह्मण उन लोगोंसे घिरके उनके फललाभकी अभिलाषसे यज्ञादि नहीं करते, यह अत्यन्त ही असम्भव है। परन्तु "मैं अमुक कामनासे अमुक पुरुषसे वृत होकर अमुक यज्ञ करता

एकं साम यजुरेकमृगेका विप्रश्चैको निश्चये तेषु सृष्टः ॥ ४७ ॥
अत्र गाथा यज्ञगीताः कीर्तयन्ति पुरा विदः ।
वैखानसानां राजेन्द्र मुनीनां यष्टुमिच्छताम् ॥ ४८ ॥
उदितेऽनुदिते वाऽपि श्रद्दधानो जितेन्द्रियः ।
वह्निं जुहोति धर्मेण श्रद्धा वै कारणं महत् ॥ ४९ ॥
यत्स्कन्नमस्य तत्पूर्वं यदस्कन्नं तदुत्तरम् ।
बहूनि यज्ञरूपाणि नानाकर्मफलानि च ॥ ५० ॥
तानि यः सम्प्रजानाति ज्ञाननिश्चयनिश्चितः ।
द्विजातिः श्रद्धयोपेतः स यष्टुं पुरुषोऽर्हति ॥ ५१ ॥

हूं " इसी उद्देश्यसे सदा यज्ञादि किया करते हैं इसी भांति वैश्य-गृहसे लाया हुआ मन्त्र संसृष्ट यज्ञ नीच वर्णवालोंमें दीखता है। हे युधिष्ठिर! यह सब देखके निश्चय बोध होता है, ब्राह्मणोंसे ही क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके यज्ञोंकी उत्पत्ति हुई है। जब कि ब्राह्मण ही क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके यज्ञस्रष्टा हैं और उनके विकारसे ही क्षत्रिय आदिकी कन्याओंसे क्षत्रिय वैश्य और शूद्रोंकी उत्पत्ति हुई है, इससे क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण साधु और ब्राह्मणोंके ज्ञाति-वर्ण हैं; क्यों कि एक मात्र ब्रह्मसे ही पहिले ब्राह्मण जातिकी उत्पत्ति हुई, और उस ब्राह्मणसे ही क्रमसे क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये तीनों वर्ण उत्पन्न हुए हैं। जैसे एक मात्र अकारसे ही ऋक्, साम, और यजु ये तीनों वेद उत्पन्न हुए हैं, और वे वेद उससे भिन्न नहीं हैं; वैसे ही एक ब्रह्मसे ही ब्राह्मणादिक चारों वर्ण उत्पन्न होके भी परस्पर समान हैं। (४६-४७)

हे राजेन्द्र! पुराण जाननेवाले पण्डित लोग इस प्रस्तावके उदाहरण स्वरूप यियक्षु वैखानस मुनियोंके यज्ञ समयमें विष्णु-गीत यज्ञ-स्तुति विषयक जो कई एक श्लोक कहा करते हैं, उसे सुनो। सवेरे, मध्यान्ह और सन्ध्याके समय श्रद्धावान जितेन्द्रिय पुरुष जो अग्निमें होम किया करते हैं, श्रद्धा ही उसमें मुख्य कारण है। ब्राह्मणोंमें जो षोडश प्रकारके अग्निहोत्र कहे गये हैं, उसमें जो अस्कन्न अर्थात् मरुत-दैवत है, वह निकृष्ट और अस्कन्न अर्थात् यथा विधिसे होम होता है, वही सबसे उत्तम है। जो उन षोडश भांतिके अग्निहोत्र, अनेक भांतिके यज्ञोंके रूप तथा कई प्रकारके कर्म और उनके फलोंको जानते हैं, वेही ज्ञानी श्रद्धावान द्विजाति ही यज्ञ कर सकते हैं। जो

स्तेनो वा यदि वा पापो यदि वा पापकृत्तमः।
यष्टुमिच्छति यज्ञं यः साधुमेव वदन्ति तम् ॥ ५२ ॥
ऋषयस्तं प्रशंसन्ति साधु चैतदसंशयम्।
सर्वथा सर्वदा वर्णैर्यष्टव्यमिति निर्णयः।
न हि यज्ञसमं किंचित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥ ५३ ॥
तस्माद्यष्टव्यमित्याहुः पुरुषेणानसूयता।
श्रद्धापवित्रमाश्रित्य यथाशक्ति यथेच्छया ॥ ५४ ॥ [२३०२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

भीष्म उवाच— आश्रमाणां महाबाहो शृणु सत्यपराक्रम।
चतुर्णामपि नामानि कर्माणि च युधिष्ठिर ॥ १ ॥
वानप्रस्थं भैक्ष्यचर्यं गार्हस्थ्यं च महाश्रमम्।
ब्रह्मचर्याश्रमं प्राहुश्चतुर्थं ब्राह्मणैर्वृतम् ॥ २ ॥
जटाधरणसंस्कारं द्विजातित्वमवाप्य च।
आधानादीनि कर्माणि प्राप्य वेदमधीत्य च ॥ ३ ॥
सदारो वाऽप्यदारो वा आत्मवान्संयतेन्द्रियः।

यज्ञादिकोंसे यज्ञस्वरूप विष्णुके आराधनाकी इच्छा करता है, वह पुरुष यदि चोर पापी वा महापापी हो, तौभी पण्डित लोग उसे साधु ही कहा करते हैं। (४८-५२)

हे युधिष्ठिर! जब कि यही उत्तम है और महर्षि लोग इसीकी प्रसंशा किया करते हैं, तब सब वर्णोंको ही सर्वदा सब भांतिसे यज्ञ करना कर्त्तव्य है, यही निर्णय हुआ है। तीनों लोकमें यज्ञके समान दूसरा कोई भी कर्म नहीं है, इससे सबको ही असूया-रहित और श्रद्धावान होकर शक्ति तथा इच्छानुसार यज्ञ करना उचित है। (५३—५४)

शान्तिपर्वमें साठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसठ अध्याय।

भीष्म बोले, हे महाबाहो सत्यपराक्रमी युधिष्ठिर! अब चारों आश्रमोंके नाम और कर्मोंको सुनो। शास्त्रकारोंने वानप्रस्थ, भैक्षचर्य, महत् गार्हस्थ और चौथा ब्राह्मणोंसे परिवृत्त ब्रह्मचर्य,-यही चार प्रकारके आश्रमोंका वर्णन किया है। द्विजकुलमें जन्म लेकर जटाधारण संस्कार और अग्न्याधान आदि कार्योंको समाप्त करके वेद पढते हुए आत्मवान और जितेन्द्रिय होकर सस्त्रीक हो, चाहे

वानप्रस्थाश्रमं गच्छेत्कृतकृत्यो गृहाश्रमात् ॥ ४ ॥
तत्रारण्यकशास्त्राणि समधीत्य स धर्मवित्।
ऊर्ध्वरेताः प्रव्रजित्वा गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ५ ॥
एतान्येव निमित्तानि मुनीनामूर्ध्वरेतसाम्।
कर्तव्यानीह विप्रेण राजन्नादौ विपश्चिता ॥ ६ ॥
चरितब्रह्मचर्यस्य ब्राह्मणस्य विशाम्पते।
भैक्षचर्यास्वधीकारः प्रशस्त इह मोक्षिणः ॥ ७ ॥
यत्रास्तमितशायी स्यान्निराशीरनिकेतनः।
यथोपलब्धजीवी स्यान्मुनिर्दान्तो जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
निराशीः स्यात्सर्वसमो निर्भोगो निर्विकारवान्।
विप्रः क्षेमाश्रमं प्राप्तो गच्छत्यक्षरसात्मताम् ॥ ९ ॥
अधीत्य वेदान्कृतसर्वकृत्यः सन्तानमुत्पाद्य सुखानि भुक्त्वा।
समाहितः प्रचरेद्दुश्चरं यो गार्हस्थ्यधर्मं मुनिधर्मजुष्टम् ॥ १० ॥

स्त्रीरहित होकर ही गृहस्थाश्रममें कृतकृत्य होकर फिर वानप्रस्थ आश्रममें गमन करे। इसी भांति वानप्रस्थ आश्रममें प्रवेश करके वहां पर वनवासी वानप्रस्थ पुरुषोंके अनुशासनको यथारीतिसे अनुष्ठान कर ऊर्द्धरेता होकर प्रव्रज्या करते हुए मोक्षपद पुरुष पाते हैं। (१—५)

हे राजन्! यही सब उर्द्धरेता मुनियोंके मोक्षका कारण हैं, इससे विद्वान ब्राह्मणोंको पहिले यही सब कार्य करना उचित है। हे महाराज! मोक्षकी इच्छा करनेवाले ब्राह्मणोंको इस ब्रह्मचर्य आश्रमके कर्त्तव्य कर्मोंका आचरण करनेके अनन्तर उन्हें भैक्षचर्यरूप चौथे आश्रममें अधिकार होता है। ब्राह्मण इस आश्रममें प्रवेश करके अस्तमितशायी अर्थात् दिनमें निद्रारहित, आत्मस्वार्थ इच्छासे हीन, गृहरहित, मननशील, धार्मिक और जितेन्द्रिय होकर जो कुछ भोजनकी वस्तु प्राप्त होवे, उससेही जीविका निर्वाह करे। आशारहित, सबमें समभावसे युक्त, निर्भोग और निर्विकार अर्थात् काम सङ्कल्प आदिसे रहित ब्राह्मण इस मङ्गलमय आश्रममें निवास करके मोक्षपद प्राप्त करते हैं। (६—९)

हे युधिष्ठिर! जो ब्राह्मण वेदाध्ययनके अनन्तर सब कर्त्तव्य कार्योंको समाप्त कर पुत्र उत्पन्न और अनेक भांतिके सुख भोग करते हुए योगयुक्त होकर मुनियोंसे सेवित दुष्कर गार्हस्थ

स्वदारतुष्टस्त्वृतुकालगामी नियोगसेवी न शठो न जिह्मः ।
मिताशनो देवरतः कृतज्ञः सत्यो मृदुश्चानृशंसः क्षमावान् ॥ ११ ॥
दान्तो विधेयो हव्यकव्येऽप्रमत्तो ह्यन्नस्य दाता सततं द्विजेभ्यः ।
अमत्सरी सर्वलिङ्गप्रदाता वैताननित्यश्च गृहाश्रमी स्यात् ॥ १२ ॥
अथात्र नारायणगीतमाहुर्महर्षयस्तात महानुभावाः ।
महार्थमत्यन्ततपः प्रयुक्तं तदुच्यमानं हि मया निबोध ॥ १३ ॥
सत्यार्जवं चातिथिपूजनं च धर्मस्तथाऽर्थश्च रतिः स्वदारैः ।
निषेवितव्यानि सुखानि लोके ह्यस्मिन्परे चैव मतं ममैतत् ॥१४ ॥
भरणं पुत्रदाराणां वेदानां धारणं तथा ।
वसतामाश्रमं श्रेष्ठं वदन्ति परमर्षयः ॥ १५ ॥
एवं हि यो ब्राह्मणो यज्ञशीलो गार्हस्थ्यमध्यावसते यथावत् ।
गृहस्थवृत्तिं प्रविशोध्य सम्यक्स्वर्गे विशुद्धं फलमाप्नुते सः ॥१६ ॥
तस्य देहपरित्यागादिष्टाः कामाऽक्षया मताः ।

धर्मका आचरण करते हैं, वे भी मोक्ष-पद पाते हैं। गृहस्थाश्रमवासी पुरुषोंको सदा निज स्त्रीमें सन्तुष्ट, ऋतुकालमें गमन करना, नियोगसेवी, धूर्त्ततारहित, कुटिलताहीन, मिताहारी, देवतोंमें रत, कृतज्ञ, सत्यवादी, सरलतायुक्त, अनृशंस, क्षमावान, धर्म करनेवाले, हव्य-कव्यमें आलस रहित, द्विजोंको सदा-सर्वदा अन्नदान करनेवाले, मत्सरता हीन, धर्मचिन्ह युक्त, सब आश्रमोंके अन्नदाता और वेदविहित कर्मोंमें निष्ठावान होना उचित है। (१०—१२)

हे तात युधिष्ठिर ! इस प्रस्तावमें महात्मा महर्षि लोग जो महा अर्थ, तपयुक्त और सारभूत नारायणगीत श्लोकका प्रमाण देते हैं, उसे कहता हूं, सुनो। "हमारे मतमें इस लोक और परलोकमें सत्य, कोमलता, अतिथिपूजा, धर्म, अर्थ, निज स्त्रीसे रति और दूसरे अनेक भांतिके सुखोंको भोगना कर्त्तव्य है।" परमर्षि लोग गृहस्थाश्रमवासी पुरुषोंके वास्ते स्त्री-पुत्रोंका पालन और वेदोंको धारण अर्थात् पढना और पढाना रूप कार्यको ही श्रेष्ठ कहा करते हैं। इसी भांति जो यज्ञशील ब्राह्मण गृहस्थ-वृत्तिको सब भांतिसे परिशोधित करके न्यायसे प्राप्त हुए धनसे जीविका निर्वाह करता हुआ गार्हस्थ्य आश्रममें वास करता है, वह स्वर्ग लोकमें शुद्ध फल लाभ करता है। देह त्यागनेके अनन्तर उसकी सब इष्ट कामना अक्षय होकर अनन्तर काल पर्यन्त वेतन भोगी सेवक

आनन्त्यायोपतिष्ठन्ति सर्वतोऽक्षिशिरोमुखाः॥ १७ ॥
स्मरन्नेको जपन्नेकः सर्वानेको युधिष्ठिर।
एकस्मिन्नेव चाचार्ये शुश्रूषुर्मलपङ्कवान् ॥ १८ ॥
ब्रह्मचारी व्रती नित्यं नित्यं दीक्षापरो वशी।
परिचार्य तथा वेदं कृत्यं कुर्वन्वसेत्सदा ॥ १९ ॥
शुश्रूषां सततं कुर्वन्गुरोः सम्प्रणमेत च।
षट्कर्मसु निवृत्तश्च न प्रवृत्तश्च सर्वशः ॥ २० ॥
न चरत्यधिकारेण सेवेत द्विषतो न च।
एषोऽऽश्रमपदस्तात ब्रह्मचारिण इष्यते ॥ २१ ॥ [२३२३]

इति श्रीमहाभारते० शांतिप० राजधर्मानुशासनप० चतुराश्रमधर्मकथने एकषष्टितमोऽध्यायः ६१

युधिष्ठिर उवाच—शिवान्सुखान्महोदर्कानहिंस्रान् लोकसंमतान्।
ब्रूहि धर्मान्सुखोपायान्मद्विधानां सुखावहान् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— ब्राह्मणस्य तु चत्वारस्त्वाश्रमा विहिताः प्रभो।
वर्णास्तान्नानुवर्तन्ते त्रयो भारतसत्तम ॥ २ ॥

की भांति उसकी अनुगामिनी होती है। (१३-१७)

हे युधिष्ठिर! ब्रह्मचारी लोग स्वयं-मल-दिग्धाङ्ग होकर सदा गुरु सेवामें तत्पर होके कोई पढे हुए वेदोंको स्मरण करें, कोई निज मन्त्रोंका जप और कोई नित्य व्रतावलम्बी, सदा दीक्षामें तत्पर और जितेन्द्रिय होकर वेदान्त विचारके अनुसार ध्यान-योग आदि सब कर्त्तव्य कर्मोंको समाप्त करके ब्रह्मचर्याश्रममें वास करें। यजन आदि षट् कर्मोंसे निवृत्त होके तथा दूसरे किसी कर्ममें प्रवृत्त न होकर सदा गुरुकी सेवा करे और उनके निकट विनीत भावसे स्थित रहे; शत्रुओंकी सेवा वा किसीके ऊपर निग्रह प्रकाश करना उचित नहीं है। हे तात युधिष्ठिर! ब्रह्मचारियोंके वास्ते यही आश्रम पद निश्चित हुआ है। (१८-२१) [२३२३]

शान्तिपर्वमें तैंतालिस अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चवालिस अध्याय।

राजा युधिष्ठिर बोले, उत्तर कालमें सुखदायक, मङ्गलमय, अहिंसासे युक्त, लोक-सम्मत, सुखके उपायका कारण और मेरे समान मनुष्योंको सुख प्राप्त होनेके योग्य धर्मका वर्णन करिये! भीष्म बोले, हे प्रभु भरत-सत्तम! ब्राह्मणोंको जो वानप्रस्थ आदि चार आश्रम कहे गये हैं, हिंसामें प्रवृत्त क्षत्रिय आदि तीनों वर्ण उसके अनुवर्त्ती

उक्तानि कर्माणि बहूनि राजन्स्वर्ग्याणि राजन्यपरायणानि।
नेमानि दृष्टान्तविधौ स्मृतानि क्षात्रे हि सर्वं विहितं यथावत्॥३॥
क्षात्राणि वैश्यानि च सेव्यमानः शौद्राणि कर्माणि च ब्राह्मणः सन्।
अस्मिँल्लोके निन्दितो मन्दचेताः परे च लोके निरयं प्रयाति ॥ ४ ॥
या संज्ञा विहिता लोके दासे शुनि वृके पशौ।
विकर्मणि स्थिते विप्रे सैव संज्ञा च पाण्डव ॥ ५ ॥
षट्कर्मसम्प्रवृत्तस्य आश्रमेषु चतुर्ष्वपि।
सर्वधर्मोपपन्नस्य संवृत्तस्य कृतात्मनः ॥ ६ ॥
ब्राह्मणस्य विशुद्धस्य तपस्यभिरतस्य च।
निराशिषो वदान्यस्य लोका ह्यक्षरसंमिताः ॥ ७ ॥
यो यस्मिन्कुरुते कर्म यादृशं येन यत्र च।
तादृशं तादृशेनैव सगुणं प्रतिपद्यते ॥ ८ ॥
वृद्ध्या कृषिवणिक्त्वेन जीवसञ्जीवनेन च।
वेत्तुमर्हसि राजेन्द्र स्वाध्यायगणितं महत् ॥ ९ ॥
कालसंचोदितो लोकः कालपर्यायनिश्चितः।

नहीं होते। क्षत्रियोंको जो युद्धमें विजय लाभ प्रभृति स्वर्ग प्राप्त होने योग्य अनेक भांतिके कार्य वर्णित हुए हैं; वह तुम्हारे पूछे हुए प्रश्नके उत्तरमें व्यवहृत नहीं होसकते; क्यों कि वे सब कर्म हिंसामें प्रवृत्त क्षत्रियोंके पक्षमें ही कहे गये हैं। ब्राह्मण कुलमें जन्म लेकर यदि कोई पुरुष क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्तव्य कर्मोंका आचरण करे, तो वह मन्दबुद्धि इस लोकमें निन्दित और परलोक में नरकगामी होता है। (१-४)

हे पाण्डुनन्दन! पृथ्वीपर दास, कुत्ते, भेडिये और अन्य पशुओंके विषयमें जो सब संज्ञा व्यवहृत होती हैं, ब्राह्मण यदि कुकर्मी हो तो उसके विषयमें भी वेही सब संज्ञा व्यवहृत होती हैं। प्राणायाम आदि षट्कर्म और वानप्रस्थ आदि चारों आश्रमोंमें प्रवृत्त हिंसा रहित, चपलता हीन, स्थिरचित्त, पवित्र स्वभाववाले, तपस्यामें रत, आत्म-स्वार्थ इच्छासे रहित और धार्मिक ब्राह्मण अक्षय लोकमें वास करते हैं। जो पुरुष जैसी अवस्थामें जिस स्थान पर जैसा कार्य करता है, वह उस ही कर्मसे उसके अनुरूप फल पाता है। हे राजेन्द्र! उक्त कारण से ही क्षत्रिय वृत्ति, कृषि कर्म, वाणिज्य और मृगयासे

उत्तमाधममध्यानि कर्माणि कुरुतेऽवशः ॥ १० ॥
अन्तवन्ति प्रधानानि पुराश्रेयस्कराणि च ।
स्वकर्मनिरतो लोको ह्यक्षरः सर्वतोमुखः ॥ ११ ॥२३३४

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने द्विषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच– ज्याकर्षणं शत्रुनिबर्हणं च कृषिर्वणिज्या पशुपालनं च ।
शुश्रूषणं चापि तथाऽर्थहेतोरकार्यमेतत्परमं द्विजस्य ॥ १ ॥
सेव्यं तु ब्रह्म षट्कर्म गृहस्थेन मनीषिणा ।
कृतकृत्यस्य चारण्ये वासो विप्रस्य शस्यते ॥ २ ॥
राजप्रेष्यं कृषिधनं जीवनं च वणिक्पथा ।
कौटिल्यं कौलटेयं च कुसीदं च विवर्जयेत् ॥ ३ ॥
शूद्रो राजन्भवति ब्रह्मबन्धुर्दुश्चारित्रो यश्च धर्मादपेतः ।
वृषलीपतिः पिशुनो नर्तनश्च राजप्रेष्यो यश्च भवेद्विकर्मा ॥ ४ ॥

जीविका निर्वाहके समान ही समझना चाहिये । प्राग्भव वासना समूहही कालप्रेरित होकर उत्तम, मध्यम और अधम कार्योंको किया करती हैं, क्यों कि सब ही कालके वशमें हैं । शरीरके किये हुए प्राचीन पाप और पुण्यके फल, सुख तथा दुःख आदि सब ही नाशमान हैं; परन्तु पर जन्ममें सुख आदि प्राप्त होनेके निमित्त जीव निज इच्छानुसार शुभ वा अशुभ निज कार्योंमें प्रवृत्त हुआ करता है । (५–१२)२३३४

शान्तिपर्वमें बासठ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें तिरसठ अध्याय ।

भीष्म बोले, धनुष चढाना, शत्रुओंको मारना, कृषि, वाणिज्य, पशुओंका पालन और धन पानेकी इच्छासे दूसरेकी सेवा करनी, ये सब ब्राह्मणोंके लिये अकार्य कहके वर्णित हुए हैं । बुद्धिमान गृहस्थको ब्रह्मविषयक षट्-कर्मोंका आचरण करते हुए कृत-कृत्य होकर वनमें प्रवेश करना ही उत्तम है । ब्राह्मणको उचित है, कि राजाकी सेवकाई, कृषिसे प्राप्त हुए धन, वाणिज्यसे जीविका निर्वाह, कुटिलता, कौलटेय अर्थात् परायी स्त्रीसे व्यभिचार और कुसीद अर्थात् ऋणदेना वा उसकी वृद्धि तथा व्याज लेना, इन सब कार्योंको परित्याग करे । (१—३)

महाराज ! ब्रह्मबन्धु अर्थात् अधम ब्राह्मण और दुश्चरित्री, निज धर्मको त्यागनेवाला, वृषलीपति, धूर्त, नाचनेवाला, राजप्रेष्य, और कुकर्मोंमें रत

जपन्वेदानजपंश्चापि राजन्समः शूद्रैर्दासवच्चापि भोज्यः ।
एते सर्वे शूद्रसमा भवन्ति राजन्नेतान्वर्जयेद्देवकृत्ये ॥ ५ ॥
निर्मर्यादे चाशुचौ क्रूरवृत्तौ हिंसात्मके त्यक्तधर्मस्ववृत्ते ।
हव्यं कव्यं यानि चान्यानि राजन्देयान्यदेयानि भवन्ति चास्मै॥६॥
तस्माद्धर्मो विहितो ब्राह्मणस्य दमः शौचमार्जवं चापि राजन् ।
तथा विप्रस्याश्रमाः सर्व एव पुरा राजन्ब्रह्मणा वै निसृष्टाः॥ ७ ॥
यः स्याद्दान्तः सोमपश्चार्यशीलः सानुक्रोशः सर्वसहो निराशीः ।
ऋजुर्मृदुरनृशंसः क्षमावान्स वै विप्रो नेतरः पापकर्मा ॥ ८ ॥
शूद्रं वैश्यं राजपुत्रं च राजन्लोकाः सर्वे संश्रिता धर्मकामाः ।
तस्माद्वर्णान्शान्तिधर्मेष्वसक्तान्मत्वा विष्णुर्नेच्छति पाण्डुपुत्र ॥९॥
लोके चेदं सर्वलोकस्य न स्याच्चातुर्वर्ण्यं वेदवादाश्च न स्युः ।
सर्वाश्चेज्याः सर्वलोकक्रियाश्च सद्यः सर्वे चाश्रमस्था न वै स्युः॥१०॥
यश्च त्रयाणां वर्णानामिच्छेदाश्रमसेवनम् ।
चातुराश्रम्यदृष्टांश्च धर्मास्तान्शृणु पाण्डव ॥ ११ ॥

रहनेवाला ब्राह्मण शूद्रके समान है; इससे वह चाहे देवताओंके कहे हुए मन्त्रोंको जपे वा न जपे, दासोंकी भांति शूद्रोंकी पंक्तिमें भोजन करनेके योग्य होजाता है। महाराज ! राजसेवक सब ही शूद्रके समान हैं; इससे उन्हें देव कर्मोंसे रोकना उचित है। हे राजन् ! ब्राह्मण मर्यादा रहित, अपवित्र, क्रूरवृत्तिवाला, हिंसक और निज धर्म तथा वृत्तिको त्याग करनेवाला हो, तो उसे हव्य कव्य आदि जो कुछ दिया जाता है, वह सब विना दिये हुएके समान होजाता है। महाराज ! इस ही कारण पितामहने ब्राह्मणोंके निमित्त पवित्रता, विनीतता और आश्रमोंका विधान किया है। जो धार्मिक, सुशील, दयालु, सहनशील, ममतारहित, सरल, कोमलतायुक्त, अनृशंस, क्षमावान पुरुष यज्ञादिकोंका अनुष्ठान करके सोमपान करते हैं, वेही ब्राह्मण हैं; इसके अतिरिक्त पाप कर्म करनेवाले ब्राह्मण कहके नहीं गिने जाते। (४—८)

हे महाराज पाण्डुपुत्र ! धर्मकी इच्छा करनेवाले पुरुष वैश्य शूद्र, अथवा क्षत्रियोंका आसरा ग्रहण करते हैं; इस ही कारण विष्णु सब वर्णोंकी शान्ति-धर्ममें असमर्थ समझके उनके मंगलकी इच्छा नहीं करते। इससे स्वर्गलोकमें सुख आदि प्राप्त होनेकी लालसासे चारों वर्णोंके वेदवाद, सब भांतिके यज्ञ और

शुश्रूषोः कृतकार्यस्य कृतसन्तानकर्मणः।
अभ्यनुज्ञातराजस्य शूद्रस्य जगतीपते ॥ १२ ॥
अल्पान्तरगतस्यापि दशधर्मगतस्य वा।
आश्रमा विहिताः सर्वे वर्जयित्वा निराशिषम्॥ १३ ॥
भैक्ष्यचर्या ततः प्राहुस्तस्य तद्धर्मचारिणः।
तथा वैश्यस्य राजेन्द्र राजपुत्रस्य चैव हि ॥ १४ ॥
कृत्यकृत्यो वयोतीतो राज्ञः कृतपरिश्रमः।
वैश्यो गच्छेदनुज्ञातो नृपेणाश्रमसंश्रयम ॥ १५ ॥
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्राणि चानघ।
सन्तानादीनि कर्माणि कृत्वा सोमं निषेव्य च ॥१६॥
पालयित्वा प्रजाः सर्वा धर्मेण वदतांवर।
राजसूयाश्वमेधादीन्मखानन्यांस्तथैव च ॥ १७ ॥
आनायित्वा यथापाठं विप्रेभ्यो दत्तदक्षिणः।

सब लोगोंकी समस्त क्रिया नष्ट होती हैं; तथा आश्रमस्थ पुरुष भी निज धर्ममें स्थित नहीं रहते। हे पाण्डुनन्दन! जिससे राजा निज राज्यमें ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंको यथा उचित आश्रमोंके धर्माचरण करानेकी इच्छा करेगा, अब उस अवश्य आचरणीय चातुराश्रम दृष्ट समस्त धर्मोंको सुनो। हे पृथ्वीनाथ! वेदान्तमें अधिकार रहित परन्तु पुराणादिकोंसे आत्मशुभेच्छु जो शूद्रपुत्र उत्पन्न करके शरीरके सामर्थके अनुसार त्रैवर्णिक कार्योंका आचरण करके राजाके समीप जाहिर होता है, वैसे योग्य-शास्त्रमें अनाधिकारी त्रैवर्णिक समान शूद्रके विषयमें त्यागके अतिरिक्त सब आश्रम ही विहित हुआ है। (९-१३)

हे राजेन्द्र! इसी भांति स्वधर्माचारी शूद्रके लिये भैक्षचर्य रूप चौथा आश्रम भी कहा गया है। महाराज! वैश्य और क्षत्रिय भी इस धर्मका आचरण करें। वैश्य लोग परिश्रमके सहित पशुपालन रूप धर्मोंका आचरण करते हुए गृहस्थाश्रममें कृतकृत्य होकर राजाकी आज्ञानुसार क्षत्रिय आश्रमका आसरा ग्रहण करे। हे बोलनेवालोंमें मुख्य युधिष्ठिर! क्षत्रिय लोग धर्म पूर्वक राजशास्त्र और वेद पढके पुत्र उत्पन्न आदि कर्म, सोमपान, धर्मपूर्वक प्रजापालन, रणभूमिमें विजय लाभ और राजसूय, अश्वमेध आदि यज्ञोंको करके ब्राह्मणोंको आह्वान कर यथा उचित

संग्रामे विजयं प्राप्य तथाल्पं यदि वा बहु ॥ १८ ॥
स्थापयित्वा प्रजापालं पुत्रं राज्ये च पाण्डव ।
अन्यगोत्रं प्रशस्तं वा क्षत्रियं क्षत्रियर्षभ ॥ १९ ॥
अर्चयित्वा पितॄन्सम्यक्पितृयज्ञैर्यथाविधि ।
देवान्यज्ञैर्ऋषीन्वेदैरर्चयित्वा तु यत्नतः ॥ २० ॥
अन्तकाले च सम्प्राप्ते य इच्छेदाश्रमान्तरम् ।
सोऽनुपूर्व्याश्रमान् राजन्गत्वा सिद्धिमवाप्नुयात्॥२१॥
राजर्षित्वेन राजेन्द्र भैक्ष्यचर्या न सेवया ।
अपेतगृहधर्मोऽपि चरेज्जीवितकाम्यया ॥ २२ ॥
न चैतन्नैष्ठिकं कर्म त्रयाणां भूरिदक्षिण।
चतुर्णां राजशार्दूल प्राहुराश्रमवासिनाम् ॥ २३ ॥
बाह्वायत्तं क्षत्रियैर्मानवानां लोकश्रेष्ठं धर्ममासेवमानैः ।
सर्वे धर्माः सोपधर्मास्त्रयाणां राज्ञो धर्मादिति वेदाच्छृणोमि॥२४॥
यथा राजन्हस्तिपदे पदानि संलीयन्ते सर्वसत्वोद्भवानि ।

दक्षिणा प्रदान करे। (१४-१८)

हे क्षत्रियर्षभ पाण्डुपुत्र! तिसके अनन्तर प्रजापालनमें समर्थ पुत्रको अथवा शास्त्रमें कहे हुए लक्षणसे युक्त अन्य-गोत्री क्षत्रियको निजसिंहासन पर बैठाके पितृयज्ञसे पितरों, यज्ञादिकोंसे देवताओं और वेदोंसे ऋषियोंको यत्नपूर्वक यथारीतिसे पूजा कर अन्त समयमें आश्रमान्तरमें गमन करनेकी इच्छा करें। हे राजन्! इसी भांति यथा रीतिसे सब आश्रमोंके धर्माचरण करनेसे क्षत्रिय सिद्धिलाभ कर सकते हैं। हे राजेन्द्र! क्षत्रिय लोग गृहस्थ धर्म त्याग कर अपनेको राजर्षि न समझके केवल मात्र जीवन रक्षाके निमित्त भिक्षावृत्ति अवलम्बन करें; परन्तु भोगकी अभिलाषासे वैसी वृत्ति को अवलम्बन न कर सकेंगे। हे बहुतसी दक्षिणा देनेवाले! आर्य लोग कहा करते हैं, कि यह भैक्षचर्य्य धर्म क्षत्रियादिक तीनों वर्णोंके निमित्त नित्य नहीं है, वे लोग इच्छानुसार इस धर्मको ग्रहण करते वा नहीं भी कर सकते हैं। हे राजन्! लोकसमाजमें श्रेष्ठ धर्म आचरण करनेवाले क्षत्रियोंको बाहुबलसे सब प्राणियोंको वशमें करना उचित है; क्यों कि वेदमें ऐसा कहा गया है, कि ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र इन तीनोंके धर्म तथा उपधर्म सब राजधर्मसे ही उत्पन्न हुए हैं। (१९-२४)

एवं धर्मान् राजधर्मेषु सर्वान्सर्वावस्थं सम्प्रलीनान्निबोध ॥ २५ ॥
अल्पाश्रयानल्पफलान्वदन्ति धर्मानन्यान्धर्मविदो मनुष्याः।
महाश्रयं बहुकल्याणरूपं क्षात्रं धर्मं नेतरं प्राहुरार्याः ॥ २६ ॥
सर्वे धर्मा राजधर्मप्रधानाः सर्वे वर्णाः पाल्यमाना भवन्ति।
सर्वस्त्यागो राजधर्मेषु राजंस्त्यागं धर्मं चाहुरग्र्यं पुराणम्॥ २७ ॥
मज्जेत्त्रयी दण्डनीतौ हतायां सर्वे धर्माः प्रक्षयेयुर्विबुद्धाः।
सर्वे धर्माश्चाश्रमाणां हताः स्युः क्षात्रे त्यक्ते राजधर्मे पुराणे॥२८॥
सर्वे त्यागा राजधर्मेषु दृष्टाः सर्वा दीक्षा राजधर्मेषु चोक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मेषु युक्ताः सर्वे लोका राजधर्मे प्रविष्टाः॥२९॥
यथा जीवाः प्राकृतैर्वध्यमाना धर्मश्रुतानामुपपीडनाय।
एवं धर्मा राजधर्मैर्वियुक्ताः संश्चिन्वन्तो नाद्रियन्ते स्वधर्मम् ॥३०॥ २३६४

इति श्रीमहाभारते० शान्ति० राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने त्रिषष्टितमोऽध्यायः॥६३

हे महाराज! जैसे क्षुद्र जन्तुओंके पांवके चिन्ह हाथीके पाव चिन्हमें लीन होजाते हैं, वैसे ही सब भांतिके धर्मको ही राजधर्ममें लीन समझना चाहिये। धर्म जाननेवाले पुरुष अन्य सब कर्मोंको अल्प आश्रय और स्वल्प फलदायक कहा करते हैं; क्यों कि आर्य लोग महाआश्रय, अनेक भांतिसे कल्याणदायक क्षात्रको ही धर्म कहते हैं, और इतर धर्मोंको धर्म नहीं कहते हैं। हे राजन्! सब धर्मोंमें राजधर्म मुख्य है, राजधर्मसे ही सब वर्ण रक्षित होते हैं और राजधर्ममें ही सब भांतिके दान कहे गये हैं, इससे राजधर्म ही मुख्य है; क्यों कि आर्य लोग दानको ही सबसे श्रेष्ठ कहा करते हैं। राजाओंके दण्डनीति रहित होनेपर चलानेवालेसे हीन नौकाकी भांति तीनों डूबते हैं, इससे सब धर्म ही नष्ट होजाते हैं। प्राचीन क्षत्रियधर्मको त्यागने पर सब आश्रम-धर्म भी नष्ट हो जाते हैं। राजधर्ममें ही सब भांतिका दान दीख पडता है; दीक्षाकी सब रीति राजधर्ममें ही कही गई है; सब विद्या राजधर्मसे युक्त और सब लोग ही राजधर्ममें प्रविष्ट है। (२५-२९)

हे महाराज! अधिक क्या कहूं, जैसे मृगोंका समूह नीचोंसे पीडित होकर उन मारनेवालोंके सुने तथा देखे हुए धर्मनाशका कारण होता है, वैसे ही यज्ञादि समस्त धर्म, कर्म राजधर्मसे नियुक्त होनेपर चोर लोग उन यज्ञादिकोंका नाश करते हैं, इससे लोग यज्ञादिकोंका अनादर करते हुए आत्म-

भीष्म उवाच— चातुराश्रम्यधर्माश्च यतिधर्माश्च पाण्डव ।
लोकवेदोत्तराश्चैव क्षात्रधर्मे समाहिताः ॥ १ ॥
सर्वाण्येतानि कर्माणि क्षात्रे भरतसत्तम ।
निराशिषो जीवलोकाः क्षत्रधर्मे व्यवस्थिते ॥ २ ॥
अप्रत्यक्षं बहुद्वारं धर्ममाश्रमवासिनाम् ।
प्रकोपयन्ति तद्भावमागमैरेव शाश्वतम् ॥ ३ ॥
अपरे वचनैः पुण्यैर्वादिनो लोकनिश्चयम् ।
अनिश्चयज्ञा धर्माणामदृष्टान्ते परे हताः ॥ ४ ॥
प्रत्यक्षं सुखभूयिष्ठमात्मसाक्षिकमच्छलम् ।
सर्वलोकहितं धर्मं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ ५ ॥
धर्माश्रमेऽध्यवासिनां ब्राह्मणानां युधिष्ठिर ।
यथा त्रयाणां वर्णानां संख्यातोपश्रुतिः पुरा ॥ ६ ॥
राजधर्मेष्वनुमता लोकाः सुचरितैः सह ।
उदाहृतं ते राजेन्द्र यथा विष्णुं महौजसम् ॥ ७ ॥

रक्षाके वास्ते निज धर्मको परित्याग करते हैं। (३०)

शान्तिपर्वमें तिरसठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चौसठ अध्याय।

भीष्म बोले, हे पाण्डुनन्दन! लौकिक, वैदिक, चारों आश्रम और यतिधर्म राजधर्ममें ही स्थित हैं। हे भरतसत्तम! सब धर्म ही क्षात्रधर्मके अधीन हैं, इससे क्षात्रधर्मके अस्थिर होनेसे सब प्राणी विषरहित सर्पकी भांति नष्ट होते हैं। महाराज! आश्रमवासियोंके धर्म अप्रत्यक्ष और बहुद्वार हैं, परन्तु पुण्य वचनोंसे लोक निश्चयवादी और धर्मतत्वको न जाननेवाले सब लोग परिणामफलको विना विचारे ही अन्य धर्मसे नष्टबुद्धि होकर विरुद्ध वचनोंसे उनके उस नित्यभावको प्रकाशित किया करते हैं। (१—४)

हे महाराज युधिष्ठिर! जैसे गार्हस्थ्य नामक धर्माश्रममें तीनों वर्णोंके धर्मका अन्तर्भाव प्रकट हुआ है, वैसे ही इस राजधर्मके बीच नैष्टिक, वानप्रस्थ, यति और ब्राह्मण आदि सब धर्म, तथा उत्तम चरित युक्त इतर धर्मोंके सहित सब प्राणी ही अन्तर्हित हुए हैं। हे राजेन्द्र! जिस प्रकार शूरवीर राजाओंकी दण्डनीति और आश्रम विहित सब धर्मश्रेष्ठ हैं, इस विषयको दृष्टान्तके सहित मालूम करनेके लिये सब प्राणियोंके ईश्वर देवताओंने प्रभु,

सर्वभूतेश्वरं देवं प्रभुं नारायणं पुरा।
जग्मुः सुबहुशः शूरा राजानो दण्डनीतये ॥ ८ ॥
एकैकमात्मनः कर्म तुलयित्वाऽऽश्रमं पुरा।
राजानः पर्युपासन्त दृष्टान्तवचने स्थिताः ॥ ९ ॥
साध्या देवा वसवश्चाश्विनौ च रुद्राश्च विश्वे मरुतां गणाश्च।
सृष्टाः पुरा ह्यादिदेवेन देवाः क्षात्रे धर्मे वर्तयन्ते च सिद्धाः ॥१०॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि धर्ममर्थविनिश्चयम्।
निर्मर्यादे वर्तमाने दानवैकार्णवे पुरा ॥ ११ ॥
बभूव राजा राजेन्द्र मान्धाता नाम वीर्यवान्।
पुरा वसुमतीपालो यज्ञं चक्रे दिदृक्षया ॥ १२ ॥
अनादिमध्यनिधनं देवं नारायणं प्रभुम्।
स राजा राजशार्दूल मान्धाता परमेश्वरम् ॥ १३ ॥
जगाम शिरसा पादौ यज्ञे विष्णोर्महात्मनः।
दर्शयामास तं विष्णू रूपमास्थाय वासवम् ॥ १४ ॥
स पार्थिवैर्वृतः सद्भिरर्चयामास तं प्रभुम्।
तस्य पार्थिवसिंहस्य तस्य चैव महात्मनः ॥
संवादोऽयं महानासीद्विष्णुं प्रति महाद्युतिम् ॥ १५ ॥

नारायण विष्णुके निकट गमन करके उनकी उपासना की थी; वह उदाहरण मैंने तुमसे पहिले ही कहा है। अब जिस प्रकार साध्य, देवता, वसु, रुद्र, विश्व और मरुत आदि तथा दोनों अश्विनीकुमार आदि देव नारायणसे उत्पन्न होके क्षात्रधर्ममें प्रवृत्त हुए थे; उस धर्म पूरित अर्थ युक्त इतिहासको तुम्हारे समीप वर्णन करता हूं। सुनो! हे राजेन्द्र! पहिले जब दानव रूपी समुद्र निज मर्यादा अतिक्रम करके देवताओंको पीडा देनेवाला हुआ था; उस समय पृथ्वी पर मान्धाता नाम एक बलवान राजा थे। हे राजशार्दूल! राजाने आदि, मध्य और अन्तहीन देवोंके देव परमेश्वर नारायणके दर्शनकी इच्छासे यज्ञ किया; तब विष्णु इन्द्रका रूप धरके उनके दृष्टि-गोचर हुए। अनन्तर राजा मान्धाताने सभामें स्थित राजाओंके सहित उस प्रभु इन्द्रके चरण पर गिरके उनकी यथारीतिसे पूजा की। हे युधिष्ठिर! तिसके अनन्तर महात्मा इन्द्रके सङ्ग राजसिंह मान्धाताका महा- तेजस्वी विष्णुके विषयमें यह महत्

इन्द्र उवाच— किमिष्यते धर्मभृतां वरिष्ठ यं द्रष्टुकामोऽसि तमप्रमेयम्।
अनंतमायामितमन्त्रवीर्यं नारायणं ह्यादिदेवं पुराणम् ॥ १६ ॥
नासौ देवो विश्वरूपो मयाऽपि शक्यो द्रष्टुं ब्रह्मणा वापि साक्षात्।
येऽन्ये कामास्तव राजन् हृदिस्था दास्ये चैतांस्त्वं हि मर्त्येषु राजा ॥१७॥
सत्ये स्थितो धर्मपरो जितेन्द्रियः शूरो दृढप्रीतिरतः सुराणाम्।
बुद्ध्या भक्त्या चोत्तमः श्रद्धया च ततस्तेऽहं दद्मि वरान्यथेष्टम् ॥१८॥
मान्धातोवाच— असंशयं भगवन्नादिदेवं द्रक्ष्यामि त्वाऽहं शिरसा संप्रसाद्य।
त्यक्त्वा कामान्धर्मकामो ह्यरण्यमिच्छे गन्तुं सत्पथं लोकदृष्टम् ॥१९॥
क्षात्राद्धर्माद्विपुलादप्रमेयाल्लोकाः प्राप्ताः स्थापितं स्वं यशश्च।
धर्मो योऽसावादिदेवात्प्रवृत्तो लोकश्रेष्ठं तं न जानामि कर्तुम् ॥ २० ॥
इन्द्र उवाच— असैनिका धर्मपराश्च धर्मे परां गतिं न नयन्ते ह्ययुक्तम्।
क्षात्रो धर्मो ह्यादिदेवात्प्रवृत्तः पश्चादन्ये शेषभूताश्च धर्माः ॥२१॥

सम्वाद हुआ था। (५-१५)

इन्द्र बोले, हे धार्मिक श्रेष्ठ! तुम्हारा क्या अभिप्राय है? तुम किस कारणसे उस अप्रमेय, अनन्त मायासे युक्त, अमित मन्त्रवीर्य आदिदेव पुरुष पुराण नारायणको देखनेकी इच्छा करते हो? हे राजन्! दूसरेकी बात तो दूर रहे, ब्रह्मा अथवा मैं भी उस विश्वरूप परम देव विष्णुका प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकता; इससे इसके अतिरिक्त तुम्हारे मनमें दूसरी जो अभिलाष हो, वह सब पूरी करूंगा; क्यों कि तुम मर्त्य-लोक-वासी प्राणियोंके मुख्य महाराज हो। तुम शान्त, धर्ममें तत्पर, जितेन्द्रिय और शूर हो; तुम्हारी बुद्धि, भक्ति तथा महत् श्रद्धासे देवताओंको परमप्रीति प्राप्त हुई है, इससे मैं तुम्हें अभिलषित वरदान करूंगा।" (१६-१८)

मान्धाता बोले, हे भगवन्! मैं निज मस्तकसे आपको प्रसन्न करके निश्चय ही उस आदिदेव विष्णुके दर्शनकी इच्छासे अन्य सब कामना परित्याग करके साधुओंसे अवलम्बित और लोक दृढ बनके बीच गमन करनेकी इच्छा करता हूं! मैंने विपुल, अप्रमेय क्षात्र धर्मसे सबको अपने वशमें करके पालन किया; परन्तु आदिदेव विष्णुसे जो धर्म प्रवृत्त हुआ है, किस प्रकार उस लोकश्रेष्ठ धर्मका आचरण किया जाता है; उसे नहीं जान सका।" इन्द्र बोले, क्षत्रिय धर्मके विना सब लोग धर्मकी पराकाष्ठाको नहीं प्राप्त होते, क्योंकि पहिले आदिदेव नारायणसे क्षात्र धर्म ही प्रवृत्त हुआ था, और उसके अनन्तर उस हीसे

शेषाः सृष्टा ह्यन्तवन्तो ह्यनन्ताः सुप्रस्थानाः क्षात्रधर्मा विशिष्टाः ।
अस्मिन्धर्मे सर्वधर्माः प्रविष्टास्तस्माद्धर्मं श्रेष्ठमिमं वदन्ति ॥ २२ ॥
कर्मणा वै पुरा देवा ऋषयश्चामितौजसः ।
त्राताः सर्वे प्रसह्यारीन्क्षत्रधर्मेण विष्णुना ॥ २३ ॥
यदि ह्यसौ भगवान्नाहनिष्यद्रिपून्सर्वानसुरानप्रमेयः ।
न ब्राह्मणा न च लोकाऽऽदिकर्ता नायं धर्मो नादिधर्मोऽभविष्यत् ॥२४॥
इमामुर्वीं नाजयद्विक्रमेण देवश्रेष्ठः सासुरामादिदेवः ।
चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यधर्माः सर्वे न स्युर्ब्राह्मणानां विनाशात् ॥२५॥
नष्टा धर्माः शतधा शाश्वतास्ते क्षात्रेण धर्मेण पुनः प्रवृद्धाः ।
युगे युगे ह्यादिधर्माः प्रवृत्ता लोकज्येष्ठं क्षात्रधर्मं वदन्ति ॥२६॥
आत्मत्यागः सर्वभूतानुकम्पा लोकज्ञानं पालनं मोक्षणं च ।
विषण्णानां मोक्षणं पीडितानां क्षात्रे धर्मे विद्यते पार्थिवानाम् ॥२७॥

उसके अङ्ग रूप इतर धर्म सब प्रवृत्त हुए हैं। (१९-२१)

हे राजन् ! अंगभूत ये सब धर्म अचिरस्थायी हैं, परन्तु परिव्राजक धर्मके सहित यह क्षात्रधर्म ही अनन्त और सबसे श्रेष्ठ है। सब धर्म ही इस क्षात्र धर्ममें प्रविष्ट हैं, इस ही कारण आर्य लोग इसे श्रेष्ठ कहा करते हैं। पहिले विष्णुने अत्यन्त तेजस्वी देवताओं और ऋषियोंके कर्मसे प्रसन्न होके क्षात्र धर्म अवलम्बन करके ही उन लोगोंको शत्रुओंके हाथसे बचाया था; यदि वह अप्रमेय भगवान विष्णु देवताओंके शत्रु असुरोंका नाश न करते, तो ब्राह्मण लोग, ब्रह्मा, क्षात्रधर्म अथवा ब्रह्मादि अन्य किसी धर्मकी भी रक्षा न होती। देवताओंके श्रेष्ठ आदि देव विष्णुने पराक्रम प्रकाश करनेके वास्ते असुरोंके सहित इस पृथ्वीको नहीं जय किया, परन्तु उसमें ब्राह्मणोंकी रक्षा करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था। क्यों कि ब्राह्मणोंके नष्ट होनेसे चारों वर्ण अथवा चारों आश्रम आदि कोई धर्म ही न रहते। सैकडों प्रकारसे नष्ट हुआ वैष्णव धर्म क्षात्र धर्मके जरिये फिर वृद्धिको प्राप्त हुआ है; और प्रति युगोंमें प्रवृत्त ब्राह्मण धर्म भी क्षात्र धर्मसे रक्षित हुआ है, इस ही कारण आर्य लोग क्षात्रधर्म कोही श्रेष्ठ कहा करते हैं। (२२—२६)

रणभूमिमें शरीर त्यागना, सब प्राणियोंके ऊपर कृपा प्रकाशित करनी, सब लोगोंकी यथार्थ अवस्थाको मालूम करना, उन लोगोंका पालन तथा रक्षा

निर्मर्यादाः काममन्युप्रवृत्ता भीता राज्ञो नाधिगच्छन्ति पापम् ।
शिष्टाश्चान्ये सर्वधर्मोपपन्नाः साध्वाचाराः साधु धर्मं वदन्ति ॥२८॥
पुत्रवत्पाल्यमानानि राजधर्मेण पार्थिवैः ।
लोके भूतानि सर्वाणि चरन्ते नात्र संशयः ॥ २९ ॥
सर्वधर्मपरं क्षात्रं लोकश्रेष्ठं सनातनम् ।
शश्वदक्षरपर्यन्तमक्षरं सर्वतोमुखम् ॥ ३० ॥ [२३९४]

इति श्रीम०शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वर्णाश्रमधर्मकथने चतुःषष्टितमोऽध्यायः॥६४॥

इंद्रउवाच– एवंवीर्यः सर्वधर्मोपपन्नः क्षात्रः श्रेष्ठः सर्वधर्मेषु धर्मः ।
पाल्यो युष्माभिर्लोकहितैरुदारैर्विपर्यये स्यादभवः प्रजानाम् ॥ १ ॥
भूसंस्कारं राजसंस्कारयोगमभैक्ष्यचर्या पालनं च प्रजानाम् ।
विद्याद्राजा सर्वभूतानुकम्पी देहत्यागं चाहवे धर्ममग्र्यम् ॥ २ ॥
त्यागं श्रेष्ठं मुनयो वै वदन्ति सर्वश्रेष्ठं यच्छरीरं त्यजन्तः ।
नित्यं युक्ता राजधर्मेषु सर्वे प्रत्यक्षं ते भूमिपाला यथैव ॥ ३ ॥

और दुःखित तथा पीडित राजाओंका क्लेशोंसे मुक्त करना,–ये सब विषय क्षात्रधर्ममें विद्यमान हैं। महाराज! राजाके भयसे ही सब लोग मर्यादा रहित, काम-क्रोधके वशीभूत और पाप कर्ममें प्रवृत्त नहीं होते, इस ही से अन्य सब धर्मोंके जाननेवाले बुद्धिमान् राजधर्मको ही धन्यवाद दिया करते हैं। सब प्राणी पुत्रकी भांति राजासे पालित होकर निर्भय चित्तसे पृथ्वीपर विचरते रहते हैं। यह लोकश्रेष्ठ क्षात्र-धर्म सब प्रकारसे समस्त धर्मोंका साररूप है, और इसके जरियेसे ही मोक्ष–पद प्राप्त होता है। (२७-३०) [२३९४]

शान्तिपर्वमें चौसठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पांसठ अध्याय।

इन्द्र बोले, हे राजन्! तुम्हारे समान प्रजा समूहके हितमें तत्पर राजाओंको इसी भांति सब धर्मोंसे युक्त और समस्त धर्मोंसे श्रेष्ठ क्षात्र धर्मकी सब भांतिसे रक्षा करनी उचित है; क्यों कि उसमें अन्यथा होनेसे प्रजाका अभाव होगा। सब जीवों पर कृपा करनेवाला राजा सब भांतिसे प्रजा पालन, राजसूय आदि यज्ञों और जिस प्रकार प्रचुर परिमाणसे सब भांतिके शस्य उत्पन्न हों, उसीका अनुष्ठान करे; भैक्षचर्यके अतिरिक्त अन्य सब आश्रमोंमें निवास और रणभूमिमें देहत्यागरूपी श्रेष्ठ धर्मा-चरण करे। (१—२)

मुनि लोग दानको ही श्रेष्ठ कहा करते हैं, उसमें शरीर दान ही सबसे

बहुश्रुत्या गुरुशुश्रूषया च परस्पराः संहननाद्वदंति ।
नित्यं धर्मं क्षत्रियो ब्रह्मचारी चरेदेको ह्याश्रमं धर्मकामः ॥ ४ ॥
सामान्यार्थे व्यवहारप्रवृत्ते प्रियाप्रिये वर्जयन्नेव यत्नात् ।
चातुर्वर्ण्यं स्थापनात्पालनाच्च तैस्तैर्योगैर्नियमैरौरसैश्च ॥ ५ ॥
सर्वोद्योगैराश्रमं धर्ममाहुः क्षात्रं श्रेष्ठं सर्वधर्मोपपन्नम् ।
स्वं स्वं धर्मं येन चरन्ति वर्णास्तांस्तान्धर्मानन्यथार्थान्वदंति ॥६ ॥
निर्मर्यादान्नित्यमर्थे निविष्टानाहुस्तांस्तान्वै पशुभूतान्मनुष्यान् ।
यथा नीतिं गमयत्यर्थयोगाच्छ्रेयस्तस्मादाश्रमात्क्षत्रधर्मः ॥ ७ ॥
त्रैविद्यानां या गतिर्ब्राह्मणानां ये चैवोक्ताश्चाश्रमा ब्राह्मणानाम् ।
एतत्कर्म ब्राह्मणस्याहुरग्र्यमन्यत्कुर्वञ्छूद्रवच्छस्त्रवध्यः ॥ ८ ॥
चातुराश्रम्यधर्मांश्च वेदधर्मांश्च पार्थिव ।
ब्राह्मणेनानुगन्तव्या नान्यो विद्यात्कदाचन ॥ ९ ॥

श्रेष्ठ है। हे राजन् ! जिस भांति राजा लोग सदा राजधर्ममें अनुरक्त होकर बहुश्रुत गुरुकी सेवा और आपसमें युद्ध करके रणभूमिमें निज शरीर दान किये हैं, उसे तुमने प्रत्यक्ष मालूम किया है। इसके अतिरिक्त धर्मकी इच्छावाले क्षत्रिय केवल मात्र सनातन धर्मरूप ब्रह्मचर्य नाम आश्रममें विचरें, और साधारणके विचार कार्योंमें प्रवृत्त होकर किसीको प्रिय अथवा अप्रिय न समझें। चारों वर्णोंका स्थापन, प्रजापालन और पहिले कहा हुआ योग, नियम, पुरुषार्थ तथा सब भांतिके उद्योग विद्यमान रहनेसे ही पण्डित लोग सब धर्मोंसे युक्त क्षात्रधर्मको ही श्रेष्ठ धर्म कहा करते हैं। "जो पुरुष निज आचरणीय धर्मको असत्य कहके निज धर्माचरण नहीं करते, आर्य लोग उन मनुष्योंको सदा अर्थलोपक, मर्यादाहीन और पशु-तुल्य कहा करते हैं। हे राजन् ! जब कि अर्थ योगसे ही सब नीति मालूम होती है, तब सब आश्रमोंसे राजधर्म ही कल्याणकारी है। तीनों वेदोंके जानने-वाले ब्राह्मणोंके, यज्ञादि और अन्य ब्राह्मणोंके जो सब आश्रम धर्म कहे गये हैं, पण्डित लोग इन दोनों कर्मोंको ही अवश्य आचरणीय कहते हैं, और इसके अतिरिक्त वे अन्य कोई कर्म करने पर शूद्रकी भांति शस्त्रसे मारने योग्य होते हैं। (३—८)

हे राजन् ! ब्राह्मण चारों आश्रमों तथा वेदमें कहे हुए धर्मका आचरण करे, परन्तु शूद्रादि वर्ण कभी भी उस धर्मका आचरण न करे, परन्तु शूद्रादि

अन्यथा वर्तमानस्य नासौ वृत्तिः प्रकल्प्यते।
कर्मणा वर्धते धर्मो यथा धर्मस्तथैव सः ॥ १० ॥
यो विकर्मस्थितो विप्रो न स सन्मानमर्हति।
कर्म स्वं नोपयुञ्जानमविश्वास्यं हि तं विदुः ॥ ११ ॥
एते धर्माः सर्ववर्णेषु लीना उत्कृष्टव्याः क्षत्रियैरेष धर्मः।
तस्माज्ज्येष्ठा राजधर्मा न चान्ये वीरज्येष्ठा वीरधर्मा मता मे ॥१२॥
मान्धातोवाच— यवनाः किराता गान्धाराश्चीनाः शवरवर्वराः।
शकास्तुषाराः कङ्काश्च पल्हवाश्चान्ध्रमद्रकाः ॥ १३ ॥
पौण्ड्राः पुलिन्दा रमठाः काम्बोजाश्चैव सर्वशः।
ब्रह्मक्षत्रप्रसूताश्च वैश्याः शूद्राश्च मानवाः ॥ १४ ॥
कथं धर्मांश्चरिष्यन्ति सर्वे विषयवासिनः।
मद्विधैश्च कथं स्थाप्याः सर्वे वै दस्युजीविनः ॥ १५ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं भगवंस्तद्ब्रवीहि मे।
त्वं वन्धुभूतो ह्यस्माकं क्षत्रियाणां सुरेश्वर ॥ १६ ॥

वर्ण कभी भी उस धर्मका आचरण न करें और अन्य धर्ममें प्रवृत्त ब्राह्मणोंके विषयमें भी वैसी वृत्ति नहीं कही गई है। महाराज! जो जैसा कर्म करता है, उसके अनुरूप ही धर्म होता है और वह उस धर्मका स्वरूप ही होता है। "ब्राह्मण यदि कुकर्ममें रत होके निज कर्त्तव्य कर्मोंको न करे, तो वह समान लाभके योग्य नहीं होता और सबका अविश्वासी होजाता है। हे राजन्! यह धर्म सब धर्मोंसे युक्त है, इस ही कारण क्षत्रियोंको इस धर्मसे गौरवका उपाय करना उचित है। महाराज! इन सब कारणोंसे मेरे मतमें जैसे वीर धर्मके बीच वीर पुरुष ही मुख्य हैं, वैसे ही सब धर्मोंके बीच राजधर्म ही मुख्य है।" (९—१२)

मान्धाता बोले, हे भगवान सुरनाथ! यवन, किरात, गान्धार, चीन शबर, वर्बर, शक, तुषार, कङ्क, पल्हव, आन्ध्र, मद्र, पौंड, पुलिन्द, रमठ और काम्बोज लोग तथा ब्राह्मण क्षत्रियोंसे उत्पन्न हुए सब इतर जाति, वैश्य और शूद्र लोग राज्यके बीच स्थित होके किस प्रकार धर्माचरण करेंगे और मेरे समान मनुष्य किस प्रकार दस्युओंको धर्ममें स्थापित करेंगे? मैं यह सब आपके निकटमें सुननेकी इच्छा करता हूं, क्यों कि आप ही मेरे समान क्षत्रियोंके परम बन्धु हैं।" (१३—१६)

इन्द्र उवाच— मातापित्रोर्हि शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
आचार्यगुरुशुश्रूषा तथैवाश्रमवासिनाम् ॥ १७ ॥
भूमिपानां च शुश्रूषा कर्तव्या सर्वदस्युभिः ।
वेदधर्मक्रियाश्चैव तेषां धर्मो विधीयते ॥ १८ ॥
पितृयज्ञास्तथा कूपाः प्रपाश्च शयनानि च ।
दानानि च यथाकालं द्विजेभ्यो विसृजेत्सदा ॥ १९ ॥
अहिंसासत्यमक्रोधो वृत्तिदायानुपालनम् ।
भरणं पुत्रदाराणां शौचमद्रोह एव च ॥ २० ॥
दक्षिणा सर्वयज्ञानां दातव्या भूतिमिच्छता ।
पाकयज्ञा महार्हाश्च दातव्याः सर्वदस्युभिः ॥ २१ ॥
एतान्येवं प्रकाराणि विहितानि पुराऽनघ ।
सर्वलोकस्य कर्माणि कर्तव्यानीह पार्थिव ॥ २२ ॥
मान्धातोवाच— दृश्यन्ते मानुषे लोके सर्ववर्णेषु दस्यवः ।
लिङ्गान्तरे वर्तमाना आश्रमेषु चतुर्ष्वपि ॥ २३ ॥
इन्द्रउवाच- विनष्टायां दण्डनीत्यां राजधर्मे निराकृते ।
संप्रमुह्यन्ति भूतानि राजदौरात्म्यतोऽनघ ॥ २४ ॥

इन्द्र बोले, सब डाकुओंको माता पिता आचार्य गुरु आश्रमवासी और राजाओंकी सेवा करनी उचित है। वेदमें कहे हुए कर्म धर्म और श्राद्धादि पितृ-यज्ञ शूद्रका भी कर्त्तव्य कर्म कहके वर्णित हुआ है। वे लोग समयके अनुसार सदा ही द्विजोंको कूप, प्रपा शय्या और दूसरी सब वस्तु दान करें। दस्युओंको सदा अहिंसा, सत्य, क्षमा, पवित्रता, अद्रोह-वृत्ति, विभागका पालन, स्त्री पुत्रोंका भरण पोषण इन सब धर्मोंका आचरण करना उचित है। उन ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले डाकुओंको सब भांतिके यज्ञ करके शास्त्रोंकी कही हुई दक्षिणा और महार्ह-पाकयज्ञमें प्राणियोंको अन्नदान करना उचित है। हे पापरहित महाराज! पहिलेसे ही दस्युवृत्तिवाले पुरुषोंके विषयमें यही सब धर्म कहे गये हैं, और सब लोगोंको ऐसा ही आचरण करना उचित है। (१७-२२)

मान्धाता बोले, मनुष्य लोकमें चारों आश्रमों और वर्णोंके अन्तर्गत वर्त्तमान समस्त दस्यु लोग नष्ट हुआ करते हैं, इसका क्या कारण है? इन्द्र बोले, हे पापरहित! दण्डनीतिके नष्ट और

असंख्याता भविष्यन्ति भिक्षवो लिङ्गिनस्तथा।
आश्रमाणां विकल्पाश्च निवृत्तेऽस्मिन्कृते युगे ॥ २५ ॥
अशृण्वानाः पुराणानां धर्माणां परमा गतीः।
उत्पथं प्रतिपत्स्यन्ते काममन्युसमीरिताः ॥ २६ ॥
यदा निवर्त्यते पापो दण्डनीत्या महात्मभिः।
तदा धर्मो न चलते सद्भूतः शाश्वतः परः ॥ २७ ॥
सर्वलोकगुरुं चैव राजानं योऽवमन्यते।
न तस्य दत्तं न हुतं न श्राद्धं फलते क्वचित् ॥ २८ ॥
मानुषाणामधिपतिं देवभूतं सनातनम्।
देवाऽपि नावमन्यन्ते धर्मकामं नरेश्वरम् ॥ २९ ॥
प्रजापतिर्हि भगवान्सर्वं चैवासृजज्जगत्।
स प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थं धर्माणां क्षत्रमिच्छति ॥ ३० ॥
प्रवृत्तस्य हि धर्मस्य बुद्ध्या यः स्मरते गतिम्।
स मे मान्यश्च पूज्यश्च तत्र क्षत्रं प्रतिष्ठितम् ॥ ३१ ॥
भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा स भगवान्मरुद्गणवृतः प्रभुः।

राजधर्मकी अस्थिरता होनेपर सब कोई राजदौरात्म्यदोषसे मोहित हो जाते हैं। महाराज! इस सत्ययुगके निवृत्त होनेपर सब आश्रमोंमें विकल्प उपस्थित होगा, और पृथ्वीपर अनगिनत जटा आदि चिन्हधारी भिक्षुक भ्रमण करेंगे। वे लोग काम क्रोधसे वशमें होकर प्राचीन धर्मकी परम गतिमें अवज्ञा प्रकाशित करके असत् मार्गको अवलम्बन करेंगे। परन्तु दण्डनीतिसे पापबुद्धिवालोंके निवृत्त होनेपर वह मङ्गलमय परम नित्यधर्म कदापि विचलित नहीं होता; जो सब लोगोंके गुरु राजाकी अवमानना करता है, उसके दान होम वा श्राद्ध आदि कुछ भी फलदायक नहीं होते। महाराज! अधिक क्या कहें देवता लोग भी सनातन देवरूपी मनुष्योंके स्वामी धर्मात्मा राजाकी अवमानना नहीं करते। (२३-२९)

भगवान प्रजापति (ब्रह्मा) ने इस अखिल जगत्की सृष्टि की है, परन्तु वह भी इसके प्रवृत्ति और निवृत्तिके वास्ते सब धर्मोंके बीच क्षात्रधर्मकी ही इच्छा किया करते हैं। जो लोग प्रवृत्ति धर्म गतिको स्मरण करके उसके अनुसार कार्य करते हैं, वह पुरुष ही हमारे मान्य और पूज्य हैं; क्यों कि वैसे धर्मसे ही क्षात्रधर्म प्रतिष्ठित है।"

जगाम भवनं विष्णोरक्षरं शाश्वतं पदम् ॥ ३२ ॥
एवं प्रवर्तिते धर्मे पुरा सुचरितेऽनघ।
कः क्षत्रमवमन्येत चेतनावान्बहुश्रुतः ॥ ३३ ॥
अन्यायेन प्रवृत्तानि निवृत्तानि तथैव च।
अन्तराविलयं यान्ति यथापथि विचक्षुषः ॥ ३४ ॥
आदौ प्रवर्तिते चक्रे तथैवादिपरायणे।
वर्तस्व पुरुषव्याघ्र संविजानामि तेऽनघ ॥ ३५ ॥ [२४२९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इन्द्रमान्धातृसंवादे पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

युधिष्ठिर उवाच— श्रुता मे कथिताः पूर्वं चत्वारो मानवाश्रमाः।
व्याख्यानयित्वा व्याख्यानमेषामाचक्ष्व पृच्छतः ॥१॥

भीष्म उवाच— विदिताः सर्व एवेह धर्मास्तव युधिष्ठिर।
यथा मम महाबाहो विदिताः साधुसम्मताः ॥ २ ॥
यत्तुलिङ्गान्तरगतं पृच्छसे मां युधिष्ठिर।
धर्मं धर्मभृतां श्रेष्ठ तन्निबोध नराधिप ॥ ३ ॥

भीष्म बोले, इतनी कथा कहके इन्द्र रूपधारी विष्णु भगवानने देवताओंसे घिरकर निज अक्षत नित्यपद स्थानके उद्देश्यसे गमन किया। हे पापरहित! जब कि उत्तम चरितसे युक्त सब कर्म पहिलेसे ही इसी प्रकार होते चले आये हैं, तब कौन बहुश्रुत सचेतन जीव उस क्षात्रधर्मकी अवमानना करेगा? अन्याय रीतिसे प्रवृत्त और निवृत सब धर्म ही मार्गमें चलनेवाले अन्धे भांति नष्ट होते हैं। हे पापरहित पुरुषसिंह! तुम सदा ही उस आदि कालसे प्रवर्त्तित और प्राचीन लोगोंके शरण स्वरूप क्षात्र धर्मका आचरण करो; उससे ही तुम्हारा मनोरथ पूरा होगा। (३०-३५)

शान्तिपर्वमें पैंसठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें छासठ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! आपके कहे हुए वानप्रस्थ आदि चारों आश्रमोंके सब धर्म मैंने संक्षेप रूपसे सुना, परन्तु उससे मेरा मन विशेष परितृप्त नहीं हुआ; इससे आप विस्तार पूर्वक फिर उन सब कर्मोंको मेरे समीप वर्णन करिये। भीष्म बोले, हे महाबाहो युधिष्ठिर! जो सब साधु-सम्मत धर्म मुझे विदित हैं। तुम्हें वह सब मालूम हुआ है; परन्तु हे धार्मिक श्रेष्ठ महाराज युधिष्ठिर! तुम जो मुझसे लिङ्गान्तर्गवर्ति धर्मोंका

सर्वाण्येतानि कौन्तेय विद्यन्ते मनुजर्षभ ।
साध्वाचारप्रवृत्तानां चातुराश्रम्यकारिणाम् ॥ ४ ॥
अकामद्वेषयुक्तस्य दण्डनीत्या युधिष्ठिर ।
समदर्शिनश्च भूतेषु भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ५ ॥
वेत्ति ज्ञानविसर्गं च निग्रहानुग्रहं तथा ।
यथोक्तवृत्तेर्धीरस्य क्षेमाश्रमपदं भवेत् ॥ ६ ॥
अर्हान्पूजयतो नित्यं संविभागेन पाण्डव ।
सर्वतस्तस्य कौन्तेय भैक्ष्याश्रमपदं भवेत् ॥ ७ ॥
ज्ञातिसम्बन्धिमित्राणि व्यापन्नानि युधिष्ठिर ।
समभ्युद्धरमाणस्य दीक्षाश्रमपदं भवेत् ॥ ८ ॥
लोकमुख्येषु सत्कारं लिङ्गिमुख्येषु चासकृत् ।
कुर्वतस्तस्य कौन्तेय वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ९ ॥
आह्निकं पितृयज्ञांश्च भूतयज्ञान्समानुषान् ।
कुर्वतः पार्थ विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १० ॥

विषय पूछते हो, उसे सुनो ! हे मनुष्य-श्रेष्ठ कुन्ती पुत्र ! इन चारों आश्रमोंके कर्मोंके सब भांतिके लिंगही महा श्रेष्ठ राजाओंके आचरित राजधर्ममें वर्तमान हैं। (१—४)

हे युधिष्ठिर ! राजा लोग दण्डनीतिके नियमानुसार प्रजापालन करनेसे काम-क्रोधसे रहित समदर्शी यतियोंकी भांति सन्याससे प्राप्त होने योग्य ब्रह्म-लोकको प्राप्त करते हैं। जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है तथा स्थानमें दान निग्रह और अनुग्रह प्रयोग करते और शास्त्रमें कहे हुए सब कार्योंका आचरण किया करते हैं; वह गार्हस्थ पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य स्थानको अनेक युक्तिसे प्राप्त करते हैं। हे पाण्डुपुत्र ! जो यथा रीतिसे प्रजासमूहको पालन किया करते हैं, वह राजा सब भांतिसे ब्रह्मचारियोंके पाने योग्य ब्रह्म-लोकको प्राप्त करते हैं। जो विपत्में पडे हुए ज्ञाति, मित्र और जिनके सङ्ग सम्बन्ध है, ऐसे लोगोंको सामर्थके अनुसार विपत्से बचाते हैं, वे वानप्रस्थ पुरुषोंकी भांति मोक्ष पद पाते हैं। (५—८)

हे पुरुषसिंह कुन्तीपुत्र ! लोकसमाजमें मुख्य धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ पुरुषोंके सत्कार करनेवाले, नित्य ही बहुतसे पितृयज्ञ भूतयज्ञ और मनुष्य यज्ञोंके करनेवाले; देवयज्ञोंसे उपस्थित अतिथि और अन्य प्राणियोंके यथावत सत्कार

संविभागेन भूतानामतिथीनां तथाऽर्चनात् ।
देवयज्ञैश्च राजेन्द्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ ११ ॥
मर्दनं परराष्ट्राणां शिष्टार्थं सत्यविक्रम ।
कुर्वतः पुरुषव्याघ्र वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १२ ॥
पालनात्सर्वभूतानां स्वराष्ट्रपरिपालनात् ।
दीक्षा बहुविधा राजन्सत्याश्रमपदं भवेत् ॥ १३ ॥
वेदाध्ययननित्यत्वं क्षमाऽथाचार्यपूजनम् ।
अथोपाध्यायशुश्रूषा ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १४ ॥
आह्निकं जपमानस्य देवान्पूजयतः सदा ।
धर्मेण पुरुषव्याघ्र धर्माश्रमपदं भवेत् ॥ १५ ॥
मृत्युर्वा रक्षणं वेति यस्य राज्ञो विनिश्चयः ।
प्राणद्यूते ततस्तस्य ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १६ ॥
अजिह्ममशठं मार्गं वर्तमानस्य भारत ।
सर्वदा सर्वभूतेषु ब्रह्माश्रमपदं भवेत् ॥ १७ ॥
वानप्रस्थेषु विप्रेषु त्रैविद्येषु च भारत ।
प्रयच्छतोऽर्थान्विपुलान्वन्याश्रमपदं भवेत् ॥ १८ ॥

करनेवाले, और धर्मात्माओंकी रक्षाके लिये शत्रुराज्यको दमन करनेवाले, ये सब ही वानप्रस्थ पुरुषोंकी भांति मोक्षपद प्राप्त करते हैं, हे राजेन्द्र पृथापुत्र ! जो सब प्राणियोंका पालन और निज राज्यकी रक्षा करते, हैं वे राजा प्रजापालनकी संख्याके अनुसार उतनेही यज्ञोंके फललाभ करके सन्याससे प्राप्त होने योग्य ब्रह्मलोकमें गमन करते हैं। सदा वेदाध्ययन,क्षमा, आचार्यकी पूजा और गुरुसेवासे भी ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। धर्मपूर्वक नियमित जप और देवपूजामें रत राजा लोग धार्मिक पुरुषोंके प्राप्त होने योग्य पदको पाते हैं। प्राणसंशय उपस्थित होनेपर भी जो राजा "विजय लाभ अथवा मृत्यु ही होगी," ऐसा ही निश्चय करके युद्धमें प्रवृत्त होते हैं, वे ब्रह्म लोक प्राप्त करते हैं। (९-१६)

हे भारत ! जो शठतारहित होकर सब जीवोंके विषयमें सरल भाव प्रकाशित करते हैं; उन्हें भी ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। जो वानप्रस्थ और तीनों वेदोंके जाननेवाले ब्राह्मणोंको बहुतसा धन दान करते हैं, वे वानप्रस्थ जनोंके पाने योग्य स्थानको प्राप्त

सर्वभूतेष्वनुक्रोशं कुर्वतस्तस्य भारत।
आनृशंस्यप्रवृत्तस्य सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ १९ ॥
बालवृद्धेषु कौन्तेय सर्वावस्थं युधिष्ठिर।
अनुक्रोशक्रिया पार्थ सर्वावस्थं पदं भवेत् ॥ २० ॥
बलात्कृतेषु भूतेषु परित्राणं कुरूद्वह।
शरणागतेषु कौरव्य कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २१ ॥
चराचराणां भूतानां रक्षणं चापि सर्वशः।
यथार्हपूजां च तथा कुर्वन्गार्हस्थ्यमावसेत् ॥ २२ ॥
ज्येष्ठानुज्येष्ठपत्नीनां भ्रातॄणां पुत्रनप्तृणाम्।
निग्रहानुग्रहौ पार्थ गार्हस्थ्यमिति तत्तपः ॥ २३ ॥
साधूनामर्चनीयानां पूजा सुविदितात्मनाम्।
पालनं पुरुषव्याघ्र गृहाश्रमपदं भवेत् ॥ २४ ॥
आश्रमस्थानि भूतानि यस्तु वेश्मनि भारत।
आददीतेह भोज्येन तद्गार्हस्थ्यं युधिष्ठिर ॥ २५ ॥
यः स्थितः पुरुषो धर्मे धात्रा सृष्टे यथाऽर्थवत्।
आश्रमाणां हि सर्वेषां फलं प्राप्नोत्यनामयम् ॥ २६ ॥
यस्मिन्न नश्यन्ति गुणाः कौन्तेय पुरुषे सदा।

करते हैं। हे भारत! जो राजा सब जीवोंपर दया और अनृशंसता प्रकाशित करता है, वह इच्छानुसार सब प्रकारका स्थान लाभ कर सकता है। हे पार्थ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर! बालक और बूढोंके विषयमें कुछ निठुर व्यवहार न करनेसे इच्छानुसार स्थान प्राप्त होता है। हे कुरुश्रेष्ठ! दूसरेके बलसे पीडित शरणागत जीवोंका परित्राण करनेसे गृहस्थोंके पाने योग्य पद प्राप्त होता है। चराचर जीवोंकी सब भांतिसे रक्षा और यथा उचित पूजासे गार्हस्थ्य पद प्राप्त होता है। (१७—२२)

हे पार्थ! जेठे भाईकी स्त्री, भ्राता, पुत्र और पौत्रोंके समयानुसार निग्रह वा अनुग्रहके कार्य ही गृहस्थोंके कर्त्तव्य कर्म हैं। हे पुरुषसिंह! महात्मा पूजनीय साधुओंकी पूजा आदि करना ही गृहस्थ कर्म है। आश्रमस्थ प्राणियोंको निज गृहमें आवाहन करके उन्हें भोजन आदि दान करना ही गृहस्थोंके कर्म हैं। जो पुरुष विधाताकी बनाई धर्मरीतिसे निवास करते हैं वह सब आश्रमोंके प्राप्त होने योग्य मङ्गलमय स्थान

आश्रमस्थं तमप्याहुर्नरश्रेष्ठं युधिष्ठिर ॥ २७ ॥
स्थानमानं कुले मानं वयोमानं तथैव च।
कुर्वन्वसति सर्वेषु ह्याश्रमेषु युधिष्ठिर ॥ २८ ॥
देशधर्मांश्च कौन्तेय कुलधर्मांस्तथैव च।
पालयन्पुरुषव्याघ्र राजा सर्वाश्रमी भवेत् ॥ २९ ॥
काले विभूतिं भूतानामुपहारांस्तथैव च।
अर्हयन्पुरुषव्याघ्र साधूनामाश्रमे वसेत् ॥ ३० ॥
दशधर्मगतश्चापि यो धर्मं प्रत्यवेक्षते।
सर्वलोकस्य कौन्तेय राजा भवति सोऽऽश्रमी ॥ ३१ ॥
ये धर्मकुशला लोके धर्मं कुर्वन्ति भारत।
पालिता यस्य विषये धर्मांशस्तस्य भूपतेः ॥ ३२ ॥
धर्मारामान्धर्मपरान्ये न रक्षन्ति मानवान्।
पार्थिवाः पुरुषव्याघ्र तेषां पापं हरन्ति ते ॥ ३३ ॥
ये चाप्यत्र सहायाः स्युः पार्थिवानां युधिष्ठिर।
ते चैवांशहराः सर्वे धर्मे परकृतेऽनघ ॥ ३४ ॥

प्राप्त करते हैं। हे कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जिस पुरुषमें कोई गुण भी नष्ट नहीं होते, आर्य लोग उस पुरुषश्रेष्ठको आश्रमस्थ कहा करते हैं। हे युधिष्ठिर! सब आश्रममें ही स्थानमान, कुलमान और अवस्थामानकी रक्षा करते हुए निवास करना उचित है। (२३-२८)

हे पार्थ! राजा लोग देशधर्म और कुलधर्मोंको यथारीतिसे पालन करनेसे सब आश्रमोंमें प्राप्त होने योग्य फल लाभ करते हैं। यथा समय पर प्राणियोंको यथायोग्य विभूती और उपहार प्रदान करनेसे साधुओंके आश्रममें निवास करते हैं। हे कौन्तेय! भय उपस्थित होने पर धर्माधर्म और सेनासे रहित होकर भी जो धर्मकी ओर विशेष दृष्टि रखते हैं, वे सब आश्रमोंसे प्राप्त होने योग्य फल लाभ कर सकते हैं। धर्म करनेवाले पुरुष जिसके राज्यमें यथारीतिसे रक्षित होकर जो कुछ धर्माचरण करते हैं; वह राजा भी उन लोगोंके आचरित धर्मका अंशभागी होता है। हे पुरुषसिंह! परन्तु जो राजा धर्माराम और धर्ममें तत्पर मनुष्योंकी रक्षा नहीं करते, वे उन लोगोंके किये हुये पापकर्मोंके फलभागी होते हैं। (२९-३३)

हे पापरहित युधिष्ठिर! जो लोग

सर्वाश्रमपदेऽप्याहुर्गार्हस्थ्यं दीप्तनिर्णयम् ।
पावनं पुरुषव्याघ्र यं धर्मं पर्युपास्महे ॥ ३५ ॥
आत्मोपमस्तु भूतेषु यो वै भवति मानवः ।
न्यस्तदण्डो जितक्रोधः प्रेत्येह लभते सुखम् ॥ ३६ ॥
धर्मे स्थिता सत्ववीर्या धर्मसेतुवटारका ।
त्यागवाताध्वगा शीघ्रा नौस्तं संतारयिष्यति ॥ ३७ ॥
यदा निवृत्तः सर्वस्मात्कामो योऽस्य हृदि स्थितः ।
तदा भवति सत्त्वस्थस्ततो ब्रह्मसमश्नुते ॥ ३८ ॥
सुप्रसन्नस्तु भावेन योगेन च नराधिप ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यते पालने रतः ॥ ३९ ॥
वेदाध्ययनशीलानां विप्राणां साधुकर्मणाम् ।
पालने यत्नमातिष्ठ सर्वलोकस्य चैव ह ॥ ४० ॥
वने चरन्ति ये धर्ममाश्रमेषु च भारत ।
रक्षणात्तच्छतगुणं धर्मं प्राप्नोति पार्थिवः ॥ ४१ ॥
एष ते विविधो धर्मः पांडवश्रेष्ठ कीर्तितः ।

राजाओंकी सहायता करते हैं, वे दूसरेके किये हुए धर्मके अंश भागी होते हैं। हे पुरुषसिंह! हम लोग जिस धर्मकी उपासना करते हैं, वह प्रकाशमान गृहस्थ धर्म ही सब धर्मोंसे पवित्र है। जो दम्भ रहित और क्रोधहीन होकर सब प्राणियोंको अपने ही प्राण समान समझते हैं, वे इस लोक और मृत्युके अनन्तर परलोकमें भी सुख लाभ करते हैं। हे युधिष्ठिर! सत्वरूप मल्लाहसे युक्त, शास्त्ररूपी बन्धन-रस्सीसे पूरित, दानरूपी वायुसे चलनेवाले, तथा शीघ्रगामी राजधर्म रूपी नौका पर चढके संसार रूपी समुद्रके पार होते हैं। जब उनके हृदयकी सब वासना विषयोंसे निवृत्त होती है, तभी वह सतोगुणी होकर ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। हे पुरुष शार्दूल नरनाथ! प्रजा पालनमें रत रहनेवाले राजा ध्यान और चित्त-निरोधसे प्रसन्न होकर महत् धर्म लाभ करते हैं। (३४—३९)

हे युधिष्ठिर! तुम सदा वेदाध्ययनमें तत्पर और सत्कर्मोंमें रत रहनेवाले ब्राह्मणोंके पालनमें यत्नवान रहो। वानप्रस्थ और दूसरे आश्रमवाले जो कुछ धर्मका आचरण करते हैं, राजा लोग प्रजा पालन रूपी धर्मसे ही उससे सौगुणा फल लाभ किया करते हैं। हे

अनुतिष्ठ त्वमेनं वै पूर्वदृष्टं सनातनम् ॥ ४२ ॥
चातुराश्रम्यमैकाग्र्यं चातुर्वर्ण्यं च पाण्डव ।
धर्मं पुरुषशार्दूल प्राप्स्यसे पालने रतः ॥ ४३ ॥ [२४७२]

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मा० चातुराश्रम्यविधौ षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— चातुराश्रम्यमुक्तं ते चातुर्वर्ण्यं तथैव च ।
राष्ट्रस्य यत्कृत्यतमं ततो ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— राष्ट्रस्यैतत्कृत्यतमं राज्ञ एवाभिषेचनम् ।
अनिन्द्रमबलं राष्ट्रं दस्यवोऽभिभवन्त्युत ॥ २ ॥
अराजकेषु राष्ट्रेषु धर्मो न व्यवतिष्ठते ।
परस्परं च खादन्ति सर्वथा धिगराजकम् ॥ ३ ॥
इन्द्रमेव प्रवृणुते यद्राजानमिति श्रुतिः ।
यथैवेन्द्रस्तथा राजा संपूज्यो भूतिमिच्छता ॥ ४ ॥
नाराजकेषु राष्ट्रेषु वस्तव्यमिति रोचये ।
नाराजकेषु राष्ट्रेषु हव्यमग्निर्वहत्युत ॥ ५ ॥

पाण्डव श्रेष्ठ ! यही सब अनेक भांतिके धर्म तुम्हारे समीप कहे गये, तुम इस ही परम्परासे चले आये अनादि धर्मका अनुष्ठान करो। हे पुरुषशार्दूल पाण्डुपुत्र! तुम सदा एकाग्र चित्तसे प्रजा पालनमें अनुरक्त रहो; ऐसा होनेसे ही चारों आश्रमों और चारों वर्णोंके फलको प्राप्त करोगे। (४०—४३) [२४७२]

शान्तिपर्वमें छासठ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें सड्सठ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! आपने चारों आश्रम और चारों वर्णोंके धर्म कहे, अब राज्यके सब कर्त्तव्य कार्योंको कहिये। भीष्म बोले, राजाका अभिषेचन करना ही राज्यवासी सब लोगोंका कर्त्तव्य है, क्यों कि डाकू लोग राजा हीन और बल-रहित राज्यको आक्रमण किया करते हैं। अराजक राज्यमें एक दूसरेकी रक्षाके निमित्त यत्नवान नहीं होते। अधिक क्या कहें, आपसमें एक दूसरेकी अनिष्टचिन्तामें ही तत्पर रहते हैं; इससे ऐसे राजारहित राज्य को धिक्कार है। (१—३)

हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही सुना जाता है, कि राजाको आवाहन करनेसे इन्द्र का आवाहन समझा जाता है, इससे ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले पुरुषोंका इन्द्र की भांति राजा की भी पूजा करनी उचित है। मेरे मतमें राजाहीन राज्यमें वास करना उचित नहीं; क्यों

अथ चेदभिवर्तेत राज्यार्थी बलवत्तरः ।
अराजकाणि राष्ट्राणि हतवीर्याणि वा पुनः ॥ ६ ॥
प्रत्युद्गम्याभिपूज्यः स्यादेतदत्र सुमन्त्रितम् ।
नहि पापात्परतरमस्ति किंचिदराजकात् ॥ ७ ॥
स चेत्समनुपश्येत समग्रं कुशलं भवेत् ।
बलवान्हि प्रकुपितः कुर्यान्निःशेषतामपि ॥ ८ ॥
भूयांसं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ९ ॥
यदतप्तं प्रणमते नैतत्सन्तापमर्हति ।
यत्स्वयं नमते दारु न तत्संनामयन्त्यपि ॥ १० ॥
एतयोपमया वीर संनमेत बलीयसे ।
इन्द्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ११ ॥
तस्माद्राजैव कर्तव्यः सततं भूतिमिच्छता ।
न धनार्थो न दारार्थस्तेषां येषामराजकम् ॥ १२ ॥
प्रीयते हि हरन्पापः परवित्तमराजके ।

कि वैसे राज्यमें अग्निदेव भी देवताओंके निकट हव्य नहीं पहुंचाते। परन्तु पराक्रमहीन अराजक राज्यके बीच राज्य की अभिलाषा करनेवाले दूसरे बलवान राजाके आगमन करने पर उठके उसका सन्मान करना ही उत्तम नीतिका कार्य है; । क्यों कि पापमय राजाहीन राज्यसे अधिक दोष उत्पन्न होनेवाला और कोई भी कार्य नहीं है । उस बल- वान राजाके प्रसन्न होनेसे ही सब मङ्गल है, अन्यथा वह कुपित होके सब देशोंको ही नष्ट कर सकता है! महाराज! जो गऊ दूध दुहनेके समय विघ्न करती है, उसे बहुत ही क्लेश भोगना पडता है; परन्तु जो गऊ सहजमें दूध देती है, उसे कोई भी दुःख नहीं देता, और जो लकडी सहज हीमें नत होती है, उसे अग्निमें जलानेकी आवश्यकता नहीं होता। (४ – १०)

हे वीर ! इन दोनों उपमा पर दृष्टि रखके बलवानके निकट नत होना ही उचित है, क्यों कि बलवानके निकट नत होनेसे इन्द्रके समीप नत होना समझा जाता है। इससे राजरहित प्रजा- समूहको निज कल्याणके लिये राजा की रक्षा करनी उचित है, धन वा स्त्री आदिकोंके लिये नहीं। राजा रहित राज्यमें पापी पुरुष परधनको हरके

यदाऽस्य उद्धरन्त्यन्ये तदा राजानमिच्छति ॥ १३ ॥
पापा ह्यपि तदा क्षेमं न लभन्ते कदाचन।
एकस्य हि द्वौ हरतो द्वयोश्च बहवोऽपरे ॥ १४ ॥
अदासः क्रियते दासो ह्रियंते च बलात्स्त्रियः।
एतस्मात्कारणाद्देवाः प्रजापालान्प्रचक्रिरे ॥ १५ ॥
राजा चेन्न भवेल्लोके पृथिव्यां दण्डधारकः।
जले मत्स्यानिवाभक्ष्यन्दुर्बलं बलवत्तराः ॥ १६ ॥
अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम्।।
परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ १७ ॥
समेत्य तास्ततश्चक्रुः समयानिति नः श्रुतम्।
वाक्शूरो दण्डपरुषो यश्च स्यात्पारजायिकः ॥ १८ ॥
यः परस्वमथादद्यात्त्याज्या नस्तादृशा इति।
विश्वासार्थं च सर्वेषां वर्णानामविशेषतः।

अत्यन्त प्रसन्न होते हैं; परन्तु जब दूसरे पुरुष उनके धनको हरण करते हैं; तब वेही लोग राजाके वास्ते इच्छा प्रकाशित करते हैं, क्यों कि राजाके होनेसे पापाचारी पुरुष किसी भांति कल्याण लाभ नहीं कर सकते। हे युधिष्ठिर! अराजक होनेपर दो पुरुष एकके धनको और कई पुरुष मिलके दो जनोंके धनको हरण करते हैं; दासवृत्तिके अयोग्य पुरुषोंको बल पूर्वक दास बनाते और बलपूर्वक पराई स्त्रियोंको हरण करते हैं; इस ही कारण देवताओंने प्रजापालक राजाका नियम किया है। (११-१५)

अधिक क्या कहें, यदि दण्ड धारण करनेवाले राजा सब लोकोंके सहित पृथ्वी की रक्षा न करते, तो बलवान लोग इस प्रकार निर्बल पुरुषोंको नष्ट करते, जैसे जलमें बडे शरीरवाली मछलीं छोटी मछलियोंको भक्षण करती हैं।। मैंने सुना है, जैसे बडी मछली जलमें छोटी मछलियोंको खाजाती हैं, वैसे ही अराजक राज्यकी प्रजा नष्ट हुई थीं; इसी भांति जब आपसमें उन सब लोगोंका कुल नष्ट होने लगा, तब उन सब लोगोंने परस्पर मिलके शपथपूर्वक यह नियम स्थापित किया था, कि " हम लोगोंके बीच जो कोई निष्ठुर वचन कहनेवाला, कठोर दण्डयुक्त और पराया धन हरनेवाला होगा, वह हम लोगोंसे त्याज्य समझा जायगा। " वे लोग सामान्य रूपसे सब वर्णवालोंके विश्वासके लिये

तास्तथा समयं कृत्वा समये नावतस्थिरे ॥ १९ ॥
सहितास्तास्तदा जग्मुरसुखार्ताः पितामहम्।
अनीश्वरा विनश्यामो भगवन्नीश्वरं दिश ॥ २० ॥
यं पूजयेम सम्भूय यश्च नः प्रतिपालयेत्।
ततो मनुं व्यादिदेश मनुर्नाभिननन्द ताः ॥ २१ ॥

मनुरुवाच— बिभेमि कर्मणः पापाद्राज्यं हि भृशदुस्तरम्।
विशेषतो मनुष्येषु मिथ्यावृत्तेषु नित्यदा ॥ २२ ॥

भीष्म उवाच— तमब्रुवन्प्रजा मा भैः कर्तृनेनो गमिष्यति।
पशूनामधिपञ्चाशद्धिरण्यस्य तथैव च ॥ २३ ॥
धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोशवर्धनम्।
कन्यां शुल्के चारुरूपां विवाहेषूद्यतासु च ॥ २४ ॥
मुख्येन शस्त्रपत्रेण ये मनुष्याः प्रधानतः।
भवन्तं तेऽनुयास्यन्ति महेन्द्रमिव देवताः ॥ २५ ॥

आपसमें ऐसी ही प्रतिज्ञा करके विरोध रहित होके निवास करने लगे। तिसके अनन्तर वे सब कोई मिलकर पितामह ब्रह्माके निकट जाके उनसे बोले, हे भगवन्! हम लोगोंमें कोई राजा न रहनेसे हमारा दुःख बढ रहा है, और हम सब नष्टप्राय होगये हैं; इससे आप हम लोगोंके लिये एक राजा नियुक्त करिये। (१९-२०)

जो हम सब लोगोंको प्रतिपालन करे और हम सब कोई मिलके जिसकी पूजा करें। तिसके अनन्तर पितामहने मनुको उन लोगोंका राजा होनेके निमित्त आज्ञा दिया, मनुने उनसे उस वचनको स्वीकार नहीं किया, मनु बोले, पापपूरित कर्म आचरण करते मुझे अत्यन्त भय होता है, विशेष करके मिथ्यायुक्त मनुष्योंके बीच राज्य करना अत्यन्त ही कठिन है। भीष्म बोले, प्रजा समूहने मनुका ऐसा वचन सुनके उनसे कहा, "आप न डरिये, पापसे आपको कुछ भय नहीं है, जो लोग पाप करेंगे वेही उसके फलको भोग करेंगे। हम लोग आपके कोष वृद्धिके लिये अपने प्राप्त हुए पशु, और सुवर्णके पचासवें भागका एक भाग और धान्यके दसवें भागमें एक भाग प्रदान करेंगे, विवाह उपस्थित होनेपर जिस कन्याका सबसे अधिक दयाना निरूपित होगा, आपको ही वह सुन्दरी कन्या प्रदान करेंगे। देवता जैसे इन्द्रके अनुगामी होते हैं, वैसे ही उत्तम वाहनोंपर चढे हुए शस्त्रधारियोंमें

स त्वं जातबलो राजा दुष्प्रधर्षः प्रतापवान् ।
सुखे धास्यसि नः सर्वान्कुबेर इव नैर्ऋतान् ॥ २६ ॥
यं च धर्मं चरिष्यन्ति प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः ।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य त्वत्संस्थं वै भविष्यति ॥ २७ ॥
तेन धर्मेण महता सुखं लब्धेन भावितः ।
पाह्यस्मान्सर्वतो राजन्देवानिव शतक्रतुः ॥ २८ ॥
विजयाय हि निर्याहि प्रतपन् रश्मिवानिव ।
मानं विधम शत्रूणां जयोऽस्तु तव सर्वदा ॥ २९ ॥
स निर्ययौ महातेजा बलेन महता वृतः ।
महाभिजनसम्पन्नस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३० ॥
तस्य दृष्ट्वा महत्त्वं ते महेन्द्रस्येव देवताः ।
अपतत्रसिरे सर्वे स्वधर्मे च दधुर्मनः ॥ ३१ ॥
ततो महीं परिययौ पर्जन्य इव वृष्टिमान् ।
शमयन्सर्वतः पापान्स्वकर्मसु च योजयन् ॥ ३२ ॥
एवं ये भूतिमिच्छेयुः पृथिव्यां मानवाः क्वचित् ।

श्रेष्ठ पुरुष आप के पीछे गमन करेंगे। (२१—२५)

आप इसी भांति बलशाली, प्रतापवान तथा दूसरेसे दुराधर्ष होकर इस प्रकार हम लोगोंकी रक्षा करिये, जैसे कुवेर यक्षोंकी रक्षा करते हैं। प्रजा लोग राजासे रक्षित होकर जो कुछ धर्माचरण करेंगे आप उसके चतुर्थांश फलभागी होंगे; और उस ही धर्मसे बलवान होकर इस प्रकार हम लोगोंकी रक्षा करियेगा, जैसे इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं। आप मरीचिमाली सूर्यकी भांति शत्रुओंको सन्तापित करते हुए विजयके वास्ते यात्रा करिये और शत्रुओंका अभिमान नष्ट कीजिये; ऐसा होनेसे हम लोग सुख पूर्वक धर्माचरण कर सकेंगे।" महाबलसे युक्त महातेजस्वी मनु प्रजापुञ्जसे इसी भांति पूजित होके निज तेज प्रभावसे दशों दिशाको प्रकाशित करते हुए बाहर हुए। उस समय अनगिनत श्रेष्ठ वंशमें उत्पन्न हुए पुरुष उनका अनुगमन करने लगे। देवता लोग उनका इन्द्रके समान महत्त्व देखके अत्यन्त ही भयभीत हुए और सबने निज धर्ममें चित्त लगाया। (२६—३१)

तिसके अनन्तर जैसे बादल जलकी वर्षासे धूलिका निवारण करते हैं, वैसे

कुर्यू राजानमेवाग्रे प्रजाऽनुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥
नमस्येरंश्च तं भक्त्या शिष्या इव गुरुं सदा ।
देवा इव च देवेन्द्रं तत्र राजानमन्तिके ॥ ३४ ॥
सत्कृतं स्वजनेनेह परोऽपि बहु मन्यते ।
स्वजनेन त्ववज्ञातं परे परिभवन्त्युत ॥ ३५ ॥
राज्ञः परैः परिभवः सर्वेषामसुखावहः ।
तस्माच्छत्रं च पत्रं च वासांस्याभरणानि च ॥ ३६ ॥
भोजनान्यथ पानानि राज्ञे दद्युर्गृहाणि च ।
आसनानि च शय्याश्च सर्वोपकरणानि च ॥ ३७ ॥
गोप्ता तस्माद्दुराधर्षः स्मितपूर्वाभिभाषिता ।
आभाषितश्च मधुरं प्रत्याभाषेत मानवान् ॥ ३८ ॥
कृतज्ञो दृढभक्तिः स्यात्संविभागी जितेन्द्रियः ।
ईक्षितः प्रतिवीक्षेत मृदुवल्गु च सुष्ठु च ॥ ३९ ॥ [२५११]

इति श्रीमहाभारते० शांतिप० राजध० राष्ट्रे राजकरणावश्यकत्वकथने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ६७

ही मनुने सबको पाप कर्मोंसे निवृत्त और निज धर्ममें प्रवृत्त करके पृथ्वीपर गमन किया युधिष्ठिर इसी भांति पृथ्वी-पर जो मनुष्य मङ्गल कामनाकी इच्छा करें, वे प्रजासमूहके अनुग्रहके वास्ते राजा को ही सबसे श्रेष्ठ समझें । जैसे शिष्य गुरुके समीप और देवता लोग इन्द्रके समीप नत हुआ करते हैं; वैसे ही राजाके समीप सदा विनीत भावसे रहा-करें; क्यों कि स्वजनोंसे सत्कृत होने-पर शत्रुलोग भी सत्कार किया करते हैं; परन्तु स्वजनोंसे तिरस्कृत होनेपर शत्रु लोग भी अवज्ञा करते हैं । विशेष करके शत्रुओंके निकट राजाकी पराभव होनी सबके क्लेशोंका मूल है । तिसके अनन्तर प्रजासमूहने राजा मनुको छत्र, सवारी, वाह्य आभूषण, खाने पीनेकी वस्तु, गृह, आसन, शय्या और दूसरी सब भांति की सामग्री प्रदान की । (३२—३७)

हे युधिष्ठिर ! राजा दूसरेके वास्ते प्रबल होवे, और अन्य मनुष्यके प्रश्न करनेपर हंसके मधुर वचनसे उत्तर देवे । उपकार करनेवालेके निकट कृतज्ञ, गुरु जनोंमें दृढभक्त, सबके सङ्ग संवि-भागी और जितेन्द्रिय होवे । दूसरेसे ईक्षित होनेपर सरलस्वभावसे सुन्दर तथा मनोहर दृष्टि उसकी ओर करे । (३८—३९)

शान्तिपर्वमें सड्सठ अध्याय समाप्त ।

युधिष्ठिर उवाच– किमाहुर्दैवतं विप्रा राजानं भरतर्षभ।
मनुष्याणामधिपतिं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
बृहस्पतिं वसुमना यथा पप्रच्छ भारत ॥ २ ॥
राजा वसुमना नाम कौसल्यो धीमतां वरः।
महर्षिं किल पप्रच्छ कृतप्रज्ञं बृहस्पतिम् ॥ ३ ॥
सर्वं वैनयिकं कृत्वा विनयज्ञो बृहस्पतिम्।
दक्षिणाऽनन्तरो भूत्वा प्रणम्य विधिपूर्वकम् ॥ ४ ॥
विधिं पप्रच्छ राज्यस्य सर्वलोकहिते रतः।
प्रजानां सुखमन्विच्छन्धर्मशीलं बृहस्पतिम् ॥ ५ ॥

वसुमना उवाच– केन भूतानि वर्धन्ते क्षयं गच्छन्ति केन वा।
कमर्चन्तो महाप्राज्ञ सुखमव्ययमाप्नुयुः ॥ ६ ॥
एवं पृष्टो महाप्राज्ञः कौसल्येनामितौजसा।
राजसत्कारमव्यग्रं शशंसास्मै बृहस्पतिः ॥ ७ ॥

बृहस्पतिरुवाच–राजमूलो महाप्राज्ञ धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम् ॥ ८ ॥

शान्तिपर्वमें अडसठ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतर्षभ पितामह! ब्राह्मण लोग भी किस कारणसे मनुष्योंके प्रभु राजाको देवरूपी कहा करते हैं? भीष्म बोले, हे भारत! पहिले वसुमनाने बृहस्पतिसे इस विषयमें जो कुछ पूछा था, पण्डित लोग इस प्रस्तावके उदाहरणमें उस ही प्राचीन इतिहासका प्रमाण देते हैं। सब लोगोंके हितमें रत, विनययुक्त वसुमनाने प्रजाओंके सुख की इच्छासे धर्मात्मा बृहस्पतिको सब भांतिसे शिष्टाचार प्रदक्षिणा तथा विधिपूर्वक प्रणाम करके राजा के समस्त कर्त्तव्य विषयोंको पूछा। (२–५)

वसुमना बोले, हे महाबुद्धिमान! जीव लोग किस प्रकार उन्नत अवस्थाको प्राप्त होते, और किन कार्योंसे नष्ट होते हैं; और किसकी उपासनासे अनन्त सुख लाभ करते हैं? महाबुद्धिमान बृहस्पति कल्याण चाहनेवाले वसुमनाके प्रश्नको सुनके आनन्दके सहित राजसंस्कार विषयक सब वचन कहने लगे। (६—७)

बृहस्पति बोले, हे महाबुद्धिमान! प्रजा जो कुछ धर्माचरण करती है, राजा

राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुखम् ।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते ॥ ९ ॥
यथा ह्यनुदये राजन्भूतानि शशिसूर्ययोः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम् ॥ १० ॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहङ्गमाः ।
विहरेयुर्यथाकामं विहिंसन्तः पुनः पुनः ॥ ११ ॥
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विषह्यापि परस्परम् ।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः ॥ १२ ॥
एवमेव विना राज्ञा विनश्येयुरिमाः प्रजाः ।
अन्धे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा ॥ १३ ॥
हरेयुर्बलवन्तोऽपि दुर्बलानां परिग्रहान् ।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत् ॥ १४ ॥
ममेदमिति लोकेऽस्मिन्न भवेत्संपरिग्रहः ।
न दारा न च पुत्रः स्यान्न धनं न परिग्रहः ॥

ही उसका मूल है; क्यों कि वे लोग राजभयसे ही आपसमें हिंसा नहीं कर सकते। राजा ही धर्मपूर्वक मर्यादा-रहित और पराई स्त्रियों तथा कुकर्मोंमें रत लोगोंको अपने राज दण्डसे शासन करके अखिल जगत्‌की प्रसन्नता सिद्ध करते हुए स्वयं प्रसन्नभावसे निवास करता है। महाराज! जैसे सूर्य चन्द्र-माके उदय न होनेपर जीव लोग घोर अन्धकारमें फंसते और आपसमें एक दूसरेको नहीं देख सकते; जैसे थोडे जलसे युक्त तालावके बीच मछलियें और हिंसा भयसे रहित पक्षी लोग बार बार हिंसा करते हुए विचरते हैं; तथा काल क्रमसे आपसमें किसीके भी वचन न सहके सबका वचन अतिक्रम और सबको पीडित करते हुए थोडे ही समयमें नष्ट होजाते हैं, वैसे ही राजाके न रहनेपर प्रजा भी पालकहीन पशुकी भांति घोर अन्धकारमें पडके नष्ट होजाती है। (८-१२)

यदि राजा रक्षा न करता, तो बल-वान पुरुष बलपूर्वक निर्बलोंका धन हरलेते, वे लोग अपनी अपनी सामर्थ्यके अनुसार परम आग्रह करके भी उसकी रक्षा करनेमें समर्थ न होते। कोई भी "यह वस्तु मेरी है,"– ऐसा न समझ सकते; स्त्री, पुत्र, अन्न आदि खानेकी चीज अथवा दूसरी किसी वस्तुओंमें भी किसीका कुछ भी वश न रहता;

विष्वग्लोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत् ॥ १५ ॥
यानं वस्त्रमलङ्कारान् रत्नानि विविधानि च ।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत् ॥ १६ ॥
पतेद्बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु ।
अधर्मः प्रगृहीतः स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ १७ ॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम् ।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत् ॥ १८ ॥
वधबन्धपरिक्लेशो नित्यमर्थवतां भवेत् ।
ममत्वं च न विन्देयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ १९ ॥
अन्ताश्चाकाल एव स्युर्लोकोऽयं दस्युसाद्भवेत् ।
पतेयुर्नरकं घोरं यदि राजा न पालयेत् ॥ २० ॥
न योनिदोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः ।
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत् ॥ २१ ॥
न यज्ञाः सम्प्रवर्तेयुर्विधिवत्स्वाप्तदक्षिणाः ।
न विवाहाः समाजो वा यदि राजा न पालयेत्॥२२॥
न वृषा संप्रवर्तेरन्न मथ्येरंश्च गर्गराः ।

राजाके रक्षा न करनेसे समस्त धन सब तरहसे नष्ट होजाता । यदि राजा पालन न करता, तो पापी चोर लोग सबके वस्त्र, आभूषण, सवारी, तथा दूसरे अनेक भांतिके रत्नोंको हर लेते । यदि राजा पालन न करता, तो धर्म-चारियोंके ऊपर बहुधा शस्त्र चलते, और सब कोई अधर्मका आसरा ग्रहण करते । रक्षा न करनेसे सब कोई वृद्ध माता, पिता, आचार्य, अतिथि और गुरु जनोंको क्लेश देते अथवा उनका नाश करनेमें भी संकुचित न होते । यदि राजा पालन न करता, तो धनवान पुरुषोंको सदा ही वध बन्धन अथवा बहुत ही क्लेश प्राप्त होते; कोई भी किसी वस्तुको अपनी न समझ सकते । (१३—१९)

राजा रक्षा न करता, तो सब ही असमयमें ही मृत्यु-मुखमें पतित होते; सब लोग ही डाकुओंके वशमें होजाते तथा सब कोई घोर नरकमें पडते । यदि राजा रक्षा न करता, तो योनि दोष, कृषि और वाणिज्य कुछ भी न रहते; धर्म डूबता और वेदादि लुप्त होजाते । राजाके रक्षा न करनेसे सात प्रकारके दक्षिणायुक्त यज्ञ, विवाह अथवा समाज

घोषाः प्रणाशं गच्छेयुर्यदि राजा न पालयेत् ॥ २३ ॥
त्रस्तमुद्विग्नहृदयं हाहाभूतमचेतनम् ।
क्षणेन विनशेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २४ ॥
न संवत्सरसत्राणि तिष्ठेयुरकुतोभयाः ।
विधिवद्दक्षिणावन्ति यदि राजा न पालयेत् ॥ २५ ॥
ब्राह्मणाश्चतुरो वेदान्नाधीयीरंस्तपस्विनः ।
विद्यास्नाता व्रतस्नाता यदि राजा न पालयेत् ॥ २६ ॥
न लभेद्धर्मसंश्लेषं हतविप्रहतो जनः ।
हर्ता स्वस्थेन्द्रियो गच्छेद्यदि राजा न पालयेत् ॥२७॥
हस्ताद्धस्तं परिमुषेद्भिद्येरन्सर्वसेतवः ।
भयार्तं विद्रवेत्सर्वं यदि राजा न पालयेत् ॥ २८ ॥
अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद्वै वर्णसङ्करः ।
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत् ॥ २९ ॥
विवृत्य हि यथाकामं गृहद्वाराणि शेरते ।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः ॥ ३० ॥

कुछ भी विधिपूर्वक न निर्वाहित होते। राजाका शासन न रहता, तो वृषभ भी गौवोंमें वीर्यसिञ्चन न करते; गगरी भी न मथी जाती; इससे अहीर लोग भी नष्ट होजाते। राजा रक्षा न करता, तो सब लोग ही भयभीत और व्याकुल होके हाहाकार करके चेतरहितकी भांति क्षणभरमें नष्ट होजाते। (२०-२४)

यदि राजा रक्षा न करता, तो कोई भी निर्भयचित्त होकर यथारीति दक्षिणायुक्त सांवत्सरिक यज्ञोंका अनुष्ठान न करते, राज्य शासन न रहता, तो विद्यास्नात, व्रतचारी, तपस्वी और ब्राह्मण लोग चारों वेदोंको अध्ययन न करते। यदि राजा पालन न करता, तो जिस पुरुषने ब्रह्महत्यारोंका नाश किया है, वह धर्म-पूरित कार्यकी प्रशंसा प्राप्त न कर सकता, परन्तु ब्रह्मघाती तथा आलसी होकर भ्रमण करता। राजाका शासन न होता, तो चोर लोग हाथमें स्थित धनको भी हरण करते, पुल टूटते और प्रजा भी भयसे विकल होकर चारों, ओर भागने लगती। राजा यदि रक्षा न करता, तो चारों ओर अनीति फैल जाती, वर्णसङ्कर जातिकी वढती होती और राज्यमें सदा दुर्भिक्ष उपस्थित होता। जैसे घरके दरवाजेको बन्द करके इच्छानुसार घरके भीतर शयन करते हैं, वैसे ही राजासे

नाक्रुष्टं सहते कश्चित्कुतो वा हस्तलाघवम् ।
यदि राजा न सम्यग्गां रक्षयत्यपि धार्मिकः ॥ ३१ ॥
स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालङ्कारभूषिताः ।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदि रक्षति भूमिपः ॥ ३२ ॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम् ।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३३ ॥
यजन्ते च महायज्ञैस्त्रयो वर्णाः पृथग्विधैः ।
युक्ताश्चाधीयते विद्यां यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३४ ॥
वार्ता मूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा ।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्यदा रक्षति भूमिपः ॥ ३५ ॥
यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः ।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति ॥ ३६ ॥
यस्याभावेन भूतानामभावः स्यात्समन्ततः ।
भावे च भावो नित्यं स्यात्कस्तं न प्रतिपूजयेत् ॥३७॥
तस्य यो वहते भारं सर्वलोकभयावहम् ।

रक्षित होकर मनुष्य लोग निर्भयताके सहित सर्वत्र भ्रमण किया करते हैं। (२५—३०)

जब कि बलवानके प्रहार करनेपर भी निर्बल लोग सह लेते हैं, तब यदि धर्मात्मा राजा सब भांतिसे पृथ्वीकी रक्षा न करते, तो दूसरे पुरुष जो अन्य पुरुषोंके कठोर वचनको सहते इसमें कौनसी विचित्रता है? राजा यदि यथारितिसे रक्षा करे, तो सब आभूषणोंसे भूषित स्त्रियां भी निर्भयताके सहित राजमार्गोंमें भ्रमण कर सकती हैं। यदि राजा रक्षा करे तो आपसमें सब कोई सबके ऊपर कृपा करते हैं, और एक दूसरेकी हिंसा न करके धर्म मार्गसे ही गमन करते हैं। जब राजा प्रजाकी यथारीतिसे रक्षा करता है, उस समय ब्राह्मणादिक तीनों वर्ण अलग अलग यज्ञोंको करके देवताओं की पूजा और चित्त स्थिर करके वेदाध्ययनमें तत्पर रहते हैं। (३१-३४)

वर्त्ता-मूल यह जगत् तीनों वेदोंसे ही रक्षित होता है; परन्तु राजाके उत्तम शासनसे ही ये सब भली भांति रक्षित होते हैं। जब राजा कठिन भार ग्रहण करके महत् बलके सहारे प्रजाओंकी रक्षा करता है, तब सब कोई प्रसन्न-भावसे निवास करते हैं। जिसके स्थित

तिष्ठन्प्रियहिते राज्ञ उभौ लोकाविमौ जयेत् ॥ ३८ ॥
यस्तस्य पुरुषः पापं मनसाप्यनुचिन्तयेत् ।
असंशयमिह क्लिष्टः प्रेत्यापि नरकं व्रजेत् ॥ ३९ ॥
न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः ।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥ ४० ॥
कुरुते पंच रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा ।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥ ४१ ॥
यदा ह्यासीदतः पापान्दहत्युग्रेण तेजसा ।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥ ४२ ॥
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः ।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदा भवति भास्करः ॥ ४३ ॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान् ।
सपुत्रपौत्रान्सामात्यांस्तदा भवति सोऽन्तकः ॥ ४४ ॥
यदा त्वधार्मिकान्सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति ।

रहनेसे सब ही स्वच्छन्दताके सहित निवास करते हैं और जिसके अभावसे ही सबका अभाव होता है; कौन पुरुष उसकी पूजा न करेगा? जो राजाका प्रिय और हितकारी होकर सब लोगोंको भय देनेवाला गुरु भारको उठाता है, वह दोनों लोकोंको जय करनेमें समर्थ होता है। जो पुरुष मनमें भी राजाके अनिष्टकी शङ्का करेगा, वह निश्चय ही इस लोकमें क्लेश भोग करके परलोकमें नरकमें पडेगा। (३५-३९)

राजाको मनुष्य समझके कभी भी अवमानना करनी उचित नहीं है; क्यों कि वह महत् देवता नररूप धारण करके पृथ्वीपर निवास करता है। जो राजा समयानुसार पञ्चरूपके कार्योंको किया करते हैं, वे उस समय अग्नि, सूर्य, मृत्यु वैश्रवण और यम इन पांच भांतिकी पदवीको अन्यतम पदवीको प्राप्त करते हैं। जिस समय राजा वञ्चित होकर भी समीपस्थ पापोंको भस्म करता है; उस समय उसकी "पावक" संज्ञा होती है। जब दूतोंके जरिये सबके कार्योंका अनुसन्धान करते और प्रजा पुञ्जके मङ्गल जनक कार्योंका आचरण करते हैं, उस समय 'भास्कर' कहके माने जाते हैं। जब क्रुद्ध होकर पापी लोगोंको पुत्र पौत्र और सेवकोंके सहित अनेक प्रकारसे नाश करते हैं उस समय उनकी "मृत्यु" संज्ञा होती है। (४०-४४)

धार्मिकांश्चानुगृह्णाति भवत्यथ यमस्तदा ॥ ४५ ॥
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणाम् ॥४६॥
श्रियं ददाति कस्मै चित्कस्माचिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजा लोके भवति भूमिपः ॥ ४७ ॥
नास्यापवादे स्थातव्यं दक्षेणाक्लिष्टकर्मणा।
धर्म्यमाकांक्षता लोकमीश्वरस्यानसूयता ॥ ४८ ॥
न हि राज्ञः प्रतीपानि कुर्वन्सुखमवाप्नुयात्।
पुत्रो भ्राता वयस्यो वा यद्यप्यात्मसमो भवेत्॥ ४९ ॥
कुर्यात्कृष्णगतिः शेषं ज्वालितोऽनिलसारथिः।
न तु राजाऽभिपन्नस्य शेषं क्वचन विद्यते ॥ ५० ॥
तस्य सर्वाणि रक्ष्याणि दूरतः परिवर्जयेत्।
मृत्योरिव जुगुप्सेत राजस्वहरणान्नरः ॥ ५१ ॥
नश्येदभिमृशन्सद्यो मृगः कूटमिव स्पृशन्।
आत्मस्वमिव रक्षेत राजस्वमिह बुद्धिमान् ॥ ५२ ॥

जब तीक्ष्ण दण्डसे अधर्मियोंको निग्रह और धर्मात्माओंके ऊपर कृपा प्रकाशित करते हैं; उस समय उनकी 'यम' संज्ञा होती है। महाराज! जब राजा धनसे उपकारियोंको तृप्त, और अपकारियोंके अनेक भांतिके रत्नोंको हरके किसीको श्रीयुक्त और किसीको नष्टश्री करते हैं; उस समय वे "वैश्रवण" नामसे विख्यात होते हैं। महाराज! जिसमें राजाका अपवाद होवे, ईश्वरके बनाये हुए द्वेष रहित, धर्मकी अभिलाषा करनेवाले दक्ष और अक्लिष्ट कर्मवाले मनुष्योंको वैसा कार्य करना उचित नहीं है; क्यों कि राजाकी प्रतिकूलता करनेसे कभी भी सुख नहीं मिल सकता। जो राजाके अपवाद जनक कार्योंको करता है, अनिल सारथी जलती हुई अग्नि उसे भस्म करती है। परन्तु राजा जिसकी रक्षा करे, उसका किसी प्रकार नाश नहीं हो सकता, इससे राजाकी रक्षित वस्तुओंको दूरसे ही त्यागना उचित है। जैसे मृत्युसे अपनी रक्षा की जाती है, वैसेही राजस्व हरण होने पर भी आत्मरक्षा करनी उचित हैं; क्योंकि उसे स्पर्श करनेसे ही जैसे यन्त्र स्पर्शसे मृग नष्ट होते हैं, वैसे ही पुरुषोंका नाश होता है। बुद्धिमान मनुष्यको उचित है, अपने समान राजा

महान्तं नरकं घोरमप्रतिष्ठमचेतनम् ।
पतन्ति चिररात्राय राजवित्तापहारिणः ॥ ५३ ॥
राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः ।
य एभिः स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्चितुमर्हति ॥ ५४ ॥
तस्माद्बुभूषुर्नियतो जितात्मा नियतेन्द्रियः ।
मेधावी स्मृतिमान्दक्षः संश्रयेत महीपतिम् ॥ ५४ ॥
कृतज्ञं प्राज्ञमक्षुद्रं दृढभक्तिं जितेन्द्रियम् ।
धर्मनित्यं स्थितं नीत्यं मन्त्रिणं पूजयन्नृपः ॥ ५६ ॥
दृढभक्तिं कृतप्रज्ञं धर्मज्ञं संयतेन्द्रियम् ।
शूरमक्षुद्रकर्माणं निषिद्धजनमाश्रयेत् ॥ ५७ ॥
प्रज्ञा प्रगल्भं कुरुते मनुष्यं राजा कृशं वै कुरुते मनुष्यम् ।
राजाऽभिपन्नस्य कुतः सुखानि राजाऽभ्युपेतं सुखिनं करोति ॥ ५८ ॥
राजा प्रजानां हृदयं गरीयो गतिः प्रतिष्ठा सुखमुत्तमं च ।
समाश्रिता लोकमिमं परं च जयन्ति सम्यक्पुरुषा नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

की भी रक्षा करे। जो राजधन हरता है, वह सदाके वास्ते अचेतन, अप्रतिष्ठित, भयङ्कर और महत् नरकमें पतित होता है। (४५–५३)

महाराज! जिस की राजा, भोज, विराट् सम्राट, क्षत्रिय, भूपति और नृपति आदि शब्दोंसे स्तुति की जाती है, कौन पुरुष उसकी पूजा न करेगा? इन्हीं सब कारणोंसे ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाला, जितात्मा जितेन्द्रिय, मेधावी, स्मृतिमान और दक्ष पुरुष राजाका आसरा ग्रहण करें। राजा भी कृतज्ञ, बुद्धिमान, उच्च कुलमें उत्पन्न हुए दृढभक्तिवाले, जितेन्द्रिय, धर्मनिष्ठ और नीतिज्ञ मन्त्रीका सत्कार करे। दृढभक्तियुक्त, बुद्धिमान, धर्म जानने वाले, जितेन्द्रिय, और शूर, बडे कार्योंके करनेवाले और जो कहा करते हैं मैं अकेले ही इस कर्मको सिद्ध करूंगा, दूसरे सहायक की अवश्यकता नहीं है; वैसे ही लोगोंका आसरा ग्रहण करे। बुद्धि मनुष्यको प्रगल्भ करती है, परन्तु राजा सब भांतिसे सब लोगोंको प्रसंसा लाभ नहीं करने देता। राजा जिसे आक्रमण करे, उसे सुख कहां? परन्तु उसके अनुगत रहनेसे सब भांतिसे सुख मिलता है। (५४–५८)

हे नरेन्द्र! राजा ही प्रजासमूहके मानसिक उत्कर्ष, सद्गति, प्रतिष्ठा और परम सुख लाभका कारण है। जो

नराधिपश्चाप्यनुशिष्य मेदिनीं दमेन सत्येन च सौहृदेन ।
महद्भिरिष्ट्वा क्रतुभिर्महायशास्त्रिविष्टपे स्थानमुपैति शाश्वतम् ॥६०॥
स एवमुक्तोऽङ्गिरसा कौसल्यो राजसत्तमः ।
प्रयत्नात्कृतवान्वीरः प्रजानां परिपालनम् ॥ ६१ ॥ [२५७२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि आंगिरसवाक्ये अष्टषष्टितमोऽध्यायः॥ ६८ ॥

युधिष्ठिर उवाच– पार्थिवेन विशेषेण किं कार्यमवशिष्यते ।
कथं रक्ष्यो जनपदः कथं जेयाश्च शत्रवः ॥ १ ॥
कथं चारं प्रयुञ्जीत वर्णान्विश्वासयेत्कथम् ।
कथं भृत्यान्कथं दारान्कथं पुत्रांश्च भारत ॥ २ ॥

भीष्म उवाच– राजवृत्तं महाराज श्रृणुष्वावहितोऽखिलम् ।
यत्कार्यं पार्थिवेनादौ पार्थिवप्रकृतेन वा ॥ ३ ॥
आत्मा जेयः सदा राज्ञा ततो जेयाश्च शत्रवः ।
अजितात्मा नरपतिर्विजयेत कथं रिपून् ॥ ४ ॥
एतावानात्मविजयः पञ्चवर्गविनिग्रहः ।
जितेन्द्रियो नरपतिर्बाधितुं शक्नुयादरीन् ॥ ५ ॥

लोग राजाका आसरा ग्रहण करते हैं; वे लोग इस लोक और मरनेके अनन्तर परलोकको भी जय करनेमें समर्थ होते हैं; महायशस्वी राजा लोग भी दम, सत्य और सुहृदताके सहित पृथ्वी शासन करते हुए महत् यज्ञ करके अमर तथा नित्य पद प्राप्त करते हैं। राज सत्तम कौशल्य वसुमना बृहस्पतिके ऐसे वचन सुनके यत्नपूर्वक प्रजापालन करने लगे। (५८—६१)

शान्तिपर्वमें अडसठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! राजाके कर्त्तव्य कर्मके बीच और क्या शेष है? और वह दूत, सेवक, स्त्री, पुत्र तथा इतरवर्णके लोगोंमेंसे किसका किस भांति विश्वास करे तथा किसे किस भांतिके कार्योंमें नियुक्त करे; आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये। (१-२)

भीष्म बोले, महाराज! राजाको दूसरे जो सब कार्य करने उचित हैं, तुम एकाग्रचित्तसे उस समस्त राजनीतिको सुनो। राजा पहिले अपने चित्तको जीतकर तब शत्रुओंके जीतने की इच्छा करे? जिसने श्रोत्र आदि पञ्च इन्द्रियों और अपने चित्तको वशमें किया है,

न्यसेत गुल्मान्दुर्गेषु सन्धौ च कुरुनन्दन।
नगरोपवने चैव पुरोद्यानेषु चैव ह ॥ ६ ॥
संस्थानेषु च सर्वेषु पुरेषु नगरेषु च।
मध्ये च नरशार्दूल तथा राजनिवेशने ॥ ७ ॥
प्रणिधींश्च ततः कुर्याज्जडान्धबधिराकृतीन्।
पुंसः परीक्षितान्प्राज्ञान्क्षुत्पिपासाश्रमक्षमान् ॥ ८ ॥
अमात्येषु च सर्वेषु मित्रेषु विविधेषु च।
पुत्रेषु च महाराज प्रणिदध्यात्समाहितः ॥ ९ ॥
पुरे जनपदे चैव तथा सामन्तराजसु।
यथा न विद्युरन्योन्यं प्रणिधेयास्तथा हि ते ॥ १० ॥
चारांश्च विद्यात्प्रहितान्परेण भरतर्षभ।
आपणेषु विहारेषु समाजेषु च भिक्षुषु ॥ ११ ॥
आरामेषु तथोद्याने पण्डितानां समागमे।
देशेषु चत्वरे चैव सभास्वावसथेषु च ॥ १२ ॥
एवं विचिनुयाद्राजा परचारं विचक्षणः।
चारे हि विदिते पूर्वं हितं भवति पाण्डव ॥ १३ ॥

वैसा जितेन्द्रिय राजा ही शत्रुओंको जीतनेमें समर्थ होता है। हे पुरुषसिंह कुरु नन्दन! राजाको उचित है, "किला, राज्य-सीमाका वर्ण भाग, नगर, उपवन, अन्तःपुरके बगीचे, चतुष्पथ, पुर, अन्तःपुर और सब स्थानोंमें पैदल सेना स्थापित करे। (३—७)

जड, अन्धे और बधिर रूपवाले, भूखप्यास आदि क्लेशोंको सहनेवाले, बुद्धिमान और परीक्षामें निपुण पुरुषोंको दूतरूपसे नियुक्त करे। गुप्त चरोंको नियुक्त करके सब भांतिके सेवकों अनेक प्रकारके मित्रों और पुत्रोंके कार्योंकी परीक्षा करे। पुरजनपद और सामन्त राजाओंके समीप इस प्रकार गुप्त चरोंको नियत करे कि वे लोग आपसमें एक दूसरेको न जान सकें। हे भरतर्षभ! राजा अपने मल्लक्रीडा स्थान, समाज, भिक्षुक, पुष्पवाटिका, बाहिरी बगीचे, पण्डितोंकी सभा स्थान, अधिकारियोंके निवास स्थान, राजसभा और प्रधान पुरुषोंके गृह इन सब स्थानोंमें अनुसन्धान करनेसे ही शत्रुओंके भेजे हुए दूतोंको जान सकते हैं। हे पाण्डुपुत्र! बुद्धिमान राजा इसी भांति शत्रु-प्रेरित दूतोंको मालूम करे; क्यों कि पहिले

यदा तु हीनं नृपतिर्विद्यादात्मानमात्मना ।
आमात्यैः सह संमन्त्र्य कुर्यात्सन्धि बलीयसा ॥१४॥
अज्ञायमाने हीनत्वे सन्धि कुर्यात्परेण वै ।
लिप्सुर्वा कश्चिदेवार्थं त्वरमाणो विचक्षणः ॥ १५ ॥
गुणवन्तो महोत्साहा धर्मज्ञाः साधवश्च ये ।
संदधीत नृपस्तैश्च राष्ट्रं धर्मेण पालयन् ॥ १६ ॥
उच्छिद्यमानमात्मानं ज्ञात्वा राजा महामतिः ।
पूर्वापकारिणो हन्याल्लोकद्विष्टांश्च सर्वशः ॥ १७ ॥
यो नोपकर्तुं शक्नोति नापकर्तुं महीपतिः ।
न शक्यरूपश्चोद्धर्तुमुपेक्ष्यस्तादृशो भवेत् ॥ १८ ॥
यात्रायां यदि विज्ञातमनाक्रन्दमनन्तरम् ।
व्यासक्तं च प्रमत्तं च दुर्बलं च विचक्षणः ॥ १९ ॥
यात्रामाज्ञापयेद्वीरः कल्यः पुष्टबलः सुखी ।
पूर्वं कृत्वा विधानं च यात्रायां नगरे तथा ॥ २० ॥
न च वश्यो भवेदस्य नृपो यश्चातिवीर्यवान् ।

दूतोंको मालूम करनेसे मङ्गल होता है। जब राजा स्वयं अपनेको बलहीन समझें, तब सेवकोंके सङ्ग विचार करके बलवानके साथ सन्धि करे, यदि शत्रुसे अपनी हीनता न समझे, तौभी बुद्धिमान राजा थोडे स्वार्थ लाभकी आशा रहनेपर भी शत्रुके साथ शीघ्र सन्धि करे। जो लोग गुणवान, महा उत्साहयुक्त धर्म जाननेवाले और साधु हैं, राजा वैसे पुरुषोंके सङ्ग सन्धि करके धर्मपूर्वक प्रजा पालन करे। (८-१६)

बुद्धिमान राजा अपनेको उच्छिद्यमान समझके लोकद्वेषी, पूर्व अपकारी लोगोंका नाश करे। जो राजा किसी भांति उपकार और अपकार करनेमें समर्थ न हो, तथा अपना भी उद्धार करनेमें असमर्थ हो; उसके विषयमें उपेक्षा प्रकाशित कर सकते हैं। युद्धके वास्ते प्रस्थान करनेकी इच्छा होने पर पहिले नगर रक्षाका उपाय, यात्राकालकी सब वस्तुओंका संग्रह करके कल्याणजनक वचनोंसे अभिनन्दित और महत् बलसे युक्त होकर स्वच्छन्दताके सहित मूर्ख विचारहीन, बन्धुओंसे रहित दूसरेके साथ युद्धमें आसक्त असावधान और निर्बल राजाकी ओर चढाई करे। १७-२०

यदि वह राजा बल और पराक्रमहीन होनेपर भी निज सामर्थ प्रकाशित कर-

हीनश्च बलवीर्याभ्यां कर्षयंस्तत्परो वसेत् ॥ २१ ॥
राष्ट्रं च पीडयेत्तस्य शस्त्राग्निविषमूर्छनैः ।
अमात्यवल्लभानां च विवादांस्तस्य कारयेत् ॥ २२ ॥
वर्जनीयं सदा युद्धं राज्यकामेन धीमता ।
उपायैस्त्रिभिरादानमर्थस्याह बृहस्पतिः ॥ २३ ॥
सान्त्वेन तु प्रदानेन भेदेन च नराधिप ।
यदर्थं शक्नुयात्प्राप्तुं तेन तुष्येत पण्डितः ॥ २४ ॥
आददीत बलिं चापि प्रजाभ्यः कुरुनन्दन ।
स षड्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥ २५ ॥
दश धर्मगतेभ्यो यद्वसु बह्वल्पमेव च ।
तदाऽऽददीत सहसा पौराणां रक्षणाय वै ॥ २६ ॥
यथा पुत्रास्तथा पौत्रा द्रष्टव्यास्ते न संशयः ।
भक्तिश्चैषां न कर्तव्या व्यवहारे प्रदर्शिते ॥ २७ ॥
श्रोतुं चैव न्यसेद्राजा प्राज्ञान्सर्वार्थदर्शिनः ।
व्यवहारेषु सततं तत्र राज्यं प्रतिष्ठितम् ॥ २८ ॥

नेकी इच्छासे स्वयं वशमें न होवे, तो उसके राज्यमें निवास करके उसे सब भांतिसे पीडित करे। शस्त्र, अग्नि और विष आदिसे प्रजासमूहको मोहित करके उसके राज्यको पीडित करे; अपने सेवकोंके जरिये उसके मित्रों तथा सेवकोंमें भेद करा देवे। बृहस्पतिने कहा है, कि बुद्धिमान राजा राज्यकी अभिलाषासे युद्धमें विना प्रवृत्त हुए ही सन्धि आदि तीनों उपायोंसे अर्थ संग्रह करे। पण्डित राजा साम, दाम और भेद इन तीनों उपायसे जो कुछ धन प्राप्त कर सके, उसीमें सन्तुष्ट होवे। (२१-२४)

हे कुरुनन्दन! प्रजासमूहकी रक्षाके वास्ते उनकी प्राप्त हुई वस्तुओंमेंसे छठवा अंश कर लेवे। पुर वासियोंकी रक्षाके वास्ते मतवाले,उन्मत्त आदि दश धर्मगत लोगोंको दण्ड देकर उनसे बहुत वा थोडा ही हो, धन ग्रहण करे, क्यों कि उन लोगोंको दण्ड न देनेसे वे सब पुरवासियोंको क्लेश देते हैं। पुरवासियोंको पुत्र समान पालन करे, परन्तु विचार कार्यमें प्रवृत्त होकर स्वजन समझके उनके ऊपर स्नेह न करे। राजा वादी प्रतिवादियोंके वचनका विचार कार्य सुननेके वास्ते सदा सब अर्थोंके जाननेवाले पण्डितोंको नियुक्त

आकरे लवणे शुल्के तरे नागबले तथा।
न्यसेदमात्यान्नृपतिः स्वाप्तान्वा पुरुषान्हितान् ॥ २९ ॥
सम्यग्दण्डधरो नित्यं राजा धर्ममवाप्नुयात्।
नृपस्य सततं दण्डः सम्यग्धर्मः प्रशस्यते ॥ ३० ॥
वेदवेदाङ्गवित्प्राज्ञः सुतपस्वी नृपो भवेत्।
दानशीलश्च सततं यज्ञशीलश्च भारत ॥ ३१ ॥
एते गुणाः समस्ताः स्युर्नृपस्य सततं स्थिराः।
व्यवहारलोपे नृपतेः कुतः स्वर्गः कुतो यशः ॥ ३२ ॥
यदा तु पीडितो राजा भवेद्राज्ञा बलीयसा।
तदाऽभिसंश्रयेद्दुर्गं बुद्धिमान्पृथिवीपतिः ॥ ३३ ॥
विधायाक्रम्य मित्राणि विधानमुपकल्पयेत्।
सामभेदान्विरोधार्थं विधानमुपकल्पयेत् ॥ ३४ ॥
घोषान्न्यसेत मार्गेषु ग्रामानुत्थापयेदपि।
प्रवेशयेच्च तान्सर्वान् शाखानगरकेष्वपि ॥ ३५ ॥
ये गुप्ताश्चैव दुर्गाश्च देशास्तेषु प्रवेशयेत्।

करे, क्यों कि उनसे ही राज्य प्रतिष्ठित होता है। राजाको उचित है, सुवर्ण आदिकों की खान, लवण उत्पत्तिके स्थान, धान्य आदि विकनेके स्थान, नदी और हाथियोंके विचारके वास्ते निज हितकारी आत्मीय पुरुषको नियुक्त करे, सदा यथा रीतिसे दण्ड धारण करनेवाले राजा धर्मजनित फल प्राप्त करते हैं; क्यों कि समयके अनुसार दण्ड विधान ही राजाओंका परम धर्म कहके वर्णित हुआ है। (२९-४०)

हे भारत! राजाओंको वेद वेदाङ्ग आदि सब विद्याओंकी कोशिशकर पढना और बुद्धिमान्, तपस्यामें रत, सदा दानशील तथा यज्ञशील होना उचित है; क्यों कि व्यवहार लुप्त होनेसे उसे स्वर्गलाभ ही कहां और यश ही कहां है? दूसरे बलवान राजासे पीडित होनेपर बुद्धिमान राजा किलेके भीतर आश्रय ग्रहण करे, और समयके अनुसार मित्रका आवाहन करके उनके सङ्ग साम भेद, वा विग्रह विषयक युक्तिको निर्णय करे। वनके मार्गोंमें अहीरोंको स्थित करे; आवश्यकता होनेपर गावोंको एक स्थानमें उठाके उन लोगोंको उपनगरमें प्रवेश करावे। राज्यमें जो सब गुप्त और कठिनतासे जानने योग्य स्थान हैं, युद्ध उपस्थित होनेपर धनशाली

धनिनो बलमुख्यांश्च सान्त्वयित्वा पुनः पुनः ॥ ३६ ॥
तस्याभिहारं कुर्याच्च स्वयमेव नराधिपः।
असंभवे प्रवेशस्य दहेद्दावाग्निना भृशम् ॥ ३७ ॥
क्षेत्रस्थेषु च सस्येषु शत्रोरुपजपेन्नरान्।
विनाशयेद्वा तत्सर्वं बलेनाथ स्वकेन वा ॥ ३८ ॥
नदीमार्गेषु च तथा संक्रमानवसादयेत्।
जलं विस्रावयेत्सर्वमविस्राव्यं च दूषयेत् ॥ ३९ ॥
तदात्वेनायतीभिश्च निवसेद्भूम्यनन्तरम्।
प्रतीघातं परस्याजौ मित्रकार्येऽप्युपस्थिते ॥ ४० ॥
दुर्गाणां चाभितो राजा मूलच्छेदं प्रकारयेत्।
सर्वेषां क्षुद्रवृक्षाणां चैत्यवृक्षान्विवर्जयेत् ॥ ४१ ॥
प्रवृद्धानां च वृक्षाणां शाखां प्रच्छेदयेत्तथा।
चैत्यानां सर्वथा त्याज्यमपि पत्रस्य पातनम् ॥ ४२ ॥
प्रगण्डीः कारयेत्सम्यगाकाशजननीस्तदा।
आपूरयेच्च परिखां स्थाणुनक्रझषाकुलाम् ॥ ४३ ॥

और बलवान पुरुषोंको मीठे वचन से धीरज दे के उन्हीं स्थानों में भेजे। (३१—३६)

राजा स्वयं उपस्थित होके निज राज्यके शस्रोंको पृथक् करके मार्ग बनावे, और उसमें यदि प्रवेश न कर सके, तो चारों ओरसे आग लगाके वह सब भस्म कर देवे। शत्रुके मित्रोंमें भेद कराके अथवा निज बलसे ही शत्रुके क्षेत्रस्थित शस्रोंको नष्ट करे। नदी पथमें स्थित बांधोंको तोड देवे; दीर्घिकार जल सब बाहर कर देवे और जिस जलको बाहर करनेकी उपाय न होवे, वैसे जलको विषादिकोंसे दूषित कर देवे। विशेष मित्रकार्य उपस्थित होने पर भी उसे परित्याग कर वर्त्तमान और भविष्यकार्योंकी चिन्ता करते हुए रणभूमिमें शत्रुके पराजित करनेमें समर्थ शत्रुओंके साथ मित्रता करके उनकी सेनासे ही शत्रुको निज देशसे दूर करे। (३७-४०)

जिसमें शत्रु लोग आश्रय ले सकें वैसे छोटे छोटे किलोंको तोड देवे चैत्यवृक्षके अरिरिक्त अन्य सब क्षुद्र और बडे वृक्षोंकी जड काट दे; परन्तु चैत्यवृक्षका पत्ता पर्यन्त भी न तोडे, किलेकी दीवार, शूरवीरोंके निवासस्थान सब तैय्यार करे; वायुका निवास, कि

सङ्कटद्वारकाणि स्युरुच्छ्वासार्थं पुरस्य च।
तेषां च द्वारवद्गुप्तिः कार्या सर्वात्मना भवेत् ॥ ४४ ॥
द्वारेषु च गुरूण्येव यन्त्राणि स्थापयेत्सदा।
आरोपयेच्छतघ्नीश्च स्वाधीनानि च कारयेत् ॥ ४५ ॥
काष्ठानि चाभिहार्याणि तथा कूपांश्च खानयेत्।
संशोधयेत्तथा कूपान्कृतपूर्वान्पयोर्थिभिः ॥ ४६ ॥
तृणच्छन्नानि वेश्मानि पङ्केनाथ प्रलेपयेत्।
निर्हरेच्च तृणं मासि चैत्रे वह्निभयात्तथा ॥ ४७ ॥
नक्तमेव च भक्तानि पाचयेत नराधिपः।
न दिवा ज्वालयेदग्निं वर्जयित्वाऽग्निहोत्रिकम् ॥ ४८ ॥
कर्मारारिष्टशालासु ज्वलेदग्निः सुरक्षितः।
गृहाणि च प्रवेश्यान्तर्विधेयः स्याद्धुताशनः ॥ ४९ ॥
महादण्डश्च तस्य स्याद्यस्याग्निर्वै दिवा भवेत्।
प्रघोषयेद्यथैवं च रक्षणार्थं पुरस्य च ॥ ५० ॥

लेसे बाहरी शत्रुओंको देखना और उनके ऊपर अग्नेयास्त्र और गोली चलानेके वास्ते किलेकी दिवारोंमें छोटे छोटे छेदोंको तैय्यार करावे। किलेकी खांई घडियाल और बडी शरीरवाली मछलियोंसे परिपूरित करे। नगरसे बाहर जानेके वास्ते छोटे द्वार बनाके अन्य दरवाजोंकी भांति उसकी भी रक्षाकी उपाय करे। सब दरवाजोंपर बडे यन्त्र और आवश्यकता होनेपर चलाई जा सकें, ऐसी शतघ्नी स्थापित करे। बहुत सा काष्ठ संग्रह कर रखे, जगह जगह कूएं खुदवावे और जो सब कूएं जलकी इच्छावाले दूसरे पुरुषोंने पहिलेसे खोद रखे हैं, उसके जलकी शुद्धी करावे। (४१-४६)

चैत्र महीनेमें तृण आदिसे छाये हुए गृहोंमें गीली मट्टी लेपन करावे और स्थानोंके अरक्षित तृणोंको उठवा लावे! उस समय राजा रात्रिमें ही भक्ष्य आदि वस्तुओंको पाक करावे और अग्निहोत्रके अतिरिक्त दूसरे किसी कार्यमें भी दिनके समय अग्नि न जलने देवे। लुहार और सूतिका गृहको भली भांति रक्षित करके अग्नि प्रज्वलित करावे और उस अग्निको गृहके भीतर प्रविष्ट करके उत्तम प्रकारसे छिपा रखे। पुरीकी रक्षा करनेके वास्ते जो दिनमें अग्नि जलावेगा, उसे प्राण दण्ड होगा" ऐसा ही ढिंढोरा दिला देवे। (४७-५०)

भिक्षुकांश्चाक्रिकांश्चैव क्लीबोन्मत्तान्कुशीलवान्।
बाह्यान्कुर्यान्नरश्रेष्ठ दोषाय स्युर्हि तेऽन्यथा ॥ ५१ ॥
चत्वरेष्वथ तीर्थेषु सभास्वावसथेषु च।
यथार्थवर्णं प्रणिधिं कुर्यात्सर्वस्य पार्थिवः ॥ ५२ ॥
विशालान् राजमार्गांश्च कारयीत नराधिपः।
प्रपाश्च विपणांश्चैव यथोद्देशं समाविशेत् ॥ ५३ ॥
भाण्डागारायुधागारान्योधागारांश्च सर्वशः।
अश्वागारान्गजागारान्बलाधिकरणानि च ॥ ५४ ॥
परिखाश्चैव कौरव्य प्रतोलीर्निष्कुटानि च।
न जात्वन्यः प्रपश्येत गुह्यमेतद्युधिष्ठिर ॥ ५५ ॥
अर्थसंनिचयं कुर्याद्राजा परबलार्दितः।
तैलं वसा मधु घृतमौषधानि च सर्वशः ॥ ५६ ॥
अङ्गारकुशमुञ्जानां पलाशशरवर्णिनाम्।
यवसेन्धनदिग्धानां कारयीत च सञ्चयान् ॥ ५७ ॥
आयुधानां च सर्वेषां शक्त्यृष्टिप्रासवर्मणाम्।
संचयानेवमादीनां कारयीत नराधिपः ॥ ५८ ॥

हे नरश्रेष्ठ! उस ही समय भिक्षुक, चक्रवाले, क्लीब, उन्मत्त और कुशील पुरुषोंको राज्यसे बाहर करे; क्यों कि उस समय उन लोगोंके राज्यमें रहनेसे अनेक दोष उपस्थित होता है। चौराहे, मन्त्रादि अठारह भांतिके तीर्थ सभा और साधारण पुरुषोंके गृहोंके निमित्त उचित रीतिसे प्रहरी नियुक्त करे। राजाको उचित है, बहुत बडा राजमार्ग तैय्यार करावे, और जलका स्थान तथा बेचने खरीदनेकी जगह निर्दिष्ट कर दे। हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर! भण्डार, शस्त्रागार, योधागार, घुडशाल, गज-शाला, सेनाका निवास स्थान, परिघा, भीतरी मार्ग और अन्तःपुरके बगीचे सब इस प्रकार गोपनीय स्थानमें तैय्यार करावे, कि दूसरा कोई किसी प्रकार भी देख न सके। पराये बलसे पीडित राजा तेल, चर्बी, मधु, घृत, अनेक भांतिकी औषधी और धन आदि सञ्चय करे। (५१–५६)

अङ्गार, कुश, मूज, पत्र, शर, लेशक, घास, काठ और विषमें बुझे हुए बाण, शक्ति, ऋष्टि, प्रास आदि अस्त्रों और वर्म आदि आवश्यकीय वस्तुओंको संग्रह कर रखे। सब भांतिकी औषधी,

औषधानि च सर्वाणि मूलानि च फलानि च।
चतुर्विधांश्च वैद्यान्वै संगृह्णीयाद्विशेषतः ॥ ५९ ॥
नटांश्च नर्तकांश्चैव मल्लान्मायाविनस्तथा।
शोभयेयुः पुरवरं मोदयेयुश्च सर्वशः ॥ ६० ॥
यतः शङ्का भवेच्चापि भृत्यतोऽथापि मन्त्रितः।
पौरेभ्यो नृपतेर्वापि स्वाधीनान्कारयीत तान् ॥ ६१ ॥
कृते कर्मणि राजेन्द्र पूजयेद्धनसंचयैः।
दानेन च यथार्हेण सांत्वेन विविधेन च ॥ ६२ ॥
निर्वेदयित्वा तु परं हत्वा वा कुरुनन्दन।
ततोऽनृणो भवेद्राजा यथा शास्त्रे निदर्शितम् ॥ ६३ ॥
राज्ञा सप्तैव रक्ष्याणि तानि चैव निबोध मे।
आत्माऽमात्याश्च कोशाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥६४॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन।
एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपाल्यं प्रयत्नतः ॥ ६५ ॥
षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथिवीमिमाम् ॥ ६६ ॥
षाड्गुण्यमिति यत्प्रोक्तं तन्निबोध युधिष्ठिर।

मूल, फल और विष, शल्य, रोग और कृत्या इन चार भांतिके उत्पातोंको शान्त करनेवाले, चार भांतिके वैद्योंका संग्रह करे। नट, नाचनेवाले, मल्ल और मायावियोंसे राजनगरीको शोभित और दूसरे सब पुरुषोंको आनन्दित कर रखे। सेवक,मन्त्री और पुरवासियोंमेंसे जिससे शङ्का हो, उसे अपने वशमें कर रखे। हे राजेन्द्र! यदि राजा क्रोधके वशमें होकर अकारण ही दूसरेकी अवमानना वा ताडना करे, तो शास्त्रमें कहे हुए यथा उचित बहुतसा धन-दान और अनेक भांतिके शान्त वचनसे उसका सम्मान करनेसे उससे अऋणी होगा। जो सात विषय राजाको अवश्य रक्षा करनेके योग्य हैं, उसे सुनो; हे कुरुनन्दन! राजाको उचित है, कि आत्मा, सेवक, कोष, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर इस सप्तात्मक राज्य सब भांति यत्नपूर्वक प्रतिपालन करे। (५७-६५)

हे पुरुषसिंह! जिन राजाओंने षाड्गुण्य त्रिवर्ग और परम त्रिवर्ग मालूम किये हैं, वेही इस पृथ्वीको भोग करनेमें समर्थ होते हैं। हे युधिष्ठिर! मैंने

सन्धानासनमित्येव यात्रासन्धानमेव च ॥ ६७ ॥
विगृह्यासनमित्येव यात्रां संपरिगृह्य च ।
द्वैधीभावस्तथाऽन्येषां संश्रयोऽथ परस्य च ॥ ६८ ॥
त्रिवर्गश्चापि यः प्रोक्तस्तमिहैकमनाः शृणु ।
क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गः परमस्तथा ॥ ६९ ॥
धर्मश्चार्थश्च कामश्च सेवितव्योऽथ कालतः ।
धर्मेण च महीपालश्चिरमपालयते महीम् ॥ ७० ॥
अस्मिन्नर्थे च श्लोकौ द्वौ गीतावङ्गिरसा स्वयम् ।
यादवीपुत्र भद्रं ते तावपि श्रोतुमर्हसि ॥ ७१ ॥
कृत्वा सर्वाणि कार्याणि सम्यक्सम्पाल्य मेदिनीम् ।
पालयित्वा तथा पौरान्परत्र सुखमेधते ॥ ७२ ॥
किं तस्य तपसा राज्ञः किञ्च तस्याध्वरैरपि ।
सुपालितप्रजो यः स्यात्सर्वधर्मविदेव सः ॥ ७३ ॥
युधिष्ठिर उवाच— दण्डनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि ।

जो षाडगुण्यकी कथा कही, उसे सुनो, शत्रुके साथ सन्धि करके निःशङ्क चित्तसे निवास; शत्रुके ऊपर चढाई, शत्रुको भय दिखानेके वास्ते यात्राका छल दिखाके निवास करना, द्वैधी भाव और अन्य किला तथा दूसरे प्रबल राजा का आसरा ग्रहण करना, येही छः राजाके षाडगुण्य कहाते हैं । त्रिवर्गकी कथा जो मैंने कही हैं, उसे भी एकाग्रचित्तसे सुनो । (६६-६७)

क्षय, स्थान और वृद्धि येही त्रिवर्ग है, धर्म, अर्थ और काम ये परम त्रिवर्ग हैं; समयके अनुसार इनका आचरण करना उचित है । इसी भांति राजा धर्मपूर्वक सदा पृथ्वी पालन किया करते हैं । हे यादवीनन्दन ! तुम्हारा मङ्गल हो, इस ही अर्थमें वृहस्पतिने जो दो श्लोक कहे थे, उन दोनोंको तुम्हें सुनना उचित है । "पृथ्वी और पुरवासियोंको यथारीतिसे पालन और दूसरे सब भांतिके कार्य करके राजा लोग परकालमें सुख प्राप्त करते हैं । जो प्रजापुञ्जको यथार्थ रीतिसे पालन करते हैं, वैसे राजाको तपस्यासे क्या फल है ? और उन्हें यज्ञकी ही क्या आवश्यकता है ? क्यों कि वे स्वयं सब धर्मोंके जाननेवाले हैं । (६८—७३)

युधिष्ठिर बोले, पितामह ! दण्डनीति और समस्त राजा तथा सब ही इस उभय प्रकारसे व्यस्त हुआ करते हैं,

कस्य किं कुर्वतः सिध्येत्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ७४ ॥

भीष्म उवाच— महाभाग्यं दण्डनीत्याः सिद्धैः शब्दैः सहेतुकैः ।
शृणु मे शंसतो राजन् यथावदिह भारत ॥ ७५ ॥
दण्डनीतिः स्वधर्मेभ्यश्चातुर्वर्ण्यं नियच्छति ।
प्रयुक्ता स्वामिना सम्यगधर्मेभ्यो नियच्छति ॥ ७६ ॥
चातुर्वर्ण्ये स्वकर्मस्थे मर्यादानामसङ्करे ।
दण्डनीतिकृते क्षेमे प्रजानामकुतोभये ॥ ७७ ॥
साम्ये प्रयत्नं कुर्वन्ति त्रयो वर्णा यथाविधि ।
तस्मादेव मनुष्याणां सुखं विद्धि समाहितम् ॥ ७८ ॥
कालो वा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद्राजा कालस्य कारणम् ॥ ७९ ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा सम्यक्कार्त्स्न्येन वर्तते ।
तदा कृतयुगं नाम कालसृष्टं प्रवर्तते ॥ ८० ॥
ततः कृतयुगे धर्मो नाधर्मो विद्यते क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां नाधर्मे रमते मनः ॥ ८१ ॥

तिसमेंसे किसे किस भांतिके कार्योंसे कैसी सिद्धि प्राप्त होती है, आप यह सब मेरे समीप वर्णन कीजिये । (७४)

भीष्म बोले, हे भरत नन्दन महाराज ! दण्डनीतिसे जो राजा और प्रजाका महासौभाग्य होता है; मैं युक्तियुक्त सिद्ध वाक्यसे वह सब वर्णन करता हूं, सुनो । राजाके यथा उचितसे चलानेपर दण्डनीति चारों वर्णकी प्रजाको अधर्मसे निवृत करके स्वधर्ममें स्थापित करती है ! चारों वर्णकी प्रजा स्वधर्ममें रत, सब मर्यादासे युक्त और दण्डनीति कृत मङ्गलके जरिये निर्भय होकर ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंके वास्ते सामर्थ्यके अनुसार कर्तव्यवान होती है, और उससे ही मनुष्योंको परम सुख प्राप्त होता है। हे युधिष्ठिर ! काल ही राजाका कारण है, अथवा राजा ही कालका कारण है, तुम्हें जिसमें ऐसी शङ्का न उपस्थित होवे और इसे ही निश्चय जान रखो, कि राजा ही महा कालका कारण है । (७५—७९)

जब राजा पूरी रीतिसे दण्डनीति प्रयोग करता है,तभी कालक्रमसे सत्ययुग प्रवर्त्तित हुआ करता है, तिसके अनन्तर उस कृत युगमें केवल मात्र धर्म ही विराजमान रहता है; अधर्म इकबारगी लुप्त होजाता और प्रजा पुञ्ज-

योगक्षेमाः प्रवर्तन्ते प्रजानां नात्र संशयः।
वैदिकानि च सर्वाणि भवन्त्यपि गुणान्युत ॥ ८२ ॥
ऋतवश्च सुखाः सर्वे भवन्त्युत निरामयाः।
प्रसीदन्ति नराणां च स्वरवर्णमनांसि च ॥ ८३ ॥
व्याधयो न भवन्त्यत्र नाल्पायुर्दृश्यते नरः।
विधवा न भवन्त्यत्र कृपणो न तु जायते ॥ ८४ ॥
अकृष्टपच्या पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा।
त्वक्पत्रफलमूलानि वीर्यवन्ति भवन्ति च ॥ ८५ ॥
नाधर्मो विद्यते तत्र धर्म एव तु केवलम्।
इति कार्तयुगानेतान्धर्मान्विद्धि युधिष्ठिर ॥ ८६ ॥
दण्डनीत्यां यदा राजा त्रीनंशाननुवर्तते।
चतुर्थमंशमुत्सृज्य तदा त्रेता प्रवर्तते ॥ ८७ ॥
अशुभस्य चतुर्थांशस्त्रीनंशाननुवर्तते।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवन्त्योषधयस्तथा ॥ ८८ ॥
अर्धं त्यक्त्वा यदा राजा नीत्यर्धमनुवर्तते।
ततस्तु द्वापरं नाम स कालः सम्प्रवर्तते ॥ ८९ ॥

का मन उसमें रत नहीं होता। प्रजा संशयरहित होकर योगका आचरण करती है और उन लोगोंमें सब वैदिक गुण उत्पन्न होते हैं। सब ऋतु आपद रहित और सुखदायक होती हैं, मनुष्योंका स्वर, वर्ण और मन प्रसन्न रहता है, कोई रोगसे पीडित नहीं होता और किसीकी अल्पायु नहीं दीख पडती। युधिष्ठिर ! इस सतयुगमें कोई स्त्री विधवा तथा कोई कृपण नहीं होते; विना जोते ही पृथ्वीमें औषध और सब भांतिके अन्न उत्पन्न होते रहते हैं; छाल, पत्ते, फल और मूल दृढ होते हैं। उस कृत-युगमें अधर्म लुप्त होजाता है और केवल मात्र धर्म ही विराजमान रहता है, हे युधिष्ठिर ! येही सब सत-युगके धर्म समझ रखो। (८०-८६)

जब राजा पूर्ण रीतिसे प्रवृत्त न होकर दण्डनीतिके चौथे अंशको परित्याग करके उसके तीन भागके ही अनुयायी होता है, तब ही त्रेतायुग प्रवर्त्तित होता है। उस त्रेतायुगमें तीन हिस्से धर्म और एक भाग अधर्म प्रचलित होता है; जोतनेसे पृथ्वीमें अन्न और औषध उत्पन्न होती हैं। (८७-८८)

जब राजा दण्डनीतिका आधा भाग

अशुभस्य यदा त्वर्षं द्वावंशावनुवर्तते ।
कृष्टपच्यैव पृथिवी भवत्यर्धफला तथा ॥ ९० ॥
दण्डनीतिं परित्यज्य यदा कार्त्स्न्येन भूमिपः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन प्रवर्तेत तदा कलिः ॥ ९१ ॥
कलावधर्मो भूयिष्ठं धर्मो भवति न क्वचित् ।
सर्वेषामेव वर्णानां स्वधर्माच्च्यवते मनः ॥ ९२ ॥
शूद्रा भैक्षेण जीवन्ति ब्राह्मणाः परिचर्यया ।
योगक्षेमस्य नाशश्च वर्तते वर्णसङ्करः ॥ ९३ ॥
वैदिकानि च कर्माणि भवन्ति विगुणान्युत ।
ऋतवो न सुखाः सर्वे भवन्त्यामयिनस्तथा ॥ ९४ ॥
ह्रसन्ति च मनुष्याणां स्वरवर्णमनांस्युत ।
व्याधयश्च भवन्त्यत्र म्रियन्ते च गतायुषः ॥ ९५ ॥
विधवाश्च भवन्त्यत्र नृशंसा जायते प्रजा ।
क्वचिद्वर्षति पर्जन्यः क्वचित्सस्यं प्ररोहति ॥ ९६ ॥

परित्यागके आधे भागके ही अनुवर्त्ती होके कार्य करता है, तब द्वापार नाम युग उत्पन्न होता है। उस समय लोग दो हिस्से अधर्म और दो भाग धर्मके अनुयायी होते हैं; पृथ्वी जोतनेपर भी आधा ही फल देती है। (८९-९०)

जब राजा दण्डनीतिको त्यागके केवल मात्र असत् उपायसे ही प्रजा समूहको पीडित किया करता है, तभी कलियुग प्रवार्त्तित होता है, कलियुगमें कहीं भी धर्म नहीं दीख पडता, सब ही अधर्मसे परिपूरित और सब वर्ण ही निज कर्मोंसे विचलित हुआ करते हैं, शूद्र लोग भिक्षा वृत्ति और ब्राह्मण लोग दूसरेकी सेवासे जीविका निर्वाह करते हैं; योग क्षेम पुरुष नष्ट होते और वर्ण सङ्करोंकी बढती होती है। वैदिक कर्मोंके अनुष्ठान करनेसे उसमें कुछ फल न होकर उलटा विगुण ही हुआ करता है,कोई ऋतु भी सुखदायक नहीं होती, बल्कि सब ऋतुओंमें ही प्रजा रोगोंसे पीडित होती है। (९१-९४)

मनुष्योंके स्वर, वर्ण और मनका ह्रास होता है, और वे लोग रोग-पीडित तथा अल्पायु होकर अकालमें ही मृत्युको प्राप्त होते हैं। हे युधिष्ठिर! कलियुगमें स्त्रियें विधवा और प्रजा नृशंस हुआ करती हैं; बादल सब स्थानोंमें जलकी वर्षा नहीं करते; अन्न आदिक भी कभी कभी उत्पन्न होते

रसाः सर्वे क्षयं यान्ति यदा नेच्छति भूमिपः।
प्रजाः संरक्षितुं सम्यग्दण्डनीतिसमाहितः ॥ ९७ ॥
राजा कृतयुगस्रष्टा त्रेताया द्वापरस्य च।
युगस्य च चतुर्थस्य राजा भवति कारणम् ॥ ९८ ॥
कृतस्य करणाद्राजा स्वर्गमत्यन्तमश्नुते।
त्रेतायाः करणाद्राजा स्वर्गं नात्यन्तमश्नुते ॥ ९९ ॥
प्रवर्तनाद्द्वापरस्य यथाभागमुपाश्नुते।
कलेः प्रवर्तनाद्राजा पापमत्यन्तमश्नुते ॥ १०० ॥
ततो वसति दुष्कर्मा नरके शाश्वतीः समाः।
प्रजानां कल्मषे मग्नोऽकीर्तिं पापं च विन्दति॥ १०१ ॥
दण्डनीतिं पुरस्कृत्य विजानन्क्षत्रियः सदा।
अनवाप्तं च लिप्सेत लब्धं च परिपालयेत् ॥ १०२ ॥
लोकस्य सीमन्तकरी मर्यादा लोकभाविनी।
सम्यङ्नीता दण्डनीतिर्यथा माता यथा पिता॥१०३॥
यस्यां भवन्ति भूतानि तद्विद्धि मनुजर्षभ।
एष एव परो धर्मो यद्राजा दण्डनीतिमान् ॥ १०४ ॥

हैं। जब राजा दण्डनीतिमें स्थित न होकर प्रजाके रक्षाकी इच्छा नहीं करता, उस समय सब रसोंका भी नाश हो जाता है। राजा ही सतयुग, त्रेता, द्वापर और चौथे कलियुग,—इन चारों युगोंके परिवर्त्तनका कारण है। राजा सतयुगके आचरित हुए सब कार्योंसे अनन्त, त्रेतायुगके आचरणसे कुछ न्यून और द्वापर युगके आचरित धर्म और अधर्मकी संख्याके अनुसार अधिक वा अल्प स्वर्ग-सुख लाभ करता है। परन्तु कलियुगके आचरित कार्योंसे केवल पापयुक्त कष्ट ही भोग किया करता है। तिसके अनन्तर प्रजा समूहके आचरित पापपङ्कमें डूबके वह पापी नीचकर्म करनेवाला राजा अनेक वर्ष पर्यन्त नरकमें वास करता है। (९५-१०१)

युधिष्ठिर! क्षत्रिय निखिल दण्डनीतिमें तत्पर तथा उसे ही सम्मुखवर्त्तिनी करके सदा अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्तिके वास्ते यत्न और प्राप्त हुई वस्तुकी रक्षाका उपाय करे। लोगोंको यथा उचित व्यवस्थापित करनेवाली मर्यादा और लोकभाविनी यह दण्डनीति पूर्व रीतिसे चलाई जाने पर इस प्रकार सब लोगोंकी रक्षा करती है, जैसे माता पिता बालक

तस्मात्कौरव्य धर्मेण प्रजाः पालय नीतिमान् ।
एवं वृत्तः प्रजा रक्षन्स्वर्गं जेताऽसि दुर्जयम् ॥१०५॥[२६७७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥६९॥

युधिष्ठिर उवाच– केन वृत्तेन वृत्तज्ञ वर्तमानो महीपतिः ।
सुखेनार्थान्सुखोदर्कानिह च प्रेत्य चाप्नुयात् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अयं गुणानां षट्त्रिंशत् षट्त्रिंशद्गुणसंयुतः ।
यान्गुणांस्तु गुणोपेतः कुर्वन्गुणमवाप्नुयात् ॥ २ ॥
चरेद्धर्मानकटुको मुञ्चेत्स्नेहं न चास्तिकः ।
अनृशंसश्चरेदर्थं चरेत्काममनुद्धतः ॥ ३ ॥
प्रियं ब्रूयादकृपणः शूरः स्यादविकत्थनः ।
दाता नापात्रवर्षी स्यात्प्रगल्भः स्यादनिष्ठुरः ॥ ४ ॥
संदधीत न चानार्यैर्विगृह्णीयान्न बन्धुभिः ।

की रक्षा करते हैं । हे नरनाथ ! राजा का दण्डनीति विशारद होना ही राजाका परम धर्म है; क्यों कि यह निश्चय जान रखो, कि दण्डनीतिसे ही सब लोग भली भांति स्थापित हुए हैं। हे कुरुनन्दन ! मैं इस ही कारण कहता हूं,कि तुम नीति निपुण होके धर्मपूर्वक प्रजापालन करो; क्यों कि इसी भांति प्रजाकी रक्षा करनेसे दुर्जय स्वर्गको भी जीतनेमें समर्थ होंगे । (१०२-१०५)

शान्तिपर्वमें उनत्तर अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्व में सत्तर अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे वृत्तज्ञ ! राजा कैसे कार्योंसे इस लोक और मृत्युके अनन्तर परलोकमें भविष्यत सुखदायक सब अर्थोंको अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं ? (१)

भीष्म बोले, गुणवान मनुष्य जो सब धर्मका आचरण करके कल्याण प्राप्त किया करते हैं; अकटुक आदि छत्तीस गुणोंसे युक्त वह धर्म छत्तीस प्रकारका है । राग द्वेषसे रहित होके धर्म कार्योंका आचरण, लोभके वशमें न होकर परलोककी ओर दृष्टि रखके स्नेह प्रकाशित करना; किसी भांतिका निठुर आचरण करके धन उपार्जन न करना, और जिसमें धर्म तथा अर्थ नष्ट न होवे, उस ही भांति यथा उचित इन्द्रियोंकी प्रीतिको साधन करना उचित है । दीनता रहित होके प्रिय वचन कहे, शूर होके भी अपनी बडाई न करे, प्रगल्भ होकर भी दयावान होवे

नाभक्तं चारयेच्चारं कुर्यात्कार्यमपीडया ॥ ५ ॥
अर्थं ब्रूयान्न चासत्सु गुणान् ब्रूयान्न चात्मनः।
आदद्यान्न च साधुभ्यो नासत्पुरुषमाश्रयेत् ॥ ६ ॥
नापरीक्ष्य नयेद्दण्डं न च मन्त्रं प्रकाशयेत्।
विसृजेन्न च लुब्धेभ्यो विश्वसेन्नापकारिषु ॥ ७ ॥
अनीर्षुर्गुप्तदारः स्याच्चोक्षः स्यादघृणी नृपः।
स्त्रियः सेवेत नात्यर्थं मृष्टं भुञ्जीत नाहितम् ॥ ८ ॥
अस्तब्धः पूजयन्मान्यान्गुरून्सेवेदमायया।
अर्चेद्देवानदम्भेन श्रियमिच्छेदकुत्सिताम् ॥ ९ ॥
सेवेत प्रणयं हित्वा दक्षः स्यान्न त्वकालवित्।
सान्त्वयेन्न च मोक्षाय अनुगृह्णन्न चाक्षिपेत् ॥ १० ॥
प्रहरेन्न त्वविज्ञाय हत्वा शत्रून्न शोचयेत्।
क्रोधं कुर्यान्न चाकस्मान्मृदुः स्यान्नापकारिषु ॥ ११ ॥
एवं चरस्व राज्यस्थो यदि श्रेय इहेच्छसि।

और दाता होके भी अपात्रको दान न देवे। अनार्योंके साथ सन्धि, बन्धुजनोंके सङ्ग विग्रह, असक्त पुरुषको दूत कार्योंमें नियत और दूसरेको पीडित न करके कार्य करना उचित है। (२-५)

झूठेके निकट प्रयोजन कहना, अपने मुखसे निज गुण वर्णन करना, साधुओंके निकटसे धन हरण करना कर्त्तव्य नहीं है। विना परीक्षा किये ही महा दण्ड प्रयोग, दूसरेके निकट विचार प्रकाश, लोभियोंको धन दान- और अपकारियोंका विश्वास करना उचित नहीं है। राजा सदा ईर्षारहित, गुप्तदार; शुद्ध और घृणा रहित होवे; जिससे हानि हो, वैसे अन्नको त्याग के शुद्ध अन्न भोजन करे और स्त्रियोंमें अत्यन्त आसक्त न होवे। शान्तभावसे माननीय पुरुषोंका आदर, माया रहित होकर गुरुजनोंकी सेवा, दम्भ रहित होकर देवताओंकी पूजा करे और जिस धनको लेना निषेध नहीं है उसे ही ग्रहण करे। (६-९)

प्रणय परित्याग करके सेवा करे और दक्ष होकर समयकी प्रतीक्षा करे। धन देके सन्धि करना और आश्रयदान करके परित्याग करना उचित नहीं है। विशेष रीतिसे विना मालूम किये प्रहार, शत्रुको नाश करके शोक, अकस्मात् क्रोध और अपकारियोंके निकट कोम-

अतोऽन्यथा नरपतिर्भयमृच्छत्यनुत्तमम् ॥ १२ ॥
इति सर्वान्गुणानेतान् यथोक्तान्योऽनुवर्तते ।
अनुभूयेह भद्राणि प्रेत्य स्वर्गे महीयते ॥ १३ ॥ [२६९१]
वैशम्पायन उवाच-इदं वचः शान्तनवस्य शुश्रुवान्युधिष्ठिरः पाण्डवमुख्यसंवृतः
तदा ववन्दे च पितामहं नृपो यथोक्तमेतच्च चकार बुद्धिमान् ॥ १४ ॥
इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥
युधिष्ठिर उवाच—कथं राजा प्रजा रक्षन्नाधिबन्धेन युज्यते ।
धर्मे च नापराध्नोति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— समासेनैव ते राजन्धर्मान्वक्ष्यामि शाश्वतान् ।
विस्तरेणैव धर्माणां न जात्वन्तमवाप्नुयात् ॥ २ ॥
धर्मनिष्ठान् श्रुतवतो देवव्रत समाहितान् ।
अर्चयित्वा यजेथास्त्वं गृहे गुणवतो द्विजान् ॥ ३ ॥
प्रत्युत्थायोपसंगृह्य चरणावभिवाद्य च ।

लता प्रकाश करनी उचित नहीं है । हे युधिष्ठिर ! यदि तुम कल्याण प्राप्तिकी इच्छा करते हो, तो राज्य करते हुए ऐसा ही आचरण करना; क्योंकि इसके विपरीत आचरणसे राजाओंका मङ्गल नहीं हो सकता । जो यथार्थ रीतिसे इन सब गुणोंके अनुसार कार्य करते हैं, उनका इस लोक और मृत्युके अनन्तर परलोकमें भी मङ्गल होता है।(१०-१३)

श्रीवैशम्पायन मुनि बोले, पाण्डुपुत्र भीमादिकोंसे रक्षित बुद्धिमान महाराज युधिष्ठिर शान्तनु-नन्दन भीष्मके ऐसे वचन सुनके उस समय उन पितामहकी वन्दना करके उसही भांति आचरण करने लगे । (१४) [२६९१]

शान्तिपर्वमें सत्तर अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें इकत्तर अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! मनुष्य किस प्रकार प्रजापालन करने पर आधि-रूपी बन्धनमें नहीं फंसते और व्यवहार निर्णय आदि कार्योंमें भी अन्यथा नहीं होता; आप यह सब मेरे समीप वर्णन करिये । (१)

भीष्म बोले, हे राजन् ! मैं वह सम्पूर्ण नित्य धर्म संक्षेप रूपसे तुम्हारे निकट वर्णन करूंगा, क्यों कि वह समस्त धर्म विस्तारके सहित वर्णित होने पर कदापि शेष न होगा,तुम धर्ममें निष्ठावान, वेदज्ञ, देवपूजामें रत, व्रत करनेवाले होकर गृह में आये हुये गुण-वान ब्राह्मणोंकी सदा पूजा किया करो । ब्राह्मणोंके उपस्थित होने पर पहिले

अथ सर्वाणि कुर्वीथाः कार्याणि सपुरोहितः ॥ ४ ॥
धर्मकार्याणि निर्वर्त्य मङ्गलानि प्रयुज्य च।
ब्राह्मणान्वाचयेथास्त्वमर्थसिद्धिजयाशिषः ॥ ५ ॥
आर्जवेन च संपन्नो धृत्या बुद्ध्या च भारत।
यथार्थं प्रतिगृह्णीयात्कामक्रोधौ च वर्जयेत् ॥ ६ ॥
कामक्रोधौ पुरस्कृत्य योऽर्थं राजाऽनुतिष्ठति।
न स धर्मं न चाप्यर्थं प्रतिगृह्णाति बालिशः ॥ ७ ॥
मास्म लुब्धांश्च मूर्खांश्च कामार्थे च प्रयूयुजः।
अलुब्धान्बुद्धिसम्पन्नान्सर्वकर्मसु योजयेत् ॥ ८ ॥
मूर्खो ह्यधिकृतोऽर्थेषु कार्याणामविशारदः।
प्रजाः क्लिश्नात्ययोगेन कामक्रोधसमन्वितः ॥ ९ ॥
बलिषष्ठेन शुल्केन दण्डेनाथापराधिनाम्।
शास्त्रानीतेन लिप्सेथा वेतनेन धनागमम् ॥ १० ॥
दापयित्वा करं धर्म्यं राष्ट्रं नीत्या यथाविधि।
तथैतं कल्पयेद्राजा योगक्षेममतन्द्रितः ॥ ११ ॥

उठके सम्मान दिखाकर उनके दोनों चरणोंकी वन्दना करे; तिसके अनन्तर पुरोहितके साथ दूसरे सब कार्योंको करे। इसी भांति धर्म कार्योंको अन्य मङ्गल जनक कार्योंमें नियुक्त करके उन ब्राह्मणोंसे अर्थ सिद्धि-सूचक जय आशीर्वाद पाठ करावे। हे भारत! राजा काम क्रोध त्यागके सदा निजबुद्धिसे धीर और सरल भाव अवलम्बन करके यथार्थ प्राप्त वस्तुओंको ग्रहण करे। जो मूढ राजा काम क्रोधके वशमें होकर धन संग्रह करते हैं, वे धन वा धर्म कुछ भी नहीं प्राप्त कर सकते। लोभी और मूर्खोंको लोभ युक्त धन सम्बन्धीय कार्योंमें नियुक्त न करके लोभरहित बुद्धिमान पुरुषोंको वैसे कार्योंमें नियत करना उचित है; क्योंकि कार्याकार्य विवेकसे रहित मूर्ख पुरुष धनाधिकारी होनेपर काम क्रोधके वशमें होकर प्रजा समूहको पीडित किया करता है। राजाको उचित है, कि गिनतीमें अधिक न हो, उस ही भांति उत्पन्न वस्तुओंमेंसे छठवां भाग बलि, शास्त्रके अनुसार अपराधियोंको दण्ड और मार्गमें बनियोंकी रक्षा करके जो वेतन प्राप्त होवे, उसीसे धन सञ्चय करे। (२-१०)

राजा इसी भांति धान्य आदि वस्तुओंमें छटवां भाग कर ग्रहण करके

गोपायितारं दातारं धर्मनित्यमतन्द्रितम् ।
अकामद्वेषसंयुक्तमनुरज्यन्ति मानवाः ॥ १२ ॥
मास्म लोभेनाधर्मेण लिप्सेथास्त्वं धनागमम् ।
धर्मार्थावध्रुवौ तस्य यो न शास्त्रपरो भवेत् ॥ १३ ॥
अर्थशास्त्रपरो राजा धर्मार्थान्नाधिगच्छति ।
अस्थाने चास्य तद्वित्तं सर्वमेव विनश्यति ॥ १४ ॥
अर्थमूलोऽपि हिंसां च कुरुते स्वयमात्मनः ।
करैरशास्त्रदृष्टैर्हि मोहात्संपीडयन्प्रजाः ॥ १५ ॥
ऊधश्छिंद्याात्तु यो धेन्वाः क्षीरार्थी न लभेत्पयः ।
एवं राष्ट्रमयोगेन पीडितं न विवर्धते ॥ १६ ॥
यो हि दोग्ध्रीमुपास्ते च स नित्यं विन्दते पयः ।
एवं राष्ट्रमुपायेन भुञ्जानो लभते फलम् ॥ १७ ॥
अथ राष्ट्रमुपायेन भुज्यमानं सुरक्षितम् ।
जनयत्यतुलां नित्यं कोशवृद्धिं युधिष्ठिर ॥ १८ ॥
दोग्ध्री धान्यं हिरण्यं च मही राज्ञा सुरक्षिता ।

राज्यकी रक्षा करे, परन्तु यदि उन लोगोंके वार्षिक आहारके योग्य अन्न आदि न बचे, तो उन लोगोंके आहारके निमित्त उचित उपाय कर देवे । राजा यदि रक्षा करनेवाला, दाता, सदा धर्म में रत, आलस रहित और काम क्रोधसे हीन हो, तो मनुष्य लोग उसमें अनुरक्त होते हैं । हे युधिष्ठिर ! तुम कभी भी लोभके वशमें होकर अधर्म आचरणसे धन उपार्जन न करना; क्यों कि जो शास्त्रके अनुकूल कार्योंको नहीं करते; उनका धर्म अर्थ सब मिथ्या होजाता है । राजा केवल अर्थ शास्त्रके वशमें होनेसे कभी धर्म और अर्थ प्राप्त नहीं कर सकते, वरन उनका वह अर्थ कुस्थानमें विनष्ट होता है । (११-१४)

राजा जो मोहके वशमें होकर अशास्त्रीय कर ग्रहण करके प्रजापुञ्जको पीडित करते हुए स्वयं ही अपना नाश करता है; धन ही उसका मूल है । जैसे दूध चाहनेवाला पुरुष गऊका स्तन काटनेसे दूध नहीं प्राप्त कर सकता, वैसे ही असत् उपाय अवलम्बन करके राज्यको पीडित करनेसे उसकी कदापि बढती नहीं होती । जैसे जो पुरुष सदा दूध देनेवाली गऊकी सेवा करता है, वही दूध पाता है, वैसे ही राजा भी उपाय आदिकोंसे राज्य पालन करनेसे ही सुख

नित्यं स्वेभ्यः परेभ्यश्च तृप्ता माता यथा पयः॥ १९ ॥
मालाकारोपमो राजन्भव माऽऽङ्गारिकोपमः ।
तथायुक्तश्चिरं राज्यं भोक्तुं शक्ष्यसि पालयन् ॥ २० ॥
परचक्राभियानेन यदि ते स्याद्धनक्षयः ।
अथ साम्नैव लिप्सेथा धनमब्राह्मणेषु यत् ॥ २१ ॥
मा स्म ते ब्राह्मणं दृष्ट्वा धनस्थं प्रचलेन्मनः ।
अन्त्यायामप्यवस्थायां किमु स्फीतस्य भारत ॥ २२ ॥
धनानि तेभ्यो दद्यास्त्वं यथाशक्ति यथार्हतः ।
सान्त्वयन्परिरक्षंश्च स्वर्गमाप्स्यसि दुर्जयम् ॥ २३ ॥
एवं धर्मेण वृत्तेन प्रजास्त्वं परिपालय ।
स्वं तं पुण्यं यशो नित्यं प्राप्स्यसे कुरुनन्दन ॥ २४ ॥
धर्मेण व्यवहारेण प्रजाः पालय पाण्डव ।
युधिष्ठिर यथायुक्तो नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ २५ ॥

लाभ कर सकता है। और इससे धन सञ्चय भी बढ जाता है जैसे माता बालकको स्तन दान करके दूध पिलाती है, वैसे ही पृथ्वी राजासे भली भांति रहित होनेपर दूध देनेवालीकी भांति अन्न तथा सुवर्ण आदि वस्तु प्रदान किया करती है, महाराज! तुम वृक्षकी जड काटनेवालेकी भांति न होकर पुष्प सञ्चय करनेवाले मालीकी वृत्ति अवलम्बन करके राज्यकी रक्षा करना, ऐसा होनेसे वहुत दिनोंतक पृथ्वीको भोगनेमें समर्थ होगे। (१५-२०)

पर चक्रसे यद्यपि तुम्हारा धन क्षय हो, तो सामरूप उपाय अवलम्बन करके अब्राह्मणोंका धन ग्रहण करना। हे युधिष्ठिर! उन्नत अवस्थाकी तो कुछ बात ही नहीं है, अवनतिकी दशा उपस्थित होनेपर भी जिसमें ब्राह्मणको धनवान देखके तुम्हारा मन विचलित न होवे; तुम सदा उन ब्राह्मणोंकी रक्षा करना और निज शक्तिके अनुसार यथायोग्य धन दान करके उन लोगोंको सन्तुष्ट करना; ऐसा होनेसे दुर्जय स्वर्ग लाभ कर सकोगे। हे कुरुनन्दन! तुम इसी भांति धर्मवृत्ति अवलम्बन करके प्रजा-पालन करनेसे परिणाममें शुभजनक पुण्य और नित्य यश प्राप्त करोगे। हे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर! तुम धर्म और व्यवहारके अनुसार यथा नियमसे प्रजा पालन करो, ऐसा होनेसे कभी भी आधि-रूपी बन्धनमें नहीं फंसोगे। (२१-२५)

एष एव परो धर्मो यद्राजा रक्षति प्रजाः।
भूतानां हि यदा धर्मो रक्षणं परमा दया ॥ २६ ॥
तस्मादेवं परं धर्मं मन्यन्ते धर्मकोविदाः।
यो राजा रक्षणे युक्तो भूतेषु कुरुते दयाम् ॥ २७ ॥
यदह्ना कुरुते पापमरक्षन्भयतः प्रजाः।
राजा वर्षसहस्रेण तस्यान्तमधिगच्छति ॥ २८ ॥
यदह्ना कुरुते धर्मं प्रजा धर्मेण पालयन्।
दशवर्षसहस्राणि तस्य भुंक्ते फलं दिवि ॥ २९ ॥
स्विष्टिः स्वधीतिः सुतपा लोकान् जयति यावतः।
क्षणेन तानवाप्नोति प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ३० ॥
एवं धर्मं प्रयत्नेन कौन्तेय परिपालय।
ततः पुण्यफलं लब्ध्वा नाधिबन्धेन योक्ष्यसे ॥ ३१ ॥
स्वर्गलोके सुमहतीं श्रियं प्राप्स्यसि पाण्डव।
असंभवश्च धर्माणामीदृशानामराजसु ॥ ३२ ॥
तस्माद्राजैव नान्योऽस्ति यो धर्मफलमाप्नुयात्।

जब कि चराचर जीवोंकी रक्षा करना ही परम धर्म और परम दया कहके वर्णित हुआ है; तब राजा प्रजा समूह की रक्षा करे, यही उसका सबसे श्रेष्ठधर्म है। राजा जो राज्यरक्षामें नियुक्त होकर जीवोंके ऊपर दया प्रकाशित करता है, धर्म जाननेवाले पण्डित लोग उसे ही उसका परम धर्म कहा करते हैं। राजा यदि एक दिन भी भयके कारण प्रजाके रक्षाका उपाय न करके जो पाप सञ्चय करता है, सहस्र वर्षके अनन्तर उससे मुक्त होता है; परन्तु प्रजासमूहको धर्मपूर्वक एकदिन मात्र रक्षा करनेसे दश हजार वर्ष पर्यन्त स्वर्गमें उसका फल भोग करते रहते हैं, योगी लोग पर्याय क्रमसे गृहस्थ, वानप्रस्थ और ब्रह्मचारियोंके धर्म आचरण करके जिन लोकोंको जय करते हैं, राजा क्षण मात्र धर्मपूर्वक प्रजापालन करनेसे ही उन लोकोंको पाते हैं। हे कुन्तीनन्दन! तुम इस ही भांति यत्नपूर्वक धर्मको पालन करो, ऐसा होनेसे तुम उस ही पुण्यफलसे कभी भी आधिरूपी बन्धनमें नहीं बंधोगे; बल्कि परलोकमें महत् सम्पत्ति प्राप्त करोगे। राजा राज्यरहित होनेपर इस प्रकार धर्म सब कभी भी आचरित नहीं होते; इससे राजा ही उस सम्पूर्ण धर्मका फल

स राज्यं धृतिमान्प्राप्य धर्मेण परिपालय ।
इन्द्रं तर्पय सोमेन कामैश्च सुहृदो जनान् ॥ ३३ ॥ [२७२४]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७१ ॥

भीष्म उवाच— य एव तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत ।
स एव राज्ञा कर्तव्यो राजन् राजपुरोहितः ॥ १ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुरूरवस ऐलस्य संवादं मातरिश्वनः ॥ २ ॥

पुरूरवा उवाच— कुतः स्विद्ब्राह्मणो जातो वर्णाश्चापि कुतस्त्रयः ।
कस्माच्च भवति श्रेष्ठस्तन्मे व्याख्यातुमर्हसि ॥ ३ ॥

मातरिश्वोवाच— ब्राह्मणो मुखतः सृष्टो ब्रह्मणो राजसत्तम ।
बाहुभ्यां क्षत्रियः सृष्ट ऊरुभ्यां वैश्य एव च ॥ ४ ॥
वर्णानां परिचर्यार्थं त्रयाणां भरतर्षभ ।
वर्णश्चतुर्थः संभूतः पद्भ्यां शूद्रो विनिर्मितः ॥ ५ ॥
ब्राह्मणो जायमानो हि पृथिव्यामनुजायते ।
ईश्वरः सर्वभूतानां धर्मकोशस्य गुप्तये ॥ ६ ॥

भोग करता है। युधिष्ठिर! तुम भी इस बृहत् राज्यको पाके धीरज धरके धर्मपूर्वक प्रजासमूहको प्रतिपालन करो और सोमरस आदिसे इन्द्रकी भी अभिलाष पूरी करते हुए सुहृद मित्रोंको सन्तुष्ट करो। (२६—३३) [२७२४]

शान्तिपर्वमें इकत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें बहत्तर अध्याय।

भीष्म बोले, महाराज! जो साधुओंकी रक्षा और दुष्टोंको राज्यसे दूर करते हैं, उन्हें ही राज पुरोहित बनाना राजाका कर्त्तव्य है। इस विषयमें पुरूरवाके पुत्र ऐलके सङ्ग वायुका जो वार्त्तालाप हुआ था; पण्डित लोग इस प्रसङ्गमें उस ही प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं। (१-२)

पुरूरवा बोले, "किससे ब्राह्मण लोग उत्पन्न हुए हैं? क्षत्रिय आदि तीनों वर्णोंकी भी किससे उत्पत्ति हुई है और किस कारणसे ब्राह्मण लोग सबसे श्रेष्ठ हुए, आप यह सब मेरे निकट वर्णन कीजिये! वायु बोले, 'हे भरतर्षभ राजश्रेष्ठ! ब्रह्माके मुखसे ब्राह्मण, दोनों भुजासे क्षत्रिय और ऊरुसे वैश्य उत्पन्न हुए है, और इन तीनों वर्णोंकी सेवाके वास्ते चौथे वर्ण शूद्रको पांवसे उत्पन्न किया। ब्राह्मण उत्पन्न होते ही धर्मरूप कोषकी रक्षाके निमित्त सब भूतोंके

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८१ -[शांतिपर्व अंक ५]

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिना जिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

अतः पृथिव्या यन्तारं क्षत्रियं दण्डधारणे।
द्वितीयं दण्डमकरोत्प्रजानामनुगुप्तये ॥ ७ ॥
वैश्यस्तु धनधान्येन त्रीन्वर्णान्विभृयादिमान्।
शूद्रो ह्येतान्परिचरेदिति ब्रह्मानुशासनम् ॥ ८ ॥
ऐल उवाच— द्विजस्य क्षत्रबन्धोर्वा कस्येयं पृथिवी भवेत्।
धर्मतः सहवित्तेन सम्यग्वायो प्रचक्ष्व मे ॥ ९ ॥
वायुरुवाच— विप्रस्य सर्वमेवैतद्यत्किञ्चिज्जगतीगतम्।
ज्येष्ठेनाभिजनेनेह तद्धर्मकुशला विदुः ॥ १० ॥
स्वमेव ब्राह्मणो भुंक्ते स्वं वस्ते स्वं ददाति च।
गुरुर्हि सर्ववर्णानां ज्येष्ठः श्रेष्ठश्च वै द्विजः ॥ ११ ॥
पत्यभावे यथैव स्त्री देवरं कुरुते पतिम्।
एष ते प्रथमः कल्प आपद्यन्यो भवेदतः ॥ १२ ॥
यदि स्वर्गं परं स्थानं स्वधर्मं परिमार्गसि।
यत्किञ्चिज्जयसे भूमिं ब्राह्मणाय निवेदय ॥ १३ ॥

ईश्वर होके पृथ्वीमें जन्म ग्रहण किया; उसे देखके पितामहने प्रजासमूहकी रक्षाके वास्ते द्वितीय वर्ण क्षत्रियको दण्ड धारण करनेके निमित्त उत्पन्न करके पृथ्वीके शासन कार्यमें नियुक्त किया; वैश्य धन धान्यसे तीनों वर्णोंका भरण करे और शूद्र ब्राह्मण आदि तीनों वर्णोंकी सेवा करे; ऐसी ही आज्ञा की।" (३—८)

पुरूरवा बोले, हे वायु! यह पृथ्वी और इसका समस्त धन धर्मके अनुसार ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनोंके बीच किसीका हो सकता है? आप कृपाकर यह विषय मेरे निकट वर्णन करिये। वायु बोले, 'धर्म जाननेवाले सब लोग कहा करते हैं, कि पृथिवी और इसका जितना धन है, वह सब ज्येष्ठत्व और अभिजनके कारण ब्राह्मणका ही होसकता है। ब्राह्मण सब वर्णोंके गुरु ज्येष्ठ और श्रेष्ठ हैं इससे वे जो कुछ दान करते, पहरते और भोजन करते हैं, वह सब अपने धनसे ही किया करते हैं। जैसे स्त्रियें पतिके न रहनेपर देवरको पति करती हैं, वैसे ही ब्राह्मणोंके रक्षा न करनेसे पृथ्वी आनन्तर्यके कारण क्षत्रियोंको ही अपना पति किया करती है। महाराज! यही प्रथम कल्प है, परन्तु आपत्कालमें इसका विपरीत भाव भी हो सकता है। यदि तुम्हें वह उत्तम स्थान स्वर्ग और स्वधर्म उपा-

श्रुतवृत्तोपपन्नाय धर्मज्ञाय तपस्विने ।
स्वधर्मपरितृप्ताय यो न वित्तपरो भवेत् ॥ १४ ॥
यो राजानं नयेद्बुद्ध्या सर्वतः परिपूर्णया ।
ब्राह्मणो हि कुले जातः कृतप्रज्ञो विनीतवान् ॥ १५ ॥
श्रेयो नयति राजानं ब्रुवंश्चित्रां सरस्वतीम् ।
राजा चरति यं धर्मं ब्राह्मणेन निदर्शितम् ॥ १६ ॥
शुश्रूषुरनहंवादी क्षत्रधर्मव्रते स्थितः ।
तावता सत्कृतः प्राज्ञश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ १७ ॥
तस्य धर्मस्य सर्वस्य भागी राजपुरोहितः ।
एवमेव प्रजाः सर्वा राजानमभिसंश्रिताः ॥ १८ ॥
सम्यग्वृत्ताः स्वधर्मस्था न कुतश्चिद्भयान्विताः ।
राष्ट्रे चरन्ति यं धर्मं राज्ञा साध्वभिरक्षिताः ॥ १९ ॥
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भागं तु विन्दति ।
देवा मनुष्याः पितरो गन्धर्वोरगराक्षसाः ॥ २० ॥
यज्ञमेवोपजीवन्ति नास्ति चेष्टमराजके ।
ततो दत्तेन जीवन्ति देवताः पितरस्तथा ॥ २१ ॥

जिनकी अभिलाषा हो, तब तुम जो कुछ भूमि जय करो, वह सब वैदिक कर्ममें रत, धर्म जाननेवाले, तपस्वी, निज धर्ममें अनुरक्त, लोभ रहित ब्राह्मणोंको दान करना। जो बुद्धिमान विनीत और सत्कुलमें उत्पन्न हुए ब्राह्मण लोग निज श्रेष्ठ बुद्धिके प्रभावसे विचित्र वाक्योंसे राजाको सन्मार्गमें लाते हैं, वेही राज पुरोहित हैं; वे उपदेश युक्त अभिमान रहित और क्षत्रिय धर्म रत राजाके आचरित धर्मके अंशभागी होते हैं; और वह बुद्धिमान राजा भी प्रजा-पुञ्जके समीप निजकर्मके अनुसार सत्कार और महत् प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं। (९-१८)

इसी भांति प्रजा राजाका आसरा ग्रहण करके और उससे भली भांति रक्षित होके निज धर्ममें निवास करती हुई स्वच्छन्दता और निर्भयताके सहित जो कुछ धर्माचरण करती है, राजा उस धर्मका चतुर्थांश फलभागी होता है, देवता, मनुष्य, पितर गन्धर्व, सर्प और राक्षस लोग यज्ञका ही आसरा किया करते हैं; परन्तु राजा रहित होनेसे यज्ञादिक सब कर्म लुप्त होते हैं। देवता और पितर लोग यज्ञादिकोंमें होम किये

राजन्येवास्य धर्मस्य योगक्षेमः प्रतिष्ठितः ।
छायायामप्सु वायौ च सुखमुष्णेऽधिगच्छति ॥ २२ ॥
अग्नौ वाससि सूर्ये च सुखं शीतेऽधिगच्छति ।
शब्दे स्पर्शे रसे रूपे गन्धे च रमते मनः ॥ २३ ॥
तेषु भोगेषु सर्वेषु न भीतो लभते सुखम् ।
अभयस्य हि यो दाता तस्यैव सुमहत्फलम् ॥ २४ ॥
न हि प्राणसमं दानं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
इन्द्रो राजा यमो राजा धर्मो राजा तथैव च ॥ २५ ॥
राजा बिभर्ति रूपाणि राज्ञा सर्वमिदं धृतम् ॥ २६ ॥ [२७५०]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

भीष्म उवाच — राज्ञा पुरोहितः कार्यो भवेद्विद्वान्बहुश्रुतः ।
उभौ समीक्ष्य धर्मार्थावप्रमेयावनन्तरम् ॥ १ ॥
धर्मात्मा मन्त्रविद्येषां राज्ञां राजन्पुरोहितः ।
राजा चैवंगुणो येषां कुशलं तेषु सर्वशः ॥ २ ॥

हुए घृतादिकसे ही जीवन धारण करते हैं; परन्तु वे यज्ञादि सब कर्म राजाके अधीन हैं । राजशासन रहनेसे ही प्रजा धूपके समय छाया, जल और शीतल वायुसे, और शीत ऋतुमें वस्त्र, अग्नि तथा सूर्यके उत्तापसे सुख अनुभव किया करती हैं और उन लोगोंका मन, शब्द स्पर्श, रूप, रस और गन्धमें रमण करता है; परन्तु जब राजासे रहित होंगे, तब वे लोग भयसे युक्त होकर किसी प्रकार भी वैसा सुख अनुभव नहीं कर सकेंगे, तब वैसे समयमें जो पुरुष अभय दान करते हैं; उन्हें ही महत् फल प्राप्त होता है; अधिक क्या कहूं, उस समय प्राण पर्यन्त दान करनेमें भी संकुचित न होवे; क्यों कि कोई दान भी प्राण दानके समान नहीं है । राजा ही सबका आधार है और वही समयके अनुसार इन्द्र, यम तथा धर्म इत्यादि विविध रूप धारण किया करता है । (१९-२६) [२७५०]

शान्तिपर्वमें बहत्तर अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें तिहत्तर अध्याय ।

भीष्म बोले, राजा राज्य शासनमें प्रतिष्ठित होकर अर्थकी गहन गतिको विचारके शीघ्र ही विद्वान और बहुश्रुत ब्राह्मणको पुरोहित कार्यमें नियुक्त करे। महाराज ! जिसका राज पुरोहित धर्मात्मा और मन्त्र जाननेवाला तथा राजा भी वैसे ही गुणोंसे युक्त होता है, उन

उभौ प्रजा वर्धयतो देवान्सर्वान्सुतान्पितॄन् ।
भवेयातां स्थितौ धर्मे श्रद्धेयौ सुतपस्विनौ ॥ ३ ॥
परस्परस्य सुहृदौ विहितौ समचेतसौ ।
ब्रह्मक्षत्रस्य संमानात्प्रजा सुखमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥
विमाननात्तयोरेव प्रजा नश्येयुरेव हि ।
ब्रह्मक्षत्रं हि सर्वेषां वर्णानां मूलमुच्यते ॥ ५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
ऐलकश्यपसंवादं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ६ ॥

ऐल उवाच— यदा हि ब्रह्म प्रजहाति क्षत्रं क्षत्रं यदा वा प्रजहाति ब्रह्म ।
अन्वग्बलं कतमेऽस्मिन्भजन्ते तथा वर्णाः कतमेऽस्मिन्भ्रियन्ते ॥७॥

कश्यप उवाच– वृद्धं राष्ट्रं क्षत्रियस्य भवति ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुध्यतीह ।
अन्वग्बलं दस्यवस्तद्भजन्ते तथा वर्णं तत्र विन्दन्ति सन्तः ॥ ८ ॥
नैषां ब्रह्म च वर्धते नोत पुत्रा न गर्गरो मथ्यते नो जयन्ते ।
नैषां पुत्रा वेदमधीयते च यदा ब्रह्म क्षत्रियाः संत्यजन्ति ॥ ९ ॥

प्रजा समूहका सब भांतिसे कल्याण हुआ करता है। राजा और राजपुरोहित आपसमें आलस रहित और सावधान होकर सुहृदता अवलम्बन करके तपस्वियोंकी भांति धर्ममें रत और श्रद्धावान होनेसे देवता, पितर, पुत्र और सबकी उन्नति साधन करते हैं। प्रजा ब्राह्मण और क्षत्रियोंका सम्मान करनेसे सुख पाती है, परन्तु उनकी अवमानना करनेसे नष्ट होती है; क्यों कि पण्डित लोग ब्राह्मण और क्षत्रियको ही सब वर्णोंका मूल कहा करते हैं। हे युधिष्ठिर! आर्य लोग इस प्रस्तावमें ऐल और कश्यपके सम्वाद रूपी जिस इतिहासका उदाहरण देते हैं, उसे सुनो। (१–६)

ऐल बोले, ब्राह्मण और क्षत्रिय इन दोनों तेजसे राज्य रक्षित हुआ करता है, परन्तु इन दोनोंमें यदि कोई किसी को परित्याग करे, तो सब वर्ण किसका आसरा ग्रहण करते हैं, और किसके जरिये रक्षित होते हैं? कश्यप बोले, ब्राह्मण यदि क्षत्रियको परित्याग करे, तो उसका वह राज्य नष्ट होता है, डाकू लोग राज्यमें उपद्रव किया करते और पण्डित लोग वैसे क्षत्रियको हीन कहके अपमान किया करते हैं। क्षत्रिय लोग भी यदि ब्राह्मणको परित्याग करें, तो उनके ज्ञानोंकी बढती गर्गर मथित तथा धर्म कार्य आचरित

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे नाधीयते सुप्रजा नो यजन्ते।
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति ये ब्राह्मणान्क्षत्रियाः संत्यजन्ति॥१०॥
एतौ हि नित्यं संयुक्तावितरेतरधारणे।
क्षत्रं वै ब्रह्मणो योनिर्योनिः क्षत्रस्य वै द्विजाः ॥ ११ ॥
उभावेतौ नित्यमभिप्रपन्नौ संप्रापतुर्महतीं संप्रतिष्ठाम्।
तयोः सन्धिर्भिद्यते चेत्पुराणस्ततः सर्वं भवति हि संप्रमूढम् ॥ १२ ॥
नात्र पारं लभते पारगामी महागाधे नौरिव संप्रपन्ना।
चातुर्वर्ण्यं भवति हि संप्रमूढं प्रजास्ततः क्षयसंस्था भवन्ति ॥ १३ ॥
ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेम च वर्षति।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रुपापं च वर्षति ॥ १४ ॥
न ब्रह्मचारी चरणादपेतो यदा ब्रह्म ब्रह्मणि त्राणमिच्छेत्।
आश्चर्यतो वर्षति तत्र देवस्तत्राभीक्ष्णं दुःसहाश्चाविशन्ति ॥१५॥
स्त्रियं हत्वा ब्राह्मणं वाऽपि पापः सभायां यत्र लभतेऽनुवादम्।

नहीं होते और उनके पुत्र भी यथा रीतिसे रक्षित होके वेदाध्ययन करके यज्ञादि कर्मोंका आचरण नहीं करते, बल्कि सङ्कर जाति तथा डाकुओंकी भांति वृत्ति अवलम्बन करते हैं। क्षत्रिय लोग ब्राह्मणोंके आश्रय हैं, इससे ये लोग भयके सहित आपस मिलके एक दूसरेकी रक्षा करनेमें समर्थ होते हैं। वे दोनों आपसमें परस्परकी रक्षा करते हुए महद् प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं, परन्तु यदि किसी प्रकारसे उनकी वह प्राचीन सन्धि भङ्ग होवे, तो दोनोंही नष्ट होते हैं। (७—१२)

जैसे अगाध जलमें विपद्ग्रस्त नौका किसी प्रकार भी किनारे नहीं लग सकती, वैसे ही वह भी किसी विषयके पारदर्शी नहीं हो सकते; वर्णविचार लोप होता और सब प्रजाका नाश होता है। ब्रह्मरूपी वृक्ष यथा उचित रीतिसे रक्षित होने पर सुख और सुवर्णमय फलकी वर्षा करता है; परन्तु उसकी रक्षा न करनेसे दुःख और नरकरूपी फल उत्पन्न होता है। जब ब्रह्मचारी लोग डाकुओंसे निवारित होकर निज अधीत शाखा परित्याग करते और ब्राह्मण लोग अपने पठनीय वेदका आसरा त्याग करते हैं; उस समय इन्द्र अल्प जलकी वर्षा करते और वहांपर सदा अनेक भांतिके उत्पात उपस्थित होते हैं। जब कोई पापी पुरुष स्त्री अथवा ब्राह्मणहत्या करके भी सभाके बीच प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, और राजाके

राज्ञः सकाशे न बिभेति चापि ततो भयं विद्यते क्षत्रियस्य ॥ १६ ॥
पापैः पापे क्रियमाणे हि चैल ततो रुद्रो जायते देव एषः ।
पापैः पापाः सञ्जनयन्ति रुद्रं ततः सर्वान्साध्वसाधून्हिनस्ति ॥ १७ ॥
ऐल उवाच— कुतो रुद्रः कीदृशो वापि रुद्रः सत्वैः सत्वं दृश्यते वध्यमानम् ।
एतत्सर्वं कश्यप मे प्रचक्ष्व कुतो रुद्रो जायते देव एषः ॥ १८ ॥
कश्यप उवाच—आत्मा रुद्रो हृदये मानवानां स्वं स्वं देहं परदेहं च हन्ति ।
वातोत्पातैः सदृशं रुद्रमाहुर्दैवैर्जीमूतैः सदृशं रूपमस्य ॥ १९ ॥
ऐल उवाच—न वै वातः परिवृणोति कश्चिन्न जीमूतो वर्षति नापि देवः ।
तथा युक्तो दृश्यते मानुषेषु कामद्वेषाद्बध्यते मुच्यते च ॥ २० ॥
कश्यप उवाच— यथैकगेहे जातवेदाः प्रदीप्तः कृत्स्नं ग्रामं दहते चत्वरं वा ।
विमोहनं कुरुते देव एष ततः सर्वं स्पृशते पुण्यपापैः ॥ २१ ॥

निकट भी भयभीत नहीं होता, तब वैसे पुरुषसे राजाको महत् भय उपस्थित होता है। हे ऐल ! जब पापी लोग पाप कर्मसे कलिके उत्पत्तिकी वृद्धि करते रहते हैं, तब राजा अत्यन्त ही रुद्र और हिंसक होकर साधु और दुष्ट सबको ही विनष्ट किया करता है। (१३-१७)

ऐल बोले, हे कश्यप ! जीव लोग जो जीवोंके जरियेसे ही मारे जाते हैं, वह रुद्र कैसा है और किस प्रकार उत्पन्न होता है, तथा राजा ही किस कारण रुद्ररूप हुआ करता है, आप यह सब विस्तार पूर्वक मेरे निकट वर्णन करिये ? कश्यप बोले, जैसे आकाशमें उठे हुये उत्पातके विषयमें वायु ही आकाश देवताको इधर उधर सञ्चलित करता है, उससे ही बिजली, वज्र और अशनि आदि सब उत्पात उत्पन्न हुआ करते हैं, वैसे ही मनुष्यके हृदयमें स्थित आत्मा ही काम क्रोध आदि रूपसे प्रगट होके अपने वा दूसरेके शरीरको नष्ट किया करता है। (१८-१९)

ऐल बोले, वायुके सङ्ग इस रुद्ररूपी आत्मा की उपमा नहीं हो सकती, क्यों कि वायु बाहरी सब पदार्थोंको वेष्टन करता है, बादल जलकी वर्षा करते हैं; इससे उसके सङ्ग भी तुलना नहीं हो सकती, और जब मनुष्योंके बीच कितनोंको सदा काम क्रोधके वशमें होके मरते और मोहित होते देखा जाता है, तब देवरूपसे भी उपमा नहीं हो सकती। कश्यप बोले, जैसे अग्नि एक गृहमें प्रज्वलित होके समस्त ग्राम वा चौतरोंको भस्म कर देती है, वैसे ही रुद्रदेव भी सबको मोहित करते हैं; इससे सब कोई पुण्य-पाप जनक

ऐल उवाच– यदि दण्डः स्पृशतेऽपुण्यपापं पापं पापे क्रियमाणे विशेषात्।
कस्य हेतोः सुकृतं नाम कुर्याद्दुष्कृतं वा कस्य हेतोर्न कुर्यात् ॥२२॥
कश्यप उवाच–असंयोगात्पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डः स्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केनार्द्रं दह्यते मिश्रभावान्न मिश्रः स्यात्पापकृद्भिः कथञ्चित् ॥२३॥
ऐल उवाच– साध्वसाधून्धारयतीह भूमिः साध्वसाधूंस्तापयतीह सूर्यः।
साध्वसाधूंश्चापि वातीह वायुरापस्तथा साध्वसाधून्पुनन्ति ॥२४॥
कश्यप उवाच– एवमस्मिन्वर्तते लोक एष नामुत्रैवं वर्तते राजपुत्र।
प्रेत्यैतयोरन्तरावान्विशेषो यो वै पुण्यं चरते यश्च पापम् ॥ २५ ॥
पुण्यस्य लोको मधुमान्घृतार्चिर्हिरण्यज्योतिरमृतस्य नाभिः।
तत्र प्रेत्य मोदते ब्रह्मचारी न तत्र मृत्युर्न जरा नोत दुःखम्॥२६॥

सङ्कर कार्यमें प्रवृत्त हुआ करते हैं। (२०—२१)

ऐल बोले, जब पापियोंके विशेष रूपसे पाप कर्म करने पर भी दण्डनीति पुण्य पापरूप दोनों भांतिके धर्म करनेवालोंके ऊपर प्रयोग हुआ करती है, तब क्यों मनुष्य सत्कर्मोंका अनुष्ठान करेंगे और असत् कर्म न करेंगे। कश्यप बोले, पापाचारियोंके सङ्ग किसी प्रकारका सम्बन्ध न रहनेसे मनुष्य पापरहित होता है, इससे उसे दण्डनीतिसे अधीन नहीं होना पडता; परन्तु जैसे सूखे काठके साथ गीला काठ भी भस्म होजाता है, वैसे ही पापाचारियोंके साथ निवासके कारण मिश्रितभाव होनेसे पुण्यात्माको भी पापियोंकी भांति दण्डनीय होना पडता है; इससे पापियोंके सङ्ग सब भांतिसे संसर्ग त्यागना उचित है। (२२—२३)

ऐल बोले, किस कारण पृथ्वी साधु और दुष्ट दोनों भांतिसे लोगोंको धारण किया करती है? सूर्य क्यों दोनोंको उत्ताप प्रदान करता है? वायु किस कारणसे दोनोंके समीप समान रूपसे बहता है और किस कारण जल साधु और दुष्ट दोनोंको पवित्र करता है? कश्यप बोले, हे राजपुत्र! इस संसारमें ही ऐसा हुआ करता है। परन्तु परलोकमें ऐसा नहीं होता; मनुष्य जो कुछ पुण्य सञ्चय या पापाचरण करते हैं, परलोकमें गमन करके उसका इतरविशेष देखते हैं। जो लोग संसारमें सदा पुण्य कर्म करते हैं, वे ब्रह्मचारी पुरुष परलोकमें मधुमान् घृतार्चि, सुवर्णकी भांति ज्योतिसे युक्त और अमृत की नाभि स्वरूप परम रमणीय स्थानमें निवास करते हुए दुःख और जरा मरण रहित होकर अनेक सुख प्राप्त करते हैं।

पापस्य लोको निरयोऽप्रकाशो नित्यं दुःखं शोकभूयिष्ठमेव।
तत्रात्मानं शोचति पापकर्मा बह्वीः समाः प्रतपन्नप्रतिष्ठः ॥ २७ ॥
मिथोभेदाद्ब्राह्मणक्षत्रियाणां प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह नित्यं पुरोहितो नैकविद्यो नृपेण ॥ २८ ॥
तं चैवान्वभिषिञ्चेत तथा धर्मो विधीयते।
अग्रं हि ब्राह्मणः प्रोक्तं सर्वस्यैवेह धर्मतः ॥ २९ ॥
पूर्वं हि ब्रह्मणः सृष्टिरिति ब्रह्मविदो विदुः।
ज्येष्ठेनाभिजनेनास्य प्राप्तं पूर्वं यदुत्तरम् ॥ ३० ॥
तस्मान्मान्यश्च पूज्यश्च ब्राह्मणः प्रसृताग्रभुक्।
सर्वं श्रेष्ठं विशिष्टं च निवेद्यं तस्य धर्मतः ॥ ३१ ॥
अवश्यमेव कर्तव्यं राज्ञा बलवताऽपि हि।
ब्रह्म वर्धयति क्षत्रं क्षत्रतो ब्रह्म वर्धते।
एवं राज्ञा विशेषेण पूज्या वै ब्राह्मणाः सदा ॥३२॥ [२७८२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऐलकश्यपसंवादे त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

परन्तु वहां पर पापियोंके वास्ते जो स्थान निर्दिष्ट हैं, वह नरक और सदा दुखसे पूर्ण शोकपूरित तथा प्रकाश रहित है; निन्दनीय पापी लोग वहां पर जाके बहुत समय पर्यन्त सन्तापित होकर अपने किये हुए कर्मके निमित्त शोक प्रकाश किया करते हैं। इसी भांति ब्राह्मण और क्षत्रियोंमें भेद उपस्थित होने पर प्रजाको असह्य दुःख प्राप्त होता है, इससे राजाको यह सब जानके अनेक भांतिकी विद्या जाननेवाले ब्राह्मणको पुरोहितके कार्य पर नियुक्त करना उचित है। (२४–२८)

राजा पहिले पुरोहितको अभिषिक्त करे, ऐसा होनेसे ही उसका धर्म भली भांति रक्षित होगा; क्योंकि ब्रह्मवित् पुरुष कहा करते हैं, कि ब्राह्मण लोग पहिले उत्पन्न हुए हैं और वे लोग ही सब वस्तुओंके अग्रभुक् कहके माने जाते हैं। प्रथम उत्पन्न हुए ब्राह्मण लोग जो जेष्ठत्व और आभिजात्यके कारण क्षत्रियोंके मान्य और पूज्य हैं, उस विषयमें मैंने पहिले ही तुम्हें उत्तर दिया है। बलवान राजाको उचित है, कि ब्राह्मणको सबसे श्रेष्ठ और उत्तम वस्तु प्रदान करे। हे युधिष्ठिर! क्षत्रिय लोग ब्रह्मतेजसे रक्षित होकर ही ब्राह्मणोंकी रक्षा करते हैं; इससे ब्राह्मणोंकी

भीष्म उवाच— योगक्षेमो हि राष्ट्रस्य राजन्यायत्त उच्यते।
योगक्षेमो हि राज्ञो हि समायत्तः पुरोहिते ॥ १ ॥
यत्रादृष्टं भयं ब्रह्म प्रजानां शमयत्युत।
दृष्टं च राजा बाहुभ्यां यद्राज्यं सुखमेधते ॥ २ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
मुचुकुन्दस्य संवादं राज्ञो वैश्रवणस्य च ॥ ३ ॥
मुचुकुन्दो विजित्येमां पृथिवीं पृथिवीपतिः।
जिज्ञासमानः स्वबलमुपेयादलकाधिपम् ॥ ४ ॥
ततो वैश्रवणो राजा राक्षसानसृजत्तदा।
ते बलान्यवमृद्नन्त मुचुकुन्दस्य नैर्ऋताः ॥ ५ ॥
स हन्यमाने सैन्ये स्वे मुचुकुन्दो नराधिपः।
गर्हयामास विद्वांसं पुरोहितमरिन्दमः। ॥ ६ ॥
तत उग्रं तपस्तप्त्वा वसिष्ठो धर्मवित्तमः।
रक्षांस्युपावधीत्तस्य पन्थानं चाप्यविन्दत ॥ ७ ॥
ततो वैश्रवणो राजा मुचुकुन्दमदर्शयत्।

विशेष रूपसे पूजा करना ही राजाका कर्त्तव्य है। (२९-३२)

शान्तिपर्वमें तिहत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चौहत्तर अध्याय।

भीष्म बोले, राज्यका योग और क्षेम समूह राजाके वशमें है, परन्तु राजाका योग और क्षेम समूह सब पुरोहितके अधिकारमें है। जिस राज्यमें पुरोहित ब्रह्मतेजसे प्रजाके अदृष्ट और राजा बाहुबलसे दृष्टभय निवारण करता है; उस ही राज्यमें सुख प्राप्त होता है, इस विषयमें कुबेरके साथ राजा मुचकुन्दका जो कुछ वार्त्तालाप हुआ था, पण्डित लोग इस प्रस्तावमें उस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं। पृथ्वीनाथ मुचुकुन्दने समस्त पृथिवी जीतके निज बल मालूम करनेके वास्ते अलकानाथ कुबेरके समीप गमन किया। उसे देख कर यक्षराज वैश्रवणने राक्षसोंको आज्ञा दी, वे लोग मुचुकुन्दकी सेनाका नाश करने लगे। हे शत्रुनाशसन! नरनाथ मुचुकुन्द अपनी सेनाका नाश होता देखकर विद्वान् पुरोहितकी निन्दा करने लगे। उसे सुनकर धर्म जाननेवालोंमें अग्रणी वसिष्ठने उग्र तपस्यासे राक्षसोंका नाश किया और उसके जरियेसे मुचुकुन्दकी भी गति मालूम की। तिसके अनन्तर राजा वैश्रवण

वध्यमानेषु सैन्येषु वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ८ ॥

धनद उवाच— बलवन्तस्त्वया पूर्वे राजानः सपुरोहिताः ।
न चैवं समवर्तन्त यथा त्वमिह वर्तसे ॥ ९ ॥
ते खल्वपि कृतास्त्राश्च बलवन्तश्च भूमिपाः ।
आगम्य पर्युपासन्ते मामीशं सुखदुःखयोः ॥ १० ॥
यद्यस्ति बाहुवीर्यं ते तद्दर्शयितुमर्हसि ।
किं ब्राह्मणबलेन त्वमतिमात्रं प्रवर्तसे ॥ ११ ॥
मुचुकुन्दस्ततः क्रुद्धः प्रत्युवाच धनेश्वरम् ।
न्यायपूर्वमसंरब्धमसंभ्रान्तमिदं वचः ॥ १२ ॥
ब्रह्मक्षत्रमिदं सृष्टमेकयोनि स्वयंभुवा ।
पृथग्बलविधानं तन्न लोकं परिपालयेत् ॥ १३ ॥
तपो मन्त्रबलं नित्यं ब्राह्मणेषु प्रतिष्ठितम् ।
अस्त्रबाहुबलं नित्यं क्षत्रियेषु प्रतिष्ठितम् ॥ १४ ॥
ताभ्यां संभूय कर्तव्यं प्रजानां परिपालनम् ।
तथा च मां प्रवर्तन्तं किं गर्हस्यलकाधिप ॥ १५ ॥

निज सेनाका नाश देखकर मुचुकुन्दके सम्मुख उपस्थित होकर बोले। (१-८)

कुबेर बोले, पहिले समयमें अनेक राजा पुरोहितके प्रभाव और बलसे तुमसे भी अधिक बलवान हुए थे, परन्तु तुमने जैसी वृत्ति अवलम्बन की है, किसीको भी मैंने वैसी वृत्ति अवलम्बन करते नहीं देखा। वे राजा लोग कृतास्त्र और बलवान होके भी मेरे निकट आके मुझे सुख दुःखका स्वामी समझके मेरी उपासना करते थे, तुम किस कारण ब्राह्मण बलसे गर्वित होकर नीतिमार्ग अतिक्रम करते हो? यदि तुम्हारी भुजामें बल हो, तो उसे दिखाओ। (९-११)

तिसके अनन्तर मुचुकुन्दनने क्रुद्ध होके क्रोध-रहित सावधान कुबेरको इस नीतियुक्त वचनसे उत्तर दिया। ब्रह्म और क्षत्रिय दोनों ही प्रजापतिके जरिये एक योनिरूपसे उत्पन्न हुए हैं; इससे उनका बलविधान परस्पर पृथक् रीतिसे रहनेपर वे लोग कदापि सब लोगोंको प्रतिपालन करनेमें समर्थ नहीं होते। ब्राह्मणोंमें तपस्या और मन्त्रबल तथा क्षत्रियोंमें अस्त्र और बाहुबल सदा प्रतिष्ठित रहता है; इन दोनोंको मिलके राज्यपालन करना ही उचित है। हे यक्षनाथ! मैं इस ही नीतिके अनुसार

ततोऽब्रवीद्वैश्रवणो राजानं सपुरोहितम्।
नाहं राज्यमनिर्दिष्टं कस्मैचिद्विदधाम्युत ॥ १६ ॥
नाच्छिन्दे चाप्यनिर्दिष्टमिति जानीहि पार्थिव।
प्रशाधि पृथिवीं कृत्स्नां मद्दत्तामखिलामिमाम्।
एवमुक्तः प्रत्युवाच मुचुकुन्दो महीपतिः ॥ १७ ॥
मुचुकुंद उवाच- नाहं राज्यं भवद्दत्तं भोक्तुमिच्छामि पार्थिव।
बाहुवीर्यार्जितं राज्यमश्नीयामिति कामये ॥ १८ ॥
भीष्म उवाच— ततो वैश्रवणो राजा विस्मयं परमं ययौ।
क्षत्रधर्मे स्थितं दृष्ट्वा मुचुकुन्दमसम्भ्रमम् ॥ १९ ॥
ततो राजा मुचुकुन्दः सोऽन्वशासद्वसुन्धराम्।
बाहुवीर्यार्जितां सम्यक्क्षत्रधर्ममनुव्रतः ॥ २० ॥
एवं यो धर्मविद्राजा ब्रह्मपूर्वं प्रवर्तते।
जयत्यविजितामुर्वीं यशश्च महदश्नुते ॥ २१ ॥
नित्योदकी ब्राह्मणः स्यान्नित्यशस्त्रश्च क्षत्रियः।

कार्यमें प्रवृत्त हुआ हूं, तब तुम क्यों मेरी निन्दा करते हो? (१२–१५)

तिसके अनन्तर विश्रवानन्दनने पुरोहित सहायसे युक्त मुचुकुन्दसे कहा, हे राजन्! तुम निश्चय जान रखो, मैं ईश्वरकी विना आज्ञाके किसीको राज्य प्रदान नहीं करता, और विना ईश्वरकी अनुमतिके किसीका राज्य भी नहीं हरता; इससे मैंने तुम्हें जो राज्य प्रदान किया है, तुम उस समस्त पृथ्वीको शासन करो।" राजा मुचुकुन्दने ऐसा सुनकर नीचे कहा हुआ उन्हें यह उत्तर दिया। मुचुकुन्द बोले, "राजन्! मैं आपका दिया हुआ राज्य भोगनेकी इच्छा नहीं करता, निज बाहुबलसे जो कुछ राज्य प्राप्त किया है, उसे ही भोग करूंगा, यही मेरा एकमात्र अभिप्राय है।" (१६—१८)

भीष्म बोले, तिसके अनन्तर राजा वैश्रवण मुचुकुन्दको निर्भयताके सहित क्षात्र धर्ममें स्थित देखके अत्यन्त विस्मित हुए। अनन्तर पृथ्वीनाथ मुचकुन्द सब भांतिसे क्षात्र-धर्मके अनुगामी होकर निज बाहुबलसे प्राप्त हुई पृथ्वीको शासन करने लगे। हे युधिष्ठिर! जो राजा इसी भांति ब्राह्मणको अगाडी करके राज्य शासन करता है, वह विजय न करने योग्य पृथ्वीको जय करके महत् यश प्राप्त करता है। ब्राह्मणको सदा पवित्र होना और क्षत्रियको सदा

तयोर्हि सर्वमायत्तं यत्किंचिज्जगतीगतम् ॥ २२ ॥ [२८०४]

इति श्रीमहा० शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि मुचुकुन्दोपाख्याने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥७४॥

युधिष्ठिर उवाच– यया वृत्त्या महीपालो विवर्धयति मानवान्।
पुण्यांश्च लोकान् जयति तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— दानशीलो भवेद्राजा यज्ञशीलश्च भारत।
उपवासतपःशीलः प्रजानां पालने रतः ॥ २ ॥
सर्वाश्चैव प्रजा नित्यं राजा धर्मेण पालयन्।
उत्थानेन प्रदानेन पूजयेच्चापि धार्मिकान् ॥ ३ ॥
राज्ञा हि पूजितो धर्मस्ततः सर्वत्र पूज्यते।
यद्यदाचरते राजा तत्प्रजानां स्म रोचते ॥ ४ ॥
नित्यमुद्यतदण्डश्च भवेन्मृत्युरिवारिषु।
निहन्यात्सर्वतो दस्यून्न कामात्कस्यचित्क्षमेत् ॥ ५ ॥
यं हि धर्मं चरन्तीह प्रजा राज्ञा सुरक्षिताः।
चतुर्थं तस्य धर्मस्य राजा भारत विन्दति ॥ ६ ॥
यदधीते यद्ददाति यज्जुहोति यदर्चति।

शस्त्रधारी होना उचित है; क्यों कि जगत्में जो कुछ है; वह सब उन दोनोंके अधीन है। (१९–२२) [२८०४]

शान्तिपर्वमें चौहत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पचत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! राजा लोग जिस वृत्तिका अवलम्बन करके प्रजासमूहकी उन्नति और सब पुण्य-लोकोंको जय करते हैं। आप वह सब मेरे निकट वर्णन करिये। (१)

भीष्म बोले, राजा प्रजापालनमें प्रवृत्त होके दानी, उपवासी, तपस्यामें रत और यज्ञशील होवे। राजा धर्म-पूर्वक सदा प्रजाको पालन करते हुए नित्य ही उद्योग और विविध दानसे धर्मात्माओंकी पूजा करे। राजा यदि धार्मिक पुरुषोंकी पूजा करे, तो वे लोग सब जगह पूजित होते हैं। क्यों कि राजा जैसा आचरण करता है, वही प्रजासमूहको प्रमाण हुआ करता है। राजा यमराज की भांति सदा शत्रुओंके विषयमें दण्डग्रहण करके तैय्यार रहे और सब भांतिसे डाकुओंका नाश करे; कभी भी इच्छानुसार किसीकी क्षमा न करे। हे भारत ! प्रजा राजासे रक्षित होकर जो कुछ धर्माचरण करती है; राजा उसमें चतुर्थांश फलभागी होता है। वे लोग जो कुछ दान, अध्ययन, होम

राजा चतुर्थभाक्तस्य प्रजा धर्मेण पालयन् ॥ ७ ॥
यद्राष्ट्रेऽकुशलं किञ्चिद्राज्ञो रक्षयतः प्रजाः।
चतुर्थं तस्य पापस्य राजा भारत विन्दति ॥ ८ ॥
अप्याहुः सर्वमेवेति भूयोऽर्धमिति निश्चयः।
कर्मणः पृथिवीपाल नृशंसोऽनृतवागपि ॥ ९ ॥
तादृशात्किल्बिषाद्राजा शृणु येन प्रमुच्यते।
प्रत्याहर्तुमशक्यं स्याद्धनं चोरैर्हृतं यदि ॥
तत्स्वकोशात्प्रदेयं स्यादशक्तेनोपजीवतः ॥ १० ॥
सर्ववर्णैः सदा रक्ष्यं ब्रह्मस्वं ब्राह्मणा यथा।
न स्थेयं विषये तेन योऽपकुर्याद्‌द्विजातिषु ॥ ११ ॥
ब्रह्मस्वे रक्ष्यमाणे तु सर्वं भवति रक्षितम्।
तस्मात्तेषां प्रसादेन कृतकृत्यो भवेन्नृपः ॥ १२ ॥
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः।
नरास्तमुपजीवन्ति नृपं सर्वार्थसाधकम् ॥ १३ ॥
न हि कामात्मना राज्ञा सततं कामबुद्धिना।

और पूजा करते हैं, राजा धर्मपूर्वक प्रजापालन करके उसमेंसे चौथा अंश फल भोग किया करता है। हे भरत-नन्दन! राजा यदि प्रजाकी रक्षा न करे, तो राज्यके बीच जो कुछ अधर्म उपस्थित होता है, राजा उस पापमें भी चतुर्थांश भागी होता है। राज्यमें दुष्ट और मिथ्यावादी पुरुष जो कुछ कर्म करते हैं। राजा अवश्य ही उसमें अर्द्धांश भागी होता है। (२—८)

हे पृथ्वीनाथ! कोई कोई कहते हैं राजा लोग वैसे पापके सम्पूर्ण तथा उससे भी अधिक फलभागी हुआ करते हैं। हे युधिष्ठिर! राजा वैसे पापसे जिस प्रकार मुक्त होता है, उसे सुनो, जिस धनको चोरोंने चुराया है, उसे यदि फिरा न सके, तो वैसे अशक्त राजाको उचित है, कि निज कोषसे उतना ही धन प्रदान करे। सब वर्णोंको ही ब्राह्मणोंकी भांति ब्रह्मस्वकी रक्षा करनी उचित है; और जो ब्राह्मणोंका अपकार करे, उसे राज्यमें रहने देना उचित नहीं है। ब्रह्मस्व रक्षित होनेसे सब ही भांति रक्षित होता है; इससे उन की कृपा से ही राजा कृतकृत्य होसकता है। जैसे सब प्राणी जलका और पक्षी महावृक्षका आसरा ग्रहण करते हैं, वैसे ही मनुष्य लोग सब अर्थ

नृशंसेनाऽतिलुब्धेन शक्यं पालयितुं प्रजाः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- नाहं राज्यसुखान्वेषी राज्यमिच्छाम्यपि क्षणम् ।
धर्मार्थं रोचये राज्यं धर्मश्चात्र न विद्यते ॥ १५ ॥
तदलं मम राज्येन यत्र धर्मो न विद्यते ।
वनमेव गमिष्यामि तस्माद्धर्मचिकीर्षया ॥ १६ ॥
तत्र मेध्येष्वरण्येषु न्यस्तदण्डो जितेन्द्रियः ।
धर्ममाराधयिष्यामि मुनिर्मूलफलाशनः ॥ १७ ॥

भीष्म उवाच- वेदाहं तव या बुद्धिरानृशंस्याऽगुणैव सा ।
न च शुद्धा नृशंसेन शक्यं राज्यमुपासितुम् ॥ १८ ॥
अपि तु त्वां मृदुप्रज्ञमत्यार्यमतिधार्मिकम् ।
क्लीबं धर्मघृणायुक्तं न लोको बहु मन्यते ॥ १९ ॥
वृत्तं तु स्वमपेक्षस्व पितृपैतामहोचितम् ।
नैव राज्ञां तथा वृत्तं यथा त्वं स्थातुमिच्छसि ॥ २० ॥

सिद्ध करनेवाले राजाका आसरा ग्रहण किया करते हैं। परन्तु कामात्मा, सदा कामबुद्धि, नृशंस और अत्यन्त लोभी राजा प्रजा पालन नहीं कर सकते। (९—१४)

युधिष्ठिर बोले, मैं सुखकी अभिलाषासे राज्य प्राप्तिकी इच्छा नहीं करता हूं। मैंने जिस धर्मके वास्ते राज्यकी अभिलाष की थीं, जब राज्यके बीच वह धर्म ही नहीं है; तब वैसे धर्म-रहित राज्यसे मुझे क्या प्रयोजन है? मैं धर्म साधनके वास्ते फिर वनमें गमन करूंगा। और दम्भरहित तथा जितेन्द्रिय होकर उस पवित्र वनके बीच फल मूल खानेवाले मुनियोंके धर्मकी आराधना करूंगा। (१५-१७)

भीष्म बोले, तुम्हारी बुद्धि दूसरेको दुःख देनेवाली नहीं है इसे मैं जानता हूं, परन्तु राजधर्मके विषयमें वैसी बुद्धिको अत्यन्त निर्गुण ही कहनी होगी; क्यों कि शान्त और अनृशंस बुद्धिसे कभी राज्य रक्षित नहीं होता। युधिष्ठिर! यदि तुम इकबारगी कोमल, कृपालु और अत्यन्त धार्मिक होकर आर्यपुरुषोंके प्रदर्शित मार्गका अतिक्रम करोगे, तो सब कोई तुम्हें असमर्थ समझेंगे और तुम किसीके प्रशंसाभाजन नहीं होगे। हे तात! तुम जिस रीतिसे निवास करनेकी इच्छा करते हो, वह क्षत्रियोंका धर्म नहीं है, इससे तुम्हारे पितर पितामहने जिस वृत्तिको अवलम्बन किया था, तुम भी उसहीका

न हि वैक्लव्यसंसृष्टमानृशंस्यमिहास्थितः ।
प्रजापालनसम्भूतमाप्ता धर्मफलं ह्यसि ॥ २१ ॥
न ह्येतामाशिषं पाण्डुर्न च कुन्ती त्वयाचत ।
तथैतत्प्रज्ञया तात यथा चरसि मेधया ॥ २२ ॥
शौर्यं बलं च सत्यं च पिता तव सदाऽब्रवीत् ।
महात्म्यं च महौदार्यं भवतः कुन्त्ययाचत ॥ २३ ॥
नित्यं स्वाहा स्वधा नित्यं चोभे मानुषदैवते ।
पुत्रेष्वाशासते नित्यं पितरो दैवतानि च ॥ २४ ॥
दानमध्ययनं यज्ञं प्रजानां परिपालनम् ।
धर्ममेतदधर्मं वा जन्म नैवाभ्यजायथाः ॥ २५ ॥
काले धुरि च युक्तानां वहतां भारमाहितम् ।
सीदतामपि कौन्तेय न कीर्तिरवसीदति ॥ २६ ॥
समन्ततो विनियतो वहत्यस्खलितो हयः ।
निर्दोषः कर्मवचनात्सिद्धिः कर्मण एव सा ॥ २७ ॥

अनुगमन करो। तुम क्षोभके वशमें होकर केवल अनृशंस वृत्ति त्याग करनेसे ही प्रजापालनसे प्रकट हुए धर्म फलको नहीं प्राप्त कर सकोगे। हे तात ! तुम जिस बुद्धि-वृत्तिके अनुगामी हुए हो, तुम्हारे जन्मके समय कुन्ती अथवा पाण्डु किसीने भी ऐसी प्रार्थना नहीं की थी। तुम्हारे पिता नित्य ही तुम्हारे पराक्रम, बल और सत्यके वास्ते और कुन्ती महात्म और उदारताके निमित्त प्रार्थना करती थी। (१८—२३)

पुत्र जो मनोहर यज्ञादिकोंसे देवताओं और श्राद्धादिकोंसे पितरोंको तृप्त करते हैं; देवता और पितर लोग भी पुत्रसे ऐसी ही कामना किया करते हैं। दान, अध्ययन, यज्ञ और प्रजापालन करनेसे चाहे धर्म हो, चाहे अधर्म ही होवे; इन कई एक कर्मोंको करनेके ही वास्ते तुम्हारा जन्म हुआ है। जो ध्रुव कार्योंमें नियुक्त होकर यथा समयमें नियत भार उठाते हैं, उनके स्वयं अवसन्न होनेपर भी उनकी कीर्त्ति नहीं अवसन्न होती। हे युधिष्ठिर ! सुशिक्षित मनुष्यकी तो बात दूर रहे, जब भली भांति शिक्षित घोडे भी सावधानीके सहित निज भारको उठाया करते हैं; तब तुम कर्म और वचनसे सबके निकट निर्दोषी होके ही निज आचरित कर्मसे ही सिद्धि प्राप्त कर सकोगे। हे

नैकान्तविनिपातेन विचचारेह कश्चन ।
धर्मी गृही वा राजा वा ब्रह्मचारी यथा पुनः ॥ २८ ॥
अल्पं हि सारभूयिष्ठं यत्कर्मोदारमेव तत् ।
कृतमेवाकृताच्छ्रेयो न पापीयोऽस्त्यकर्मणः ॥ २९ ॥
यदा कुलीनो धर्मज्ञः प्राप्नोत्यैश्वर्यमुत्तमम् ।
योगक्षेमस्तदा राज्ञः कुशलायैव कल्पते ॥ ३० ॥
दानेनान्यं बलेनान्यमन्यं सूनृतया गिरा ।
सर्वतः प्रतिगृह्णीयाद्राज्यं प्राप्येह धार्मिकः ॥ ३१ ॥
यं हि वैद्याः कुले जाता ह्यवृत्तिभयपीडिताः ।
प्राप्य तृप्ताः प्रतिष्ठन्ति धर्मः कोऽभ्यधिकस्ततः ॥३२॥

युधिष्ठिर उवाच- किं तात परमं स्वर्ग्यं का ततः प्रीतिरुत्तमा ।
किं ततः परमैश्वर्यं ब्रूहि मे यदि पश्यसि ॥ ३३ ॥

भीष्म उवाच- यस्मिन्भयार्दितः सम्यक्क्षेमं विन्दत्यपि क्षणम् ।
स स्वर्गजित्तमोऽस्माकं सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ॥ ३४ ॥

तात ! धार्मिक, गृहस्थ, राजा अथवा ब्रह्मचारी कोई कभी भी इकबारगी अभिनिवेशके सहित शुद्ध धर्माचरण नहीं कर सकते; इससे निज आचरित अल्प कर्म भी यदि सारगर्भ हो, तो वह कर्म न करनेकी अपेक्षा उत्तम है; क्यों कि कर्म न करनेसे अत्यन्त ही पापभागी होना होता है । (२४-२९)

जब सद्गुणशाली धर्मात्मा मनुष्यलोग राजमन्त्री आदि श्रेष्ठ ऐश्वर्य लाभ करते हैं, तब ही राजा अप्राप्त वस्तुओंकी प्राप्ति और प्राप्त वस्तुओंको प्रतिपालन रूप योगक्षेम कुशलदायक हुआ करता है । धर्मात्मा राजा राज्य पाके किसीको दान, किसीको बल और किसीको मीठे वचनसे सब भांति अपने वशमें करे । सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए पण्डित लोग जिसके आश्रय लाभसे परितृप्त होकर निर्भय और स्वच्छन्दताके सहित वास करते हैं, स्वयं धर्मको भी उससे श्रेष्ठ नहीं समझा जाता । (३०-३२)

युधिष्ठिर बोले, पितामह ! स्वर्ग प्राप्तिका उत्तम उपाय क्या है ? उससे उत्तम प्रीति कौनसी है और उससे श्रेष्ठ ऐश्वर्य ही कौनसा है ? यदि यह सब आपको मालूम हो, तो मेरे निकट यथावत् वर्णन कीजिये । (३३)

भीष्म बोले, हे नरनाथ ! जो राजा भयपीडित मनुष्योंको क्षणभरके बीच उस भयसे छुडाके उन लोगोंका मङ्गल

त्वमेव प्रीतिमांस्तस्मात्कुरूणां कुरुसत्तम।
भव राजा जय स्वर्गं सतो रक्षाऽसतो जहि ॥ ३५ ॥
अनु त्वां तात जीवन्तु सुहृदः साधुभिः सह।
पर्जन्यमिव भूतानि स्वादुद्रुममिव द्विजाः ॥ ३६ ॥
धृष्टं शूरं प्रहर्तारमनृशंसं जितेन्द्रियम्।
वत्सलं संविभक्तारमुपजीवन्ति तं नराः ॥ ३७ ॥ [२८४१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पंचसप्ततितमोऽध्यायः॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर उवाच— स्वकर्मण्यपरे युक्तास्तथैवाऽन्ये विकर्मणि।
तेषां विशेषमाचक्ष्व ब्राह्मणानां पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— विद्यालक्षणसंपन्नाः सर्वत्रसमदर्शिनः।
एते ब्रह्मसमा राजन्ब्राह्मणाः परिकीर्तिताः ॥ २ ॥
ऋग्यजुः सामसम्पन्नाः स्वेषु कर्मस्ववस्थिताः।
एते देवसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ३ ॥

विधान करता है, वह राजा ही हम लोगोंके बीच स्वर्गजित् है, यह मैं तुम्हारे निकट सत्य ही कहता हूं। हे कुरुसत्तम! कुरुकुलमें तुम ही प्रीतिमान हो; इससे तुम राजा होकर स्वर्गजय, साधुओंका पालन और दुष्टोंका शासन करो। हे तात! जैसे सब प्राणी जल और पक्षी सुस्वादु फलसे युक्त वृक्षके आसरेसे जीवन धारण करते हैं; वैसे ही साधुओंके सहित सुहृद लोग तुम्हें उपजीव्य करके जीवन धारण करें। जो राजा शूर, दुष्टोंको नाश करनेवाले, अनृशंस, जितेन्द्रिय प्रजावत्सल, अतिथि और अपने अधीनमें रहनेवाले परिवार समूहको भोजन कराके आप भोजन करता है, मनुष्य लोग उस ही राजाका आसरा करके जीवन यात्रा निर्वाह करते हैं। (३४-३७) [२८४१]

शान्तिपर्वमें पचत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें छहत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, पितामह! जो स्वकर्ममें रत और जो निषिद्ध कर्मोंमें रत हैं, उन सब ब्राह्मणोंमें कौनसी विशेषता है? वह मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे राजन्! जो लोग विद्या और शम, दम आदि लक्षणोंसे युक्त और सबमें समदर्शी हैं, वे ब्राह्मण लोग ही ब्रह्मतुल्य कहे जाते हैं। ब्राह्मणोंके बीच जो लोग स्वकर्ममें रत होके ऋक यजु और साम इन तीनों

जन्मकर्मविहीना ये कदर्या ब्रह्मबन्धवः।
एते शूद्रसमा राजन् ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ४ ॥
अश्रोत्रियाः सर्व एव सर्वे चानाहिताग्नयः।
तान्सर्वान्धार्मिको राजा बलिं विष्टिं च कारयेत् ॥५॥
आह्वायका देवलका नाक्षत्रा ग्रामयाजकाः।
एते ब्राह्मणचांडाला महापथिकपञ्चमाः ॥ ६ ॥
ऋत्विक्पुरोहितो मन्त्री दूतो वार्तानुकर्षकः।
एते क्षत्रसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ७ ॥
अश्वारोहा गजारोहा रथिनोऽथ पदातयः।
एते वैश्यसमा राजन्ब्राह्मणानां भवन्त्युत ॥ ८ ॥
एतेभ्यो बलिमादद्याद्धीनकोशो महीपतिः।
ऋते ब्रह्मसमेभ्यश्च देवकल्पेभ्य एव च ॥ ९ ॥
अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम्।
ब्राह्मणानां च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ १० ॥
विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन।

वेदोंको जानते हैं, वे लोग देवता समान माने जाते हैं। हे राजन्! श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके बीच जो जन्मोचित कर्महीन महा नीच कर्म करने वाले और ब्रह्मबन्धु हैं, वे शूद्रके समान होते हैं। जो सब ब्राह्मण वेदाध्ययन रहित और निरग्निक हैं, धर्मात्मा राजा उनसे कर ग्रहण करे और विना वेतन ही उनसे राज्यकी सेवकाई करावे। हे राजन्! जो धर्माधिकारमें नियुक्त रहते और वेतन लेकर देवपूजा, नक्षत्र गणना, ग्रामयाजन और महापथ अर्थात् नौका पर चढके समुद्रमें गमन करते हैं, शास्त्रमें ये पांचों ही ब्राह्मण चाण्डाल कहाते हैं। और भी ब्राह्मणोंके बीच जो लोग ऋत्विक्, पुरोहित, मन्त्री, दूत और वार्त्तावहका कार्य करते हैं; वे क्षत्रिय तुल्य समझे जाते हैं। जो लोग घुडसवार, गजसवार, रथी और पदातिका कार्य करते हैं, वे वैश्य तुल्य कहाते हैं। हे पृथ्वीनाथ! राजा कोष रहित होने पर पहिले कहे हुए ब्रह्म समान और वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंके अतिरिक्त इन सब ब्राह्मणोंसे कर ग्रहण करे, उससे उसे अधर्म नहीं होता; क्यों कि इस प्रकार वैदिक शासन है, कि ब्राह्मणोंके बीच जो लोग निषिद्धकर्म करते हैं, उनके और अब्राह्मणोंके धनका राजा ही स्वामी हुआ करता है।(२-१०)

नियम्याः संविभज्याश्च धर्मानुग्रहकारणात् ॥ ११ ॥
यस्य स्म विषये राजन्स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते तद्विदो जनाः ॥ १२ ॥
अवृत्त्या यो भवेत्स्तेनो वेदवित्स्नातकस्तथा ।
राजन्स राज्ञा भर्त्तव्य इति वेदविदो विदुः ॥ १३ ॥
स चेन्नोपरि वर्तेत कृतवृत्तिः परन्तप ।
ततो निर्वासनीयः स्यात्तस्माद्देशात्सबान्धवः ॥१४॥ २८५५

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच— केषां प्रभवते राजा वित्तस्य भरतर्षभ ।
कया च वृत्त्या वर्तेत तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अब्राह्मणानां वित्तस्य स्वामी राजेति वैदिकम् ।
ब्राह्मणानां च ये केचिद्विकर्मस्था भवन्त्युत ॥ २ ॥
विकर्मस्थाश्च नोपेक्ष्या विप्रा राज्ञा कथञ्चन ।
इति राज्ञां पुरावृत्तमभिजल्पन्ति साधवः ॥ ३ ॥

राजा दूसरेके कर्ममें रत ब्राह्मणोंके विषयमें किसी प्रकार भी उपेक्षा न करे, बल्कि धर्मानुग्रह निबन्धनसे उन लोगोंको राजनियममें नियमित और पूर्ण रीतिसे पृथक् कर रखे। हे राजन्! जिस राजाके राज्यमें ब्राह्मण चोर होता है, धर्म जाननेवाले पुरुष वह अपराध राजाके ही ऊपर आरोपित किया करते हैं। हे नरनाथ! इससे पण्डित लोग ऐसा कहा करते हैं, कि जो जीविका रहित वेद जाननेवाले स्नातक ब्राह्मण राज्यके बीच चोर होंगे; राजाको ही उनका भरण पोषण करना होगा। यद्यपि वह ब्राह्मण राजाके निकट वृत्ति प्राप्त होने पर भी चोरी कर्मसे निवृत्त न होवे, तो ऐसा होनेसे राजा उसे बन्धुबान्धवोंके सहित निज देशसे निकाल देवे। (११-१४) [२८५५]

शान्तिपर्वमें छहत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सतत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ पितामह! राजा किसके धनाधिकारके प्रभु होंगे और कैसी वृत्ति अवलम्बन करके रहेंगे; वह मुझसे कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे राजन्! ऐसी जनश्रुति है, कि ब्राह्मणोंमें जो लोग कुकर्मी हैं, उनका और अब्राह्मणोंका राजा ही धन स्वामी होता है; और साधु पुरुष राजाके विषयमें ऐसा कहा करते हैं कि ब्राह्मण कुकर्मी होनेपर राजा कभी भी

यस्य स्म विषये राज्ञः स्तेनो भवति वै द्विजः ।
राज्ञ एवापराधं तं मन्यन्ते किल्बिषं नृप ॥ ४ ॥
अभिशस्तमिवात्मानं मन्यन्ते ये न कर्मणा ।
तस्माद्राजर्षयः सर्वे ब्राह्मणानन्वपालयन् ॥ ५ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं कैकयराजेन ह्रियमाणेन रक्षसा ॥ ६ ॥
केकयानामधिपतिं रक्षो जग्राह दारुणम् ।
स्वाध्यायेनान्वितं राजन्नरण्ये संशितव्रतम् ॥ ७ ॥

राजोवाच— न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यो न मद्यपः ।
नानाऽऽहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ८ ॥
न च मे ब्राह्मणोऽविद्वान्नाव्रती नाप्यसोमपः ।
नानाऽऽहिताग्निर्नायज्वा मामकान्तरमाविशः ॥ ९ ॥
नानाप्रदक्षिणैर्यज्ञैर्यजन्ते विषये मम ।
नाधीते नाऽव्रती कश्चिन्मामकान्तरमाविशः ॥ १० ॥
अधीयन्तेऽध्यापयन्ति यजन्ते याजयन्ति च ।
ददाति प्रतिगृह्णन्ति षट्सु कर्मस्ववस्थिताः ॥ ११ ॥
पूजिताः संविभक्ताश्च मृदवः सत्यवादिनः ।

उसके विषयमें उपेक्षा न करे। जिस राज्यमें ब्राह्मण चोर होता है, पण्डित लोग वह दोष राजाके ही ऊपर आरोपित करते हैं; इससे राजऋषि लोग ब्राह्मणोंके वैसे कर्मसे अपनेको ही दोषी समझके उनका पालन किया करते हैं। हे राजन्! केकयराजने राक्षससे वनमें हरे जाने पर जो कुछ वचन कहे थे, पण्डित लोग इस स्थलमें उसही प्राचीन इतिहासको प्रमाण रूपसे वर्णन किया करते हैं। किसी राक्षसने वनके बीच स्वाध्यायरत व्रतमें तत्पर, पराक्रमी केकयराजको ग्रहण किया, तब केकयराजने उससे कहा कि मेरे राज्यमें चोर, कायर, मद्य पीनेवाले, निरग्निक और यज्ञहीन कोई भी नहीं है; इससे तुम मुझे स्पर्श मत करो, मेरे निकटसे दूर रहो। मेरे राज्यमें दक्षिणाहीन यज्ञ नहीं होते, कोई व्रतहीन पुरुष वेद नहीं पढते, अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान और प्रतिग्रह ये छःहों कर्म सदा विद्यमान हैं और निज कर्ममें तत्पर, सत्यवादी, शान्त ब्राह्मण लोग मेरे राज्यमें सदा सम्मानित और पूजित हुआ करते हैं।

ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १२ ॥
न याचन्ति प्रयच्छन्ति सत्यधर्मविशारदाः ।
नाध्यापयन्त्यधीयन्ते यजन्ते याजयन्ति न ॥ १३ ॥
ब्राह्मणान्परिरक्षन्ति संग्रामेष्वपलायिनः ।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १४ ॥
कृषिगोरक्षवाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया ।
अप्रमत्ताः क्रियावन्तः सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ १५ ॥
संविभागं दमं शौचं सौहृदं च व्यपाश्रिताः ।
मम वैश्याः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १६ ॥
त्रीन्वर्णानुपजीवन्ति यथावदनसूयकाः ।
मम शूद्राः स्वकर्मस्था मामकान्तरमाविशः ॥ १७ ॥
कृपणानाथवृद्धानां दुर्बलातुरयोषिताम् ।
संविभक्ताऽस्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १८ ॥
कुलदेशादिधर्माणां प्रथितानां यथाविधि ।

इससे तुम मुझे स्पर्श न करो मेरे समीपसे दूर रहो । (२—१२)

मेरे राज्यमें सत्यधर्म जाननेवाले क्षत्रिय लोग किसीके समीप याचना नहीं करते, सब ही दान किया करते हैं, पढते हैं, पढाते नहीं; यज्ञ करते हैं, कराते नहीं; और वे सब ब्राह्मणोंके प्रतिपाल करनेवाले, युद्धमें पीछे न हटनेवाले तथा निज कर्ममें रत हैं; इससे तुम मुझे स्पर्श मत करो, मेरे समीपसे दूर रहो । मेरे राज्यमें वैश्य लोग कपट रहित होके कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य वृत्ति अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करते हैं, वे सब ही सावधान, क्रियावान, उत्तम व्रत करनेवाले, सत्यवादी निज कर्ममें रत और परस्पर संविभाग युक्त दम, पवित्रता और सुहृदताका आसरा किया करते हैं । इस लिये तुम मेरे समीप किस कारण आये हो ? (१३-१६)

मेरे राज्यमें शूद्रलोग असूया-रहित, निज कर्ममें स्थित और ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य इन तीनों वर्णोंके अवलम्बसे यथा उचित जीविका निर्वाह किया करते हैं; इस कारण तुम मेरे पास क्यों आये हो ? मैं कृपण, अनाथ, वृद्ध, निर्बल, आतुर और स्त्रियोंकी यथा उचितसे सेवा किया करता हूं, कुलधर्म और देशधर्म यथारीतिसे स्थापित करता हूं, किसीको नष्ट नहीं करता, मेरे

अभ्युच्छेत्ताऽस्मि सर्वेषां मामकान्तरमाविशः ॥ १९ ॥
तपस्विनो मे विषये पूजिताः परिपालिताः।
संविभक्ताश्च सत्कृत्य मामकान्तरमाविशः ॥ २० ॥
नासंविभज्य भोक्ताऽस्मि नाविशामि परस्त्रियम्।
स्वतन्त्रो जातु न क्रीडे मामकान्तरमाविशः ॥ २१ ॥
नाब्रह्मचारी भिक्षावान्भिक्षुर्वाऽब्रह्मचर्यवान्।
अनृत्विजाहुतं नास्ति मामकान्तरमाविशः ॥ २२ ॥
नावजानाम्यहं वैद्यान्न वृद्धान्न तपस्विनः।
राष्ट्रे स्वपति जागर्मि मामकान्तरमाविशः ॥ २३ ॥
आत्मविज्ञानसम्पन्नस्तपस्वी सर्वधर्मवित्।
स्वामी सर्वस्य राष्ट्रस्य धीमान्मम पुरोहितः ॥ २४ ॥
दानेन विद्यामभिवाञ्छयामि सत्येनार्थं ब्राह्मणानां च गुप्त्या।
शुश्रूषया चापि गुरूनुपैमि न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥ २५ ॥
न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
अयाज्ययाजी न च पापकर्मा न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥२६॥

समीप तपस्वी लोग आदरके सहित पूजित प्रतिपालित और संविभक्त हुआ करते हैं, मैं सबको विना भोजन कराये भोजन नहीं करता, पराई स्त्री स्पर्श नहीं करता और कभी स्वतन्त्र क्रीडा नहीं करता; इससे तुम्हें मुझे ग्रहण करनेका अधिकार नहीं है; तुम मेरे समीपसे दूर होजाओ। मेरे राज्यमें अब्रह्मचारी भिक्षा-वृत्ति अवलम्बन नहीं करते, भिक्षुक ही ब्रह्मचर्य करते हैं, और ऋत्विकके अतिरिक्त दूसरे पुरुषके जरिये देवताओंको आहुति नहीं दी जाती, इससे तुम मेरे निकटसे दूर रहो। मैं वैद्य, वृद्ध और तपस्वियोंकी अवज्ञा नहीं करता और समस्त जनपद वासियोंके सोनेपर मैं जागता रहता हूं, मेरा पुरोहित आत्मज्ञान और विज्ञानसे युक्त, तपस्वी सब धर्म जाननेवाले बुद्धिमान और सब राज्यका स्वामी है। मैं दानसे विद्या, ब्राह्मणोंकी रक्षा और सत्यसे स्वर्गादि लोक प्राप्ति की इच्छा किया करता हूं और शुश्रूषासे गुरुजनोंके अनुकूल हूं; इससे राक्षससे मुझे भय नहीं है। मेरे राज्यमें विधवा, ब्रह्मबन्धु, अब्राह्मण, शठ, चोर, मांगनेके अयोग्य वस्तुओंके मांगनेवाले, और पाप कर्म करनेवाले कोई भी नहीं है, इससे राक्षससे मैं नहीं डरता। मैं धर्मार्थ ही युद्ध

न मे शस्त्रैरनिर्भिन्नं गात्रे ह्यंगुलमन्तरम्।
धर्मार्थं युध्यमानस्य मामकान्तरमाविशः ॥ २७ ॥
गोब्राह्मणेभ्यो यज्ञेभ्यो नित्यं स्वस्त्ययनं मम।
आशासते जना राष्ट्रे मामकान्तरमाविशः ॥ २८ ॥

राक्षस उवाच- यस्मात्सर्वास्ववस्थासु धर्ममेवान्ववेक्षसे।
तस्मात्प्राप्नुहि कैकेय गृहं स्वस्ति व्रजाम्यहम् ॥ २९ ॥
येषां गोब्राह्मणं रक्ष्यं प्रजा रक्ष्याश्च केकय।
न रक्षोभ्यो भयं तेषां कुत एव तु पावकात् ॥ ३० ॥
येषां पुरोगमा विप्रा येषां ब्रह्म परं बलम्।
अतिथिप्रियास्तथा पौरास्ते वै स्वर्गजितो नृपाः ॥३१॥

भीष्म उवाच तस्माद् द्विजातीन् रक्षेत ते हि रक्षन्ति रक्षिताः।
आशीरेषां भवेद्राजन् राज्ञां सम्यक्प्रवर्तताम् ॥ ३२ ॥
तस्माद्राज्ञा विशेषेण विकर्मस्था द्विजातयः।
नियम्याः संविभज्याश्च तदनुग्रहकारणात् ॥ ३३ ॥
एवं यो वर्तते राजा पौरजानपदेष्विह।

किया करता हूं, इससे मेरा शरीर दो अंगुल मात्र भी शस्त्रसे विद्ध नहीं होता; और मेरे राज्यमें सब प्रजा गऊ, ब्राह्मणकी रक्षा तथा यज्ञके वास्ते मेरी मङ्गल कामना किया करती है, इससे तुम मुझे स्पर्श मत करो, मेरे निकटसे दूर हो जाओ। (१७-१८)

राक्षस बोला, हे केकयराज! आप सब समय धर्मकी पर्यालोचना करते हैं, इससे मैंने आपको परित्याग किया; अब आपका मङ्गल होवे, आप अपने घर जाइये; मैं अपने स्थानपर जाता हूं। हे केकय! जो गऊ, ब्राह्मण और प्रजाको आपदसे बचाते हैं, उन्हें राक्षस वा अग्निसे भय नहीं होता; और ब्राह्मण लोग जिनके अग्रगामी हैं, जिनका बल ब्रह्मपरक और जो अतिथि प्रिय हैं, वे राजा समस्त स्वर्ग लोकको जय किया करते हैं। (२९--३१)

भीष्म बोले, हे राजन्! इस ही कारण ब्राह्मणोंका पालन करना राजाको अवश्य उचित है। क्यों कि वे लोग राजासे रक्षित होकर उसे ऐसी आपदसे बचाते हैं और राज्यादिके निमित्त सब भांतिसे वृद्धिसूचक आशीर्वाद दिया करते हैं। इस ही वास्ते दूसरे कर्ममें रत ब्राह्मणोंको राजा कृपापूर्वक नियमित और यथारीतिसे विभक्त कर रखे।

अनुसूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ३४ ॥ [२८८९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कैकेयोपाख्याने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— व्याख्याता राजधर्मेण वृत्तिरापत्सु भारत ।
कथंस्विद्वैश्यधर्मेण सञ्जीवेद्ब्राह्मणो न वा ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अशक्तः क्षत्रधर्मेण वैश्यधर्मेण वर्तयेत् ।
कृषिगोरक्ष्यमास्थाय व्यसने वृत्तिसंक्षये ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कानि पण्यानि विक्रीय स्वर्गलोकान्न हीयते ।
ब्राह्मणो वैश्यधर्मेण वर्तयन्भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— सुरा लवणमित्येव तिलान्केसरिणः पशून् ।
वृषभान्मधुमांसं च कृतान्नं च युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
सर्वास्ववस्थास्वेतानि ब्राह्मणः परिवर्जयेत् ।
एतेषां विक्रयात्तात ब्राह्मणो नरकं व्रजेत् ॥ ५ ॥
अजोऽग्निर्वरुणो मेषः सूर्योऽश्वः पृथिवी विराट् ।
धेनुर्यज्ञश्च सोमश्च न विक्रेयाः कथञ्चन ॥ ६ ॥

जो राजा पुरवासी प्रजासमूहके साथ इसी भांति आचरण करता है वह इस लोकमें सब सुख भोगके परलोकमें इन्द्रके समान स्थान प्राप्त करता है। (३२--३४) [२८८९]

शान्तिपर्वमें सतत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अठत्तर अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत ! आपने कहा है, आपदकालमें ब्राह्मण लोग राजधर्म अर्थात् शस्त्रधारण आदि कार्योंसे जीविका निर्वाह कर सकते हैं; परन्तु वे लोग वैश्य धर्म अर्थात् व्यवसायसे जीविकाका उपाय कर सकते हैं वा नहीं ? भीष्म बोले, क्षत्रधर्ममें असमर्थ ब्राह्मण लोग वृत्तिक्षय रूपी व्यसन उपस्थित होनेपर कृषि और गोरक्षा व्यवसाय अवलम्बन करके जीविका निर्वाह करें। (१-२)

युधिष्ठिर बोले, हे भरतर्षभ ! वैश्य धर्म अवलम्बन करनेवाले ब्राह्मण लोग किन वस्तुओंके बेचनेसे स्वर्गच्युत नहीं होते। भीष्म बोले, हे तात युधिष्ठिर ! ब्राह्मण लोग सब समयमें ही सुरा, लवण, तिल, घोडे, गऊ, भैंस आदि पशु, ऋषभ, मधु और पक्वान्न आदि सब वस्तु न बेंचे; क्यों कि इन वस्तु बेचनेसे ब्राह्मण नरकगामी होंगे। अज, अग्नि, वरुण, बादल, सूर्य, घोडे, पृथ्वी,

पक्वेनामस्य निमयं न प्रशंसन्ति साधवः।
निमयेत्पक्वमामेन भोजनार्थाय भारत ॥ ७ ॥
वयं सिद्धमशिष्यामो भवान्साधयतामिदम्।
एवं संवीक्ष्य निमयन्नाधर्मोऽस्ति कथञ्चन ॥ ८ ॥
अत्र ते वर्तयिष्यामि पुरा धर्मः सनातनः।
व्यवहारप्रवृत्तानां तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ९ ॥
भवतेऽहं ददानीदं भवानेतत्प्रयच्छतु।
रुचितो वर्तते धर्मो न बलात्संप्रवर्तते ॥ १० ॥
इत्येवं सम्प्रवर्तन्ते व्यवहाराः पुरातनाः।
ऋषीणामितरेषां च साधु चैतदसंशयम् ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच- अथ तात यदा सर्वाः शस्त्रमाददते प्रजाः।
व्युत्क्रामन्ति स्वधर्मेभ्यः क्षत्रस्य क्षीयते बलम् ॥१२॥
राजा त्राता तु लोकस्य कथं च स्यात्परायणम्।
एतन्मे संशयं ब्रूहि विस्तरेण नराधिप ॥ १३ ॥

अन्न, गऊ, यज्ञ और सोम ये सब वस्तु कदापि ब्राह्मणोंको बेचने योग्य नहीं हैं। हे भारत! साधुपुरुष पक्वान्नके सङ्ग आमान्नके बदलनेकी निन्दा किया करते हैं; परन्तु भोजनके वास्ते आमान्न के साथ पक्वान्नके बदलनेसे उसकी निन्दा नहीं करते, यदि कोई किसीको "मैं सिद्धान्न भोजन करूंगा आप आमान्न ग्रहण कीजिये," ऐसा कहके आमान्नके साथ सिद्धान्नको बदल करे, तो इस प्रकारके अदलबदलमें किसी भांति भी अधर्म नहीं हो सकता। हे युधिष्ठिर! इस विषयमें व्यवहारमें प्रवृत्त पुरुषोंका जो सनातन धर्म है वह तुमसे कहता हूं,सुनो! यदि कोई किसी पुरुषको "मैं तुम्हें यह वस्तु देता हूं, तुम मुझे अमुक वस्तु प्रदान करो," ऐसा कहके इच्छानुसार बदल करे, ऐसा होनेसे उसमें धर्म होता है, परन्तु बल-पूर्वक बदलनेसे उसमें धर्म नहीं हो सकता। ऋषि और इतर लोगोंका इसी भांति प्राचीन व्यवहार प्रचलित हुआ करता है यही उत्तम है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। (७-११)

युधिष्ठिर बोले, हे तात! जब वैश्य, शूद्र और अन्त्यज आदि प्रजासमूह निजधर्म परित्याग करके शस्त्र ग्रहण करेंगी; उस समय क्षत्रिय बल क्षीण होगा। हे नरनाथ! उस समय बलहीन राजा किस प्रकार लोकयात्रा और

भीष्म उवाच— दानेन तपसा यज्ञैरद्रोहेण दमेन च।
ब्राह्मणप्रमुखा वर्णाः क्षेममिच्छेयुरात्मनः ॥ १४ ॥
तेषां ये वेदबलिनस्तेऽभ्युत्थाय समन्ततः।
राज्ञो बलं वर्धयेयुर्महेन्द्रस्येव देवताः ॥ १५ ॥
राज्ञोऽपि क्षीयमाणस्य ब्रह्मैवाहुः परायणम्।
तस्माद्ब्रह्म बलेनैव समुत्थेयं विजानता ॥ १६ ॥
यदा भुविजयी राजा क्षेमं राष्ट्रेऽभिसन्दधेत्।
तदा वर्णा यथाधर्मं निविशेयुः कथञ्चन ॥ १७ ॥
उन्मर्यादे प्रवृत्ते तु दस्युभिः सङ्करे कृते।
सर्वे वर्णा न दुष्येयुः शस्त्रवन्तो युधिष्ठिर ॥ १८ ॥
युधिष्ठिर उवाच— अथ चेत्सर्वतः क्षत्रं प्रदुष्येद्ब्राह्मणं प्रति।
कस्तस्य ब्राह्मणस्त्राता को धर्मः किं परायणम् ॥ १९ ॥
भीष्म उवाच— तपसा ब्रह्मचर्येण शस्त्रेण च बलेन च।

सब लोगोंका परम आश्रय होगा ? मुझे यह सन्देह हो रहा है, आप इस विषयको मुझसे विस्तारपूर्वक कहिये। (१२-१३)

भीष्म बोले, ब्राह्मण आदि सब वर्ण दान, तपस्या, यज्ञ, अहिंसा और इन्द्रियदमनसे अपने अपने कुशलकी अभिलाष करते हैं, परन्तु उन लोगोंके बीच जो ब्राह्मण वेद-बलशाली हैं, वे लोग सब भांतिसे बढके इन्द्रके बल बढानेवाले देवतोंकी भांति राजाका बल बढाते हैं। और पण्डित लोग ऐसे कहा करते हैं, कि ब्राह्मण ही बलहीन राजाके परम आश्रय हैं; इससे बुद्धिमान राजा ब्रह्मबल अवलम्बन करके ही समुत्थित होते है। (१४-१६)

परन्तु जयशील राजा जब राज्यके बीच सबके क्लेशका अनुसन्धान करेंगे, तब सब वर्ण किस प्रकार निज निज धर्मसे भ्रष्ट होंगे। हे युधिष्ठिर ! जब डाकू लोग प्रजासमूहकी मर्यादा और जाति नाश करनेमें प्रवृत्त होंगे, उस समय सब वर्णही शस्त्र ग्रहण करनेसे दोष युक्त नहीं होंगे। (१७-१८)

युधिष्ठिर बोले, पितामह ! यदि क्षत्रिय ब्राह्मणोंके विषयमें दोषदर्शी होकर विरुद्ध आचरण करे, तो वह ब्राह्मण कौन धर्म अवलम्बन करेगा ? और उसका आश्रय तथा परित्राण करनेवाला कौन होगा ? भीष्म बोले, उस समय ब्राह्मण तपस्या, ब्रह्मचर्य, शस्त्रबल, शठता वा सरलता आदि जिस

अमायया मायया च नियन्तव्यं तदा भवेत् ॥ २० ॥
क्षत्रियस्यातिवृत्तस्य ब्राह्मणेषु विशेषतः ।
ब्रह्मैव सन्नियन्तृ स्यात्क्षत्रं हि ब्रह्मसम्भवम् ॥ २१ ॥
अद्भ्योऽग्निर्ब्रह्मतः क्षत्रमश्मनो लोहमुत्थितम् ।
तेषां सर्वत्रगं तेजः स्वासु योनिषु शाम्यति ॥ २२ ॥
यदा छिनत्त्ययोऽश्मानमग्निश्चापोऽभि गच्छति ।
क्षत्रं च ब्राह्मणं द्वेष्टि तदा नश्यन्ति ते त्रयः ॥ २३ ॥
तस्माद्ब्रह्मणि शाम्यन्ति क्षत्रियाणां युधिष्ठिर ।
समुदीर्णान्यजेयानि तेजांसि च बलानि च ॥ २४ ॥
ब्रह्मवीर्ये मृदूभूते क्षत्रवीर्ये च दुर्बले ।
दुष्टेषु सर्ववर्णेषु ब्राह्मणान्प्रति सर्वशः ॥ २५ ॥
ये तत्र युद्धं कुर्वन्ति त्यक्त्वा जीवितमात्मनः ।
ब्राह्मणान्परिरक्षन्तो धर्ममात्मानमेव च ॥ २६ ॥
मनस्विनो मन्युमन्तः पुण्यश्लोका भवन्ति ते ।
ब्राह्मणार्थं हि सर्वेषां शस्त्रग्रहणमिष्यते ॥ २७ ॥
अतिस्विष्टमधीतानां लोकानतितपस्विनाम् ।

उपायसे होसके, वही क्षत्रियको शासित करे । विशेष करके ब्राह्मणसे क्षत्रिय उत्पन्न हुए हैं, इससे यद्यपि क्षत्रिय ब्राह्मणोंके सङ्ग विरुद्धाचरण करनेमें प्रवृत्त हो, तो ब्राह्मण ही उसके नियन्ता होंगे । जलसे अग्नि, ब्राह्मणसे क्षत्रिय और पत्थरसे लोहा उत्पन्न हुआ है; इससे उनका सर्वत्रगामी तेज निज निज योनिमें शान्त हुआ करता है । जब लोहा पत्थरको भेदता, अग्नि जलको मंथती और क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करते है तब वह लोह, अग्नि और क्षत्रिय स्वयं नष्ट होजाते हैं । हे युधिष्ठिर ! इससे क्षत्रियोंका अत्यन्त अजेय तेज ब्राह्मणोंके समीप शान्त हुआ करता है । (१९-२४)

ब्रह्मबल कोमल तथा क्षत्रियबल निर्बल और सब वर्ण ब्राह्मणोंके विरुद्ध होनेपर जो लोग ब्राह्मणधर्म और आत्मरक्षाके वास्ते उस उसय जीवनकी आशा त्यागके शस्त्र ग्रहण कर युद्ध करनेके वास्ते उद्यत होते हैं, वे मनस्वी मननशील मनुष्य ही पुण्य- स्थान प्राप्त करते हैं; क्यों कि ब्राह्मणोंके वास्ते सबको ही शस्त्र ग्रहण करनेकी विधि है । हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही क्यों; यज्ञ, वेदा-

अनाशकाग्न्योर्विशतां शूरा यान्ति परां गतिम् ॥२८॥
ब्राह्मणस्त्रिषु वर्णेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।
एवमेवात्मनस्त्यागान्नान्यं धर्मं विदुर्जनाः ॥ २९ ॥
तेभ्यो नमश्च भद्रं च ये शरीराणि जुह्वते ।
ब्रह्मद्विषो नियच्छन्तस्तेषां नोऽस्तु सलोकता ॥ ३० ॥
ब्रह्मलोकजितः स्वर्ग्यान्वीरांस्तान्मनुरब्रवीत् ।
यथाऽश्वमेधावभृथे स्नाताः पूता भवन्त्युत ।
दुष्कृतस्य प्रणाशेन ततः शस्त्रहता रणे ॥ ३१ ॥
भवत्यधर्मो धर्मो हि धर्माधर्मावुभावपि ।
कारणाद्देशकालस्य देशकालः स तादृशः ॥ ३२ ॥
मैत्राः क्रूराणि कुर्वन्तो जयंति स्वर्गमुत्तमम् ।
धर्म्याः पापानि कुर्वाणा गच्छन्ति परमां गतिम् ॥३३॥
ब्राह्मणस्त्रिषु कालेषु शस्त्रं गृह्णन्न दुष्यति ।

ध्ययन, तपस्या, अनशन और अग्नि-प्रवेशकारी पुरुषोंसे ब्राह्मणहितैषी पुरुष उत्तम गति प्राप्त करते हैं। इसी भांति ब्राह्मणके वास्ते क्षत्रिय वैश्य और शूद्र इन तीनों वर्णोंके वास्ते शस्त्र ग्रहण करनेसे ये दूषित नहीं होते, और सब लोग ऐसा समझते हैं, कि उनके वास्ते आत्मत्यागी होनेपर उससे बढके कोई भी धर्म श्रेष्ठ नहीं होसकता। मनुने कहा है कि जो लोग साधारणकी रक्षाके वास्ते युद्धरूपी आगमें निज शरीरकी आहुति देते और ब्राह्मणद्वेषी लोगोंको दमन करते हैं, उन्हें नमस्कार है, क्यों कि वे लोग वैसे कार्योंसे निज मङ्गल और हम लोगोंको सलोकता प्राप्त तथा ब्रह्मलोक और स्वर्गलोकको जय करनेमें समर्थ होते हैं। और भी जैसे मनुष्य लोग अश्वमेध यज्ञके अवभृत स्नानसे पवित्र होते हैं और उनके सब पाप दूर होते हैं। वैसे ही युद्धमें मरा हुआ पुरुष भी पवित्र होता और उसका पाप दूर होता है। (२५-३०)

हे राजन्! देशकालके व्यतिक्रम होनेसे उस देशकालके अनुसार ही धर्माधर्मका भी व्यतिक्रम अर्थात् धर्म अधर्म और अधर्म धर्म हुआ करता है। देखिये,(उत्तङ्क और पराशर आदि महर्षि लोगोंने)क्रूर कर्म करके भी उत्तम स्वर्ग लोक जयकिया है और धर्मात्मा क्षत्रिय लोग भी पाप कर्म करके परम-गतिको प्राप्त हुए हैं। ब्राह्मण लोग आत्मरक्षा, वर्णदोष और दुष्ट डाकुओंको नाश कर-

आत्मत्राणे वर्णदोषे दुर्दम्यनियमेषु च ॥ ३४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अभ्युत्थिते दस्युबले क्षत्रार्थे वर्णसङ्करे।
संप्रमूढेषु क्षेत्रेषु यद्यन्योऽभिभवेद्बली ॥ ३५ ॥
ब्राह्मणो यदि वा वैश्यः शूद्रो वा राजसत्तम।
दस्युभ्योऽथ प्रजा रक्षेद्दण्डं धर्मेण धारयन् ॥ ३६ ॥
कार्यं कुर्यान्न वा कुर्यात्स वार्यो वा भवेन्न वा।
तस्माच्छस्त्रं गृहीतव्यमन्यत्र क्षत्रबन्धुतः ॥ ३७ ॥

भीष्म उवाच— अपारे यो भवेत्पारमप्लवे यः प्लवो भवेत्।
शूद्रो वा यदि वाऽप्यन्यः सर्वथा मानमर्हति ॥ ३८ ॥
यमाश्रित्य नरा राजन्वर्तयेयुर्यथासुखम्।
अनाथाः परिकाल्यन्तो दस्युभिः परिपीडिताः ॥३९॥
तमेव पूजयेयुस्ते प्रीत्या स्वमिव बान्धवम्।
अभीरभीक्ष्णं कौरव्य कर्ता सन्मानमर्हति ॥ ४० ॥
किं तैर्येऽनडुहो नोह्याः किं धेन्वा वाऽप्यदुग्धया।

नेके वास्ते सब समयमें ही शस्त्र ग्रहण कर सकते हैं, उसमें उन्हें दोष नहीं होता। (३१—३४)

युधिष्ठिर बोले, हे राजसत्तम! डाकुओंका दल प्रजा पालनके निमित्त तैय्यार होके, वर्ण सङ्कर अर्थात् परस्पर स्त्रीहरण आदि कार्योंमें प्रवृत्त होने और सब लोगोंके सब भांतिसे मूढ होनेपर यदि दूसरा कोई बलवान क्षत्रिय डाकुओंके दलको नष्ट करे; तथा ब्राह्मण, वैश्य और शूद्रोंके बीच राजधर्मके अनुसार दण्ड धारण करके प्रजा समूहकी रक्षा करे, तो वह पुरुष राजकार्य करनेके कारण सबका स्वामी हो सकता है वा नहीं? और उस सम्बन्धसे क्षत्रबन्धुके अतिरिक्त दूसरे शस्त्र ग्रहण कर सकेंगे वा नहीं। (३५-३७)

भीष्म बोले, जो अपार पारावारके पार अर्थात् तीर स्वरूप और नौकाहीन समुद्रमें नौका स्वरूप होते हैं, वे शूद्र अथवा चाहे कोई वर्ण क्यों न होवें, समाजके बीच सब भांतिसे सम्मानके पात्र हुआ करते हैं। हे राजन्! अनाथ मनुष्य डाकुओंसे पराजित अथवा पीडित होकर जिसका आसरा ग्रहण करके सुख पूर्वक निवास करते हैं, वे सब कोई निज बान्धवोंकी भांति उस रक्षा करनेवालेकी प्रीतिके सहित पूजा किया करते हैं; क्यों कि अभयदाता अनाथ मनुष्योंमें सदा संमाननीय हुआ करता

वन्ध्यया भार्यया कोऽर्थः कोऽर्थो राज्ञाऽप्यरक्षता॥४१॥
यथा दारुमयो हस्ती यथा चर्ममयो मृगः।
यथा ह्यनर्थः षण्ढो वा पार्थ क्षेत्रं यथोषरम् ॥ ४२ ॥
एवं विप्रोऽनधीयानो राजा यश्च न रक्षिता।
मेघो न वर्षते यश्च सर्वथा ते निरर्थकाः ॥ ४३ ॥
नित्यं यस्तु सतो रक्षेदसतश्च निवर्तयेत्।
स एव राजा कर्तव्यस्तेन सर्वमिदं धृतम् ॥ ४४ ॥ [२९३३]

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिर उवाच- क्व समुत्थाः कथं शीला ऋत्विजः स्युः पितामह।
कथं विधाश्च राजेन्द्र तद्ब्रूहि वदतां वर ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- प्रतिकर्मपराचार ऋत्विजां स्म विधीयते।
छन्दः सामादिविज्ञाय द्विजानां श्रुतमेव च ॥ २ ॥
ये त्वेकमतयो नित्यं वीराणां प्रतिवादिनः।
परस्परस्य सुहृदः समन्तात्समदर्शिनः ॥ ३ ॥

है। हे कौरव! जो बैल बोझा ढोनेमें असमर्थ और जो गऊ दूधदानसे रहित, जो स्त्री पुत्र प्रसव करनेमें अशक्य, जो राजा प्रजापालन करनेमें असमर्थ होता है, उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता। हे पार्थ! जैसे काठके हाथी, चमडेके मृग, कायर पुरुष और ऊषर-क्षेत्र निष्फल हैं; वैसे ही जो ब्राह्मण वेद नहीं पढते, जो राजा प्रजापालन नहीं करता और जो बादल जलकी वर्षा नहीं करते, उन सबको भी उसी भांति निष्फल समझना चाहिये। जो सदा साधुओंकी रक्षा करते और दुष्टोंको दमन करते हैं, उन्हें ही राजा बनाना उचित है; क्यों कि वैसे पुरुष ही इस सम्पूर्ण पृथ्वीको धारण करनेमें समर्थ होते हैं। (३८-४४) [२९३३]

शान्तिपर्वमें अठत्तर अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनासी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे बोलनेवालोंमें श्रेष्ठ पितामह! पुरोहितोंके कर्त्तव्य कर्म क्या हैं और उन लोगोंके स्वभाव तथा गुण कैसे होने उचित हैं? वह विस्तारके सहित कहिये। (१)

भीष्म बोले, छन्द, ऋक्, यजु, साम और श्रुत अर्थात् मीमांसा शास्त्र जानने वाले ब्राह्मण लोग राजाओंके प्रति-कर्म अर्थात् शान्तिक पुष्टिक आदि कर्म करें; यही उन लोगोंके कर्त्तव्य कर्म हैं। और इन लोगोंका ऐसा स्वभाव होवे, कि वे

अनृशंसाः सत्यवाक्या अकुसीदा अथर्जवः।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः ॥ ४ ॥
धीमान्सत्यधृतिर्दान्तो भूतानामविहिंसकः।
अकामद्वेषसंयुक्तस्त्रिभिः शुक्लैः समन्वितः ॥ ५ ॥
अहिंसको ज्ञानतृप्तः स ब्रह्मासनमर्हति।
एते महर्त्विजस्तात सर्वे मान्या यथार्हतः ॥ ६ ॥
युधिष्ठिर उवाच- यदिदं वेदवचनं दक्षिणासु विधीयते।
इदं देयमिदं देयं न क्वचिव्द्यवतिष्ठते ॥ ७ ॥
नेदं प्रतिधनं शास्त्रमापद्धर्मानुशास्त्रतः।
आज्ञा शास्त्रस्य घोरेयं न शक्तिं समवेक्षते ॥ ८ ॥
श्रद्धावता च यष्टव्यमित्येषा वैदिकी श्रुतिः।
मिथ्योपेतस्य यज्ञस्य किंनु श्रद्धा करिष्यति ॥ ९ ॥

लोग वीर पुरुषोंके ऊपर सदा अनुरागी होके प्रिय वचन कहें; आपसमें सुहृद-आचरण और सबको समभावसे देखें। इसके अतिरिक्त ऋत्विक लोग अनृशंस, सत्यवादी, अर्थ-प्रयोगसे हीन, सरल, परोपकार रहित, अभिमानहीन, लज्जा, तितिक्षा दम और शम गुणसे युक्त, बुद्धिमान, सत्यव्रतमें निष्ठावान, धर्मात्मा जीव हिंसासे रहित, कामक्रोधहीन, निर्दोष, श्रुत, वृत्त और वंशसे युक्त, अहिंसक तथा ज्ञानसे तृप्त;—ऐसे गुणों से युक्त होनेपर वे लोग ब्रह्मासन प्राप्त करनेमें समर्थ होंगे और यथा योग्य माननीय तथा धन आदिकोंसे पूजनीय होंगे। (२-६)

युधिष्ठिर बोले, यज्ञमें दक्षिणा देनेके वास्ते वेदमें जो वचन कहे गये हैं, उसमें " इस परिमाणसे देना होगा, " ऐसा कोई नियम नहीं निश्चित हुआ है। उसके वास्ते अनेक दक्षिणा विधान करनेवाला यह शास्त्र धनविभागके अभिप्रायसे नहीं कहा गया है; परन्तु आपद्धर्मके अनुसार सर्वस्व दक्षिणाकी विधि वर्णित हुई है। ऐसा होनेसे शास्त्रका यह शासन अत्यन्त भयङ्कर है, उसमें समर्थ और असमर्थ बोधकी सम्भावना नहीं है, इससे ऐसा होनेसे दरिद्रोंके भी यज्ञादि न हो सकते। श्रद्धावान पुरुष यज्ञ करे, ऐसी ही वैदिक श्रुति है; परन्तु प्रकृत-दक्षिणा गऊ, उसमें अनुकल्प चरुदान करनेसे वह मिथ्या होता है, वैसे मिथ्या-दक्षिणा युक्त यज्ञमें श्रद्धा क्यों करेंगे ? (७-९)

भीष्म उवाच– न वेदानां परिभवान्न शाठ्येन न मायया।
कश्चिन्महदवाप्नोति मा तेऽभूद् बुद्धिरीदृशी ॥ १० ॥
यज्ञाङ्गं दक्षिणा तात वेदानां परिबृंहणम्।
न यज्ञा दक्षिणा हीनास्तारयन्ति कथञ्चन ॥ ११ ॥
शक्तिस्तु पूर्णपात्रेण संमिता न समाऽभवत्।
अवश्यं तात यष्टव्यं त्रिभिर्वर्णैर्यथाविधि ॥ १२ ॥
सोमो राजा ब्राह्मणानामित्येषा वैदिकी स्थितिः।
तं च विक्रेतुमिच्छन्ति न वृथा वृत्तिरिष्यते ॥ १३ ॥
तेन क्रीतेन यज्ञेन ततो यज्ञः प्रतायते।
इत्येवं धर्मतो ख्यातमृषिभिर्धर्मचारिभिः ॥ १४ ॥
पुमान्यज्ञश्च सोमश्च न्यायवृत्तो यदा भवेत्।
अन्यायवृत्तः पुरुषो न परस्य न चात्मनः ॥ १५ ॥
शरीरवृत्तमास्थाय इत्येषा श्रूयते श्रुतिः।
नातिसम्यक्प्रणीतानि ब्राह्मणानां महात्मनाम् ॥१६॥
तपो यज्ञादपि श्रेष्ठमित्येषा परमा श्रुतिः।

भीष्म बोले, वेद वाक्यमें अवज्ञा, शठता और मायासे कोई कभी परम पद नहीं प्राप्त कर सकता, इससे तुम्हारी जिसमें ऐसी बुद्धि न हो। हे तात! दक्षिणा यज्ञका अङ्ग और वेदोंकी पुष्टि करनेवाली है; इससे दक्षिणा हीन यज्ञ कदापि उद्धार करनेमें समर्थ नहीं होते। हे तात! दरिद्रके पूर्ण पात्र बारह सौ दक्षिणा होनेहर भी अधिक फलदायक है; इससे ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों वर्णोंको यथा रीतिसे यज्ञ करना अवश्य उचित है। वेदमें ऐसी श्रुति है, कि सोम ब्राह्मणोंके राजा हैं उसे भी बेचने की इच्छा करते हैं, विना कारणके ही बेचनेमें उन लोगोंकी प्रवित्ति नहीं होती। धर्म्मात्मा ऋषि लोग धर्मपूर्वक ऐसा ही ध्यान किया करते हैं, कि सोमरस बेचके प्राप्त हुए धनसे जो सोम-यज्ञ क्रय की जाती हैं वह क्रमसे विस्तृत हुआ करती है। पुरुषके न्याययुक्त और शठता हीन होनेपर उसका ही सोम और यज्ञ पूर्ण होता है; परन्तु अन्याययुक्त होनेसे उसके ऐहिक और पारलौकिक कोई कार्य सिद्ध नहीं होते। (१५—१५)

मैंने ऐसी जनश्रुति सुनी है, कि महात्मा ब्राह्मण लोग केवल शरीर-वृत अपलम्बन करके जो प्रणीताग्निमें यज्ञ

तत्ते तपः प्रवक्ष्यामि विद्वंस्तदपि मे शृणु ॥ १७ ॥
अहिंसा सत्यवचनमानृशंस्यं दमो घृणा।
एतत्तपो विदुर्धीरा न शरीरस्य शोषणम् ॥ १८ ॥
अप्रामाण्यं च वेदानां शास्त्राणां चाभिलंघनम्।
अव्यवस्था च सर्वत्र तद्वै नाशनमात्मनः ॥ १९ ॥
निबोध दश होतॄणां विधानं पार्थ यादृशम्।
चित्तिः स्रुक् चित्तमाज्यं च पवित्रं ज्ञानमुत्तमम् ॥२०॥
सर्वं जिह्मं मृत्युपदमार्जवं ब्रह्मणः पदम्।
एतावान् ज्ञानविषयः किं प्रलापः करिष्यति ॥ २१ ॥ [२९५४]

इति श्रीमहाभारते० शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि एकोनाशीतितमोऽध्यायः॥ ७९ ॥

युधिष्ठिर उवाच– यदप्यल्पतरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
पुरुषेणासहायेन किमु राज्ञा पितामह ॥ १ ॥
किंशीलः किंसमाचारो राज्ञोऽथ सचिवो भवेत्।

आदि कर्म करते हैं, वह सब शुभ होता है। हे विद्वन्! इस प्रकार श्रेष्ठ श्रुति हैं, कि तपस्या यज्ञसे भी श्रेष्ठ है; इससे उस तपस्याका वृत्तान्त मैं तुमसे कहता हूं, उसे मेरे समीप सुनो। पण्डित लोग अहिंसा, सत्यवचन अनृशंसता दम और घृणा इन सबको ही तपस्या समझते हैं; परन्तु उपवास आदिसे शरीर सुखानेको वे लोग तपस्या रूपसे नहीं गिनते। वेदवाक्यको अप्रमाण शास्त्रोंका वचन उल्लङ्घन और सर्वत्र अव्यवस्था करनेसे उससे आत्माका नाश होता है। हे पार्थ! यज्ञमें जैसे स्रुक् और घृत आदि सब वस्तु वर्णित हैं अन्तरमें भी वैसे ही चित्ति अर्थात् जीव ब्रह्मकी एकता रूपी साधन योग-को स्रुक् और चित्तको घृत रूपसे समझना होता है, इस ज्ञानको ही अत्यन्त पवित्र करके जानो। सब भांति-की शठता ही मृत्यु की मूल अर्थात् अनित्य और सरलता ही ब्रह्मपद अर्थात् नित्य है; यही ज्ञानका विषय है, अधिक बोलनेसे क्या लाभ हो सकता है? (१६-२१) [२९५४]

शान्तिपर्वमें उनासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें असी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले हे पितामह! जब-कि थोडा कार्य भी अकेले सहाय रहित पुरुषसे सिद्ध होना कठिन है तब अकेले राजासे सब कार्य किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होसकते; इससे राजा कैसे आचार और किस प्रकार स्वभाव युक्त पुरुषको

कीदृशे विश्वसेद्राजा कीदृशे न च विश्वसेत् ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— चतुर्विधानि मित्राणि राज्ञां राजन्भवन्त्युत ।
सहार्थो भजमानश्च सहजः कृत्रिमस्तथा ॥ ३ ॥
धर्मात्मा पञ्चमश्चापि मित्रं नैकस्य न द्वयोः ।
यतो धर्मस्ततो वा स्याद्धर्मस्थो वा ततो भवेत् ॥ ४ ॥
यस्तस्यार्थो न रोचेत न तं तस्य प्रकाशयेत् ।
धर्माधर्मेण राजानश्चरन्ति विजिगीषवः ॥ ५ ॥
चतुर्णां मध्यमौ श्रेष्ठौ नित्यं शक्यौ तथाऽपरौ ।
सर्वे नित्यं शङ्कितव्याः प्रत्यक्षं कार्यमात्मनः ॥ ६ ॥
न हि राज्ञा प्रमादो वै कर्तव्यो मित्ररक्षणे ।
प्रमादिनं हि राजानं लोकाः परिभवन्त्युत ॥ ७ ॥
असाधुः साधुतामेति साधुर्भवति दारुणः ।

मन्त्रीपद पर नियुक्त करे और कैसे लोगोंके ऊपर विश्वास तथा कैसे मनुष्योंका अविश्वास करे । (१-२)

भीष्म बोले, हे राजन् ! राजाओंके सहार्थ, भजमान, सहज और कृत्रिम ये चार भांतिके मन्त्री हुआ करते हैं;उनमेंसे जो राजाके समीप ऐसा स्वीकार करते हैं, कि इस शत्रुका हम दोनों ही मिलके नष्ट करेंगे और इस शत्रु राज्यको हम दोनों आपसमें विभाग करके ग्रहण करेंगे; वह सहार्थ हैं । जो पिता पितामहके क्रमसे विद्यमान रहते हैं, वह भजमान हैं। मातृ स्वस्त्री आदि सहज; जो धर्मात्मा, पक्षपात रहित, दोनोंके निकट वेतन लेनेकी इच्छासे कटपता नहीं करते और धर्मके पक्षपाती होकर धर्ममार्गमें ही विद्यमान रहते हैं, वे राजाओंके कृत्रिम मित्र होते हैं । जो विषय राजाको अभिलषित है, उसे मित्र लोग उसके समीप कदापि प्रकाशित न करें; क्यों कि विजयी राजा लोग धर्म और अधर्मके सहित भ्रमण किया करते हैं । (३—५)

पहिले कहे हुए मित्रोंके बीच भजमान और सहज मित्र ही श्रेष्ठ हैं; वे लोग कार्य विशेषमें शङ्कायुक्त होते हैं; परन्तु सहार्थ और कृत्रिम मित्रसे सदा शङ्कित रहना होगा और सबको ही सदा शङ्का करनी उचित है; विशेष करके दुष्ट सेवकोंके निग्रह आदि निज कार्योंका इनके सम्मुख न करके स्वयं सिद्ध करना होगा। राजा मित्रोंकी रक्षा करनेमें कभी असावधानी न करे; क्यों कि सब लोग असावधान राजाका

अरिश्च मित्रं भवति मित्रं चापि प्रदुष्यति ॥ ८ ॥
अनित्यचित्तः पुरुषस्तस्मिन्को जातु विश्वसेत् ।
तस्मात्प्रधानं यत्कार्यं प्रत्यक्षं तत्समाचरेत् ॥ ९ ॥
एकान्तेन हि विश्वासः कृत्स्नो धर्मार्थनाशकः ।
अविश्वासश्च सर्वत्र मृत्युना च विशिष्यते ॥ १० ॥
अकालमृत्युर्विश्वासो विश्वसन् हि विपद्यते ।
यस्मिन्करोति विश्वासमिच्छतस्तस्य जीवति ॥ ११ ॥
तस्माद्विश्वसितव्यं च शङ्कितव्यं च केषु चित् ।
एषा नीतिगतिस्तात लक्ष्या चैव सनातनी ॥ १२ ॥
यं मन्येत ममाभावादिममर्थागमं स्पृशेत् ।
नित्यं तस्माच्छङ्कितव्यममित्रं तद्विदुर्बुधाः ॥ १३ ॥
यस्य क्षेत्रादप्युदकं क्षेत्रमन्यस्य गच्छति ।
न तत्रानिच्छतस्तस्य भिद्येरन्सर्वसेतवः ॥ १४ ॥
तथैवात्युदकाद्भीतस्तस्य भेदनमिच्छति ।

ही पराभव किया करते हैं । और राजा के असावधान चित्त होनेसे साधु पुरुष दुष्ट,दुष्टलोग साधु; शत्रु लोग मित्र और मित्र शत्रु हुआ करते हैं । अस्थिर चित्तवाले पुरुषका कोई विश्वास नहीं करता; इससे जो कार्य मुख्य है, उसे प्रत्यक्ष ही सिद्ध करे । सबके ऊपर इकबारगी विश्वास करनेसे धर्म और अर्थ का नाश होता है; और सर्वत्र अविश्वासकी अपेक्षा मृत्यु ही हितकारी है । अत्यन्त विश्वास ही अकाल मृत्युका कारण है । अत्यन्त विश्वास करनेसे ही विपद्ग्रस्त होना पडता है, क्यों कि जिसका अत्यन्त विश्वास किया जायगा । उसकी इच्छा रहनेसे ही जीवन रह सकता है; नहीं तो जीते रहनेकी आशा नहीं रहती । (६-११)

हे तात ! इससे पुरुष विशेषका विश्वास और व्यक्ति विशेषका अविश्वास करना उचित है, यही नीतिकी गति है और इसे ही सदा लक्ष्य करना उचित है । जिसे समझे कि मेरे न रहनेपर यही राजा होगा, उससे सदा शङ्का करनी उचित है क्यों कि पण्डित लोग वैसे पुरुषको ही शत्रु समझते हैं । जो पुरुष अपने क्षेत्रका जल दूसरेके क्षेत्रमें गमन करेगा, ऐसा जानके इच्छानुसार बांधको दृढताके सहित बांधता है और जलके अभावमें दूसरेकी क्षति होनेपर भी किसी प्रकार जल बाहर नहीं

यमेवंलक्षणं विद्यात्तममित्रं विनिर्दिशेत् ॥ १५ ॥
यस्तु वृद्ध्या न तृप्येत क्षये दीनतरो भवेत् ।
एतदुत्तममित्रस्य निमित्तमिति चक्षते ॥ १६ ॥
यन्मन्येत ममाभावादस्याभावो भवेदिति ।
तस्मिन्कुर्वीत विश्वासं यथा पितरि वै तथा ॥ १७ ॥
तं शक्त्या वर्धमानश्च सर्वतः परिबृंहयेत् ।
नित्यं क्षताद्वारयति यो धर्मेष्वपि कर्मसु ॥ १८ ॥
क्षताद्भीतं विजानीयादुत्तमं मित्रलक्षणम् ।
ये तस्य क्षतमिच्छन्ति ते तस्य रिपवः स्मृताः ॥१९॥
व्यसनान्नित्यभीतो यः समृद्ध्या यो न दुष्यति ।
यत्स्यादेवंविधं मित्रं तदात्मसममुच्यते ॥ २० ॥
रूपवर्णस्वरोपेतस्तितिक्षुरनसूयकः ।
कुलीनः कुलसम्पन्नः स तस्मात्प्रत्यनन्तरः ॥ २१ ॥
मेधावी स्मृतिमान्दक्षः प्रकृत्या चानृशंस्यवान् ।
यो मानितो मानितो वा न च दुष्येत्कदाचन ॥ २२ ॥

होने देता; और क्रमसे जल बढनेपर अत्यन्त जलसे अपनी क्षतिकी शङ्का करके बांध तोडनेकी इच्छा करे उसे ही अतिमित्र समझना चाहिये। जो पुरुष राजाके अर्थ-वृद्धिसे तृप्त नहीं होता और धनक्षय होनेसे अत्यन्त दुःखित होता है; पण्डित लोग उसे ही उत्तम मित्र कहा करते हैं। (११—१६)

जिसे जाने कि, मेरे न रहनेपर यह पुरुष नहीं रहेगा, उसका पिताकी भांति विश्वास करे और स्वयं वृद्धि-युक्त होकर उसकी भी सब भांतिसे वृद्धि करे। जो पुरुष धर्मकर्मको क्षय होते देखके नित्य निवारण करता है, उस धर्म क्षयसे डरे हुए मनुष्यको उत्तम मित्र समझना चाहिये और जो उसके नाशकी इच्छा करे, वह उसका शत्रु गिना जाता है। जो मनुष्य व्यसनसे सदा डरता है और धनसे किसीका अनिष्ट नहीं करता; वैसे पुरुषके मित्र होनेपर उसे आत्मसदृश समझे। जो पुरुष उत्तम रूप वर्ण और स्वरसे युक्त; तितिक्षा, असूयारहित; उत्तम कुलमें उत्पन्न हुआ और कुलसे युक्त होवे,उसे पहिले कहे हुए मित्रोंसे मुख्य जानना चाहिये जो मेधावी, स्मृतिमान, दक्ष, स्वाभाविक अनृशंसता और सम्मानित

ऋत्विग्वा यदि वाऽऽचार्यः सखा वाऽत्यन्तसंस्तुतः।
गृहे वसेदमात्यस्ते स स्यात्परमपूजितः ॥ २३ ॥
स ते विद्यात्परं मन्त्रं प्रकृतिं चार्थधर्मयोः।
विश्वासस्ते भवेत्तत्र यथा पितरि वै तथा ॥ २४ ॥
नैव द्वौ न त्रयः कार्या न मृष्येरन्परस्परम्।
एकार्थे ह्येव भूतानां भेदो भवति सर्वदा ॥ २५ ॥
कीर्तिप्रधानो यस्तु स्याद्यश्च स्यात्समये स्थितः।
समर्थान्यश्च न द्वेष्टि नानर्थान्कुरुते च यः ॥ २६ ॥
यो न कामाद्भयाल्लोभात् क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत्।
दक्षः पर्याप्तवचनः स ते स्यात्प्रत्यनन्तरः ॥ २७ ॥
कुलीनः शीलसम्पन्नस्तितिक्षुरविकत्थनः।
शूरश्चार्यश्च विद्वांश्च प्रतिपत्तिविशारदः ॥ २८ ॥
एते ह्यमात्याः कर्तव्याः सर्वकर्मस्ववस्थिताः।
पूजिताः संविभक्ताश्च सुसहायाः स्वनुष्ठिताः॥ २९ ॥

वा अपमानित होनेपर भी कभी किसी की बुराई नहीं करते, वे ऋत्विक, आचार्य वा अत्यन्त प्रिय मित्र होनेपर भी यदि सेवक होकर तुम्हारे गृहमें निवास करें, तो उनका अधिक सम्मान करना होगा। (१७—२३)

वे तुम्हें परम मित्र और धर्मका स्वरूप जानेंगे और तुम भी उनका पिताकी भांति विश्वास करना। एक कार्यके दो वा तीन अधिकारी होनेपर वे लोग आपसमें एक दूसरेके दोषोंको क्षमा नहीं करते; इससे एक कार्यमें एकसे अधिक अध्यक्ष नियत करना उचित नहीं है; क्यों कि प्राणियोंमें सदा परस्पर मतभेद हुआ करता है। जो पुरुष सत्कीर्त्तियोंके अग्रगण्य हुए हैं, जो नीतिके बाहर नहीं होते, जो समर्थ मनुष्योंके साथ द्वेष और अनर्थ आचरण नहीं करते, जो काम-क्रोध, भय और लोभके वशमें होकर निज धर्म परित्याग नहीं करते और जो सब कार्योंमें दक्ष तथा पर्याप्तवादी हैं, वेही तुम्हारे मुख्य मित्र होवें। और भी जो लोग कुलीन उत्तम स्वभावसे युक्त, क्षमावान, अपनी बढाईसे रहित, शूर, आर्य, विद्वान, कार्याकार्य विवेकमें निपुण, सब कर्मोंमें अवस्थित, सम्माननीय, संविभक्त, उत्तम सहाय युक्त, और सत्कर्म करनेवाले हैं, उन्हें सेवक पदवी पर नियुक्त करना उचित है। (२४-२९)

कृत्स्नमेते विनिक्षिप्ताः प्रतिरूपेषु कर्मसु ।
युक्ता महत्सु कार्येषु श्रेयांस्युत्थापयन्त्युत ॥ ३० ॥
एते कर्माणि कुर्वन्ति स्पर्धमाना मिथः सदा ।
अनुतिष्ठन्ति चैवार्थमाचक्षाणाः परस्परम् ॥ ३१ ॥
ज्ञातिभ्यश्चैव बुध्येथा मृत्योरिव भयं सदा ।
उपराजेव राजर्धिं ज्ञातिर्न सहते सदा ॥ ३२ ॥
ऋजोर्मृदोर्वदान्यस्य ह्रीमतः सत्यवादिनः ।
नान्यो ज्ञातेर्महाबाहो विनाशमभिनन्दति ॥ ३३ ॥
अज्ञातिनोऽपि न सुखा नावज्ञेयास्ततः परम् ।
अज्ञातिमन्तं पुरुषं परे चाभिभवन्त्युत ॥ ३४ ॥
निकृतस्य नरैरन्यैर्ज्ञातिरेव परायणम् ।
नान्यो निकारं सहते ज्ञातिर्ज्ञातेः कथञ्चन ॥ ३५ ॥
आत्मानमेव जानाति निकृतं बान्धवैरपि ।
तेषु सन्ति गुणाश्चैव नैर्गुण्यं चैव लक्ष्यते ॥ ३६ ॥
नाज्ञातिरनुगृह्णाति न चाज्ञातिर्नमस्यति ।

हे राजन् ! ऐसे लोग सब प्रतिरूप अर्थात् आय–व्ययके हिसाब आदि कार्यों तथा सब मुख्य राज कार्योंके अधिकारी होनेसे कल्याणकी वृद्धि किया करते हैं । ये लोग सदा स्पर्द्धा-वान होकर निर्जनमें ही सब कार्योंको सिद्ध करते हैं तथा आपसमें वार्त्तालाप करके सब प्रयोजन सिद्ध किया करते हैं। हे महाबाहो ! मृत्युकी भांति जातिके लोगोंका सदा भय करना, क्योंकि जातिके लोग समीपमें पहुंची हुई मृत्युकी भांति सदा राजऋद्धिको नहीं सह सकते । परन्तु जाति सरल, मृदु, वदान्य लज्जा-शील और सत्यवादी होनेपर कोई उसके नाशकी अभिलाप नहीं करते । जाति-हीन मनुष्यको सुख नहीं होता, जातिसे रहित मनुष्य सबके ही अवज्ञाभाजन होते हैं और ज्ञाति हीन पुरुष ही शत्रु-ओंसे पराजित हुआ करते हैं।(३०-३४)

कोई दूसरेसे अवमानित होनेपर जाति ही उसके वास्ते आश्रय हुआ करती है और जाति ही जातिको दूसरेसे पराभव देखके कभी नहीं सह सकती। कोई पुरुष बन्धु-बान्धवोंसे अपमानित होवे तो जातिके पुरुष अपनेको ही अवमानित समझते हैं; और बन्धु यदि सौ गुणोंसे बढा होवे, तौभी उसे अल्प गुणवाला समझके अपनेको उससे अनेक

उभयं ज्ञातिवर्गेषु दृश्यते साध्वसाधु च ॥ ३७ ॥
संमानयेत्पूजयेच्च वाचा नित्यं च कर्मणा ।
कुर्याच्च प्रियमेतेभ्यो नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ३८ ॥
विश्वस्तवदविश्वस्तस्तेषु वर्तेत सर्वदा ।
न हि दोषो गुणो वेति निरूप्यस्तेषु दृश्यते ॥ ३९ ॥
अस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्याप्रमादिनः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथाऽमित्रीभवन्त्यपि ॥ ४० ॥
य एवं वर्तते नित्यं ज्ञातिसंबन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रे मध्यस्थे चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ४१ ॥ [२९९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

युधिष्ठिर उवाच– एवमग्राह्यके तस्मिन् ज्ञातिसम्बन्धिमण्डले ।
मित्रेष्वमित्रेष्वपि च कथं भावो विभाव्यते ॥ १ ॥
भीष्म उवाच– अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
संवादं वासुदेवस्य सुरर्षेर्नारदस्य च ॥ २ ॥

गुणोंसे बडा हुआ बोध करते हैं । जातिहीन मनुष्य किसीके ऊपर कृपा नहीं करते, जातिहीन मनुष्य किसीके समीप नत नहीं होते; जातिके बीच साधु और दुष्ट दोनों ही दीख पडते हैं। इससे वचन और कर्मसे सदा जातिके पुरुषोंका सम्मान, पूजा तथा प्रियकार्य करे; तनिक भी उनके साथ अनिष्ट आचरण न करे। उनके समीप सदा विश्वासीकी भांति अविश्वास भावसे वास करे और उनके सामान्य गुण दोषको निरूपण करके न देखे । हे राजन् ! जो पुरुष प्रमाद हीन होकर इसी भांति निवास करते हैं; उनके सब शत्रु प्रसन्न होकर मित्रकी भांति व्यवहार करते हैं जो पुरुष जाति और सम्बन्धीसमूहमें इसी प्रकार सदा स्थित रहते हैं, वे मित्र, शत्रु और मध्यस्थोंके निकट यशस्वी होकर बहुत समयतक निवास करनेमें समर्थ होते हैं। (३५-४१) [२९९५]

शान्तिपर्वमें असी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकासी अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, पहिले कहे हुए स्वजनों और सम्बन्धियोंको इस प्रकार वशमें न कर सके, तो मित्र भी शत्रु होजावें, इससे सबका चित्त किस प्रकार वशीभूत होगा ? (१)

भीष्म बोले, इस विषयमें पण्डित

वासुदेव उवाच– नासुहृत्परमं मन्त्रं नारदार्हति वेदितुम्।
अपण्डितो वाऽपि सुहृत्पण्डितो वाप्यनात्मवान्॥ ३॥
स ते सौहृदमास्थाय किञ्चिद्वक्ष्यामि नारद।
कृत्स्नं बुद्धिबलं प्रेक्ष्य संपृच्छे त्रिदिवं गम ॥ ४॥
दास्यमैश्वर्यवादेन ज्ञातीनां न करोम्यहम्।
अर्धं भोक्ताऽस्मि भोगानां वाग्दुरुक्तानि च क्षमे॥५॥
अरणीमग्निकामो वा मथ्नाति हृदयं मम।
वाचा दुरुक्तं देवर्षे तन्मे दहति नित्यदा ॥ ६॥
बलं सङ्कर्षणे नित्यं सौकुमार्यं पुनर्गदे।
रूपेण मत्तः प्रद्युम्नः सोऽसहायोऽस्मि नारद ॥ ७॥
अन्ये हि सुमहाभागा बलवन्तो दुरुत्सहाः।
नित्योत्थानेन संपन्ना नारदान्धकवृष्णयः ॥ ८॥
यस्य न स्युर्न वै स स्याद्यस्य स्युः कृत्स्नमेव तत्।

लोग श्रीकृष्ण और देवऋषि नारदके सम्वाद युक्त जिस प्राचीन इतिहासका प्रमाण दिया करते हैं, उसे कहता हूं सुनो। एक बार श्रीकृष्ण देवर्षि नारदसे बोले, हे नारद! अमित्र और मूर्ख मित्र, तथा चट्ठ प्रकृतिवाले पण्डित सुहृदके निकट परम मन्त्र प्रकाशित करना उचित नहीं है;हे त्रिदिवङ्गम! इससे मैं तुम्हारे सब बल, बुद्धिको देखके तुम्हें ही उत्तम मित्र समझके कोई विषय कहता हूं और प्रश्न करता हूं, हे देवर्षि ऐश्वर्यवादके कारण जिसमें जातिके लोगोंकी उपार्जित वस्तुओंमेंसे आधा हिस्सा देना होगा और उन लोगोंके दुर्वचनोंको सहना पडेगा; इस प्रकार जातिकी सेवाको मैं कभी नहीं करता; तौभी जैसे पुरुष अग्निकी इच्छासे अरणी काष्ठ मथते हैं; वैसे ही उन लोगोंके कहे हुए कठोर वचनसे मेरा हृदय सदा भस्म हुआ करता है। सङ्कर्षण बलसे, गद सुकुमारता और प्रद्युम्न रूपसे मतवाले हुए हैं; इससे मैं आहुक और अक्रूरकी शान्त्वनासे असहाय हुआ हूं। (२—७)

दूसरे जो सब महाभाग, बलवान उत्साहयुक्त, सदा उन्नतिशाली पुरुष अन्धक और वृष्णिकुलमें विद्यमान हैं, वे लोग ऐसा समझते हैं, कि हम लोग जिस ओर होंगे वही पक्ष बलसे युक्त और हम लोग जिसके विरुद्ध होंगे, वही पक्ष निर्बल होगा। आहुक और अक्रूर दोनोंने मुझे निवारण किया है;

द्वाभ्यां निवारितो नित्यं वृणोम्येकतरं न च ॥ ९ ॥
स्यातां यस्याहुकाक्रूरौ किं नु दुःखतरं ततः।
यस्य चापि न तौ स्यातां किं नु दुःखतरं ततः ॥ १० ॥
सोऽहं कितवमातेव द्वयोरपि महामते।
एकस्य जयमाशंसे द्वितीयस्यापराजयम् ॥ ११ ॥
ममैवं क्लिश्यमानस्य नारदोभयतः सदा।
वक्तुमर्हसि यच्छ्रेयो ज्ञातीनामात्मनस्तथा ॥ १२ ॥
नारद उवाच- आपदो द्विविधाः कृष्ण बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ह।
प्रादुर्भवन्ति वार्ष्णेय स्वकृता यदि वाऽन्यतः ॥ १३ ॥
सेयमाभ्यन्तरा तुभ्यमापत्कृच्छ्रा स्वकर्मजा।
अक्रूरभोजप्रभवा सर्वे ह्येते तदन्वयाः ॥ १४ ॥
अर्थहेतोर्हि कामाद्वा वाचा वीभत्सयाऽपि वा।
आत्मना प्राप्तमैश्वर्यमन्यत्र प्रतिपादितम् ॥ १५ ॥
कृतमूलमिदानीं तज्ज्ञातिशब्दं सहायवन्।
न शक्यं पुनरादातुं वान्तमन्नमिव त्वया ॥ १६ ॥

इससे मैं एक पक्षको नहीं स्वीकार कर सकता हूं। इसके अतिरिक्त आहुक और अक्रूर दोनों ही पराक्रमी तथा कठिन कर्म करनेवाले हैं, इससे वे लोग जिस ओर रहेंगे, उसकी अपेक्षा दुःख दायक कुछ भी नहीं है, और जिसकी ओर न रहेंगे, उसे भी उससे अधिक दुःखका विषय कुछ भी नहीं हो सकता। हे महाबुद्धिमान! कितव अर्थात् जुवाडी पुरुषकी माताकी भांति मैं एकको जय और दूसरोंके पराजयकी इच्छा करता हूं। हे नारद! मैं दोनों ओरसे सदा इसी प्रकार क्लेश पाता हूं; इससे इस विषयमें मेरा और जातिके लोगोंका जिसमें कल्याण हो; वह तुम्हें कहना उचित है। (८—१२)

नारद मुनि बोले, हे वृष्णिवंशमें उत्पन्न हुए कृष्ण! आपदा बाह्य और अभ्यन्तर रूपसे दो प्रकारकी हैं, वह स्वभाव तथा दूसरे कारणोंसे उत्पन्न हुआ करती हैं। अर्थ, काम और वीभत्स वचन-निबन्धनसे अक्रूर और भोजप्रभव सङ्कर्षण आदि सब लोग अक्रूरके अनुगत हुए हैं, इसहीसे यह अभ्यन्तर आपदा तुम्हें दुःखदायक हुई है; और तुमने निज ऐश्वर्य आहुकको दे रखा है, इसीसे ज्ञातिके बीच कोलाहल मचा है, वान्त अन्नकी भांति उसे

बभ्रूग्रसेनयो राज्यं नाप्तुं शक्यं कथञ्चन ।
ज्ञातिभेदभयात्कृष्ण त्वया चापि विशेषतः ॥ १७ ॥
तच्च सिध्येत्प्रयत्नेन कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ।
महाक्षयं व्ययो वा स्याद्विनाशो वा पुनर्भवेत् ॥ १८ ॥
अनायसेन शस्त्रेण मृदुना हृदयच्छिदा ।
जिह्वामुद्धर सर्वेषां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ १९ ॥

वासुदेव उवाच— अनायसं मुने शस्त्रं मृदु विद्यामहं कथम् ।
येनैषामुद्धरे जिह्वां परिमृज्यानुमृज्य च ॥ २० ॥

नारद उवाच- शक्त्याऽन्नदानं सततं तितिक्षार्जवमार्दवम् ।
यथाऽर्हप्रतिपूजा च शस्त्रमेतदनायसम् ॥ २१ ॥
ज्ञातीनां वक्तुकामानां कटुकानि लघूनि च ।
गिरा त्वं हृदयं वाचं शमयस्व मनांसि च ॥ २२ ॥
नामहापुरुषः कश्चिन्नानात्मा नासहायवान् ।
महतीं धुरमाधत्ते तामुद्यम्योरसा वह ॥ २३ ॥

भी तुम फिर नहीं ग्रहण कर सकते हो; इससे निज कर्मके दोषसे ही ऐसी आपद उत्पन्न हुई है। विशेष करके जातिभेदके भयसे अब तुम बभ्रु और उग्रसेनके राज्यका किसी प्रकार भी ग्रहण नहीं कर सकते हो। यद्यपि तुम यत्नपूर्वक अनेक कठिन कार्योंको करके उसे साधन करो तो ऐसा होनेसे फिर महाक्षय व्यय और विनाश उपस्थित होगा। इससे तितिक्षा, ऋजुता, और मृदुतासे दोष दूर करके तथा यथायोग्य पूजा आदिसे प्रीति गुणके सहारे अनायास ही मृदु मर्मछिद शस्त्रसे सबकी जिह्वाका उद्धार करो। (१३-१९)

श्रीकृष्ण बोले, हे मुनिवर! तितिक्षा आदि ऐसे दोषोंको दूर कर और यथा उचित पूजासे प्रीति गुण सिद्ध करके जिस भांति जातिके पुरुषोंको जिह्वा उद्धार करनी होती है। वह मृदु अनायास शस्त्र क्या है? (२०)

नारद मुनि बोले, सामर्थके अनुसार सदा अन्नदान, तितिक्षा, सरलता, कोमलता और यथा योग्य दूसरेकी पूजा इन सबको ही अनायास शस्त्र जानना चाहिये। तुम मीठे वचनसे लघु और कटुवादी जातिके पुरुषोंके कुटिल अभिप्राय कुवाक्य और दुष्ट सङ्कल्पोंको नष्ट करो। और महापुरुषके अतिरिक्त कोई असहायवान तथा असावधान पुरुष उद्योगी होकर बडे भारको उठानेमें

सर्वं एव गुरुं भारमनड्वान्वहते समे ।
दुर्गे प्रतीकः सुगवो भारं वहति दुर्वहम् ॥ २४ ॥
भेदाद्विनाशः सङ्घानां सङ्घमुख्योऽसि केशव ।
यथा त्वां प्राप्य नोत्सीदेदयं सङ्घस्तथा कुरु ॥ २५ ॥
नान्यत्र बुद्धिक्षान्तिभ्यां नान्यत्रेन्द्रियनिग्रहात् ।
नान्यत्र धनसन्त्यागाद्गुणः प्राज्ञेऽवतिष्ठते ॥ २६ ॥
धन्यं यशस्यमायुष्यं स्वपक्षोद्भावनं सदा ।
ज्ञातीनामविनाशः स्याद्यथा कृष्ण तथा कुरु ॥ २७ ॥
आयत्यां च तदात्वे च न तेऽस्त्यविदितं प्रभो ।
षाड्गुणस्य विधानेन यात्रा यानविधौ तथा ॥ २८ ॥
यादवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः ।
त्वय्यासक्ता महाबाहो लोकालोकेश्वराश्च ये ॥ २९ ॥
उपासन्ते हि त्वद्बुद्धिमृषयश्चापि माधव ।
त्वं गुरुः सर्वभूतानां जानीषे त्वं गतागतम् ॥ ३० ॥
त्वामासाद्य यदुश्रेष्ठमेधन्ते यादवाः सुखम् ॥ ३१ ॥ ३०२६

इति श्रीमहा० शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि वासुदेवनारदसंवादो नामैकाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८१ ॥

समर्थ नहीं होता । इससे तुम निज वक्षस्थल पर उस भारको ग्रहण करो । देखो, समतल स्थानमें सब अनगन ही गुरुभार उठा सकते हैं; परन्तु कठिन स्थानमें भलीभांति दृढ अङ्गसे युक्त अनड्वानके अतिरिक्त सब ही कठिनतासे उठाने योग्य भारको नहीं ढो सकते । हे कृष्ण ! तुम सबके मुखिया हो, ज्ञाति भेद होनेसे सबका ही नाश होगा; इससे ये जातिके लोग तुम्हारा आसरा करके जिनमें नाश दशाको न प्राप्त हों, वही उपाय करो । (२१—२५)

बुद्धि, शान्ति, इन्द्रियनिग्रह और धन त्यागके अतिरिक्त बुद्धिमान पुरुषमें कोई गुण नहीं रहते । हे कृष्ण ! इससे जिसमें धन, यश, आयु और सदा स्वपक्षकी बढती हो तथा जातिसे पुरुषोंका नाश न होवे, वही करो । हे प्रभु ! आयति, तत्काल यात्रा और यान विधिमें षाड्गुण्य विधानके कारण तुमसे कुछ भी नहीं छिपे हैं, हे महाबाहो माधव ! यादव, कुकुर, भोज, अन्धक वृष्णि और दूसरे लोकपाल तथा ऋषि लोग तुममें अनुरक्त होकर तुम्हारे ही बुद्धिकी अभिलाषा करते हैं। तुम सब प्राणियोंके गुरु हो; तुम्हीं

भीष्म उवाच— एषा प्रथमतो वृत्तिर्द्वितीयां शृणु भारत ।
यः कश्चिज्जनयेदर्थं राज्ञा रक्ष्यः सदा नरः ॥ १ ॥
ह्रियमाणममात्येन भृत्यो वा यदि वा भृतः ।
यो राजकोशं नश्यन्तमाचक्षीत युधिष्ठिर ॥ २ ॥
श्रोतव्यमस्य च रहो रक्ष्यश्चामात्यतो भवेत् ।
अमात्या ह्यपहर्तारो भूयिष्ठं घ्नन्ति भारत ॥ ३ ॥
राजकोशस्य गोप्तारं राजकोशविलोपकाः ।
समेत्य सर्वे बाधन्ते स विनश्यत्यरक्षितः ॥ ४ ॥
अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
मुनिः कालकवृक्षीयः कौसल्यं यदुवाच ह ॥ ५ ॥
कोसलानामाधिपत्यं सम्प्राप्तं क्षेमदर्शिनम् ।
मुनिः कालकवृक्षीय आजगामेति नः श्रुतम् ॥ ६ ॥
स काकं पञ्जरे बद्ध्वा विषयं क्षेमदर्शिनः ।
सर्वं पर्यचरद्युक्तः प्रवृत्त्यर्थी पुनः पुनः ॥ ७ ॥

प्राणियोंके भूत भविष्य सब विषयोंको जानते हो; तुम यदुकुलमें श्रेष्ठ हो; इससे यदुवंशी लोग तुम्हें प्राप्त करके ही सुख-भोग कर रहे हैं । (२९-३०)[३०२९]

शान्तिपर्वमें एकासी अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें बियासी अध्याय ।

भीष्म बोले, हे भारत ! मैंने जो कुछ कहा, वह राजाओंकी प्रथम वृत्ति है, इसके अनन्तर दूसरी वृत्ति कहता हूं सुनो । हे भरतकुल अवतंस ! कोई मनुष्य धन उपार्जन क्यों न करें; राजा उसे सदा सर्वदा रक्षा करें । हे युधिष्ठिर सेवकोंके राजभण्डार हरने और नष्ट करने पर जो कोई मनुष्य वह वृत्तान्त राजासे कहे, राजा निर्जन स्थानमें उसका वह वचन सुने और सेवकोंके रहित स्थानमें उसका वह वचन सुने और सेवकोंसे उसकी रक्षा करे; क्योंकि धन हरनेवाले सेवक लोग सबका ही नाश किया करते हैं । हे नरनाथ ! कालक-वृक्षीय मुनिने कौशल्यसे जो वृत्तान्त कहा था, पण्डित लोग इस स्थलमें भी उस प्राचीन इतिहासको वर्णन किया करते हैं । (१-५)

मैंने ऐसा सुना है, कि कालक वृक्षीय मुनिने कौशलाधिपतिको सेवकोंके दोष देखनेके निमित्त बारबार प्रवार्त्तित करनेकी अभिलाषासे पिञ्जरेके भीतर एक कौवा बन्द करके क्षेमदर्शी कौशलाधिपतिके सम्पूर्ण राज्यमें घूमते हुए राजाके

अधीध्वं वायसीं विद्यां शंसन्ति मम वायसाः ।
अनागतमतीतं च यच्च सम्प्रतिवर्तते ॥ ८ ॥
इति राष्ट्रे परिपतन्बहुभिः पुरुषैः सह ।
सर्वेषां राजयुक्तानां दुष्करं परिदृष्टवान् ॥ ९ ॥
स बुद्ध्वा तस्य राष्ट्रस्य व्यवसायं हि सर्वशः ।
राजयुक्तापहारांश्च सर्वान्बुद्ध्वा ततस्ततः ॥ १० ॥
ततः स काकमादाय राजानं द्रष्टुमागमत् ।
सर्वज्ञोऽस्मीति वचनं ब्रुवाणः संशितव्रतः ॥ ११ ॥
स स्म कौसल्यमागम्य राजाऽमात्यमलंकृतम् ।
प्राह काकस्य वचनादमुत्रेदं त्वया कृतम् ॥ १२ ॥
असौ चासौ च जानीते राजकोशस्त्वया हृतः ।
एवमाख्याति काकोऽयं तच्छीघ्रमनुगम्यताम्॥ १३ ॥
तथाऽन्यानपि स प्राह राजकोशहरांस्तदा ।
न चास्य वचनं किञ्चिदनृतं श्रूयते क्वचित् ॥ १४ ॥
तेन विप्रकृताः सर्वे राजयुक्ताः कुरूद्वह ।

समीप आके बोले,-मेरा कौवा सब विद्या पढा है, इससे यह भूत, वर्त्तमान और भविष्यत आदि सब कहा करता है । उन्होंने ऐसा ही कहते हुए अनेक पुरुषोंके सङ्ग राज्यमें भ्रमण करके राजकार्यमें नियुक्त सेवकोंका स्वामि-द्रव्य हरण रूपी पाप देखा अनन्तर उन्होंने उस राज्यके समस्त व्यवसाय और राज कार्यमें नियुक्त सब सेवकोंको स्वामि द्रव्य रहनेवाला जानके मैंने सब जान लिया है, ऐसा ही कहते कहते राजासे भेंट करनेके वास्ते कौवा लेकर राजाके समीप आगमन किया । (६-११)

मुनिने क्षेमदर्शी कौशल्यके निकट आके उनके सम्मुख कौवाके वचनके अनुसार अलंकृत राज मन्त्रीसे बोले, कि तुमने अमुक स्थानमें इतना धन हरण किया है; और जिस राजकोषको हर रहे हो, उसे अमुक अमुक पुरुष जानते हैं, यह कौवा ऐसा वचन कहता है; इससे तुम शीघ्र उसे विचारके देखो। अनन्तर मुनिने मन्त्रियोंसे ऐसा ही कहके उस स्थानमें दूसरे राजपुरुषोंसे कहा, तुम लोग भी जो राजकोष हरनेवाले हो, कौवेके वचनके अनुसार उसे मैं विशेष रूपसे जानता हूं; क्यों कि इस कौवेका मिथ्या वचन मैंने कभी भी नहीं सुना है । हे कुरुकुल धुरन्धर!

तमस्यभिप्रसुप्तस्य निशि काकमवेधयन् ॥ १५ ॥
वायसं तु विनिर्भिन्नं दृष्ट्वा बाणेन पञ्जरे।
पूर्वाह्णे ब्राह्मणो वाक्यं क्षेमदर्शिनमब्रवीत् ॥ १६ ॥
राजंस्त्वामभयं याचे प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
अनुज्ञातस्त्वया ब्रूयां वचनं भवतो हितम्।
मित्रार्थमभिसन्तप्तो भक्त्या सर्वात्मनाऽऽगतः॥१७॥
अयं तवार्थो ह्रियते यो ब्रूयादक्षमान्वितः।
संबुबोधयिषुर्मित्रं सदश्वमिव सारथिः ॥ १८ ॥
अतिमन्युप्रसक्तो हि प्रसह्य हितकारणात्।
तथाविधस्य सुहृदा क्षन्तव्यं स्वं विजानता।
ऐश्वर्यमिच्छता नित्यं पुरुषेण बुभूषता ॥ १९ ॥
तं राजा प्रत्युवाचेदं यत्किञ्चिन्मां भवान्वदेत्।
कस्मादहं न क्षमेयमाकांक्षन्नात्मनो हितम् ॥ २० ॥

कालक वृक्षीय इसी भांति कौशल्यके सेवकोंका यथा योग्य तिरस्कार करके सन्ध्याके समय निद्रित हुए; तब सब राजपुरुषोंने मिलके बाणसे उनके कौवेको विद्ध किया। अनन्तर बहुत भोरके समय उठकर ब्राह्मणने पिञ्जरेमें कौवाको बाणसे विद्ध देखके क्षेमदर्शी कौशल्यसे कहा। (११-१६)

हे राजन्! आप स्वामी और प्राणधनके ईश्वर हैं; इससे आपके समीप मैं अभय प्रार्थना करता हूं। महाराज! आपकी आज्ञासेही मैंने सब भांतिकी शक्ति और यत्नके सहित तुम्हारे समीप आके आपके हितकर वचन कहा था, उससे अपने मित्रके नष्ट होनेसे मैं अत्यन्त दुःखित हुआ हूं। उत्तम घोडेको सिखानेवाले सारथीकी भांति यदि कोई मित्रको प्रबोधित करनेकी अभिलाषासे क्षमारहित होके तुम्हारा यह धन हरण हुआ है, ऐसा वचन कहे और मित्रके हितके वास्ते अत्यन्त क्रुद्ध होके हितसाधनमें प्रवृत्त हो; तो ऐसा होनेपर नित्य ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले स्वजन पुरुषको वैसे मित्र और उसके वचनको क्षमा करना उचित है। परन्तु असावधान होके दूसरेसे वैसे मित्रको नष्ट कराना उचित नहीं है। क्षेमदर्शी कालक-वृक्षीयका ऐसा वचन सुनके बोले, मैं अपने हितकी इच्छा किया करता हूं। इससे मेरे हितके वास्ते आप मुझे जो कुछ कहेंगे उसे मैं क्यों न क्षमा करूंगा। (१७-२०)

ब्राह्मण प्रतिजाने ते प्रब्रूहि यदिहेच्छसि ।
करिष्यामि हि ते वाक्यं यद्स्मान्विप्र वक्ष्यसि ॥२१॥

मुनिरुवाच— ज्ञात्वा पापानपापांश्च भृत्यतस्ते भयानि च ।
भक्त्या वृत्तिं समाख्यातुं भवतोऽन्तिकमागमम्॥२२॥
प्रागेवोक्तस्तु दोषोऽयमाचार्यैर्नृपसेविनाम् ।
अगतीकगतिर्ह्येषा पापा राजोपसेविनाम् ॥ २३ ॥
आशीविषैश्च तस्याहुः सङ्गतं यस्य राजभिः ।
बहुमित्राश्च राजानो बह्वमित्रास्तथैव च ॥ २४ ॥
तेभ्यः सर्वेभ्य एवाहुर्भयं राजोपजीविनाम् ।
तथैषां राजतो राजन्मुहूर्तादेव भीर्भवेत् ॥ २५ ॥
नैकान्तेनाप्रमादो हि शक्यः कर्तुं महीपतौ ।
न तु प्रमादः कर्तव्यः कथञ्चिद्भूतिमिच्छता ॥ २६ ॥
प्रमादाद्धि स्खलेद्राजा स्खलिते नास्ति जीवितम् ।
अग्निं दीप्तमिवासीदेद्राजानमुपशिक्षितः ॥ २७ ॥

हे ब्राह्मण ! आप इस विषयमें जो कुछ करनेकी इच्छा करते हैं,उसे कहिये । हे विप्र ! मैं आपके समीप यह प्रतिज्ञा करता हूं कि आप मुझे जो कहेंगे मैं आपकी वह इच्छा सफल करूंगा।(२१)

कालक वृक्षीय मुनि बोले, महाराज ! मैंने आपके सेवकोंका दोषादोष और उनसे अपनेको भय प्राप्त होना मालूम करके उनका व्यवहार आपसे कहनेके वास्ते भक्तिपूर्वक आपके समीप आगमन किया था; वह मेरा उचित कार्य नहीं हुआ है; क्यों कि इस ही कारण पहिले समयमें पूर्व-आचार्योंने राजसेवक पुरुषोंका इस प्रकार दोष कहा है, कि जो लोग राजसेवा करते हैं, उन लोगोंकी ऐसी पापजनक अगतीक गति अर्थात् अनुपायु मनुष्यकी भांति गति हुआ करती है । और भी पण्डित लोग कहा करते हैं, कि राजाके साथ जो लोग आसक्त होते हैं, उनको विषधारी सर्पके साथ आसक्त होना समझा जाता है, क्योंकि बहुतसे मित्र और अनेक शत्रु राजाओंके समीप विद्यमान रहते हैं । हे राजन् ! इससे राजसेवा करनेवाले पुरुष राजकीय मित्र, शत्रु और राजाका सदा भय करें । (२२–२५)

हे राजन् ! राजाके समीप एकबारगी प्रमाद करनेमें कोई भी समर्थ नहीं होता, इससे राजाके निकट ऐश्वर्यकी इच्छा करनेवाले पुरुषको कभी प्रमाद

आशीविषमिव क्रुद्धं प्रभुं प्राणधनेश्वरम्।
यत्नेनोपचरेन्नित्यं नाहमस्मीति मानवः ॥ २८ ॥
दुर्व्याहृताच्छङ्कमानो दुःस्थितादुराधिष्ठितात्।
दुरासितादुर्व्रजितादिङ्गितादङ्गचेष्टितात् ॥ २९ ॥
देवतेव हि सर्वार्थान्कुर्याद्राजा प्रसादितः।
वैश्वानर इव क्रुद्धः समूलमपि निर्दहेत ॥ ३० ॥
इति राजन्यमः प्राह वर्तते च तथैव तत्।
अथ भूयांसमेवार्थं करिष्यामि पुनः पुनः ॥ ३१ ॥
ददात्यस्मद्विधोऽमात्यो बुद्धिसाहाय्यमापदि।
वायसस्त्वेष मे राजन्ननुकार्योभिसंहितः ॥ ३२ ॥
न च मेऽत्र भवान्गर्ह्यो न च येषां भवान् प्रियः।
हिताहितांस्तु बुद्ध्येथा मापरोक्षमतिर्भवेः ॥ ३३ ॥
ये त्वादानपरा एव वसन्ति भवतो गृहे।

करना उचित नहीं है; क्यों कि सेवकके प्रमादसे राजा क्लेशित होता है, राजाके ढिलाईसे उसके जीवनमें संशय उत्पन्न होता है। जलती हुई अग्निमें पडनेवाले पुरुषकी भांति राजाके समीप शिक्षित पुरुषका भी जीवन नष्ट हुआ करता है। इससे पुरुष सदा जीनेकी आशा त्यागके क्रुद्ध सर्पकी भांति प्राणधनके स्वामी राजाके निकट गमन करें; और राजाके समीप कुवचन कहना, दुःखित भावसे स्थित होना, कुस्थानमें निवास निन्दित रीतिसे बैठना, दुष्टताके सहित गमन करना, इङ्गित और अङ्गचेष्टित इन सब कार्योंमें सदा शङ्का करे। हे राजन्! यमने ऐसा कहा है, कि राजा प्रसन्न होनेसे देवताकी भांति सब अर्थ सिद्ध करता और क्रुद्ध होनेसे अग्निकी भांति जड सहित भस्म करता है, इससे जो पुरुष राजाके निकट तथा नियमसे निवास करेगा मैं उत्तरोत्तर उसके समृद्धिकी बढती करूंगा। (२६-३१)

महाराज! मेरे समान सेवकही आपद कालमें बुद्धिकी सहायता प्रदान किया करते हैं, मेरा कौवा जैसा कार्यकारी था, मैं भी वैसा ही कार्य कर सकता हूं, परन्तु तुम्हारे सेवक लोग कौवेकी भांति मुझे भी नष्ट करेंगे, ऐसा ही मुझे सन्देह होरहा है। मैं इस विषयमें आपकी निन्दा नहीं करता, परन्तु आप जो सेवकोंके प्रियपात्र नहीं हैं, वही कहता हूं। इसके अनन्तर आप हिताहितका विचार करके अपने सम्मुख

अभूतिकामा भूतानां तादृशैर्मेऽभिसंहितम् ॥ ३४ ॥
यो वा भवद्विनाशेन राज्यमिच्छत्यनन्तरम् ।
आन्तरैरभिसन्धाय राजन्सिद्ध्यति नान्यथा ॥ ३५ ॥
तेषामहं भयाद्राजन् गमिष्याम्यन्यमाश्रमम् ।
तैर्हि मे सन्धितो बाणः काके निपतितः प्रभो ॥ ३६॥
छद्मकामैरकामस्य गमितो यमसादनम् ।
दृष्टं ह्येतन्मया राजंस्तपो दीर्घेन चक्षुषा ॥ ३७ ॥
बहुनक्रझषग्राहान्तिमिङ्गलगणैर्युताम् ।
काकेन बालिशेनेमां यामतार्षमहं नदीम् ॥ ३८ ॥
स्थाण्वश्मकण्टकवतीं सिंहव्याघ्र समाकुलाम् ।
दुरासदां दुष्प्रसहां गुहां हैमवतीमिव ॥ ३९ ॥
अग्निना तामसं दुर्गं नौभिराप्यं च गम्यते ।
राजदुर्गावतरणे नोपायं पंडिता विदुः ॥ ४० ॥

ही सब कार्योंको सिद्ध कीजियेगा, महाराज ! आपके गृहमें कोप हरण करनेवाले जो सब सेवक निवास कर रहे हैं, प्रजाके अमङ्गलकी इच्छा करनेवाले उन्हीं सब सेवकोंने मुझसे शत्रुताचरण किया है, और जो आपके प्राण नाशके अभावमें राज्य प्राप्त करेगा, उसने आपके प्राण नाशके वास्ते रसोई बनानेवालोंके जरिये अन्नादिकोंमें विष डालनेकी इच्छा की है, आप यदि सावधान न होंगे, तो उन लोगोंकी वह अभिसन्धि सिद्ध होगी। महाराज ! मैंने उन लोगोंके डरसे दूसरे आश्रममें गमन करनेकी इच्छा की है । उन लोगोंने मेरे वास्ते जो बाण चलाया था, उससे मेरा कौवा मरा है। (३१-३६)

मैं निष्कामी और वे लोग छद्मकामी हैं; इससे उन लोगोंने ही जो मेरे कौवेको यमपुरीमें भेजा है, उसे मैं तपोमय बडे नेत्रसे स्पष्टरूपसे देख रहा हूं। हे राजन् ! स्थाणु, अश्म और काँटेसे युक्त, सिंह और बाघोंसे परिपूरित, भयङ्कर और दुःखसे प्रवेश करने योग्य गुफाकी भांति अनेक मकर, मच्छ और घडियालोंसे घिरे हुए, तिमिङ्गिल समूहसे परिपूर्ण यह राजनीति रूपी महानदीसे, मैं तक्रिया रूपी कौवेके जरिये पार हुआ हूं । महाराज ! दीपकसे अन्धार युक्त किला और नौकासे पुरुष जलदुर्गके पार हो सकता है, परन्तु पण्डित लोग भी राज दुर्गके पार होनेका उपाय निश्चय नहीं कर सकते। ३७-४०

गहनं भवतो राज्यमन्धकारं तमोन्वितम्।
नेह विश्वसितुं शक्यं भवताऽपि कुतो मया ॥ ४१ ॥
अतो नायं शुभो वासस्तुल्ये सदसती इह।
वधो ह्येवाऽत्र सुकृते दुष्कृते न च संशयः ॥ ४२ ॥
न्यायतो दुष्कृते घातः सुकृते न कथञ्चन।
नेह युक्तं स्थिरं स्थातुं जवेनैवाव्रजेद्बुधः ॥ ४३ ॥
सीता नाम नदी राजन्प्लवो यस्यां निमज्जति।
तथोपमामिमां मन्ये वागुरां सर्वघातिनीम् ॥ ४४ ॥
मधुप्रपातो हि भवान् भोजनं विषसंयुतम्।
असतामिव ते भावो वर्तते न सतामिव ॥ ४५ ॥
आशीविषैः परिवृतः कूपस्त्वमसि पार्थिव।
दुर्गतीर्था बृहत्कूला कारीरा वेत्रसंयुता ॥ ४६ ॥
नदी मधुरपानीया यथा राजंस्तथा भवान्।
श्वगृध्रगोमायुयुतो राजहंससमो ह्यसि ॥ ४७ ॥
यथाऽऽश्रित्य महावृक्षं कक्षः संवर्धते महान्।

आपका राज्य अन्धकारकी भांति तम युक्त अर्थात् धर्माधर्म रहित और अत्यन्त अगम है; अतएव आप जब इसमें विश्वास करनेमें समर्थ नहीं होते, तब मैं किस प्रकार विश्वास करूंगा। इस राज्यमें जब पाप और पुण्य दोनों ही समान हैं, तब इस स्थानमें वास करना कल्याणकारी नहीं होगा, क्यों कि स्थलमें सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही निश्चय विनाश होगा। दुष्कृतका विनाश ही न्याय है; इससे इस स्थानमें स्थिरभावसे निवास करना युक्त नहीं है; इससे जो पण्डित हैं; वे इस स्थानसे शीघ्र ही भाग जावें। हे राजन्! जिसमें सब नौका डूब जाती हैं, उस सीता नाम्नी नदीकी भांति आपकी यह राजनीति सर्वघातिनी वागुरा रूपसे मुझे मालूम होरही है। हे राजन्! आप मधु प्रतापके समान परन्तु भोजनमें विषकी भांति हैं; आपके अभिप्राय मिथ्याकी भांति हैं, सदभिप्राय आपमें कुछ भी नहीं है; इससे आप मुझे सर्पसे युक्त कुएंकी भांति मालूम हो रहे हैं। हे राजन्! आप दुर्गम तीर्थ युक्त बड़े किनारे तथा बेत संयुक्त मीठे जलसे परिपूरित नदी और कुत्ते, गिद्ध तथा शियारोंसे घिरे हुए राज हंसकी भांति मालूम होरहे हैं। (४०-४७)

ततस्तं संवृणोत्येव तमतीत्य च वर्धते ॥ ४८ ॥
तनैवोग्रेन्धनेनैनं दावो दहति दारुणः ।
तथोपमा ह्यमात्यास्ते राजंस्तान्परिशोधय ॥ ४९ ॥
त्वया चैव कृता राजन्भवता परिपालिताः ।
भवन्तमभिसन्धाय जिघांसन्ति भवत्प्रियम् ॥ ५० ॥
उषितं शङ्कमानेन प्रमादं परिरक्षिता ।
अन्तःसर्प इवागारे वीरपत्न्या इवालये ॥
शीलं जिज्ञासमानेन राज्ञश्च सहजीविनः ॥ ५१ ॥
कच्चिज्जितेन्द्रियो राजा कच्चिदस्यान्तरा जिताः ।
कच्चिदेषां प्रियो राजा कच्चिद्राज्ञः प्रियाः प्रजाः ॥५२॥
विजिज्ञासुरिह प्राप्तस्तवाहं राजसत्तम ।
तस्य मे रोचते राजन्क्षुधितस्येव भोजनम् ॥ ५३ ॥
अमात्या मे न रोचन्ते वितृष्णस्य यथोदकम् ।

महाराज ! कक्ष अर्थात् तृण लता आदि सब महावृक्षोंके आसरेसे बढके उसे आवरण करते हुए क्रमसे उस वृक्षको अतिक्रम करके बढने पर भी प्रचण्ड दावाग्निके लगनेसे महाकक्षके सहित जैसे वह वृक्ष भस्म हो जाता है, वैसे ही कक्ष तुल्य सेवकों सहित आप भी नष्ट होंगे; इससे आप उन सेवकोंकी परीक्षा करिये, आप ही उन लोगोंको सेवक पदवी पर नियुक्त करके प्रतिपालन कर रहे हैं; परन्तु वे लोग आपको अभिसन्धान करके तुम्हारे सब इष्ट विषयको नष्ट करनेकी अभिलाषा करते हैं । इसही कारण मैं सहजीवी राजाके समस्त स्वभावके जाननेकी इच्छा करके प्रमादकी सब भांतिसे रक्षा करते हुए सर्पसे युक्त गृह और वीर पत्नीके स्थानकी भांति इस राज गृहमें शङ्कित चित्तसे निवास करता हूं । (४७-५१)

हे राज सत्तम ! राजा जितेन्द्रिय है, वा नहीं? इसने कामादिकोंको जय किया है वा नहीं? यह सेवकोंको प्रिय है, या नहीं और सब प्रजा इसे प्यारी है, वा नहीं ? यह सब जाननेके ही वास्ते मैंने आपके समीप आगमन किया है । हे राजन् ! भूखे पुरुषके भोजनीय वस्तुकी भांति आप मेरे अभिलषित हुए हैं; परन्तु आपके सेवक लोग प्यास रहित पुरुषके वास्ते जलकी भांति मेरे अनभिलषित हुए हैं ! आप यह निश्चय जान रखो, कि इस ही कारण वे लोग "मैं आपका अर्थ कारी हूं,"--ऐसा दोष

भवतोऽर्थकृदित्येवं मयि दोषो हि तैः कृतः।
विद्यते कारणं नान्यदिति मे नात्रसंशयः ॥ ५४ ॥
नहि तेषामहं द्रुग्धस्तत्तेषां दोषदर्शनम्।
अरेर्हि दुर्हृदाङ्क्षेयं भग्नपृष्ठादिवोरगात् ॥ ५५ ॥

राजोवाच— भूयसा परिहारेण सत्कारेण च भूयसा।
पूजितो ब्राह्मणश्रेष्ठ भूयो वस गृहे मम ॥ ५६ ॥
ये त्वां ब्राह्मण नेच्छन्ति ते न वत्स्यन्ति मे गृहे।
भवतैव हि तज्ज्ञेयं यत्तदेषामनन्तरम् ॥ ५७ ॥
यथास्यात्सुधृतो दण्डो यथा च सुकृतं कृतम्।
तथा समीक्ष्य भगवन् श्रेयसे विनियुंक्ष्व माम् ॥५८॥

मुनिरुवाच— अदर्शयन्निमं दोषमेकैकं दुर्बलीकुरु।
ततः कारणमाज्ञाय पुरुषं पुरुषं जहि ॥ ५९ ॥
एकदोषा हि बहवो मृद्नीयुरपि कण्टकान्।
मन्त्रभेदभयाद्राजंस्तस्मादेतद्ब्रवीमि ते ॥ ६० ॥

मेरे ऊपर आरोपित कर रहे हैं; दूसरा कोई कारण ही मुझमें विद्यमान नहीं है। मैंने उन लोगोंका कुछ भी अनिष्ट आचरण नहीं किया है; तौभी जब वे लोग मेरे दोषदर्शी हुए हैं। तब अब मुझे इस स्थानमें निवास करना उचित नहीं है; क्यों कि पूंछ दाबनेसे क्रुद्ध हुए सर्पकी भांति दुष्ट चित्तवाले शत्रुओंसे सदा शङ्का करनी उचित है। (५२-५५)

राजा बोले, हे ब्राह्मण श्रेष्ठ! मैं बहुतसा परिचार स्वीकार करके अधिक आदरके सहित आपकी पूजा करता हूं; आप मेरे गृहमें बहुत दिनों तक निवास कीजिये। हे ब्राह्मण! मेरे सेवकोंके बीच जो लोग आपके साथ अनुकूल आचरण नहीं करेंगे, वे मेरे गृहमें न रहने पावेंगे। अनन्तर इन लोगोंकी जैसी दशा होगी उसे आप ही जान सकेंगे। हे भगवन्! जिससे दण्ड उत्तम रीतिसे धारण और सुकृत कर्म भली भांति सिद्ध हों, उस विषयमें विशेष समालोचना करके कल्याणके वास्ते मुझे नियुक्त कीजिये। (५६-५८)

मुनि बोले, पहिले कौवाके बधके कारण यह दोष देखकर एक एक सेवकोंको क्रमसे निर्बल अर्थात् ऐश्वर्य च्युत कीजिये। अनन्तर कौवाके वधका वृत्तान्त विशेष रूपसे जानके एक एक करके उन लोगोंका वध करिये। हे राजन्! बहुतसे मनुष्य एक ही दोषसे

वयं तु ब्राह्मणा नाम मृदुदण्डाः कृपालवः ।
स्वस्ति चेच्छाम भवतः परेषां च यथाऽऽत्मनः ॥ ६१ ॥
राजन्नात्मानमाचक्षे संबन्धी भवतो ह्यहम् ।
मुनिः कालकवृक्षीय इत्येवमभिसंज्ञितः ॥ ६२ ॥
पितुः सखा च भवतः संमतः सत्यसंगरः ।
व्यापन्ने भवतो राज्ये राजन्पितरि संस्थिते ॥ ६३ ॥
सर्वकामान्परित्यज्य तपस्तप्तं तदा मया ।
स्नेहात्त्वां तु ब्रवीम्येतन्मा भूयो विभ्रमेदिति ॥ ६४ ॥
उभे दृष्ट्वा दुःखसुखे राज्यं प्राप्य यदृच्छया ।
राज्येनामात्यसंस्थेन कथं राजन्प्रमाद्यसि ॥ ६५ ॥
ततो राजकुले नान्दी संजज्ञे भूयसा पुनः ।
पुरोहितकुले चैव संप्राप्ते ब्राह्मणर्षभे ॥ ६६ ॥
एकच्छत्त्रां महीं कृत्वा कौसल्याय यशस्विने ।

दूषित होने पर सब कोई मिलके अत्यन्त तीक्ष्ण, काँटेको भी कोमल किया करते हैं; इससे यदि मन्त्रभेद होवे, इस ही कारण मैं आपसे ऐसा कहता हूं । मैं ब्राह्मण जाति स्वभावसे ही दयालु हूं; इससे हमारा दण्ड अत्यन्त कोमल है; अपनी भांति दूसरेका तथा आपके मङ्गलकी अभिलाषा किया करता हूं । हे राजन् ! आपके सङ्ग मेरा जैसा सम्बन्ध है, आपको उसका परिचय देता हूं; मेरा नाम कालक-वृक्षीय कहके प्रसिद्ध है । मुझे सत्यप्रतिज्ञ समझके तुम्हारे पिता मेरा मित्रके समान सम्मान करते थे; जब वे परलोकको गये, उस समय मैं सब कामना त्यागके तपस्या कर रहा था । अनन्तर आपका राज्य विपदग्रस्त होनेसे मैं यहां आया हूं, और उस ही प्रीतिके कारण आपको बारबार यह वचन कहता हूं, इससे अब आप अनाप्त पुरुषमें आत्म बुद्धि न कीजिये । (५९—६४)

आपने इच्छानुसार राज्य लाभ किया है और सुख दुःख दोनोंको ही विद्यमान देख रहे हो, तोभी क्यों इस प्रकार सेवकोंके ऊपर राज्य भार सौंपकर प्रमादग्रस्त होते हो ? हे राजन् ! पण्डित लोग कहा करते हैं, कि राजकुलमें उत्पन्न हुए क्षत्रिय और पुरोहित कुलमें पैदा हुए उत्तम ब्राह्मणको ही यत्न पूर्वक सेवक पदवी पर प्रतिष्ठित करे । (६५—६६)

हे युधिष्ठिर ! कालक वृक्षीय मुनि

मुनिः कालकवृक्षीय ईजे क्रतुभिरुत्तमैः ॥ ६७ ॥
हितं तद्वचनं श्रुत्वा कौसल्योऽप्यजयन्महीम् ।
तथा च कृतवान् राजा यथोक्तं तेन भारत ॥ ६८ ॥[३०९४]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यपरीक्षायां कालकवृक्षीयोपाख्याने द्व्यशीतितमोऽध्यायः ॥८२॥

युधिष्ठिर उवाच– सभासदः सहायाश्च सुहृदश्च विशाम्पते ।
परिच्छदास्तथाऽमात्याः कीदृशाः स्युः पितामह ॥१ ॥

भीष्म उवाच— ह्रीनिषेवास्तथा दान्ताः सत्यार्जवसमन्विताः ।
शक्ताः कथयितुं सम्यक्ते तव स्युः सभासदः ॥ २ ॥
अमात्यांश्चातिशूरांश्च ब्राह्मणांश्च परिश्रुतान् ।
सुसन्तुष्टांश्च कौन्तेय महोत्साहांश्च कर्मसु ॥ ३ ॥
एतान्सहायाँल्लिप्सेथाः सर्वास्वापत्सु भारत ।
कुलीनः पूजितो नित्यं न हि शक्तिं निगूहति ॥ ४ ॥
प्रसन्नमप्रसन्नं वा पीडितं हृतमेव वा ।
आवर्तयति भूयिष्ठं तदेव ह्यनुपालितम् ॥ ५ ॥
कुलीना देशजाः प्राज्ञा रूपवन्तो बहुश्रुताः ।

इस भांति यशस्वी कौशल्यके समुद्र सहित सब पृथ्वीको एकछत्री करके अत्यन्त उत्तम यज्ञादि कार्य किया और कौशल्यराज उनका वैसा हितकर वचन सुनके पृथ्वी जय करके उनकी आज्ञाके अनुसार कार्य करने लगे। (६५-६८)

शान्तिपर्वमें बीयासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तिराशी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, पितामह! कैसे पुरुष राजाके सभासद, सहायक सुहृद, परिच्छद और सेवक होंगे। (१)

भीष्म बोले, हे भारत! जो लोग लज्जाशील, जितेन्द्रिय, सत्य और सरलतासे युक्त तथा प्रिय और अप्रिय वचनको पूरी रीतिसे कहनेमें समर्थ हैं, वैसे ही पुरुषोंको तुम सभासद करना। हे कौन्तेय! जो सदा समीप रहते, पराक्रमी अत्यन्त ही श्रवण शक्तिसे युक्त, सन्तुष्ट, ब्राह्मण और सब कार्योंमें महोत्सवसे सम्पन्न हैं, उन्हें ही आपदके समय सहायक बनाना। जो कुलीन सदा सम्माननीय निज शक्तिको छिपाते नहीं और प्रसन्न, अप्रसन्न, पीडित वा मरे हुए सेवकोंको सब भांतिसे आवर्त्तित करते हैं, उन्हें ही सुहृदमित्र समझे। जो कुलीन, स्वदेशज, बुद्धिवान, रूप-

प्रगल्भाश्चानुरक्ताश्च ते तव स्युः परिच्छदाः ॥ ६ ॥
दौष्कुलेयाश्च लुब्धाश्च नृशंसा निरपत्रपाः ।
ते त्वां तात निषेवेयुर्यावदार्द्रकपाणयः ॥ ७ ॥
कुलीनान् शीलसंपन्नानिङ्गितज्ञाननिष्ठुरान् ।
देशकालविधानज्ञान्भर्तृकार्यहितैषिणः ॥ ८ ॥
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजा कुर्वीत मन्त्रिणः ।
अर्थमानार्घसत्कारैर्भोगैरुच्चावचैः प्रियैः ॥
यानर्थभाजो मन्येथास्ते ते स्युः सुखभागिनः ॥ ९ ॥
अभिन्नवृत्ता विद्वांसः सद्वृत्ताश्चरितव्रताः ।
न त्वां नित्यार्थिनो जह्युरक्षुद्राः सत्यवादिनः ॥ १० ॥
अनार्या ये न जानन्ति समयं मन्दचेतसः ।
तेभ्यः परिजुगुप्सेथा ये चापि समयच्युताः ॥ ११ ॥
नैकमिच्छेद्गणं हित्वा स्याचेदन्यतरग्रहः ।

वान, बहुश्रुत, प्रगल्भ और अनुरक्त हैं, उन्हें ही परिच्छद कार्यमें नियुक्त करे। (२—६)

हे तात! जो लोग दुष्ट कुलोंमें उत्पन्न हुए, लोभी, नृशंस और निर्लज्ज हैं, वे लोग जब तक गीला हाथ अर्थात् धनवान न होंगे, तभीतक सेवा करेंगे। छूंछे हाथ होने पर उस ही समय टेढे होकर फिर तुम्हारी सेवा न करेंगे; इससे उन्हें परिच्छद कार्यपर नियत करना उचित नहीं है; और जो लोग कुलीन, सत्स्वभाव युक्त, इङ्गितज्ञ, निठुरतारहित; देश, काल और उपाय जाननेवाले तथा स्वामि-कार्य हितैषी हैं, उन्हें सब कार्योंमें सेवक बनाना। जिन्हें प्रियपात्र समझके अर्थ, मान, दिव्यवस्त्र और पान आदि दान तथा सत्कार आदि अनेक भांतिके भोगसे प्रतिपालन करें; वेही अर्थ और सुख भोगी होंगे। (७-९)

हे युधिष्ठिर! जिसकी चित्तवृत्ति किसी प्रकार विचलित नहीं होती और जो लोग विद्वान् सुवृत्त, व्रत करनेवाले, सत्यवादी, और अक्षुद्र हैं, वेही नित्यार्थी अर्थात् सदा स्वामीकी अर्थ चिन्ता करते आपदकालमें स्वामीको कभी नहीं त्यागते। और जो अनार्य, अधार्मिक, मन्दबुद्धि तथा मर्यादाहीन हैं, उन लोगोंके निकट समय अर्थात् धर्माधर्म की सब भांतिसे रक्षा करे। सबके बीच अन्यतर ग्रहण करना हो, तो गण परित्याग करके एक पुरुषके ग्रहण कर-

यस्त्वेको बहुभिः श्रेयान्कामं तेन गणं त्यजेत् ॥ १२ ॥
श्रेयसो लक्षणं चैतद्विक्रमो यस्य दृश्यते ।
कीर्तिप्रधानो यश्च स्यात्समये यश्च तिष्ठति ॥ १३ ॥
समर्थान्पूजयेद्यश्च नास्पर्ध्यैः स्पर्धते च यः ।
न च कामाद्भयात्क्रोधाल्लोभाद्वा धर्ममुत्सृजेत् ॥ १४ ॥
अमानी सत्यवान्क्षान्तो जितात्मा मानसंयुतः ।
स ते मन्त्रसहायः स्यात्सर्वावस्थापरीक्षितः ॥ १५ ॥
कुलीनः कुलसंपन्नस्तितिक्षुर्दक्ष आत्मवान् ।
शूरः कृतज्ञः सत्यश्च श्रेयसः पार्थ लक्षणम् ॥ १६ ॥
तस्यैवं वर्तमानस्य पुरुषस्य विजानतः ।
अमित्राः संप्रसीदन्ति तथा मित्रीभवन्त्यपि ॥ १७ ॥
अत ऊर्ध्वममात्यानां परीक्षेत गुणागुणम् ।
संयतात्मा कृतप्रज्ञो भूतिकामश्च भूमिपः ॥ १८ ॥
संबन्धिपुरुषैराप्तैरभिजातैः स्वदेशजैः ।

नेकी इच्छा न करे; परन्तु एक पुरुष गण अर्थात् सबमें मुख्य होनेपर समूहको त्यागके भी एक पुरुषको ग्रहण करना उचित है। जो उत्तम कीर्त्ति और युद्धमें स्थित होके विक्रम दिखाते हैं, उसे ही उनका साधु लक्षण समझे। और जो समर्थ पुरुषका सम्मान करते स्पर्द्धाहीन पुरुषके विषयमें स्पर्द्धा नहीं करते, काम, क्रोध, भय और लोभके वशमें होकर धर्म नहीं त्यागते, तथा अभिमान रहित, सत्यवादी, क्षमाशील, जितात्मा, मानी और सब अवस्थामें ही परीक्षायुक्त हैं, वेही तुम्हारे मन्त्र सहायक होवें। (१०-१५)

हे पार्थ! जो कुलीन, उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए, क्षमाशील पटु, ऊंचे चित्त, शूर, कृतज्ञ और सत्य धर्मसे युक्त हैं, वेही साधु हैं; क्यों कि यही सब गुण साधुओंके लक्षण कहके प्रसिद्ध हैं। राजन्! इसी भांति बुद्धिमान पुरुष यदि राजाके निकट विद्यमान रहें, तो शत्रु भी प्रसन्न होके मित्रकी भांति व्यवहार किया करते हैं; इससे जितेन्द्रिय, बुद्धिमान् भूति-काम राजा ऐसे सेवकोंके अतिरिक्त अन्य सेवकोंके समस्त गुण दोषों की परीक्षा करें। हे राजन्! उन्नति, शील, ऐश्वर्य की इच्छा करनेवाले राजा लोग आत्मीय, कुलीन, स्वदेशीय, स्त्रुक् चन्दन आदि विषयोंके वशमें न होनेवाले, व्यभिचार रहित और भलीभांति परिक्षा किये हुए

अहार्यैरव्यभीचारैः सर्वशः सुपरीक्षितैः ॥ १९ ॥
यौनाः श्रौतास्तथा मौलास्तथैवाप्यनहंकृताः।
कर्तव्या भूतिकामेन पुरुषेण बुभूषता ॥ २० ॥
येषां वैनयिकी बुद्धिः प्रकृतिश्चैव शोभना।
तेजो धैर्यं क्षमा शौचमनुरागः स्थितिर्धृतिः ॥ २१ ॥
परीक्ष्य च गुणान्नित्यं प्रौढभावान्धुरन्धरान्।
पञ्चोपधाव्यतीतांश्च कुर्याद्राजार्थकारिणः ॥ २२ ॥
पर्याप्तवचनान्वीरान्प्रतिपत्तिविशारदान्।
कुलीनान्सत्यसंपन्नानिङ्गितज्ञानानिष्ठुरान् ॥ २३ ॥
देशकालविधानज्ञान्भर्तृकार्यहितैषिणः।
नित्यमर्थेषु सर्वेषु राजन्कुर्वीतमन्त्रिणः ॥ २४ ॥
हीनतेजोऽभिसंसृष्टो नैव जातु व्यवस्यति।
अवश्यं च नयत्येव सर्वकर्मसु संशयम् ॥ २५ ॥
एवमल्पश्रुतो मन्त्री कल्याणाभिजनोऽप्युत।
धर्मार्थकामसंयुक्तो नालं मन्त्रं परीक्षितुम् ॥ २६ ॥
तथैवानभिजातोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः।

पुरुषोंके साथ सम्बन्ध और अत्यन्त श्रेष्ठ योनिसे उत्पन्न हुए वेद जाननेवाले, परम परागत और अभिमानरहित मनुष्योंकोही मन्त्री करें। जिसमें बुद्धि विनय युक्त, उत्तम स्वभाव, तेज, धीरज, क्षमा, पवित्रता, अनुराग, मर्यादा और धारणा ये सब गुण विद्यमान हैं, राजा उन लोगोंके ऊपर कहे हुए गुणोंकी सदा परीक्षा करके मजबूत धुरन्धर, कपट रहित, पांच पुरुषोंका अर्थ कार्य पर नियुक्त करे। (१५-२२)

हे राजन् जो लोग पर्याप्तवादी, वीर प्रतिपत्ति विशारद, कुलीन, सत्यसे युक्त, इङ्गितज्ञ, निष्ठुरता रहित, देश काल और उपायके जाननेवाले तथा स्वामी कार्य हितैषी हैं; राजा उन्हें सब कार्यों में ही मन्त्री करें। हे राजन् ! जो पुरुष तेजरहित मित्रके साथ सम्बन्ध रखता है, वह कभी कर्तव्याकर्तव्य विषयको निश्चय करनेमें समर्थ नहीं होता; बल्कि सब कार्योंमें ही संशय उत्पन्न किया करता है, इससे राजा ऐसे मनुष्यको कभी अपना मन्त्री न करें। और अल्प-श्रुत मनुष्य उत्तम कुलमें उत्पन्न और धर्म, काम इस त्रिवर्गसे युक्त होनेपर भी वह मन्त्र परिक्षा करनेमें समर्थ नहीं

अनायक इवाचक्षुर्मुह्यत्यणुषु कर्मसु ॥ २७ ॥
यो वाप्यस्थिरसंकल्पो बुद्धिमानागतागमः ।
उपायज्ञोऽपि नालं स कर्मप्रापयितुं चिरम् ॥ २८ ॥
केवलात्पुनरादानात्कर्मणो नोपपद्यते ।
परामर्शो विशेषाणामश्रुतस्येह दुर्मतेः ॥ २९ ॥
मन्त्रिण्यननुरक्ते तु विश्वासो नोपपद्यते ।
तस्मादननुरक्ताय नैव मन्त्रं प्रकाशयेत् ॥ ३० ॥
व्यथयेद्धि स राजानं मन्त्रिभिः सहितोऽनृजुः ।
मारुतोपहितच्छिद्रैः प्रविश्याग्निरिव द्रुमम् ॥ ३१ ॥
संक्रुद्धश्चैकदा स्वामी स्थानाच्चैवापकर्षति ।
वाचा क्षिपति संरब्धः पुनः पश्चात्प्रसीदति ॥ ३२ ॥
तानि तान्यनुरक्तेन शक्यानि हि तितिक्षितुम् ।
मन्त्रिणां च भवेत्क्रोधो विस्फूर्जितमिवाशनेः ॥ ३३ ॥
यस्तु संहरते तानि भर्तुः प्रियचिकीर्षया ।

होता; इससे उसे सेवक पदपर नियत करना उचित नहीं है, और नीच कुलमें उत्पन्न हुआ पुरुष अच्छे प्रकार बहुश्रुत होनेपर भी अनायक अन्धे की भांति सूक्ष्म कर्ममें मोहित हुआ करता है;इससे राजा उसे सेवक पदपर नियुक्त न करें। (२२-२७)

अस्थिर सङ्कल्पवाला पुरुष बुद्धिमान, शास्त्रवित् और उपाय जाननेवाला होनेपर भी बहुत समय तक कार्य सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं होता। इस संसारमें जो नीच बुद्धि मनुष्य कर्मके विशेष फलको न जानके केवल मात्र कर्म करते हैं, उनकी सलाह नहीं ग्रहण की जा सकती। विरक्त मन्त्रीका विश्वास करना युक्तियुक्त नहीं है, इससे विरक्त मन्त्रीके समीप कभी विचार प्रकाश न करे; क्यों कि जैसे अनिल वृक्षके छिद्रसे प्रवेश करके अग्निकी भांति उसे भस्म करता है, वैसे ही वह कपटी मन्त्री दूसरे मन्त्रियोंके साथ मिलके राजाको दुःखित किया करता है। स्वामी कभी क्रुध होके मन्त्रीको स्थानसे च्युत करता, अथवा वचनसे निन्दा करके फिर उसके ऊपर प्रसन्न हुआ करता है; परन्तु अनुरक्त मित्र ही स्वामीके वह सब उपद्रव सह सकते हैं; और विरक्त मित्र उसे किसी प्रकार नहीं सह सकता, बल्कि उसका क्रोध वज्र शब्दके समान होता है, जो मन्त्री राजाके प्रिय-काम-

समानसुखदुःखं तं पृच्छेदर्थेषु मानवम् ॥ ३४ ॥
अनृजुस्त्वनुरक्तोऽपि संपन्नश्चेतरैर्गुणैः ।
राज्ञः प्रज्ञानयुक्तोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३५ ॥
योऽमित्रैः सह संबद्धो न पौरान्बहु मन्यते ।
असुहृत्तादृशो ज्ञेयो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३६ ॥
अविद्वानशुचिः स्तब्धः शत्रुसेवी विकत्थनः ।
असुहृत्क्रोधनो लुब्धो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३७ ॥
आगन्तुश्चानुरक्तोऽपि काममस्तु बहुश्रुतः ।
सत्कृतः संविभक्तो वा न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ३८ ॥
विधर्मतो विप्रकृतः पिता यस्याभवत्पुरा ।
सत्कृतः स्थापितः सोऽपि न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥३९॥
यः स्वल्पेनापि कार्येण सुहृदा क्षारितो भवेत् ।
पुनरन्यैर्गुणैर्युक्तो न मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४० ॥
कृतप्रज्ञश्च मेधावी बुधो जानपदः शुचिः ।
सर्वकर्मसु यः शुद्धः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४१ ॥

नासे उसके उन सब उपद्रवोंको नष्ट कर सकता है, राजा समान सुख दुःख भागी उस ही मनुष्यसे अर्थ विषयमें सलाह प्रश्न किया करता है। (२७-३४)

हे राजन् ! सरलता रहित मनुष्य इतर गुणोंसे युक्त होनेपर भी राजाके विचारको सुनने योग्य नहीं होसकते। जो मनुष्य शत्रुसे सम्बन्ध करके पुरवासियोंका आदर नहीं करता, वैसा पुरुष शत्रु समान गिना जाता है और वह सलाह सुननेके योग्य नहीं है। मूर्ख, अपवित्र, चुप्पे, शत्रुकी सेवा करनेवाले, अपनी बडाई करनेवाले,अमित्र, क्रोधी, लोभी ये सब राजाके मन्त्रणा सुननेके योग्य नहीं होसकते। आगन्तुक पुरुष, अनुरक्त, बहुश्रुत,सत्कृत और संविभक्त होनेपर भी सलाह सुननेके योग्य नहीं होसकता। पहिले जिसका पिता अधर्म आचरणके वशमें होकर कुस्वभावसे युक्त हुआ है, वह पुरुष सत्कृत और स्थापित होनेपर भी विचार सुननेके योग्य नहीं होसकता। (३५-३९)

जो पुरुष तनिक कार्यके वास्ते सुहृदका सर्वस्व हरके उसे निर्द्धन करता है, वह दूसरे अनेक गुणोंसे युक्त रहने पर भी सलाह सुननेके योग्य नहीं होसकता। और जो मनुष्य कृतज्ञ, मेधावी, पण्डित, जनपदवासी, परम

ज्ञानविज्ञानसंपन्नः प्रकृतिज्ञः परात्मनोः ।
सुहृदात्मसमो राज्ञः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४२ ॥
सत्यवाक् शीलसम्पन्नो गम्भीरः सत्रपो मृदुः ।
पितृपैतामहो यः स्यात्स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४३ ॥
संतुष्टः संमतः सत्यः शौटीरो द्वेष्यपापकः ।
मन्त्रवित्कालविच्छूरः स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४४ ॥
सर्वलोकमिमं शक्तः सान्त्वेन कुरुते वशे ।
तस्मै मन्त्रः प्रयोक्तव्यो दण्डमाधित्सता नृप ॥ ४५ ॥
पौरजानपदा यस्मिन्विश्वासं धर्मतो गताः ।
योद्धा नयविपश्चिच्च स मन्त्रं श्रोतुमर्हति ॥ ४६ ॥
तस्मात्सर्वैर्गुणैरेतैरुपपन्नाः सुपूजिताः ।
मन्त्रिणः प्रकृतिज्ञाः स्युस्त्र्यवरा महदीप्सवः ॥ ४७ ॥
स्वासु प्रकृतिषु च्छिद्रं लक्षयेरन्परस्य च ।
मन्त्रिणां मन्त्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ ४८ ॥

पवित्र और सब कार्यों में शुद्धतायुक्त है, वे पुरुष ही राजाके विचारको सुननेके योग्य होसकते हैं। जो पुरुष ज्ञान, विज्ञानमे युक्त, शत्रुके और अपने स्वभावको आत्मसदृश समझता है, वही पुरुष मन्त्रणा सुननेके योग्य होसकता है। जो पुरुष सत्यवादी, सुशील, गम्भीर अर्थात् मन्त्र गोपन करनेमें समर्थ, लज्जाशील, कोमलता युक्त और पिता-पितामहके क्रमसे विद्यमान रहता है, वह पुरुष ही सलाह सुन सकता है। जो मनुष्य सन्तुष्ट, सर्वसम्मत, सत्य-धर्मवाला, प्रगल्भ पापद्वेषी, मन्त्रवित्, त्रिकालज्ञ और शूर है, वही पुरुष सलाह सुननेका योग्यपात्र है। हे राजन् ! जो मनुष्य शान्तवचनसे सबको वशमें करनेमें समर्थ हो, दण्डधारी राजा उससे ही सलाह करे। (४०–४५)

पुर और जनपदवासी लोग जिसका धर्म पूर्वक विश्वास करें वही योद्धा, नीतिज्ञ पण्डित पुरुष सलाह सुननेके योग्य होसकता है। हे राजन् ! इससे पहिले कहे हुए महत् आश्रय पांच जन मन्त्री ऐसे गुणोंसे युक्त हों, तो उन्हें सम्मानके सहित राजकार्यमें नियुक्त कर रखे; परन्तु पांच जन न पानेसे तीन पुरुषसे कम न रखे। स्वामीको चाहिये सेवकोंको निज स्वभावसे मन्त्रियोंको शत्रु पक्षके अवसर दानरूपी छिद्रों और शत्रुओंके छिद्रोंका सदा लक्ष्य करता

नास्य च्छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ।
गूहेत्कूर्म इवाङ्गानि रक्षेद्विवरमात्मनः ॥ ४९ ॥
मन्त्रगूढा हि राज्यस्य मन्त्रिणो ये मनीषिणः।
मन्त्रसंहननो राजा मन्त्राङ्गानीतरे जनाः ॥ ५० ॥
राज्यं प्रणिधिमूलं हि मन्त्रसारं प्रचक्षते ।
स्वामिनस्त्वनुवर्तन्ते वृत्त्यर्थमिह मन्त्रिणः ॥ ५१ ॥
संविनीय मदक्रोधौ मानमीर्ष्यां च निर्वृताः ।
नित्यं पञ्चोपधातीतैर्मन्त्रयेत्सह मन्त्रिभिः ॥ ५२ ॥
तेषां त्रयाणां विविधं विमर्शं विबुद्ध्यचित्तं विनिवेश्य तत्र ।
स्वनिश्चयं तत्प्रतिनिश्चयज्ञं निवेदयेदुत्तरमन्त्रकाले ॥ ५३ ॥
धर्मार्थकामज्ञमुपेत्य पृच्छेद्युक्तो गुरुं ब्राह्मणमुत्तरार्थम् ।
निष्ठा कृता तेन यदा सहः स्यात्तं मन्त्रमार्गं प्रणयेदसक्तः ॥५४॥
एवं सदा मन्त्रयितव्यमाहुर्ये मन्त्रतत्त्वार्थविनिश्चयज्ञाः ।

रहे; क्यों कि राजाओंका मन्त्र ही मूल है, मन्त्रसे ही राष्ट्र विशेष रूपसे वृद्धिको प्राप्त होता है। अपना छिद्र जिसमें शत्रुपक्षवाले न देख सकें, उसी भांति निज छिद्रको छिपाते हुए शत्रुओंके छिद्रोंका अनुसन्धान करे, जैसे कछुवा अपना सब शरीर सिकोड लेता है,वैसे ही अपना छिद्र गोपन करे। (४६-४९)

राजाके महा बुद्धिमान मन्त्री लोग सब विचार गुप्त रखें, राजा मन्त्ररूपी कवच धारण करे और शूरवीर पुरुष मन्त्राङ्गोंकी रक्षा करें। श्रेष्ठ बुद्धिवाले पण्डित लोग दूतको राज्यका मूल और मन्त्रको राज्यका सार कहा करते हैं; परन्तु स्वामी और मन्त्री लोग अभिमान, क्रोध, मान तथा ईर्षारहित होकर वृत्तिके वास्ते यदि आपसमें एक दूसरेके अनुवर्ती हों, तो वे सब कोई सुखी हुआ करते हैं। पांच भांतिके छलरहित सेवकोंके साथ सदा विचार करे, और पहिले कहे हुए तीनों मन्त्रियोंके अनेक परामर्श तथा उनके चित्तको विशेष रूपसे मालूम करके अपना तथा उन लोगोंका निश्चित मत स्थिर करके सलाहके अनन्तर उसे प्रकाशित करे। (५०-५३)

परन्तु यदि स्वयं अशक्य हो तो सलाहके वास्ते धर्म, अर्थ और कामके जाननेवाले ब्राह्मण गुरुके समीप जाके उनसे वह विषय पूंछे, यदि उनके सङ्ग मतकी एकता होवे, तो उसही विचारको कार्यमें नियुक्त करे। पण्डित लोग

तस्मात्तमेवं प्रणयेत्सदैव मन्त्रं प्रजासंग्रहणे समर्थम् ॥ ५५ ॥
न वामनाः कुब्जकृशा न खञ्जा नान्धो जडः स्त्री च नपुंसकं च ।
न चात्र तिर्यक्च पुरो न पश्चान्नोर्ध्वं न चाधः प्रचरेत्कथञ्चित् ॥५६॥
आरुह्य वा वेश्म तथैव शून्यं स्थलं प्रकाशं कुशकाशहीनम् ।
वागङ्गदोषान्परिहृत्य सर्वान्संमन्त्रयेत्कार्यमहीनकालम् ॥ ५७ ॥ [३१५१]
इति श्रीमहा०शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि सभ्यादिलक्षणकथने त्र्यशीतितमोऽध्यायः ॥८३॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादं शक्रस्य च युधिष्ठिर ॥ १ ॥
शक्र उवाच— किंस्विदेकपदं ब्रह्मन्पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ २ ॥
बृहस्पतिरुवाच- सांत्वमेकपदं शक्र पुरुषः सम्यगाचरन् ।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥ ३ ॥

कहा करते हैं, कि इसी भांति जो लोग मन्त्रके यथार्थ अर्थ और निश्चयको विशेष रूपसे जानते हैं; उनके साथ सदा विचार करके प्रजा संग्रहमें समर्थ उस मन्त्रको सदा प्रणयन कार्यमें नियुक्त करना उचित है । जिस स्थानमें सलाह करे, उसके आगे, पीछे, ऊपर, नीचे और तिर्यग देशमें बौने, कुबडे, कृश, गञ्ज, अन्धे, जड, स्त्री और नपुंसक ये सब किसी भांति भी जाने आने न पावें । और नौकामें चढके कुश काश रहित प्रकाशमान निर्जन स्थानमें गमन करके ऊंचे तथा भयानक वचन दोष और वक्र विकार आदि सब अङ्गदोषोंको परित्याग करके जिसमें कार्यका समय न बीत जावे, उसी भांति विचार करे । (५४-५७) [३१५१]

शान्तिपर्वमें तिरासी अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें चौरासी अध्याय ।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! इस मन्त्र मूल प्रजा संग्रह विषयमें पण्डित लोग बृहस्पति और इन्द्रके सम्वादयुक्त जिस प्राचीन इतिहासका वर्णन किया करते हैं, उसे मैं इस प्रकार कहता हूं सुनो । (१)

एक बार इन्द्रने बृहस्पतिसे पूछा था, कि हे ब्रह्मन् ! जिसमें सब गुण अन्तर्हित होते हैं, क्या वैसे कर्त्तव्य कार्यका यथारीतिसे आचरण करनेसे ही पुरुष सब प्राणियोंसे सम्मत महत् यश प्राप्त कर सकते हैं ? (२)

बृहस्पति बोले, हे सुरराज ! पुरुष शान्त्व अर्थात् सब गुणोंके आश्रय प्रिय वचनको यथार्थ रीतिसे आचरण करने

एतदेकपदं शक्र सर्वलोकसुखावहम् ।
आचरन्सर्वभूतेषु प्रियो भवति सर्वदा ॥ ४ ॥
यो हि नाभाषते किंचित्सर्वदा भ्रुकुटीमुखः ।
द्वेष्यो भवति भूतानां स सान्त्वमिह नाचरन् ॥ ५ ॥
यस्तु सर्वमभिप्रेक्ष्य पूर्वमेवाभिभाषते ।
स्मितपूर्वाभिभाषी च तस्य लोकः प्रसीदति ॥ ६ ॥
दानमेव हि सर्वत्र सान्त्वेनानभिजल्पितम् ।
न प्रीणयति भूतानि निर्व्यञ्जनमिवाशनम् ॥ ७ ॥
आदानादपि भूतानां मधुरामीरयन् गिरम् ।
सर्वलोकमिमं शक्र सान्त्वेन कुरुते वशे ॥ ८ ॥
तस्मात्सान्त्वं प्रयोक्तव्यं दण्डमाधित्सताऽपि हि ।
फलं च जनयत्येवं न चास्योद्विजते जनः ॥ ९ ॥
सुकृतस्य हि सान्त्वस्य श्लक्ष्णस्य मधुरस्य च ।
सम्यगासेव्यमानस्य तुल्यं जातु न विद्यते ॥ १० ॥
भीष्म उवाच— इत्युक्तः कृतवान्सर्वं यथा शक्रः पुरोधसा ।

पर सब प्राणियोंसे सम्मत महत् यश लाभ कर सकते हैं। हे इन्द्र ! पुरुष सब लोगोंको सुखी करनेवाले इस सब गुणावलम्बी प्रिय वचनका आचरण करनेसे ही सदा सब प्राणियोंका प्रियपात्र हुआ करता है। जो पुरुष इस संसारमें शान्त-वचनका आचरण न करके सदा भृकुटी टेढे मुखसे निवास करके किसीके साथ कुछ वार्त्तालाप नहीं करता; वह सब प्राणियोंका द्वेषी हुआ करता है। जो राजा सब विषयको जानके किसी पुरुषके निज दुःख कहनेके पहिले ही " तुम किस वास्ते आये हो "– ऐसा पूछते और हंसके उसके साथ वार्त्तालाप करते हैं; उनपर सब लोग ही प्रसन्न हुआ करते हैं। सब ठौर प्रियवचन रहित दान व्यञ्जन हीन भोजनकी भांति प्राणियोंको तृप्त नहीं कर सकता। हे सुरराज ! मीठा वचन कहते प्रजाका सर्वस्व ग्रहण करनेपर भी वे लोग रुष्ट नहीं होते; क्यों कि प्रियवचनसे सब लोग ही वशमें हो जाते हैं। इससे दण्डधारी राजा सदा शान्तवाक्य प्रयोग करे, क्यों कि शान्त ही फल उत्पन्न करता है, उससे कोई कभी व्याकुल नहीं होता। सुकृती पुरुषोंके सेवित शान्त श्लक्ष और मधुर वचनके समान कुछ भी नहीं है। (३-१०)

तथा त्वमपि कौन्तेय सम्यगेतत्समाचर ॥ ११ ॥ [३१६२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इंद्रबृहस्पतिसंवादे चतुरशीतितमोऽध्यायः ॥ ८४ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कथंस्विदिह राजेन्द्र पालयन्पार्थिवः प्रजाः ।
प्रीतिं धर्मविशेषेण कीर्तिमाप्नोति शाश्वतीम् ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— व्यवहारेण शुद्धेन प्रजापालनतत्परः ।
प्राप्य धर्मं च कीर्तिं च लोकावाप्नोत्युभौ शुचिः ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच- कीदृशैर्व्यवहारैस्तु कैश्च व्यवहरेन्नृपः ।
एतत्पृष्टो महाप्राज्ञ यथावद्वक्तुमर्हसि ॥ ३ ॥
ये चैव पूर्वं कथिता गुणास्ते पुरुषं प्रति ।
नैकस्मिन्पुरुषे ह्येते विद्यन्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच— एवमेतन्महाप्राज्ञ यथा वदसि बुद्धिमन् ।
दुर्लभः पुरुषः कश्चिदेभिर्युक्तो गुणैः शुभैः ॥ ५ ॥
किन्तु संक्षेपतः शीलं प्रयत्नेनेह दुर्लभम् ।
वक्ष्यामि तु यथाऽमात्यान् यादृशांश्च करिष्यसि॥ ६ ॥

भीष्म बोले, हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रने जैसे गुरु बृहस्पतिसे ऐसा सुनके उन बडे वचनके अनुसार सब कार्य किये थे; वैसे ही तुम भी इन सबका पूरी रीतिसे आचरण करो। (११) [३१६२]

शान्तिपर्वमें चौरासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पचासी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे राजेन्द्र! सब लोकमें राजा किस प्रकार प्रजापालन करनेमें धर्म विशेषके जरिये प्रीति अर्थात् स्वर्ग और नित्यकीर्त्ति प्राप्त कर सकते हैं? (१)

भीष्म बोले, राजा शुद्ध व्यवहारसे प्रजा पालनमें तत्पर होनेसे धर्म और नित्यकीर्त्ति लाभ करते हुए पवित्र होकर दोनों लोक प्राप्त कर सकते हैं।

युधिष्ठिर बोले, महाबुद्धिमान्! राजा किस भांति व्यवहारसे कैसे लोगोंके साथ वर्त्ताव करे? यह पूछा हुआ विषय यथारीतिसे वर्णन करना आपको उचित है। आपने पहिले पुरुषोंके जो सब गुण वर्णन किये, मुझे मालूम होता है, कि वे सब गुण एक पुरुषमें विद्यमान नहीं रह सकते। (२-४)

भीष्म बोले, हे महाबुद्धिमान्! तुम्हे मैं बुद्धिमान समझता हूं। तुमने जैसा वचन कहा वह वैसा ही है। ऐसे शुभ गुण किसी एक पुरुषमें विद्यमान रहने

चतुरो ब्राह्मणान्वैद्यान्प्रगल्भान्स्नातकान्शुचीन् ।
क्षत्रियांश्च तथा चाष्टौ बलिनः शस्त्रपाणिनः ॥ ७ ॥
वैश्यान्वित्तेन संपन्नानेकविंशतिसंख्यया ।
त्रींश्च शूद्रान्विनीतांश्च शुचीन्कर्माणि पूर्वके ॥ ८ ॥
अष्टाभिश्च गुणैर्युक्तं सूतं पौराणिकं तथा ।
पञ्चाशद्वर्षवयसं प्रगल्भमनसूयकम् ॥ ९ ॥
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तं विनीतं समदर्शिनम् ।
कार्ये विवदमानानां शक्तमर्थेष्वलोलुपम् ॥ १० ॥
वर्जितं चैव व्यसनैः सुघोरैः सप्तभिर्भृशम् ।
अष्टानां मन्त्रिणां मध्ये मन्त्रं राजोपधारयेत् ॥ ११ ॥
ततः संप्रेषयेद्राष्ट्रे राष्ट्रीयाय च दर्शयेत् ।
अनेन व्यवहारेण द्रष्टव्यास्ते प्रजाः सदा ॥ १२ ॥
न चापि गूढं द्रव्यं ते ग्राह्यं कार्योपघातकम् ।
कार्ये खलु विपन्ने त्वां सोऽधर्मस्तांश्च पीडयेत्॥ १३ ॥

असम्भव हैं और इस लोकमें अत्यन्त यत्नसे भी सत्स्वभाव दुष्प्राप्य है तौ भी तुम्हें जिस प्रकार जैसा सेवक करना होगा, उसे संक्षेपमें कहता हूं। वेद जाननेवाले प्रगल्भ, स्नातक और पवित्राचार ब्राह्मण, हाथमें शस्त्रधारण किए हुए आठ बलवान क्षत्रिय; वित्त युक्त इक्कीस वैश्य, नित्य कर्ममें रत पवित्र और विनीत तीन शूद्र; सेवा, श्रवण, ग्रहण, धारण, ऊहन, उपोहन, विज्ञान, और तत्वज्ञान इन आठ गुणोंसे युक्त प्रगल्भ अनसूयक पचास वर्षीय श्रुति और स्मृतिसे युक्त, विनीत, समदर्शी, कार्यमें विवद्मान पुरुषोंके बीच समर्थ, अर्थ लोभ और मृगया, जूवा, स्त्री, पान, दण्डपातन, वचनकी कठोरता, तथा अर्थ दूषण आदि सात भांतिके घोर व्यसन वर्जित पौराणिक सूत एक जन, इन लोगोंको ही सेवक करे। परन्तु राजा चार ब्राह्मण, तीन शूद्र और एक सूत इन आठ मन्त्रियोंके बीच स्थित होके मन्त्रणा स्थिर करे। (५-११)

अनन्तर उन ही विचारका राज्यके बीच प्रचार करके राष्ट्रीय पुरुषोंको मालुम कराना होगा; इस ही व्यवहारसे तुम सदा प्रजा समूहको देखना। तुम कभी कार्योपघातक गूढ कार्य अर्थात् किसी पुरुषके न्यस्त विषयको राजकीय कहके ग्रहण न करना क्योंकि कार्य नष्ट होनेसे वह अधर्म अवश्य ही तुम्हें और

विद्रवेच्चैव राष्ट्रं ते श्येनात्पक्षिगणा इव।
परिस्रवेच्च सततं नौर्विशीर्णेव सागरे ॥ १४ ॥
प्रजाः पालयतोऽसम्यगधर्मेणेह भूपतेः।
हार्दं भयं संभवति स्वर्गश्चास्य विरुद्ध्यते ॥ १५ ॥
अथ यो धर्मतः पाति राजाऽमात्योऽथवाऽऽत्मजः।
धर्मासने संनियुक्तो धर्ममूले नरर्षभ ॥ १६ ॥
कार्येष्वधिकृताः सम्यगकुर्वन्तो नृपानुगाः।
आत्मानं पुरतः कृत्वा यान्त्यधः सह पार्थिवाः॥१७ ॥
बलात्कृतानां बलिभिः कृपणं बहुजल्पताम्।
नाथो वै भूमिपो नित्यमनाथानां नृणां भवेत्॥ १८ ॥
ततः साक्षिबलं साधु द्वैधवादकृतं भवेत्।
असाक्षिकमनाथं वा परीक्ष्यं तद्विशेषतः ॥ १९ ॥
अपराधानुरूपं च दण्डं पापेषु धारयेत्।
वियोजयेद्धनैर्ऋद्धानधनानथ बन्धनैः ॥ २० ॥

मन्त्रियोंको पीडित करेगा और तुम्हारा राज्य समुद्रमें टूटी हुई नौका तथा बाजके समीपसे भागनेवाले पक्षीकी भांति तुम्हारे निकटसे दूसरी ओर गमन करेगा। हे पृथ्वीनाथ! जो राजा अधर्म आचरण करके पूर्णरीतिसे प्रजापालन नहीं करते, उनके हृदयमें भय उपस्थित होता है, और उनका स्वर्ग लोक रुग्ण हुआ करता है। हे नरेन्द्र! धर्ममूल राज्यमें जो राजा, सेवक, अथवा राजपुत्र धर्मासन पर नियुक्त होकर अधर्मके अनुसार प्रजा पालन करते हैं, वे सब अधिकृत कार्योंको पूर्ण न करनेवाले अर्थात् जो विना परीक्षा किये ही कार्य करते हैं, वे राजाके अनुगामी पुरुष स्वयं अगाडी होके राजाके सहित नरकगामी हुआ करते हैं। (१२-१७)

हे राजेन्द्र! बलवान पुरुषसे पराजित दीनकी भांति बहुभाषी अनाथ मनुष्योंको राजा सदा पालन करे। जब कि परीक्षा न करके कार्य करनेसे सेवकोंके सहित राजाकी अधोगति होती है; तब उन सब व्यवहारोंकी विशेष रीतिसे परीक्षा करनी होगी, और दोनोंके विरुद्धवाद अर्थात् विवादास्पद वस्तु असाक्षिक और स्वामी रहित होनेपर साक्षीबल उत्तम प्रमाण होनेसे अपराधके अनुसार पापका दण्ड करना होगा; यदि धनी पुरुष पापी हों; तो उसे धन लेके मुक्त करे और निर्द्धन पुरुष पापी

विनयेचापि दुर्वृत्तान्प्रहारैरपि पार्थिवः।
सान्त्वेनोपप्रदानेन शिष्टांश्च परिपालयेत् ॥ २१ ॥
राज्ञो वधं चिकीर्षेद्यस्तस्य चित्रो वधो भवेत्।
आदीपकस्य स्तेनस्य वर्णसंकारिकस्य च ॥ २२ ॥
सम्यक्प्रणयतो दण्डं भूमिपस्य विशाम्पते।
युक्तस्य वा नास्त्यधर्मोऽधर्म एव हि शाश्वतः ॥ २३ ॥
कामकारेणदण्डं तु यः कुर्यादविचक्षणः।
स इहाकीर्तिसंयुक्तो मृतो नरकमृच्छति ॥ २४ ॥
न परस्य प्रवादेन परेषां दण्डमर्पयेत्।
आगमानुगमं कृत्वा बध्नीयान्मोक्षयीत वा ॥ २५ ॥
न तु हन्यान्नृपो जातु दूतं कस्याञ्चिदापदि।
दूतस्य हन्ता निरयमाविशेत्सचिवैः सह ॥ २६ ॥
यथोक्तवादिनं दूतं क्षत्रधर्मरतो नृपः।
यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ २७ ॥
कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः।
यथोक्तवादी स्मृतिमान्दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः॥ २८ ॥

हो, तो उसे कैद करे। राजा दुष्ट मनुष्योंको प्रहारसे शिक्षित करे और शिष्ट पुरुषोंको शान्त वचनसे पालन करे। जो मनुष्य राजाके वधकी इच्छा करनेवाले, घर जलानेवाले, चोर और वर्णसंकर करने वाले हैं, उनका विचित्र रीतिसे अर्थात् अनेक प्रकारसे वध करे। शास्त्रके अनुसार स्थित भूपतिको विचित्र वधरूपी दण्डप्रयोग करनेसे उसमें उसे अधर्म न होगा;बल्कि उससे शाश्वत धर्म ही होगा। (१८-२३)

जो मूर्ख राजा इच्छानुसार दण्ड प्रयोग करते हैं; वे इस लोकमें अयशके पात्र होके मरनेके अनन्तर नरक लोक प्राप्त करते हैं। दूसरेके प्रवादमें अन्य पुरुष के ऊपर दण्ड प्रयोग न करे,शास्त्र और युक्तिके अवलम्बसे बन्धन तथा मुक्त करे राजा किसी आपदमें भी दूतका कभी वध न करे, क्योंकि दूतके मारने-वाले राजा मन्त्रियोंके सहित नरकगामी हुआ करते हैं। क्षत्रधर्ममें रत जो राजा यथोक्त-वादी दूतका वध करते हैं, उसके पितर लोग भ्रूणहत्या पापके भागी हुआ करते हैं। जो पुरुष कुलीन कुलयुक्त, वाग्मी, दक्ष,प्रियवचन कहने-वाला, यथोक्त वादी और स्मृतिमान्

एतैरेव गुणैर्युक्तः प्रतीहारोऽस्य रक्षिता।
शिरोरक्षश्च भवति गुणैरेतैः समन्वितः ॥ २९ ॥
धर्मशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः संधिविग्रहिको भवेत्।
मतिमान्धृतिमान् ह्रीमान् रहस्यविनिगूहिता ॥ ३० ॥
कुलीनः सत्वसंपन्नः शुक्लोऽमात्यः प्रशस्यते।
एतैरेव गुणैर्युक्तस्तथा सेनापतिर्भवेत् ॥ ३१ ॥
व्यूहयन्त्रायुधानां च तत्त्वज्ञो विक्रमान्वितः।
वर्षशीतोष्णवातानां सहिष्णुः पररन्ध्रवित् ॥ ३२ ॥
विश्वासयेत्परांश्चैव विश्वसेच्च न कस्यचित्।
पुत्रेष्वपि हि राजेन्द्र विश्वासो न प्रशस्यते ॥ ३३ ॥
एतच्छास्त्रार्थतत्त्वं तु मयाऽऽख्यातं तवाऽनघ।
अविश्वासो नरेन्द्राणां गुह्यं परममुच्यते ॥ ३४ ॥ [३२०६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि अमात्यविभागे पंचाशीतितमोऽध्यायः॥ ८५ ॥

युधिष्ठिर उवाच– कथं विधं पुरं राजा स्वयमावस्तुमर्हति।

हो, वही दूत होवे; और उसमें ये सातों गुण विद्यमान रहें और द्वारपाल, किला और नगर-रक्षकमें भी ये सातों गुण रहें। (२४-२९)

जिसे पुरुषने धर्मशास्त्रके यथार्थ अर्थ, सन्धि विग्रहको विशेष रूपसे मालूम किया है और बुद्धिमान धैर्य-शाली, लज्जाशील, रहस्य विषयोंको गोपन करनेवाला, कुलीन तथा पराक्रमसे युक्त है, वही पुरुष ही प्रशंसनीय सेवक कहके गिना जाता है। और ऐसे ही गुणोंसे युक्त व्यूह यन्त्र तथा सब शस्त्रोंके तत्वको जाननेवाला, पराक्रमी, वर्षा, सर्दी, गर्मी, वायु आदिको सहनेवाला तथा परतत्ववित पुरुष सेनापति होवे। हे राजेन्द्र! स्वयं दूसरेका विश्वासपात्र होवे और दूसरेका कभी विश्वास न करे। ऐसा ही क्यों पुत्रका भी विश्वास करना उत्तम नहीं है। हे पापरहित मैंने शास्त्रका यह यथार्थ तत्व तुम्हारे समीप वर्णन किया, शास्त्रमें राजाओंका अविश्वास परम गुह्य कहके वर्णित हुआ है। (३०-३४) [३२०६]

शान्तिपर्वमें पचासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें छियासी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! राजाओंको कैसे पुरमें वास करना उचित है, वे लोग पहिलेके बने हुए, वा अपनी

कृतं वा कारयित्वा वा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— वस्तव्यं यत्र कौन्तेय सपुत्रज्ञातिबन्धुना।
न्याय्यं तत्र परिप्रष्टुं वृत्तिं गुप्तिं च भारत ॥ २ ॥
तस्मात्ते वर्तयिष्यामि दुर्गकर्मविशेषतः।
श्रुत्वा तथा विधातव्यमनुष्ठेयं च यत्नतः ॥ ३ ॥
षड्विधं दुर्गमास्थाय पुराण्यथ निवेशयेत्।
सर्वसंपत्प्रधानं यद्बाहुल्यं चापि संभवेत् ॥ ४ ॥
धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गं मृद्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट् ॥ ५ ॥
यत्पुरं दुर्गसंपन्नं धान्यायुधसमन्वितम्।
दृढप्राकारपरिखं हस्त्यश्वरथसंकुलम् ॥ ६ ॥
विद्वांसः शिल्पिनो यत्र निचयाश्च सुसंचिताः।
धार्मिकश्च जनो यत्र दाक्ष्य उत्तममास्थितः ॥ ७ ॥
ऊर्जस्विनरनागाश्वं चत्वरापणशोभितम्।
प्रसिद्धव्यवहारं च प्रशान्तमकुतोभयम् ॥ ८ ॥
सुप्रभं सानुनादं च सुप्रशस्तनिवेशनम्।

बनाई हुई पुरीमें वास करें यह विस्तारके सहित कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे कुन्तीनन्दन! राजा लोग पुत्र जाति और बान्धवोंके सहित जिस स्थानमें वास करेंगे, वहांके व्यवहार और रक्षाका उपाय पूछना न्याय है; इससे तुम्हें जैसे किलेके विषयको विशेष रूपसे कहूंगा, उसे सुनके यत्नपूर्वक वैसे ही उपायका अनुष्ठान करना तुम्हें उचित है। हे राजन्! राजा लोग धन्व अर्थात् मरुभूमियुक्त किला, महीदुर्ग, गिरिदुर्ग, मनुष्यदुर्ग, मृत्तिकादुर्ग और वनदुर्ग आदि यही छः प्रकारके किलेको अवलम्बन करके जिसमें सब सम्पत्ति प्रधान तथा बाहुल्यरूपसे सम्भव हो; वैसे ही सब पुर तैयार करावे। (२—५)

हे नरनाथ! जो पुर किलेसे युक्त धान्य और अस्त्रोंसे पूरित दृढ दीवार और परिखासे घिरा हुआ, हाथी घोडे तथा रथ समूहसे युक्त, विद्वान शिल्पियोंसे अधिष्ठित धान्य आदि वस्तुओंसे परिपूरित, दक्ष-धर्मात्माओंसे प्रतिष्ठित बलवान् मनुष्य, हाथी और घोडोंसे परिपूर्ण चौमरे तथा आचरणसे सुशोभित, प्रसिद्ध व्यवहारयुक्त प्रशान्त,

शूराढ्यजनसंपन्नं ब्रह्मघोषानुनादितम् ॥ ९ ॥
समाजोत्सवसंपन्नं सदा पूजितदैवतम्।
वश्याऽमात्यबलो राजा तत्पुरं स्वयमाविशेत् ॥ १० ॥
तत्र कोशं बलं मित्रं व्यवहारं च वर्धयेत्।
पुरे जनपदे चैव सर्वदोषान्निवर्तयेत् ॥ ११ ॥
भाण्डागारायुधागारं प्रयत्नेनाभिवर्धयेत्।
निचयान्वर्धयेत्सर्वांस्तथा यन्त्रायुधालयान् ॥ १२ ॥
काष्ठलोहतुषाङ्गारदारुशृङ्गास्थिवैणवान्।
मज्जास्नेहवसाक्षौद्रमौषधग्राममेव च ॥ १३ ॥
शणं सर्जरसं धान्यमायुधानि शरांस्तथा।
चर्म स्नायुं तथा वेत्रं मुञ्जवल्वजदन्धनान् ॥ १४ ॥
आशयाश्चोदपानाश्च प्रभूतसलिलाकराः।
निरोद्धव्याः सदा राज्ञा क्षीरिणश्च महीरुहाः ॥ १५ ॥
सत्कृताश्च प्रयत्नेन आचार्यर्त्विकपुरोहिताः।
महेष्वासाः स्थपतयः सांवत्सरचिकित्सकाः ॥ १६ ॥
प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता दक्षाः शूरा बहुश्रुताः।

अकुतोभय, सुन्दर प्रकाशयुक्त, गीतवाद्यकी ध्वनिसे परिपूरित, बडे गृहोंसे युक्त शूर और आढ्यजन सम्पन्न, वेद-ध्वनिसे अनुनादित, सामाजिक उत्सवसे युक्त, और सदा पूजित देवताओंसे अधिष्ठित, ऐसे पुरके बीच वशमें रहनेवाले सेवक बलसे युक्त राजा स्वयं निवास करे। (९-१०)

राजा उसही पुरमें वास करके उस स्थानमें कोश, बल, मित्र, और व्यवहारकी सदा वृद्धि करे, और पुर तथा जनपद स्थित दोषोंको निवारण करे। भण्डार, अस्त्रालय, धान्य आदि संग्रह और यन्त्र तथा आयुधागारोंको यत्नपूर्वक बढावे। काठ, लोहा, तूष, अङ्गार, देव दारु, काष्ठ, सींग, हड्डी, बांस, मज्जा, स्नेह, चर्बी, मधु, अनेक भांतिके औषध, सण, सर्जरस अर्थात् धूप, धान्य, अस्त्र, बाण, चर्म, स्नायु, बेंत, मूञ्ज और वल्वज-बन्धन, कूएंके समीप जलाधार उदपान, बहुतसे तालाव और क्षीरीवृक्ष; इन सब सामग्रियोंकी सदा राजा निज पुरमें रक्षा करे। आचार्य, ऋत्विक्, पुरोहित, महा धनुर्द्धारी योद्धा, ईंट आदिसे घर बननेवाले स्थपति, ज्योतिषी और चिकित्सक इन सबका यत्नपूर्वक सत्कार

कुलीनाः सत्वसंपन्ना युक्ताः सर्वेषु कर्मसु ॥ १७ ॥
पूजयेद्धार्मिकान् राजा निगृह्णीयादधार्मिकान् ।
नियुञ्ज्याच्च प्रयत्नेन सर्ववर्णान्स्वकर्मसु ॥ १८ ॥
बाह्यमाभ्यन्तरं चैव पौरजानपदं तथा ।
चारैः सुविदितं कृत्वा ततः कर्म प्रयोजयेत् ॥ १९ ॥
चरान्मन्त्रं च कोशं च दण्डं चैव विशेषतः ।
अनुतिष्ठेत्स्वयं राजा सर्वं ह्यत्र प्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
उदासीनारिमित्राणां सर्वमेव चिकीर्षितम् ।
पुरे जनपदे चैव ज्ञातव्यं चारचक्षुषा ॥ २१ ॥
ततस्तेषां विधातव्यं सर्वमेवाप्रमादतः ।
भक्तान्पूजयता नित्यं द्विषतश्च निगृह्णता ॥ २२ ॥
यष्टव्यं क्रतुभिर्नित्यं दातव्यं चाप्यपीडया ।
प्रजानां रक्षणं कार्यं न कार्यं धर्मबाधकम् ॥ २३ ॥
कृपणानाथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ॥ २४ ॥
आश्रमेषु यथाकालं चैलभाजनभोजनम् ।

करे । बुद्धिमान, मेधावी, धर्मात्मा, दक्ष, शूर, बहुश्रुत, कुलीन और पराक्रम युक्त पुरुषोंको सब कार्योंमें नियुक्त करे। धार्मिक मनुष्योंकी पूजा करे, अधर्मियोंको दण्ड दे और यत्नपूर्वक सब वर्णोंको निज निज कर्ममें नियुक्त करे । (११-१८)

बाह्य और अभ्यन्तर पौर तथा जनपदवासियोंसे जो कार्य करना हो, उसे पहिले दूतोंसे भली भांति मालूम करके तब कार्य प्रयोग करे । राजा स्वयं दूत, मन्त्र, कोष और दण्ड इन सबकी विशेष करके आलोचना करे; क्यों कि राज्यमें येही सब प्रतिष्ठित हुआ करते हैं । राजा दूत द्वारसे पुर, जनपदवासी, उदासीन, शत्रु और मित्र सबके अभिलषित विषयको मालूम करे । अनन्तर सदा भक्तोंका सेवक शत्रुओंको पराजित करनेवाला वह राजा प्रमादहीन होकर उन लोगोंके उस विषयका प्रतिकार करे । राजा सदा अनेक प्रकारके यज्ञ क्लेश रहित दान और प्रजाकी रक्षा करे; परन्तु धर्म-बाधक कोई कार्य न करे । कृपण, अनाथ बूढे और विधवा स्त्रियोंकी वृत्ति; निज राज्यका पालन और पराए राष्ट्रका विचार रूपी योग क्षेम

सदैवोपहरेद्राजा सत्कृत्याभ्यर्च्य मान्य च ॥ २५ ॥
आत्मानं सर्वकार्याणि तापसे राष्ट्रमेव च।
निवेदयेत्प्रयत्नेन तिष्ठेत्प्रह्वश्च सर्वदा ॥ २६ ॥
सर्वार्थत्यागिनं राजा कुले जातं बहुश्रुतम्।
पूजयेत्तादृशं दृष्ट्वा शयनासनभोजनैः ॥ २७ ॥
तस्मिन्कुर्वीत विश्वासं राजा कस्याञ्चिदापदि।
तापसेषु हि विश्वासमपि कुर्वन्ति दस्यवः ॥ २८ ॥
तस्मिन्निधीनादधीत प्रज्ञां पर्याददीत च।
न चाप्यभीक्ष्णं सेवेत भृशं वा प्रतिपूजयेत् ॥ २९ ॥
अन्यः कार्यः स्वराष्ट्रेषु परराष्ट्रेषु चापरः।
अटवीषु परः कार्यः सामन्तनगरेष्वपि ॥ ३० ॥
तेषु सत्कारमानाभ्यां संविभागांश्च कारयेत्।
परराष्ट्राटवीस्थेषु यथास्वविषये तथा ॥ ३१ ॥
ते कस्याञ्चिदवस्थायां शरणं शरणार्थिने।
राज्ञे दद्युर्यथाकामं तापसाः संशितव्रताः ॥ ३२ ॥

सदा सिद्ध करना चाहिये। राजा सदा आश्रम वासियोंको सत्कार सम्मान और आदरके सहित तथा समयमें अन्न, वस्त्र और पात्रदान करे। राजा यत्नपूर्वक तपस्वियोंसे राज्यके सब कार्य और निज शरीरका वृत्तान्त कहे, तथा सदा उनके समीप नत होके निवास करे। (१९-२६)

राजा सब वस्तुओंके त्यागनेवाले सत्कुलमें उत्पन्न हुए तथा बहुश्रुत तपस्वियोंको देखके शय्या, आसन, और भोजनसे उनकी पूजा करे, राजा समस्त आपदाओंमें तपस्वियोंका अविश्वास न करे; क्यों कि डाकू लोग भी तपस्वियों का सदा विश्वास किया करते हैं। राजा तपस्वियोंमें सब निधि स्थापित करे और उनके समीप बुद्धि ग्रहण करे; परन्तु बार बार उनकी सेवा न करे, तथा अत्यन्त पूजा न करे। निज राज्य, पर राष्ट्र, अटवी और सामन्त नगरोंमें अलग अलग तपस्वियोंको मित्र कर रखे और निज राज्यमें रहनेवाले तपस्वियों की भांति पर राज्य तथा अटवी स्थित तपस्वियोंको सत्कार और सम्मानके सहित धन आदि दान करे; क्यों कि राजा किसी दशामें तपस्वियोंके शरणागत होनेसे वह व्रत करनेवाले तपस्वी लोग इच्छानुसार राजाको आश्रयदान

एष ते लक्षणोद्देशः संक्षेपेण प्रकीर्तितः।
यादृशे नगरे राजा स्वयमावस्तुमर्हति ॥ ३३ ॥ [३२३९]

इति श्रीमहाभारते० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गपरीक्षायां षडशीतितमोऽध्यायः ८६

युधिष्ठिर उवाच— राष्ट्रगुप्तिं च मे राजन् राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
सम्यग्जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— राष्ट्रगुप्तिं च ते सम्यग्राष्ट्रस्यैव तु संग्रहम्।
हन्त सर्वं प्रवक्ष्यामि तत्त्वमेकमनाः शृणु ॥ २ ॥
ग्रामस्याधिपतिः कार्यो दशग्राम्यास्तथापरः।
द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ ३ ॥
ग्रामे यान् ग्रामदोषांश्च ग्रामिकः प्रतिभावयेत्।
तान् ब्रूयाद्दशपायाऽसौ स तु विंशतिपाय वै ॥ ४ ॥
सोऽपि विंशत्यधिपतिर्वृत्तं जानपदे जने।
ग्रामाणां शतपालाय सर्वमेव निवेदयेत् ॥ ५ ॥
यानि ग्राम्याणि भोज्यानि ग्रामिकस्तान्युपाश्रियात्।

किया करते हैं। हे युधिष्ठिर! जैसे नगरमें राजाको स्वयं वास करना उचित है, उसके यही लक्षण और उद्देश्य मैंने संक्षेपमें तुम्हारे समीप वर्णन किया है। (२७-३३) [३२३९]

शान्तिपर्वमें छियासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें सतासी अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! जिस प्रकार राज्यकी रक्षा और राष्ट्र संस्थापन करना होता है, उसे पूरी रीतिसे जाननेकी इच्छा करता हूं, इससे भली भांति विस्तार करके यह मुझसे कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! राष्ट्ररक्षा और राष्ट्र संग्रह जिस प्रकारसे करना होता है, वह सब मैं तुमसे पूरी रीतिसे कहता हूं, तुम एकाग्रचित्त करके सुनो। राजा हर एक ग्राममें एक एक पुरुषोंको सबका स्वामी कर रखे, अनन्तर किसी को दश गांव, किसीको बीस, किसीको एक सौ और किसीको सहस्र गांवोंकी प्रभुता प्रदान करे। वह एक गांवका स्वामी गांवके दोष और गुणका विचार के दश गांवके स्वामीसे कहे और दस गांवका स्वामी उसे बीस गांवके स्वामीसे कहे। वह बीस गांवका स्वामी जनपदमें जिन जिन कार्योंको सिद्ध करे, वह सब उसे सौ ग्रामके स्वामीके निकट निवेदन करना होगा। ग्राममें जो सब खाने योग्य वस्तु उत्पन्न हो, एक

दशपस्तेन भर्तव्यस्तेनापि द्विगुणाधिपः ॥ ६ ॥
ग्रामं ग्रामशताध्यक्षो भोक्तुमर्हति सत्कृतः।
महान्तं भरतश्रेष्ठ सुस्फीतं जनसंकुलम् ॥ ७ ॥
तत्र ह्यनेकपायत्तं राज्ञो भवति भारत।
शाखानगरमर्हस्तु सहस्रपतिरुत्तमः ॥ ८ ॥
धान्यहैरण्यभोगेन भोक्तुं राष्ट्रीयसंगतः।
तेषां संग्रामकृत्यं स्याद्ग्रामकृत्यं च तेषु यत् ॥ ९ ॥
धर्मज्ञः सचिवः कश्चित्तत्तत्पश्येदतन्द्रितः।
नगरे नगरे वा स्यादेकः सर्वार्थचिन्तकः ॥ १० ॥
उच्चैः स्थाने घोररूपो नक्षत्राणामिव ग्रहः।
भवेत्स तान्परिक्रामेत्सर्वानेव सभासदः ॥ ११ ॥
तेषां वृत्तिं परिणयेत्कश्चिद्राष्ट्रेषु तच्चरः।
जिघांसवः पापकामाः परस्वादायिनः शठाः ॥ १२ ॥
रक्षाऽभ्यधिकृता नाम तेभ्यो रक्षेदिमाः प्रजाः।

गांवका स्वामी उन सब वस्तुओंको उपभोग करे और वही दश गांवके स्वामीको और दश गांवका स्वामी बीस गांवके स्वामीका भरण करे। (२-६)

हे भरतश्रेष्ठ! जो ग्राम बहुत बडा उन्नत और जन समूहसे युक्त हो, सौ गांवका स्वामी सत्कारके सहित उसे ही भोगनेमें समर्थ होगा; परन्तु सौ गावों-का स्वामी जिस गांवको भोग करेगा, वह गांव उस राज्यके अनेक लोगोंके अधीन रहेगा। और सबसे अधिक सहस्र गांवोंका स्वामी राष्ट्रीय लोगोंके साथ मिलके शाखा नगर और वहांके अन्न, सुवर्ण आदि सब भोगने योग्य वस्तुओंको भोगनेमें समर्थ होगा। उन लोगोंके युद्ध कार्य उपस्थित होनेपर कोई धर्म जाननेवाला आलस रहित मन्त्री उसे यथार्थ रीतिसे देख और सब नगरोंमें एक एक जन सब अर्थोंके विचारने वाले मन्त्री उपस्थित होकर सब कार्योंको देखते रहें। (७-१०)

जैसे महा घोर रूपी प्रबल ग्रह नक्ष-त्रोंके चिन्तक ऊंचे स्थानमें घूमते रहते हैं; वैसे ही वे सब अर्थोंके जाननेवाले मन्त्री सब सभासदोंके ऊपर परिक्रमा करते हुए उन लोगोंके सब कार्योंको देखें, और उनका कोई दूत राज्यमें सभास-दोंके व्यवहारको गुप्त रीतिसे मालूम करे। वह मन्त्री राज्यमें स्थित पापी, हिंसक, परधन हरनेवाले, शठ, रक्षा-

विक्रयं क्रयमध्वानं भक्तं च सपरिच्छदम् ॥ १३ ॥
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजां कारयेत्करान् ।
उत्पत्तिं दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत् ॥१४॥
शिल्पं प्रतिकरानेवं शिल्पिनः प्रतिकारयेत् ।
उच्चावचकरादाप्या महाराज्ञा युधिष्ठिर ॥ १५ ॥
यथा यथा न सीदेरंस्तथा कुर्यान्महीपतिः ।
फलं कर्म च संप्रेक्ष्य ततः सर्वं प्रकल्पयेत् ॥ १६ ॥
फलं कर्म च निर्हेतु न कश्चित्संप्रवर्तते ।
यथा राजा च कर्ता च स्यातां कर्मणि भागिनौ ॥१७॥
संवेक्ष्य तु तथा राज्ञा प्रणेयाः सततं कराः ।
नोच्छिन्द्यादात्मनो मूलं परेषां चापि तृष्णया ॥ १८ ॥
ईहाद्वाराणि संरुध्य राजा संप्रतिदर्शनः ।
प्रद्विषन्ति परिख्यातं राजानमतिखादिनम् ॥ १९ ॥
प्रद्विष्टस्य कुतः श्रेयो नाप्रियो लभते फलम् ।
वत्सौपम्येन दोग्धव्यं राष्ट्रमक्षीणबुद्धिना ॥ २० ॥
भृतो वत्सो जातबलः पीडां सहति भारत ।

धिकृत नामक मनुष्योंसे प्रजासमूहकी रक्षा करे । और उत्पत्ति, दान, वृत्ति, तथा शिल्प कार्यको देखके शिल्पकार्य वा शिल्पियोंके ऊपर कर निश्चित करें । वह राज्यमें बेचना, खरीदना, मार्ग, भक्त, परिच्छद और योगक्षेम देखके बनियोंके ऊपर कर लगावे । हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही क्यों ! जिसमें प्रजा दुःखित न हो उसी भांति विचार करके प्रजाके ऊपर यथायोग्य कर स्थापित करे। हे राजन् ! फल अर्थात् धन धान्य और कर्म अर्थात् कृषि आदि कार्योंको पूरी रीतिसे देखके तब उस पर कर निश्चित करे, क्यों कि फल और कर्ममें किसीका स्वार्थ न रहनेसे वह कभी भी उसमें प्रवृत्त नहीं होता । जिससे राजा और कर्म करनेवाले दोनों ही कर्मभागी होसके, वैसा ही विचार करके राजा सदा कर स्थापित करे । (११-१७)

और जिसमें अत्यन्त लोभके कारण आत्ममूल राज्य और परमूल कृषि आदि कार्य नष्ट न हों, उसी भांति राजा लोभ त्यागके प्रजासमूहके समीप प्रिय मालूम होवे । राजाके अतिखादी अर्थात् बहुभक्षी कहके विख्यात होनेसे सब कोई उससे द्वेष किया करते हैं । राजा प्रजापुञ्जके विरुद्ध होनेसे किसी भांति कल्याण प्राप्त नहीं कर सकता; यह

न कर्म कुरुते वत्सो भृशं दुग्धो युधिष्ठिर ॥ २१ ॥
राष्ट्रमप्यति दुग्धं हि न कर्म कुरुते महत् ।
यो राष्ट्रमनुगृह्णाति परिरक्षन्स्वयं नृपः ॥ २२ ॥
संजातमुपजीवन्स लभते सुमहत्फलम् ।
आपदर्थं च निर्यातं धनं त्विह विवर्धयेत् ॥ २३ ॥
राष्ट्रं च कोशभूतं स्यात्कोशो वेश्मगतस्तथा ।
पौरजानपदान्सर्वान्संश्रितोपाश्रितांस्तथा ।
यथाशक्त्यनुकम्पेत सर्वान्स्वल्पधनानपि ॥ २४ ॥
बाह्यं जनं भेदयित्वा भोक्तव्यो मध्यमः सुखम् ।
एवं नास्य प्रकुप्यन्ति जनाः सुखितदुःखिताः ॥ २५ ॥
प्रागेव तु धनादानमनुभाष्य ततः पुनः ।
सन्निपत्य स्वविषये भयं राष्ट्रे प्रदर्शयेत् ॥ २६ ॥
इयमापत्समुत्पन्ना परचक्रभयं महत् ।
अपि चान्ताय कल्पन्ते वेणोरिव फलागमाः ॥ २७ ॥

अप्रिय राजा किसी भांति भी फल लाभ करनेमें समर्थ नहीं होता। हे भारत! इससे जैसे लोग बछडेको भूखा न रखके गऊ दुहते हैं, वैसे ही बुद्धिमान् राजा राज्यको दुहे; क्यों कि बछडा बलवान होने पर कष्ट सह सकता है। हे युधिष्ठिर! जैसे अधिक दुहनेसे बछडा कर्म करनेमें समर्थ नहीं होता, वैसे ही अत्यन्त दोहन करनेसे राष्ट्र भी महत् कर्म नहीं कर सकता। जो राजा स्वयं कृपा करके राष्ट्रकी सब भांतिसे रक्षा करता है, वह बहुत समय तक जीवित रहके अनेक फल लाभ कर सकता है, आपद कालमें यदि प्रजा राजाकी सहायताके वास्ते धन दान न करे, तो राजा राज्यको कोषभूत करके कोषको गृहके भीतर करे। पुर और जनपदके आश्रित, उपाश्रित वा थोडा धन होनेपर भी राजा उन लोगोंके ऊपर सामर्थके अनुसार कृपा करे। (१८–२४)

बाह्य अर्थात् आटविक डाकुओंको राज्यसे प्रत्याख्यान करके मध्यम अर्थात् गांवके लोगोंके निकट सुखसे धन ग्रहण करे, ऐसा होनेसे सुखी वा दुःखी पुरुष उसके ऊपर क्रुद्ध न होंगे। और "राजाको धन लेनेकी अवश्यकता है," इसी भांति पहिले निज राज्यमें सूचना करके उसके अनन्तर इच्छानुसार ग्राममें प्रजा समूहको ऐसा कहके भय दिखावे कि दूसरेसे महत् भयरूपी एक आपदा

अरयो मे समुत्थाय बहुभिर्दस्युभिः सह ।
इदमात्मवधायैव राष्ट्रमिच्छन्ति बाधितुम् ॥ २८ ॥
अस्यामापदि घोरायां संप्राप्ते दारुणे भये ।
परित्राणाय भवतः प्रार्थयिष्ये धनानि वः ॥ २९ ॥
प्रतिदास्ये च भवतां सर्वं चाहं भयक्षये ।
नारयः प्रतिदास्यन्ति यद्धरेयुर्बलादितः ॥ ३० ॥
कलत्रमादितः कृत्वा सर्वं वो विनशेदिति ।
अपि चेत्पुत्रदारार्थमर्थसञ्चय इष्यते ॥ ३१ ॥
नन्दामि वः प्रभावेण पुत्राणामिव चोदये ।
यथाशक्त्युपगृह्णामि राष्ट्रस्यापीडया च वः ॥ ३२ ॥
आपत्स्वेव च वोढव्यं भवद्भिः पुंगवैरिव ।
न च प्रियतरं कार्यं धनं कस्यांचिदापदि ॥ ३३ ॥
इति वाचा मधुरया श्लक्ष्णया सोपचारया ।

उत्पन्न हुई है; वंशफलके आगमकी भांति वह आपद नाशकी मूल होगी । यद्यपि हमारा शत्रु अपने नाशके वास्ते ही डाकुओंके सङ्ग प्रबल होके इस राज्यको पीडित करनेकी अभिलाषा करता है । तौभी उपस्थित घोर आपद तथा प्रचण्ड भयसे मैं तुम लोगोंका परित्राण करूंगा कहके तुम लोगोंसे धन ग्रहण करनेकी इच्छा करता हूं । (२५-२९)

उपस्थित भय नष्ट होनेसे ही तुम लोग मेरे समीपसे उस धनको फिर पाओगे; परन्तु शत्रु लोग बलपूर्वक इस राज्यसे जो धन हरण करेंगे, उसे फिर नहीं पाओगे । इस समय यदि तुम लोग स्त्री पुत्रोंके वास्ते सञ्चय करनेकी अभिलाषासे साधारणसी सहायताके वास्ते मुझे धन देनेमें विमुख होंगे, तो शत्रुओंके निकट स्त्री पुत्रोंके पीछे तुम लोगोंका प्राण नाश होगा; और इस समय तुम लोग यदि मेरे सहकारी होकर हमारी सहायता करोगे, तो मैं इस राज्यको उपद्रवसे रहित करके पुत्रकी भांति तुम लोगोंको सङ्ग लेकर आनन्द अनुभव करूंगा । और सामर्थ्यके अनुसार तुम लोगोंकी सहायता करूंगा । जैसे भार ढोनेके समय गुरुभार बहुतसे लोगोंके जरिये उठाया जाता है, वैसे ही मुझको तुम लोगोंके साथ इस आपदके समयमें भार उठाना पडेगा । देखो, कोई आपद उपस्थित होनेपर उस समय धनको अत्यन्त प्रिय समझना उचित नहीं है । (३०-३३)

स्वरश्मीनभ्यवसृजेद्योगमाधाय कालवित् ॥ ३४ ॥
प्राकारं भृत्यभरणं व्ययं संग्रामतो भयम् ।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य गोमिनः कारयेत्करम् ॥ ३५ ॥
उपेक्षिता हि नश्येयुर्गोमिनोऽरण्यवासिनः ।
तस्मात्तेषु विशेषेण मृदुपूर्वं समाचरेत् ॥ ३६ ॥
सान्त्वनं रक्षणं दानमवस्था चाप्यभीक्ष्णशः ।
गोमिनां पार्थ कर्तव्यः संविभागः प्रियाणि च ॥३७॥
अजस्रमुपयोक्तव्यं फलं गोमिषु भारत ।
प्रभावयन्ति राष्ट्रं च व्यवहारं कृषिं तथा ॥ ३८ ॥
तस्माद्गोमिषु यत्नेन प्रीतिं कुर्याद्विचक्षणः ।
दयावानप्रमत्तश्च करान्संप्रणयन्मृदून् ॥ ३९ ॥
सर्वत्र क्षेमचरणं सुलभं नाम गोमिषु ।
न ह्यतः सदृशं किञ्चिद्वरमस्ति युधिष्ठिर ॥ ४० ॥ [३२७९]

इति श्रीमहाभारते०राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्त्यादिकथने सप्ताशीतितमोऽध्यायः ॥ ८७ ॥

अनन्तर समयवित् राजा जब इस भांति उपचारयुक्त विनीत तथा मधुर वचनसे प्रजासमूहके समीप कर स्वरूप धन ग्रहण न कर सके, तब योग अर्थात् धन ग्रहण करनेकी उपाय अवलम्बन करके उसके अनुसार निज तेज तथा पदातिसमूहके जरिये प्रजाके निकटसे धन ग्रहण करे। राजा दीवार और सेवकोंके वास्ते व्यय, युद्धके भय और योगक्षेम देखके वैश्योंके ऊपर कर लगावे। वनमें वास करनेवाले वैश्य राजाकी उपेक्षा होनेसे ही नष्ट होते हैं, इससे विशेष करके उनके विषयमें मृदुताचरण करना होगा। हे पार्थ! सदा वैश्योंको धीरज देना, पालन, दान, उमत्त अवस्था, संविभाग और, उनके साथ प्रिय आचरण करना उचित है। हे भारत! वैश्योंको सदा फलवान करना योग्य है, क्यों कि वे ही कृषि और व्यवसायसे राष्ट्रकी वृद्धि किया करते हैं, इसहीसे बुद्धिमान मनुष्य वैश्योंके ऊपर प्रीति किया करते हैं और दयावान तथा सावधान होके उन लोगोंके ऊपर कोमल कर स्थापित करते हैं। हे युधिष्ठिर! इस ही कारण सर्वत्र ही वैश्योंके वास्ते मङ्गलाचरण सुलभ हुआ करता है और इसके समान उत्तम कार्य कुछ भी नहीं देखा जाता। (३४-४०)

शान्तिपर्वमें सतासी अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच– यदा राजा समर्थोऽपि कोशार्थी स्यान्महामते ।
कथं प्रवर्तेत तदा तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— यथादेशं यथाकालं यथाबुद्धि यथाबलम् ।
अनुशिष्यात्प्रजा राजा धर्मार्थी तद्धिते रतः ॥ २ ॥
यथा तासां च मन्येत श्रेय आत्मन एव च ।
तथा कर्माणि सर्वाणि राजा राष्ट्रेषु वर्तयेत् ॥ ३ ॥
मधुदोहं दुहेद्राष्ट्रं भ्रमरा इव पादपम् ।
वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत् ॥ ४ ॥
जलौकावत्पिबेद्राष्ट्रं मृदुनैव नराधिपः ।
व्याघ्रीव च हरेत्पुत्रान्संदशेन्न च पीडयेत् ॥ ५ ॥
यथा शल्यकवानाखुः पदं धूनयते सदा ।
अतीक्ष्णेनाभ्युपायेन तथा राष्ट्रं समापिबेत् ॥ ६ ॥
अल्पेनाल्पेन देयेन वर्धमानं प्रदापयेत् ।
ततो भूयस्ततो भूयः क्रमवृद्धिं समाचरेत् ॥ ७ ॥
दमयन्निव दम्यानि शश्वद्भारं विवर्धयेत् ।

शान्तिपर्वमें अठासी अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे महाबुद्धिमान पितामह ! राजा समर्थ होकर भी यदि कोषकी अभिलाष करे, तो किस भांति उस विषयमें प्रवृत्त होवे, उसे मेरे समीप वर्णन कीजिये । (१)

भीष्म बोले, धर्मशील राजा प्रजाका हितैषी होकर देश, काल, बुद्धि और बलके अनुसार प्रजाको शासन करे । अपनी और प्रजासमूहकी जैसे सदा मङ्गलकामना की जाती है,वैसे ही राज्यके सब कार्योंको भली भांति सिद्ध करना होगा । जैसे बछडे माताके स्तनको न काटके केवल दूध दोहन करते और जैसे लोग मधुमक्षियोंके पीडित न करके मधु पान करते हैं, वैसे ही राजा राष्ट्रसे धन ग्रहण करे । जैसे बाघिन निज बच्चोंको दांतसे पकडके उन्हें पीडित न करके हरण करती है, तथा जोक जैसे मृदुभावसे लोहू पीती है; राजा भी उसी भांति राज्य भोग करे । (२—६)

प्रजाको पालन करनेवाला राजा पहिले प्रजाके निकटसे थोडा थोडा कर वसूल करके बढाते हुए दूसरे वर्षमें अधिक करके धीरे धीरे बढावे । जैसे वत्सोंको अत्यन्त यत्नके सहित पाश ग्रहण कराके क्रमसे भार बढाके दमन

मृदुपूर्वं प्रयत्नेन पाशानभ्यवहारयेत् ॥ ८ ॥
सकृत्पाशावकीर्णास्ते न भविष्यन्ति दुर्दमाः ।
उचितेनैव भोक्तव्यास्ते भविष्यन्ति यत्नतः ॥ ९ ॥
तस्मात्सर्वसमारम्भो दुर्लभः पुरुषं प्रति ।
यथा मुख्यान्सान्त्वयित्वा भोक्तव्य इतरो जनः॥१०॥
ततस्तान् भेदयित्वा तु परस्परविवक्षितान् ।
भुञ्जीत सान्त्वयंश्चैव यथा सुखमयत्नतः ॥ ११ ॥
न चास्थाने न चाकाले करांस्तेभ्यो निपातयेत् ।
आनुपूर्व्येण सान्त्वेन यथाकालं यथाविधि ॥ १२ ॥
उपायान्प्रब्रवीम्येतान्न मे माया विवक्षिता ।
अनुपायेन दमयन्प्रकोपयति वाजिनः ॥ १३ ॥
पानागारनिवेशाश्च वेश्याः प्रापणिकास्तथा ।
कुशीलवाः सकितवा ये चान्ये केचिदीदृशाः ॥ १४ ॥
नियम्याः सर्व एवैते ये राष्ट्रस्योपघातकाः ।
एते राष्ट्रेऽभितिष्ठन्तो बाधन्ते भद्रिकाः प्रजाः॥ १५ ॥

करना होता है, वैसे ही प्रजासमूहको भी दमन करे। और जैसे बछडे सदा पाशमें बन्धके दुःखित होके प्राणत्याग करते हैं, वैसे ही प्रजा भी इकबारगी कर भारसे आक्रान्त होनेपर दुःखित होके प्राणत्याग करती है; इससे राजाको बछडेकी भांति अत्यन्त यत्नके सहित धीरे धीरे दमन करना होगा, ऐसा न करनेसे प्रजाकी रक्षा नहीं होगी। हर एक पुरुषमें जो कार्य सहज रूपसे प्रयोग नहीं होसकता, उसके वास्ते मुख्य पुरुषोंको शान्त करके इतर लोगोंको दमन करना होगा। तिसके अनन्तर राजा मुख्य पुरुषोंके जरिये उस कर भारको उठानेवाले प्रजा समूहमें परस्पर भेद कराके स्वयं उन्हें शान्त करते हुए अयत्नके सहित सुख भोग करे।(७-११)

अवस्थान वा असमयमें उन लोगोंके ऊपर कर भार अर्पण न करे; परन्तु समय और नियमके अनुसार शान्त-वादसे धीरे धीरे करभार अर्पण करे। मैंने यह सब उपाय कहे, परन्तु माया मुझे विवक्षित नहीं है; देखिये वाजिगणोंको अनुपायसे दमन करनेसे वे अत्यन्त ही कोपित होजाते हैं। और राज्यके बीच मद्यशाला, तथा राज्यके उपघातक वेश्या, कुटनी, कुशीलव, कितव और दूसरे इस भांतिके जो मनुष्य

न केन चिद्याचितव्यः कश्चित्किञ्चिदनापदि।
इति व्यवस्था भूतानां पुरस्तान्मनुना कृता ॥ १६ ॥
सर्वे तथाऽनुजीवेयुर्न कुर्युः कर्म चेदिह।
सर्व एव इमे लोका न भवेयुरसंशयम् ॥ १७ ॥
प्रभुर्नियमने राजा य एतान्न नियच्छति।
भुंक्ते स तस्य पापस्य चतुर्भागमिति श्रुतिः ॥ १८ ॥
भोक्ता तस्य तु पापस्य सुकृतस्य यथातथा।
नियन्तव्याः सदा राज्ञा पापा ये स्युर्नराधिप ॥ १९ ॥
कृतपापस्त्वसौ राजा एतान्न नियच्छति।
तथा कृतस्य धर्मस्य चतुर्भागमुपाश्नुते ॥ २० ॥
स्थानान्येतानि संयम्य प्रसंगो भूतिनाशनः।
कामे प्रसक्तः पुरुषः किमकार्यं विवर्जयेत् ॥ २१ ॥
मद्यमांसपरस्वानि तथा दारा धनानि च।

निवास करें, राजा उन सब लोगोंको शासन करे; क्यों कि उनके शासित न होनेसे उत्तम प्रजा अत्यन्त क्लेश पावेगी किसी आपदके उपस्थित होनेपर कोई किसीके समीप दिया हुआ धन तथा कर न मांगे; मनु पहिले प्राणियोंके वास्ते ऐसी ही व्यवस्था स्थापित कर गये हैं; इससे सब कोई उस व्यवस्थाके अनुगामी होवें; यदि इस समय उसमें अन्यथा होवे, तो ये सब लोक अवश्य ही नष्ट होंगे। (१२-१७)

हे नरनाथ! ऐसी जन श्रुति है, कि राजा ही सब प्राणियोंको शासन करनेवाला है; उससे जो राजा पापी पुरुषोंको शासन नहीं करता, उसे उस पापका चौथा भाग भोग करना पडता है; तब जो पापी हों, उन्हें सदा शासन करना राजाको अवश्य उचित है। परन्तु जो राजा इन पापियोंको दमन नहीं करते, उन्हें जैसे प्रजाके किये हुए धर्ममें चतुर्थ भाग भोगना पडता है, वैसे ही उस पापका भी फल भोगना होगा। राजा भली भांति मद्य आदिकोंके स्थानको योग्य स्थानमें स्थित करे, नहीं तो उसमें स्वयं आसक्त होके ऐश्वर्यको नष्ट करना पडेगा; क्यों कि पुरुष कामासक्त होनेसे किसी कार्याकार्यमें नहीं रुक सकता। अनायास ही सब कार्योंको कर सकता है; बलिक मद्य, मांस, परस्त्री और परधन रहनेमें लोगोंके समीप शास्त्र प्रदर्शित किया करता है। हे राजन्! जिन लोगोंको

आहरेद्रागवशगस्तथा शास्त्रं प्रदर्शयेत् ॥ २२ ॥
आपद्येव तु याचन्ते येषां नास्ति परिग्रहः।
दातव्यं धर्मतस्तेभ्यस्त्वनुक्रोशाद्भयान्न तु ॥ २३ ॥
मा ते राष्ट्रे याचनकाऽभूवन्मा चापि दस्यवः।
एषां दातार एवैते नैते भूतस्य भावकाः ॥ २४ ॥
ये भूतान्यनुगृह्णन्ति वर्धयन्ति च ये प्रजाः।
ते ते राष्ट्रेषु वर्तन्तां मा भूतानामभावकाः ॥ २५ ॥
दण्ड्यास्ते च महाराज धनादानप्रयोजकाः।
प्रयोगं कारयेयुस्तान्यथा बलिकरांस्तथा ॥ २६ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं यच्चान्यत्किञ्चिदीदृशम्।
पुरुषैः कारयेत्कर्म बहुभिः कर्मभेदतः ॥ २७ ॥
नरश्चेत्कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं चाप्यनुष्ठितः।
संशयं लभते किञ्चित्तेन राजा विगर्ह्यते ॥ २८ ॥
धनिनः पूजयेन्नित्यं पानाच्छादनभोजनैः।

परिग्रह अधिकार नहीं है, आपद्कालमें उन लोगोंके याचना करनेपर राजा उनके ऊपर कृपा करके धर्मपूर्वक उन्हें धन दान करे, भयसे दान न करे। (१८—२३)

हे युधिष्ठिर! तुम अपने राज्यमें याचक वा डाकुओंको कभी वास करने न देना; क्यों कि ये लोग प्राणियोंके भलाईकी इच्छा न करके केवल मात्र अनिष्ठ आचरण किया करते हैं। जो प्राणियोंके ऊपर कृपा करते और जो लोग प्रजाकी बढती करते हैं, वेही पुरुष तुम्हारे राज्यमें निवास करें। प्राणियोंके नाशक पुरुष वास न करने पावें। हे महाराज! जो अधिकारी पुरुष निर्दिष्ट करके अतिरिक्त धन वसूल करें वे राजाके समीप दण्डनीय होवें; अनन्तर दूसरे अधिकारी पुरुष यथार्थ कर वसूल करनेके वास्ते उन लोगोंको फिर नियुक्त करें। (२४-२६)

कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य, और ऐसे ही दूसरे जो कुछ कर्म उपस्थित हों, उसे अनेक पुरुषोंसे सिद्ध कराना होगा; ऐसा न करनेसे कर्म नष्ट होगा। यदि मनुष्य कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य कार्यका अनुष्ठान करके चोर वा राजकीय लोगोंसे कुछ संशय युक्त हों, तो उसके वास्ते राजाको लोगोंके समीप निन्दित होना पडता है। इससे राजा भोजन पान और वस्त्रोंसे सदा धनवान

वक्तव्याश्चानुगृह्णीध्वं प्रजाः सह मयेति वै ॥ २९ ॥
अङ्गमेतन्महद्राज्ये धनिनो नाम भारत।
ककुदं सर्वभूतानां धनस्थो नात्र संशयः ॥ ३० ॥
प्राज्ञः शूरो धनस्थश्च स्वामी धार्मिक एव च।
तपस्वी सत्यवादी च बुद्धिमांश्चापि रक्षति ॥ ३१ ॥
तस्मात्सर्वेषु भूतेषु प्रीतिमान्भव पार्थिव।
सत्यमार्जवमक्रोधमानृशंस्यं च पालय ॥ ३२ ॥
एवं दण्डं च कोशं च मित्रं भूमिं च लप्स्यसि।
सत्यार्जवपरो राजन्मित्रकोशबलान्वितः ॥ ३३ ॥ [३३१२]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कोशसंचयप्रकारकथने अष्टाशीतितमोऽध्यायः ॥ ८८ ॥

भीष्म उवाच— वनस्पतीन्भक्ष्यफलान्न च्छिन्द्युर्विषये तव।
ब्राह्मणानां मूलफलं धर्ममाहुर्मनीषिणः ॥ १ ॥
ब्राह्मणेभ्योऽतिरिक्तं च भुञ्जीरन्नितरे जनाः।
न ब्राह्मणापराधेन हरेदन्यः कथञ्चन ॥ २ ॥
विप्रश्चेत्त्यागमातिष्ठेदात्मार्थे वृत्तिकर्शितः।

पुरुषोंका संमान करे और उन लोगोंको मेरे सहित प्रजाके ऊपर कृपा करो, ऐसा वचन कहे, हे राजन्! धनवान पुरुष ही राज्यके महत् अङ्ग और सब प्राणियोंमें श्रेष्ठ हैं, इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानी शूर, धनी, स्वामी धर्मात्मा, तपस्वी, सत्यवादी और बुद्धिमान मनुष्य ही रक्षा किया करते हैं। हे महाराज! इससे तुम सब जीवोंमें प्रीतियुक्त होके सत्य, सरलता, अक्रोध और अनृशंसताके सहित पालन करो। हे राजन्! तुम सत्य और सरलताके सहारे मित्र कोष और बलसे युक्त होनेपर निश्चय ही दण्ड, कोष, मित्र और भूमि लाभ करनेमें समर्थ होगे। (२७–३३)

शान्तिपर्वमें अठासी अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें उनासी अध्याय।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! जिसका फल खाया जाता है, तुम्हारे राज्यमें स्थित वैसे वृक्षोंको कोई न काटने पावे, पण्डित लोल फल मूलको ही ब्राह्मणोंका धन और धर्म कहा करते हैं। और दूसरे लोग ब्राह्मणोंसे अतिरिक्त भोग किया करते हैं, इससे ब्राह्मणोंका भोग न होनेसे जिसमें दूसरे लोग किसी प्रकारसे ग्रहण न करें। हे नरनाथ!

परिकल्प्यास्य वृत्तिः स्यात्सदारस्य नराधिप ॥ ३ ॥
स चेन्नोपनिवर्त्तेत वाच्यो ब्राह्मणसंसदि ।
कस्मिन्निदानीं मर्यादामयं लोकः करिष्यति ॥ ४ ॥
असंशयं निवर्त्तेत न चेद्वक्ष्यत्यतः परम् ।
पूर्वं परोक्षं कर्त्तव्यमेतत्कौन्तेय शाश्वतम् ॥ ५ ॥
आहुरेतज्जना ब्रह्मन्न चैतच्छ्रद्दधाम्यहम् ।
निमन्त्र्यश्च भवेद्भोगैरवृत्त्या च तदाचरेत् ॥ ६ ॥
कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं लोकानामिह जीवनम् ।
ऊर्ध्वं चैव त्रयी विद्या सा भूतान्भावयत्युत ॥ ७ ॥
तस्यां प्रयतमानायां ये स्युस्तत्परिपन्थिनः ।
दस्यवस्तद्वधायेह ब्रह्मा क्षत्रमथासृजत् ॥ ८ ॥
शत्रून् जय प्रजा रक्ष यजस्व क्रतुभिर्नृप ।
युध्यस्व समरे वीरो भूत्वा कौरवनन्दन ॥ ९ ॥
संरक्ष्यान्पालयेद्राजा स राजा राजसत्तमः ।

यदि ब्राह्मण वृत्तिसे रहित होके अपने परित्राणके वास्ते दूसरे स्थानमें गमन करे, तो परिवारके सहित उसकी वृत्ति कर देवे। यदि वह उससे भी निवृत्त न हो, तो ब्राह्मण सभा मण्डलीमें वह इस प्रकार निन्दनीय होंगे, कि इनके निवृत्त न होनेसे इस समय लोग किसकी मर्यादा करेंगे ? (१–४)

हे कौन्तेय ! इसके अनन्तर यद्यपि कोई उसे कुछ न कहें और पूर्व वृत्तान्तको भूल जावें तो वह अवश्य ही निवृत्त होंगे। लोग उसे ऐसा वचन कहें कि, हे ब्राह्मण ! जो भोगकी इच्छा करके भोगके अभावमें राज्य परित्याग करेंगे उन्हें भोगसे और वृत्तिके वास्ते वृत्तिके अभावमें राज्य त्यागनेपर उसे जो वृत्तिके वास्ते निमन्त्रण करना होगा, उसमें हम लोग श्रद्धा नहीं करते। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि कर्मोंसे ही इस लोकमें प्राणियोंकी जीविका निर्वाह होती है और वेद विद्या प्राणियोंको उर्द्धगामी किया करती है। इस संसारमें प्रवर्त्तमान उस वेदविद्याके विषयमें जो सब डाकू लोग विरुद्धता करते हैं; उनके नाश करनेके वास्ते ब्रह्माने क्षत्रिय जातिको उत्पन्न किया है। हे कुरुनन्दन ! इससे वीर होकर शत्रु जय, प्रजापालन, अनेक दक्षिणाके सहित यज्ञ और युद्ध करो। जो राजा प्रतिपालन करने योग्य प्राणियोंको सदा

ये केचित्तान्न रक्षन्ति तैरर्थो नास्ति कश्चन ॥ १० ॥
सदैव राज्ञा योद्धव्यं सर्वलोकाद्युधिष्ठिर।
तस्माद्धेतोर्हि भुञ्जीत मनुष्यानेव मानवः ॥ ११ ॥
आन्तरेभ्यः परान्‌ रक्षन्परेभ्यः पुनरान्तरान्‌।
परान्परेभ्यः स्वान्स्वेभ्यः सर्वान्पालय नित्यदा॥ १२ ॥
आत्मानं सर्वतो रक्षन्‌ राजन्‌ रक्षस्व मेदिनीम्‌।
आत्ममूलमिदं सर्वमाहुर्वै विदुषो जनाः ॥ १३ ॥
किं छिद्रं कोऽनु संगो मे किं वास्त्यविनिपातितम्‌।
कुतो मामाश्रयेद्दोष इति नित्यं विचिन्तयेत्‌ ॥ १४ ॥
अतीतदिवसे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
गुप्तैश्चारैरनुमतैः पृथिवीमनुसारयेत्‌ ॥ १५ ॥
जानीयुर्यदि मे वृत्तं प्रशंसन्ति न वा पुनः।
कच्चिद्रोचेज्जनपदे कच्चिद्राष्ट्रे च मे यशः ॥ १६ ॥
धर्मज्ञानां धृतिमतां संग्रामेष्वपलायिनाम्‌।
राष्ट्रे तु येऽनुजीवन्ति ये तु राज्ञोऽनुजीविनः ॥ १७ ॥

पालन करता है, वही राजसत्तम है; और जो उनकी रक्षा नहीं करते, उनसे कोई भी प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। (५-१०)

हे युधिष्ठिर! राजा सदा लोक रक्षाके वास्ते युद्ध करे और उसमें सब मनुष्योंको नियुक्त करे; इससे तुम आत्मीयसे दूसरे और पराएसे आत्मीय तथा परायेसे पराये और आत्मीयसे आत्मीयको सदा पालन करो। राजा सब भांतिसे अपनी रक्षा करते हुए पृथ्वीकी रक्षा करे, क्यों कि पण्डित लोग आत्मरक्षाको ही मूल कहा करते हैं। मेरा छिद्र क्या है, कौनसा व्यसन होरहा है, अविनिपातित क्या है, कहांसे मुझे दोष आश्रय करता, इन सब विषयोंको राजा सदा विचारता रहे। गत दिवसमें जिस कार्यको किया है, प्रजा उसकी दूसरी बार प्रशंसा करती है, वा नहीं; मेरा यह कार्य यदि प्रजाको मालूम हुआ हो, तो वह पुनर्वार उसकी प्रशंसा करती है, वा नहीं? जनपद और राज्यके बीच मेरा यश प्रजाके अभिलषित हुआ है, वा नहीं? इन सब विषयोंके अनुसन्धान करनेके वास्ते आज्ञाकारी गुप्त दूतोंको पृथ्वीपर भेजे। (११-१६)

और धर्म जाननेवाले, धैर्यशाली, तथा युद्धसे न भागनेवाले मनुष्योंके

अमात्यानां च सर्वेषां मध्यस्थानां च सर्वशः।
ये च त्वाभिप्रशंसेयुर्निन्देयुरथ वा पुनः ॥ १८ ॥
सर्वान्सुपरिणीतांस्तान्कारयेथा युधिष्ठिर।
एकान्तेन हि सर्वेषां न शक्यं तात रोचितुम्।
मित्रामित्रमथोमध्यं सर्वभूतेषु भारत ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच— तुल्यबाहुबलानां च तुल्यानां च गुणैरपि।
कथं स्यादधिकः कश्चित्स च भुञ्जित मानवान् ॥२० ॥

भीष्म उवाच— यचरा ह्यचरानद्युरदंष्ट्रान्दंष्ट्रिणस्तथा।
आशीविषा इव क्रुद्धा भुजङ्गान्भुजगा इव ॥ २१ ॥
एतेभ्यश्चाप्रमत्तः स्यात्सदा शत्रोर्युधिष्ठिर।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमादतः ॥ २२ ॥
कच्चित्ते वणिजो राष्ट्रे नोद्विजन्ति करार्दिताः।
क्रीणन्तो बहुनाल्पेन कान्तारकृतविश्रमाः ॥ २३ ॥
कच्चित्कृषिकरा राष्ट्रं न जहत्यतिपीडिताः।
ये वहन्ति धुरं राज्ञां ते भरन्तीतरानपि ॥ २४ ॥

बीच जो लोग राजाको उपजीव्य करके नहीं रहते, वे लोग और कौन कौन सेवक तथा कौनसे मध्यस्थ पुरुष प्रशंसा वा निन्दा करते हैं उसे भली भांति जाने। हे तात! साधारणको इकबारगी अभिलषित होना अत्यन्त कठिन है; क्यों कि सब प्राणियोंमें ही मित्र, शत्रु और मध्यस्थ विद्यमान हैं। (१७-१९)

युधिष्ठिर बोले, समान बल और तुल्य गुणशाली मनुष्योंमें कोई पुरुष किस कारणसे सबसे प्रबल होते, तथा वह पुरुष किस कारणसे उन लोगोंका भक्षक होता है। (२०)

भीष्म बोले, जैसे क्रुद्ध विषधारी प्रबल सर्प निर्बल सांपोंका भक्षण करते हैं, वैसे ही चलनेवाले न चलनेवालोंको और दांतवाले बिन दांतवालोंको भक्षण किया करते हैं। हे युधिष्ठिर! इससे ये सब प्राणी भी शत्रुओंके निकट सदा सावधा न रहें; क्यों कि प्रमाद उपस्थित होनेपर ये लोग गिद्धकी भांति निपतित हुआ करते हैं। हे राजन्! तुम्हारे राज्यमें थोडे और अधिक मूल्य क्रय करनेवाले स्त्रियोंमें विश्राम शील और वणिक लोग कर भारसे पीडित होके व्याकुल तो नहीं होते, जो राजाओंके बृहत् भारको उठाते और सब साधारण लोगोंका उद्धार करते हैं, वे कृषक लोग कर भारसे पीडित

इतो दत्ते न जीवन्ति देवाः पितृगणास्तथा ।
मानुषोरगरक्षांसि वयांसि पशवस्तथा ॥ २५ ॥
एषा ते राष्ट्रवृत्तिश्च राज्ञां गुप्तिश्च भारत ।
एतमेवार्थमाश्रित्य भूयो वक्ष्यामि पाण्डव ॥ २६ ॥[३३२८]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि राष्ट्रगुप्तौ एकोननवतितमोऽध्यायः ॥ ८९ ॥

भीष्म उवाच— यानङ्गिराः क्षत्रधर्मानुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
मान्धात्रे यौवनाश्वाय प्रीतिमानभ्यभाषत ॥ १ ॥
स यथाऽनुशशासैनमुतथ्यो ब्रह्मवित्तमः ।
तत्ते सर्वं प्रवक्ष्यामि निखिलेन युधिष्ठिर ॥ २ ॥

उतथ्य उवाच— धर्माय राजा भवति न कामकरणाय तु ।
मान्धातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ ३ ॥
राजा चरति चेद्धर्मं देवत्वायैव कल्पते ।
स चेदधर्मं चरति नरकायैव गच्छति ॥ ४ ॥
धर्मे तिष्ठन्ति भूतानि धर्मो राजनि तिष्ठति ।

होके राज्यको परित्याग नहीं करते और तुम इस लोकमें देने योग्य भोग्य वस्तुओंसे देव, पितर, मनुष्य, सर्प, राक्षस, पशु और पक्षियोंका पोषण करते हो न ? हे भारत ! यही तुम्हारे राज्य व्यवहार और राज्य गुप्तिकी कथा कही है । हे पाण्डव ! यही अर्थ अवलम्बन करके फिर कहूंगा । (२१-२६)

शान्तिपर्वमें नवासी अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें नव्वे अध्याय ।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! ब्रह्मवित्तम उतथ्यने युवनाश्व-पुत्र मान्धाताके ऊपर प्रसन्न हो कर उनसे अङ्गिरासम्बन्धीय जो सब क्षत्र धर्म कहा था, तथा जिस प्रकार उन्हें शासित किया था, वह सब मैं तुमसे पूरी रीतिसे कहता हूं । (१२)

उतथ्य बोले, हे मान्धाता ! तुम यह निश्चय जान रखो, कि लोग धर्मके अनुष्ठान निबन्धनसे ही राजा हुआ करते हैं, कामानुष्ठानसे राजा नहीं हो सकते; इससे राजा ही सब लोगोंकी रक्षा किया करता है । राजा यदि धर्म आचरण करे, तो देवत्व प्राप्त कर सकता है और यदि अधर्म आचरण करे, तो नरकगामी हुआ करता है । सब प्राणी धर्ममें स्थित रहते और धर्म राजामें निवास किया करता है । इससे जो

तं राजा साधु यः शास्ति स राजा पृथिवीपतिः ॥५॥
राजा परमधर्मात्मा लक्ष्मीवान्धर्म उच्यते।
देवाश्च गर्हां गच्छन्ति धर्मो नास्तीति चोच्यते ॥ ६ ॥
स्वधर्मे वर्तमानानामर्थसिद्धिः प्रदृश्यते।
तदेव मङ्गलं लोकः सर्वः समनुवर्तते ॥ ७ ॥
उच्छिद्यते धर्मवृत्तमधर्मो वर्तते महान्।
भयमाहुर्दिवारात्रं यदा पापो न वार्यते ॥ ८ ॥
ममेदमिति नैवैतत्साधूनां तात धर्मतः।
न वै व्यवस्था भवति यदा पापो न वार्यते। ॥ ९ ॥
नैव भार्या न पशवो न क्षेत्रं न निवेशनम्।
संदृश्येत मनुष्याणां यदा पापबलं भवेत्।
देवाः पूजां न जानन्ति न स्वधां पितरस्तदा ॥ १० ॥
न पूज्यन्ते ह्यतिथयो यदा पापो न वार्यते।
न वेदानऽधिगच्छन्ति व्रतवन्तो द्विजातयः ॥ ११ ॥
न यज्ञांस्तन्वते विप्रा यदा पापो न वार्यते।

राजा उस धर्मकी उत्तम रीतिसे रक्षा करते हैं, वे ही पृथ्वीके स्वामी होते हैं। जो राजा श्रीमान् और परम धर्म-शील होता है, लोग उसे ही धर्म कहा करते हैं। और ऐसा कहा करते हैं, कि जिस राजामें धर्म नहीं रहा, उसके घरसे देवता लोग भाग जाते हैं। जो लोग निज धर्ममें विद्यमान रहते हैं; उनकी ही प्रयोजन सिद्धि होती दीख पड़ती है, इससे सब कोई उस मङ्गलमय धर्मके अनुगामी होवें। (२-७)

पण्डित लोग कहा करते हैं, कि मनुष्योंके जब पाप निवारित नहीं होते तब उनके धर्मकी हानि होकर अधर्मको बढ़ती होती है, और रात दिन भय हुआ करता है। हे तात! जब पाप निवारित नहीं होता, तब साधुओंमें भी "यह वस्तु मेरी और यह वस्तु मेरी नहीं है,"–इसी भांति धर्मयुक्त व्यवस्था नहीं रहती। मनुष्योंमें जब पापबल विद्यमान रहता है, तब उन लोगोंको भार्या, पशु, क्षेत्र और गृह नहीं दीखते। मनुष्योंके बिना पाप नष्ट हुए देवता लोग पूजा, पितर लोग स्वधा और अतिथि लोग सत्कार ग्रहण नहीं करते। जब तक पाप दूर नहीं होता तब तक व्रत करनेवाले द्विजाति लोग देवताओं-को नहीं जान सकते और ब्राह्मण लोग

वृद्धानामिव सत्वानां मनो भवति विह्वलम् ॥ १२ ॥
मनुष्याणां महाराज यदा पापो न वार्यते।
उभौ लोकावभिप्रेक्ष्य राजानमृषयः स्वयम् ॥ १३ ॥
असृजन्सुमहद्भूतमयं धर्मो भविष्यति।
यस्मिन्धर्मो विराजेते तं राजानं प्रचक्षते ॥ १४ ॥
यस्मिन्विलीयते धर्मस्तं देवा वृषलं विदुः।
वृषो हि भगवान्धर्मो यस्तस्य कुरुते ह्यलम्।
वृषलं तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्मं विवर्धयेत् ॥ १५ ॥
धर्मे वर्धति वर्धन्ति सर्वभूतानि सर्वदा।
तस्मिन्ह्रसति हीयन्ते तस्माद्धर्मं न लोपयेत् ॥ १६ ॥
धनात्स्रवति धर्मो हि धारणाद्वेति निश्चयः।
अकार्याणां मनुष्येन्द्र स सीमान्तकरः स्मृतः॥ १७ ॥
प्रभवार्थं हि भूतानां धर्मः सृष्टः स्वयम्भुवा।
तस्मात्प्रवर्तयेद्धर्मं प्रजाऽनुग्रहकारणात् ॥ १८ ॥
तस्माद्धि राजशार्दूल धर्मः श्रेष्ठतरः स्मृतः।

यज्ञ विस्तार करनेमें भी समर्थ नहीं होते। हे महाराज! जबतक पाप दूर नहीं होता तब तक मनुष्योंका मन वृद्धोंकी तरह विह्वल हुआ करता है। ऋषि लोग दोनों लोकोंको अवलोकन करके "यह पुरुष ही धर्म पालक होगा" महाभूतमय राजाको उत्पन्न किया करते हैं, इस ही से उसमें धर्म विराजमान रहता है, उसे देवता लोग राजा कहा करते हैं और जिससे धर्म नष्ट होता है, उसे वृषल कहते हैं। जो राजा वृषरूपी भगवान धर्मका छेदन करता है, देवता लोग उसे ही वृषल कहा करते हैं। इससे राजा धर्मकी विशेष रूपसे वृद्धि करे; धर्मकी बढती होनेसे प्राणियोंकी भी सदा बढती हुआ करती है; और धर्मकी हानि होनेसे प्राणी भी क्षीण हुआ करते हैं इससे किसी भांति भी धर्मलोप न करे। (८-१६)

हे पुरुषेन्द्र! जो प्राणियोंके धन प्राप्तिके वास्ते कृपायुक्त होता, तथा धारणाके कारण स्वयं प्राप्त होता है, उसे ही धर्म समझना चाहिये; वह अकार्योंकी सीमाका नाशक कहके वर्णित हुआ है। स्वयम्भू ब्रह्माने प्राणियोंकी बढतीके वास्ते ही धर्मको प्रकट किया है, इससे राजा प्रजाके ऊपर कृपा करके धर्मको प्रवर्तित करे। हे राजशार्दूल!

स राजा यः प्रजाः शास्ति साधुकृत्पुरुषर्षभ ॥ १९ ॥
कामक्रोधावनादृत्य धर्ममेवानुपालय।
धर्मः श्रेयस्करतमो राज्ञां भरतसत्तम ॥ २० ॥
धर्मस्य ब्राह्मणो योनिस्तस्मात्तान्पूजयेत्सदा।
ब्राह्मणानां च मान्धातः कुर्यात्कामानमत्सरी॥ २१ ॥
तेषां ह्यकामकरणाद्राज्ञः सञ्जायते भयम्।
मित्राणि न च वर्धन्ते तथाऽमित्रीभवन्त्यपि ॥ २२ ॥
ब्राह्मणानां सदाऽसूयाद्बाल्याद्वैरोचनो बलिः।
अथास्माच्छ्रीरपाक्रामद्याऽस्मिन्नासीत्प्रतापिनी॥ २३ ॥
ततस्तस्मादपाक्रम्य साऽगच्छत्पाकशासनम्।
अथ सोन्वतपत्पश्चाच्छ्रियं दृष्ट्वा पुरन्दरे ॥ २४ ॥
एतत्फलमसूयाया अभिमानस्य वा विभो।
तस्माद्बुध्यस्व मान्धातर्मा त्वां जह्यात्प्रतापिनी॥२५॥
दर्पो नाम श्रियः पुत्रो जज्ञेऽधर्मादिति श्रुतिः।
तेन देवासुरा राजन्नीताः सुबहवो व्ययम् ॥ २६ ॥

धर्म ही श्रेष्ठ कहके वर्णित हुआ है; इससे जो पुरुषश्रेष्ठ हितकारी मनुष्य धर्म पूर्वक प्रजापालन करते हैं, उन्हें ही राजा समझना चाहिये। हे भरत सत्तम! धर्म ही राजाओंके निमित्त अत्यन्त कल्याणदायक है; इससे तुम काम क्रोध त्यागके केवल धर्मका ही पालन करो। हे मान्धाता! ब्राह्मण धर्मकी योनि हैं, इससे उन ब्राह्मणोंकी सदा पूजा करे और मत्सरता रहित होकर उनकी कामना पूरी करे, उनके अहित आचरण करनेसे राजाओंको भय उपस्थित होता है, और मित्रोंकी हानि होकर शत्रुओंकी उत्पत्ति होती है। (१७-२२)

विरोचनपुत्र बलि सदा ब्राह्मणोंके साथ असूया करते थे, इसहीसे श्री देवी उनसे सन्तापित होके उन्हें परित्याग करके पाकशासन इन्द्रके समीप चली गई थीं, अनन्तर बलि श्रीको इन्द्रके समीप देखके अत्यन्त ही शोकित हुए थे। विभु मान्धाता! तुम असूया और अभिमानका ऐसा ही फल समझो। देखो श्री तुम्हारे ऊपर क्रुद्ध होके तुम्हें परित्याग न करे। ऐसा कहा गया है, कि श्रीका पुत्र दर्प अधर्मसे उत्पन्न हुआ है, तुम यह निश्चय जान रखो, कि अनेक देवता, असुर और राजर्षि

राजर्षयश्च बहवस्तथा बुध्यस्व पार्थिव ।
राजा भवति तं जित्वा दासस्तेन पराजितः ॥ २७ ॥
स यथा दर्पसहितमधर्मं नानुसेवते ।
तथा वर्तस्व मान्धातश्चिरं चेत्स्थातुमिच्छसि ॥ २८ ॥
मत्तात्प्रमत्तात्पौगण्डादुन्मत्ताच्च विशेषतः ।
तदभ्यासादुपावर्तं संहितानां च सेवनात् ॥ २९ ॥
निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद्विषमाद्दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात्सरीसृपात् ॥ ३० ॥
एतेभ्यो नित्ययुक्तः स्यान्नक्तं चर्यां च वर्जयेत् ।
अत्यागं चाभिमानं च दम्भं क्रोधं च वर्जयेत् ॥ ३१ ॥
अविज्ञातासु च स्त्रीषु क्लीबासु स्वैरिणीषु च ।
परभार्यासु कन्यासु नाचरेन्मैथुनं नृप ॥ ३२ ॥
कुलेषु पापरक्षांसि जायन्ते वर्णसंकरात् ।
अपुमांसोऽङ्गहीनाश्च स्थूलजिह्वा विचेतसः ॥ ३३ ॥
एते चान्ये च जायन्ते यदा राजा प्रमाद्यति ।
तस्माद्राज्ञा विशेषेण वर्तितव्यं प्रजाहिते ॥ ३४ ॥

लोग उससे ही नाशको प्राप्त हुआ करते हैं। उसे जय करनेसे ही पुरुष राजा होता और उसके समीप पराजित होनेसे ही दास हुआ करता है। हे मान्धता! यदि तुम चिरजीवी होनेकी इच्छा करते हो, तो जैसे राजा अभिमानके सहित अधर्म की सेवा परित्याग करता है, तुम भी वैसा ही करो। (२३—२८)

मत्त, प्रमत्त, पाखण्डी और उन्मत्तोंके समीप न जावे, उनके साथ परिचय तथा उनकी सेवा न करे। दण्डित, सेवक, स्त्री, विषय और दुर्गम पहाड, हाथी, घोडे, तथा सार्पोके निकटसे निवृत्त होवे। जो कदापि इन सबमें सदा युक्त रहना पडे, तौ भी रात्रिके समय इनका सङ्ग परित्याग करे, और अतिलोभ, अभिमान, दम्भ और क्रोधको त्याग करे। हे राजेन्द्र! विन जानी हुई स्त्री क्लीब, स्वैरिणी, परायी स्त्री और कन्यासे कभी मैथुन न करे। वर्णसङ्कर होनेसे कुलमें पापी, राक्षस, क्लीव, अङ्गहीन, स्थूल जिह्वा और चित्तहीन पुरुष उत्पन्न हुआ करते हैं। राजाके प्रमादग्रस्त होनेसे ही ये सब उत्पन्न होते हैं; इससे राजा विशेष करके प्रजाके हितके अनुरक्त रहे। (२९-३४)

क्षत्रियस्य प्रमत्तस्य दोषः संजायते महान्।
अधर्माः संप्रवर्धन्ते प्रजासङ्करकारकाः ॥ ३५ ॥
अशीते विद्यते शीतं शीते शीतं न विद्यते।
अवृष्टिरतिवृष्टिश्च व्याधिश्चाप्याविशेत्प्रजाः ॥ ३६ ॥
नक्षत्राण्युपतिष्ठन्ति ग्रहा घोरास्तथागते।
उत्पाताश्चात्र दृश्यन्ते बहवो राजनाशनाः ॥ ३७ ॥
अरक्षितात्मा यो राजा प्रजाश्चापि न रक्षति।
प्रजाश्च तस्य क्षीयन्ते ततः सोऽनुविनश्यति ॥ ३८ ॥
द्वावाददाते ह्येकस्य द्वयोः सुबहवोऽपरे।
कुमार्यः संप्रलुप्यन्ते तदाहुर्नृपदूषणम् ॥ ३९ ॥
ममेदमिति नैकस्य मनुष्येष्ववतिष्ठति।
त्यक्त्वा धर्मं यदा राजा प्रमादमनुतिष्ठति॥ ४० ॥ [३३७८]

इति श्रीमहा०शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु नवतितमोऽध्यायः ॥ ९० ॥

उतथ्य उवाच— कालवर्षी च पर्जन्यो धर्मचारी च पार्थिवः।
संपद्यदेषा भवति सा बिभर्ति सुखं प्रजाः ॥ १ ॥

क्षत्रियोंके प्रमत्त होनेसे महान् दोष उत्पन्न होता है और प्रजाको वर्णसङ्कर करनेवाले सब अधर्मोंकी बढती हुआ करती है। गर्मीके समयमें सर्दी होती, शीतकालमें सर्दी नहीं रहती और अत्यन्त वृष्टि अनावृष्टि और व्याधि प्रजा समूहको आक्रमण करती है। नक्षत्र और धूमकेतु आदि भयङ्कर ग्रह उदय होते तथा राज्य नाशके अनेक उत्पात दीख पडते हैं, जो राजा अपनी और प्रजाकी रक्षा करनेमें असमर्थ है, उसकी प्रजाका नाश होता है; पीछे उसका भी नाश होजाता है। जब एक पुरुषके धनको दो मनुष्य मिलके ग्रहण करते और दो पुरुषोंका धन अनेक मनुष्य ग्रहण करते तथा कुमारी पूर्ण रीतिसे लुप्त होतीं हैं; उस समय पण्डित लोग राजाका ही दोष कहा करते हैं। जब राजा प्रमादग्रस्त होके धर्म त्याग कर "यह धन मेरा है, यह दूसरेका नहीं है,"–इसी भांति आचरण करते हुए जन समाजमें निवास करता है, तब लोग वैसे राजाको दुष्ट कहा करते हैं। (३५–४०) [३३७८]

शान्तिपर्वमें नव्वे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकानव्वे अध्याय।

उतथ्य बोले जब बादलके समयपर बरसने और राजाके धर्मचारी होनेपर

यो न जानाति हर्तुं वा वस्त्राणां रजको मलम्।
रक्तानां वा शोधयितुं यथा नास्ति तथैव सः ॥ २ ॥
एवमेतद्द्विजेन्द्राणां क्षत्रियाणां विशां तथा।
शूद्रश्चतुर्थो वर्णानां नानाकर्मस्ववस्थितः ॥ ३ ॥
कर्म शूद्रे कृषिर्वैश्ये दण्डनीतिश्च राजनि।
ब्रह्मचर्यं तपो मन्त्राः सत्यं चापि द्विजातिषु ॥ ४ ॥
तेषां यः क्षत्रियो वेद वस्त्राणामिव शोधनम्।
शीलदोषान्विनिर्हर्तुं स पिता स प्रजापतिः ॥ ५ ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्च भरतर्षभ।
राजवृत्तानि सर्वाणि राजैव युगमुच्यते ॥ ६ ॥
चातुर्वर्ण्यं तथा वेदाश्चातुराश्रम्यमेव च।
सर्वं प्रमुह्यते ह्येतद्यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ७ ॥
अग्निस्त्रेता त्रयी विद्या यज्ञाश्च सह दक्षिणाः।
सर्व एव प्रमाद्यन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ ८ ॥
राजैव कर्ता भूतानां राजैव च विनाशकः।

सम्पत्ति बढती है, तब वह सम्पत्ति प्रजासमूहको सुखपूर्वक पालन करती है जो धोबी वस्त्रके रङ्गको न छुडाके मैलमात्रको दूर करना नहीं जानता, जिस राजामें धर्म नहीं है, उसे वैसा ही समझे इसी भांति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चारों वर्णोंके बीच जो शूद्र निज धर्ममें च्युत होकर अनेक कर्मोंमें रत रहता है, उसे रजकके समान समझे। शूद्रमें सेवा, वैश्यमें कृषि क्षत्रियोंमें दण्डनीति और ब्राह्मणोंमें ब्रह्मचर्य, तपस्या, मन्त्र और सत्य प्रतिष्ठित है। उसमेंसे जो क्षत्रिय धोबीके वस्त्र धोनेकी भांति शीलदोष बिलकुल दूर करना जानते हैं वेही सबके पिता और प्रजाके स्वामी होते हैं। (१-५)

हे भरतर्षभ! सतयुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग ये सब ही राजवृत्त हैं, इससे राजा ही युगरूपसे कहा जाता है। जब राजा प्रमादग्रस्त होता है, तब चारों वर्ण चारों आश्रम और चारों वेद मुग्ध हुआ करते हैं। जब राजा प्रमत्त होता है, तब गार्हपत्य दक्षिणाग्नि और आवहनीय ये तीनों अग्नि, ऋक यजु और साम ये तीनों विद्या तथा दक्षिणा युक्त यज्ञ सब प्रमादग्रस्त हैं। राजा ही प्राणियोंका हर्ता और कर्त्ता है परन्तु जो राजा धर्मात्मा हैं वेही कर्त्ता और

धर्मात्मा यः स कर्त्ता स्यादधर्मात्मा विनाशकः॥ ९ ॥
राज्ञो भार्याश्च पुत्राश्च बान्धवाः सुहृदस्तथा।
समेत्य सर्वे शोचन्ति यदा राजा प्रमाद्यति ॥ १० ॥
हस्तिनोऽश्वाश्च गावश्चाप्युष्ट्राश्वतरगर्दभाः।
अधर्मभूते नृपतौ सर्वे सीदन्ति जन्तवः ॥ ११ ॥
दुर्बलार्थं बलं सृष्टं धात्रा मान्धातरुच्यते।
अबलं तु महद्भूतं यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १२ ॥
यच्च भूतं संभजते ये च भूतास्तदन्वयाः।
अधर्मस्थे हि नृपतौ सर्वे शोचन्ति पार्थिव ॥ १३ ॥
दुर्बलस्य च यच्चक्षुर्मुनेराशीविषस्य च।
अविषह्यतमं मन्ये मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १४ ॥
दुर्बलांस्तात बुध्येथा नित्यमेवाविमानितान्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि प्रदहेयुः सबान्धवम् ॥ १५ ॥
न हि दुर्बलदग्धस्य कुले किंचित्प्ररोहते।
आमूलं निर्दहन्त्येव मा स्म दुर्बलमासदः ॥ १६ ॥
अबलं वै बलाच्छ्रेयो यच्चातिबलवद्बलम्।

जो अधर्मी हैं वेही हर्त्ता कहाते हैं। जब राजा प्रमादग्रस्त होता है, तब उसके स्त्री, पुत्र, बान्धव और सुहृद लोग उस ही समय शोकग्रस्त हुआ करते हैं। राजाके अधर्मी होनेसे हाथी घोडे, गऊ, ऊंट, खच्चर और गर्दभ आदि सब जन्तु ही अवसन्न हुआ करते हैं। हे मान्धाता! ब्रह्माने निर्बल प्राणियोंकी रक्षाके वास्ते ही बलवानको उत्पन्न किया है; क्यों कि उससे ही निर्बल प्राणिप्रतिष्ठित होते हैं। (९—१२)

हे राजन्! राजाके अधर्मी होनेसे राजसेवक तथा राजवंशीय सब प्राणी शोक किया करते हैं। निर्बल, मुनि, और विषधर सर्पकी दृष्टिको मैं अत्यन्त ही असह्य बोध करता हूं; इससे तुम दुर्बलको दुःखी न करना। हे तात! तुम निर्बल पुरुषोंको सदा अवमानित बोध करना, जिससे निर्बलोंके नेत्र तुम्हें बान्धवोंके सहित भस्म न करें; क्यों कि जो पुरुष निर्बलोंके जरिये भस्म होता है, उसके कुलमें कुछ भी अंकुरित नहीं होता; बल्कि समूलसे ही भस्म होजाता है, इससे तुम निर्बलोंको कभी पीडित न करना। (१३–१६)

अत्यन्त बलवानसे भी बलहीन पुरुष

बलस्याबलदग्धस्य न किंचिद्वशिष्यते ॥ १७ ॥
विमानितो हतः क्रुष्टस्त्रातारं चेन्न विन्दति।
अमानुषकृतस्तत्र दण्डो हन्ति नराधिपम् ॥ १८ ॥
मा स्म तात रणे स्थित्वा भुञ्जीथा दुर्बलं जनम्।
मा त्वां दुर्बलचक्षूंषि दहन्त्वग्निरिवाश्रयम् ॥ १९ ॥
यानि मिथ्याभिशस्तानां पतन्त्यश्रूणि रोदताम्।
तानि पुत्रान्पशून्घ्नन्ति तेषां मिथ्याभिशंसनात् ॥२०॥
यदि नात्मनि पुत्रेषु न चेत्पौत्रेषु नप्तृषु।
न हि पापं कृतं कर्म सद्यः फलति गौरिव ॥ २१ ॥
यत्राबलो वध्यमानस्त्रातारं नाधिगच्छति।
महान्दैवकृतस्तत्र दण्डः पतति दारुणः ॥ २२ ॥
युक्ता यदा जानपदा भिक्षन्ते ब्राह्मणा इव।
अभीक्ष्णं भिक्षुरूपेण राजानं घ्नन्ति तादृशाः ॥ २३ ॥
राज्ञो यदा जनपदे बहवो राजपूरुषाः।

श्रेष्ठ हुआ करता है; क्यों कि बलवान पुरुष निर्बलके द्वारा भस्म होनेसे उसका कुछ भी बाकी नहीं रहता। यदि विमानित, घायल, वा आक्रुष्ट पुरुष किसी त्राणकर्त्ताको न प्राप्त कर सके, तो अमानुषिक दण्ड राजाकोही नष्ट करता है। हे तात! तुम निज बलके सहारे विपक्षी होकर निर्बल पुरुषोंको भोग न करना, छिपी हुई अग्निकी भांति जिससे निर्बलोंके नेत्र तुम्हें भस्म न करें। मनुष्य यदि किसी पुरुषसे मिथ्या अभिशप्त होकर रोदन करता है, तब उसके नेत्रसे जो सब आंसू गिरता है, वह उसके मिथ्यावादके कारण वेही सब आंसू उसके पुत्र और पशुओंको नष्ट किया करते हैं। गऊ जैसे सदा फलदायक नहीं होती वैसे ही यदि पाप कर्म सदा फलित हो, तो पुत्रमें फलेगा; पुत्रमें न फलित हो, तो पौत्र और दौहित्रमें फलित होता है। जिस स्थलमें निर्बल पुरुष बलवानसे पीडित होके किसीको अपना परित्राण करनेवाला नहीं पाता, उस स्थानमें दैवी महान् दण्ड पतित हुआ करता है। (१७-२२)

जनपद वासी सब लोग एकत्रित होकर ब्राह्मणोंकी भांति भिक्षा मांगे तो उनका भिक्षुक रूप ही सदा राजाका नाश किया करता है। यदि जनपदके बीच राजाके बहुतसे राज पुरुष राज कार्यमें नियुक्त होकर नीतिसे

अनयेनोपवर्तन्ते तद्राज्ञः किल्बिषं महत् ॥ २४ ॥
यदा युक्त्या नयेदर्थान्कामादर्थवशेन वा ।
कृपणं याचमानानां तद्राज्ञो वैशसं महत् ॥ २५ ॥
महान्वृक्षो जायते वर्धते च तं चैव भूतानि समाश्रयन्ति ।
यदा वृक्षश्छिद्यते दह्यते च तदाश्रया अनिकेता भवन्ति ॥ २६ ॥
यदा राष्ट्रे धर्ममग्र्यं चरन्ति संस्कारं वा राजगुणं ब्रुवाणाः ।
तैरेवाधर्मश्चरितो धर्ममोहात्तूर्णं जह्यात्सुकृतं दुष्कृतं च ॥ २७ ॥
यत्र पापा ज्ञायमानाश्चरन्ति स तां कलिर्विन्दते तत्र राज्ञः ।
यदा राजा शास्ति नरानशिष्टांस्तदा राज्यं वर्धते भूमिपस्य ॥२८॥
यश्चामात्यान्मानयित्वा यथार्थं मन्त्रे च युद्धे च नृपो नियुञ्ज्यात् ।
विवर्धते तस्य राष्ट्रं नृपस्य भुंक्ते महीं चाप्यखिलां चिराय ॥ २९ ॥
यचापि सुकृतं कर्म वाचं चैव सुभाषिताम् ।
समीक्ष्य पूजयन् राजा धर्मं प्राप्नोत्यनुत्तमम् ॥ ३० ॥
संविभज्य यदा भुंक्ते नामात्यानवमन्यते ।
निहन्ति बलिनं दृप्तं स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३१ ॥

विरुद्ध कार्य करनेमें प्रवृत्त हों; तो राजाको बहुत ही पाप होता है । और वे लोग काम तथा अर्थके वशमें होकर अयुक्तिके अनुसार दरिद्रोंका भी धन हरण करें, तो ऐसा होनेसे राजाका इकबारगी नाश होता है। जैसे वृक्ष उत्पन्न होके बडा होने पर प्राणी लोग उसकी ही आशा करते हैं और उस वृक्षके कटने वा जलनेसे वह लोग आश्रय हीन होते हैं, वैसेही राजाके बढने वा नष्ट होने पर प्रजा समूहकी वैसे ही दशा हुआ करती है । यदि राजपुरुष लोग राज्यमें राजाके गुण और मानस धर्मको वर्णन करके उत्तम धर्माचरण भी करें, तो उस ही समय उनका सुकृत नष्ट होजावे और यदि धर्मके भ्रमसे अधर्म आचरण करें, तो उससे दुष्कर्म नष्ट हुआ करता है । (२२-२७)

यदि राज्यके बीच पापी पुरुष राजा को विदित होकर साधुओंके समीप भ्रमण करें, तो ऐसा होनेसे कलियुग उस राजाका आश्रय किया करता है । परन्तु यदि राजा मूर्ख मनुष्योंको शासन करे, तो उसका राज्य बढता है । जो राजा सेवकोंका यथाउचित संमान करके युद्ध और विचार कार्योंमें नियुक्त करता है, उस राजाका राज्य विशेष रूपसे बढता है और वह बहुत दिनोंतक

त्रायते हि यदा सर्वं वाचा कायेन कर्मणा।
पुत्रस्यापि न मृष्येच्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३२ ॥
संविभज्य यदा भुङ्क्ते नृपतिर्दुर्बलान्नरान्।
तदा भवन्ति बलिनः स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३३ ॥
यदा रक्षति राष्ट्राणि यदा दस्यूनपोहति।
यदा जयति संग्रामे स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३४ ॥
पापमाचरतो यत्र कर्मणा व्याहृतेन वा।
प्रियस्यापि न मृष्येत स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३५ ॥
यदा शारणिकान् राजा पुत्रवत्परिरक्षति।
भिनत्ति च न मर्यादां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३६ ॥
यदाऽऽप्तदक्षिणैर्यज्ञैर्यजते श्रद्धयाऽन्वितः।
कामद्वेषावनादृत्य स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३७ ॥
कृपणानाथवृद्धानां यदाऽश्रु परिमार्जति।

समस्त पृथ्वी भोग किया करता है। राजा सब पुरुषोंके उत्तम वचनको सुनके तथा सुकृत कर्मोंको देखकर उन लोगों का संमान करनेसे उत्तम धर्मलाभ करता है। यदि राजा यथा नियमसे विभाग करके भोजन करे, सेवकोंका अपमान न करे, और बलके अभिमानी पुरुषोंका दमन करे, ऐसा होनेसे वही राज्यका धर्म कहके वर्णित हुआ करता है। जब राजा काया, वाचा और कर्मसे सबका परित्राण करते हैं, पुत्रके विषयमें भी क्षमा नहीं करता, तब उसका वह कर्म ही धर्मरूपसे वर्णित हुआ करता है। राजा दुर्बल प्राणियोंको भोजन कराके स्वयं भोजन करने पर, उन लोगोंको शील बल प्राप्त होता है, उससे राजाको परम धर्म होता है। (२८-३३)

जब राजा राज्यके डाकुओंको दमन और युद्धमें जय प्राप्त करता है, तब उसका जनसमाजमें वही धर्म गाया जाता है। प्रिय पुरुषको पापाचरण करने पर भी यदि राजा उसके विषयमें क्षमा न करे, तो राजाका वही धर्म कहके वर्णित हुआ करता है। जब राजा शरणागत मनुष्योंकी मर्यादा भेद न करके उन्हें पुत्र समान पालन करता है, तब राजाका वह परम धर्म कहके गाया जाता है। यदि राजा काम क्रोधका अनादर करके दक्षिणा युक्त यज्ञ करे, तो उससे परम धर्म होता है। यदि राजा कृपण, अनाथ और बूढे मनुष्योंके क्लेशयुक्त आंसूको पोंछके उन्हें हर्षित

हर्षं संजनयन्नृणां स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३८ ॥
विवर्धयति मित्राणि तथारींश्चापि कर्षति।
संपूजयति साधूंश्च स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ३९ ॥
सत्यं पालयति प्रीत्या नित्यं भूमिं प्रयच्छति।
पूजयेदतिथीन्भृत्यान्स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४० ॥
निग्रहानुग्रहौ चोभौ यत्र स्यातां प्रतिष्ठितौ।
अस्मिन्लोके परे चैव राजा स प्राप्नुते फलम् ॥ ४१ ॥
यमो राजा धार्मिकाणां मान्धातः परमेश्वरः।
संयच्छन्भवति प्राणानसंयच्छंस्तु पातुकः ॥ ४२ ॥
ऋत्विक्पुरोहिताचार्यान्सत्कृत्यानवमन्य च।
यदा सम्यक्प्रगृह्णाति स राज्ञो धर्म उच्यते ॥ ४३ ॥
यमो यच्छति भूतानि सर्वाण्येवाविशेषतः।
तथा राज्ञाऽनुकर्तव्यं यंतव्या विधिवत्प्रजाः ॥ ४४ ॥
सहस्राक्षेण राजा हि सर्वथैवोपमीयते।
स पश्यति च यं धर्मं स धर्मः पुरुषर्षभ ॥ ४५ ॥
अप्रमादेन शिक्षेथाः क्षमां बुद्धिं धृतिं मतिम्।

करे, तो उसके जरिये उसे बहुत धर्म होता है। जो राजा मित्रोंको ऊंचा, शत्रुओंको नीचा और साधुओंको सम्मानित करता है, वही धार्मिक कहाता है। जो राजा सत्यका पालन प्रीतिपूर्वक सदा भूमिदान अतिथि सेवा और सेवकोंका भरण पोषण करता है, लोग वैसे राजा कोही धार्मिक कहा करते हैं। जिसमें निग्रह अनुग्रह दोनों ही प्रतिष्ठित हैं, वही राजा इस लोक और परलोकमें उत्तम फल भोग किया करते हैं। (३४-४१)

हे मान्धाता! धार्मिक पुरुषोंकेवास्ते इन्द्रिय निग्रह ही अत्यन्त उत्तम कार्य है; क्योंकि वे लोग प्राण और इन्द्रिय संयम कर सकें, तो ईश्वरत्व लाभ करनेमें समर्थ होते हैं, परन्तु इन्द्रिय संयम न कर सके तो अग्निकी भांति हुआ करते हैं। जैसे यम अर्थात् विरति सब प्राणियोंको जिस प्रकार स्थित करती है, वैसेही राजा सब प्रजाको यथारीतिसे स्थित कर रखे। हे पुरुषश्रेष्ठ! जब कि लोग सहस्र नेत्रवाले इन्द्रके साथ राजा की तुलना करते हैं, तब राजा जिसे धर्म रूपसे देखे, वही धर्म कहके गिना जावेगा, हे राजन्! तुम सदा प्रमाद

भूतानां चैव जिज्ञासा साध्वसाधु च सर्वदा ॥ ४६ ॥
संग्रहः सर्वभूतानां दानं च मधुरं वचः ।
पौरजानपदाश्चैव गोप्तव्यास्ते यथासुखम् ॥ ४७ ॥
न जात्वदक्षो नृपतिः प्रजाः शक्नोति रक्षितुम् ।
भारो हि सुमहांस्तात राज्यं नाम सुदुष्करम् ॥ ४८ ॥
तद्दण्डविन्नृपः प्राज्ञः शूरः शक्नोति रक्षितुम् ।
न हि शक्यमदण्डेन क्लीबेनाबुद्धिनाऽपि वा ॥ ४९ ॥
अभिरूपैः कुले जातैर्दक्षैर्भक्तैर्बहुश्रुतैः ।
सर्वा बुद्धीः परीक्षेथास्तापसाश्रमिणामपि ॥ ५० ॥
अतस्त्वं सर्वभूतानां धर्मं वेत्स्यसि वै परम् ।
स्वदेशे परदेशे वा न ते धर्मो विनंक्ष्यति ॥ ५१ ॥
तस्मादर्थाच्च कामाच्च धर्म एवोत्तरो भवेत् ।
अस्मिन्लोके परे चैव धर्मात्मा सुखमेधते ॥ ५२ ॥
त्यजन्ति दारान्पुत्रांश्च मनुष्याः परिपूजिताः ।
संग्रहश्चैव भूतानां दानं च मधुरा च वाक् ॥ ५३ ॥

रहित होकर क्षमा, बुद्धि, धृति, सहारे प्राणियोंको शक्ति जानके साधु और दुष्टोंकी शिक्षा करो। (४२-४६)

सेना संग्रह करो, सबको दान दो, सबसे मीठे वचन कहो; पुर और जनपदवासियोंको यथा रीतिसे सुखपूर्वक पालन करो। हे राजन्! अपटु राजा कभी प्रजा-पालन करनेमें समर्थ नहीं होता; क्यों कि राज्यरूपी महत् भारको उठाना अत्यन्त ही कठिन है। जो राजा दण्डवित् बुद्धिमान और शूर है, वही राज्य रक्षा करनेमें समर्थ होता है, परन्तु दण्डज्ञानसे रहित क्लीब और बुद्धिरहित राजा उसकी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं होता। तुम सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए भक्त, बहुश्रुत, दक्ष और अनुयाई सेवकोंके सहित तापसाश्रमियोंके बुद्धिकी सब भांतिसे परीक्षा करना। यदि तुम इसी प्रकार सब प्राणियोंके परम धर्मको मालूम कर सको तो ऐसा होनेसे स्वदेश और विदेशमें कहीं भी तुम्हारा धर्म नष्ट न होगा। (४७-५१)

हे राजन्! इस ही कारण अर्थ और कामसे धर्म उत्तम है और धर्मात्मा मनुष्यही इस लोक तथा परलोकमें सुख भोग किया करते हैं। जो मनुष्य स्त्री पुत्रोंको त्याग सकते हैं, वे सबके समीप

अप्रमादश्च शौचं च राज्ञो भूतिकरं महत् ।
एतेभ्यश्चैव मान्धातः सततं मा प्रमादिथाः ॥ ५४ ॥
अप्रमत्तो भवेद्राजा छिद्रदर्शी परात्मनोः ।
नास्य छिद्रं परः पश्येच्छिद्रेषु परमन्वियात् ॥ ५५ ॥
एतद्वृत्तं वासवस्य यमस्य वरुणस्य च ।
राजर्षीणां च सर्वेषां तत्त्वमप्यनुपालय ॥ ५६ ॥
तत्कुरुष्व महाराज वृत्तं राजर्षिसेवितम् ।
आतिष्ठ दिव्यं पन्थानमह्नाय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥
धर्मवृत्तं हि राजानं प्रेत्य चेह च भारत ।
देवर्षिपितृगन्धर्वाः कीर्तयन्ति महोजसः ॥ ५८ ॥
भीष्म उवाच— स एवमुक्तो मान्धाता तेनोतथ्येन भारत ।
कृतवानविशङ्कश्च एकः प्राप च मेदिनीं ॥ ५९ ॥
भवानपि तथा सम्यक् मान्धातेव महीपते ।
धर्मं कृत्वा महीं रक्ष स्वर्गे स्थानमवाप्स्यसि ॥६०॥ [३४३८]

इति श्रीमहा० शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उतथ्यगीतासु एकनवतितमोऽध्यायः॥९१॥

पूजित होते हैं। हे मान्धाता! सेना संग्रह, दान मधुर वचन, अप्रमाद और पवित्रता ये सब राजाओंके अत्यन्तही ऐश्वर्यकारी हैं; इससे इन सब विषयोंमें सदा सावधान रहना। राजा सावधान होके अपना और दूसरेके छिद्रोंका अनुसन्धान करे, परन्तु दूसरे लोग राजाके छिद्रोंको न देखने पावें; क्यों कि आत्मछिद्रोंको छिपाना और परछिद्र देखाना ही राजाओंका कर्त्तव्य कर्म है। हे महाराज! इन्द्र, यम, वरुण और राजर्षियोंकी ऐसा ही वृत्ति है, तुम भी यत्नवान होकर इसे पालन करो, हे भरत श्रेष्ठ! राजर्षि लोग जिस धर्मको सेवन करते हैं, तुम भी उस ही की सेवा करो और शीघ्र ही दिव्य पथ अवलम्बन करो। हे भारत! महातेजस्वी देवर्षि, पितर और गन्धर्व लोग इस लोक तथा परलोकमें धर्मात्मा राजा के यशको गाया करते हैं। (५२—५८)

भीष्म बोले, हे भरतवंश प्रवीर युधिष्ठिर! मान्धाताने उतथ्यसे ऐसे ऐसे वचन सुनके शङ्का रहित चित्तसे उस ही भांति धर्माचरण किये थे, इसीसे अकेले ही पृथ्वी प्राप्त की। हे पृथ्वीनाथ! तुम भी मान्धाताकी भांति वैसा ही धर्माचरण करनेसे इस लोकमें पृथ्वी पालन करके मरनेके अन्तमें

युधिष्ठिर उवाच- कथं धर्मे स्थातुमिच्छन् राजा वर्तेत धार्मिकः ।
पृच्छामि त्वां कुरुश्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
गीतं दृष्टार्थतत्त्वेन वामदेवेन धीमता ॥ २ ॥
राजा वसुमना नाम ज्ञानवान्धृतिमाञ्शुचिः ।
महर्षिं परिपप्रच्छ वामदेवं तपस्विनम् ॥ ३ ॥
धर्मार्थसहितैर्वाक्यैर्भगवन्ननुशाधि मां ।
येन वृत्तेन वै तिष्ठन्न हीयेयं स्वधर्मतः ॥ ४ ॥
तमब्रवीद्वामदेवस्तेजस्वी तपतां वरः ।
हेमवर्णं सुखासीनं ययातिमिव नाहुषम् ॥ ५ ॥
वामदेव उवाच- धर्ममेवानुवर्तस्व न धर्माद्विद्यते परम् ।
धर्मे स्थिता हि राजानो जयन्ति पृथिवीमिमाम् ॥ ६ ॥
अर्थसिद्धेः परं धर्मं मन्यते यो महीपतिः ।
बुद्ध्यां च कुरुते बुद्धिं स धर्मेण विराजते ॥ ७ ॥

स्वर्ग लोकका स्थान प्राप्त करोगे । (५९-६०) [३४३८]

शान्तिपर्वमें एकानव्वे अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें बानव्वे अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! राजा धर्म मार्गमें निवास करनेका अभिलाषी होकर किस प्रकार धार्मिक होगा ? उसे मैं आपके समीप जाननेकी इच्छा करता हूं; इसे विस्तार करके कहिये । भीष्म बोले, तत्वार्थदर्शी बुद्धिमान वामदेवने पृथ्वीपति वसुमनासे जो कथा कही थी, पण्डित लोग उस प्राचीन इतिहासका ही ऐसे स्थलमें प्रमाण दिया करते हैं; मैं भी तुमसे कहता हूं, सुनो ! ज्ञानवान्, धृतिमान, पवित्रतायुक्त पृथ्वीनाथ वसुमनाने महातपस्वी महर्षि वामदेवसे धर्म और अर्थयुक्त वचन पूछा, हे भगवन ! जिस प्रकार धर्माचरण करनेसे धर्मच्युत न होके निज धर्ममें रह सके, आप मुझे उसहीका उपदेश करिये । (१—४)

परम तपस्वी तेजस्वी वामदेव नहुषपुत्र ययातिकी भांति सुखसे बैठे हुए हेमवर्ण वसुमनासे बोले, महाराज ! आप केवल धर्मके अनुवर्त्ती होइये, धर्मसे उत्तम दूसरा कुछ भी नहीं है, राजा लोग एक मात्र धर्ममें स्थित होके ही पृथ्वी जय किया करते हैं । जो राजा अर्थसिद्धिसे धर्मको उत्तम समझकर निज बुद्धिको धर्म बढानेमें ही प्रवर्त्तित

अधर्मदर्शी यो राजा बलादेव प्रवर्तते ।
क्षिप्रमेवापयातोऽस्मादुभौ प्रथममध्यमौ ॥ ८ ॥
असत्पापिष्ठसचिवो वध्यो लोकस्य धर्महा ।
सहैव परिवारेण क्षिप्रमेवावसीदति ॥ ९ ॥
अर्थानामननुष्ठाता कामचारी विकत्थनः ।
अपि सर्वां महीं लब्ध्वा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १० ॥
अथाददानः कल्याणमनसूयुर्जितेन्द्रियः ।
वर्धते मतिमान् राजा स्रोतोभिरिव सागरः ॥ ११ ॥
न पूर्णोऽस्मीति मन्येत धर्मतः कामतोऽर्थतः ।
बुद्धितो मित्रतश्चापि सततं वसुधाधिप ॥ १२ ॥
एतेष्वेव हि सर्वेषु लोकयात्रा प्रतिष्ठिता ।
एतानि शृण्वँल्लभते यशः कीर्तिं श्रियं प्रजाः ॥ १३ ॥
एवं यो धर्मसंरम्भी धर्मार्थपरिचिन्तकः ।
अर्थान्समीक्ष्य भजते स ध्रुवं महदश्नुते ॥ १४ ॥
अदाता ह्यनतिस्नेहो दण्डेनावर्तयन्प्रजाः ।

करते हैं, वेही धर्मके जरिये विराजमान होते हैं । जो राजा अधर्मी होकर बलपूर्वक अधर्म आचरणमें प्रवृत्त होता है, वह शीघ्र ही धर्म अर्थसे रहित होता और धर्म अर्थ दोनों ही उससे अलग हो जाते हैं । जिसके मन्त्री लोग दुष्ट और पापी हैं, तथा जो स्वयं धर्मकी हानि करते हैं, वे शीघ्र ही परिवारके सहित दुःखित होकर लोगोंके निकट वध्य होते हैं । जो राजा अर्थानुष्ठानसे रहित कामाचारी और अपनी बडाई करनेवाला है, वह समस्त पृथ्वी प्राप्त करनेपर भी शीघ्र ही नष्ट होता है । (५–१०)

परन्तु जो राजा कल्याणग्राही असूया रहित, जितेन्द्रिय और बुद्धिमान होता है, वह सोतेसे बढनेवाले समुद्रकी भांति बढता है । जो राजा ऐसा समझता है । कि मैं धर्म, अर्थ, काम, बुद्धि और मित्र किसीसे भी परिपूरीत नहीं हूं, इन्हीं सबसे लोकयात्रा प्रतिष्ठित है; वह सब सुनके यश, कीर्त्ति, श्री और प्रजा लाभ कर सकता है । जो राजा धर्म अर्थका चिन्तक तथा धर्मका अनुगामी होकर इसी भांति अर्थ दृष्टि करना आरम्भ करता है, वह अवश्य ही विपुल अर्थ भोग कर सकता है । जो राजा कृपण, प्रीतिरहित और साहस प्रकृति युक्त होकर प्रजाके विषयमें यथार्थ दण्डवि-

साहसप्रकृती राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १५ ॥
अथा पापकृतं बुद्ध्या न च पश्यत्यबुद्धिमान् ।
अकीर्त्याऽभिसमायुक्तो भूयो नरकमश्नुते ॥ १६ ॥
अथ मानयितुर्दातुः श्लक्ष्णस्य वशवर्तिनः ।
व्यसनं स्वमिवोत्पन्नं विजिघांसन्ति मानवाः ॥ १७ ॥
यस्य नास्ति गुरुर्धर्मे न चान्यानपि पृच्छति ।
सुखतन्त्रोऽर्थलाभेषु न चिरं सुखमश्नुते ॥ १८ ॥
गुरुप्रधानो धर्मेषु स्वयमर्थान्वेक्षिता ।
धर्मप्रधानो लाभेषु स चिरं सुखमश्नुते ॥ १९ ॥ [३४५७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु द्विनवतितमोऽध्यायः॥ ९२ ॥

वामदेव उवाच- यत्राधर्मं प्रणयते दुर्बले बलवत्तरः ।
तां वृत्तिमुपजीवन्ति ये भवन्ति तदन्वयाः ॥ १ ॥
राजानमनुवर्तन्ते तं पापाभिप्रवर्तकम् ।
अविनीतमनुष्यं तत्क्षिप्रं राष्ट्रं विनश्यति ॥ २ ॥

धान नहीं करता, वह शीघ्र ही नष्ट होता है। (११-१५)

जो बुद्धिहीन राजा जानके भी पापी पुरुषोंके विषयमें उपेक्षा करके उनकी ओर दृष्टि नहीं रखता, वह अकीर्त्तिसे युक्त होकर वारवार नरक भोग किया करता है। जो राजा दाता, दक्ष, वश-वर्त्ती और सबका सम्मान करनेवाला होता है, उसे विपद उपस्थित होनेपर सब मनुष्य आत्मविपदकी भांति उसके उस विपदके नाश करनेकी इच्छा करते हैं। जिसके धर्म उपदेशक गुरु नहीं हैं और जो अर्थ लाभमें सुख परतन्त्र होकर दूसरे किसीको भी धर्म विषयको नहीं पूछते तथा वे सदा सुखभोग नहीं कर सकते और जिसके धर्म उपदेश करनेवाला मुख्य गुरु है, वह स्वयं धर्मकी आलोचना करता है और अर्थ लाभमें धर्म-परतन्त्र होता है; वही सदा सुख भोग कर सकता है। (१६-१९)

शान्तिपर्वमें बानवे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें तिरान्वे अध्याय।

वामदेव बोले, जिस राज्यमें बलवान राजा निर्बल पुरुषोंके ऊपर अधर्म आरो-पित करता है, उसके वंशवाले जो सब पुरुष उस ही वृत्तिको उपजीव्य किया करते हैं, तथा दूसरे जो सब मनुष्य उस पाप प्रवर्त्तक राजाके अनुगामी

यद्वृत्तमुपजीवन्ति प्रकृतिस्थस्य मानवाः।
तदेव विषमस्थस्य स्वजनोऽपि न मृष्यते ॥ ३ ॥
साहसप्रकृतिर्यत्र किञ्चिदुल्वणमाचरेत्।
अशास्त्रलक्षणो राजा क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ४ ॥
योऽत्यन्ताचरितां वृत्तिं क्षत्रियो नानुवर्तते।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ५ ॥
द्विषन्तं कृतकल्याणं गृहीत्वा नृपतिं रणे।
यो न मानयते द्वेषात्क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ६ ॥
शक्तः स्यात्सुमुखो राजा कुर्यात्करणमापदि।
प्रियो भवति भूतानां न च विभ्रश्यते श्रियः ॥ ७ ॥
अप्रियं यस्य कुर्वीत भूयस्तस्य प्रियं चरेत्।
न चिरेण प्रियः स स्याद्योऽप्रियः प्रियमाचरेत् ॥ ८ ॥
मृषावादं परिहरेत्कुर्यात्प्रियमयाचितः।

होते हैं, वह विनयरहित मनुष्योंसे युक्त राज्य शीघ्र ही विनष्ट होता है। राजा प्रकृतिस्थ अर्थात् स्वधर्मावलम्बी होनेपर वह जैसा व्यवहार करता है, साधारण मनुष्य भी उस ही व्यवहारके अनुगामी हुआ करते हैं। परन्तु राजा विषमस्थ अर्थात् अन्य धर्मावलम्बी होकर जैसा व्यवहार करेगा, स्वजन पुरुष उस व्यवहारके अनुगामी न होंगे। जिस राज्यमें साहस प्रकृति राजा शास्त्र लक्षणसे विपरीत कार्य करता है, उस राज्यमें वह उस ही समय नष्ट होता है। जो क्षत्रिय जित अर्थात् आपन्न और अजित् अर्थात् स्वस्थ मनुष्योंके अत्यन्त आचरित वृत्तिके अनुवर्त्ती नहीं होते, वे क्षत्रियधर्म से बाहिर हुआ करते हैं। (१—५)

जो क्षत्रिय अपकार करनेवाले द्वेषी राजाको युद्धभूमिमें पाके द्वेषके कारण उसका सम्मान नहीं करते वह क्षत्र धर्मसे बाहिर होते हैं। जो राजा आपदकालमें सुख भोगनेमें समर्थ होके भी दुःख भोग करते हुए प्रजाकी आपदको निवारण करते हैं, वह प्रजासमूहके प्यारे होते हैं, राजलक्ष्मी वैसे राजाको कभी परित्याग नहीं करती। हे राजन्! जिसकी बुराई करे, दूसरी वार उसकी भलाई करे; क्यों कि बुराई करनेवाला पुरुष फिर भलाई करनेपर थोडेही समय के बीच प्रिय हुआ करता है। मिथ्या वचन परित्याग करे, विना कहे ही लोगोंका प्रिय कार्य करे; काम क्रोध

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥ साढेसात	१।
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥ साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥
१० सौप्तिकपर्व	(७५)		१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	।।
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१।)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७	११	१०७६	६) छः	१।)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८२ [शांतिपर्व अंक ६]

महाभारत

भाषा-भाष्य-समेत

संपादक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिना जिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री—स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

न कामान्न च संरम्भान्न द्वेषाद्धर्ममुत्सृजेत् ॥ ९ ॥
नापत्रपेत प्रश्नेषु नाविभाव्यां गिरं सृजेत्।
न त्वरेत न चासूयेत्तथा संगृह्यते परः ॥ १० ॥
प्रिये नातिभृशं हृष्येदप्रिये न च संज्वरेत्।
न तप्येदर्थकृच्छ्रेषु प्रजाहितमनुस्मरन् ॥ ११ ॥
यः प्रियं कुरुते नित्यं गुणतो वसुधाधिपः।
तस्य कर्माणि सिद्ध्यन्ति न च संत्यज्यते श्रिया॥१२॥
निवृत्तं प्रतिकूलेषु वर्तमानमनुप्रिये।
भक्तं भजेत नृपतिः सदैव सुसमाहितः ॥ १३ ॥
अप्रकीर्णेन्द्रियग्राममत्यन्तानुगतं शुचिम्।
शक्तं चैवानुरक्तं च युञ्ज्यान्महति कर्मणि ॥ १४ ॥
एवमेतैर्गुणैर्युक्तो योऽनुरज्यति भूमिपम्।
भर्तुरर्थेष्वप्रमत्तं नियुञ्ज्यादर्थकर्मणि ॥ १५ ॥
मूढमैन्द्रियकं लुब्धमनार्यचरितं शठम्।
अनतीतोपधं हिंस्रं दुर्बुद्धिमबहुश्रुतम् ॥ १६ ॥
त्यक्तोदात्तं मद्यरतं द्यूतस्त्रीमृगयापरम्।

और द्वेषके वशमें होकर कभी धर्म परित्याग न करे। कोई प्रश्न करे, तो उसे निठुर होके उत्तर न दे, कठोर वचन प्रयोग न करे, किसी कार्यमें शीघ्रता न करे। किसीकी निन्दा न करे और शत्रुओंको संग्रह न करे। (९-१०)

प्रिय होनेसे अत्यन्त हर्षित न होवे, अप्रिय होनेपर उसमें दुःखी न होवे और प्रजाके हितको स्मरण करते हुए अत्यन्त अर्थसे भी तृप्त न होवे। जो राजा गुणके अनुसार सेवकोंका सदा प्रियकार्य किया करता है, उसके सब कार्य सिद्ध होते और राजश्री उसे कभी परित्याग नहीं करती। राजा सदा स्थिरताके सहित विरोधियोंको निवृत्त और अनुकूल रहनेवाले भक्तोंका सत्कार करे। जो सेवक दृढ, इन्द्रियोंसे युक्त, अत्यन्त अनुगत, पवित्रचित्तवाला अनुरक्त और सब कार्यमें समर्थ हो, उसे ही राजा महत् कर्ममें नियुक्त करे। जो सेवक ऐसे गुणोंसे युक्त हो और स्वामीके कार्यमें सावधान होके उसे अनुरक्त कर सके, वैसे सेवकको ही राजा अर्थकार्यमें नियुक्त करे,जो राजा मूढ, इन्द्रियपरायण, लोभी, अनार्योंके आचरित कर्मको करनेवाला, शठ, कपटता युक्त, हिंसक,

कार्ये महति युञ्जानो हीयते नृपतिः श्रिया ॥ १७ ॥
रक्षितात्मा च यो राजा रक्ष्यान्यश्चानुरक्षति ।
प्रजाश्च तस्य वर्धन्ते ध्रुवं च महदश्नुते ॥ १८ ॥
ये केचिद्भूमिपतयः सर्वांस्तानन्ववेक्षयेत् ।
सुहृद्भिरनभिख्यातैस्तेन राजाऽतिरिच्यते ॥ १९ ॥
अपकृत्य बलस्थस्य दूरस्थोऽस्मीति नाश्वसेत् ।
श्येनाभिपतनैरेते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ २० ॥
दृढमूलस्त्वदुष्टात्मा विदित्वा बलमात्मनः ।
अबलानभियुञ्जीत न तु ये बलवत्तराः ॥ २१ ॥
विक्रमेण महीं लब्ध्वा प्रजाधर्मेण पालयेत् ।
आहवे निधनं कुर्याद्राजा धर्मपरायणः ॥ २२ ॥
मरणान्तमिदं सर्वं नेह किञ्चिदनामयम् ।
तस्माद्धर्मे स्थितो राजा प्रजाधर्मेण पालयेत् ॥ २३ ॥
रक्षाधिकरणं युद्धं तथा धर्मानुशासनम् ।

नीचबुद्धि, मूर्ख, उदार कर्मोंको त्यागने वाला, मद्यमें रत और जुआ, स्त्री तथा मृगयापर सेवकको महत् कार्योंमें नियुक्त करता है वह राजा श्रीभ्रष्ट हुआ करता है। (११-१७)

जो राजा अपनी रक्षा करके प्रति-पालन करने योग्य सेवकोंको रक्षा करता है, उसकी सब प्रजा बढती है, और वह अवश्य ही विपुल ऐश्वर्य भोग किया करता है। जो राजा गुप्त दूतोंके जरिये अधीनमें रहनेवाले राजाओंके सब कार्योंको मालूम करता है, वह सबसे मुख्य हुआ करता है। राजा बलवान पुरुषका अपकार करके "मैं दूर हूं" इस प्रकार धीरज पूर्वक उपेक्षा न करे, क्यों कि वे लोग बाज पक्षीकी भांति प्रमादयुक्त अपकारी राजाके समीप आके उपस्थित होते हैं। दृढ मूल साधु राजा अपना बल मालूम करके निर्बल पुरुषों-के ऊपर चढाई करे; परन्तु जो बलवान है, उनके ऊपर चढाई न करे। धर्ममें तत्पर राजा पराक्रमसे पृथ्वी प्राप्त करके धर्मपूर्वक प्रजा पालन और युद्धमें शत्रु-ओंका वध करे। (१७-२२)

इस लोकमें प्रजा पालन आदि कार्य करनेसे अनन्तर स्वर्ग-हेतु निबन्धन अनामय अर्थात् कुशल जनक हुआ करता है; इससे राजा निजधर्ममें स्थित होके धर्म पूर्वक प्रजापालन करे। युद्धमें रक्षाधिकरण अर्थात् किले आदिकी दृढता

मन्त्रचिन्तासुखं काले पञ्चभिर्वर्धते मही ॥ २४ ॥
एतानि यस्य गुप्तानि स राजा राजसत्तम ।
सततं वर्तमानोऽत्र राजा धत्ते महीमिमाम् ॥ २५ ॥
नैतान्येकेन शक्यानि सातत्येनानुवीक्षितुम् ।
तेषु सर्वं प्रतिष्ठाप्य राजा भुंक्ते चिरं महीम् ॥ २६ ॥
दातारं संविभक्तारं मार्दवोपगतं शुचिम् ।
असंत्यक्तमनुष्यं च तं जनाः कुर्वते नृपम् ॥ २७ ॥
यस्तु निःश्रेयसं श्रुत्वा ज्ञानं तत्प्रतिपद्यते ।
आत्मनो मतमुत्सृज्य तं लोकोऽनुविधीयते ॥ २८ ॥
योऽर्थकामस्य वचनं प्रातिकूल्यान्न मृष्यते ।
शृणोति प्रतिकूलानि सर्वदा विमना इव ॥ २९ ॥
अग्राम्यचरितां वृत्तिं यो न सेवेत नित्यदा ।
जितानामजितानां च क्षत्रधर्मादपैति सः ॥ ३० ॥
निगृहीतादमात्याच्च स्त्रीभ्यश्चैव विशेषतः ।
पर्वताद्विषमाद्दुर्गाद्धस्तिनोऽश्वात्सरीसृपात् ।

करनी, युद्ध, धर्मका अनुशासन, मन्त्र चिन्ता और प्रजाको सुख देना, इन पांच प्रकारके कार्यांसे पृथ्वी विशेष रूपसे वार्द्धित हुआ करती है । जो इन सबकी भली भांति रक्षा करते, वेही राजेन्द्र होते और वह सदा इस लोकमें वर्त्तमान रहके इस पृथ्वीमण्डलको धारण किया करते हैं । अकेले राजाके जरिये इन सब विषयोंका सिद्ध होना अत्यन्त ही कठिन है; इससे राजा किले आदिके अधिष्ठाता मन्त्रियोंके ऊपर समस्त कार्यभार अर्पण करनेसे बहुत समयतक पृथ्वी भोग करनेमें समर्थ होता है । हे राजन् ! जो पुरुष दाता, संविभक्त, कोमल-स्वभाव, पवित्र और अनुरक्त होता है, उसे ही लोग नृपति कहा करते हैं । (२३-२७)

जो निःश्रेयस विषय सुनके अपना मत परित्यागके उस निःश्रेयस ज्ञानको ही प्रतिपन्न करते हैं, लोग उसे ही नृप रूपसे मानते हैं । जो द्वेषके कारण अर्थकामी पुरुषोंके वचनकी क्षमा न करके, उनके निकट विमनाकी भांति सदा प्रतिकूल वचन सुनते; और जो जित अर्थात् आपन्न और अजित तथा स्वस्थ पुरुषोंके अग्राम्य अर्थात् बुद्धि- मान पुरुषोंके आचरित वृत्तिकी सदा सेवा नहीं करते, वे क्षत्र धर्मसे बहि-

एतेभ्यो नित्ययुक्तः सन् रक्षेदात्मानमेव तु ॥ ३१ ॥
मुख्यानमात्यान्यो हित्वा निहीनान्कुरुते प्रियान् ।
स वै व्यसनमासाद्य गाधमार्तो न विन्दति ॥ ३२ ॥
यः कल्याणगुणान् ज्ञातीन्प्रद्वेषान्नो बुभूषति ।
अदृढात्मा दृढक्रोधः स मृत्योर्वसतेऽन्तिके ॥ ३३ ॥
अथ यो गुणसंपन्नान्हृदयस्य प्रियानपि ।
प्रियेण कुरुते वश्यांश्चिरं यशसि तिष्ठति ॥ ३४ ॥
नाकाले प्रणयेदर्थान्नाप्रिये जातु संज्वरेत् ।
प्रियेनातिभृशं तुष्येद्युञ्जीतारोग्यकर्मणि ॥ ३५ ॥
के वाऽनुरक्ता राजानः के भयात्समुपाश्रिताः ।
मध्यस्थदोषाः के चैषामिति नित्यं विचिन्तयेत् ॥३६॥
न जातु बलवान्भूत्वा दुर्बले विश्वसेत्क्वचित् ।
भारुण्डसदृशा ह्येते निपतन्ति प्रमाद्यतः ॥ ३७ ॥
अपि सर्वगुणैर्युक्तं भर्तारं प्रियवादिनम् ।

क्कृत होते हैं। निगृहीत सेवक, स्त्री, विषय, और दुर्गम पर्वत, हाथी, घोडे और सांप इन सबसे सदा निवृत्त होके आत्मरक्षा करे; परन्तु जो पुरुष इन सबमें सदा नियुक्त रहके आत्मरक्षा करता है, और मुख्य सेवकोंको परित्याग करके अत्यन्त हीन प्रकृतिवाले सेवकों को प्रिय समझता है; वह पुरुष व्यसनमें फंसके कार्यका अन्त प्राप्त करनेमें समर्थ नहीं होता। जो राजा द्वेषके कारण कल्याण गुणसे युक्त स्वजनोंके समीप निवास करनेकी इच्छा नहीं करता, वह अदृढात्मा, दृढ क्रोधयुक्त राजा मृत्युके निकट वास किया करता है; और गुणवान पुरुषोंको हृदयके अप्रिय होनेपर भी जो राजा उन्हें प्रिय वचनसे वशमें कर सकता है, वह सदा भूमण्डल पर यशस्वी होके निवास करता है। (२८-३४)

राजा असमयमें अर्थ प्रणयन न करे, अनिष्ट होने पर उसमें कभी अत्यन्त सन्तापित न होवे, प्रिय कार्यसे बहुत हर्षित न होवे और शुभ कर्मोंमें सदा तत्पर रहे। कौन राजा अनुरक्त है, कौनसे भयके कारण अनुगत है और कौन निर्दोष है, इसे सदा विचारता रहे। राजा बलवान होकर भी निर्बलका कभी तनिक विश्वास न करे, क्योंकि वे लोग असावधानीरूपी अवसर पानेसे गिद्धकी भांति आ गिरते हैं। स्वामी प्रियवादी और सब गुणोंसे युक्त होने

अभि द्रुह्यति पापात्मा न तस्माद्विश्वसेज्जनात्॥ ३८ ॥
एवं राजोपनिषदं ययातिः स्माह नाहुषः ।
मनुष्यविषये युक्तो हन्ति शत्रूननुत्तमान् ॥ ३९ ॥ [३४९६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु त्रिनवतितमोऽध्यायः॥ ९३ ॥

वामदेव उवाच- अयुद्धेनैव विजयं वर्धयेद्वसुधाधिपः ।
जघन्यमाहुर्विजयं युद्धेन च नराधिप ॥ १ ॥
न चाप्यलब्धं लिप्सेत मूले नातिदृढे सति ।
न हि दुर्बलमूलस्य राज्ञो लाभो विधीयते ॥ २ ॥
यस्य स्फीतो जनपदः संपन्नप्रियराजकः ।
संतुष्टपुष्टसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ३ ॥
यस्य योधाः सुसंतुष्टाः सांत्विताः सूपधास्थिताः ।
अल्पेनापि स दण्डेन महीं जयति पार्थिवः ॥ ४ ॥
पौरजानपदा यस्य भूतेषु च दयालवः ।
सधना धान्यवन्तश्च दृढमूलः स पार्थिवः ॥ ५ ॥

पर भी पापी सेवक उसका अपकार किया करते हैं; इससे वैसे मनुष्योंका कभी विश्वास न करे । नहुष पुत्र ययातिने इसी भांति राजोपनिषत् अर्थात् राजाओंकी रहस्य विद्या कही है; इससे जो इस रहस्य विद्याके अनुसार मनुष्य राज्यमें नियुक्त होते हैं, वेही महान् शत्रुओंका नाश कर सकते हैं। (३५-३९)

शान्तिपर्वमें तिरानवे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें चौरान्वे अध्याय।

वामदेव बोले, हे नरनाथ ! राजा विना युद्ध किये ही विजय प्राप्त करे, युद्धसे जो विजय होती है, पण्डित लोग उसे निन्दित कहा करते हैं। मूल अत्यन्त दृढ न रहने पर राजा अप्राप्त वस्तुओंके वास्ते कभी इच्छा न करे; क्योंकि निर्बल मूलवाले राजाको अप्राप्त वस्तुका अलाभ नहीं विहित होता । जिसका जनपद उन्नत, सम्पत्ति युक्त, राजप्रिय, सन्तुष्ट और मन्त्रियोंसे सम्पन्न है, उस पृथ्वीपतिका ही दृढमूल कहके जानना चाहिये । जिसकी सब सेना सन्तुष्ट सान्त्वित दूसरेकी वंचनामें निष्ठावान है, वह राजा ही थोडी सेनाके जरिये पृथ्वी जय कर सकता है। जिसके पुरवासी और जनपद वासी प्रजा दयालु, बलवान और धान्यवान है उस राजाको ही दृढमूल कहके जानना चाहिये। १-५

प्रतापकालमधिकं यदा मन्येत चात्मनः।
तदा लिप्सेत मेधावी परभूमिधनान्युत ॥ ६ ॥
भोगेष्वदयमानस्य भूतेषु च दयावतः।
वर्धते त्वरमाणस्य विषयो रक्षितात्मनः ॥ ७ ॥
तक्षेदात्मानमेवं स वनं परशुना यथा।
यः सम्यग्वर्तमानेषु स्वेषु मिथ्या प्रवर्तते ॥ ८ ॥
नैव द्विषन्तो हीयन्ते राज्ञो नित्यमनिघ्नतः।
क्रोधं निहन्तुं यो वेद तस्य द्वेष्टा न विद्यते ॥ ९ ॥
यदार्यजनविद्विष्टं कर्म तन्नाचरेद्बुधः।
यत्कल्याणमभिध्यायेत्तत्रात्मानं नियोजयेत् ॥ १० ॥
नैनमन्येऽवजानन्ति नात्मना परितप्यते।
कृत्यशेषेण यो राजा सुखान्यनुबुभूषति ॥ ११ ॥
इदं वृत्तं मनुष्येषु वर्तते यो महीपतिः।
उभौ लोकौ विनिर्जित्य विजये संप्रतिष्ठते ॥ १२ ॥
भीष्म उवाच— इत्युक्तो वामदेवेन सर्वं तत्कृतवान्नृपः।

हे राजन्! मेधावी राजा जब अपने प्रतापका समय सबसे अधिक समझे, तभी परभूमि और परधनकी लालसा करें; क्योंकि भोगोंमें उदयमान, सब प्राणियोंमें दयावान, शीघ्रता करनेवाले और आत्मरक्षामें समर्थ राजाका ही विषय वर्द्धित हुआ करता है। जो विद्यमान आत्मीय पुरुषोंके विषयमें सब भांतिसे मिथ्या आचरण करता है, वह परशुसे काटे हुए वनकी तरह आप ही नष्ट होता है। जो राजा आत्महिंसक नहीं है, शत्रु लोग भी उससे द्वेष नहीं करते, क्योंकि जो पुरुष क्रोधका नाश कर सकते हैं, कोई भी उनका द्वेषी नहीं होता। आर्य पुरुष जिन कर्मोंमें विद्वेष प्रकाश करे, विद्वान राजा उस कर्मको कभी भी न करे; और उन लोगोंके कल्याणदायक वचनको न टाले, जो राजा सब कर्त्तव्य कर्मोंको सिद्ध करके अन्तमें सुख अनुभव करनेकी अभिलाषा करता है, वैसे राजाकी दूसरा कोई भी अवज्ञा नहीं कर सकता। जो राजा मनुष्य राज्यमें इसी भांति व्यवहार करता है, वह दोनों लोकोंको जय करके विजय-पथमें प्रतिष्ठित होता है। (६–१२)

भीष्म बोले, राजा वसुमनाने महर्षि वामदेवका ऐसा वचन सुनके उसके

तथा कुर्वंस्त्वमप्येतौ लोकौ जेता न संशयः ॥१३॥ [३५०९]

इति श्रीमहाभारते० राजधर्मानुशासनपर्वणि वामदेवगीतासु चतुर्नवतितमोऽध्यायः ॥ ९४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— अथ यो विजिगीषेत क्षत्रियः क्षत्रियं युधि ।
कस्तस्य विजये धर्मो ह्येतं पृष्टो ब्रवीहि मे ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— ससहायोऽसहायो वा राष्ट्रमागम्य भूमिपः ।
ब्रूयादहं वो राजेति रक्षिष्यामि च वः सदा ॥ २ ॥
मम धर्म्यबलिं दत्त किंवा मां प्रतिपत्स्यथ ।
ते चेत्तमागतं तत्र वृणुयुः कुशलं भवेत् ॥ ३ ॥
ते चेदक्षत्रियाः सन्तो विरुध्येरन्कथञ्चन ।
सर्वोपायैर्नियन्तव्या विकर्मस्था नराधिप ॥ ४ ॥
अशस्त्रं क्षत्रियं मत्वा शस्त्रं गृह्णात्यथापरः ।
त्राणायाप्यसमर्थं तं मन्यमानमतीव च ॥ ५ ॥

अनुसार ही सब कार्योंका अनुष्ठान किया था; तुम भी वैसा करनेसे अवश्यही दोनों लोकोंको जय कर सकोगे। (१३) [३५०९]

शान्तिपर्वमें चौरान्वे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें पचानवे अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, यदि कोई क्षत्रिय युद्धमें दूसरे क्षत्रियको जीतनेकी इच्छा करे, तो वह विजय विषयमें कैसा धर्म आचरण करे? यही मैं आपसे पूछता हूं; आप मुझसे यह वृत्तान्त विशेष करके कहिये। (१)

भीष्म बोले, राजा सहाययुक्त वा बिन सहायकके ही अकस्मात दूसरेके राज्यमें आगमन करके प्रजा समूहसे ऐसा वचन कहे, कि मैं तुम लोगोंकी सर्वदा रक्षा करूंगा; इससे तुम लोग मुझे धर्मपूर्वक कर प्रदान करो, और मुझे राजा कहके मानो। ऐसा वचन सुनके यदि प्रजा समूह उस समागत-राजाको राज्यमें वरण करे, तो ऐसा होनेसे उन लोगोंका कुशल होता है। परन्तु, हे नरनाथ! यदि वे लोग अक्षत्रिय होकर राजाके विषयमें किसी प्रकार विरुद्धाचरण करें, तो ऐसा होने पर उन विकर्मस्थ प्रजा समूहको सब भांतिके उपायके शासन करना उचित है। अपर अर्थात् हीन क्षत्रिय भी दूसरोंमें उत्तम जांचनेके वास्ते श्रेष्ठ क्षत्रियको आत्मत्राणमें असमर्थ और शस्त्रहीन देखके शस्त्र ग्रहण किया करते हैं; इससे राजा निज शस्त्रबलसे विजित गांवोंको आक्रमण करके उनके स्वामी होकर सुख पूर्वक निवास करे। (२–५)

युधिष्ठिर उवाच— अथ यः क्षत्रियो राजा क्षत्रियं प्रत्युपाव्रजेत्।
कथं संप्रतियोद्धव्यस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ६ ॥

भीष्म उवाच— नैवासन्नद्धकवचो योद्धव्यः क्षत्रियो रणे।
एक एकेन वाच्यश्च विसृजेति क्षिपामि च ॥ ७ ॥
स चेत्सन्नद्ध आगच्छेत्सन्नद्धव्यं ततो भवेत्।
स चेत्ससैन्य आगच्छेत्ससैन्यस्तमथाह्वयेत् ॥ ८ ॥
स चेन्निकृत्या युद्ध्येत निकृत्या प्रतियोधयेत्।
अथ चेद्धर्मतो युद्ध्येद्धर्मेणैव निवारयेत् ॥ ९ ॥
नाश्वेन रथिनं यायादुदियाद्रथिनं रथी।
व्यसनेन प्रवर्तव्यं न भीताय जिताय च ॥ १० ॥
इषुर्लिप्तो न कर्णी स्यादसतामेतदायुधम्।
यथार्थमेव योद्धव्यं न क्रुद्ध्येत जिघांसतः ॥ ११ ॥
साधूनां तु यदा भेदात्साधुश्चेद्व्यसनी भवेत्।
निष्प्राणो नाभिहन्तव्यो नानपत्यः कथञ्चन ॥ १२ ॥
भग्नशस्त्रो विपन्नश्च कृत्तज्यो हतवाहनः।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! यदि कोई क्षत्रिय राजा युद्धके वास्ते दूसरे क्षत्रियके निकट उपस्थित होवे तो वह क्षत्रिय राजाके साथ किस प्रकार युद्ध करे। वह मुझसे कहिये। (६)

भीष्म बोले, युद्धमें असावधान क्षत्रिय कवच रहित क्षत्रियके साथ युद्ध करे; क्योंकि एक पुरुष एक एकके साथ युद्ध करनेसे क्रमसे असमर्थ होके युद्ध परित्याग किया करता है। यदि राजा सावधान होके आगमन करे, तो साव-धान होना चाहिये और यदि वह सेना-के सहित आगमन करे, तो सेना-युक्त होके उसे आवाहन करे। और यदि राजा शठताके सहित युद्ध करे; तो शठता पूर्वक ही उसके साथ युद्ध करे और धर्मयुद्ध करनेपर धर्मयुद्धके जरिये ही उसे निवारण करे। घुडसवार होके रथीके निकट न जावे; रथपर चढके ही रथीके समीप जावे और व्यसनसे आर्त्त, डरे हुए और पराजित पुरुषोंके ऊपर प्रहार न करे। विषमें बुझे हुए बाण असत् पुरुषोंके ही आयुध हुआ करते हैं; कर्णी उन लोगोंका अस्त्र नहीं होता; इससे यथार्थ युद्ध करे, जिघांसु पुरुषके ऊपर क्रोध न करे। प्राणहीन, अनपत्य, जिसका शस्त्र टूट गया हो, विपद्ग्रस्त और वाहन रहित पुरुषोंके ऊपर अस्त्र न

चिकित्स्यः स्यात्स्वविषये प्राप्यो वा स्वगृहे भवेत् ॥१३॥
निर्व्रणश्च स मोक्तव्य एष धर्मः सनातनः ।
तस्माद्धर्मेण योद्धव्यमिति स्वायंभुवोऽब्रवीत् ॥ १४ ॥
सत्सु नित्यः सतां धर्मस्तमास्थाय न नाशयेत् ।
यो वै जयत्यधर्मेण क्षत्रियो धर्मसंगरः ॥ १५ ॥
आत्मानमात्मना हन्ति पापो निकृतिजीवनः ।
कर्म चैतदसाधूनामसाधून्साधुना जयेत् ॥ १६ ॥
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा ।
नाधर्मश्चरितो राजन्सद्यः फलति गौरिव ॥ १७ ॥
मूलानि च प्रशाखाश्च दहन्समधिगच्छति ।
पापेन कर्मणा वित्तं लब्ध्वा पापः प्रहृष्यति ॥ १८ ॥
स वर्धमानः स्तेयेन पापः पापे प्रसज्जति ।
न धर्मोऽस्तीति मन्वानः शुचीनवहसन्निव ॥ १९ ॥

चलावें; बल्कि यदि वे अपने गृह वा अपने राज्यमें उपस्थित हों तो उनकी चिकित्सा करावे । साधुओंके बीच यदि कोई साधु पुरुष भेदके कारण व्यसनमें फंसा हो, तो उसे क्षत न करके मुक्त करना होगा; यही राजाओंका सनातनधर्म है। इस ही कारण स्वयम्भूपुत्र मनुने कहा है, कि साधुओंके साथ धर्मयुद्ध करना ही कर्त्तव्य है । (७-१४)

साधुओंको सनातन धर्म अवलम्बन करना ही उचित है; कभी भी उसे नष्ट न करना चाहिये । जो धर्मसङ्कर क्षत्रिय अधर्म आचरणसे जय लाभ करते हैं, वह शठजीवी, पापी राजा स्वयं नष्ट हुआ करते हैं ! दुष्ट लोग ही ऐसा कर्म करते हैं; परन्तु साधु पुरुष उत्तम व्यवहारोंसे ही साधुओंको जय किया करते हैं; क्यों कि धर्मपूर्वक मरनेसे भी वह कल्याणकारी होता है; परन्तु पाप कर्मके जरिये जय होनेपर भी वह कल्याणकारी नहीं होता । हे राजन् ! अधर्म आचरण करना उचित नहीं है; क्यों कि वह वज्र गिरनेकी भांति उसही समय फल प्रदान करता है, परन्तु वह फल शाखा और मूल पर्यन्त सब भस्म करके लोगोंके हस्तगत होता है । पापी पुरुष पाप कर्मोंसे अर्थ प्राप्त करके अत्यन्त तृप्त होता है । और उससे वर्द्धित होकर उस पाप कर्ममें ही आसक्त रहता है । जो पापी पवित्र पुरुषोंका उपहास करते हुए धर्मकी अविद्यमानता बोध करता है, वह धर्मविषयमें श्रद्धाहीन

अश्रद्दधानश्च भवेद्विनाशमुपगच्छति ।
संबद्धो वारुणैः पाशैरमर्त्य इव मन्यते ॥ २० ॥
महादृतिरिवाध्मातः सुकृतेनैव वर्तते ।
ततः समूलो ह्रियते नदीकूलादिव द्रुमः ॥ २१ ॥
अथैनमभिनिन्दन्ति भिन्नं कुम्भमिवाश्मनि ।
तस्माद्धर्मेण विजयं कोशं लिप्सेत भूमिपः ॥ २२॥ [३५३१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्त्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते पंचनवतितमोऽध्यायः ॥ ९५ ॥

भीष्म उवाच— नाधर्मेण महीं जेतुं लिप्सेत जगतीपतिः ।
अधर्मविजयं लब्ध्वा कोऽनुमन्येत भूमिपः ॥ १ ॥
अधर्मयुक्तो विजयो ह्यध्रुवोऽस्वर्ग्य एव च ।
सादयत्येष राजानं महीं च भरतर्षभ ॥ २ ॥
विशीर्णकवचं चैव तवास्मीति च वादिनम् ।
कृताञ्जलिं न्यस्तशस्त्रं गृहीत्वा न विहिंसयेत् ॥ ३ ॥
बलेन विजितो यश्च न तं युध्येत भूमिपः ।

मनुष्य विनष्ट हुआ करता है; और स्वयं वरुण पाशमें बन्धके अपनेको अमरकी भांति समझता है; वायुसे परिपूरित बडे चमडेकी भांति सत्कर्मसे निवृत्त रहता है; और अन्तमें नदीके किनारे रहनेवाले वृक्षकी भांति जड सहित नष्ट होता है, अनन्तर उस पापी के मरनेपर लोग उसे पत्थरसे फूटे हुए घडेकी भांति अभिनन्दन किया करते हैं, इससे राजा धर्मके जरिये विजय और कोष प्राप्त करनेकी अभिलाषा करे। (१५-२२) [३५३१]

शान्तिपर्वमें पचानवे अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें छानवे अध्याय ।

भीष्म बोले, राजा अधर्मके अनुसार जयकी इच्छा न करे; क्यों कि कोई भूपति भी अधर्मके अनुसार विजय लाभ करनेमें सम्मत नहीं हैं। हे भरतश्रेष्ठ ! अधर्मयुक्त विजय अनित्य है; उससे स्वर्ग प्राप्त नहीं होता; बल्कि वैसी विजय पृथ्वी और भूपति दोनोंको ही नष्ट किया करती है । इससे जो पुरुष युद्धमें कवचरहित होकर हाथ जोडके मैं आपकी शरणमें हूं ऐसा वचन कहके शस्त्र परित्याग करे राजा वैसे मनुष्यका वध न करे। जो पुरुष बलसे जीता जावे, राजा उसके साथ युद्ध न करके एकवर्ष पर्यन्त "मैं आपका दास

संवत्सरं विप्रणयेत्तस्माज्जातः पुनर्भवेत् ॥ ४ ॥
नार्वाक्संवत्सरात्कन्या प्रष्टव्या विक्रमाहृता।
एवमेव धनं सर्वं यच्चान्यत्सहसाऽऽहृतं ॥ ५ ॥
न तु वध्यधनं तिष्ठेत्पिबेयुर्ब्राह्मणाः पयः।
युञ्जीरन्नप्यनडुहः क्षन्तव्यं वा तदा भवेत् ॥ ६ ॥
राज्ञा राजेव योद्धव्यस्तथा धर्मो विधीयते।
नान्यो राजानमभ्यस्येदराजन्यः कथञ्चन ॥ ७ ॥
अनीकयोः संहतयोर्यदीयाद्ब्राह्मणोन्तरा।
शान्तिमिच्छन्नुभयतो न योद्धव्यं तदा भवेत् ॥ ८ ॥
मर्यादां शाश्वतीं भिन्द्याद्ब्राह्मणं योऽभिलंघयेत्।
अथ चेल्लंघयेदेव मर्यादां क्षत्रियब्रुवः ॥ ९ ॥
असंख्येयस्तदूर्ध्वं स्यादनादेयश्च संसदि।

हुआ" उसे ऐसी ही शिक्षा दे। सम्वत् बीतनेसे उस भांति शिक्षित होनेपर पुत्रके समान उसका पालन करना होगा। जो कन्या बलपूर्वक हरण की जावे; राजा उससे कहे कि तुम मुझे वा दूसरेको वरण करोगी? सम्वत् भरके बीच ऐसाही पूंछे। अनन्तर यदि वह कन्या दूसरेकी अभिलाषिनी हो, तो उसे परित्याग करना होगा; और ऐसे ही छलसे दास दासी आदि जो कुछ धन हरके लाया गया होवे, उसे भी फिर लौटाना होगा। (१-५)

वध्य अर्थात् तस्कर आदि दुष्टोंका जो धन हरण किया जाता है, वह स्थायी नहीं होता; इससे उसे व्यय करना चाहिये और उनकी सब गौवें ब्राह्मणोंको दूध पीनेके वास्ते दी जावें, बैल बोझा ढोनेके वास्ते नियुक्त होवें; परन्तु वे लोग यदि शरणागत हों, तो उनके विषयमें क्षमा करनी होगी। राजा राजाके साथ ही युद्ध करे, उससे धर्म होता है; इससे दूसरे क्षत्रिय पुरुष राजाके सम्मुख होकर कभी शस्त्र न चलावें। दोनों ओरकी सेना इकट्ठी होनेपर यदि ब्राह्मण उसके मध्यवर्त्ती हो, तो उस समय दोनों ओरकी सेना शान्ति अवलम्बन करके युद्धसे निवृत्त होवें। जो ब्राह्मणको उल्लङ्घन करते हैं, वे सदा मर्यादा-भेद किया करते हैं। अधिक कहांतक कहें, जो लोग इस मर्यादाको अतिक्रम करते हैं। वेही अधम क्षत्रियोंमें गिने जाते हैं, जो क्षत्रिय धर्मको लुप्त और मर्यादाको भेद करता है, वह पुरुष क्षत्रियसभामें अग्राह्य

यस्तु धर्मविलोपेन मर्यादा भेदनेन च ॥ १० ॥
तां वृत्तिं नानुवर्तेत विजिगीषुर्महीपतिः ।
धर्मलब्धाद्धि विजयाल्लाभः कोऽभ्यधिको भवेत् ॥ ११ ॥
सहसाऽनार्यभूतानि क्षिप्रमेव प्रसादयेत् ।
सान्त्वेन भोगदानेन स राज्ञां परमो नयः ॥ १२ ॥
भुज्यमाना ह्ययोगेन स्वराष्ट्रादभितापिताः ।
अमित्रास्तमुपासीरन्व्यसनौघप्रतीक्षिणः ॥ १३ ॥
अमित्रोपग्रहं चास्य ते कुर्युः क्षिप्रमापदि ।
सन्तुष्टाः सर्वतो राजन् जराव्यसनकांक्षिणः ॥ १४ ॥
नामित्रो विनिकर्तव्यो नातिच्छेद्यः कथञ्चन ।
जीवितं ह्यप्यतिच्छिन्नः सन्त्यजेच्च कदाचन ॥ १५ ॥
अल्पेनापि च संयुक्तस्तुष्यत्येव नराधिपः ।
शुद्धं जीवितमेवापि तादृशो बहु मन्यते ॥ १६ ॥
यस्य स्फीतो जनपदः संपन्नः प्रियराजकः ।
संतुष्टभृत्यसचिवो दृढमूलः स पार्थिवः ॥ १७ ॥

होता तथा क्षत्रिययोंके बीच नहीं गिना जाता। (९-१०)

विजयकी इच्छा करनेवाला राजा कभी उस वृत्तिका अनुवर्त्ती न होवे, क्यों कि धर्मसे प्राप्त हुई विजयसे बढके क्या कोई अधिक लाभ होसक्ता है। सहसा नीचस्वभाववाले प्राणियोंको शीघ्र शान्तवाद और भोगदानसे प्रसन्न करना ही राजाओंकी परम नीति है; क्यों कि वे सब कठोर वचन कहके बलपूर्वक वशमें किये जानेपर अत्यन्त ही दुखित होके राजासे सब व्यसनोंकी परीक्षा करते हुए अपने राष्ट्रसे भागकर सब भांतिसे शत्रुओंकी उपासना किया करते हैं। हे राजन्! वे लोग असन्तुष्ट होनेपर सब प्रकारसे राजाके व्यसनके अभिलाषी होकर आपदकालमें राजाके शत्रुओंकी अनुकूलता करते हैं; इससे राजा किसी प्रकार भी शत्रुओंको छलसे न ठगे तथा उन्हें अत्यन्त क्रुद्ध न करे। क्यों कि वे लोग चाहे कितने ही उत्सुक क्यों होवें; उससे उनका जीवन नष्ट नहीं होता; इस ही कारण राजा थोडेमें ही सन्तुष्ट होकर पवित्र जीवनका ही अत्यन्त मान करे। (११-१६)

जिसका जनपद उन्नत, सम्पत्तियुक्त, राजप्रिय और सन्तुष्ट सेवक तथा मन्त्रीयुक्त होता है, वह राजा ही दृढ-

ऋत्विक्पुरोहिताचार्या ये चान्ये श्रुतसत्तमाः ।
पूजार्हाः पूजिता यस्य स वै लोकविदुच्यते ॥ १८ ॥
एतेनैव च वृत्तेन महीं प्राप सुरोत्तमः ।
अनेन चेन्द्रविषयं विजिगीषन्ति पार्थिवाः ॥ १९ ॥
भूमिवर्जं धनं राजा जित्वा राजन्महाहवे ।
अपि चान्नौषधीः शश्वदाजहार प्रतर्दनः ॥ २० ॥
अग्निहोत्राग्निशेषं च हविर्भोजनमेव च ।
आजहार दिवोदासस्ततो विप्रकृतोऽभवत् ॥ २१ ॥
सराजकानि राष्ट्राणि नाभागो दक्षिणां ददौ ।
अन्यत्र श्रोत्रियस्वाच्च तापसार्थाच्च भारत ॥ २२ ॥
उच्चावचानि वित्तानि धर्मज्ञानां युधिष्ठिर ।
आसन्राज्ञां पुराणानां सर्वं तन्मम रोचते ॥ २३ ॥
सर्वविद्यातिरेकेण जयमिच्छेन्महीपतिः ।
न मायया न दम्भेन य इच्छेद्भूतिमात्मनः ॥२४॥ [३५५५]

इति श्रीमहा०शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते षण्णवतितमोऽध्यायः ९६

मूल हुआ करता है। जो ऋत्विक पुरोहित, आचार्य और दूसरे पूजनीय श्रुतिसम्मत ब्राह्मणोंकी पूजा तथा उचित समान किया करते हैं, वे जगत्में लोकवित कहके विख्यात होते हैं। महाराज ! सुरपति इन्द्रने ऐसे ही व्यवहारोंसे पृथ्वीमण्डल प्राप्त किया है; इससे राजा लोग इन्हीं व्यवहारोंके अनुसार इन्द्रके विषयको जय करनेकी इच्छा करते हैं। हे राजन् ! राजा प्रतर्दनने महायुद्धमें प्रजा समूहके भूमिके अतिरिक्त समस्त धन तथा अन्न और औषधियोंको भी हरण किया था; और राजा दिवोदासने अग्निहोत्रके अग्निसे बची हुई हवि तथा भोजनीय सिद्धान्न हरण किया था; उस ही कारण वे लोग निन्दित हुए। हे भारत ! राजा नाभागने श्रोत्रियार्थ और तापसार्थके अतिरिक्त दूसरे स्थानोंका सराजक राज्य दान किया था। हे युधिष्ठिर ! धर्म जाननेवाले प्राचीन राजाओंमें जो सब उत्तम व्यवहार विद्यमान थे, वे सब मेरे अभिलषित हुए हैं। राजा दूसरी सब भांतिकी विद्याके जरिये विजयकी इच्छा करे; परन्तु माया और दंभके जरिये अपने ऐश्वर्यकी अभिलाषा न करे। (१७-२४) [३५५५]

शान्तिपर्वमें छानवे अध्याय समाप्त ।

युधिष्ठिर उवाच—क्षत्रधर्माद्धि पापीयान्न धर्मोऽस्ति नराधिप।
अपयानेन युद्धेन राजा हन्ति महाजनम् ॥ १ ॥
अथ स्म कर्मणा केन लोकान् जयति पार्थिवः।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— निग्रहेण च पापानां साधूनां संग्रहेण च।
यज्ञैर्दानैश्च राजानो भवन्ति शुचयोऽमलाः ॥ ३ ॥
उपरुन्धन्ति राजानो भूतानि विजयार्थिनः।
त एव विजयं प्राप्य वर्धयन्ति पुनः प्रजाः ॥ ४ ॥
अपविध्यन्ति पापानि दानयज्ञतपोबलैः।
अनुग्रहाय भूतानां पुण्यमेषां विवर्धते ॥ ५ ॥
यथैव क्षेत्रनिर्याता निर्यातं क्षेत्रमेव च।
हिनस्ति धान्यं कक्षं च न च धान्यं विनश्यति ॥ ६ ॥
एवं शस्त्राणि मुञ्चन्तो घ्नन्ति वध्याननेकधा।
तस्यैषा निष्कृतिः कृत्स्ना भूतानां भावनं पुनः॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें सतानव्वे अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे नरनाथ! क्षत्रधर्मसे बढके पापयुक्त धर्म दूसरा नहीं है; क्यों कि राजा युद्धमें पराजित होकर स्वयं भागते हुए सेनामें स्थित निर्दोषी महाजन वैश्योंको कालके ग्रासमें डालते हैं। हे विद्वन्! इससे राजा किन कर्मोंसे सब लोकोंको जय करे? इसे मैं जाननेकी इच्छा करता हूं; इसे आप मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये। (१-२)

भीष्म बोले, राजा लोग पापियोंके निग्रह, साधुओंके संग्रह, यज्ञ और दानसे ही पवित्र हुआ करते हैं। जो राजा विजयकी इच्छासे प्राणियोंको पीडित करते हैं; वेही फिर विजय प्राप्त करके प्रजा समूहको वर्द्धित किया करते हैं। वे दान, यज्ञ और तपोबलसे बुराइयोंको दूर करते और प्राणियोंके ऊपर कृपा करते हैं; इस ही कारण उनका पुण्य विशेष रूपसे वर्णित हुआ करता है। जैसे क्षेत्रको परिष्कार करनेवाला कृषक खेतको साफ करनेके वास्ते तृण और धान्य दोनोंको काटता है, उससे धान्य नष्ट नहीं होता; बल्कि उसके खेत सब भांतिसे साफ होनेसे फिर उसमें धान्यकी अत्यन्त वृद्धि होती है। इसी भांति जो राजा तस्कर आदि वध्य पुरुषोंका वध करते हैं; उन तस्करोंके नष्ट होनेसे उनके प्रजाकी बार बार वृद्धि हुआ करती है। (३-७)

यो भूतानि धनाक्रान्त्या वधात्क्लेशाच्च रक्षति ।
दस्युभ्यः प्राणदानात्स धनदः सुखदो विराट् ॥ ८ ॥
स सर्वयज्ञैरीजानो राजाऽथाभयदक्षिणैः ।
अनुभूयेह भद्राणि प्राप्नोतीन्द्रसलोकताम् ॥ ९ ॥
ब्राह्मणार्थे समुत्पन्ने योऽरिभिः सृत्य युध्यति ।
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनंतदक्षिणः ॥ १० ॥
अभीतो विकिरन् शत्रून्प्रतिगृह्य शरांस्तथा ।
न तस्मात्त्रिदशाः श्रेयो भुवि पश्यन्ति किञ्चन ॥११॥
तस्य शस्त्राणि यावन्ति त्वचं भिन्दन्ति संयुगे ।
तावतः सोऽश्नुते लोकान्सर्वकामदुहोऽक्षयान् ॥१२॥
यदस्य रुधिरं गात्रादाहवे संप्रवर्तते ।
सह तेनैव पापेन सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १३ ॥
यानि दुःखानि सहते क्षत्रियो युधि तापितः ।
तेन तेन तपो भूय इति धर्मविदो विदुः ॥ १४ ॥

जब डाकू लोग प्रजाके धनको रहते और प्राण वध करते हुए उन्हें अनेक प्रकारके क्लेश देते हैं, उस समयमें जो राजा डाकुओंके दलसे उन प्रजापुञ्जकी रक्षा करता है; वैसा राजा ही प्रजा समूहका धनदाता और सुखदाता होके विराज मान होता है। अनन्तर वह अभय दक्षिणा-युक्त यज्ञ करके इस लोकमें अनेक भांतिके सुखको भोगता हुआ इन्द्र लोकके समान स्थानको प्राप्त करता है। शत्रु लोग ब्राह्मण वधके वास्ते उद्यत हुए हों, तो उस समय जो राजा युद्ध यज्ञमें गमन करके यूप-स्वरूप निज शरीरको त्यागता है, वह अनन्त दक्षिणायुक्त यज्ञ रूपसे वर्णित होता है। और वह युद्धमें भयरहित होके शत्रुओंके ऊपर बाण चलावै, तो देवता लोग उससे बढके पृथ्वीपर कुछ भी कल्याण नहीं देखते। युद्धभूमिमें जितने बाण उसके देहके चमडेको बेधते हैं, उतने ही परिमाणसे वह सर्वकामप्रद और अक्षय लोकोंको इच्छानुसार भोगता रहता है; और युद्धमें उसके शरीरसे जो रुधिर बाहर होता है, उस रुधिर बहनेसे वह दुःखके जरिये सब पापोंसे मुक्त होता है। (८-१३)

धर्म जाननेवाले पुरुष ऐसा कहा करते हैं, कि जो क्षत्रिय बाणोंकी चोट से पीडित होकर जिन दुःखोंको सहते हैं, उस ही दुःख भोगके जरिये उनकी

पृष्ठतो भीरवः संख्ये वर्तन्ते धर्मपूरुषाः।
शूराच्छरणमिच्छन्तः पर्जन्यादिव जीवनम् ॥ १५ ॥
यदि शूरस्तथा क्षेमं प्रतिरक्षेद्यथाऽभये।
प्रतिरूपं जनं कुर्यान्न चेत्तद्वर्तते तथा ॥ १६ ॥
यदि ते कृतमाज्ञाय नमस्कुर्युः सदैव तम्।
युक्तं न्याय्यं च कुर्युस्ते न च तद्वर्तते तथा ॥ १७ ॥
पुरुषाणां समानानां दृश्यते महदन्तरम्।
संग्रामेऽनीकवेलायामुत्क्रुष्टेऽभिपतन्त्युत ॥ १८ ॥
पतत्यभिमुखः शूरः परान्भीरुः पलायते।
आस्थाय स्वर्ग्यमध्वानं सहायान्विषमे त्यजेत् ॥ १९॥
मा स्म तांस्तादृशांस्तात जनिष्ठाः पुरुषाधमान्।
ये सहायान् रणे हित्वा स्वस्तिमन्तो गृहान्ययुः ॥२०॥
अस्वस्ति तेभ्यः कुर्वन्ति देवा इन्द्रपुरोगमाः।
त्यागेन यः सहायानां स्वान्प्राणांस्त्रातुमिच्छति॥२१॥

महत् तपस्या हुआ करती है। जैसे प्राणी बादलोंसे जलकी इच्छा करते हैं। वैसे ही भयशील सब धर्मात्मा पुरुष भी युद्धमें शूर पुरुषोंके पीछे रहके निज शरीर रक्षाकी अभिलाषा करते हैं। यदि शूर पुरुष क्षेमकालकी भांति भयके समय पिछाडी स्थित उन भयभीत मनुष्योंकी रक्षा करके उन लोगोंको किसी प्रकार युद्धकी ओर नहीं होने देते, तो ऐसा होनेसे उन लोगोंका वह पुण्य विद्यमान रहता है। हे राजन्! युद्धमें समान बलवाले पुरुषोंमें भी महत् अन्तर देखा जाता है, क्यों कि समस्त सेनाके इकट्ठी होनेपर जो पुरुष प्रचण्ड हो जाता है, उसके सम्मुख कोई भी गमन करनेमें समर्थ नहीं होता। (१४-१८)

उस भयङ्कर युद्धमें शूर पुरुष ही स्वर्ग प्राप्तिके मार्गको अवलम्बन कर शत्रुओंके सम्मुख होकर निज शरीर त्याग करते हैं; परन्तु भीरु मनुष्य उस समय सहायको त्यागके भाग जाते हैं। यदि भीरु मनुष्य युद्धमें शूर पुरुषोंसे रक्षित होके उन्हें नमस्कार करें, तो उनका न्याय कार्य करना सिद्ध होता है; नहीं तो उन लोगोंको वह भय विद्यमान रहता है। हे तात! जो लोग सहायकोंको त्यागके अपने मङ्गलकी अभिलाष करके घरकी ओर भाग जाते हैं, तुम वैसे अधम पुरुषोंका संग्रह मत करो। जो सहायोंको परित्याग करके

तं हन्युः काष्ठलोष्ठैर्वा दहेयुर्वा कटाग्निना ।
पशुवन्मारयेयुर्वा क्षत्रिया ये स्युरीदृशाः ॥ २२ ॥
अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छय्यामरणं भवेत् ।
विसृजन् श्लेष्ममूत्राणि कृपणं परिदेवयन् ॥ २३ ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं योऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्म प्रशंसन्ति पुराविदः ॥ २४ ॥
न गृहे मरणं तात क्षत्रियाणां प्रशस्यते ।
शौटीराणामशौटीर्यमधर्मकृपणं च तत् ॥ २५ ॥
इदं दुःखं महत्कष्टं पापीय इति निष्टनन् ।
प्रतिध्वस्तमुखः पूतिरमात्याननुशोचयन् ॥ २६ ॥
अरोगाणां स्पृहयते मुहुर्मृत्युमपीच्छति ।
वीरो दृप्तोऽभिमानी च नेदृशं मृत्युमर्हति ॥ २७ ॥
रणेषु कदनं कृत्वा ज्ञातिभिः परिवारितः ।
तीक्ष्णैः शस्त्रैरभिक्लिष्टः क्षत्रियो मृत्युमर्हति ॥ २८ ॥

निज प्राण रक्षाकी अभिलाष करते हैं, इन्द्र आदि देवतालोग उसका कल्याण नहीं करते । इससे शूरवीर क्षत्रिय पुरुष वैसे मनुष्योंको काष्ठ वा ढेलोंसे नष्ट करें अथवा कटाग्निसे जला देवें; वा पशु मारनेकी भांति मार डालें ।(१९-२२)

शूरवीर क्षत्रियोंको श्लेष्म और मूत्र परित्याग कर रोदन करते हुए शय्यापर मरनेसे उन्हें अधर्म होता है । जो क्षत्रिय घाव रहित शरीरसे मृत्युको प्राप्त होता है, शास्त्र जाननेवाले पण्डित लोग उसके वैसे कार्यकी प्रशंसा नहीं करते । हे तात ! इससे क्षत्रियोंको घरमें मरना श्रेष्ठ नहीं है; क्यों कि शूरताभिमानी पुरुषोंका शूरत्व नष्ट होनेपर वह अत्यन्त अधर्म युक्त और निन्दनीय हुआ करता है । और मुझे यह दुःख हुआ है, मैं बहुत कष्ट पाता हूं, तथा मैं पापी हूं, ऐसा वचन लोगोंके समीप प्रकाशित करते हुए मुख मलिन बनाकर और कीर्त्तिरहित होकर पुत्र, सेवक आदिमें शोचनीय हुआ करता है । शूरता रहित क्षत्रिय ही रोगसे पीडित होके आरोग्यताकी इच्छा करता है, और आरोग्य न होनेपर बार बार मृत्युकी अभिलाष किया करता है । (२३-२७)

परन्तु बलसे युक्त शूरताभिमानी वीर क्षत्रिय ऐसी मृत्युकी इच्छा नहीं करते, बल्कि वे लोग स्वजनोंसे घिरकर युद्धमें संग्राम करके शाणित शस्त्रोंसे

शूरो हि काममन्युभ्यामाविष्टो युध्यते भृशम् ।
हन्यमानानि गात्राणि परैर्नैवावबुध्यते ॥ २९ ॥
स संख्ये निधनं प्राप्य प्रशस्तं लोकपूजितम् ।
स्वधर्मं विपुलं प्राप्य शक्रस्यैति सलोकताम् ॥ ३० ॥
सर्वोपायै रणमुखमातिष्ठंस्त्यक्तजीवितः ।
प्राप्नोतीन्द्रस्य सालोक्यं शूरः पृष्ठमदर्शयन् ॥ ३१ ॥
यत्र यत्र हतः शूरः शत्रुभिः परिवारितः ।
अक्षयाँल्लभते लोकान्यदि दैन्यं न सेवते ॥ ३२ ॥ [३५८७]

इति श्रीमहा०शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि सप्तनवतितमोऽध्यायः ॥ ९७ ॥

युधिष्ठिर उवाच— के लोका युध्यमानानां शूराणामनिवर्तिनाम् ।
भवन्ति निधनं प्राप्य तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
अम्बरीषस्य संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥
अम्बरीषो हि नाभागिः स्वर्गं गत्वा सुदुर्लभम् ।
ददर्श सुरलोकस्थं शक्रेण सचिवं सह ॥ ३ ॥

घायल होके मृत्युलाभ किया करते हैं, शूर पुरुष काम क्रोधसे युक्त होकर अत्यन्त युद्ध करते हुए शत्रुओंके बाणोंसे शरीर घायल होनेपर भी उसे पीडा नहीं समझते। वे शूर क्षत्रिय युद्धमें निज धर्मसे प्राप्त अनेक लोकोंसे पूजित उत्तम मृत्यु लाभ करके शक्रकी सलोकताको पाते हैं। जो शूर पुरुष प्राणकी आशा छोडके सब तरहके उपायके सहित युद्धमें सम्मुख स्थित होके पीठ नहीं दिखाते अर्थात् भागते नहीं; वे इन्द्रलोकमें वास करते हैं। और जो शूरवीर क्षत्रिय शत्रुओंमें घिरकर दीन भावसे युक्त नहीं होते, वे अक्षय लोक प्राप्त करते हैं। (२८-३२) [३५८७]

शान्तिपर्वमें सतानव्वे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें अठानव्वे अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! संग्राममें पीठ न दिखाके युद्ध करनेवाले शूर क्षत्रिय रणभूमिमें मरके किन लोकोंमें गमन करते हैं, वह मुझसे विशेष करके कहिये। भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! ऐसे स्थलमें पण्डित लोग अम्बरीष और इन्द्रके संवाद युक्त प्राचीन इतिहासको दृष्टान्त रूपसे वर्णन किया करते हैं। (१-२)

नाभागपुत्र उदार बुद्धिवाले अम्बरीष अत्यन्त दुर्लभ स्वर्ग लोकमें जाके देवलोकमें सब तेजोमय विमानोंपर

सर्वतेजोमयं दिव्यं विमानवरमास्थितम्।
उपर्युपरिगच्छन्तं स्वं वै सेनापतीं प्रभुम् ॥ ४ ॥
स दृष्ट्वोपरिगच्छन्तं सेनापतिमुदारधीः।
ऋद्धिं दृष्ट्वा सुदेवस्य विस्मितः प्राह वासवम् ॥ ५ ॥

अंबरीष उवाच- सागरान्तां महीं कृत्स्नामनुशास्य यथाविधि।
चातुर्वर्ण्ये यथाशास्त्रं प्रवृत्तो धर्मकाम्यया ॥ ६ ॥
ब्रह्मचर्येण घोरेण गुर्वाचारेण सेवया।
वेदानधीत्य धर्मेण राजशास्त्रं च केवलम् ॥ ७ ॥
अतिथीनन्नपानेन पितॄंश्च स्वधया तथा।
ऋषीन्स्वाध्यायदीक्षाभिर्देवान्यज्ञैरनुत्तमैः ॥ ८ ॥
क्षत्रधर्मे स्थितो भूत्वा यथाशास्त्रं यथाविधि।
उदीक्षमाणः पृतनां जयामि युधि वासव ॥ ९ ॥
देवराज सुदेवोऽयं मम सेनापतिः पुरा।
आसीद्योधः प्रशान्तात्मा सोऽयं कस्मादतीव माम्॥१०॥
अनेन क्रतुभिर्मुख्यैर्नेष्टं नापि द्विजातयः।
तर्पिता विधिवच्छक्र सोऽयं कस्मादतीव माम्॥ ११ ॥

इन्द्र उवाच— एतस्य विततस्तात सुदेवस्य बभूव ह।
संग्रामयज्ञः सुमहान्यश्चान्यो युद्ध्यते नरः ॥ १२ ॥

स्थित शत्रु-सचिवोंके ऊपरसे जानेवाले अपने सेनापति सुदेवकी समृद्धि देखकर अत्यन्त विस्मित होके इन्द्रसे बोले, हे सुरनाथ! मैं समुद्रके सहित सब पृथ्वीको यथारीति शासित करके धर्मकी अभिलाषासे शास्त्र विधिके अनुसार चातुर्वर्णधर्ममें प्रवृत्त हुआ हूं। कठिन ब्रह्मचर्य और गुरु सेवासे धर्मपूर्वक सब वेद शास्त्रोंको पढा है; खाने पीनेकी वस्तुसे अतिथियों,स्वधा-मन्त्रोंसे पितरों, निज शाखामें वर्णित वेदाध्ययन और दीक्षासे ऋषियों और सब भांतिके उत्तम यज्ञोंसे देवताओंको सन्तुष्ट किया है; और क्षत्रधर्ममें स्थित होकर यथा रीति शास्त्रकी ओर दृष्टि करके शत्रुओंकी सेनाको जय किया है। हे देवराज! यह शान्तात्मा सुदेव पहिले मेरे सेनापति थे; इन्होंने मुख्य दक्षिणा युक्त यज्ञोंको करके ब्राह्मणोंको प्रसन्न नहीं किया था; तब इन्होंने किस प्रकार मुझे अतिक्रम किया? (३-११)

इन्द्र बोले, हे तात! पहिले इस

सन्नद्धो दीक्षितः सर्वो योधः प्राप्य चमूमुखम् ।
युद्धयज्ञाधिकारस्थो भवतीति विनिश्चयः ॥ १३ ॥

अम्बरीष उवाच— कानि यज्ञे हवींष्यस्मिन्किमाज्यं का च दक्षिणा ।
ऋत्विजश्चात्र के प्रोक्तास्तन्मे ब्रूहि शतक्रतो ॥ १४ ॥

इन्द्र उवाच— ऋत्विजः कुञ्जरास्तत्र वाजिनोऽध्वर्यवस्तथा ।
हवींषि परमांसानि रुधिरं त्वाज्यमुच्यते ॥ १५ ॥
शृगालगृध्रकाकोलाः सदस्यास्तत्र पत्रिणः ।
आज्यशेषं पिबन्त्येते हविः प्राश्नन्ति चाध्वरे ॥ १६ ॥
प्रासतोमरसङ्घाताः खड्गशक्तिपरश्वधाः ।
ज्वलन्तो निशिताः पीताः स्रुचस्तस्याथ सत्रिणः ॥ १७ ॥
चापवेगायतस्तीक्ष्णः परकायावभेदनः ।
ऋजुः सुनिशितः पीतः सायकश्च स्रुवो महान् ॥ १८ ॥
द्वीपिचर्मावनद्धश्च नागदन्तकृतत्सरुः ।
हस्तिहस्तधरः खड्गः स्फिग्भवेत्तस्य संयुगे ॥ १९ ॥

सुदेवने बहुतसे बडे बडे संग्राम यज्ञका विस्तार किया था; अब भी जो क्षत्रिय युद्ध करते हैं, उनका भी यह युद्धयज्ञ विस्तृत हुआ करता है। ऐसा निश्चय है, कि जो सब योद्धा सेनाके मुखमें प्राप्त होकर सावधान और दीक्षित होते हैं, वे युद्धयज्ञके अधिकारी हुआ करते हैं। (१२—१३)

अम्बरीष बोले, हे इन्द्र ! युद्ध-यज्ञमें हवि क्या है,घृत और दक्षिणा क्या है? और ऋत्विक किसको कहते हैं, वह मुझसे कहिये। (१४)

इन्द्र बोले, उस यज्ञमें हाथी ही सब ऋत्विक, घोडे अध्वर्यु, दूसरेका मांस ही हवि और रुधिर घृतरूपसे वर्णित हुआ है। सियार गिद्ध ही काकोल और पक्षी ही इस यज्ञके सदस्य हैं; वेही यज्ञमें घृतशेष और हविभोजन किया करते हैं। जलते हुए तेजधारवाले उत्तम पानी चढे हुए चोखे प्रास, तोमर, तलवार, शक्ति और फरसे येही सब यज्ञ करनेवालेके स्रुवा हैं। वेगपूर्वक धनुषसे खींचे हुए दूसरेके शरीरको वेधनेवाले तीक्ष्ण बाण ही ऋजु, उत्तम पानी चढे हुए चोखे और बडे बाण ही उसके स्रुवा हैं, बाघके चमडेसे युक्त मियान और हाथी दांतके मूंठसे बने हुए हाथियोंके शरीरको विदारनेवाले खड्ग ही इस युद्धयज्ञमें रेखा खींचनेवाले खड्गाकार काष्ट हैं। (१५–१९)

ज्वालितैर्निशितैः प्रासशक्त्यृष्टिसपरश्वधैः।
शैक्याय समयैस्तीक्ष्णैरभिघातो भवेद्वसु ॥ २० ॥
संख्यासमयविस्तीर्णमभिजातोद्भवं बहु।
आवेगाद्यच्च रुधिरं संग्रामे स्रवते भुवि ॥ २१ ॥
साऽस्य पूर्णाहुतिर्होमे समृद्धा सर्वकामधुक्।
छिन्धि भिन्धीति यः शब्दः श्रूयते वाहिनीमुखे॥२२॥
सामानि सामगास्तस्य गायन्ति यमसादने।
हविर्धानं तु तस्याहुः परेषां वाहिनीमुखम् ॥ २३ ॥
कुञ्जराणां हयानां च वर्मिणां च समुच्चयः।
अग्निः श्येनचितो नाम स च यज्ञे विधीयते ॥ २४ ॥
उत्तिष्ठते कवन्धोऽत्र सहस्रे निहते तु यः।
स यूपस्तस्य शूरस्य खादिरोऽष्टाश्रिरुच्यते ॥ २५ ॥
इडोपहूताः क्रोशन्ति कुञ्जरास्त्वङ्कुशेरिताः।
व्याघुष्टतलनादेन वषट्कारेण पार्थिव ॥ २६ ॥
उद्गाता तत्र संग्रामे त्रिसामा दुन्दुभिर्नृप।

शस्त्र छूटनेके समय अत्यन्त चोखे जलते और उत्तम पानी चढे हुए प्रास, शक्ति, ऋष्टि और फरसोंका शब्द ही उस यज्ञकी संख्या और युद्धके जरिये विस्तीर्ण पुरुषोंसे उत्पन्न हुई बहुत सी वस्तु अर्थात् युद्धकी हवि हुआ करती है। संग्राम करते समय शस्त्रोंके लगनेपर शरीरसे पृथ्वीपर जो रुधिर गिरता है, वह होमकार्यमें उस यज्ञ करनेवालेकी सर्वकामप्रद; समृद्धियुक्त पूर्णाहुति हुआ करती है। काटो! वेध करो, ऐसे जो सब शब्द सेनाके बीच सुनाई देते हैं, यज्ञके सामगान करनेवाले यमलोकमें उसे साम रूपसे गाथा करते हैं। उस यज्ञमें शत्रुओंके सेना मुख, हवि स्थापन करनेके पात्र और हाथी घोडे आदि श्येनाचित् नाम अग्नि कहके वर्णित होते हैं। (२०-२४)

उस युद्धयज्ञमें सहस्र सेनाके मरनेपर जो सब कबन्ध उठते हैं, वेही कबन्ध यज्ञ करनेवाले शूरके खदिरसे बने हुए आठ कोनेसे युक्त यूपरूपसे कहे जाते हैं। हे राजन्! हाथियोंके समूहको अंकुश देनेपर जो शब्द होता है, वही उस यज्ञके इडोपहूत मन्त्र और वषट्कार रूपी होता है। तलत्राण और नगाडेके शब्द ही उस यज्ञमें त्रिसामा नाम उद्गाता हुआ करते हैं। हे राजन् युद्धमें ब्रह्मस्व हरण होने-

ब्रह्मस्वे ह्रियमाणे तु त्यक्त्वा युद्धे प्रियां तनुम् ॥२७॥
आत्मानं यूपमुत्सृज्य स यज्ञोऽनन्तदक्षिणः।
भर्तुरर्थे च यः शूरो विक्रमेद्वाहिनीमुखे ॥ २८ ॥
न भयाद्विनिवर्तेत तस्य लोका यथा मम।
नीलचर्मावृतैः खड्गैर्बाहुभिः परिघोपमैः ॥ २९ ॥
यस्य वेदिरुपस्तीर्णा तस्य लोका यथा मम।
यस्तु नापेक्षते कश्चित्सहायं विजिये स्थितः ॥ ३० ॥
विगाह्य वाहिनीमध्यं तस्य लोका यथा मम।
यस्य शोणितसंघाता भेरीमण्डूककच्छपा ॥ ३१ ॥
वीरास्थिशर्करा दुर्गा मांसशोणितकर्दमा।
असिचर्मप्लवा घोरा केशशैवलशाद्वला ॥ ३२ ॥
अश्वनागरथैश्चैव सञ्छिन्नैः कृतसंक्रमा।
पताकाध्वजवानीरा हतवारणवाहिनी ॥ ३३ ॥
शोणितोदा सुसंपूर्णा दुस्तरा पारगैर्नरैः।
हतनागमहानक्रा परलोकवहा शिवा ॥ ३४ ॥
ऋष्टिखड्गमहानौका गृध्रकङ्कबलप्लवा।
पुरुषादानुचरिता भीरूणां कश्मलावहा ॥ ३५ ॥

पर जो क्षत्रिय प्रिय शरीरकी रक्षाकी आशा त्यागके निज देहको यूप रूपसे छोडते हैं; वह अत्यन्त दक्षिणासे युक्त यज्ञ रूपसे विराजमान होते हैं। जो शूर स्वामीके हितके लिये सेनाके सम्मुख पराक्रम प्रकाशित करके भयके कारण युद्धसे निवृत्त नहीं होते, वे मेरे स्थानके समान स्थानमें वास किया करते हैं। जिसकी वेदी अर्थात् युद्ध यज्ञकी भूमि, काले चमडोंसे युक्त तलवार और परिघ समान भुजाओंसे परिपूरित होती है, वे मेरे तुल्य स्थानमें निवास करते हैं। (२५-३०)

जिसके संग्राममें लोहू नदीके प्रवाह स्वरूप, भेरी मेढक और कछुवे, वीरोंकी हड्डियां कङ्कड समान, मांसयुक्त रुधिर ही कीचड, तलवारके चमडे, प्लव, केश सिवार, कटे हुए रथ, हाथी और घोडे पुल, पताका ध्वजा, वेतसवृक्ष समान मरे हुए हाथी ग्राह, रुधिर ही जल, मरे हुए कुञ्जर महाग्राह, ऋष्टि और तलवार महानौका, गृद्ध कङ्क, प्लवस्वरूप हैं और वह नदी पार जानेवाले पुरुषोंसे दुःखसे तरने योग्य हैं,

नदी योधस्य संग्रामे तदस्यावभृथं स्मृतम् ।
वेदिर्यस्य त्वमित्राणां शिरोभ्यश्च प्रकीर्यते ॥ ३६ ॥
अश्वस्कन्धैर्गजस्कन्धैस्तस्य लोका यथा मम ।
पत्नीशाला कृता यस्य परेषां वाहिनीमुखम् ॥ ३७ ॥
हविर्धानं स्ववाहिन्यास्तदस्याहुर्मनीषिणः ।
सदस्या दक्षिणा योधा आग्नीध्रश्चोत्तरां दिशम् ॥३८॥
शत्रुसेना कलत्रस्य सर्वलोकानदूरतः ।
यदा तूभयतो व्यूहे भवत्याकाशमग्रतः ॥ ३९ ॥
साऽस्य वेदिस्तदा यज्ञैर्नित्यं वेदास्त्रयोऽग्नयः ।
यस्तु योधः परावृत्तः संत्रस्तो हन्यते परैः ॥ ४० ॥
अप्रतिष्ठः स नरकं याति नास्त्यत्र संशयः ।
यस्य शोणितवेगेन वेदिः स्यात्संपरिप्लुता ॥ ४१ ॥
केशमांसास्थिसंपूर्णा स गच्छेत्परमां गतिम् ।
यस्तु सेनापतिं हत्वा तद्यानमधिरोहति ॥ ४२ ॥
स विष्णुविक्रमकामी बृहस्पतिसमः प्रभुः ।

राक्षस समूहोंसे युक्त और भीरुओंको पापसागरमें बहाने वाली है।(२०-३५)

वह नदी उस संग्राम यज्ञका अवभृत-स्थान हुआ करता है। जिसके युद्धयज्ञमें भूमि शत्रुओंके सिर, घोडे और हाथियोंके गर्दनोंसे परिपूरित होती है, वह मेरे तुल्य स्थानमें निवास किया करते हैं। पण्डित लोग ऐसा कहा करते हैं, कि जिसके शत्रु सेनामुख पत्नीशाला, निज सेना मुख हवि स्थापनका पात्र, दक्षिण ओर स्थित सब योद्धा सदस्य और उत्तर ओर स्थित सब लोग आग्नीध्र ऋत्विक होते हैं, उस शत्रुसेना रूपी भार्यासे युक्त यज्ञ करनेवाले पुरुषके लिये इन्द्रलोक आदि सब लोक निकटमें ही विद्यमान रहते हैं। व्यूहबद्ध दोनों सेनाके सम्मुखवर्त्ती शून्य प्रदेश ही युद्ध यज्ञ करनेवालेकी वेदी होती है; उसमें यजमान ऋक् यजु और साम इन तीनों वेदोंको अग्निरूप कल्पना करके नित्ययज्ञके जरिये यज्ञ किया करते हैं। परन्तु जो शूर शत्रुओंसे पीडित हो भयके कारण भागता है, वह शूर पुरुष प्रतिष्ठारहित होकर नरकमें गमन करता है। जिनकी वेदी रुधिरके वेगसे युक्त और केश, मांस तथा हड्डियोंसे परिपूरित होती है, वे लोग परम गतिको प्राप्त होते हैं। जो शूर पुरुष

नायकं तत्कुमारं वा यो वा स्यात्तत्र पूजितः ॥ ४३ ॥
जीवग्राहं प्रगृह्णाति तस्य लोका यथा मम ।
आहवे तु हतं शूरं न शोचेत कथञ्चन ॥ ४४ ॥
अशोच्यो हि हतः शूरः स्वर्गलोके महीयते ।
न ह्यन्नं नोदकं तस्य न स्नानं नाप्यशौचकम् ॥ ४५ ॥
हतस्य कर्तुमिच्छन्ति तस्य लोकान्शृणुष्व मे ।
वराप्सरःसहस्राणि शूरमायोधने हतम् ॥ ४६ ॥
त्वरमाणाभिधावन्ति मम भर्ता भवेदिति ।
एतत्तपश्च पुण्यं च धर्मश्चैव सनातनः ॥ ४७ ॥
चत्वारश्चाश्रमास्तस्य यो युद्धमनुपालयेत् ।
वृद्धबालौ न हन्तव्यौ न च स्त्री नैव पृष्ठतः ॥ ४८ ॥
तृणपूर्णमुखश्चैव तवास्मीति च यो वदेत् ।
जम्भं वृत्रं बलं पाकं शतमायं विरोचनम् ॥ ४९ ॥

शत्रुके सेनापतिका वध करते उसकी सवारीपर चढते हैं, बृहस्पतिके समान बुद्धिमान और विष्णुके समान पराक्रमशाली वे शूर पुरुष सबके स्वामी हुआ करते हैं। जो युद्धमें सेनापति वा उसके पुत्रको सामान्य जीवकी भांति ग्रहण करके वहांपर सत्कार युक्त होते हैं, वे मेरे तुल्य स्थानमें निवास किया करते हैं। शूर पुरुषोंके युद्धमें मरनेपर उनके वास्ते कभी शोक न करे; क्यों कि युद्धमें मरनेपर शूर पुरुष अशोचनीय होकर स्वर्गलोकमें सम्मानके पात्र हुआ करते हैं। (३६-४५)

युद्धमें मरे हुए पुरुषोंके वास्ते पिण्डदान, जलदान और अशौच्यकी विधि नहीं है; इससे कोई उनके वास्ते इन सब कर्मोंको करनेकी इच्छा न करे; युद्धमें मरनेपर पुरुष जिन लोकोंको प्राप्त करते हैं, वह मुझसे सुनो। जो पुरुष युद्धमें मरते हैं, सबसे उत्तम अप्सराओंकी एक हजार कन्या "ये हमारे पति होंगे।" ऐसा कहती हुई उनकी ओर शीघ्रताके सहित दौडती हैं। जो शूर युद्ध कर्मको सिद्ध करते हैं, उनके लिये वही तपस्या, पुण्य, सनातन धर्म और चारों आश्रमरूपी हुआ करता है। जो पुरुष संग्रामके समय मुखमें तृण धारण करके "मैं आपका हुआ," ऐसा वचन कहे, उसे और बूढे, बालक, स्त्री तथा पीछे रहनेवाले मनुष्योंका वध न करे। मैं जम्भ, वृत्र, बल, पाक, शतमाय, विरोचन,

दुर्वार्यं चैव नमुचिं नैकमायं च शम्बरम्।
विप्रचित्तिं च दैतेयं दनोः पुत्रांश्च सर्वशः ॥ ५० ॥
प्रह्लादं च निहत्याजौ ततो देवाधिपोऽभवम्।
भीष्म उवाच— इत्येतच्छक्रवचनं निशम्य प्रतिगृह्य च ॥
योधानामात्मनः सिद्धिमम्बरीषोऽभिपन्नवान् ॥५१॥ [३६३८]

इति श्रीमहाभारते शान्तिप० राजध० इन्द्राम्बरीषसंवादे अष्टनवतितमोऽध्यायः ॥९८॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रतर्दनो मैथिलश्च संग्रामं यत्र चक्रतुः ॥ १ ॥
यज्ञोपवीती संग्रामे जनको मैथिलो यथा।
योधानुद्धर्षयामास तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥
जनको मैथिलो राजा महात्मा सर्वतत्त्ववित्।
योधान्स्वान्दर्शयामास स्वर्गं नरकमेव च ॥ ३ ॥
अभीरूणामिमे लोका भास्वन्तो हन्त पश्यत।
पूर्णा गन्धर्वकन्याभिः सर्वकामदुहोऽक्षयाः ॥ ४ ॥
इमे पलायमानानां नरकाः प्रत्युपस्थिताः।
अकीर्तिः शाश्वती चैव पतितव्यमनन्तरम् ॥ ५ ॥

दुर्वार्य, नमुचि, नैकमाय, शम्बर, दैतेय, विप्रचित्ति, सब दनुपुत्रों और प्रह्लादको युद्धमें मारके देवताओंका स्वामी हुआ हूं। भीष्म बोले, योद्धा अम्बरीषने इन्द्रका ऐसा वचन सुनकर उसे ग्रहण करके निज सिद्धि लाभ की थी। (४३—५१) [३६३८]

शान्तिपर्वमें अठानवे अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें निन्यानवे अध्याय।

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! राजा प्रतर्दन और मिथिलापति जनक इन दोनोंने जिस कारणसे युद्ध किया था, शूर पुरुषोंके उत्साह विषयमें पण्डित लोग उस प्राचीन इतिहासको दृष्टान्तरूपसे वर्णन किया करते हैं। हे राजन्! संग्रामयज्ञमें दीक्षित मिथिलापति जनकने निज योद्धाओंको स्वर्ग और नरक दिखाते हुए उन लोगोंसे कहा था, हे योद्धा लोगो! तुम लोग युद्धमें भय रहित शूरपुरुषोंके इस प्रकाशमान लोकको देखो; यह स्थान गन्धर्वोंकी कन्याओंसे घिरा हुआ सब कर्म सिद्ध करनेवाला और अक्षय है। और युद्धसे भागनेवाले पुरुषोंके वास्ते यह नरक उपस्थित है; इसमें पतित होनेपर सदा अयश हुआ करता

तान्दृष्ट्वाऽरीन्विजयत भूत्वा संत्यागबुद्धयः ।
नरकस्याप्रतिष्ठस्य मा भूत वशवर्तिनः ॥ ६ ॥
त्यागमूलं हि शूराणां स्वर्गद्वारमनुत्तमम् ।
इत्युक्तास्ते नृपतिना योधाः परपुरञ्जय ॥ ७ ॥
अजयन्त रणे शत्रून्हर्षयन्तो नरेश्वरम् ।
तस्मादात्मवता नित्यं स्थातव्यं रणमूर्धनि ॥ ८ ॥
गजानां रथिनो मध्ये रथानामनुसादिनः ।
सादिनामन्तरे स्थाप्यं पादातमपि दंशितम् ॥ ९ ॥
य एवं व्यूहते राजा स नित्यं जयति द्विषः ।
तस्मादेवं विधातव्यं नित्यमेव युधिष्ठिर ॥ १० ॥
सर्वे स्वर्गतिमिच्छन्ति सुयुद्धेनातिमन्यवः ।
क्षोभयेयुरनीकानि सागरं मकरा यथा ॥ ११ ॥
हर्षयेयुर्विषण्णांश्च व्यवस्थाप्य परस्परम् ।
जितां च भूमिं रक्षेत भग्नान्नात्यनुसारयेत् ॥ १२ ॥
पुनरावर्तमानानां निराशानां च जीविते ।
वेगः सुदुःसहो राजंस्तस्मान्नात्यनुसारयेत् ॥ १३ ॥

है, इससे तुम लोग संन्यास बुद्धि अवलम्बन करके शत्रुओंको जीतो; अप्रतिष्ठित नरकके वशवर्त्ती न बनो। (१-६)

हे शत्रुओंके जीतनेवाले ! योद्धाओंने राजा जनकका ऐसा वचन सुनके युद्धमें उन्हें हर्षित, करके शत्रुओंको जीता था। इससे ऊंचे चित्तवाले शूरवीर मनुष्योंको युद्धमें सदा अगाडी स्थित रहना अवश्य उचित है। गजसेनाके बीच रथी, रथियोंके बीच घुडसवार और घुडसवारोंके बीच पैदल सेना स्थापित करनी उचित है। युधिष्ठिर ! जो राजा इस प्रकार व्यूह बनाते हैं, वे शत्रुओंको सदा जय किया करते हैं। अत्यन्त ऊंचे चित्तवाले शूर पुरुष समुद्रको क्षोभित करनेवाले मकर घडियालकी भांति अच्छी प्रकार युद्ध करते हुए शत्रुसेनाको क्षोभित करके स्वर्ग गति लाभ करते हैं। विपद्ग्रस्त योद्धाओंको इकठ्ठे कर यथा रीति स्थापित करके उन्हे हर्षित करे, जितभूमिकी रक्षा करे, और जो लोग लौटनेके भयसे युद्धसे भागें, अपनी सेनासे उन लोगोंका बहुत पीछा न करे। हे राजन्! जीनेकी आशा त्यागके लौटे हुए शूर पुरुषोंका वेग अत्यन्त असह्य होता है,

न हि प्रहर्तुमिच्छन्ति शूराः प्रद्रवतो भृशम् ।
तस्मात्पलायमानानां कुर्यान्नात्यनुसारणम् ॥ १४ ॥
चराणामचरा ह्यन्नमदंष्ट्रा दंष्ट्रिणामपि ।
आपः पिपासतामन्नमन्नं शूरस्य कातराः ॥ १५ ॥
समानपृष्ठोदरपाणिपादाः पराभवं भीरवो वै व्रजन्ति ।
अतो भयार्ताः प्रणिपत्य भूयः कृत्वाञ्जलीनुपतिष्ठन्ति शूरान् ॥१६॥
शूरबाहुषु लोकोऽयं लम्बते पुत्रवत्सदा ।
तस्मात्सर्वास्ववस्थासु शूरः संमानमर्हति ॥ १७ ॥
न हि शौर्यात्परं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शूरः सर्वं पालयति सर्वं शूरे प्रतिष्ठितम् ॥ १८ ॥ [३६५६]

इति श्रीमहा०शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजिगीषमाणवृत्ते नवनवतितमोऽध्यायः॥९९

युधिष्ठिर उवाच- यथा जयार्थिनः सेनां नयन्ति भरतर्षभ ।
ईषद्धर्मं प्रपीड्यापि तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— सत्येन हि स्थितो धर्म उपपत्त्या तथाऽपरे ।

इससे उन लोगोंका बहुत पीछा करना उचित नहीं । (७-१३)

शूर पुरुष अत्यन्त भागनेवाले पुरुषोंके ऊपर शस्त्र चलानेकी इच्छा नहीं करते, इससे अपनी सेनासे उन लोगोंका बहुत पीछा न करे । अचर चरके, बिन दांतवाले दांतवालोंके, जल प्यासे लोगोंके और कादर पुरुष शूर पुरुषोंके अन्न हुआ करते हैं । डरपोक पुरुष पीठ, उदर, हाथ और पांवसे समान होनेपर भी पराजित हुआ करते हैं; इससे भयसे आरत पुरुष पृथ्वीमें गिरके हाथ जोडकर शूर पुरुषोंकी उपासना करें । शूर पुरुषोंकी भुजासे ये लोग सदा पुत्रकी भांति रक्षित हुआ करते हैं, सब अवस्थाओंमें ही शूर लोग समान भाजन हुआ करते हैं । तीनों लोकोंके बीच पराक्रमसे श्रेष्ठ और कुछ भी नहीं है; क्यों कि शूर पुरुष सबको ही पालन किया करते हैं, और शूर पुरुषोंसे ही सब प्रतिष्ठित रहता है । (१४-१८)

शान्तिपर्वमें निन्यानवे अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें सौ अध्याय ।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! विजय की इच्छा करनेवाला अत्यन्त धर्म पीडन करके भी भयभीत सेनाके सब पुरुषोंको राज भय दिखाके किस भांति रणभूमिकी ओर भेजे ? यह मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये । (१)

भीष्म बोले, क्षत्रधर्म मृत्यु निश्चय,

साध्वाचारतया केचित्तथैवोपयिकादपि ॥ २ ॥
उपायधर्मान्वक्ष्यामि सिद्धार्थानर्थधर्मयोः ।
निर्मर्यादा दस्यवस्तु भवन्ति परिपन्थिनः ॥ ३ ॥
तेषां प्रतिविघातार्थं प्रवक्ष्याम्यथ नैगमम् ।
कार्याणां सर्वसिध्यर्थं तानुपायान्निबोध मे ॥ ४ ॥
उभे प्रज्ञे वेदितव्ये ऋज्वी वक्रा च भारत ।
जानन्वक्रां न सेवेत प्रतिबाधेत चागताम् ॥ ५ ॥
अमित्रा एव राजानं भेदेनोपचरन्त्युत ।
तां राजा निकृतिं जानन्यथाऽमित्रान्प्रबाधते ॥ ६ ॥
गजानां पार्थ वर्माणि गोवृषाजगराणि च ।
शल्यकंटकलोहानि तनुत्रचमराणि च ॥ ७ ॥
सितपीतानि शस्त्राणि सन्नाहाः पीतलोहिताः ।
नानारञ्जनरक्ताः स्युः पताकाः केतवश्च ह ॥ ८ ॥
ऋष्टयस्तोमराः खड्गा निशिताश्च परश्वधाः ।
फलकान्यथ चर्माणि प्रतिकल्प्यान्यनेकशः ॥ ९ ॥
अभिनीतानि शस्त्राणि योधाश्च कृतनिश्चयाः ।

शिष्टाचार और राजभय प्रदर्शनजनित प्रवृत्त इन चार कारणोंसे युद्धधर्म स्थिर हुआ करता है। हे युधिष्ठिर ! मैं तुमसे सदा फल देनेवाले उपाय धर्म सब फिर कहूंगा; डाकूलोग धर्म और अर्थके बाधक हुआ करते हैं, उनके नाश और सब कार्योंकी उत्तम सिद्धिके वास्ते इस समय मैं तुमसे शास्त्रोक्त उपाय कहता हूं, सुनो। हे भारत ! राजा लोग सरल और कुटिल दोनों ही बुद्धि मालूम करें; परन्तु कुटिल बुद्धि मालूम करके उसका सेवन न करें, क्यों कि कुटिल बुद्धि आगत विषयोंकी बाधक हुआ करती है। शत्रु लोग भेदके जरिये राजाके निकट उपस्थित होने पर जैसे राजा उन लोगोंको दण्ड देता है, वैसे ही उन दुष्टोंको भी दण्ड देवे। (२-६)

हे पार्थ ! हाथियोंके शरीरको ढापनेके वास्ते गऊ, बैल और बकरेके चमडे; शल्य, कांटे, लोह, तनुत्राण, चवंर, पानी चढे और चोखे शस्त्र, पीतल और लोहेके कवच, अनेक रङ्गोंसे रङ्गी हुई ध्वजा पताका, तेजधारवाली ऋष्टि, तोमर, तलवार, फरशे और ढाल इन सब सामग्रियोंको युद्धके वास्ते संग्रह कर रखे। शस्त्रों पर पानी

चैत्र्यां वा मार्गशीर्ष्यां वा सेनायोगः प्रशस्यते ॥१०॥
पक्वसस्या हि पृथिवी भवत्यम्बुमती तदा।
नैवातिशीतो नात्युष्णः कालो भवति भारत ॥ ११ ॥
तस्मात्तदा योजयेत परेषां व्यसनेऽथवा।
एते हि योगाः सेनायाः प्रशस्ताः परबाधने ॥ १२ ॥
जलवांस्तृणवान्मार्गः समो गम्यः प्रशस्यते।
चारैः सुविदिताभ्यासः कुशलैर्वनगोचरैः ॥ १३ ॥
न ह्यरण्ये न शक्येत गन्तुं मृगगणैरिव।
तस्मात्सेनासु तानेव योजयन्ति जयार्थिनः ॥ १४ ॥
अग्रतः पुरुषानीकं शक्तं चापि कुलोद्भवम्।
आवासस्तोयवान्दुर्गः पर्याकाशः प्रशस्यते ॥ १५ ॥
परेषामुपसर्पाणां प्रतिषेधस्तथा भवेत्।
आकाशात्तु वनाभ्यासं मन्यन्ते गुणवत्तरम् ॥ १६ ॥
बहुभिर्गुणजातैश्च ये युद्धकुशला जनाः।

चढाना, और योद्धाओंको युद्धमें दृढ करना होगा, हे भारत! चैत और अगहनका महीना ही सेनाकी यात्राका उत्तम समय है; इससे जब पृथ्वी कीचड और शस्योंसे रहित तथा निर्मल हुआ करती है, और समय बहुत शीत तथा अत्यन्त उष्ण नहीं रहता तभी शत्रुओंको व्यसनमें फंसा देखके उनकी ओर सेना भेजे। क्यों कि शत्रुओंको निवारण करनेके विषयमें इसी भांति सेनाका नियोग ही उत्तम हुआ करता है। (७-१२)

जल और तृणयुक्त समतल मार्ग ही सुगम होता है, इससे मार्गको जाननेवाले वनचारी दूतोंके जरिये उसे भली भांति बारम्बारमालूम करें। मृगसमूहकी भांति जङ्गलके मार्गसे गमन करना कठिन है, इससे विजयकी इच्छा करनेवाले राजा लोग सेनाको पहिले कहे हुए मार्गसे भेजा करते हैं। उत्तम कुलमें उत्पन्न हुए सामर्थवान पुरुष सेनाके अगाडी रहें और टिकनेका स्थान जल दुर्गसे घिरा हुआ एक मार्गवाला होवे, ऐसा होनेसे समीप स्थित शत्रु लोग किसी प्रकार भी उसे आक्रमण नहीं कर सकेंगे। जिस निवास स्थानके समीप वाली भूमिमें अवकाश रहें और उसके निकट वन हों, उस स्थानको ही राजा अधिक गुण युक्त समझे; इससे निज सेनाके निकटमें रहनेवाले वैसे स्थानमें

उपन्यासो भवेत्तत्र बलानां नातिदूरतः ॥ १७ ॥
उपन्यासावतरणं पदातीनां च गूहनम्।
अथ शत्रुप्रतीघातमापदर्थं परायणम् ॥ १८ ॥
सप्तर्षीन्पृष्ठतः कृत्वा युध्येयुरचला इव।
अनेन विधिना शत्रून् जिगीषेतापि दुर्जयान् ॥ १९ ॥
यतो वायुर्यतः सूर्यो यतः शुक्रस्ततो जयः।
पूर्वं पूर्वं ज्याय एषां सन्निपाते युधिष्ठिर ॥ २० ॥
अकर्दमामनुदकाममर्यादामलोष्टकाम्।
अश्वभूमिं प्रशंसन्ति ये युद्धकुशला जनाः ॥ २१ ॥
अपङ्कागर्तरहिता रथभूमिः प्रशस्यते।
नीचद्रुमा महाकक्षा सोदका हस्तियोधिनां ॥ २२ ॥
बहुदुर्गा महाकक्षा वेणुवेत्रसमाकुला।
पदातीनां क्षमा भूमिः पर्वतोऽपवनानि च ॥ २३ ॥
पदातिबहुला सेना दृढा भवति भारत।

अनेक गुणोंसे युक्त युद्ध जाननेवाले पुरुषोंका स्थापित करे। निज वनके समीप ऊपर कहे हुए पुरुषोंका स्थित होना, पैदल सेनाका उतरना और संगोपन इन सब कार्योंको ही शत्रुओंको पराजित करनेके परम उपाय जानना चाहिये। इस ही रीतिसे अनुसार योद्धा लोग सप्तर्षियोंको आगे करके पर्वतकी भांति अचल भावसे युद्ध करने पर दुर्जय शत्रुओंको जय करनेमें समर्थ होंगे। (१३—१९)

हे युधिष्ठिर! जिस दिशामें वायु, सूर्य और शुक्र रहे, उस ही ओर युद्ध करनेसे जय होती है; परन्तु ये सब यदि एक ओर रहें, तो पूर्वापरके अनुसार श्रेष्ठ हुआ करते हैं। युद्ध जाननेवाले पुरुष कीचडहीन जलरहित अमर्याद अर्थात् पूल और प्रकार आदि सीमारहित तथा ढेलेसे रहित समतल भूमिकी प्रशंसा किया करते हैं। हे भारत! रणभूमि कीचड और गढेसे रहित तथा हाथी योद्धाओंके वास्ते भूमि छोटे वृक्षों महाकक्ष और जलसे युक्त होने पर प्रशंसनीय होती है। पैदल सेनाके निवासकी जमीन बहुतेरे व किलेसे घिरी हुई महाकक्षयुक्त, बांस और बेतोंसे परिपूरित तथा पहाड और उपवनसे युक्त होनेसे प्रशंसनीय हुआ करती है। (२०—२३)

हे राजन्! वर्षारहित दिनोंमें अनेक

रथाश्वबहुला सेना सुदिनेषु प्रशस्यते ॥ २४ ॥
पदातिनागबहुला प्रावृट्काले प्रशस्यते ।
गुणानेतान्प्रसंख्याय देशकालौ प्रयोजयेत् ।
एवं संचिन्त्य यो याति तिथिनक्षत्रपूजितः ॥ २५ ॥
विजयं लभते नित्यं सेनां सम्यक्प्रयोजयन् ।
प्रसुप्तांस्तृषितान् श्रान्तान्प्रकीर्णान्नाभिघातयेत्॥ २६ ॥
मोक्षे प्रयाणे चलने पानभोजनकालयोः ।
अतिक्षिप्तान्व्यतिक्षिप्तान् निहतान्प्रतनूकृतान्॥ २७ ॥
अविश्रब्धान्कृतारम्भानुपन्यासात्प्रतापितान् ।
बहिश्चरानुपन्यासान्कृतवेश्मानुसारिणः ॥ २८ ॥
पारम्पर्यागते द्वारे ये के चिदनुवर्तिनः ।
परिचर्यावतो द्वारे ये च केचन वर्गिणः ॥ २९ ॥
अनीकं ये विभिन्दन्ति भिन्नं संस्थापयन्ति च ।
समानाशनपानास्ते कार्या द्विगुणवेतनाः ॥ ३० ॥
दशाधिपतयः कार्याः शताधिपतयस्तथा ।
ततः सहस्राधिपतिं कुर्याच्छूरमतन्द्रितम् ॥ ३१ ॥

पैदल, रथ और घोडोंसे युक्त सेना दृढ और प्रशंसनीय हुआ करती है; प्रावृट् ऋतुमें अनेक हाथी और पैदलयुक्त सेना प्रशंसित होती है, इससे राजा ये ही सब गुण और देश कालका विचार करके सेना प्रयोग करे। जो राजा इसी भांति विचार करके तिथि और नक्षत्रमें शुभ आशीर्वादसे युक्त होकर पूरी रीतिसे सेना नियोग करता है, वह सदा जय लाभ किया करता है। मोक्षमार्ग अवलम्बन करनेवाले, भागने, चलने खाने, और पीनेवालों तथा सोते प्यासे और विक्षिप्त पुरुषोंके ऊपर प्रहार न करे। जो अत्यन्त क्षिप्त, व्यतिक्षिप्त, निहत, प्रतनूकृत अविश्रुत, कृतारंभ सुरुङ्ग आदि गुप्त उपाय जाननेवाले प्रतापित तृण आदि लानेके वास्ते बाहिर होनेवाले, निज गृह राजद्वार वा अमात्य द्वारके अनुवर्त्ती इत्यादि इन सबके स्वामी हैं, उनका वध न करे। (२४-२६)

जो दूसरेकी सेनाको भेदकर अपनी सेना स्थापित करते हैं, उन्हें अपने समान खाने पीनेकी वस्तु प्रदान करे और उनका दूना वेतन कर देवे। जो लोग दशके स्वामी हैं, उन्हें, एक सौके स्वामीको सहस्राधिपति करके सावधा-

यथा मुख्यान्सन्निपात्य वक्तव्याः संशयामहे।
विजयार्थं हि संग्रामे न त्यक्ष्यामः परस्परम् ॥ ३२ ॥
इहैव ते निवर्तन्तां ये च केचन भीरवः।
ये घातयेयुः प्रवरं कुर्वाणास्तुमुलं प्रति ॥ ३३ ॥
न सन्निपाते प्रदरं वधं वा कुर्युरीदृशाः।
आत्मानं च स्वपक्षं च पालयन्हन्ति संयुगे ॥ ३४ ॥
अर्थनाशो वधोऽकीर्तिरयशश्च पलायने।
अमनोज्ञाऽसुखा वाचः पुरुषस्य पलायने ॥ ३५ ॥
प्रतिध्वस्तोष्ठदन्तस्य न्यस्तसर्वायुधस्य च।
अमित्रैरवरुद्धस्य द्विषतामस्तु नः सदा ॥ ३६ ॥
मनुष्यापसदा ह्येते ये भवन्ति पराङ्मुखाः।
राशिवर्धनमात्रास्ते नैव ते प्रेत्य नो इह . ॥ ३७ ॥
अमित्रा हृष्टमनसः प्रत्युद्यान्ति पलायिनम्।
जयिनस्तु नरास्तात चन्दनैर्मण्डनेन च ॥ ३८ ॥

नीके सहित उनकी रक्षा करे। मुख्य सेनाको इकट्ठी करके सब पुरुषोंसे कहना चाहिये, कि तुम लोग शपथ करके मेरे समीप यह स्वीकार करो, कि हम सब इकट्ठे होकर विजयके वास्ते युद्धमें प्रवृत्त होंगे, आपसमें कोई किसीको परित्याग करके न भागेंगे। जो युद्ध आरम्भ करके मुख्य योद्धाओंको शत्रुओंसे नष्ट करावें, और जो लोग डरपोक हों, वे इसी समय स्वयं निवृत्त होवें। जो लोग शपथ पूर्वक ऐसा कार्य स्वीकार करें, वे लोग युद्धमें सेनाके आने वा युद्ध बन्द होने पर अपनी ओरके मुख्य सैनिक पुरुषोंका वध न करें, बल्कि वे लोग अपनी तथा अपनी ओरकी सेनाके पुरुषोंकी रक्षा करके शत्रु पक्षीय सेनाका वध करे। (३०-३४)

जो पुरुष संग्रामसे भागता है, उसका अर्थनाश वध और अकीर्त्ति होती है और वह लोगोंके निकट कठोर और निन्दित वचन सुना करता है; इससे हमारे शत्रुपक्षीय प्रतिध्वन्त दांत-ओष्ठसे युक्त शस्त्ररहित शत्रुओंके जरिये घिरे पुरुषोंहीका सदा अर्थनाश आदि होवे। जो सब पुरुष युद्धसे भागते हैं, वे नीच मनुष्योंमें गिने जाते हैं, बल्कि वैसे पुरुष समूहकी वृद्धि मात्रके वास्ते हैं, इस लोक और परलोकमें वे लोग सुख-भागी नहीं होते। हे तात! विजयी शत्रु लोगोंके हर्षयुक्त चित्त और प्रशंसा

यस्य स्म संग्रामगता यशो वै घ्नन्ति शात्रवः।
तदसह्यतरं दुःखमहं मन्ये वधादपि ॥ ३९ ॥
जयं जानीत धर्मस्य मूलं सर्वसुखस्य च।
या भीरूणां परा ग्लानिः शूरस्तामधिगच्छति ॥ ४० ॥
ते वयं स्वर्गमिच्छन्तः संग्रामे त्यक्तजीविताः।
जयंतो वध्यमाना वा प्राप्नुयाम च सद्गतिम् ॥ ४१ ॥
एवं संशप्तशपथाः समभित्यक्तजीविताः।
अमित्रवाहिनीं वीराः प्रतिगाहन्त्यभीरवः ॥ ४२ ॥
अग्रतः पुरुषानीकमसिचर्मवतां भवेत्।
पृष्ठतः शकटानीकं कलत्रं मध्यतस्तथा ॥ ४३ ॥
परेषां प्रतिघातार्थं पदातीनां च बृंहणम्।
अपि तस्मिन्पुरे वृद्धा भवेयुर्ये पुरोगमाः ॥ ४४ ॥
ये पुरस्तादभिमताः सत्ववन्तो मनस्विनः।
ते पूर्वमभिवर्तेरंश्चैतानेवेतरे जनाः ॥ ४५ ॥

वादके सहित मण्डलाकार गतिसे भाग नेवाले पुरुषोंकी ओर दौडने पर वह अत्यन्त ही असह्य होजाता है; ऐसा ही क्यों ! युद्धमें शत्रुओंके जरिये जिसका यश नष्ट होता है, मैं मृत्युको भी उससे अधिक असह्य और दुःखदायक नहीं समझता। इससे जयको ही धर्म और सब तरहके सुखका मूल जानना चाहिये, क्योंकि जय न होने पर शूर पुरुष भी कादरोंकी तरह परम ग्लानिसे युक्त होते हैं। 'मैं स्वर्गके कामनासे युद्धमें जीनेकी आशा त्यागके विजयी वा मरके महत् गति लाभ करूंगा'—ऐसी ही शपथ करके जो वीर पुरुष जीनेकी आशा त्याग कर युद्धमें शत्रुसेनाका नाश करते हैं, वेही लोग भय-रहित कह के विख्यात हुआ करते हैं। (३५-४२)

हे राजन् ! शत्रुओंके साथ युद्ध करनेके वास्ते ढाल तलवार ग्रहण करनेवाले पुरुष सेनाके आगे, शकट सेना पीछे और दुर्गस्थित सेना बीचमें रहे; और पुरमें रहनेवाली जो सब सेना पुरमें गमन करे वह पदातियोंकी रक्षा करे। जो सब मनस्वी शूरवीर बलवान पुरुष आगे रहनेकी इच्छा करें, और वे सब पहिले पैदल सेनाको घेरके स्थित रहें। और यत्न पूर्वक डरेहुओंके उत्साहको बढाना होगा, क्योंकि वे सब उत्साहित होने पर दल बांधके समीपमें ही स्थित होंगे। सेनापति थोडी सेना

अपि चोद्धर्षणं कार्यं भीरूणामपि यत्नतः ।
स्कन्धदर्शनमात्रात्तु तिष्ठेयुर्वा समीपतः ॥ ४६ ॥
संहतान्योधयेदल्पान्कामं विस्तारयेद्बहून् ।
सूचीमुखमनीकं स्यादल्पानां बहुभिः सह ॥ ४७ ॥
संप्रयुक्ते निकृष्टे वा सत्यं वा यदि वाऽनृतम् ।
प्रगृह्य बाहून् क्रोशेत भग्ना भग्नाः परे इति ॥ ४८ ॥
आगतं मे मित्रबलं प्रहरध्वमभीतवत् ।
सत्ववन्तोऽभिधावेयुः कुर्वन्तो भैरवान् रवान्॥ ४९ ॥
क्ष्वेडाः किलकिला शब्दाः क्रकचा गोविषाणिकाः ।
भेरीमृदङ्गपणवान्नादयेयुः पुरश्चरान् ॥ ५० ॥ [३७०६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने शततमोऽध्यायः॥ १०० ॥

युधिष्ठिर उवाच– किंशीलाः किंसमाचाराः कथंरूपाश्च भारत ।
किंसन्नाहाः कथंशस्त्रा जनाः स्युः सङ्गरे क्षमाः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— यथा ऽऽचरितमेवात्र शस्त्रं पत्रं विधीयते ।
आचाराद्वीरपुरुषस्तथा कर्मसु वर्तते ॥ २ ॥

इकट्ठी करके शत्रुओंके साथ युद्ध करावे और उसे इच्छानुसार अनेक भांतिसे विस्तारित करे, और बहुतोंके साहित थोडी सेनाको सूचीमुख होकर युद्ध करना उचित है; इससे वह भी करे। निकृष्ट सेना युद्धमें तत्पर होके जब बाहु युद्ध करती रहे, तब उसके उत्साहको बढानेके वास्ते सत्य वा मिथ्या ही हो, हमारा शत्रु बलरहित हुआ है, तुम लोग निर्भय होके प्रहार करो,शत्रुओंके भागने पर ऐसा ही कहके हर्ष प्रकाश करे। बलवान पुरुष भयानक शब्द करते हुए शत्रुओंकी ओर दौडें; तालीं; तलत्राण, गोशृङ्ग आदि शब्द किये जावें, और आगे चलनेवाले पुरुष लोग मृदङ्ग; भेरी और ढोल आदि बाजे बजावें। (४३-५०) [३७०६]

शान्तिपर्वमें सौ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौएक अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह कैसे रूप कैसे स्वभाव, किस प्रकारके आचार, कैसे कवच और किस भांतिके शस्त्र- शाली शूर लोग युद्ध करनेमें समर्थ होते हैं ? (१)

भीष्म बोले, युद्धमें वीर पुरुष देशा- चार और कुलाचारसे युक्त होके जैसे

गान्धाराः सिंधुसौविरा नखरप्रासयोधिनः ।
अभीरवः सुबलिनस्तद्बलं सर्वपारगम् ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रेषु कुशलाः सत्ववन्तो ह्युशीनराः ।
प्राच्या मातङ्गयुद्धेषु कुशलाः कूटयोधिनः ॥ ४ ॥
तथा यवनकाम्बोजा मथुरामभितश्च ये ।
एते नियुद्धकुशला दाक्षिणात्याऽसिपाणयः ॥ ५ ॥
सर्वत्र शूरा जायन्ते महासत्वा महाबलाः ।
प्राय एव समुद्दिष्टा लक्षणानि तु मे शृणु ॥ ६ ॥
सिंहशार्दूलवाङ्नेत्राः सिंहशार्दूलगामिनः ।
पारावतकुलिङ्गाक्षाः सर्वे शूराः प्रमाथिनः ॥ ७ ॥
मृगस्वरा द्वीपिनेत्रा ऋषभाक्षास्तरास्विनः ।
प्रमादिनश्च मन्दाश्च क्रोधनाः किङ्किणीस्वनाः ॥ ८ ॥
मेघस्वनाः क्रोधमुखाः केचित्करभसन्निभाः ।
जिह्मनासाग्रजिह्वाश्च दूरगादूरपातिनः ॥ ९ ॥

शस्त्र तथा वाहन आदि सब सामग्रियों-को संग्रह करके युद्ध कार्यमें प्रवृत्त होते हैं, उसे सुनो। गान्धार, सिन्धु और सौवीर देशीय वीर लोग नखर और प्राससे युद्ध किया करते हैं, वे सब युद्ध करनेमें निडर और अत्यन्त बलवान हैं; तथा सब युद्धके जाननेवाले हैं। उशीनर देशीय शूर लोग सब शस्त्रोंके जाननेवाले हैं। उशीनर देशीय शूर लोग सब शस्त्रोंके जाननेवाले और बलवान हैं। प्राग्देशीय योद्धा लोग हाथियोंके युद्धमें निपुण और कूटयोधी हैं। काम्बोज, यवन और मथुरा वासी शूर पुरुष प्राग्देशीय योद्धाओंकी भांति युद्ध किया करते हैं। दक्षिणी लोग तलवार और बाहु युद्धमें अत्यन्त निपुण हैं। (२-५)

हे युधिष्ठिर! सभी स्थानोंमें इसी भांति महापराक्रमी महाबलवान पुरुष प्रायः उत्पन्न हुआ करते हैं; अब उनके यथोक्त लक्षण सुनो। वे सब ही प्राणि-योंको पीडित करनेवाले, उनका बोल-ना, चलना और देखना सिंह और शार्दूलके समान, नेत्र कुलिङ्ग और पारावत पक्षीकी तरह होते हैं। स्वर हरिनके शब्द समान, आंख हाथी तथा ऋषभनेत्रके समान होता है; वे सब ही प्रमत्त, मूढ, क्रोधी, क्रोधमुखी करभकी भांति होते हैं; किङ्किणी और बादलकी भांति शब्द करनेवाले दूरगामी तथा

विडालकुब्जतनवस्तनुकेशास्तनुत्वचः ।
शीघ्राश्चपलवृत्ताश्च ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १० ॥
गोधा निमीलिताः केचिन्मृदुप्रकृतयस्तथा ।
तुरङ्गगतिनिर्घोषास्ते नराः पारयिष्णवः ॥ ११ ॥
सुसंहताः सुतनवो व्यूढोरस्काः सुसंस्थिताः ।
प्रवादितेषु कुप्यन्ति हृष्यन्ति कलहेषु च ॥ १२ ॥
गम्भीराक्षाः निःसृताक्षाः पिङ्गाक्षा भ्रुकुटीमुखाः ।
नकुलाक्षास्तथा चैव सर्वे शूरास्तनुत्यजः ॥ १३ ॥
जिह्माक्षाः प्रललाटाश्च निर्मांसहनवोऽपि च ।
वज्रबाहुंगुलीचक्राः कृशा धमनि संततः ॥ १४ ॥
प्रविशन्ति च वेगेन सांपराये ह्युपस्थिते ।
वारणा इव संमत्तास्ते भवन्ति दुरासदाः ॥ १५ ॥
दीप्तस्फुटितकेशान्ताः स्थूलपार्श्वहनूमुखाः ।
उन्नतांसा पृथुग्रीवा विकटाः स्थूलपिण्डकाः ॥ १६ ॥
उद्वृत्ता इव सुग्रीवा विनता विहगा इव ।

दूरपाती होते हैं। उनकी नाक चौडी जीभ नासिकाके अग्रभागको स्पर्श करनेवाली, शरीर विडालके समान कुबजा, केश, त्वचा अत्यन्त सूक्ष्म और वृत्ति शीघ्रतायुक्त तथा चपल हुआ करती है। उनमेंसे कोई कोई गोधाकी भांति निमीलित, कोमल स्वभाव, तुरङ्गकी तरह गमन और शब्द करनेवाले तथा सब युद्धके जाननेवाले हुआ करते हैं। (६—११)

और उनमेंसे जो लोग सुसंहत उत्तम शरीरसे युक्त, सुन्दर दृढ अवयव और बडी छातीवाले हैं, वे प्रवादके समय कोपित और झगडेके समयमें हर्षित हुआ करते हैं। गंभीर लोचन, कढे नेत्र, पिङ्गाक्ष, भृकुटी मुख, नकुल नेत्र, युद्धमें शरीर त्यागनेवाले, कुटिल दृष्टि, पृथुललाटवाले, मांसरहित दाढीसे युक्त, वज्रकी तरह भुजा, अंगुली चक्रसम्पन्न, कृश शिराल और दुरासद होती हैं; ये सब शूर लोग युद्ध उपस्थित होनेपर हाथीकी भांति मतवाले होकर वेगके सहित उसमें प्रवेश करते हैं। जिनके केशान्त प्रकाशमान और स्फटित, पार्श्व स्थल स्थूल, मुख दाढीयुक्त, सब हिस्से उन्नत ग्रीवास्थल पृथु, विकटरूप, स्थूल और पिण्डाकार, वासुदेवके अश्व गरुडकी भान्ति उद्धत स्वभाव, वर्त्तुलाकार

पिण्डशीर्षाऽतिवक्त्राश्च वृषदंशमुखास्तथा ॥ १७ ॥
उग्रस्वरा मन्युमन्तो युद्धेष्वारावसारिणः ।
अधर्मज्ञाऽवलिप्ताश्च घोरा रौद्रप्रदर्शनाः ॥ १८ ॥
त्यक्तात्मानः सर्व एते अन्त्यजा ह्यनिवर्तिनः ।
पुरस्कार्याः सदा सैन्ये हन्यन्ते घ्नन्ति चापि ये ॥१९॥
अधार्मिका भिन्नवृत्ताः सान्त्वेनैषां पराभवः ।
एवमेव प्रकुप्यन्ति राज्ञोऽप्येते ह्यभीक्ष्णशः ॥२०॥ [३७२६]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि विजीगीषमाणवृत्ते एकाधिकशततमोऽध्यायः॥ १०१ ॥

युधिष्ठिर उवाच— जयिन्याः कानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि चेच्छामि वेदितुम् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— जयिन्या यानि रूपाणि भवन्ति भरतर्षभ ।
पृतनायाः प्रशस्तानि तानि वक्ष्यामि सर्वशः ॥ २ ॥
दैवे पूर्वं प्रकुपिते मानुषे कालचोदिते ।
तद्विद्वांसोऽनुपश्यन्ति ज्ञानदिव्येन चक्षुषा ॥ ३ ॥
प्रायश्चित्तविधिं चात्र जपहोमांश्च तद्विदः ।

सिर, मुख बिडालकी तरह बडा और स्वर कठोर होता है; वे उग्र स्वभावयुक्त, मनस्वी, शब्दके अनुसार बाण चलानेवाले, अधर्मिक, गर्वित भयङ्कर, रौद्रदर्शन युद्धमें शरीर त्यागनेवाले युद्धसे न भागनेवाले अन्त्यज जातीय योद्धा लोग सदा सेनाके मुखस्थलमें स्थित हुआ करते हैं। हे युधिष्ठिर ! अधार्मिक भिन्न वृत्त पुरुष शान्त वचनसे वशमें नहीं होते; बल्कि वे लोग शान्त वाक्यसे राजाके ऊपर अत्यन्त क्रोधित हुआ करते हैं। (१२–२०) [३७२६]

शान्तिपर्वमें एकसौएक अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौदो अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! जयशील सेनाके कौन लक्षण श्रेष्ठ होते हैं, उसे मैं जाननेकी इच्छा करता हूं। (१)

भीष्म बोले, हे भरतश्रेष्ठ ! जयशील सेनाके जो सब लक्षण श्रेष्ठ हैं, उसे पूर्ण रीतिसे कहता हूं। हे राजन् ! दैवके प्रतिकूल तथा मनुष्योंके कालप्रेरित होनेपर विद्वान पुरुष ज्ञानमय दिव्य-नेत्रसे उसका अनुसन्धान विशेष रूपसे मालूम कर, उसे निवारण करनेके वास्ते प्रायश्चित्त, जप और होम आदि

मङ्गलानि च कुर्वन्ति शमयन्त्यहितानि च ॥ ४ ॥
उदीर्णमनसो योधा वाहनानि च भारत।
यस्यां भवन्ति सेनायां ध्रुवं तस्यां परो जयः ॥ ५ ॥
अन्वेतान्वायवो यान्ति तथैवेन्द्रधनूंषि च।
अनुप्लवन्तो मेघाश्च तथाऽऽदित्यस्य रश्मयः ॥ ६ ॥
गोमायवश्चानुकूला वलगृध्राश्च सर्वशः।
अर्हयेयुर्यदा सेनां तदा सिद्धिरनुत्तमा ॥ ७ ॥
प्रसन्नभाः पावकश्चोर्ध्वरश्मिः प्रदक्षिणावर्तशिखो विधूमः।
पुण्या गन्धाश्चाहुतीनां भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ८ ॥
गम्भीरशब्दाश्च महास्वनाश्च शंखाश्च भेर्यश्च नदन्ति यत्र।
युयुत्सवश्चाप्रतीपा भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ ९ ॥
इष्टा मृगाः पृष्ठतो वामतश्च संप्रस्थितानां च गमिष्यतां च।
जिघांसतां दक्षिणाः सिद्धिमाहुर्ये त्वग्रतस्ते प्रतिषेधयन्ति ॥ १० ॥
मांगल्यशब्दान्शकुना वदन्ति हंसाः क्रौञ्चाः शतपत्राश्च चाषाः।
हृष्टा योधाः सत्ववन्तो भवन्ति जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥११॥

मांगलिक कार्योंको करके उसकी शान्ति किया करते हैं। हे भारत! जिस सेनामें वाहन और योद्धा लोग सदा उत्साहपूर्वक निवास करते हैं, उस सेनाकी निश्चय ही उत्तम विजय हुआ करती है। (२–५)

जब वायु, इन्द्रधनुष, बादल और सूर्यकी किरण सेनाके अनुगामी होती हैं, तथा शियार और गिद्ध आदि अनुकूल होकर उसकी अर्चना करते हैं; तभी वह उत्तम सिद्धि लाभ किया करती है। हे युधिष्ठिर! अग्नि प्रसन्न किरण, उर्द्धरश्मि, दक्षिणावर्त्त शिखासे युक्त और धूंएसेरहित होने तथा आहुतिकी पुण्य गन्ध प्रवाहित होनेपर पण्डित लोग उसे भावी जयके लक्षण कहा करते हैं। गम्भीर शब्दवाले भेरी और शंख आदिके बजने तथा युयुत्सुओंके अनुकूल होनेसे ही पण्डित लोग उसे भावी जयका रूप कहते हैं। मृगोंके समूह युद्धप्रस्थित पुरुषोंके पीछे, जो संग्रामके वास्ते गमन करें उनके बांई ओर; तथा जिघांसु पुरुषके दाहिनी ओर रहनेमें ऊपर कहे हुए सब कार्य इष्टसिद्धिसूचक होते हैं; और अगाडी रहनेपर पहिले कहे हुए कार्योंमें प्रतिषेध किया करते हैं। (६–१०)

शकुन, हंस, क्रौञ्च, सारस और

शस्त्रैर्यन्त्रैः कवचैः केतुभिश्च सुभानुभिर्मुखवर्णैश्च यूनाम् ।
भ्राजिष्मती दुष्प्रतिवीक्षणी या येषां चमूस्तेऽभिभवन्ति शत्रून् ॥१२॥
शुश्रूषवश्चानभिमानिनश्च परस्परं सौहृदमास्थिताश्च ।
येषां योधाः शौचमनुष्ठिताश्च जयस्यैतद्भाविनो रूपमाहुः ॥ १३ ॥
शब्दाः स्पर्शास्तथा गन्धा विचरन्ति मनःप्रियाः ।
धैर्यं चाविशते योधान्विजयस्य मुखं च तत् ॥ १४ ॥
इष्टो वामः प्रविष्टस्य दक्षिणः प्रविविक्षतः ।
पश्चात्संसाधयत्यर्थं पुरस्ताच्च निषेधति ॥ १५ ॥
संभृत्य महतीं सेनां चतुरंगां युधिष्ठिर ।
साम्नैव वर्तयेः पूर्वं प्रयतेथास्ततो युधि ॥ १६ ॥
जघन्य एष विजयो यद्युद्धं नाम भारत ।
याहच्छिको युधि जयो दैवो वेति विचारणम् ॥ १७ ॥
अपामिव महावेगस्त्रस्ता इव महामृगाः ।
दुर्निवार्यतमा चैव प्रभग्ना महती चमूः ॥ १८ ॥

स्वर्णचातक आदि पक्षियोंके मांगलिक शब्द करने और बलवान योद्धाओंके हर्षित होनेपर पण्डित लोग उसे भविष्य जयके लक्षण कहा करते हैं। जिसके सेनाका समूह शस्त्र, यन्त्र, कवच, पताका और मुखमण्डलकी उज्वल किरणसे प्रकाशित होकर शत्रुओंको भयानक दीखता है, वही शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं। शूर पुरुषोंके स्वामी-सेवामें रत, अभिमान रहित, आपसमें सुहृदभावयुक्त और पवित्र आचारवाले होनेपर पण्डित लोग उसे भावी जयका लक्षण कहा करते हैं। मनके प्रसन्न करनेवाले शब्द, स्पर्श और गन्ध प्रवाहित होने और योद्धाओंके धैर्यशाली होने पर बुद्धिमान पुरुष उसे विजयक रूप कहा करते हैं। कौआ संग्राममें प्रविष्ट हुए पुरुषके बांई ओर तथा जो युद्धमें प्रवेश करेंगे, उनकी दाहिनी ओर रहनेसे इष्ट साधन करता है; और पीछे रहनेपर अर्थबाधा तथा अगाडी रहनेपर प्रतिषेध करता है। हे युधिष्ठिर! पहिले महत् चतुरङ्गिनी सेना संग्रह करके उसे सामके जरिये स्थापित करे और तिसके अनन्तर युद्धमें नियुक्त करे। (११–१६)

हे भारत! रणभूमिमें युद्ध करते करते यदृच्छा क्रमसे वा दैवी संयोगसे जो जय होती है, वह अधम जय कहके गिनी जाती है, भागती हुई बडी सेना जलके वेग और डरे हुए महामृगोंकी

भग्ना इत्येव भज्यन्ते विद्वांसोऽपि न कारणम्।
उदारसारा महती रुरुसंघोपमा चमूः ॥ १९ ॥
परस्परज्ञाः संहृष्टास्त्यक्तप्राणाः सुनिश्चिताः।
अपि पञ्चाशतं शूरा निघ्नन्ति परवाहिनीम् ॥ २० ॥
अपि वा पञ्चषट्सप्तसंहताः कृतनिश्चयाः।
कुलीनाः पूजिताः सम्यग्विजयन्तीह शात्रवान् ॥२१॥
सन्निपातो न मन्तव्यः शक्ये सति कथञ्चन।
सान्त्वभेदप्रदानानां युद्धमुत्तरमुच्यते ॥ २२ ॥
संदर्शनैव सेनाया भयं भीरून्प्रबाधते।
वज्रादिव प्रज्वलितादियं क नु पतिष्यति ॥ २३ ॥
अभिप्रयातां समितिं ज्ञात्वा ये प्रतियान्त्यथ।
तेषां स्यन्दन्ति गात्राणि योधानां विजयस्य च ॥ २४ ॥
विषयो व्यथते राजन्सर्वः सस्थाणुजंगमः।
अस्त्रप्रतापतप्तानां मज्जा सीदति देहिनाम् ॥ २५ ॥

भांति दुःखसे निवारित होती है। उरुजङ्घा समान उदार सारयुक्त भागती हुई बडी सेना विदुषी होनेपर भी रण-भङ्ग किया करती है; विद्या रहनेसे जो रणभङ्ग नहीं करती, ऐसा कोई कारण निर्दिष्ट नहीं है। आपसमें परिचित, हर्ष युक्त, प्राण त्यागनेवाले, सुनिश्चित पचास शूर पुरुष युद्धमें बहुतसी शत्रु सेनाको नाश करनेमें समर्थ होते हैं। यहांतक कि युद्धमें कृतनिश्चय, सत्कुलमें उत्पन्न हुए सम्मानित पांच छः, वा सात शूर पुरुष ही युद्ध करनेपर अनायास ही बहुत सी शत्रु सेना जय कर सकते हैं। (१७-२१)

दूसरी भांतिके उपायसे किसी प्रकार युद्धकी अभिलाष न करे, क्यों कि साम, भेद और दान इन सबसे अनन्तर युद्ध विहित हुआ करता है, जैसे "प्रज्व-लित वज्रसे बिजली कभी गिरेगी" इसी भयसे कादर पुरुष बाध्य होते हैं; वैसे ही सेनाके बीच भय दिखाके कादरोंको बाधित करे। शत्रुसेनाको युद्धके वास्ते आती जानके जो लोग उसकी ओर गमन करते हैं, उन सब योद्धाओंका शरीर खिन्न हुआ करता है। हे राजन्! स्थाणु और जङ्गमके सहित विषय अर्थात सब देश अनेक भांति अस्त्र तापसे व्यथित होता है और अस्त्रतापसे तापित देहधारियोंकी मज्जा अवसन्न होजाती है। जो लोग शत्रुओंसे पीडित

तेषां सान्त्वं क्रूरमिश्रं प्रणेतव्यं पुनः पुनः ।
संपीड्यमाना हि परैर्योगमायान्ति सर्वतः ॥ २६ ॥
आन्तराणां च भेदार्थं चरानभ्यवचारयेत् ।
यश्च तस्मात्परो राजा तेन सन्धिः प्रशस्यते ॥ २७ ॥
न हि तस्यान्यथा पीडा शक्या कर्तुं तथाविधा ।
यथा सार्धममित्रेण सर्वतः प्रतिबाधनम् ॥ २८ ॥
क्षमा वै साधुमायाति न ह्यसाधून्क्षमा सदा ।
क्षमायाश्चाक्षमायाश्च पार्थ विद्धि प्रयोजनम् ॥ २९ ॥
विजित्य क्षममाणस्य यशो राज्ञो विवर्धते ।
महापराधे ह्यप्यस्मिन् विश्वसन्त्यपि शत्रवः ॥ ३० ॥
मन्यते कर्षयित्वा तु क्षमा साध्वीति शंबरः ।
असंतप्तं तु यद्दारु प्रत्येति प्रकृतिं पुनः ॥ ३१ ॥
नैतत्प्रशंसन्त्याचार्या न च साधुनिदर्शनम् ।
अक्रोधेनाविनाशेन नियन्तव्याः स्वपुत्रवत् ॥ ३२ ॥

होकर उनके साथ सब भांतिसे सन्धि करते हैं; उनके साथ कठोरता मिले हुए सामभावका बार बार प्रणय करना उचित है । (२१-२६)

अनन्तर शत्रुओंमें भेद करानेके लिये दूत भेजे; शत्रुओंके बीच जो प्रधान होवे, उसहीके साथ राजा सन्धि करे । यदि ऐसा न हो तो जिसमें शत्रुके साथ सब भांतिसे प्रतिकूलता होवे, उसी भांति शत्रुओंको पीडित करना असाध्य हो जाता है । हे पार्थ ! क्षमा साधुओंके समीपमें ही सदा समागत होती है, दुष्टोंके निकट कभी समागत नहीं होती; इससे क्षमा और अक्षमा दोनोंके प्रयोजनको मालूम करो । जो राजा जयलाभ करके क्षमा अवलम्बन करता है उसका यश विशेष रूपसे बढता है और शत्रु लोग महा अपराध रहनेपर भी उसका विश्वास किया करते हैं । दैत्यवर शम्बरने ऐसा मत स्थिर किया है, कि पहिले शत्रुको दुःखित करके फिर क्षमा करनीही उत्तम कार्य है; क्यों कि टेढी बांस आदि लकडियोंको न जलाके सरल करनेसे वे सब फिर सीधी हुआ करती है । (२७-३१)

हे युधिष्ठिर ! आचार्य लोग इस शम्बर मत और साधु निदर्शनकी प्रशंसा नहीं करते; परन्तु वे लोग ऐसा कहते हैं कि क्रोध वा नाश करके शत्रुओंको निज पुत्रके समान पालन करना उचित है ।

द्वेष्यो भवति भूतानामुग्रो राजा युधिष्ठिर।
मृदुमप्यवमन्यन्ते तस्मादुभयमाचरेत् ॥ ३३ ॥
प्रहरिष्यन्प्रियं ब्रूयात्प्रहरन्नपि भारत।
प्रहृत्य च कृपायीत शोचन्निव रुदन्निव ॥ ३४ ॥
न मे प्रियं यन्निहताः संग्रामे मामकैर्नरैः।
न च कुर्वन्ति मे वाक्यमुच्यमानाः पुनः पुनः ॥३५॥
अहो जीवितमाकांक्षेन्नेदृशो वधमर्हति।
सुदुर्लभाः सुपुरुषाः संग्रामेष्वपलायिनः ॥ ३६ ॥
कृतं ममाप्रियं तेन येनायं निहतो मृधे।
इति वाचा वदन्हन्तॄन्पूजयेत रहोगतः ॥ ३७ ॥
हन्तॄणामाहतानां च यत्कुर्युरपराधिनः।
क्रोशन्बाहुं प्रगृह्यापि चिकीर्षन् जनसंग्रहम् ॥ ३८ ॥
एवं सर्वास्ववस्थासु सान्त्वपूर्वं समाचरेत्।

हे राजन्! राजाके प्रचण्ड होनेपर सब प्राणी उससे द्वेष करते हैं और कोमल होने पर भी सब कोई उसकी अवज्ञा किया करते हैं। इससे राजा उग्रता और मृदुता दोनोंका ही आचरण किया करे। (३२-३३)

हे भारत! शत्रुओंके ऊपर प्रहार करनेके पहिले और प्रहारके समय प्रिय वचन कहे, तथा प्रहार करके रोदन और शोक प्रकाश करके उन पर कृपा करे। और घायल तथा प्रहार करनेवाले पुरुषोंका गुप्त रीतिसे सम्मान करके यह वचन कहे, कि मेरी सेनाने युद्धमें शूर पुरुषोंको मार कर मेरा अत्यन्त ही अनिष्ट किया है, मैंने वार वार उन लोगोंसे कहा है, उन्होंने मेरे वचनकी रक्षा न की। ओहो! युद्धमें पीछे न हटनेवाले उत्तम पुरुष अत्यन्त दुर्लभ हैं, मैं उनके जीवनकी अभिलाष करता हूं, ऐसा वध अत्यन्त अयोग्य हुआ है। (३४-३६)

जिन्होंने युद्धमें इन शूरवीरोंको मारा है, उन्होंने मेरे अनिष्टके अतिरिक्त इष्ट नहीं किया है, ऐसा वचन कहके गुप्त रीतिसे प्रहर्ता पुरुषोंको सम्मानित करे। और पुरुषोंको संग्रह करनेके इच्छावाले पराक्रमी राजा मेरे और प्रहर्त्ता पुरुषोंके लिये ऐसा ही करके अपराधी पुरुषोंकी दोनों भुजा ग्रहण करके उनके ऊपर विलाप प्रकाश करे। निर्भय धर्मात्मा राजा इसी प्रकार सब अवस्थामें ही शान्तता युक्त कार्य

प्रियो भवति भूतानां धर्मज्ञो वीतभीर्नृपः ॥ ३९ ॥
विश्वासं चात्र गच्छन्ति सर्वभूतानि भारत ।
विश्वस्तः शक्यते भोक्तुं यथाकाममुपस्थितः ॥ ४० ॥
तस्माद्विश्वासयेद्राजा सर्वभूतान्यमायया ।
सर्वतः परिरक्षेच्च यो महीं भोक्तुमिच्छति ॥ ४१ ॥ [३७८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सेनानीतिकथने द्व्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०२ ॥

युधिष्ठिर उवाच— कथं मृदौ कथं तीक्ष्णे महापक्षे च पार्थिव ।
आदौ वर्तेत नृपतिस्तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
बृहस्पतेश्च संवादमिन्द्रस्य च युधिष्ठिर ॥ २ ॥
बृहस्पतिं देवपतिरभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उपसंगम्य पप्रच्छ वासवः परवीरहा ॥ ३ ॥
इन्द्र उवाच— अहितेषु कथं ब्रह्मन्प्रवर्तेयमतन्द्रितः ।
असमुच्छिद्य चैवैतान्नियच्छेयमुपायतः ॥ ४ ॥
सेनयोर्व्यतिषङ्गेण जयः साधारणो भवेत् ।

करनेसे सब प्राणियोंके प्यारे होते हैं। वे इच्छानुसार भोग कर सकते और सब कोई उनका विश्वास किया करते हैं। इससे जो राजा पृथ्वी भोग करनेके अभिलाषी होवें वे कपटरहित होके सबको ही विश्वासित करें और सब तरहके प्रजाकी रक्षा करें। (३७-४१)

शान्तिपर्वमें एकसौदो अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौतीन अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, पितामह! प्रबल-पक्षवाले शत्रुके कोमल वा कठोर होने पर राजा पहिले उसके साथ कैसा आचरण करे? वह मुझसे यथार्थ कहिये। (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! ऐसे स्थलमें पण्डित लोग इन्द्र और बृहस्पतिके सम्वादयुक्त प्राचीन इतिहास वर्णन किया करते हैं, उसे सुनो। शत्रुओंके नाश करनेवाले देवराज शचीपतिने बृहस्पतिको प्रणाम कर हाथ जोडके उनसे पूंछा, हे ब्रह्मन्! मैं सावधान होके शत्रुओंके साथ किस प्रकार प्रवृत्त होऊंगा और उन लोगोंको जड सहित नष्ट न करके फिर किस उपायसे उन्हें दमन करूंगा? दोनों सेनाके इकट्ठी होकर संग्राम करने पर साधारणकी

किं कुर्वाणं न मां जह्याज्ज्वलिता श्रीः प्रतापिनी ॥५॥
ततो धर्मार्थकामानां कुशलः प्रतिभानवान् ।
राजधर्मविधानज्ञः प्रत्युवाच पुरन्दरम् ॥ ६ ॥
बृहस्पतिरुवाच- न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः ।
बालैरासेवितं ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमा ॥ ७ ॥
न शत्रुर्विवृतः कार्यो वधमस्याभिकांक्षता ।
क्रोधं भयं च हर्षं च नियम्य स्वयमात्मनि ॥ ८ ॥
अमित्रमुपसेवेत विश्वस्तवदविश्वसन् ।
प्रियमेव वदेन्नित्यं नाप्रियं किञ्चिदाचरेत् ॥ ९ ॥
विरमेच्छुष्कवैरेभ्यः कण्ठायासांश्च वर्जयेत् ।
यथा वैतंसिको युक्तो द्विजानां सदृशस्वनः ॥ १० ॥
तान् द्विजान्कुरुते वश्यांस्तथा युक्तो महीपतिः ।
वशं चोपनयेच्छत्रून्निहन्याच्च पुरन्दर ॥ ११ ॥
न नित्यं परिभूयारीन्सुखं स्वपिति वासव ।
जागर्त्येव हि दुष्टात्मा संकरेऽग्निरिवोत्थितः ॥ १२ ॥

जय हुआ करती है, इससे मैं क्या करूं, जिससे लक्ष्मी लज्जित और सन्तापित होकर मुझे परित्याग न करे ? (२-५)

धर्म, अर्थ और काम इस त्रिवर्ग कुशल, प्रतिभाशाली राज-धर्मके जाननेवाले बृहस्पतिने सुरपतिसे कहा, हे देवराज ! राजा कलहसे अहित पुरुषोंको दमन करनेकी अभिलाष न करे, क्यों कि बालक ही क्रोध और अक्षमाकी सेवा किया करते हैं । शत्रुवधकी इच्छा करनेवाला राजा शत्रुओंको सावधान न करे; क्रोध, भय और हर्षको निज शरीरमें छिपाते हुए उन लोगोंका विश्वास न करके विश्वस्तकी भांति उनके साथ व्यवहार करे, उन लोगोंसे सदा प्रियवचन कहे; उनके साथ कोई अप्रिय आचरण न करे, निष्फल वैरसे विरत होवे और मूर्खता परित्याग करे । हे इन्द्र ! जैसे उपयुक्त मांस बेचनेवाला व्याधपक्षियोंकी तरह शब्द करते हुए विहङ्गोंको अपने वशमें करके उनका वध करता है, वैसे ही उपयुक्त राजा शत्रुओंको वशमें करके उन लोगोंका वध करे । (६–११)

हे वासव ! राजा शत्रुओंकी पराभव करके सदा सुखकी नींद न सोवे दुष्टात्मा शत्रुलोग उठी हुई सङ्कराग्निकी भांति सदा ही जागते रहते हैं । जयका

न सन्निपातः कर्तव्यः सामान्ये विजये सति ।
विश्वास्यैवोपसन्नार्थो वशे कृत्वा रिपुः प्रभो ॥ १३ ॥
संप्रधार्य सहामात्यैर्मन्त्रविद्भिर्महात्मभिः ।
उपेक्ष्यमाणोऽवज्ञातो हृदयेनापराजितः ॥ १४ ॥
अथास्य प्रहरेत्काले किञ्चिद्विचलिते पदे ।
दण्डं च दूषयेदस्य पुरुषैराप्तकारिभिः ॥ १५ ॥
आदिमध्यावसानज्ञः प्रच्छन्नं च विधारयेत् ।
बलानि दूषयेदस्य जानन्नेव प्रमाणतः ॥ १६ ॥
भेदेनोपप्रदानेन संसृजेदौषधैस्तथा ।
न त्वेवं खलु संसर्गं रोचयेदरिभिः सह ॥ १७ ॥
दीर्घकालमपीक्षेत निहन्यादेव शात्रवान् ।
कालाकांक्षी हि क्षपयेद्यथा विश्रम्भमाप्नुयुः ॥ १८ ॥
न सद्योऽरीन्विहन्याच्च द्रष्टव्यो विजयो ध्रुवः ।
न शल्यं वा घटयति न वाचा कुरुते व्रणम् ॥ १९ ॥
प्राप्ते च प्रहरेत्काले न च संवर्तते पुनः ।

निश्चय न होनेपर युद्ध करना उचित नहीं है, इससे उन लोगोंका विश्वास-पात्र और प्रिय होके उन्हें वशीभूत करके अर्थ-साधनमें प्रवृत्त होवे । शत्रु-ओंके उपेक्षा वा अवज्ञा करनेपर भी मनसे पराजित न होकर महात्मा मन्त्र जाननेवाले मन्त्रियोंके सहित मन्त्रणा स्थिर करे । अनन्तर शत्रुओंके तनिक विचलित होनेपर ही उस समय उनके ऊपर प्रहार करे और आप्तकारी पुरुषोंके जरिये उनकी सेना तथा दण्ड दूषित करे । राजा शत्रु आदिके मध्य और अन्तको मालूम कर गुप्त भावसे मन ही मन विषम भाव धारण करके उन लोगोंको सब प्रमाणके अनुसार जानके भेद, दान अथवा औषधिके जरिये उन लोगोंको दूषित करे; परन्तु शत्रुओंके साथ कभी संसर्ग करनेकी अभिलाषा न करे । (१२—१७)

शत्रुओंको मारनेके लिये बहुत समय तक उपेक्षा करे, वे लोग जिस प्रकार विश्वास लाभ करें वैसे ही कार्योंको करते हुए बहुत समयकी आकांक्षा करके समय बितावे । सब शत्रुओंको नष्ट न करके उन लोगोंको विजय प्रदर्शित करे । हे देवेन्द्र ! राजा शत्रुओंके ऊपर शल्य न चलावे और वाक्यबाणसे भी उन्हें घायल न करे; शत्रुवधकी इच्छा

हन्तुकामस्य देवेन्द्र पुरुषस्य रिपून्प्रति ॥ २० ॥
यो हि कालो व्यतिक्रामेत्पुरुषं कालकांक्षिणम्।
दुर्लभः स पुनस्तेन कालः कर्मचिकीर्षुणा ॥ २१ ॥
ओजश्च विनयेदेव संगृह्णन्साधुसंमतम्।
अकाले साधयेन्मित्रं न च प्राप्ते प्रपीडयेत् ॥ २२ ॥
विहाय कामं क्रोधं च तथाऽहंकारमेव च।
युक्तो विवरमन्विच्छेदहितानां पुनः पुनः ॥ २३ ॥
मार्दवं दण्ड आलस्यं प्रमादश्च सुरोत्तम।
मायाः सुविहिताः शक्र सादयन्त्यविचक्षणम् ॥ २४ ॥
निहत्यैतानि चत्वारी मायां प्रतिविहाय च।
ततः शक्नोति शत्रूणां प्रहर्तुमविचारयन् ॥ २५ ॥
यदेवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत्।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विश्रावयन्त्यपि ॥ २६ ॥
अशक्यमिति कृत्वा वा ततोऽन्यैः संविदं चरेत्।

करनेवाले पुरुषोंके शत्रु नाशका समय बीतनेसे वह फिर नहीं प्राप्त होता; इससे समय उपस्थित होनेपर ही राजा शत्रुओंके ऊपर प्रहार कर, कभी समयको न बीतने देवे। जो समय समयकी अभिलाष करनेवाले पुरुषको अतिक्रम करता है, कर्म चिकीर्षु पुरुषके लिये फिर उस समयका मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। असमयमें शत्रुके प्राप्त होनेपर राजा साधुसम्मत सामर्थ संग्रह करके उसे शिक्षित करे, परन्तु उन लोगोंको पानेसे स्वकार्य साधन वा उन्हें पीडित न करे। योग्य राजा काम क्रोध और अभिमान त्यागके वारवार शत्रुओंके छिद्रका अनुसन्धान करे। (१८-२३)

हे देवताओंमें उत्तम शक्र! मृदुता, दम्भ, आलस्य और प्रमाद ये चारों तथा सब माया सुन्दर रीतिसे विहित हुई हैं; येही सब मूर्ख पुरुषोंको अवसन्न किया करती हैं। इससे राजा मृदुता आदि ऊपर कहे हुए चारों गुणोंको दमन करने तथा समस्त माया परित्याग करनेसे ही शत्रुओंके वध करनेमें समर्थ होते हैं। राजा अकेले जहांतक मन्त्रको गोपन करनेमें समर्थ होसके, वहांतक गोपन करें; क्योंकि मन्त्री लोग गुप्त मन्त्रोंको गोपन करते और आपसमें प्रकाश भी किया करते हैं। परन्तु अकेले विचार विषयमें एकवारगी अस-

ब्रह्मदण्डमदृष्टेषु दृष्टेषु चतुरङ्गिणीम् ॥ २७ ॥
भेदं च प्रथमं युञ्ज्यात्तूष्णीमपि तथैव च।
काले प्रयोजयेद्राजा तस्मिंस्तस्मिंस्तदा तदा ॥ २८ ॥
प्रणिपातं च गच्छेत काले शत्रोर्बलीयसः।
युक्तोऽस्य वधमन्विच्छेदप्रमत्तः प्रमाद्यतः ॥ २९ ॥
प्रणिपातेन दानेन वाचा मधुरया ब्रुवन्।
अमित्रमपि सेवेत न च जातु विशङ्कयेत् ॥ ३० ॥
स्थानानि शङ्कितानां च नित्यमेव विवर्जयेत्।
न च तेष्वाश्वसेद्राजा जाग्रतीह निराकृताः ॥ ३१ ॥
न ह्यतो दुष्करं कर्म किञ्चिदस्ति सुरोत्तम।
यथा विविधवृत्तानामैश्वर्यममराधिप ॥ ३२ ॥
तथा विविधवृत्तानामपि संभव उच्यते।
यतते योगमास्थाय मित्रामित्रं विचारयेत् ॥ ३३ ॥
मृदुमप्यवमन्यन्ते तीक्ष्णादुद्विजते जनः।

र्मर्थ होनेपर दूसरेके साथ मन्त्रणा करे। अनन्तर शत्रुओंके अदृष्ट अर्थात् दूर होनेपर उनके ऊपर ब्रह्मदण्ड अभिचार आदि प्रयोग करे; और निकटमें रहनेपर उनकी ओर चतुरङ्गिनी सेना नियुक्त करे। राजा पहिले शत्रुओंके ऊपर भेद और साम दोनोंको ही प्रयोग करे; फिर युद्ध उपस्थित होनेपर उस शत्रुके ऊपर सेना नियोग करनेमें प्रवृत्त होवे। राजा समयके अनुसार शत्रुके निकट प्रणत होवे; परन्तु शत्रुके प्रमत्त होनेपर राजा अप्रमत्त होके उसके वधका अनुसन्धान करे। (२४-२९)

राजा प्रणिपात, दान और मीठे वचनसे शत्रुओंकी प्रसन्नता सिद्ध करे परन्तु कदापि उन्हें शङ्कित न करे। जो सब शत्रु शङ्कित हुए हैं, राजा वैसे शत्रुओंके स्थान पर न जावे, उनका कभी विश्वास न करे; क्यों कि वे लोग शङ्कायुक्त होके सदा ही सावधान रहते हैं। हे सुरपति! शङ्कित शत्रुओंके लिये कठिन कार्य कुछ भी नहीं है; ऐसा कहा गया है, कि विविधवृत्त मनुष्योंके ऐश्वर्य की भांति वे लोग योग अवलम्बन करके फिर मिलित होनेके वास्ते यत्न किया करते हैं। हे सुरोत्तम! इससे राजा मित्र और शत्रुके विषयमें विशेष करके विचार करे। हे सुरराज! राजाके मृदुस्वभाव होनेपर प्रजा उसकी अवज्ञा करती है और

मा तीक्ष्णो मा मृदुर्भूस्त्वं तीक्ष्णो भव मृदुर्भव ॥३४॥
यथा वप्रे वेगवति सर्वतः संप्लुतोदके।
नित्यं विवरणाद्बाधस्तथा राज्यं प्रमाद्यतः ॥ ३५ ॥
न बहूनभियुञ्जीत यौगपद्येन शात्रवान्।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेन च पुरन्दर ॥ ३६ ॥
एकैकमेषां निष्पिष्य शिष्टेषु निपुणं चरेत्।
न तु शक्तोऽपि मेधावी सर्वानेवारभेन्नृप ॥ ३७ ॥
यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला।
पदातियन्त्रबहुला अनुरक्ता षडङ्गिनी ॥ ३८ ॥
यदा बहुविधां वृद्धिं मन्येत प्रतिलोमतः।
तदा विवृत्य प्रहरेद्दस्यूनामविचारयन् ॥ ३९ ॥
न सामदण्डोपनिषत्प्रशस्यते न मार्दवं शत्रुषु यात्रिकं सदा।
न सस्यघातो न च संकरक्रिया न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा ॥४०॥
मायाविभेदानुपसर्जनानि तथैव पापं न यशः प्रयोगात्।

कठोर स्वभाव होने पर उससे व्याकुल हुआ करती है; इससे तुम केवल कोमल वा कठोर न होकर कठोर और कोमल दोनों भावको ही अवलम्बन करो। जैसे वेगशाली जलके जरिये सब तरहसे परिपूरित तट सदा विदारण करनेसे उसमें बाधा होती है, वैसे ही राजाके प्रमत्त होनेपर उसके राज्यमें बाधा हुआ करती है। हे पुरन्दर! राजा साम, दान, दण्ड और भेद इन सब उपायोंको एक ही समय शत्रुके ऊपर प्रयोग न करे; परन्तु मेधावी राजा समस्त उपाय प्रयोग करनेमें समर्थ होनेपर भी उसे न करके बुद्धिमानोंके बीच जो पुरुष निपुण हों उनके ऊपर ही इन उपायोंमेंसे एक एकको बांटकर प्रयोग करे। (२९-३७)

जब हाथी, घोडे और रथोंसे युक्त अनेक पदाति और यन्त्रोंसे परिपूरित षडङ्गिनी सेना अनुरक्त होवे, और जिस समय राजा शत्रुसे अपने बलकी अनेक भांतिसे वृद्धि समझे, उस समय विचार न करके प्रकाश्य भावसे शत्रुओंके वध करनेमें प्रवृत्त होवे। शत्रुके ऊपर साम उपाय प्रयोग करना उत्तम नहीं है, इससे राजा उसे न करके शत्रुके विषयमें रहस्य दण्डक विधान करे; परन्तु कोमल दण्ड, युद्धके लिये यात्रा, शस्यनाश, विष आदिसे जल दूषित करना और बार बार प्रकृति विचार न

आप्तैर्मनुष्यैरुपचारयेत पुरेषु राष्ट्रेषु च संप्रयुक्तान् ॥ ४१ ॥
पुराऽपि चैषामनुसृत्य भूमिपाः पुरेषु भोगानखिलान् जयन्ति ।
पुरेषु नीतिं विहितां यथाविधि प्रयोजयन्तो बलवृत्रसूदन ॥ ४२ ॥
प्रदाय गूढानि वसूनि राजन्प्रच्छिद्य भोगानवधाय च स्वान् ।
दुष्टान्स्वदोषैरिति कीर्तयित्वा पुरेषु राष्ट्रेषु च योजयन्ति ॥ ४३ ॥
तथैव चान्यैरपि शास्त्रवेदिभिः स्वलंकृतैः शास्त्रविधानदृष्टिभिः ।
सुशिक्षितैर्भाष्यकथाविशारदैः परेषु कृत्यामुपधारयेच्च ॥ ४४ ॥

इन्द्र उवाच— कानि लिङ्गानि दुष्टस्य भवन्ति द्विजसत्तम ।
कथं दुष्टं विजानीयामेतत्पृष्टो ब्रवीहि मे ॥ ४५ ॥

बृहस्पतिरुवाच—परोक्षमगुणानाह सद्गुणानभ्यसूयते ।
परैर्वा कीर्त्यमानेषु तूष्णीमास्ते पराङ्मुखः ॥ ४६ ॥
तूष्णींभावेऽपि विज्ञेयं न चेद्भवति कारणम् ।

करे। किन्तु उनके ऊपर अनेक तरहकी माया, उन्हें परस्पर उत्थापर आदि और जिससे अपनेको अपयश न हो, वैसी कपट उपाय करे; अनन्तर उन लोगोंको निज पुर वा राष्ट्रमें प्रविष्ट होनेपर आप्त पुरुषोंको उनके निकट रखे। हे बल-वृत्रसूदन! राजा लोग शत्रुओंके अनुगामी होकर उन लोगोंके पुर और राज्यमें स्थित सब भोग्य वस्तुओंको जय करके निजपुरीमें विधिपूर्वक नीति स्थापित करें। (३८-४२)

हे राजन्! राजा लोग हम लोगोंको गूढ धन प्रदान करके निज भोग्य वस्तुओंमें सङ्कोच करते हुए मेरे सब सेवक दुष्ट हैं, ये लोग मुझे त्यागके दूसरे राजाके शरणागत हुए हैं, लोगोंके समीप उन लोगोंके इसी प्रकार दोष वर्णन करके उन्हें पराये देश वा पर राज्यमें नियोजित करें। और दूसरे शास्त्रवित्, उत्तम रीतिसे सज्जित, शास्त्र विधानके जाननेवाले सुशिक्षित तथा भाष्य कथा-विशारद सेवकोंके जरिये शत्रु पुरीके बीच मृत्युके अधिष्ठात्री देवताको स्थापित करें। (४३-४४)

इन्द्र बोले, हे द्विजसत्तम! दुष्टका क्या चिन्ह है? दुष्टको किस प्रकार मालूम करें? इसे मैं पूंछता हूं, आप मुझसे विस्तार पूर्वक कहिये। बृहस्पति बोले, जो पुरुष परोक्षमें लोगोंके दोष प्रकाशित करे, सद्गुणोंसे युक्त मनुष्योंकी निन्दा करे और दूसरे किसीके गुणके वर्णन करनेपर पराङ्मुख होकर मौनभावसे स्थित होवे; उसे दुष्ट समझना चाहिये। यद्यपि दुष्ट पुरुषोंके

विश्वासं चोष्ठसंदंशं शिरसश्च प्रकम्पनम् ॥ ४७ ॥
करोत्यभीक्ष्णं संसृष्टमसंसृष्टश्च भाषते ।
अदृष्टितो न कुरुते दृष्टो नैवाभिभाषते ॥ ४८ ॥
पृथगेत्य समश्नाति नेदमद्य यथाविधि ।
आसने शयने याने भावा लक्ष्या विशेषतः ॥ ४९ ॥
आर्तिरार्ते प्रिये प्रीतिरेतावन्मित्रलक्षणम् ।
विपरीतं तु बोद्धव्यमरिलक्षणमेव तत् ॥ ५० ॥
एतान्येव यथोक्तानि बुध्येथास्त्रिदशाधिप ।
पुरुषाणां प्रदुष्टानां स्वभावो बलवत्तरः ॥ ५१ ॥
इति दुष्टस्य विज्ञानमुक्तं ते सुरसत्तम ।
निशाम्य शास्त्रतत्त्वार्थं यथावदमरेश्वर ॥ ५२ ॥

भीष्म उवाच—स तद्वचः शत्रुनिबर्हणे रतस्तथा चकारावितथं बृहस्पतेः ।
चचार काले विजयाय चारिहा वशं च शत्रूननयत्पुरन्दरः॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि इंद्रबृहस्पतिसंवादे
त्र्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०३ ॥ [३८२०]

मौनभावसे स्थित होनेपर उसके दुष्टताका कारण नहीं मालूम होसकता, परन्तु उस समय वह पुरुष लम्बी सांस छोडता, ओंठ काटता, शिर कंपाता, और अत्यन्त संसर्ग करता, असन्तुष्ट होकर वार्त्तालाप करता, परोक्षमें स्वीकृत कार्योंको पूरा नहीं करता और अपरोक्ष होनेपर उस विषयका उल्लेख नहीं करता, स्वयं पृथक् आके भोजन आदि करता है और आज भोजनादि विधिपूर्वक नहीं हुआ कहके परोक्षमें उसकी निन्दा किया करता है, इससे आसन, शयन और सवारी आदिसे दुष्टोंके अभिप्रायको मालूम करना चाहिये। (४५-४९)

हे राजन्! जो पुरुष आर्त्त लोगोंके समीप आर्त होता और प्रिय पुरुषोंके ऊपर प्रसन्न होता है, उसे ही मित्र जानना चाहिये; इसके विपरीत होनेपर शत्रुका लक्षण मालूम करे। हे त्रिदशनाथ! मैंने तुमसे इन सब लक्षणोंको जिस प्रकार कहा है, उसे विशेष करके मालूम करो; दुष्टोंका स्वभाव अत्यन्त बलवत्तर होता है। हे सुरसत्तम! मेरे कहे हुए इस दुष्टविज्ञानको सुनके शास्त्रके अनुसार इसके यथार्थ तत्वको मालूम करो। भीष्म बोले, इन्द्रने बृहस्पतिका ऐसा वचन सुनके उसके अनुसार शत्रुओंके अनुसन्धानमें रत होके विजयके

युधिष्ठिर उवाच—धार्मिकोऽर्थानसंप्राप्य राजाऽमात्यैः प्रबाधितः।
च्युतः कोशाच्च दण्डाच्च सुखमिच्छन्कथं चरेत् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्रायं क्षेमदर्शीय इतिहासोऽनुगीयते।
तत्तेऽहं संप्रवक्ष्यामि तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥
क्षेमदर्शी नृपसुतो यत्र क्षीणबलः पुरा।
मुनिं कालकवृक्षीयमाजगामेति नः श्रुतम्।
तं पप्रच्छानुसंगृह्य कृच्छ्रामापदमास्थितः ॥ ३ ॥
राजोवाच- अर्थेषु भागी पुरुष ईहमानः पुनः पुनः।
अलब्ध्वा मद्विधो राज्यं ब्रह्मन्किं कर्तुमर्हति ॥ ४ ॥
अन्यत्र मरणादैन्यादन्यत्र परसंश्रयात्।
क्षुद्रादन्यत्र चाचारात्तन्ममाचक्ष्व सत्तम ॥ ५ ॥
व्याधिना चाभिपन्नस्य मानसेनेतरेण वा।
धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च त्वद्विधः शरणं भवेत् ॥ ६ ॥
निर्विद्यति नरः कामान्निर्विद्य सुखमेधते।

निमित्त वैसा ही आचरण करके शत्रुओंको वशमें किया था। (५०-५२)
शान्तिपर्वमें एकसौ तीन अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौ चार अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! धर्मात्मा राजा सेवकोंसे प्रबाधित, कोष और दण्डसे च्युत तथा अर्थलाभमें असमर्थ होकर सुखका अभिलाष होनेपर कैसा आचरण करे? (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर! ऐसे स्थलमें क्षेमदर्शी राजाके जिस इतिहास को वर्णन किया करते हैं, वह मैं तुमसे कहता हूं, सुनो। मैंने सुना है, पहिले राजपुत्र क्षेमदर्शी शत्रुके जरिये बलक्षीण होके तथा घोर आपदमें पडके कालकवृक्षीय मुनिके निकट आके उनसे पूछा था-राजा क्षेमदर्शी कालकवृक्षीय मुनिसे बोले, हे ब्रह्मन्! मेरे समान अर्थभागी पुरुष अर्थ प्राप्तिके वास्ते बार बार यत्नवान होकर राज्य लाभ न कर सकनेपर कैसा आचरण करे? हे मुनिसत्तम! मेरे समान पुरुषोंका मरना, दैन्य, शत्रुका आश्रय और क्षुद्र आचारके अतिरिक्त जो कर्तव्य है, उसे कहिये। (४-५)

आपके समान धर्म जाननेवाले कृतज्ञ पुरुष ही शारीरिक और मानसिक व्याधिसे युक्त मनुष्योंके आश्रय हुआ करते हैं। पुरुष विषय भोगसे विरक्त होकर शक्ति और प्रीति परित्याग करके बुद्धिमय वस्तु लाभ करनेसे सुख भोग-

त्यक्त्वा प्रीतिं च शोकं च लब्ध्वा बुद्धिमयं वसु॥ ७॥
सुखमर्थाश्रयं येषामनुशोचामि तानहम्।
मम ह्यर्थाः सुबहवो नष्टाः स्वप्न इवागताः ॥ ८॥
दुष्करं बत कुर्वन्ति महतोऽर्थांस्त्यजन्ति ये।
वयं त्वेतान्परित्यक्तुमसतोऽपि न शक्नुमः ॥ ९॥
इमामवस्थां संप्राप्तं दीनमार्तं श्रिया च्युतम्।
यदन्यत्सुखमस्तीह तद्ब्रह्मन्ननुशाधि माम् ॥ १०॥
कौसल्येनैवमुक्तस्तु राजपुत्रेण धीमता।
मुनिः कालकवृक्षीयः प्रत्युवाच महाद्युतिः ॥ ११॥

मुनिरुवाच— पुरस्तादेव ते बुद्धिरियं कार्या विजानता।
अनित्यं सर्वमेवैतदहं च मम चास्ति यत् ॥ १२॥
यत्किञ्चिन्मन्यसेऽस्तीति सर्वं नास्तीति विद्धि तत्।
एवं न व्यथते प्राज्ञः कृच्छ्रामप्यापदं गतः ॥ १३॥
यद्धि भूतं भविष्यं च सर्वं तन्न भविष्यति।
एवं विदितवेद्यस्त्वमधर्मेभ्यः प्रमोक्ष्यसे ॥ १४॥

नेमें समर्थ होता है। जो लोग सुखको धनके आधीन समझते हैं, उनके वास्ते मैं शोक करता हूं; क्यों कि स्वलब्ध धनकी भांति मेरा बहुतसा अर्थ नष्ट हुआ है। अहो! हम जब इस अविद्यमान धनकी आशा परित्याग नहीं कर सकते, तब जो लोग उपस्थित बहुतसे धनको परित्याग करते हैं, वे लोग कितने कठिन कार्यको करते हैं; हे ब्राह्मण! मैं श्रीभ्रष्ट होकर अत्यन्त ही आर्त्त, दीन और ऐसी अवस्थाको प्राप्त हुआ हूं; इस समय जिसमें सुखलाभ हो, मुझे वही उपदेश करिये। (६-१०)

महातेजस्वी कालकवृक्षीय मुनि बुद्धिमान कौशल्य क्षेमदर्शीका ऐसा वचन सुनकर बोले, हे राजन्! यद्यपि आप "मैं और मेरी जो कुछ वस्तु विद्यमान हैं, ये सब अनित्य हैं," इस प्रकार जानते हैं, तो पहिले ही आपको ऐसा समझना उचित था। आप जो समझते हैं, कि सब वस्तु विद्यमान हैं, वे सभी नहीं हैं, ऐसाही समझिये; क्यों कि बुद्धिमान पुरुष ऐसा समझनेसे अत्यन्त आपदायुक्त होनेपर भी दुःखित नहीं होते। जो होगया और जो होगा, वह सब फिर न होवेगा, इसी भांति आप जानने योग्य विषयोंको जानकर अधर्मसे मुक्त होंगे। पहिले पूर्व राजा-

यच्च पूर्वं समाहारे यच्च पूर्वं परे परे ।
सर्वं तन्नास्ति ते चैव तज्ज्ञात्वा कोऽनुसंज्वरेत्॥ १५॥
भूत्वा च न भवत्येतदभूत्वा च भविष्यति।
शोके न ह्यस्ति सामर्थ्यं शोकं कुर्यात्कथञ्चन॥ १६ ॥
क्व नु तेऽद्य पिता राजन्क्व नु तेऽद्य पितामहः ।
न त्वं पश्यसि तानद्य न त्वां पश्यन्ति तेऽपि च॥१७॥
आत्मनोऽध्रुवतां पश्यंस्तांस्त्वं किमनुशोचसि ।
बुद्ध्या चैवानुबुद्ध्यस्व ध्रुवं हि न भविष्यसि ॥ १८ ॥
अहं च त्वं च नृपते सुहृदः शत्रवश्च ते ।
अवश्यं न भविष्यामः सर्वं च न भविष्यति॥ १९ ॥
ये तु विंशतिवर्षा वै त्रिंशद्वर्षाश्च मानवाः ।
अर्वागेव हि ते सर्वे मरिष्यन्ति शरच्छतात् ॥ २० ॥
अपि चेन्महतो वित्तान्न प्रमुच्येत पूरुषः ।
नैतन्ममेति तन्मत्वा कुर्वीत प्रियमात्मनः ॥ २१ ॥
अनागतं यन्न ममेति विद्यादतिक्रान्तं यन्न ममेति विद्यात ।

ओंको जो कुछ धन थे और उसके अनन्तर जो कुछ थे, तुम्हारा वह सब, कुछ भी नहीं है; इससे उन सब विषयोंसे ममतारहित होके शान्त होइये, कौन पुरुष इसे जानके दुःखित होगा ? (१०-१५)

जो हुआ है, वह फिर नहीं होता; जो नहीं हुआ है, वही हुआ करता है, शोकसे आर्त पुरुषोंमें धन उपार्जनकी सामर्थ नहीं रहती; इससे आप किसी प्रकारका शोक न कीजिये, महाराज ! देखिये, तुम्हारे पिता और पितामह आज कहां हैं; आज आप उन लोगोंको नहीं देख सकते हैं और वे लोग भी आपको नहीं देखते हैं । आप अपने देहकी अनित्यता देखकर उन लोगोंके वास्ते क्यों शोक करते हैं ? बुद्धिसे यह विचारिये, कि कोई विषय भी नित्य न होगा । हे राजन् ! मैं, आप और आपके सुहृद लोग, निश्चय ही हम कोई न रहेंगे, सब कोई मृत्युग्रासमें पडेंगे और सभी वस्तु नष्ट होंगी । जो सब मनुष्य वीस वा तीस वर्षके जीवित हैं, एक सौ वर्षके बीच उन सबको ही मरना होगा । (१६-२०)

यद्यपि पुरुष महत् वृत्तसे निवृत्त नहीं होता, तो ऐसा होनेपर मेरा नहीं है, यह मेरा नहीं है, यह समझके अपना इष्ट-

दिष्टं बलीय इति मन्यमानास्ते पण्डितास्तत्सतां स्थानमाहुः॥२२॥
अनाढ्याश्चापि जीवन्ति राज्यं चाप्यनुशासति।
बुद्धिपौरुषसंपन्नास्त्वया तुल्याऽधिका जनाः ॥ २३ ॥
न च त्वमिव शोचन्ति तस्मात्त्वमपि मा शुचः।
किं न त्वं तैर्नरैः श्रेयांस्तुल्यो वा बुद्धिपौरुषैः॥ २४ ॥

राजोवाच- याहच्छिकं सर्वमासीत्तद्राज्यमिति चिन्तये।
ह्रियते सर्वमेवेदं कालेन महता द्विज ॥ २५ ॥
तस्यैव ह्रियमाणस्य स्रोतसेव तपोधन।
फलमेतत्प्रपश्यामि यथा लब्धेन वर्तयन् ॥ २६ ॥

मुनिरुवाच- अनागतमतीतं च याथातथ्यविनिश्चयात्।
नानुशोचेत कौसल्य सर्वार्थेषु तथा भव ॥ २७ ॥
अवाप्यान्कामयन्नर्थान्नानवाप्यान्कदाचन।
प्रत्युत्पन्नाननुभवन्मा शुचस्त्वमनागतान् ॥ २८ ॥

साधन करें। जो लोग अनागत और अतीत वस्तुओंको "मेरी नहीं है"ऐसा समझते और भाग्यको ही बलवान जानते हैं;पण्डित लोग उन्हें ही समता-रहित और साधुओंके स्थान मानते हैं। आपके समान आर्य वा बुद्धि पौरुष युक्त बहुतेरे मनुष्य जीवित रहते और राज्य भी शासन किया करते हैं। परन्तु आपकी तरह वे लोग शोक नहीं करते; इससे आप भी शोक न कीजिये। आप क्या उन बुद्धि और पौरुष युक्त पुरुषोंसे श्रेष्ठ वा उनके समान नहीं हैं। (२१—२४)

राजाने कहा, हे द्विज! यदृच्छा-नुसार जो सब वस्तु प्राप्त होती हैं, उसे ही मैं राज्य बोध किया करता हूं और वह सभी महाकालके जरिये नष्ट हुआ करती है। हे तपोधन! इससे मैं यथा प्राप्त धनसे जीविका निर्वाह करते हुए स्रोतकी भांति महाकालके जरिये हीयमान उस राज्यका यह फल देखता हूं, कि यदृच्छा प्राप्त राज्य आदिके नाश होनेपर जीवन नष्ट न होकर केवल शोक बढता रहता है। (२५-२६)

मुनि बोले, हे कौशल्य! जैसे मनुष्य अनागत और अतीत वस्तुके यथार्थ रूपको निश्चय करके सब विषयोंमें शोक नहीं करते, आप भी उस ही भांति होइये। हे राजन्! आप प्राप्त अर्थकी इच्छा करिये अप्राप्त अर्थकी कभी अभि-लाषा न करिये और वर्त्तमान समयके विषयोंका अनुभव कीजिये तथा अनाग-

यथा लब्धोपपन्नार्थैस्तथा कौसल्य रंस्यसे।
कच्चिच्छुद्धस्वभावेन श्रियाहीनो न शोचसि ॥ २९ ॥
पुरस्ताद्भूतपूर्वत्वाद्धीनभोग्यो हि दुर्मतिः।
धातारं गर्हते नित्यं लब्धार्थश्च न मृष्यते ॥ ३० ॥
अनर्हानपि चैवान्यान्मन्यते श्रीमतो जनान्।
एतस्मात्कारणादेतद् दुःखं भूयोऽनुवर्तते ॥ ३१ ॥
ईर्ष्याभिमानसंपन्ना राजन्पुरुषमानिनः।
कच्चित्त्वं न तथा राजन्मत्सरी कोसलाधिप ॥ ३२ ॥
सहस्व श्रियमन्येषां यद्यपि त्वयि नास्ति सा।
अन्यत्रापि सतीं लक्ष्मीं कुशला भुञ्जते सदा।
अभिनिस्यन्दते श्रीर्हि सत्यपि द्विषतो जनम् ॥ ३३ ॥
श्रियं च पुत्रपौत्रं च मनुष्या धर्मचारिणः।
योगधर्मविदो धीराः स्वयमेव त्यजन्त्युत ॥ ३४ ॥
बहुसंकुसुकं दृष्ट्वा विधित्सा साधनेन च।

त विषयके वास्ते शोक न करिये। हे कौशल्य! आप लब्ध धनसे ही सन्तुष्ट रहिये, श्री हीन होने पर शोकसे आर्त्त होकर कभी शुद्ध स्वभावसे विचलित न होइये। बुद्धिहीन पुरुष पूर्व कर्मके अनुसार भाग्यहीन होकर सदा विधाताकी निन्दा करते हैं, और यथा लब्ध धनसे सन्तुष्ट नहीं होते। और इस ही कारणसे दूसरे म्लेच्छ आदि श्रीमान् पुरुषोंका सम्मान करके बारम्बार ऐसा ही दुःख अनुभव किया करते हैं। हे राजन्! इससे जैसे बलके अभिमानी मनुष्य ईर्षा और अभिमानके वशमें होकर दूसरे की बुराई करनेमें प्रवृत्त होते हैं, आप मत्सरयुक्त होकर वैसा न करिये। (२७–३२)

यद्यपि आपमें वह श्री विद्यमान न रहे, तोभी आप दूसरेकी श्री सह्य कीजिये; कभी द्वेष न करिये, क्यों कि जो मनुष्य मत्सरी होकर लोगोंकी श्रीसे द्वेष करते हैं, लक्ष्मी उनके निकटसे भाग जाती है; और जो मनुष्य मत्सरता रहित होते हैं, वे शत्रुके निकट रहनेवाली लक्ष्मीको भी सदा भोग किया करते हैं। योग धर्म जाननेवाले धीर धर्माचारी मनुष्य श्री, पुत्र, और पौत्रोंको स्वयं परित्याग किया करते हैं। दूसरे साधारण पुरुष विधित्सा अर्थात् सब कार्योंके अनुपरम और धन, इन दोनोंको अस्थिर अर्थ तथा परम

तथाऽन्ये संत्यजन्त्येव मत्वा परमदुर्लभम् ॥ ३५ ॥
त्वं पुनः प्राज्ञरूपः सन्कृपणं परितप्यसे ।
अकाम्यान्कामयानोऽर्थान्पराधीनानुपद्रवान् ॥ ३६ ॥
तां बुद्धिमुपजिज्ञासुस्त्वमेवैतान्परित्यज ।
अनर्थाश्चार्थरूपेण ह्यर्थाश्चानर्थरूपिणः ॥ ३७ ॥
अर्थायैव हि केषांचिद्धननाशो भवत्युत ।
आनन्त्यं तत सुखं मत्वा श्रियमन्यः परीप्सति ॥ ३८॥
रममाणः श्रिया कश्चिन्नान्यच्छ्रेयोऽभिमन्यते ।
तथा तस्येहमानस्य समारम्भो विनश्यति ॥ ३९ ॥
कृच्छ्राल्लब्धमभिप्रेतं यदि कौसल्य नश्यति ।
तदा निर्विद्यते सोऽर्थात्परिभग्नक्रमो नरः ॥ ४० ॥
धर्ममेकेऽभिपद्यन्ते कल्याणाभिजना नराः ।
परत्र सुखमिच्छन्तो निर्विद्येयुश्च लौकिकात् ॥ ४१ ॥
जीवितं सन्त्यजन्त्येके धनलोभपरा जनाः ।
न जीवितार्थं मन्यन्ते पुरुषा हि धनादृते ॥ ४२ ॥
पश्य तेषां कृपणतां पश्य तेषामबुद्धिताम् ।

दुर्लभ समझके परित्याग करते हैं। परन्तु आप बुद्धिमान होके भी अकाम्य पराधीन अस्थिर अर्थकी कामना करते हुए केवल कृपणकी तरह व्यर्थ शोकित होरहे हैं । इससे आप उस बुद्धिको जाननेके अभिलाषी होकर यह सब अर्थ परित्याग कीजिये; क्योंकि सब अनर्थ, रूपी होकर अर्थ रूपसे मालूम हो रहे हैं । हे राजन् ! कितने ही लोगोंका अर्थके ही वास्ते धननाश होता है, कोई उसे अत्यन्त सुखदायक समझके सब भांतिसे श्रीलाभ करनेकी अभिलाष किया करते हैं। जो पुरुष श्रीमें रममान होकर दूसरा कुछ भी श्रेष्ठ नहीं समझता, उस चेष्टमान पुरुषके सब कार्य ही नष्ट हो जाते हैं। (३३—३९)

हे कौशल्य ! यदि किसी पुरुषके अभिप्रेत कृच्छ्रलब्ध धन नष्ट होवे,तो वह पुरुष आशा भङ्ग होनेपर उससे निवृत्त हुआ करता है। सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य पारलौकिक सुख की इच्छा करते हुए लौकिक कार्योंसे विरत होकर केवल धर्म कार्य किया करते हैं । धन लोभसे युक्त पुरुष धनके वास्ते जीवन परित्याग करते हैं। ऐसा क्या वे लोग धनके अतिरिक्त जीवनको भी कार्य-

अध्रुवे जीविते मोहादर्थदृष्टिमुपाश्रिताः ॥ ४३ ॥
सञ्चये च विनाशान्ते मरणान्ते च जीविते।
संयोगे च वियोगान्ते कोऽनुविप्रणयेन्मनः ॥ ४४ ॥
धनं वा पुरुषो राजन्पुरुषं वा पुनर्धनम्।
अवश्यं प्रजहात्येव तद्विद्वान्कोऽनु संज्वरेत् ॥ ४५ ॥
अन्येषामपि नश्यन्ति सुहृदश्च धनानि च।
पश्य बुद्ध्या मनुष्याणां राजन्नापद्मात्मनः।
नियच्छ यच्छ संयच्छ इन्द्रियाणि मनो गिरम् ॥४६॥
प्रतिषेद्धा न चाप्येषु दुर्बलेष्वहितेष्वपि ॥ ४७ ॥
प्राप्तिसृष्टेषु भावेषु व्यपकृष्टेष्वसंभवे।
प्रज्ञानतृप्तो विक्रान्तस्त्वद्विधो नानुशोचति ॥ ४८ ॥
अल्पमिच्छन्नचपलो मृदुर्दान्तः सुनिश्चितः।
ब्रह्मचर्योपपन्नश्च त्वद्विधो नैव शोचति ॥ ४९ ॥

कारी नहीं समझते। वरन उनकी वैसी कृपणता और निर्बुद्धिता देखिये कि जो लोग मोहके वशमें होकर अनित्य जीवनमें अर्थ दृष्टि अवलम्बन किया करते हैं; उनके बीच कोई विनाशके अनन्तर सञ्चय, मरणके अनन्तर जीवन और वियोगके बाद संयोग, इन सबमें चित्त नहीं लगाते। हे राजन्! कभी पुरुष धनको और कभी धन पुरुषको अवश्य परित्याग करता है; इससे जो लोग इस विषयको विशेष रूपसे जानते हैं, वे उस विषयमें कभी शोकित नहीं होते; क्यों कि इसी तरह दूसरेके भी मित्र और धन नष्ट हुआ करते हैं। हे राजन्! आप विचार करके देखिये, कि मनुष्य लोग अपनी और दूसरेकी बुद्धिसे आपदमें पतित होते हैं; इससे आप उसे विशेष रूपसे देखकर इन्द्रिय-निरोध, मन और वचनका संयम कीजिये, क्यों कि अहितकारी इन्द्रिय, मन और वाक्य इन सबके दुर्बल और सन्निकृष्ट विषयोंमें आसक्त होनेपर कोई भी उन्हें निवारण करनेमें समर्थ नहीं होता; पर विषय सन्निकृष्ट होनेपर ये सब स्वयं निवारित हुआ करते हैं। आपके समान ज्ञानसे तृप्त पराक्रमी पुरुष इन्द्रियोंको दमन किया करते हैं, इससे वे लोग इस विषयमें शोक नहीं करते। (४०–४८)

इसके अतिरिक्त आपके समान मृदु, धार्मिक सुनिश्चित और ब्रह्मचर्य युक्त मनुष्य अल्प विषयकी अभिलाषासे

न त्वेव जाल्मीं कापालीं वृत्तिमेषितुमर्हसि।
नृशंसवृत्तिं पापिष्ठां दुष्टां कापुरुषोचिताम् ॥ ५० ॥
अपि मूलफलाजीवो रमस्वैको महावने।
वाग्यतः संगृहीतात्मा सर्वभूतदयान्वितः ॥ ५१ ॥
सदृशं पंडितस्यैतदीषादन्तेन दन्तिना।
यदेको रमतेऽरण्येष्वारण्येनैव तुष्यति ॥ ५२ ॥
महाह्रदः संक्षुभित आत्मनैव प्रसीदति।
एतदेवं गतस्याहं सुखं पश्यामि जीवितुम् ॥ ५३ ॥
असंभवे श्रियो राजन् हीनस्य सचिवादिभिः।
दैवे प्रतिनिविष्टे च किं श्रेयो मन्यते भवान्॥ ५४॥[३८७४]

इति श्रीमहा०शां० राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये चतुरधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०४ ॥

मुनिरुवाच— अथ चेत्पौरुषं किञ्चित्क्षत्रियात्मनि पश्यसि।
ब्रवीमि तां तु ते नीतिं राज्यस्य प्रतिपत्तये ॥ १ ॥
तां चेच्छक्नोषि निर्मातुं कर्म चैव करिष्यसि।

चञ्चल नहीं होते और उसके वास्ते शोक भी नहीं करते; तथा वे लोग अविचार पूर्वक कापाली वृत्ति, नृशंसता, पापी, दुष्ट और कादरोंके योग्य वृत्तिको अवलम्बन करनेमें प्रवृत्त नहीं होते। हे राजन्! इससे आप मन और वचन को संयम करके सब प्राणियोंमें दया प्रकाशित करते तथा महावनमें फल मूलसे जीविका निर्वाह करते हुए अकेले ही विहार कीजिये। जैसे ईषा समान दांत युक्त हाथी महावनमें अकेले ही विहार करता है, वैसे ही विद्वान पुरुष वनके बीच अरण्यवृत्ति अवलम्बन करके अकेले ही विहार करें। जैसे महातालाव पूर्णरीतिसे क्षुभित होकर स्वयं ही प्रसन्न होता है; मैं ऐसी अवस्थायुक्त पुरुषोंको इसी भांति जीवित रहना ही सुख समझता हूं। महाराज! मन्त्री आदिकोंसे रहित मनुष्योंको श्री असम्भव है और केवल दैवके ऊपर निर्भर करनेमें आप कौनसा कल्याण समझते हैं। (४९—५४) [३८७४]

शान्तिपर्वमें एकसौचार अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौपांच अध्याय।

अनन्तर मुनि बोले, हे राजन्! यदि आपके निज शरीरमें कुछ पौरुष है, ऐसा समझते हैं, तो जिसमें आपको फिर राज्य प्राप्त होवे, मैं वैसी नीति कहता हूं; आप यदि उस नीतिका अनुष्ठान करने और कार्य करनेमें अपनेको

शृणु सर्वमशेषेण यत्त्वां वक्ष्यामि तत्त्वतः ॥ २ ॥
आचरिष्यसि चेत्कर्म महतोऽर्थानवाप्स्यसि ।
राज्यं राज्यस्य मन्त्रं वा महतीं वा पुनः श्रियम् ॥३॥
अथैतद्रोचते राजन्पुनर्ब्रूहि ब्रवीमि ते ।

राजोवाच— ब्रवीतु भगवान्नीतिमुपपन्नोऽस्म्यहं प्रभो ॥ ४ ॥
अमोघोऽयं भवत्वद्य त्वया सह समागमः ।

मुनिरुवाच— हित्वा दम्भं च कामं च क्रोधं हर्षं भयं तथा ॥ ५ ॥
अप्यमित्राणि सेवस्व प्रणिपत्य कृताञ्जलिः ।
तमुत्तमेन शौचेन कर्मणा चाभिधारय ॥ ६ ॥
दातुमर्हति ते वित्तं वैदेहः सत्यसंगरः ।
प्रमाणं सर्वभूतेषु प्रग्रहं च भविष्यसि ॥ ७ ॥
ततः सहायान्सोत्साहाँल्लप्स्यसेऽव्यसनान् शुचीन् ।
वर्तमानः स्वशास्त्रेण संयतात्मा जितेन्द्रियः ॥ ८ ॥
अभ्युद्धरति चात्मानं प्रसादयति च प्रजाः ।
तेनैव त्वं धृतिमता श्रीमता चाभिसत्कृतः ॥ ९ ॥

समर्थ समझें; तो मैं आपसे जो सब यथार्थ वचन कहूंगा, उसे चित्त लगाके सुनिये। हे राजन्! मैं जो कहूंगा, आप यदि वैसा ही आचरण करें, तो आप निश्चय ही उसे महान् सब अर्थ, राज्य, राज्यके मन्त्र और महती श्रीको फिर प्राप्त करेंगे, इससे मैं आपसे फिर कहता हूं, कि यह आपको रुचता है, वा नहीं वह मुझसे कहिये। राजाने कहा, हे भगवन्! मैं पौरुषसे युक्त हुआ हूं, आप मुझसे जिस नीतिको कहना चाहते हैं, उसे कहिये, आपके साथ मेरा यह समागम सफल होवे। (१—५)

मुनि बोले, आप दम्भ, काम, क्रोध, हर्ष और भय त्यागके प्रणत भावसे हाथ जोडके शत्रुओंकी सेवा कीजिये। आप उस सत्यसन्ध विदेहराजकी शुद्ध और उत्तम कर्मोंसे आराधना कीजिये, ऐसा होनेसे ही वे आपको धन दान करेंगे। इसी भांति क्रमसे सबसे विश्वासपात्र होनेपर आप विदेहराजके बाहुस्वरूप होंगे, अनन्तर उत्साहयुक्त, व्यसनरहित, शुद्ध स्वभाववाले सहायकोंको प्राप्त कर सकेंगे। नीतिशास्त्रके अनुसार चलनेवाले स्थिर चित्त जितेन्द्रिय विदेहराजकी प्रजाको प्रसन्न करके आप स्वयं अपना उद्धार कीजिये-श्री-

प्रमाणं सर्वभूतेषु गत्वा च ग्रहणं महत् ।
ततः सुहृद्बलं लब्ध्वा मन्त्रयित्वा सुमन्त्रिभिः ॥१०॥
आन्तरैर्भेदयित्वारीन्बिल्वं बिल्वेन भेदय ।
परैर्वा संविदं कृत्वा बलमप्यस्य घातय ॥ ११ ॥
अलभ्या ये शुभा भावाः स्त्रियश्चाच्छादनानि च ।
शय्यासनानि यानानि महार्हाणि गृहाणि च ॥ १२ ॥
पक्षिणो मृगजातानि रसगन्धाः फलानि च ।
तेष्वेव सज्जयेथास्त्वं यथा नश्यत्स्वयं परः ॥ १३ ॥
यद्येवं प्रतिषेद्धव्यो यद्युपेक्षणमर्हति ।
न जातु विवृतः कार्यः शत्रुः सुनयमिच्छता ॥ १४ ॥
रमस्व परमामित्रे विषये प्राज्ञसंमतः ।
भजस्व श्वेतकाकीयैर्मित्रधर्ममनर्थकैः ॥ १५ ॥
आरम्भांश्चास्य महतो दुश्चरांश्च प्रयोजय ।
नदीवच्च विरोधांश्च बलवद्भिर्विरुध्यताम् ॥ १६ ॥

मान् धैर्यशाली उस विदेहराजसे आप सत्कृत् होनेपर सबके विश्वासपात्र होकर अत्यन्त ही आदरणीय होंगे। तिसके अनन्तर आप सुहृद्बल लाभ कर उत्तम मन्त्रियोंके साथ विचार करके बेलसे बेल तोडनेकी भांति शत्रु पक्षीय आन्तरिक पुरुषोंके जरिये शत्रुओंमें भेद अथवा शत्रुओंके साथ सन्धि करके विदेह राजके सब बलको नष्ट कीजिये। (६—११)

शुद्धभाव युक्त मनुष्य, स्त्री, ओढनेके वस्त्र, शय्या, आसन, महामूल्यवान सवारी, गृह, पशु, पक्षी, गन्ध, रस, और फल आदि जो सब वस्तु अलभ्य हैं, आप उन सबको इस प्रकार सज्जित कराइये, कि जिससे सब शत्रु स्वयं ही नष्ट होवें। हे राजन् ! आप सुनीतिके अलाभिषी हैं, शत्रुलोग यदि आपके जरिये इन सब विषयोंमें प्रतिषिद्ध होकर उसे उपेक्षा करें, तो आप कदापि उन लोगोंको निवृत्त न कीजिये। हे राजेन्द्र! आप बुद्धिमान पुरुषोंमें सम्मत होकर शत्रुओंके विषयमें विहार करिये और सदा सावधानी तथा भय-चकित आदि श्वेतकाकीय उपायसे मित्र धर्मका आचरण कीजिये। आप ऐसे ही उपायके अनुसार विदेहराजके दुश्चर महान् आरम्भ सब प्रयोजित करिये और बलवान सेनाके जरिये नदीकी भांति सब विरोध विशेष रूपसे रुद्ध करिये। (१२–१६)

उद्यानानि महार्हाणि शयनान्यासनानि च।
प्रतिभोगसुखेनैव कोशमस्य विरेचय ॥ १७ ॥
यज्ञदाने प्रशाध्यस्मै ब्राह्मणाननुवर्ण्य तान्।
ते त्वां प्रतिकरिष्यन्ति तं भोक्ष्यन्ति वृका इव ॥१८॥
असंशयं पुण्यशीलः प्राप्नोति परमां गतिम्।
त्रिविष्टपे पुण्यतमं स्थानं प्राप्नोति मानवः ॥ १९ ॥
कोशक्षये त्वमित्राणां वशं कौसल्य गच्छति।
उभयत्र प्रयुक्तस्य धर्मे चाधर्म एव च ॥ २० ॥
फलार्थमूलं व्युच्छिन्द्येत्तेन नन्दन्ति शत्रवः।
न चास्मै मानुषं कर्म दैवमस्योपवर्णय ॥ २१ ॥
असंशयं दैवपरः क्षिप्रमेव विनश्यति।
याजयैनं विश्वजिता सर्वस्वेन वियुज्य तम् ॥ २२ ॥
ततो गच्छसि सिद्धार्थः पीडयमानं महाजनम्।
योगधर्मविदं पुण्यं कश्चिदस्योपवर्णयेत् ॥ २३ ॥
अपि त्यागं बुभूषेत कच्चिद्दुच्छेदनामयम्।

और विदेहराजके बगीचे, महामूल्य शय्या, आसन तथा कोष इन सबको सुखसे भोग करके उनका कोष खाली करिये। आप ब्राह्मणोंको विदेहराजके उद्देश्यसे यज्ञ और दान आदि कार्योंमें नियुक्त करके पीछे अपना मङ्गलार्थ कीजिये, ऐसा होनेसे ही वे लोग भेडिये की तरह उन्हें भक्षण करते हुए आपका मङ्गल करेंगे। पुण्यशील पुरुष निश्चयही परम गतिको प्राप्त होते हैं, ऐसाही क्यों, वे लोग स्वर्गमें भी पुण्यस्थान लाभ किया करते हैं। हे कौशल्य! धर्म और अधर्मके जरिये शत्रुओंके कोषको नष्ट कर सके, तो वे लोग धर्म और अधर्म युक्त पुरुषके वशमें हुआ करते हैं। हे राजन्! शत्रु लोग स्वर्ग और जयके जरिये ही आनन्द अनुभव किया करते हैं; इससे आप उनके स्वर्ग और जयके मूल कोषको विशेष करके नष्ट करें। परन्तु मनुष्यकर्म और दैवकर्म जय आदि उनके समीप वर्णन करना। दैव परायण मनुष्य शीघ्र नष्ट होता है, यह निश्चय ही है; इससे आप उनके सर्वस्व दान स्वरूप विश्वजित् यज्ञ कराके उन्हें राज्यसे विरत कीजिये, उससे वह सिद्धार्थ होकर गमन करेंगे। इससे आप उस विदेहराजको योग धर्म जाननेवाले महाजनोंके पीडाका सब वृत्तान्त कहिये,

सिद्धैरौषधियोगेन सर्वशत्रुविनाशिना ।
नागानश्वान्मनुष्यांश्च कृतकैरुपघातयेत् ॥ २४ ॥
एते चान्ये च बहवो दम्भयोगाः सुचिन्तिताः ।
शक्या विषहता कर्तुं पुरुषेण कृतात्मना ॥ २५ ॥ [३८९९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि कालकवृक्षीये पंचाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०५ ॥

राजोवाच— न निकृत्या न दम्भेन ब्रह्मन्निच्छामि जीवितुम् ।
नाधर्मयुक्तानिच्छेयमर्थान्सुमहतोऽप्यहम् ॥ १ ॥
पुरस्तादेव भगवन्मयैतदपवर्जितम् ।
येन मां नाभिशङ्केत येन कृत्स्नं हितं भवेत् ॥ २ ॥
आनृशंस्येन धर्मेण लोके ह्यस्मिन् जिजीविषुः ।
नाहमेतदलं कर्तुं नैतत्त्वय्युपपद्यते ॥ ३ ॥

मुनिरुवाच- उपपन्नस्त्वमेतेन यथा क्षत्रिय भाषसे ।
प्रकृत्या ह्युपपन्नोऽसि बुद्ध्या वा बहुदर्शनः ॥ ४ ॥

और कुछ पुण्य उपदेश करिये। वह महाजनोंके किसी प्रकारकी पीडाका वृत्तान्त सुननेसे ही राज्य त्याग करेंगे तब आप सब शत्रुओंके नाश करनेवाले सिद्ध औषध प्रयोग करके उनके हाथी, घोडे और मनुष्योंका नाश करियेगा। हे राजन्! इसी प्रकार तथा दूसरे अनेक तरहके दम्भ योग निश्चित हैं, कृतात्मा पुरुष विष प्रयोग करके सबको ही नाश करनेमें समर्थ हुआ करते हैं। (१७-२५) [३८९९]

शान्तिपर्वमें एकसौपांच अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौछः अध्याय।

राजाने कहा, हे ब्रह्मन्! मैं कपट और दम्भके जरिये जीवित रहनेकी इच्छा नहीं करता और अधर्म युक्त महत् अर्थकी भी अभिलाष नहीं करता। हे भगवन्! कपटता और दम्भ रहनेसे कोई मुझ पर शङ्का करेगा ऐसा समझ कर और उससे अपनी बुराई होनेकी सम्भावना देखकर मैंने पहिलेसे ही इसे परित्याग किया है। मैं इस लोकमें अनृशंस धर्मके जरिये जीवित रहनेकी इच्छा करता हूं; इससे मैं ऐसा आचरण नहीं कर सकूंगा और आपसे भी ऐसा होना उपयुक्त नहीं है। (१—३)

मुनि बोले, हे राजन्! आपने जैसा कहा है, उससे मैं आपको प्रकृतिस्थ वा बुद्धिस्थ और अनृशंस धर्म युक्त बोध करता हूं। मैं आपदोनोंके मङ्गलके वास्ते

उभयोरेव वामर्थे यतिष्ये तव तस्य च।
संश्लेषं वा करिष्यामि शाश्वतं ह्यनपायिनम् ॥ ५ ॥
त्वादृशं हि कुले जातमनृशंसं बहुश्रुतं।
अमात्यं को न कुर्वीत राज्यप्रणयकोविदम् ॥ ६ ॥
यस्त्वं प्रच्यावितो राज्याद्व्यसनं चोत्तमं गतः।
आनृशंस्येन वृत्तेन क्षत्रियेच्छसि जीवितुम् ॥ ७ ॥
आगन्ता मद्गृहं तात वैदेहः सत्यसंगरः।
अथाहं तं नियोक्ष्यामि तत्करिष्यत्यसंशयम् ॥ ८ ॥
तत आहूय वैदेहं मुनिर्वचनमब्रवीत्।
अयं राजकुले जातो विदिताभ्यन्तरो मम ॥ ९ ॥
आदर्श इव शुद्धात्मा शारदश्चन्द्रमा यथा।
नास्मिन्पश्यामि वृजिनं सर्वतो मे परीक्षितः ॥ १० ॥
तेन ते सन्धिरेवास्तु विश्वसास्मिन्यथा मयि।
न राज्यमनमात्येन शक्यं शास्तुमपि त्र्यहम् ॥ ११ ॥
अमात्यः शूर एव स्याद् बुद्धिसंपन्न एव वा।

यत्न करूंगा और आपके साथ विदेहराजकी जिसमें सदाके वास्ते अक्षय सन्धि होवेगी, वही उपाय करूंगा। महाराज आपके समान सत्कुलमें उत्पन्न बहुश्रुत अनृशंस राज्य प्रणयनमें कुशल पुरुषको पाके कौन राजा अमात्य पद पर नियुक्त न करेगा ? आप क्षत्रिय कुलमें जन्म ग्रहण करके राज्यच्युत और अत्यन्त विपद्ग्रस्त होकर भी जब अनृशंस वृत्तिसे जीविका निर्वाह करनेके अभिलाषी हुए हैं, तब मैं आपको धन्यवाद देता हूं। हे तात ! सत्यसन्ध विदेहराज मेरे गृहपर आवेंगे, मैं उन्हें जिस कार्यमें नियुक्त करूंगा, वह उसको ही करेंगे, इसमें सन्देह नहीं है। (४-८)

अनन्तर मुनिने विदेहराजको आवाहन करके कहा यह जो क्षेमदर्शी राजकुलमें उत्पन्न हुआ है, मैंने उसके अन्तःकरणको सब भांतिसे परीक्षा करके देखा है, इसका चित्त आरसी और शरदकालके चन्द्रमा समान शुद्ध है; मैं इसके चित्तमें किसी प्रकारकी कुटिलता नहीं देखता हूं। इससे इसके साथ आपकी सन्धि होवे, आप जैसा मेरा विश्वास करते हैं, वैसे ही इसका भी विश्वास करिये। हे राजन् ! जिस राजाके अमात्य नहीं हैं, वे राज्यको तीन दिन भी अपने शासनमें नहीं रख

ताभ्यां चैवोभयं राजन्पश्य राज्यप्रयोजनम् ॥ १२ ॥
धर्मात्मनां क्वचिल्लोके नान्यास्ति गतिरीदृशी।
महात्मा राजपुत्रोऽयं सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ १३ ॥
सुसंगृहीतस्त्वेवैष त्वया धर्मपुरोगमः।
संसेव्यमानः शत्रूंस्ते गृह्णीयान्महतो गणान् ॥ १४ ॥
यद्ययं प्रतियुद्ध्येत त्वां स्वकर्म क्षत्रियस्य तत्।
जिगीषमाणस्त्वां युद्धे पितृपैतामहे पदे ॥ १५ ॥
त्वं चापि प्रतियुद्ध्येथा विजिगीषुव्रते स्थितः।
अयुद्ध्वैव नियोगान्मे वशे कुरु हिते स्थितः ॥ १६ ॥
स त्वं धर्ममवेक्षस्व हित्वा लोभमसांप्रतं।
न च कामान्न च द्रोहात्स्वधर्मं हातुमर्हसि ॥ १७ ॥
नैव नित्यं जयस्तात नैव नित्यं पराजयः।
तस्माद्भोजयितव्यश्च भोक्तव्यश्च परो जनः ॥ १८ ॥
आत्मन्यपि च संदृश्यावुभौ जयपराजयौ।

सकते; इससे राजा वीरता और बुद्धि-युक्त मनुष्यको मन्त्री करे, देखिये पराक्रम और बुद्धिबलसे ही दोनों लोक तथा राजके प्रयोजन सिद्ध हुआ करते हैं। धर्मात्मा मनुष्योंको इस प्रकार दूसरी गति कहीं भी नहीं है। यह राज-पुत्र क्षेमदर्शी अत्यन्त धार्मिक हैं; विशेष करके इन्होंने साधुओंके मार्गको अवल-म्बन किया है। इस धर्मात्मा राजपुत्रको आप संग्रह करके पूर्ण रीतिसे सेवा करनेसे यह आपके शत्रुओंको निग्रह करेगा। यदि ये पिता पितामह पदके वास्ते युद्धकी इच्छा करके आपके साथ क्षत्रियोंके स्वकार्य अर्थात् संग्राम करनेमें प्रवृत्त होंगे। तो आप भी विजयकी अभिलाषासे इनके सङ्ग युद्ध करियेगा परन्तु ऐसा न करके मेरी इच्छाके अनुसार हितैषी होकर इन्हें वशमें करिये। (९-१६)

आप धर्मदर्शी होके अपने समान पुरुषोंसे अनुचित लोभको त्यागकर धर्मकी रक्षा करिये; काम और क्रोधके वशमें होकर निज धर्मको त्यागना आ-पको उचित नहीं है। हे तात! एक पुरुषकी सदा जय और एककी सदा पराजय नहीं होती; जय-पराजय दोनों ही हुआ करती है; इससे भोग्य वस्तु-ओंके जरिये शत्रुके साथ सन्धि करनी उचित है। हे तात! जय-पराजय दोनों ही आपमें देखी जाती है। निःशेष-

निःशेषकारिणां तात निःशेषकरणाद्भयम् ॥ १९ ॥
इत्युक्तः प्रत्युवाचेदं वचनं ब्राह्मणर्षभम्।
प्रतिपूज्याभिसत्कृत्य पूजार्हमनुमान्य च ॥ २० ॥
यथा ब्रूयान्महाप्राज्ञो यथा ब्रूयान्महाश्रुतः।
श्रेयस्कामो यथा ब्रूयादुभयोरेव तत्क्षमम् ॥ २१ ॥
यद्यद्वचनमुक्तोऽसि करिष्यामि च तत्तथा।
एतद्धि परमं श्रेयो न मेऽत्रास्ति विचारणा ॥ २२ ॥
ततः कौसल्यमाहूय मैथिलो वाक्यमब्रवीत्।
धर्मतो नीतितश्चैव लोकश्च विजितो मया ॥ २३ ॥
अहं त्वया चात्मगुणैर्जितः पार्थिवसत्तम।
आत्मानमनवज्ञाय जितवद्वर्ततां भवान् ॥ २४ ॥
नावमन्यामि ते बुद्धिं नावमन्ये च पौरुषम्।
नावमन्ये जयामीति जितवद्वर्ततां भवान् ॥ २५ ॥
यथावत्पूजितो राजन्गृहं गन्ताऽसि मे भृशम्।
ततः संपूज्य तौ विप्रं विश्वस्तौ जग्मतुर्गृहान् ॥ २६ ॥
वैदेहस्त्वथ कौसल्यं प्रवेश्य गृहमञ्जसा।

कारियोंको निःशेष-निबन्धन रूपी भय हुआ करता है। विदेहराज जनक कालक वृक्षीय मुनिका ऐसा वचन सुनकर उन पूजनीय ब्राह्मणश्रेष्ठ मुनिका सम्मान और सत्कार करके बोले, हे ब्रह्मन्! आप महाबुद्धिमान और महाश्रुत हैं, इससे आपने हम दोनोंमें मेलकी इच्छा करके जो कुछ कहा वह योग्य है। आपने मुझसे जैसा कहा, मैं वैसाही करूंगा, क्यों कि मैं इसे परम कल्याणदायक बोध करता हूं; इस विषयमें अब मैं कुछ भी विचार न करूंगा। अनन्तर मिथिलापति जनकने कौशल्य क्षेमदर्शीको आवाहन करके कहा, हे राजसत्तम! मैंने धर्म और नीतिसे पृथ्वी जय किया; परन्तु आपने अपनी अवज्ञा करके निज गुणोंसे मुझे जय किया है; इससे आप विजयीकी भांति विराजमान रहिये। (१७-२४)

यद्यपि मैंने आपका जय किया है, तौभी आपके बुद्धि और पौरुषकी अवज्ञा नहीं कर सकता; इससे आप विजयीकी तरह विद्यमान रहिये। हे राजन्! इस समय आप यथारीति पूजित होकर मेरे घर चलिये। अनन्तर मिथिलाराज जनक और कौशल्य दोनों ही ब्राह्मण श्रेष्ठ

पाद्यार्घ्यमधुपर्कैस्तं पूजार्हं प्रत्यपूजयत् ॥ २७ ॥
ददौ दुहितरं चास्मै रत्नानि विविधानि च ।
एष राज्ञां परो धर्मो नित्यौ जयपराजयौ ॥ २८ ॥ [३९२७]

इति श्रीमहाभारते शांतिप० राजध० कालकवृक्षीये षडधिकशततमोऽध्यायः ॥१०६॥

युधिष्ठिर उवाच— ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
धर्मवृत्तं च वित्तं च वृत्त्युपायाः फलानि च ॥ १ ॥
राज्ञां वित्तं च कोशं च कोशसञ्चयनं जयः ।
अमात्यगुणवृत्तिश्च प्रकृतीनां च वर्धनम् ॥ २ ॥
षाड्गुण्यगुणकल्पश्च सेनावृत्तिस्तथैव च ।
परिज्ञानं च दुष्टस्य लक्षणं च सतामपि ॥ ३ ॥
समहीनाधिकानां च यथावल्लक्षणं च यत् ।
मध्यमस्य च तुष्ट्यर्थं यथा स्थेयं विवर्धता ॥ ४ ॥
क्षीणग्रहणवृत्तिश्च यथाधर्मं प्रकीर्तितम् ।
लघुनाऽऽदेशरूपेण ग्रन्थयोगेन भारत ॥ ५ ॥
विजिगीषोस्तथा वृत्तमुक्तं चैव तथैव ते ।
गणानां वृत्तिमिच्छामि श्रोतुं मतिमतां वर ॥ ६ ॥

मुनिकी पूजा करके विश्वासी होकर घर गये। तब विदेहराजने कौशल्यको गृहमें प्रवेश कराके पाद्य, अर्घ और मधुपर्कसे उनकी पूजा करके उन्हें कन्या तथा विविध वस्तु दान की। राजाओं-का यही परम धर्म है, जय और पराजयको अनित्य जानना चाहि-ये। (२५-२८) [३९२७]

शान्तिपर्वमें एकसौ छः अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौसात अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके धर्मवृत्त, साधारणके व्यवहार जीवन उपाय और फल, राजाओंके व्यवहार, कोष, कोषस्थापन, जन, सेवकोंके गुण, व्यवहार, प्रजाकी वृद्धि, षाड्गुण्यके गुण कल्पना, सेनाके व्यवहार, सत् और असत् पुरुषोंके लक्षणका ज्ञान, समान, हीन और अधिक दक्ष पुरुषोंके यथावत् लक्षण मध्य वित्त और पुरुषोंकी प्रसन्नताके वास्ते वर्द्धित मनुष्यको जिस भाँति रहना होता है, हीन मनुष्योंको ग्रहण और जीविका, उपदेशयुक्त सुगम ग्रन्थोंसे जैसा धर्म वर्णित हुआ है, आपने विजयी पुरुषोंका जैसा व्यवहार कहा है, वह व्यवहार; शूर पुरुषोंकी वृत्ति, शूरलोग पृथक् न

यथा गणाः प्रवर्धन्ते न भिद्यन्ते च भारत।
अरींश्च विजिगीषन्ते सुहृदः प्राप्नुवन्ति च ॥ ७ ॥
भेदमूलो विनाशो हि गणानामुपलक्षये।
मन्त्रसंवरणं दुःखं बहूनामिति मे मतिः ॥ ८ ॥
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं निखिलेन परन्तप।
यथा च ते न भिद्येरंस्तच्च मे वद पार्थिव ॥ ९ ॥

भीष्म उवाच— गणानां च कुलानां च राज्ञां भरतसत्तम।
वैरसन्दीपनावेतौ लोभामर्षौ नराधिप ॥ १० ॥
लोभमेको हि वृणुते ततोऽमर्षमनन्तरम्।
तौ क्षयव्ययसंयुक्तावन्योन्यं च विनाशिनौ ॥ ११ ॥
चारमन्त्रबलादानैः सामदानविभेदनैः।
क्षयव्ययभयोपायैः प्रकर्षन्तीतरेतरम् ॥ १२ ॥
तत्रादानेनभिद्यन्ते गणाः संघातवृत्तयः।
भिन्ना विमनसः सर्वे गच्छन्त्यरिवशं भयात् ॥ १३ ॥

होके जिस प्रकार वर्द्धित होवें, वे लोग शत्रुओंके जीतनेकी अभिलाषा करके किस भांति सुहृद पुरुषोंको प्राप्त करें? (१-७)

हे शत्रुतापन! मैं बोध करता हूं, कि शूर पुरुषोंमें परस्पर भेद ही नाशका कारण है। इससे उन लोगोंमें जिससे भेद न होवे और अनेक पुरुषोंके निकट मन्त्रको छिपाना अत्यन्त कठिन है; वह जिस प्रकार गोपन करना होता है और इन सबके उपाय मैं आपके निकट सुननेकी इच्छा करता हूं। आप यह सब वृत्तान्त विस्तारके सहित मेरे समीप वर्णन कीजिये। (८-९)

भीष्म बोले, हे भरतसत्तम! राज-कुल और गण अर्थात् शूरकुल, ये दोनों ही कुल वैर सन्दीपक लोभ और क्रोधके वशीभूत हैं। राजा लोभकी इच्छा करे, तो शूर लोग क्रोधकी अभिलाष करते हैं; इससे दोनों कुल क्षय और व्ययसे युक्त होकर परस्परमें एक दूसरेके नाशक हुआ करते हैं। वे लोग दूत, मन्त्र, बल, आदान, साम, दान, भेद, क्षय और भय आदि इन सब उपायोंके जरिये आपसमें परस्परको आकर्षण किया करते हैं। उसमेंसे एक मतके अनुसार चलनेवाले शूरोंमें आदानसे भेद होता है। वे लोग पृथक् होनेसे ही आपसमें चित्तकी अनैक्यताके कारण शत्रुओंके वशमें हुआ करते हैं। हे

भेदे गणा विनश्युर्हि भिन्नास्तु सुजयाः परैः।
तस्मात्संघातयोगेन प्रयतेरन्गणाः सदा ॥ १४ ॥
अर्थाश्चैवाधिगम्यन्ते संघातबलपौरुषैः।
बाह्याश्च मैत्रीं कुर्वन्ति तेषु संघातवृत्तिषु ॥ १५ ॥
ज्ञानवृद्धाः प्रशंसन्ति शुश्रूषन्तः परस्परम्।
विनिवृत्ताभिसंधानाः सुखमेधन्ति सर्वशः ॥ १६ ॥
धर्मिष्ठान्व्यवहारांश्च स्थापयन्तश्च शास्त्रतः।
यथावत्प्रतिपश्यन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १७ ॥
पुत्रान्भ्रातॄन्निगृह्णन्तो विनयन्तश्च तान्सदा।
विनीतांश्च प्रगृह्णन्तो विवर्धन्ते गणोत्तमाः ॥ १८ ॥
चारमन्त्रविधानेषु कोशसंनिचयेषु च।
नित्ययुक्ता महाबाहो वर्धन्ते सर्वतो गणाः ॥ १९ ॥
प्राज्ञान्शूरान्महोत्साहान्कर्मसु स्थिरपौरुषान्।
मानयन्तः सदा युक्ता विवर्धन्ते गणा नृप ॥ २० ॥

राजन्! जब शूरलोग मतभेद होनेसे ही नष्ट और शत्रुओंसे पराजित होते हैं; उस समय उन लोगोंको सदा एक मतमें रहनेके वास्ते सब तरहसे यत्न करना उचित है। शूर पुरुषोंके बल और पौरुष एक होनेपर वे लोग अर्थ लाभमें समर्थ हो सकते हैं। यहां तक कि उन लोगोंकी वृत्ति एक तरहकी होनेपर अन्य मतावलम्बी शूर पुरुष भी उनके साथ मित्रता करते हैं। जो शूर पुरुष परस्परकी सेवा करते हैं, ज्ञानवृद्ध पण्डित लोग उनकी प्रशंसा किया करते हैं; क्यों कि उन लोगोंकी अभिसन्धि पृथक् न होनेसे ही वे लोग सब भांतिसे सुख भोग कर सकते हैं। (९-१६)

जो शूर लोग सब धर्म व्यवहार शास्त्रके अनुसार स्थापित करके उसपर यथावत् दृष्टि रखते हैं, वे समूहके बीच श्रेष्ठ होकर वर्द्धित हुआ करते हैं। शूर पुरुष पुत्र और भाइयोंको सदा युद्ध-कार्यमें विशेष रूपसे शिक्षा देके उन शिक्षित पुत्र और भाइयोंको ग्रहण करनेसे सब गुणोंमें वर्द्धित हुआ करते हैं। हे महाबाहो! जो सब शूर दूत, मन्त्र, उपाय और कोषके कार्योंमें सदा रत रहते हैं, वह सब तरहसे बढते हैं। हे राजन्! जो सब शूर बुद्धिमान, महा उत्साहयुक्त और कार्योंमें स्थिर पौरुषवाले, शूरोंको सदा सम्मानित करते

द्रव्यवन्तश्च शूराश्च शस्त्रज्ञाः शास्त्रपारगाः।
कृच्छ्रास्वापत्सु संमूढान् गणाः संतारयन्ति ते ॥२१॥
क्रोधो भेदो भयं दण्डः कर्षणं निग्रहो वधः।
नयत्यरिवशं सद्यो गणान्भरतसत्तम ॥ २२ ॥
तस्मान्मानयितव्यास्ते गणमुख्याः प्रधानतः।
लोकयात्रा समायत्ता भूयसी तेषु पार्थिव ॥ २३ ॥
मन्त्रगुप्तिः प्रधानेषु चारश्चामित्रकर्षण।
न गणाः कृत्स्नशो मन्त्रं श्रोतुमर्हन्ति भारत॥ २४ ॥
गणमुख्यैस्तु संभूय कार्यं गणहितं मिथः।
पृथग्गणस्य भिन्नस्य विततस्य ततोऽन्यथा ॥ २५ ॥
अर्थाः प्रत्यवसीदन्ति तथाऽनर्था भवन्ति च।
तेषामन्योन्यभिन्नानां स्वशक्तिमनुतिष्ठताम् ॥ २६ ॥
निग्रहः पण्डितैः कार्यः क्षिप्रमेव प्रधानतः।
कुलेषु कलहा जाताः कुलवृद्धैरुपेक्षिताः ॥ २७ ॥
गोत्रस्य नाशं कुर्वन्ति गणभेदस्य कारकम्।

हैं, उनकी बढती हुआ करती है। जो सब शूर धनवान, शास्त्रज्ञ और शास्त्र पारग हैं, वे कष्टयुक्त घोर आपदमें मोहित मनुष्योंका परित्राण किया करते हैं। हे भरतसत्तम ! क्रोध, भय, दम्भ, कर्षण, निग्रह और वध, ये सब शूर पुरुषोंको सदा शत्रुओंके वशमें किया करते हैं। (१७—२१)

हे राजन् ! इससे समूहमें मुख्य प्रधान शूरोंका विशेष सम्मान करना उचित है; क्यों कि समस्त लोक यात्रा ही पूर्ण रीतिसे उन शूर पुरुषोंके अधिकारमें हुआ करती है। हे शत्रु कर्षण भारत ! मुख्य शूर पुरुष ही दूत और मन्त्रकी रक्षा किया करते हैं इससे वेही मन्त्रणा सुनने पावें; परन्तु सब शूर पुरुष मन्त्रणा नहीं सुनने पावेंगे। जो समूहके बीच मुख्य हैं, वे सबके साथ मिलके गुप्त भावसे समूहका हित किया करते हैं; परन्तु गणके पृथक् भिन्न और विरत होनेपर उसका विपरीत होता है। यहां तक कि निज शक्तिके अनुष्ठानकारी गणोंमें भेद होनेसे सब अर्थ अवसन्न होते और अनर्थ उत्पन्न हुआ करता है। इससे कुलवृद्ध पण्डित लोग मुख्यगणके निकटसे निकृष्ट गणको शीघ्र दूर करें, वे लोग उपेक्षित होनेपर सदा कुलमें

आभ्यन्तरं भयं रक्ष्यमसारं बाह्यतो भयम् ॥ २८ ॥
आभ्यन्तरं भयं राजन्सद्यो मूलानि कृन्तति।
अकस्मात्क्रोधमोहाभ्यां लोभाद्वापि स्वभावजात्॥२९॥
अन्योन्यं नाभिभाषन्ते तत्पराभवलक्षणम्।
जात्या च सदृशाः सर्वे कुलेन सदृशास्तथा ॥ ३० ॥
न चोद्योगेन बुद्ध्या वा रूपद्रव्येण वा पुनः।
भेदाच्चैव प्रदानाच्च भिद्यन्ते रिपुभिर्गणाः ॥ ३१ ॥
तस्मात्संघातमेवाहुर्गणानां शरणं महत् ॥ ३२ ॥ [३९५९]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि गणवृत्ते सप्ताधिकशततमोऽध्यायः॥ १०७॥

युधिष्ठिर उवाच- महानयं धर्मपथो बहुशाखश्च भारत।
किंस्विदेवेह धर्माणामनुष्ठेयतमं मतम् ॥ १ ॥
किं कार्यं सर्वधर्माणां गरीयो भवतो मतम्।
यथाऽहं परमं धर्ममिह च प्रेत्य चाप्नुयाम् ॥ २ ॥
भीष्म उवाच— मातापित्रोर्गुरूणां च पूजा बहुमता मम।

झगडा करते और गणभेदके कारण होकर गोत्रनाश किया करते हैं। हे राजन्! इससे भीतरी भयकी यत्नपूर्वक रक्षा करके असार बाह्य भयको त्यागना उचित है। (२३-२८)

क्यों कि आभ्यन्तर भय ही सदा मूलच्छेदन किया करता है। हे राजन्! अकस्मात् क्रोध, मोह और स्वाभाविक लोभके कारण आपसमें एक दूसरेसे वार्त्तालाप न करनेसे उसे ही पराभवका लक्षण मालूम करना चाहिये। सब कोई पराक्रम, बुद्धि, रूप वा धनमें समान होवे, वा न होवे, जाति और कुलमें समान होंगे। शत्रु लोग प्रधान भेद करनेसे ही गण भेद कर सकते हैं; इससे पण्डित लोग गण सम्पत्तिको परम आश्रय कहा करते हैं। (२९-३२)

शान्तिपर्वमें एकसौ सात अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौआठ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! यह धर्म मार्ग बहुत बडा और अनेक शाखाओंसे युक्त है; इन सब धर्मके बीच कौन धर्म अत्यन्त अनुष्ठेय कहके आपको सम्मत है? सब धर्मके बीच कौन धर्म अनुष्ठेय और गुरुतर करके आपको अभिमत है? मैं इस लोक और परलोकमें जिस परम धर्मका आसरा करूंगा आप उसे वर्णन करिये। (१—२)

इह युक्तो नरो लोकान्यशश्च महदश्नुते ॥ ३ ॥
यच्च तेऽभ्यनुजानीयुः कर्म तात सुपूजिताः।
धर्माधर्मविरुद्धं वा तत्कर्तव्यं युधिष्ठिर ॥ ४ ॥
न च तैरभ्यनुज्ञातो धर्ममन्यं समाचरेत्।
यं च तेऽभ्यनुजानीयुः स धर्म इति निश्चयः ॥ ५ ॥
एत एव त्रयो लोका एत एवाश्रमास्त्रयः।
एत एव त्रयो वेदा एत एव त्रयोऽग्नयः ॥ ६ ॥
पिता वै गार्हपत्योऽग्निर्माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृतः।
गुरुराहवनीयस्तु साऽग्नित्रेता गरीयसी ॥ ७ ॥
त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रीँल्लोकांश्च विजेष्यसि।
पितृवृत्त्या त्विमं लोकं मातृवृत्त्या तथा परम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मलोकं गुरोर्वृत्त्या नियमेन तरिष्यसि।
सम्यगेतेषु वर्तस्व त्रिषु लोकेषु भारत ॥ ९ ॥
यशः प्राप्स्यसि भद्रं ते धर्मं च सुमहत्फलम्।

भीष्म बोले, पिता, माता और गुरु-जनोंकी पूजा करनी मुझे बहुमत है, मनुष्य इस लोकमें उक्त कर्मोंमें नियुक्त रहनेसे ही सब लोकोंको जय करते हुए महत् यशस्वी होते हैं। हे तात युधिष्ठिर! पूजनीय पिता, माता और गुरु जिस कर्मको करनेकी आज्ञा दें, वह धर्म ही हो, वा धर्म विरुद्ध ही होवे, शङ्का रहित चित्तसे उसे करना ही उचित है। उन लोगोंके निवारण करने पर दूसरे धर्मका आचरण न करे, वे लोग जो कुछ आज्ञा दें वही धर्म है, यह निश्चय जाने। पिता, माता और गुरु ये तीनों त्रिलोक स्वरूप हैं; ये ही तीनों आश्रम, तीनों वेद और तीनों अग्नि स्वरूप हैं; पिता गार्हपत्य, माता दक्षिण और गुरु आहवनीय अग्नि हैं, ये तीनों अग्नि अत्यन्त वृहत् हैं। पिता, माता, और गुरु इन तीनोंके निकट अप्रमत्त रहनेसे तीनों लोक जय करेगा, पितृपूजासे इस लोक, मातृपूजासे परलोक और गुरु पूजासे अवश्य ही ब्रह्मलोक उत्तीर्ण होगा। (३-७)

हे भारत! तीनों लोकके बीच इन सबका पूर्णरीतिसे संमान करना। तुम्हारा मङ्गल होवे, तुम महत् यश और धर्म फल प्राप्त करोगे। पिता, माता और गुरुके समीप भोग कार्य विषयमें अपनी अधिकता दिखाना, अति भोजन और दोष वर्णन न करे; सदा उन लोगोंकी

नैतानतिशयेज्जातु नात्यश्नीयान्न दूषयेत् ॥ १० ॥
नित्यं परिचरेच्चैव तद्वै सुकृतमुत्तमम् ।
कीर्तिं पुण्यं यशो लोकान्प्राप्स्यसे राजसत्तम ॥ ११ ॥
सर्वे तस्यादृता लोका यस्यैते त्रय आदृताः ।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः ॥ १२ ॥
न चायं न परो लोकस्तस्य चैव परन्तप ।
अमानिता नित्यमेव यस्यैते गुरवस्त्रयः ॥ १३ ॥
न चास्मिन्न परे लोके यशस्तस्य प्रकाशते ।
न चान्यदपि कल्याणं परत्र समुदाहृतम् ॥ १४ ॥
तेभ्य एव हि यत्सर्वं कृत्वा च विसृजाम्यहम् ।
तदासीन्मे शतगुणं सहस्रगुणमेव च ॥ १५ ॥
तस्मान्मे संप्रकाशन्ते त्रयो लोका युधिष्ठिर ।
दशैव तु सदाऽऽचार्यः श्रोत्रियानतिरिच्यते ॥ १६ ॥
दशाचार्यानुपाध्याय उपाध्यायान्पिता दश ।
पितॄन्दश तु मातैका सर्वां वा पृथिवीमपि ॥ १७ ॥
गुरुत्वेनाति भवति नास्ति मातृसमो गुरुः ।
गुरुर्गरीयान्पितृतो मातृतश्चेति मे मतिः ॥ १८ ॥

सेवा करे, यही उत्तम सुकृत है । हे नृपसत्तम ! ऐसा करनेसे तुम कीर्त्ति, पुण्य, यश और पवित्र लोकोंको प्राप्त करोगे । पिता माता और गुरुका जो लोग सम्मान करते हैं वे सब लोगोंमें आदरणीय होते हैं, और जो इनका अनादर करते हैं उनके सब कार्य ही निष्फल होते हैं। हे शत्रुतापन ! उनके वास्ते यह लोक और परलोक कुछ भी नहीं है. ये तीनों गुरु जिसके जरिये सदा अपमानित होते, इस लोक और परलोकमें उसका यश प्रकाशित नहीं होता तथा परलोकमें उसका कल्याण कीर्तित नहीं होता । (८-१४)

पिता माता वा गुरुके उद्देश्यसे मैं जो सब अर्थ संग्रह करके परित्याग करूं, तो मेरे पक्षमें वह सौगुणा वा सहस्रगुणा हुआ करता है । हे युधिष्ठिर ! इस ही कारण मेरे वास्ते तीनों लोक प्रकाशित हैं । दस श्रोत्रियोंसे एक साधु आचार्य मुख्य है; दश उपाध्यायोंसे पिता मुख्य है; दश पितासे माता मुख्य है, और क्या कहूं, माता गौरवसे समस्त पृथ्वी-को अभिभव किया करती है, इससे

उभौ हि मातापितरौ जन्मन्येवोपयुज्यतः।
शरीरमेव सृजतः पिता माता च भारत ॥ १९ ॥
आचार्यशिष्टा या जातिः सा दिव्या साऽजरामरा।
अवध्या हि सदा माता पिता चाप्यपकारिणौ॥ २० ॥
न संदुष्यति तत्कृत्वा न च ते दूषयन्ति तम्।
धर्माय यतमानानां विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २१ ॥
यश्चावृणोत्यवितथेन कर्मणा ऋतं ब्रुवन्नमृतं संप्रयच्छन्।
तं वै मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन् ॥२२॥
विद्यां श्रुत्वा ये गुरुं नाद्रियन्ते प्रत्यासन्ना मनसा कर्मणा वा।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं नान्यस्तेभ्यः पापकृदस्ति लोके।
यथैव ते गुरुभिर्भावनीयास्तथा तेषां गुरवोऽप्यर्चनीयाः ॥ २३ ॥
तस्मात्पूजयितव्याश्च संविभज्याश्च यत्नतः।

माताके समान गुरु नहीं है। मेरे विचारमें पिता और मातासे गुरु ही गौरवयुक्त है; माता पिता दोनों ही जन्मके विषयमें कारण हैं? हे भारत! पिता माता दोनोंसे ही इस शरीरकी उत्पत्ति होती है; और आचार्यके उपदेशके अनुसार जो जन्म होता है, वह अजर और अमर है। पिता माता अपकार करनेपर भी सदा अवध्य हैं। (१५-२०)

अपराध युक्त पिता माताका वध न करनेसे दोषी नहीं होना पडता। राजा जैसे अन्य अपराधी वध्य पुरुषोंके वध न करनेसे दूषित होता है, उस भांति अपराधी गुरु, पिता और माताका वध न करनेसे राजा कदापि दूषित नहीं होता। धर्मके वास्ते यतमान अर्थात् दुष्ट माता पिताके प्रतिपालनके निमित्त जो लोग यत्न करते हैं, महर्षि और देवता लोग उन्हें अनुग्रह भाजन समझते हैं। जो सत्य वचनसे वेदके विषयमें अनुग्रह प्रकाशित करते और जो सत्य वचनके जरिये अमृत प्रदान करते हैं उन्हें ही पिता माता समझना चाहिये; तथा उनके कार्यको मालूम करके कभी उनके विषयमें अनिष्ट आचरण न करे। जो लोग विद्या पढके कृतकृत्य होकर गुरुके विषयमें कार्यके जरिये मनही मन उनका आदर नहीं करते, उन लोगोंको भ्रूणहत्यासे भी अधिक पाप हुआ करता है, इस लोकमें उनसे बढके अधिक पापी दूसरे कोई भी नहीं हैं। (२१-२३)

गुरुजन शिष्योंको जैसा मानें, शिष्य लोग भी उनकी वैसी ही पूजा करें;

गुरवोऽर्चयितव्याश्च पुराणं धर्ममिच्छता ॥ २४ ॥
येन प्रीणाति पितरं तेन प्रीतः प्रजापतिः ।
प्रीणाति मातरं येन पृथिवी तेन पूजिता ॥ २५ ॥
येन प्रीणात्युपाध्यायं तेन स्याद्ब्रह्म पूजितम् ।
मातृतः पितृतश्चैव तस्मात्पूज्यतमो गुरुः ॥ २६ ॥
ऋषयश्च हि देवाश्च प्रीयन्ते पितृभिः सह ।
पूज्यमानेषु गुरुषु तस्मात्पूज्यतमो गुरुः ॥ २७ ॥
केनचिन्न च वृत्तेन ह्यवज्ञेयो गुरुर्भवेत् ।
न च माता न च पिता मन्यते यादृशो गुरुः ॥ २८ ॥
न तेऽवमानमर्हन्ति न तेषां दूषयेत्कृतम् ।
गुरूणामेव सत्कारं विदुर्देवा महर्षिभिः ॥ २९ ॥
उपाध्यायं पितरं मातरं च येऽभिद्रुह्यन्ते मनसा कर्मणा वा।
तेषां पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥३०॥
भृतो वृद्धो यो न बिभर्ति पुत्रः स्वयोनिजः पितरं मातरं च ।
तद्वै पापं भ्रूणहत्याविशिष्टं तस्मान्नान्यः पापकृदस्ति लोके ॥३१ ॥

इससे जो प्राचीनधर्मकी कामना करते हैं; उनके मतमें गुरुजन पूजनीय, यत्नसे संविभाज्य और अर्चनीय होते हैं। जिन कर्मोंसे पिताको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे प्रजापति प्रसन्न होते हैं; और जिसके जरिये माताको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे पृथ्वी पूजित होती है, तथा जिन कर्मोंसे उपाध्यायको प्रसन्न किया जा सकता है, उससे ब्रह्म पूजित होता है, इससे पिता माताकी अपेक्षा गुरु ही पूजनीय है। किसी प्रकारके कार्यसे गुरु अवज्ञाभाजन नहीं होसकते; गुरुका जैसा मान्य करना होता है, पिता-माताका वैसा नहीं। (२३-२८)

पिता, माता और गुरु कभी अवमान भाजन नहीं होसकते; उन लोगोंके कार्यमें कोई दोष देखना उचित नहीं है। देवता और महर्षि लोग गुरुओंका जैसा सम्मान करना होता है, उसे जानते हैं। जो लोग कार्य वा मनसे पिता माताका अनिष्ट करते हैं, भ्रूण-हत्यासे भी उनका पाप अधिक प्रबल है और इस लोकमें उनसे अधिक दूसरा कोई पापी नहीं है। जो औरस पुत्र पालनपोषण करनेपर वर्द्धित होकर पिता माताको प्रतिपालन नहीं करता, उसका वह पाप भ्रूण हत्यासे भी अधिक है,

मित्रध्रुहः कृतघ्नस्य स्त्रीघ्नस्य गुरुघातिनः ।
चतुर्णां वयमेतेषां निष्कृतिं नाऽनुशुश्रुम ॥ ३२ ॥
एतत्सर्वमनिर्देशेनैवमुक्तं यत्कर्तव्यं पुरुषेणेह लोके ।
एतच्छ्रेयो नान्यदस्माद्विशिष्टं सर्वान् धर्माननुसृत्यैनदुक्तं ॥३३॥ [३९९२]

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि मातृपितृगुरुमहात्म्ये अष्टाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०८ ॥

युधिष्ठिर उवाच— कथं धर्मे स्थातुमिच्छन्नरो वर्त्तेत भारत ।
विद्वन् जिज्ञासमानाय प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ १ ॥
सत्यं चैवानृतं चोभे लोकानावृत्त्य तिष्ठतः ।
तयोः किमाचरेद्राजन्पुरुषो धर्मनिश्चितः ॥ २ ॥
किंस्वित्सत्यं किमनृतं किंस्विद्धर्म्मं सनातनम् ।
कस्मिन्काले वदेत्सत्यं कस्मिन्कालेऽनृतं वदेत् ॥ ३ ॥

भीष्म उवाच— सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम् ।
यत्तु लोकेषु दुर्ज्ञानं तत्प्रवक्ष्यामि भारत ॥ ४ ॥
भवेत्सत्यं न वक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत् ।

उससे बढके पापी दूसरा कोई नहीं है। मित्रद्रोही, कृतघ्न, स्त्रीघाती और गुरु घाती इन चारोंके निष्कृतिका विषय मैंने नहीं सुना। इस लोकमें पुरुषको जो कुछ कर्त्तव्य है वह सब विस्तारके सहित कहा गया, यही कल्याणकारी और इससे अधिक श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है; सब धर्म एकत्रित करके उसमें जो सार स्वरूप था, वही कहा गया। (२९-३३) [३९९२]

शान्तिपर्वमें एकसौ आठ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौनव अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! मनुष्य धर्ममार्गमें निवास करनेकी इच्छा करते हुए किस प्रकार वर्त्तमान रहे। हे विद्वन् भरतश्रेष्ठ! मुझ जिज्ञासुको आप वही उपदेश करिये। हे राजन्! सत्य और मिथ्या ये दोनों ही संसारी लोगोंको आवरण करके विद्यमान हैं; उन्हें त्यागना अत्यन्त कठिन है; इससे धर्म-निश्चित मनुष्य उन दोनोंके बीच कैसा आचरण करे। सत्य क्या है, मिथ्या क्या है? और सनातन धर्म कौनसा है? किस समय सत्य बोले और किस समय मिथ्या कहे? (१-३)

भीष्म बोले, हे भारत! सत्य कहना ही उत्तम है, सत्यसे श्रेष्ठ दूसरा कुछ भी नहीं है, लोकके बीच जो कठिनाईसे

यत्रानृतं भवेत्सत्यं सत्यं वाप्यनृतं भवेत् ॥ ५ ॥
तादृशो बध्यते बालो यत्र सत्यमनिष्ठितम् ।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥ ६ ॥
अप्यनार्योऽकृतप्रज्ञः पुरुषोऽप्यतिदारुणः ।
सुमहत्प्राप्नुयात्पुण्यं बलाकोऽन्धवधादिव ॥ ७ ॥
किमाश्चर्यं च यन्मूढो धर्मकामोऽप्यधर्मवित् ।
सुमहत्प्राप्नुयात्पुण्यं गङ्गायामिव कौशिकः ॥ ८ ॥
तादृशोऽयमनुप्रश्नो यत्र धर्मः सुदुर्लभः ।
दुष्करः प्रतिसंख्यातुं तत्केनात्र व्यवस्यति ॥ ९ ॥
प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यः स्यात्प्रभवसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १० ॥
धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्मेण विधृताः प्रजाः ।
यः स्याद्धारणसंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ ११ ॥

जानने योग्य है, उसे कहता हूं। किसी समय सत्य बोलना उचित नहीं और कभी मिथ्या कहा जाता है। जिससे मिथ्या सत्य और सत्य भी मिथ्या हुआ करता है, जिसमें सत्य निष्ठायुक्त नहीं है, तैसा बालक अर्थात् अज्ञानी मनुष्य वध्य होता है। सत्य और मिथ्याका विशेष रूपसे निश्चय कर सकनेसे मनुष्य धर्म जाननेवाला हुआ करता है। जैसे व्याधा हिंसक स्वभाववाला है, वह भी अन्धेका वध करनेसे स्वर्गको गया था, वैसे ही अनार्य, हीनबुद्धि अत्यन्त निठुर पुरुष भी महत् पुण्य लाभ कर सकता है; गङ्गाके किनारे सापिनके स्थापित किये हुये सहस्र अण्डोंको भेद कर उलूकने जिस प्रकार महत् पुण्यलाभ किया था; वैसे ही अधर्मी मूढ पुरुष धर्म करनेवाला होकर जो महत् पुण्य प्राप्त कर सकेगा, उसमें आश्चर्य ही क्या है? जिस विषय में धर्म अत्यन्त दुर्लभ और दुर्ज्ञेय है, यह प्रश्न वैसा ही हुआ है। धर्मका लक्षण वर्णन करना अत्यन्त कठिन है, इससे कौन इसे निश्चय करके कह सकता है? जीवोंकी उन्नतिके वास्ते ऋषियोंने धर्मका वर्णन किया है, इससे जो अभ्युदय युक्त है, वही धर्म कहके निश्चित है। (४–१०)

जो धारण करता है, महर्षि लोग उसे ही धर्म कहते हैं; कई तो अहिंसाको धर्म कहते हैं; इससे जो धारणा और अहिंसा युक्त है वही धर्म है। कोई कोई पुरुष

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।
यः स्यादहिंसासंयुक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥ १२ ॥
श्रुतिधर्म इति ह्येके नेत्याहुरपरे जनाः।
न च तत्प्रत्यसूयामो न हि सर्वं विधीयते ॥ १३ ॥
येऽन्यायेन जिहीर्षन्तो धनमिच्छन्ति कस्य चित्।
तेभ्यस्तु न तदाख्येयं स धर्म इति निश्चयः ॥ १४ ॥
अकूजनेन चेन्मोक्षो नावकूजेत्कथञ्चन।
अवश्यं कूजितव्ये वा शङ्केरन्वाप्यकूजनात् ॥ १५ ॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं सत्यादिति विचारितम्।
यः पापैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथादपि ॥ १६ ॥
न तेभ्योऽपि धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन।
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत् ॥ १७ ॥
स्वशरीरोपरोधेन धनमादातुमिच्छतः।
सत्यसंप्रतिपत्त्यर्थं यद् ब्रूयुः साक्षिणः क्वचित् ॥ १८ ॥
अनुक्त्वा तत्र तद्वाच्यं सर्वे तेऽनृतवादिनः।

श्रुतिको ही धर्म कहते हैं, दूसरे उसे अङ्गीकार नहीं करते ! मैं उनकी निन्दा नहीं करता; सबमें ही कुछ विहित नहीं होता। जो अन्यायसे किसीके धनको हरनेकी इच्छा करते हैं; उन्हें धनोंका पता देना उचित नहीं है; यही धर्म रूपसे निश्चित है। चोर लोग धनी की बात पूंछे, तो यदि न कहनेसे उनके समीपसे छुटकारा मिले तो किसी प्रकार भी उनसे न कहे; विना कहे यदि उनके हाथसे छुटकारा न हो, तो शपथ पूर्वक नहीं जानता हूं, ऐसा भी कहे; ऐसे स्थलमें मिथ्या कहनेसे भी दोष नहीं होता। इससे ऐसे स्थानोंमें सत्यसे मिथ्या कहना ही उत्तम है। शपथ करने पर भी यदि पापाचारी मनुष्योंके हाथसे छुटकारा मिले, तो वह भी उत्तम है। किसी प्रकारकी सामर्थ रहते पापाचारी मनुष्योंको धन दान न करे, पापाचारियोंको जो धन दिया जाता है, वह दाताको ही पीडित करता है। (११-१७)

उत्तमर्ण (ऋण देनेवाला) यदि ऋणी पुरुषके शरीरको दासत्वमें नियुक्त करके दिया हुआ धन वसूल करनेकी अभिलाषा करे, उस समय सत्य कहनेके वास्ते लाये गये साक्षी लोग जो कुछ कहें, और उस विषयमें जो कहना

प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत् ॥ १९ ॥
अर्थस्य रक्षणार्थाय परेषां धर्मकारणात् ।
परेषां सिद्धिमाकाङ्क्षन्नीचः स्याद्धर्मभिक्षुकः ॥ २० ॥
प्रतिश्रुत्य प्रदातव्यः स्वकार्यस्तु बलात्कृतः ।
यः कश्चिद्धर्मसमयात्प्रच्युतो धर्मसाधनः ॥ २१ ॥
दण्डेनैव स हन्तव्यस्तं पन्थानं समाश्रितः ।
च्युतः सदैव धर्मेभ्योऽमानवं धर्ममास्थितः ॥ २२ ॥
शठः स्वधर्ममुत्सृज्य तमिच्छेदुपजीवितुम् ।
सर्वोपायैर्निहन्तव्यः पापो निकृतिजीवनः ॥ २३ ॥
धनमित्येव पापानां सर्वेषामिह निश्चयः ।
अविषह्या ह्यसम्भोज्या निकृत्या पतनं गताः ॥ २४ ॥
च्युता देवमनुष्येभ्यो यथा प्रेतास्तथैव ते ।
निर्यज्ञास्तपसा हीना मा स्म तैः सह सङ्गमः ॥ २५ ॥

योग्य है उसे यदि न कहें, तो वे सब ही मिथ्यावादी हैं । प्राणनाश और विवाहके समय मिथ्या वचन कहनेसे भी दोष नहीं होता । दूसरेके धर्मके वास्ते और अर्थ रक्षाके निमित्त झूठ कहनेसे दोष नहीं होता, दूसरेकी सिद्धि कामना करते हुए नीच पुरुष ही धर्म-भिक्षुक होते हैं । दोनों मिलके किसी कार्यको करते हुए लाभालाभको समान हिस्सेमें बांट लूंगा ऐसा निश्चय होनेपर अन्तमें यदि अर्थ नष्ट होवे, तौ भी हिस्सैके अनुसार देना उचित है । कोई पुरुष यदि धर्मबन्धनसे च्युत हो, अथवा अधर्मके वशमें होकर यदि जबर्दस्ती करे, तो उसके ऊपर दण्डविधान करना उचित है; और दासत्व प्राप्त करके यदि कोई कपटता करे, तो कपटतासे ही उसे दण्ड देना चाहिये । जिस पुरुषने शाठ्य धर्मका सहारा लिया है, वह सदा ही सब धर्मोंसे च्युत है, शठ मनुष्य निज धर्म त्यागके पाप धर्मके जरिये जीविका निर्वाह करनेकी इच्छा करते हैं । (१८-२३)

लोकमें जिसने भयको ही सर्वस्व रूपसे निश्चय कर रखा है, वही पापी है जो पापी ऐसा जानता है, कि धन ही उत्तम है, सब धर्मोंसे अधिक उसे जिस उपायसे होसके वध करना उचित है । जो लोग धर्म कर्मके वास्ते क्लेश नहीं सहते और दीन दरिद्रोंके सहित धनको विभाग करके भोग नहीं करते, वेही पापके स्थान हैं; वेही देवता और

धननाशाद्दुःखतरं जीविताद्विप्रयोजनम् ।
अयं ते रोचतां धर्म इति वाच्यः प्रयत्नतः ॥ २६ ॥
न कश्चिदस्ति पापानां धर्म इत्येष निश्चयः ।
तथागतं च यो हन्यान्नासौ पापेन लिप्यते ॥ २७ ॥
स्वकर्मणा हतं हन्ति हत एव स हन्यते ।
तेषु यः समयं कश्चित्कुर्वीत हतबुद्धिषु ॥ २८ ॥
यथा काकाश्च गृध्राश्च तथैवोपधिजीविनः ।
ऊर्ध्वं देहविमोक्षात्ते भवन्त्येतासु योनिषु ॥ २९ ॥
यस्मिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः । [४०२२]
मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः ॥३० ॥

इति श्रीमहाभारते शांतिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सत्यानृतकविभागे
नवाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १०९ ॥

युधिष्ठिर उवाच—क्लिश्यमानेषु भूतेषु तैस्तैर्भावैस्ततस्ततः ।
दुर्गाण्यतितरेद्येन तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ १ ॥

मनुष्योंसे भ्रष्ट प्रेतके समान हैं ! जो लोग यज्ञ और तपस्यासे हीन हैं, उनके साथ सहवास मत करो, क्योंकि उन लोगोंको वित्तनाशके वास्ते जो दुःख होता है, वह प्राण वियोगके समान है। पापाचारियोंके वास्ते धर्म रूपसे कोई विषय निश्चित नहीं है; इससे इस धर्ममें तुम्हारी अभिरुचि होवे, यत्नपूर्वक उन्हें यह उपदेश देवे, ऐसा पुरुष ही कोई नहीं है। वैसे पुरुषका जो वध करता है, वह पापग्रस्त नहीं होता; वह निज कर्मसे ही मरे हुए पुरुषका वध किया करता है; जो मारा जाता है, वह निज कर्मके जरिये ही मरता है। उन बुद्धिहीन पापाचारियोंके बीच इन सबको मारूंगा, जो पुरुष ऐसा नियम करता है, वह कौआ और गिद्धकी तरह केवल कपटजीवी हैं; वह देह त्यागनेसे इन्हीं सब योनियोंमें जन्म लेता है। जो मनुष्य जिस विषयमें जैसा व्यवहार करता है, उसके साथ वैसा ही व्यवहार करना धर्म है;कपटीको कपट व्यवहारोंसे बाधित करना चाहिये और साधु आचरणवाले मनुष्यके समीप सदाचरण करना उचित है। (२४–३०)[४०२२]

शान्तिपर्वमें एकसौनव अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें एकसौदस अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! जिस समय प्राणी जैसी अवस्थामें रहते हैं, उस ही उस अवस्थामें क्रमसे क्लेशित

भीष्म उवाच— आश्रमेषु यथोक्तेषु यथोक्तं ये द्विजातयः।
वर्तन्ते संयतात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २ ॥
ये दम्भान्नाचरन्ति स्म येषां वृत्तिश्च संयता।
विषयांश्च निगृह्णन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ३ ॥
प्रत्याहुर्नोच्यमाना ये न हिंसन्ति च हिंसिताः।
प्रयच्छन्ति न याचन्ते दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ४ ॥
वासयन्त्यतिथीन्नित्यं नित्यं ये चानसूयकाः।
नित्यं स्वाध्यायशीलाश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ५ ॥
मातापित्रोश्च ये वृत्तिं वर्तन्ते धर्मकोविदाः।
वर्जयन्ति दिवा स्वप्नं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ६ ॥
ये वा पापं न कुर्वन्ति कर्मणा मनसा गिरा।
निक्षिप्तदण्डा भूतेषु दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ७ ॥
ये न लोभान्नयन्त्यर्थान् राजानो रजसान्विताः।
विषयान्परिरक्षन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ८ ॥
स्वेषु दारेषु वर्तन्ते न्यायवृत्तिमृतावृतौ।

होनेपर जिस उपायके सहारे दुस्तर विषयोंके पार होसकते हैं, उसे आप मेरे समीप वर्णन कीजिये। (१)

भीष्म बोले, जो सब स्थिर चित्तवाले द्विजाति पहिले कहे हुए आश्रमोंके यथोक्त धर्माचरण करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो दम्भका आचरण नहीं करते, जिनकी चित्तवृत्ति स्थिर है और जो इन्द्रियोंको निग्रह किया करते हैं; वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम करते हैं। निंदा करनेपर जो प्रत्युत्तर नहीं करते, हिंसित होनेपर भी जो हिंसा नहीं करते; दान करते परन्तु किसीसे मांगते नहीं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। (१—४)

जो प्रतिदिन अतिथियोंको आश्रय देते, कभी किसीकी निन्दा नहीं करते और सदा स्वाध्याय रत अर्थात् स्वशास्त्रोक्त वेद पाठ करते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो सब धर्म जाननेवाले मनुष्य माता पिताकी वृत्तिका आसरा करते और दिनमें निद्रित नहीं होते, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते। जो मन वचन कर्मसे कुछ पापाचरण और जीवोंके वास्ते दण्ड विधान नहीं करते, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते

अग्निहोत्रपराः सन्तो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ९ ॥
आहवेषु च ये शूरास्त्यक्त्वा मरणजं भयम् ।
धर्मेण जयमिच्छन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १० ॥
ये वदन्तीह सत्यानि प्राणत्यागेऽप्युपस्थिते ।
प्रमाणभूता भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ ११ ॥
कर्माण्यकुहकार्थानि येषां वाचश्च सूनृताः ।
येषामर्थाश्च संबद्धा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १२ ॥
अनध्यायेषु ये विप्राः स्वाध्यायं नेह कुर्वते ।
तपोनिष्ठाः सुतपसो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १३ ॥
ये तपश्च तपस्यन्ति कौमारब्रह्मचारिणः ।
विद्यावेदव्रतस्नाता दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १४ ॥
ये च संशान्तरजसः संशान्ततमसश्च ये ।
सत्वे स्थिता महात्मानो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १५ ॥
येषां न कश्चित्त्रसति न त्रसन्ति हि कस्यचित् ।

हैं। जो राजा लोग रजोगुणसे युक्त होकर लोभके कारण धन नहीं हरते, और सब विषयोंकी सब तरहसे रक्षा करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अति-क्रम किया करते हैं। जो सब अग्निहोत्र परायण साधु लोग ऋतुकालमें रत होकर दूसरी वृत्ति अवलम्बन नहीं करते वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो शूर पुरुष युद्धमें मृत्युका भय त्यागके जयकी इच्छा करते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम कर सकते हैं। ५-१०

इस संसारमें प्राणत्यागका समय उपस्थित होनेपर भी जो सत्य वचन कहते हैं, वे जीवोंके निदर्शन स्वरूप मनुष्य दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जिनके कार्योंमें कोई कपटता नहीं है, वचन सत्य और प्रिय है तथा सब अर्थ सत्कार्योंमें परिणत होता है; वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम करते हैं। जो ब्राह्मण अनध्यायके दिवस वेद पाठ नहीं करते, वे तपस्यामें निष्ठावान तपस्वी लोग दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो सब कुमार ब्रह्मचारी विद्या वेद और व्रतमें निष्ठावान होकर तप-स्या करते हैं, वे दुस्तर विषयोंको अति-क्रम किया करते हैं। जिन महात्माओंमें रजोगुण शान्त होगया है, तथा वे लोग केवल सतोगुणको अवलम्बन किये हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। (१०—१५)

येषामात्मसमो लोको दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १६ ॥
परश्रिया न तप्यन्ति ये सन्तः पुरुषर्षभाः।
ग्राम्यादर्थान्निवृत्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १७ ॥
सर्वान्देवान्नमस्यन्ति सर्वधर्मांश्च शृण्वते।
ये श्रद्दधानाः शान्ताश्च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १८ ॥
ये न मानित्वमिच्छन्ति मानयन्ति च ये परान्।
मान्यमानान्नमस्यन्ति दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ १९ ॥
ये च श्राद्धानि कुर्वन्ति तिथ्यां तिथ्यां प्रजार्थिनः।
सुविशुद्धेन मनसा दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २० ॥
ये क्रोधं संनियच्छन्ति क्रुद्धान्संशमयन्ति च।
न च कुप्यन्ति भूतानां दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २१ ॥
मधुमांसं च ये नित्यं वर्जयन्तीह मानवाः।
जन्मप्रभृति मद्यं च दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २२ ॥
यात्रार्थं भोजनं येषां सन्तानार्थं च मैथुनम्।

जिनके समीप कोई भयभीत नहीं होते और जो किसीके निकट त्रास युक्त नहीं होते, तथा सब प्राणी ही जिसे आत्म समान हैं, वेही दुस्तर विषयोंकी अतिक्रम कर सकते हैं। जो सब पुरुषश्रेष्ठ साधु लोग पराई श्रीको देखके दुःखित नहीं होते और जो ग्राम्य विषयसे निवृत्त रहते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो सब श्रद्धावान शान्त स्वभाव-वाले मनुष्य देवताओंको प्रणाम करते और सब धर्म सुनते हैं, वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो प्रजाकामनासे शुद्धचित्तसे प्रति तिथिमें श्राद्ध करते हैं, वे सब कठिन विषयोंको अतिक्रम करते हैं। जो क्रोधको रोकते और क्रुद्ध पुरुषोंको पूरी रीतिसे शान्त किया करते हैं, तथा प्राणियोंके ऊपर कोपित नहीं होते; वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। जो मनुष्य इस लोकमें सदा मद्य मांसका भोजन परित्याग करते, जन्म भर मद्यपान नहीं करते; वेही कठिन विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं, जो प्राणयात्रा निर्वाहके ही वास्ते भोजन करते और पुत्र उत्पत्तिके वास्ते भार्याका सङ्ग करते, सत्य कहनेके निमित्त वचन बोलते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। (१९—२२)

सब प्राणियोंके ईश्वर, जगत्की

वाक् सत्यवचनार्थाय दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २३ ॥
ईश्वरं सर्वभूतानां जगतः प्रभवाप्ययम् ।
भक्ता नारायणं देवं दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २४ ॥
य एष पद्मरक्ताक्षः पीतवासा महाभुजः ।
सुहृद्भ्राता च मित्रं च संबन्धी च तथाऽच्युतः॥ २५ ॥
य इमान्सकलाँल्लोकांश्चर्मवत्परिवेष्टयेत् ।
इच्छन्प्रभुरचिन्त्यात्मा गोविन्दः पुरुषोत्तमः ॥ २६ ॥
स्थितः प्रियहिते जिष्णोः स एष पुरुषोत्तमः ।
राजंस्तव च दुर्धर्षो वैकुण्ठः पुरुषर्षभ ॥ २७ ॥
य एनं संश्रयन्तीह भक्त्या नारायणं हरिम् ।
ते तरन्तीह दुर्गाणि न चात्रास्ति विचारणा ॥ २८ ॥
दुर्गातितरणं ये च पठन्ति श्रावयन्ति च ।
कथयन्ति च विप्रेभ्यो दुर्गाण्यतितरन्ति ते ॥ २९ ॥
इति कृत्य समुद्देशः कीर्तितस्ते मयाऽनघ ।
तरन्ते ये न दुर्गाणि परत्रेह च मानवाः ॥ ३० ॥[४०५२]

इति श्रीमहा० राजधर्मानुशासनपर्वणि दुर्गातितरणं नाम दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११० ॥

उत्पत्ति और लयके कारण नारायण देवकी जो लोग भक्ति करते हैं, वेही दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं। हे राजन्! यह जो पद्मके समान लाल नेत्रवाले पीताम्बरधारी महाबाहु अच्युत अर्जुनके सुहृद, भ्राता, मित्र और सम्बन्धी हैं, जो अचिन्त्यस्वभाव पुरुषश्रेष्ठ प्रभु गोविन्द इच्छा करनेसे ही सब लोकोंको चमड़ेकी तरह समेटा करते हैं, जो धनञ्जय तथा तुम्हारे प्रिय और हितकर कार्योंमें सदा तत्पर रहते हैं, वह यही पुरुष प्रवर अनभिभवनीय वैकुण्ठ ही पुरुषोत्तम हैं। जो सब भक्त लोग इस लोकमें इस नारायण हरिका आसरा करते हैं, वे दुस्तर विषयोंको अतिक्रम किया करते हैं; इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है। (२३–२८)

जो लोग इस दुस्तर दुःखके अतिक्रमका विवरण पाठ करते, सुनते, वा दूसरोंके निकट गाया करते हैं, वे भी कठिन विषयोंसे पार होते हैं। हे पाप रहित! मनुष्य लोग इस लोक और परलोकमें जिस प्रकार दुस्तर विषयोंसे उत्तीर्ण होते हैं, मैंने यही उस कार्यका विवरण तुम्हारे समीप वर्णन किया। (२९–३०)

शान्तिपर्वमें एकसौ दस अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच-- असौम्याः सौम्यरूपेण सौम्याश्चासौम्यदर्शनाः।
ईदृशान्पुरुषांस्तात कथं विद्यामहे वयम् ॥ १ ॥
भीष्म उवाच-- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
व्याघ्रगोमायुसंवादं तं निबोध युधिष्ठिर ॥ २ ॥
पुरिकायां पुरि पुरा श्रीमत्यां पौरिको नृपः।
परहिंसारतिः क्रूरो बभूव पुरुषाधमः ॥ ३ ॥
स त्वायुषि परिक्षीणे जगामानीप्सितां गतिम्।
गोमायुत्वं च संप्राप्तो दूषितः पूर्वकर्मणा ॥ ४ ॥
संस्मृत्य पूर्वभूतिं च निर्वेदं परमं गतः।
न भक्षयति मांसानि परैरुपहृतान्यपि ॥ ५ ॥
अहिंस्रः सर्वभूतेषु सत्यवाक् सुदृढव्रतः।
स चकार यथाकालमाहारं पतितैः फलैः ॥ ६ ॥
श्मशाने तस्य चावासो गोमायोः संमतोऽभवत्।
जन्मभूम्यनुरोधाच्च नान्यवासमरोचयत् ॥ ७ ॥
तस्य शौचममृष्यन्तस्ते सर्वे सहजातयः।

शान्तिपर्वमें एकसौ ग्यारह अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह ! जो प्रिय नहीं हैं, वे प्रिय रूपसे और जो प्रियदर्शन हैं, वे अप्रिय रूपसे दीख पडते हैं, इससे ऐसे पुरुषोंको हम किस प्रकार जानेंगे ? (१)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें गिद्ध गोमायु सम्वाद युक्त जिस पुराने इतिहासका प्राचीन लोग उदाहरण दिया करते हैं, उसे सुनो। पहिले समयमें श्रीमती पुरिका नामक पुरीके बीच परहिंसामें रत, क्रूर स्वभाववाला पुरुषोंमें अधम पौरिक नाम एक राजा था। वह आयु क्षय होनेपर अनीप्सित गतिको प्राप्त होकर पूर्व-कर्मके दोषसे जम्बुक हुआ था। वह पूर्व ऐश्वर्यको स्मरण करके दुःखको प्राप्त हुआ। दूसरेके लानेपर भी वह मांस भक्षण नहीं करता था। वह सब जीवोंके विषयमें हिंसा रहित सत्यवादी और दृढव्रती होकर यथा समयमें स्वयं गिरे हुए फलके जरिये आहार-वृत्तिसे जीविका निर्वाह करता था। श्मशानमें वास करना ही उसे सम्मत था, जन्मभूमिके अनुरोधके कारण दूसरी जगह निवास करनेकी उसकी इच्छा नहीं होती थी। (२-७)

समान जातिवाले सियारोंने उसकी

चालयन्ति स्म तां बुद्धिं वचनैः प्रश्रयोत्तरैः ॥ ८ ॥
वसन्पितृवने रौद्रे शौचे वर्तितुमिच्छसि ।
इयं विप्रतिपत्तिस्ते यदा त्वं पिशिताशनः ॥ ९ ॥
तत्समानो भवास्माभिर्भोज्यं दास्यामहे वयम् ।
भुंक्ष्व शौचं परित्यज्य यद्धि भुक्तं सदाऽस्तु ते॥ १० ॥
इति तेषां वचः श्रुत्वा प्रत्युवाच समाहितः ।
मधुरैः प्रसृतैर्वाक्यैर्हेतुमद्भिरनिष्ठुरैः ॥ ११ ॥
अप्रमाणा प्रसूतिर्मे शीलतः क्रियते कुलम् ।
प्रार्थयामि च तत्कर्म येन विस्तीर्यते यशः ॥ १२ ॥
श्मशाने यदि मे वासः समाधिर्मे निशम्यताम् ।
आत्मा फलति कर्माणि नाश्रमो धर्मकारणम्॥ १३ ॥
आश्रमे यो द्विजं हन्याद्गां वा दद्यादनाश्रमे ।
किं तु तत्पातकं न स्यात्तद्वा दत्तं वृथा भवेत् ॥ १४ ॥
भवन्तः स्वार्थलोभेन केवलं भक्षणे रताः ।
अनुबन्धे त्रयो दोषास्तान्न पश्यन्ति मोहिताः॥ १५ ॥

पवित्रताको सहन नहीं किया, वे सब विनय युक्त वचनसे उसकी बुद्धि विचलित करने लगे। वे सब बोले, तुम भयङ्कर श्मशानमें वास करते हुए शुद्धाचारसे रहनेकी अभिलाष करते हो, तुम जब मांसभक्षी हो, तब तुम्हारी ऐसी विपरीत बुद्धि क्यों हुई ? इससे तुम हमारे समान रहो, हम लोग तुम्हें भक्ष्य वस्तु देंगे; शुद्ध आचार परित्याग करके भोजन करो; जो हम लोगोंका भोजन है, वही तुम्हारा भक्ष्य होवे। जम्बुकने सजातीय सियारोंका वचन सुनके स्थिर होकर विस्तार पूर्वक युक्तियुक्त निठुरतारहित मधुर वचनसे उत्तर दिया, कि मेरे जन्मका कोई प्रमाण नहीं है; स्वभावके अनुसार चाहे जिस किसी कुलमें उत्पन्न हुआ हूं, जिससे यश बढे, मैं वैसे कर्मकी इच्छा करता हूं, यद्यपि मैं श्मशानमें वास करता हूं; तौभी मेरा नियम सुनो; आत्मा ही कर्म फल भोग करता है, आश्रम कोई धर्मके कारण नहीं है। आश्रममें रहके जो पुरुष ब्रह्महत्या करते अथवा दूसरे आश्रममें रहके गऊदान करते हैं; उससे क्या उन लोगोंके पाप वा दान व्यर्थ होते हैं ? तुम लोग केवल स्वार्थी और लोभके वशमें होकर केवल भक्षण कर-

अप्रत्ययकृतां गर्ह्यामर्थापनयदूषिताम् ।
इह चामुत्र चानिष्टां तस्माद्वृत्तिं न रोचये ॥ १६ ॥
तं शुचिं पण्डितं मत्वा शार्दूलः ख्यातविक्रमः ।
कृत्वाऽऽत्मसदृशीं पूजां साचिव्येऽवरयत्स्वयम् ॥१७॥

शार्दूल उवाच- सौम्य विज्ञातरूपस्त्वं गच्छ यात्रां मया सह ।
व्रियन्तामीप्सिता भोगाः परिहार्याश्च पुष्कलाः॥१८॥
तीक्ष्णा इति वयं ख्याता भवन्तं ज्ञापयामहे ।
मृदुपूर्वं हितं चैव श्रेयश्चाधिगमिष्यसि ॥ १९ ॥
अथ संपूज्य तद्वाक्यं मृगेन्द्रस्य महात्मनः ।
गोमायुः संश्रितं वाक्यं बभाषे किञ्चिदानतः ॥ २० ॥

गोमायुरुवाच- सदृशं मृगराजैतत्तव वाक्यं मदन्तरे ।
यत्सहायान्मृगयसे धर्मार्थकुशलाञ्शुचीन् ॥ २१ ॥
न शक्यं ह्यनमात्येन महत्त्वमनुशासितुम् ।
दुष्टामात्येन वा वीर शरीरपरिपन्थिना ॥ २२ ॥
सहायाननुरक्तांश्च न यज्ञानुपसंहितान् ।

नेमें ही रत होरहे हो; परिणाममें जो तीनों दोष वर्त्तमान हैं, मोहित होकर उसे नहीं देखते हो। असन्तोष कारिणी गृहणी या वृत्ति धर्महानिके कारण दूषित होती है, इस लोक और परलोकमें अनिष्ट करनेवाली वृत्तिमें मेरी अभिलाषा नहीं है। कोई विख्यात बली शार्दूल गोमायुको पवित्र और पण्डित समझके स्वयं उसका अपने समान सम्मान करते हुए मन्त्रीके कार्यके वास्ते चुना। (९-१७)

शार्दूल बोला, हे प्रियदर्शन! तुम्हारा स्वभाव मालूम हुआ, तुम मेरे साथ राजकार्य करनेके वास्ते चलो, अभिलषित भोगकी इच्छा करके प्रचुर भोग परित्याग करो। मैं तीक्ष्ण रूपसे विख्यात हूं; इससे तुम्हें कोमलता युक्त हितकर वचन कहता हूं, कि तुम्हारा कल्याण होगा। (१८-१९)

अनन्तर जम्बुक महानुभाव मृगेन्द्रके वचनका सम्मान करके कुछ नत होकर विनययुक्त वचनसे कहने लगा। सियार बोला, हे मृगराज! तुमने मेरे वास्ते जो वचन कहा, वह तुम्हारे योग्य ही है; तुम जो धर्मार्थ कुशल और पवित्र सहाय खोजते हो, वह उचित ही है, हे वीर! अमात्यके विना अथवा शरीरके परिपन्थी दुष्टअमात्योंके जरिये महत्त्वकी रक्षा

परस्परमसंसृष्टान्विजिगीषूनलोलुपान् ॥ २३ ॥
अनतीतोपदान्प्राज्ञान् हिते युक्तान्मनस्विनः ।
पूजयेथा महाभाग यथाऽऽचार्यान्यथा पितॄन् ॥ २४ ॥
न त्वेव मम संतोषाद्रोचतेऽन्यन्मृगाधिप ।
न कामये सुखान्भोगानैश्वर्यं च तदाश्रयम् ॥ २५ ॥
न योक्ष्यति हि मे शीलं तव भृत्यैः पुरातनैः ।
ते त्वां विभेदयिष्यन्ति दुःशीलाश्च मदन्तरे ॥ २६ ॥
न संश्रयः श्लाघनीयोऽहमेषामपि भास्वताम् ।
कृतात्मा सुमहाभागः पापकेष्वप्यदारुणः ॥ २७ ॥
दीर्घदर्शी महोत्साहः स्थूललक्ष्यो महाबलः ।
कृती चामोघकर्ताऽस्मि भोग्यैश्च समलंकृतः ॥ २८ ॥
न स्वल्पेनास्मि संतुष्टो दुःखावृत्तिरनुष्ठिता ।
सेवायां चापि नाभिज्ञः स्वच्छन्देन वनेचरः ॥ २९ ॥
राजोपक्रोशदोषाश्च सर्वे संश्रयवासिनाम् ।
व्रतचर्या तु निःसंगा निर्भया वनवासिनाम् ॥ ३० ॥
नृपेणाहूयमानस्य यत्तिष्ठति भयं हृदि ।

करनी अत्यन्त कठिन है। हे महाभाग! नीतिज्ञ, अनुरक्त, सन्धि कुशल, परस्पर असंसृष्ट, विजिगीषु, लोभरहित, कपट हीन, बुद्धियुक्त, हितमें रत, ऊंचे चित्त-वाले सहायकोंका आचार्य और पिताकी तरह सम्मान करना होता है। (२०-२४)

हे मृगराज! मुझे सन्तोषके कारण दूसरे विषयोंमें इच्छा नहीं होती, मैं सुख-भोग और उसके आश्रित ऐश्वर्यकी अभिलाषा नहीं करता; मेरा चारित्र तुम्हारे पुराने सेवकोंके साथ न मिलेगा। वे शीलरहित सेवक मेरे वास्ते तुमको विभिन्न करेंगे; दूसरे किसी तेजस्वीका आसरा भी प्रशंसनीय नहीं है। पवित्र चित्तवाले महाभाग पुरुष अग्निसे भी प्रचण्ड हैं, मैं दीर्घदर्शी महाउत्साहसे युक्त धर्मात्मा, महाबलशाली, कृती, अव्यर्थकारी और अनेक भोगोंसे अलं-कृत था, मैं थोडेमें सन्तुष्ट नहीं होता था और कभी सेवावृत्तिका अनुष्ठान भी नहीं किया है; इससे सेवावृत्तिसे अन-भिज्ञ हूं; केवल स्वच्छन्दताके सहित वनके बीच घूमा करता हूं। जो गृहस्था-श्रममें वास करते हैं, उन लोगोंको ही राजाके निकट निन्दाजनित दोष हुआ करता है, और वनवासियोंका व्रत

न तात्तिष्ठति तुष्टानां वने मूलफलाशिनाम् ॥ ३१ ॥
पानीयं वा निरायासं स्वाद्वन्नं वा भयोत्तरम् ।
विचार्य खलु पश्यामि तत्सुखं यत्र निर्वृतिः ॥ ३२ ॥
अपराधैर्न तावन्तो भृत्याः शिष्टा नराधिपैः ।
उपघातैर्यथा भृत्या दूषिता निधनं गताः ॥ ३३ ॥
यदि त्वेतन्मया कार्यं मृगेन्द्र यदि मन्यसे ।
समयं कृतमिच्छामि वर्तितव्यं यथा मयि ॥ ३४ ॥
मदीया माननीयास्ते श्रोतव्यं च हितं वचः ।
कल्पिता या च मे वृत्तिः सा भवेत्त्वयि सुस्थिरा॥३५॥
न मन्त्रयेयमन्यैस्ते सचिवैः सह कर्हिचित् ।
नीतिमन्तः परीप्सन्तो वृथा ब्रूयुः परे मयि ॥ ३६ ॥
एक एकेन संगम्य रहो ब्रूयां हितं वचः ।
न च ते ज्ञातिकार्येषु प्रष्टव्योऽहं हिताहिते ॥ ३७ ॥
मया संमन्त्र्य पश्चाच्च न हिंस्याः सचिवास्त्वया ।

आचरण आसक्ति रहित तथा निर्भय होता है। राजासे बुलाये जानेपर मनुष्यके मनमें जो भय होता है, सन्तुष्टचित्त और फलमूल भोजन करनेवाले वनवासियोंके मनमें वह भय नहीं रहता अनायास प्राप्त हुए जल और भययुक्त स्वादु अन्न इन दोनोंके बीच विचार करके देखता हूं,जिसमें भय निवृत्ति है, उसहीमें सुख है, राजा लोग सेवकोंके अपराधके कारण उस प्रकार दण्डविधान नहीं कर सकते, जैसे आघातसे दूषित होकर वे लोग मृत्युको प्राप्त होते हैं। (३४—३३)

हे मृगेन्द्र ! यदि मुझे यह राजकार्य करना होवे, तुम ऐसा विचारते हो, तो मुझे जिस प्रकार रहना होगा, उसका एक नियम करनेकी इच्छा करता हूं। तुम्हारे प्राचीन मन्त्री, मेरे माननीय होंगे, परन्तु मेरा हितकर वचन तुम्हें सुनना योग्य है। मेरी जो वृत्ति कल्पित होगी, वह तुम्हारे समीप स्थिर रहेगी, मैं कभी तुम्हारे दूसरे मन्त्रियोंके साथ विचार नहीं करूंगा; तुम्हारे प्राचीन मन्त्री नीतिज्ञ होनेपर भी मेरे विषयमें व्यर्थ वार्ता करेंगे। मैं अकेले एकान्तमें केवल तुम्हारे साथ मिलके हितकर वचन कहूंगा; स्वजनोंके कार्यमें तुम मुझसे हिताहितका विषय न पूछना। तुम मेरे साथ सलाह करके फिर दूसरे मन्त्रियोंकी हिंसा न करना, और मेरे

मदीयानां च कुपितो मा त्वं दण्डं निपातये ॥ ३८ ॥
एवमस्त्विति तेनासौ मृगेन्द्रेणाभिपूजितः।
प्राप्तवान्मतिसाचिव्यं गोमायुर्व्याघ्रयोनितः ॥ ३९ ॥
तं तथा सुकृतं दृष्ट्वा पूज्यमानं स्वकर्मसु।
प्राद्विषन्कृतसंघाताः पूर्वभृत्या मुहुर्मुहुः ॥ ४० ॥
मित्रबुद्ध्या च गोमायुं सान्त्वयित्वा प्रसाद्य च।
दोषैस्तु समतां नेतुमैच्छन्नशुभबुद्धयः ॥ ४१ ॥
अन्यथा ह्युषिताः पूर्वं परद्रव्याभिहारिणः।
अशक्ताः किञ्चिदादातुं द्रव्यं गोमायुयन्त्रिताः ॥४२॥
व्युत्थानं च विकांक्षद्भिः कथाभिः प्रतिलोभ्यते।
धनेन महता चैव बुद्धिरस्य विलोभ्यते ॥ ४३ ॥
न चापि स महाप्राज्ञस्तस्माद्धैर्याच्चचाल ह।
अथास्य समयं कृत्वा विनाशाय तथाऽपरे ॥ ४४ ॥
ईप्सितं तु मृगेन्द्रस्य मांसं यत्तत्र संस्कृतम्।
अपनीय स्वयं तद्धि तैर्न्यस्तं तस्य वेश्मनि ॥ ४५ ॥

आत्मीयगणोंके ऊपर क्रुध होकर तुम दण्डविधान न करना। "ऐसा ही होवे"— मृगेन्द्रने ऐसा वचन कहके जम्बुकका सम्मान किया; जम्बुक भी सम्मानित होकर व्याघ्रके मन्त्री पदपर प्रतिष्ठित हुआ। (३४-३९)

वाघके पूर्व-स्थित सेवक लोग सियारको निज कार्यमें सत्कृत और पूजित देखकर सब कोई दलबद्ध होकरे वारम्वार उसके ऊपर द्वेष करने लगे। दुष्टबुद्धि मन्त्रियोंने मित्र ज्ञानसे गोमायुको शान्त और प्रसन्न करके अपनी तरह उसे भी दोषी करनेकी इच्छा की। ऐसा न करनेसे पहिले जिन्होंने पराये धनको हरण किये थे, इस समय वे वहां रहने न पाते; और गोमायुसे निमन्त्रित होके कोई वस्तु ग्रहण करनेमें समर्थ न होते थे। वे सब अपनी उन्नतिकी इच्छा करते हुए अनेक प्रकारके वचन और वित्तसे गोमायुकी बुद्धि लोभयुक्त करने लगे; परन्तु वह महाबुद्धिमान जम्बुक किसी प्रकार धीरजसे विचलित नहीं हुआ। अनन्तर सबने षडयन्त्र करके सियारके नाशके वास्ते व्याघ्रका अभिलषित मांस जो उसके घरमें रखा था; उन लोगोंने स्वयं उस मांसको वहांसे लाकर सियारके घरमें रखा। वह मांस जिस कारण जिसके

यदर्थं चाप्यपहृतं येन तच्चैव मन्त्रितम् ।
तस्य तद्विदितं सर्वं कारणार्थं च मर्षितम् ॥ ४६ ॥
समयोऽयं कृतस्तेन साचिव्यमुपगच्छता ।
नोपघातस्त्वया कार्यो राजन्मैत्रीमिहेच्छता ॥ ४७ ॥
भीष्म उवाच— क्षुधितस्य मृगेन्द्रस्य भोक्तुमभ्युत्थितस्य च ।
भोजनायोपहर्तव्यं तन्मांसं नोपदृश्यते ॥ ४८ ॥
मृगराजेन चाज्ञप्तं दृश्यतां चोर इत्युत ।
कृतकैश्चापि तन्मांसं मृगेन्द्रायोपवर्णितम् ॥ ४९ ॥
सचिवेनापनीतं ते विदुषा प्राज्ञमानिना ।
सरोषस्त्वथ शार्दूलः श्रुत्वा गोमायुचापलम् ॥ ५० ॥
बभूवामर्षितो राजा वधं चास्य व्यरोचयत् ।
छिद्रं तु तस्य तद्दृष्ट्वा प्रोचुस्ते पूर्वमन्त्रिणः ॥ ५१ ॥
सर्वेषामेव सोऽस्माकं वृत्तिभङ्गे प्रवर्तते ।
निश्चित्यैव पुनस्तस्य ते कर्माण्यपि वर्णयन् ॥ ५२ ॥
इदं तस्येदृशं कर्म किं तेन न कृतं भवेत् ।
श्रुतश्च स्वामिना पूर्वं यादृशो नैव तादृशः ॥ ५३ ॥

जरिये लाया गया था, और जिसने इस विषयकी सलाह की थी; वह सब हाल सियारको मालूम था, उसने केवल अपने बन्धु विच्छेदके निमित्त क्षमा की थी। वह जब मन्त्री कार्यपर नियुक्त हुआ, उस समय यह नियम किया था, कि इस लोकमें सब जीवोंके हितके निमित्त किसीके ऊपर आघात करना उचित नहीं है। (४०–४७)

भीष्म बोले, भूखा व्याघ्र भोजन करनेके वास्ते उठने पर भोजनके योग्य उस मांसको न देखा; तब उसने आज्ञा दी, कि किसने मांस चुराया है, उस चोरका पता लगाओ। कपट आचारी सेवकोंने मृगेन्द्रके समीप उस मांसका विषय वर्णन किया, कि तुम्हारे प्राज्ञ-मानी पण्डित मन्त्रीने उस मांसको हरण किया है। अनन्तर शार्दूलराज सियारकी चपलता सुनने पर कोपित होकर अत्यन्त क्रुद्ध हुआ और उसका वध करनेकी इच्छा करी। पूर्वस्थित मन्त्रियोंने उसका वह छिद्र देखके, वह सियार हम सब लोगोंकी वृत्ति भङ्ग करनेमें प्रवृत्त हुआ है। उन लोगोंने ऐसा निश्चय करके फिर उसके सब कर्मोंको वर्णन करने लगे, उसका जब ऐसा

वाङ्मात्रेणैव धर्मिष्ठः स्वभावेन तु दारुणः ।
धर्मच्छद्मा ह्ययं पापो वृथाचारपरिग्रहः　　॥ ५४ ॥
कार्यार्थं भोजनार्थेषु व्रतेषु कृतवान् श्रमम् ।
यदि विप्रत्ययो ह्येष तदिदं दर्शयाम ते　　॥ ५५ ॥
तन्मांसं चैव गोमायोस्तैः क्षणाद्दाशु ढौकितम् ।
मांसापनयनं ज्ञात्वा व्याघ्रः श्रुत्वा च तद्वचः ॥ ५६ ॥
आज्ञापयामास तदा गोमायुर्वध्यतामिति ।
शार्दूलस्य वचः श्रुत्वा शार्दूलजननी ततः　　॥ ५७ ॥
मृगराजं हितैर्वाक्यैः संबोधयितुमागमत् ।
पुत्र नैतत्त्वया ग्राह्यं कपटारम्भसंयुतम्　　॥ ५८ ॥
कर्म संघर्षजैर्दोषैर्दुष्येताशुचिभिः शुचिः ।
नोच्छ्रितं सहते कश्चित्प्रक्रिया वैरकारिका　　॥ ५९ ॥
शुचेरपि हि युक्तस्य दोष एव निपात्यते ।
मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वतः　　॥ ६० ॥
उत्पाद्यन्ते त्रयः पक्षा मित्रोदासीनशत्रवः ।

कर्म है, तब वह क्या नहीं कर सकता? आपने पहिले उसे जिस प्रकार सुना था, वह वैसा नहीं है; वह वचन मात्रका ही धर्मिष्ठ है; परन्तु उसका स्वभाव अत्यन्त दारुण है। इस पापीने कपट धर्म अवलम्बन करके वृथा आचरण परिग्रह किया है, कार्य सिद्धके कारण, भोजनके वास्ते व्रत विषयमें श्रम किया है। (४८—५४)

यदि इस विषयमें आपको अविश्वास होवे, तो इस समय आपको दिखा देता हूं-वह मांस शियारके घरमें प्रवेशित हुआ है। मांसकी चोरी और उसके वृत्तान्तको सुनकर व्याघ्रने उस समय "गोमायुका वध करो," ऐसी आज्ञा की। अनन्तर शार्दूलकी माता उसका वचन सुनके हितकर वाक्यसे उसे शान्त करनेके वास्ते आई। वह बोली, हे पुत्र! कपट कार्य संयुक्त वाक्य ग्रहण करने तुम्हें उचित नहीं है। ईर्षाके कारण उग्रतायुक्त अपवित्र पुरुषोंको संसर्ग जनित दोषके जरिये निर्दोषी पुरुष भी दोषी होता है, कोई पुरुष वैरकारक समुन्नत प्रकृष्ट कर्म नहीं सह सकता, निर्दोषी पुरुषके अभियुक्त होनेपर वह दूषित हुआ करता है; निज कर्म साधन करनेवाले वनवासी मुनियोंके विषयमें भी शत्रु, मित्र और उदासीन ये तीनों

लुब्धानां शुचयो द्वेष्याः कातराणां तरस्विनः ॥६१॥
मूर्खाणां पण्डिता द्वेष्या दरिद्राणां महाधनाः।
अधार्मिकाणां धर्मिष्ठा विरूपाणां सुरूपिणः ॥ ६२ ॥
बहवः पण्डिता मूर्खा लुब्धा मायोपजीविनः।
कुर्युर्दोषमदोषस्य बृहस्पतिमतेरपि ॥ ६३ ॥
शून्यात्तच्च गृहान्मांसं यद्यप्यपहृतं तव।
नेच्छते दीयमानं च साधु तावद्विमृश्यताम् ॥ ६४ ॥
असभ्याः सभ्यसंकाशाः सभ्याश्चासभ्यदर्शनाः।
दृश्यन्ते विविधा भावास्तेषु युक्तं परीक्षणम् ॥ ६५ ॥
तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न चैवास्ति तलं व्योम्नि खद्योते न हुताशनः ॥ ६६ ॥
तस्मात्प्रत्यक्षदृष्टोऽपि युक्तो ह्यर्थः परीक्षितुम्।
परीक्ष्य ज्ञापयन्नर्थान्न पश्चात्परितप्यते ॥ ६७ ॥
न दुष्करमिदं पुत्र यत्प्रभुर्घातयेत्परम्।
श्लाघनीया यशस्या च लोके प्रभवतां क्षमा ॥ ६८ ॥

पक्ष उत्पन्न होते हैं। लोभियोंके शुद्ध स्वभाववाले लोग द्वेषी होते, कादरोंके बलवान, मूर्खोंके पण्डित और दरिद्रोंके महाधनवान मनुष्य द्वेषी हुआ करते हैं, अधर्मियोंके धर्मात्मा और कुरूपोंके स्वरूपवान मनुष्य द्वेषभाजन होते हैं। (५५-६२)

बहुतेरे पण्डित मूर्ख, लोभी और मायाजीवी लोग बृहस्पतिके समान बुद्धिमान निर्दोषी मनुष्योंपर दोष स्थापित किया करते हैं। यद्यपि तुम्हारे सूने गृहसे मांस चुराया गया है, परन्तु जो पुरुष देने पर भी लेनेकी इच्छा नहीं करता; उस विषयमें वैसा समझना उचित नहीं है। असभ्य लोग सभ्य और सभ्य लोग असभ्यके समान दीख पडते हैं। लोगोंके भाव अनेक तरहके देखे जाते हैं; इससे उनके विषयमें परीक्षा करना युक्तियुक्त है। आकाशका तल कडाहीके पेट समान दीखता और जुगुनू अग्निकी चिनगारी सदृश दीख पडता है; परन्तु आकाशका तल नहीं है और जुगुनू भी अग्नि नहीं है, इससे अप्रत्यक्ष दृष्ट विषयोंकी भी परीक्षा करनी उचित है। परीक्षा करके विषय जाहिर करने पर पीछे दुःखित नहीं होना पडता। (६३-६७)

हे पुत्र! प्रभु होके दूसरेको नष्ट

स्थापितोऽयं त्वया पुत्र सामन्तेष्वपि विश्रुतः ।
दुःखेनासाद्यते पात्रं धार्यतामेष ते सुहृत् ॥ ६९ ॥
दूषितं परदोषैर्हि गृह्णीते योऽन्यथा शुचिम् ।
स्वयं संदूषितामात्यः क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ ७० ॥
तस्माद्प्यरिसंघाताद्गोमायोः कश्चिदागतः ।
धर्मात्मा तेन चाख्यातं यथैतत्कपटं कृतम् ॥ ७१ ॥
ततो विज्ञातचारितः सत्कृत्य स विमोक्षितः ।
परिष्वक्तश्च सस्नेहं मृगेन्द्रेण पुनः पुनः ॥ ७२ ॥
अनुज्ञाप्य मृगेन्द्रं तु गोमायुर्नीतिशास्त्रवित् ।
तेनामर्षेण संतप्तः प्रायमासितुमैच्छत ॥ ७३ ॥
शार्दूलस्तं तु गोमायुं स्नेहात्प्रोत्फुल्ललोचनः ।
अवारयत्स धर्मिष्ठं पूजया प्रतिपूजयन् ॥ ७४ ॥
तं स गोमायुरालोक्य स्नेहादागतसंभ्रमम् ।
उवाच प्रणतो वाक्यं बाष्पगद्गदया गिरा ॥ ७५ ॥
पूजितोऽहं त्वया पूर्वं पश्चाच्चैव विमानितः ।

करना, कुछ कठिन नहीं है; परन्तु इस लोकमें प्रभावयुक्त पुरुषोंमें क्षमागुण ही बडाईके योग्य तथा यशदायक है। हे पुत्र ! तुमने उसे समस्त राज्यके बीच स्थापित किया है ! उससे ही वह विख्यात हुआ है; मन्त्रणा पात्र अत्यन्त कष्टसे प्राप्त होता है; यह तुम्हारा सुहृद है, इससे इसकी रक्षा करो। पराए दोषसे दूषित पवित्र पुरुषको जो दूसरी भांति समझता है, वह स्वयं अमात्योंको दूषित करते हुए शीघ्र ही नष्ट होता है। जम्बुकके उन शत्रु समूहके बीचसे कोई धर्मात्मा आया, उसने जिस प्रकार यह छल हुआ था, वह सब प्रकाशित करके कह दिया। अनन्तर जम्बुकका चरित्र मालूम होनेपर व्याघ्रने उसका सत्कार करके उसे मुक्त किया और वारम्वार प्रीतिके सहित उसे आलिङ्गन किया। नीतिशास्त्रको जाननेवाला वह सियार मृगेन्द्रकी आज्ञा लेके उस ही अमर्षसे दुःखित होकर प्रायोपवेशन व्रतकी इच्छा की। (६७-७३)

शार्दूलने प्रीतिके कारण प्रफुल्लित नेत्रसे सम्मान करके उस धर्मात्मा सियारको आदरके सहित अनशन व्रत अवलम्बन करनेसे निवारण किया। सियार बाघको स्नेहवशके कारण संभ्रा-न्त चित्तवचनसे प्रणत होके गद्गद वचन-

परेषामास्पदं नीतो वस्तुं नाहाम्यहं त्वयि ॥ ७६ ॥
असंतुष्टाश्च्युताः स्थानान्मानात्प्रत्यवरोपिताः।
स्वयं चापहृता भृत्या ये चाप्युपहिताः परैः ॥ ७७ ॥
परिक्षीणाश्च लुब्धाश्च क्रुद्धा भीताः प्रतारिताः।
हृतस्वा मानिनो ये च त्यक्तादाना महेप्सवः ॥ ७८ ॥
संतापिताश्च ये केचिद्व्यसनौघप्रतीक्षिणः।
अन्तर्हिताः सोपहितास्ते सर्वेऽपरसाधनाः ॥ ७९ ॥
अवमानेन युक्तस्य स्थानभ्रष्टस्य वा पुनः।
कथं यास्यसि विश्वासमहं तिष्ठामि वा कथम् ॥ ८० ॥
समर्थ इति संगृह्य स्थापयित्वा परीक्षितः।
कृतं च समयं भित्त्वा त्वयाऽहमवमानितः ॥ ८१ ॥
प्रथमं यः समाख्यातः शीलवानिति संसदि।
न वाच्यं तस्य वैगुण्यं प्रतिज्ञां परिरक्षता ॥ ८२ ॥
एवं चावमतस्येह विश्वासं मे न यास्यसि।
त्वयि चापेतविश्वासे ममोद्वेगो भविष्यति ॥ ८३ ॥
शंकितस्त्वमहं भीतः परच्छिद्रानुदर्शिनः।

से कहने लगा, कि तुमने पहिले मुझे पूजित करके पीछे अपमानित किया और मेरे शत्रुओंके आश्रय हुए; इससे मैं तुम्हारे समीप निवास नहीं कर सक्ता। जो सेवक स्थानभ्रष्ट, मानसे हीन हैं, वे स्वयं आगत वा दूसरेसे अर्पित होवें; जो क्षीण, लोभी, क्रोधी, डराकु, प्रतारित और हृत सर्वस्व होवें और जो मानी तथा महा अर्थ लाभके अभिलाषी होकर आदान हीन हुआ करते हैं; जो दुःखित वा व्यसनोंकी प्रतीक्षा करते हैं, वे सब ही प्रीतिरहित और निर्द्धन होकर नष्ट होते हैं। (७३-७९)

मैं स्थानभ्रष्ट और अपमानयुक्त हुआ हूं, इससे किस प्रकार तुम्हारा विश्वास पात्र होऊंगा; और कैसे तुम्हारे समीप स्थित होऊंगा? मुझे समर्थ समझके तुमने मन्त्री पद प्रदान करके परीक्षा की और अपने किये हुए नियमको उल्लङ्घन करके मुझे अवमानित किया है। सभाके बीच शीलवान कहके जिसे विख्यात किया था; प्रतिज्ञा रक्षा करनेवालेके पक्षमें उसका औगुण कहना उचित नहीं है। मैं जब इस प्रकारसे मालूम हुआ हूं, तब तुम मेरा विश्वास अब न करोगे, तुम्हारे विश्वास न कर-

अस्निग्धाश्चैव दुस्तोषाः कर्म चैतद्बहुच्छलम् ॥ ८४ ॥
दुःखेन श्लिष्यते भिन्नं श्लिष्टं दुःखेन भिद्यते।
भिन्ना श्लिष्टा तु या प्रीतिर्न सा स्नेहेन वर्तते॥ ८५ ॥
कश्चिदेव हिते भर्तुर्दृश्यते न परात्मनोः।
कार्यापेक्षा हि वर्तन्ते भावस्निग्धाः सुदुर्लभाः ॥ ८६ ॥
सुदुःखं पुरुषज्ञानं चित्तं ह्येषां चलाचलम्।
समर्थो वाप्यशक्तो वा शतेष्वेकोऽधिगम्यते ॥ ८७ ॥
अकस्मात्प्रक्रिया नृणामकस्माच्चापकर्षणम्।
शुभाशुभे महत्त्वं च प्रकर्तुं बुद्धिलाघवम् ॥ ८८ ॥
एवंविधं सान्त्वमुक्त्वा धर्मकामार्थहेतुमत्।
प्रसादयित्वा राजानं गोमायुर्वनमभ्यगात् ॥ ८९ ॥
अगृह्यानुनयं तस्य मृगेन्द्रस्य च बुद्धिमान्।
गोमायुः प्रायमास्थाय त्यक्त्वा देहं दिवं ययौ॥९०॥[४१४२]

इति श्रीमहा०शां० राजधर्मानुशास० व्याघ्रगोमायुसंवादे एकादशाधिकशततमोऽध्यायः॥१११॥

नेसे मेरा भी चित्त व्याकुल होगा। तुम शङ्कित और मैं भयभीत हूं; दुसरे छिद्र खोजनेवाले अस्निग्ध और असन्तुष्ट रहेंगे; इससे ऐसे स्थलमें वास करनेसे बहुतसा छल होसकता है। (८०-८४)

जिस स्थानमें पहिले सम्मान पीछे अपमान होता है, उस सम्मानित होके फिर अपमानित होनेवालेकी धीर लोग प्रशंसा नहीं करते। पृथक् हुई वस्तु बहुत कष्टसे जुडती है और जुडी हुई वस्तु अत्यन्त कष्टसे अलग हुआ करती है; जो प्रीति पृथक् होके फिर जुडती है, वह स्नेहसे मिश्रित नहीं रहती। कोई पुरुषको अपना पराया दोनोंके अतिरिक्त केवल स्वामीके हितकर कार्योंमें रत नहीं देखा जाता, सब ही कार्यके अनुसार अभिप्राय करते हैं; इससे स्निग्धबन्धु अत्यन्त दुर्लभ है। राजाओंका चित्त अत्यन्त चञ्चल होता है; उत्तम पुरुषको समझना बहुत कठिन है; समर्थ वा शङ्कारहित पुरुष सैकडेमें एक पाया जाता है। मनुष्योंकी उन्नति अवनति स्वयं हुआ करती; शुभाशुभ घटना ही महत्व और तुच्छत्व मालूम करानेमें समर्थ हैं। (८५-८८)

भीष्म बोले, जम्बुकने इसी प्रकार धर्म, काम और अर्थसे पूरित युक्तियुक्त शान्त वचन कह बाघको प्रसन्न करके बन को गया। बुद्धिमान सियार उस शार्दूलकी विनतीको न मान कर व्रत

युधिष्ठिर उवाच—किं पार्थिवेन कर्त्तव्यं किं च कृत्वा सुखी भवेत्।
एतदाचक्ष्व तत्त्वेन सर्वधर्मभृतां वर ॥ १ ॥
भीष्म उवाच- हन्त तेऽहं प्रवक्ष्यामि शृणु कार्यैकनिश्चयम्।
यथा राज्ञेह कर्त्तव्यं यच्च कृत्वा सुखी भवेत् ॥ २ ॥
न चैवं वर्त्तितव्यं स्म यथेदमनुशुश्रुम।
उष्ट्रस्य तु महद् वृत्तं तन्निबोध युधिष्ठिर ॥ ३ ॥
जातिस्मरो महानुष्ट्रः प्राजापत्ये युगेऽभवत्।
तपः सुमहदातिष्ठदरण्ये संशितव्रतः ॥ ४ ॥
तपसस्तस्य चान्तेऽथ प्रीतिमानभवद्विभुः।
वरेण च्छन्दयामास ततश्चैनं पितामहः ॥ ५ ॥
उष्ट्र उवाच— भगवंस्त्वत्प्रसादान्मे दीर्घा ग्रीवा भवेदियम्।
योजनानां शतं साग्रं गच्छामि चरितुं विभो ॥ ६ ॥
एवमस्त्विति चोक्तः स वरदेन महात्मना।
प्रतिलभ्य वरं श्रेष्ठं ययावुष्ट्रः स्वकं वनम् ॥ ७ ॥

अवलम्बन करके देह त्यागनेके अनन्तर स्वर्गमें गया। (९०) [४१४२]

शान्तिपर्वमें १११ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें ११२ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, सब धर्मोंके जानने-वाले पितामह! राजाको क्या कर्त्तव्य है, और कैसा कार्य करनेसे राजा सुखी होता है इसे आप यथार्थ रूपसे वर्णन कीजिये। भीष्म बोले, अच्छा,—मैं तुम्हारे समीप कहता हूं; इस लोकमें राजाको जो कुछ कर्त्तव्य हैं और जिसके करनेसे वह सुखी होते हैं, उस कार्यके विषयमें एकमात्र निश्चय है, उसे सुनो। हे युधिष्ठिर! हमने जिस प्रकार एक ऊंटका महत वृत्तान्त सुना है, वैसा करना उचित नहीं; इससे उसे सुनो। प्राजापत्य युगमें एक जातिस्मर ऊंट था, उसने जङ्गलके बीच व्रताचरण करके महत् तपस्या की थी। उसकी तपस्या पूरी होने पर सर्व—शक्तिमान पितामह प्रसन्न हुए, अनन्तर उन्होंने उसे वर मांगनेको कहा। (१–५)

ऊंट बोला हे भगवन्! आपकी कृपासे मेरी गर्दन लम्बी होवे, हे विभु! जिससे मैं उस लम्बी गर्दनके जरिये एक सौ योजनसे भी आगेके कण्टक पत्रादि-कोंको हरण कर सकूं। वरदाता महात्मा पितामहने कहा "ऐसा ही होवे"। ऊंट भी उत्तम वर पाके निज वनमें गया। अत्यन्त नीचबुद्धि ऊंटने उस

महाभारत।

आर्योंके विजयका प्राचीन इतिहास।

पर्वका नाम	अंक	कुल अंक	पृष्ठसंख्या	मूल्य	डा. व्य.
१ आदिपर्व	(१ से ११)	११	११२५	६) छः रु.	१।)
२ सभापर्व	(१२ " १५)	४	३५६	२॥) अढाई	॥।)
३ वनपर्व	(१६ " ३०)	१५	१५३८	८) आठ	१॥)
४ विराटपर्व	(३१ " ३३)	३	३०६	२) दो	॥
५ उद्योगपर्व	(३४ " ४२)	९	९५३	५) पांच	१।)
६ भीष्मपर्व	(४३ " ५०)	८	८००	४॥) साढेचार	१)
७ द्रोणपर्व	(५१ " ६४)	१४	१३६४	७॥) साढेसात	१।)
८ कर्णपर्व	(६५ " ७०)	६	६३७	३॥) साढेतीन	॥)
९ शल्यपर्व	(७१ " ७४)	४	४३५	२॥) अढाई	॥।
१० सौप्तिकपर्व	(७५)	१	१०४	॥। बारह आ.	।)
११ स्त्रीपर्व	(७६)	१	१०८	॥।) " "	।)
१२ शान्तिपर्व।					
राजधर्मपर्व	(७७ " ८३)	७	६९४	४ चार	॥
आपद्धर्मपर्व	(८४ " ८५)	२	२३२	१॥ डेढ	॥।
मोक्षधर्मपर्व	(८६ " ९६)	११	११००	६) छः	१)
१३ अनुशासन	(९७ " १०७)	११	१०७६	६) छः	१)
१४ आश्वमेधिक	(१०८ " १११)	४	४००	२॥) अढाई	॥)
१५ आश्रमवासिक	(११२)	१	१४८	१) एक	।)
१६-१७-१८ मौसल, महाप्रास्थानिक, स्वर्गारोहण।	(११३)	१	१०८	१) एक	।।

सूचना—ये सब पर्व छप कर तैयार हैं। अतिशीघ्र मंगवाइये। मूल्य मनी आर्डर द्वारा भेज देंगे तो डाकव्यय माफ करेंगे; अन्यथा प्रत्येक रु० के मूल्यके ग्रंथको तीन आने डाकव्यय मूल्यके अलावा देना होगा। मंत्री-स्वाध्याय मंडल, औंध (जि० सातारा)

मुद्रक और प्रकाशक— श्री० दा० सातवळेकर, भारतमुद्रणालय, औंध, (जि० सातारा)

REGISTERED NO. B. 1819

अङ्क ८३ [शांतिपर्व अंक ७]

महाभारत

भाषा--भाष्य--समेत

संपादक-श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय-मंडल, औंध, जि. सातारा

संपूर्ण महाभारत तैयार है।

मूल्य।

सजिल्द ६५) डा० व्य० अलग

बिनाजिल्द ६०) ,, ,, ,,

मंत्री--स्वाध्याय-मंडल, औंध, (जि. सातारा)

१२ अंकोंका मूल्य म. आ. से. ६) और वी.पी. से ७) विदेशके लिये ८)

स चकार तदाऽलस्यं वरदानात्सुदुर्मतिः ।
न चैच्छच्चरितुं गन्तुं दुरात्मा कालमोहितः ॥ ८ ॥
स कदाचित्प्रसार्यैव तां ग्रीवां शतयोजनाम् ।
चचार श्रान्तहृदयो वातश्चागात्ततो महान् ॥ ९ ॥
स गुहायां शिरोग्रीवां निधाय पशुरात्मनः ।
आस्ते तु वर्षमभ्यागात्सुमहत्प्लावयज्जगत् ॥ १० ॥
अथ शीतपरीताङ्गो जम्बुकः क्षुच्छ्रमान्वितः ।
सदारस्तां गुहामाशु प्रविवेश जलार्दितः ॥ ११ ॥
स दृष्ट्वा मांसजीवी तु सुभृशं क्षुच्छ्रमान्वितः ।
अभक्षयत्ततो ग्रीवामुष्ट्रस्य भरतर्षभ ॥ १२ ॥
यदा त्वबुध्यतात्मानं भक्ष्यमाणं स वै पशुः ।
तदा संकोचने यत्नमकरोद्भृशदुःखितः ॥ १३ ॥
यावदूर्ध्वमधश्चैव ग्रीवां संक्षिपते पशुः ।
तावत्तेन सदारेण जम्बुकेन स भक्षितः ॥ १४ ॥
स हत्वा भक्षयित्वा च तमुष्ट्रं जम्बुकस्तदा ।
विगते वातवर्षे तु निश्चक्राम गुहामुखात् ॥ १५ ॥
एवं दुर्बुद्धिना प्राप्तमुष्ट्रेण निधनं तदा ।

समय वरके प्रभावसे आलस्य किया । वह दुष्टात्मा कालसे मोहित होकर चरनेके वास्ते नहीं जाता था; किसी समय उस एक सौ योजन लम्बी ग्रीवाको पसार कर निःशङ्क चित्तसे रहा था; इस ही समयमें प्रबल हवा बहने लगी, तब ऊंटने अपने शिर और गर्दनको कन्दराके बीच डाल दिया ! (८–९)

अनन्तर जगत्को परिपूरित करती हुई महत् वर्षा आरम्भ हुई । उस ही समय कोई शियार जलसे भीगके शीतसे आर्त हुआ; इससे कष्टमें पडके भार्याके सहित शीघ्र ही उस गुफाके बीच प्रवेश किया । हे भरतश्रेष्ठ ! वह मांसजीवी जम्बुक परिश्रम और क्षुधासे युक्त होकर ऊंटकी गर्दन देखके उसे भक्षण करने लगा । ऊंटने जब अपनेको भक्ष्यमान समझा तब वह अत्यन्त दुःखित होकर ग्रीवा समेटनेके वास्ते यत्नवान हुआ । वह गर्दनको ऊपर उठाके नीचेको समेटते समेटते भार्याके सहित सियारने उसे भक्षण किया । सियार ऊंटको भक्षण करके वर्षा और वायुके शान्त होनेपर गुफासे बाहर

आलस्यस्य क्रमात्पश्य महान्तं दोषमागतम् ॥ १६ ॥
त्वमप्येवंविधं हित्वा योगेन नियतेन्द्रियः।
वर्तस्व बुद्धिमूलं तु विजयं मनुरब्रवीत् ॥ १७ ॥
बुद्धिश्रेष्ठानि कर्माणि बाहुमध्यानि भारत।
तानि जङ्घाजघन्यानि भारप्रत्यवराणि च ॥ १८ ॥
राज्यं तिष्ठति दक्षस्य संगृहीतेन्द्रियस्य च।
आर्तस्य बुद्धिमूलं हि विजयं मनुरब्रवीत्।
गुह्यं मन्त्रं श्रुतवतः सुसहायस्य चानघ ॥ १९ ॥
परीक्ष्यकारिणो ह्यर्थास्तिष्ठन्तीह युधिष्ठिर।
सहाययुक्तेन मही कृत्स्ना शक्या प्रशासितुम् ॥२०॥
इदं हि सद्भिः कथितं विधिज्ञैः पुरा महेन्द्रप्रतिमप्रभाव।
मयाऽपि चोक्तं तव शास्त्रदृष्ट्या यथैव बुद्ध्वा प्रचरस्व राजन् ॥२१॥ ४१६३

इति श्रीमहाभारते शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि उष्ट्रग्रीवोपाख्याने द्वादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११२ ॥

हुआ। नीचबुद्धि ऊंट उस समय इसी भांति मृत्युको प्राप्त हुआ था। देखिये, आलसके कारण महत् दोष उपस्थित हुआ, इससे तुम उपाय अवलम्बन करके ऐसे आलस छोडके सावधान होकर बुद्धिमूलक विषयोंमें वर्त्तमान रहो। हे भारत! मनुने कहा है, बुद्धिमूलक कर्म ही उत्तम हैं; बाहुबल जनित कर्म मध्यम, और पांवसे चलना तथा बोझा ढोना आदि निकृष्ट हैं। जो लोग दक्ष और क्रमसे इन्द्रियोंको निग्रहीत किये हैं, उन्हीं राजाओंका राज्य वर्त्तमान रहता है; और बुद्धिबलसे ही आर्त्त पुरुषोंकी विजय होती है; यह मनुने कहा है। (१०-१८)

हे पापरहित युधिष्ठिर! जिन्होंने गुप्त मन्त्रणा सुनी है, जो सहाय युक्त और परीक्षा करके कार्य करते हैं; इस लोकमें उनके ही पास सब अर्थ उपस्थित रहते हैं; सहाय युक्त राजा समस्त पृथ्वी शासन करनेमें समर्थ है। हे महेन्द्र सदृश स्वभावसे युक्त महाराज! विधि जाननेवाले साधुओंके जरिये पहिले समयमें यह कथा कही हुई थी; मैंने भी तुम्हारे समीप शास्त्र दृष्टिके अनुसार इसे वर्णन किया; इससे जैसा कहा है, उस ही भांति बुद्धिसे विचार आचरण करो। (१९-२१) [४१६३]

शान्तिपर्वमें ११२ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच– राजा राज्यमनुप्राप्य दुर्लभं भरतर्षभ।
अमित्रस्यातिवृद्धस्य कथं तिष्ठेदसाधनः ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
सरितां चैव संवादं सागरस्य च भारत ॥ २ ॥
सुरारिनिलयः शश्वत्सागरः सरितां पतिः।
पप्रच्छ सरितः सर्वाः संशयं जातमात्मनः ॥ ३ ॥
सागर उवाच– समूलशाखान्पश्यामि निहतान्कायिनो द्रुमान्।
युष्माभिरिह पूर्णाभिर्नान्यस्तत्र न वेतसम् ॥ ४ ॥
अकायश्चाल्पसारश्च वेतसः कूलजश्च वः।
अवज्ञया वा नानीतः किं च वा तेन वः कृतम् ॥ ५ ॥
तदहं श्रोतुमिच्छामि सर्वासामेव वो मतम्।
यथा चेमानि कूलानि हित्वा नायाति वेतसः ॥ ६ ॥
तत्र प्राह नदी गङ्गा वाक्यमुत्तममर्थवत्।
हेतुमद्ग्राहकं चैव सागरं सरितां पतिम् ॥ ७ ॥
गङ्गोवाच– तिष्ठन्त्येते यथास्थानं नगा ह्येकनिकेतनाः।

शान्तिपर्वमें ११३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भरतश्रेष्ठ! राजा दुर्लभ राज्य पाके सहाय रहित होके अत्यन्त बलवान शत्रुके निकट किस प्रकार निवास करे? (१)

भीष्म बोले, हे भारत! पुराने लोग इस विषयमें सरित्पति सागर और नदियोंके सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं, जो संशय उत्पन्न हुआ था, उस विषयमें सुरारिनिलय सरित्पति समुद्र नदियोंसे प्रश्न किया। (२—३)

समुद्र बोला, हे उत्तमोत्तम नदियो! तुम सब जिस समय मेरे निकट आती हो; उस समय जड और शाखाके सहित बडे बडे वृक्षोंको नष्ट होते देखता हूं; परन्तु उनके बीच बेतके वृक्षको टूटते हुए नहीं देखता। बेतका वृक्ष छोटा शरीर और अल्प शक्तिवाला तुम्हारे किनारे पर उत्पन्न होता है; इससे तुम लोग उसे अवज्ञाके कारण नहीं लाती हो; वा उसने तुम लोगोंका कुछ उपकार किया है? बेत जो तुम लोगोंके तटको छोडके नहीं आता उस विषयमें मैं तुम सब लोगोंके मतको सुननेकी इच्छा करता हूं। इस विषयमें नदियोंमें श्रेष्ठ गङ्गा सरित्पति समुद्रसे अर्थ और युक्तियुक्त हृदय-ग्राहक उत्तर देने लगीं। (४—७)

ते त्यजन्ति ततः स्थानं प्रातिलोम्यान्न वेतसः ॥ ८ ॥
वेतसो वेगमायातं दृष्ट्वा नमति नापरे।
सरिद्वेगेऽभ्यतिक्रान्ते स्थानमासाद्य तिष्ठति ॥ ९ ॥
कालज्ञः समयज्ञश्च सदा वश्यश्च नोद्धतः।
अनुलोमस्तथा स्तब्धस्तेन नाभ्येति वेतसः ॥ १० ॥
मारुतोदकवेगेन ये नमन्त्युन्नमन्ति च।
ओषध्यः पादपा गुल्मा न ते यान्ति पराभवम् ॥११॥

भीष्म उवाच— यो हि शत्रोर्विवृद्धस्य प्रभोर्वन्धविनाशने।
पूर्वं न सहते वेगं क्षिप्रमेव विनश्यति ॥ १२ ॥
सारासारं बलं वीर्यमात्मनो द्विषतश्च यः।
जानन्विचरति प्राज्ञो न स याति पराभवम् ॥ १३ ॥
एवमेव यदा विद्वान्मन्यतेऽतिबलं रिपुम्।
संश्रयेद्वैतसीं वृत्तिमेतत्प्रज्ञानलक्षणम् ॥ १४ ॥ [४१७७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि सरित्सागरसंवादे त्रयोदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११३ ॥

गङ्गा बोलीं, ये सब वृक्ष यथा स्थानमें रहनेसे नष्ट होते हैं, ये सब हम लोगोंके विरुद्ध आचरण करके अन्तमें निज स्थानमें भ्रष्ट हुआ करते हैं; वेतवृक्ष ऐसा न करनेसे निज स्थान में ही निवास करता है। वेगको आता देखके वेत नत होता है, दूसरे नत नहीं होते; नदीका वेग घटनेपर बेत निज स्थानमें स्थित रहता है। बेत कालज्ञ, समयज्ञ और सदा वशीभूत, अनुलोम तथा उद्धत नहीं है; इस ही निमित्त इस स्थानमें नहीं आता। जो सब औषधी, वृक्ष, और लता वायु तथा जल वेगके कारण नीचे और ऊंचे होती हैं, वे अपने पराभवको नहीं प्राप्त होतीं। (८-११)

भीष्म बोले, जो पुरुष पहिले वध और नाश करनेमें समर्थ प्रबल वैरीके वेगको नहीं सहता, वह शीघ्र ही नष्ट होता है। जो अपना और शत्रुके सार असार तथा बलवीर्यको मालूम करके घूमते हैं, उन बुद्धिमान पुरुषोंकी पराभव नहीं होती। इसी भांति जो शत्रु-ओंको प्रबल पराक्रमी जानके बेतसी-वृत्ति अवलम्बन करते हैं, उनकी पराभव नहीं होती; यही प्रकृष्ट ज्ञानका लक्षण है। (१२—१४) [४१७७]

शान्तिपर्वमें ११३ अध्याय समाप्त।

युधिष्ठिर उवाच– विद्वान्मूर्खप्रगल्भेन मृदुतीक्ष्णेन भारत।
आक्रुश्यमानः सदसि कथं कुर्यादरिन्दम ॥ १ ॥
भीष्म उवाच— श्रूयतां पृथिवीपाल यथैषोऽर्थोऽनुगीयते।
सदा सुचेताः सहते नरस्येहाल्पमेधसः ॥ २ ॥
अरुष्यन् क्रुश्यमानस्य सुकृतं नाम विन्दति।
दुष्कृतं चात्मनोऽमर्षी रुष्यत्येवापमार्ष्टि वै ॥ ३ ॥
टिट्टिभं तमुपेक्षेत वाशमानमिवातुरम्।
लोकविद्वेषमापन्नो निष्फलं प्रतिपद्यते ॥ ४ ॥
इति संश्लाघते नित्यं तेन पापेन कर्मणा।
इदमुक्तो मया कश्चित्संमतो जनसंसदि ॥ ५ ॥
स तत्र व्रीडितः शुष्को मृतकल्पोऽवतिष्ठते।
श्लाघन्नश्लाघनीयेन कर्मणा निरपत्रपः ॥ ६ ॥
उपेक्षितव्यो यत्नेन तादृशः पुरुषाधमः।
यद्यद् ब्रूयादल्पमतिस्तत्तदस्य सहेद् बुधः ॥ ७ ॥

शान्तिपर्वमें ११४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे शत्रुनाशन भारत! विद्वान पुरुष मूर्ख वा प्रगल्भके जरिये कोमल तथा कठोर भावसे निन्दित होकर सभाके बीच कैसा व्यवहार करे? (१)

भीष्म बोले, हे पृथ्वीनाथ! यह विषय जिस प्रकार वर्णित होता है, अर्थात् बुद्धिमान पुरुष अल्पबुद्धि मनुष्योंके अत्याचारको जिस प्रकार सदा सहते हैं, उसे सुनो। जो निन्दक पुरुषोंके ऊपर क्रोध नहीं करते, वे सुकृत फल लाभ किया करते हैं, और जो क्रोधी पुरुषके विषयमें क्षमा करते हैं, वे अपने किये हुए दुष्कृत कर्मोंसे छूट जाते हैं। टिट्टिभ पक्षीके शब्दकी भांति कानोंमें कडवे मालूम होनेवाले क्रोधसे आतुर पुरुषोंके वचनमें उपेक्षा करे। लोक समाजमें जो पुरुष द्वेषभाजन होता है, उसका सब ही निष्फल है; वह उसही पाप कर्मके जरिये सदा बडाई करता है,–"मैंने जनसमाजके बीच अत्यन्त विख्यात किसी पुरुषको ऐसा वचन कहा था, वह सभामें ऐसा सुनके मृतके समान स्थित था।" जो निर्लज्ज पुरुष बडाई न करने योग्य कर्मोंके जरिये बडाई करते हैं, वैसे अधम पुरुषोंके विषयमें यत्नपूर्वक उपेक्षा करनी योग्य है। (२–६)

अल्पबुद्धि मनुष्य जो कुछ कहे,

प्राकृतो हि प्रशंसन्वा निन्दन्वा किं करिष्यति ।
वने काक इवाबुद्धिर्वाशमानो निरर्थकम् ॥ ८ ॥
यदि वाग्भिः प्रयोगः स्यात्प्रयोगे पापकर्मणः ।
वागेवार्थो भवेत्तस्य न ह्येवार्थो जिघांसतः ॥ ९ ॥
निषेकं विपरीतं स आचष्टे वृत्तचेष्टया ।
मयूर इव कौपीनं नृत्यं संदर्शयन्निव ॥ १० ॥
यस्यावाच्यं न लोकेऽस्ति नाकार्यं चापि किञ्चन ।
वाचं तेन न संदध्याच्छुचिः संश्लिष्टकर्मणा ॥ ११ ॥
प्रत्यक्षं गुणवादी यः परोक्षे चापि निन्दकः ।
स मानवः श्ववल्लोके नष्टलोकपरावरः ॥ १२ ॥
तादृग्जनशतस्यापि यद्ददाति जुहोति च ।
परोक्षेणापवादीयस्तं नाशयति तत्क्षणात् ॥ १३ ॥
तस्मात्प्राज्ञो नरः सद्यस्तादृशं पापचेतसम् ।

बुद्धिमान पुरुष उसे सहन करे, वनके बीच कौवेकी तरह निरर्थक चिल्लाते हुए बुद्धिहीन साधारण पुरुष प्रशंसा वा निन्दा करके क्या कर सकता है ? पाप कर्मोंका करना यदि वचनसे कहा जावे, अर्थात् इस पुरुषने यह कर्म किया है, ऐसा करने पर वचनमात्रसे दूसरेका दोषसिद्ध आड करता है; क्रोधी पुरुष-का प्रयोजन सिद्ध नहीं होता, इससे वचनके जारिये दूषित पुरुष कभी दोषी नहीं होसकता ! दुष्ट पुरुष यदि कडवे वाक्यसे कोई विपरीत वचन कहें, अर्थात् जनसमाजमें यदि कोई पुरुष कडवे वचनसे गाली देवे, तो जैसे मोर अपना गुह्य दिखाके नाचते नाचते अपनी बडाई समझता है, अर्थात् मैं उत्तम नृत्य करता हूं, ऐसे ही अभिमानसे मतवाला होता है, वैसे ही खल तथा नष्ट लोग मैंने सभाके बीच अमुक महत् पुरुषको कडवे वचन कहा है, ऐसी ही बडाई किया करते हैं, उसके वास्ते लज्जित नहीं होते। (७-१०)

जगत्में जिसे कुछ भी न करने योग्य अथवा अकार्य नहीं है, उन दूषित चित्तवाले मनुष्योंके साथ पवित्र स्वभाव युक्त पुरुषोंको वार्त्तालाप करना उचित नहीं है। जो पुरुष सम्मुखमें प्रशंसा और परोक्षमें निन्दा किया करता है, कुत्तेकी तरह वैसे मनुष्यका ज्ञान और धर्म नष्ट होता है। परोक्षमें निन्दा करनेवाला मनुष्य यदि सैकडों पुरुषों-को दान करे, तथा होम करे, तो उस

वर्जयेत्साधुभिर्वर्ज्यं सारमेयामिषं यथा ॥ १४ ॥
परिवादं ब्रुवाणो हि दुरात्मा वै महाजने।
प्रकाशयति दोषांस्तु सर्पः फणमिवोच्छ्रितम् ॥ १५ ॥
तं स्वकर्माणि कुर्वाणं प्रतिकर्तुं य इच्छति।
भस्मकूट इवाबुद्धिः खरो रजसि सज्जति ॥ १६ ॥
मनुष्यशालावृकमप्रशान्तं जनापवादे सततं निविष्टम्।
मातङ्गमुन्मत्तमिवोन्नदन्तं त्यजेत तं श्वानमिवातिरौद्रम् ॥ १७ ॥
अधीरजुष्टे पथि वर्तमानं दमादपेतं विनयाच्च पापम्।
अरिव्रतं नित्यमभूतिकामं धिगस्तु तं पापमतिं मनुष्यम् ॥ १८ ॥
प्रत्युच्यमानस्त्वभिभूय एभिर्निशाम्य मा भूस्त्वमथार्तरूपः।
उच्चस्य नीचेन हि संप्रयोगं विगर्हयन्ति स्थिरबुद्धयो ये ॥ १९ ॥
क्रुद्धो दशार्धेन हि ताडयेद्वा स पांसुभिर्वा विकिरेत्तुषैर्वा।
विवृत्य दन्तांश्च विभीषयेद्वा सिद्धं हि मूढे कुपिते नृशंसे ॥ २० ॥

ही समय वह सब निष्फल हो जाता है। इससे बुद्धिमान पुरुष सदा वैसे पापी साधुताहीन पुरुषोंको कुत्तेके मांसकी तरह त्याग करें। जो दुष्टात्मा महाजनोंके निकट दूसरेकी निन्दा करते हैं; वे सर्पकी तरह ऊंचा फन दिखाके अपने दोषोंको प्रकाशित किया करते हैं। (११—१५)

जो बुद्धिहीन पुरुष निज कर्मको करनेवाले खलके प्रतिकार करनेकी इच्छा करते हैं, वह इस प्रकार दुःखमें पडते हैं, जैसे गधा अग्निपुञ्जमें प्रवेश करता है। जो पुरुष दूसरेकी निन्दा करनेमें सदा रत रहता है, वह मनुष्यके आकारमें कुत्तास्वरूप है। चिल्लानेवाले उन्मत्त हाथी और अत्यन्त भयङ्कर कुत्तेकी तरह उस नीच पुरुषको परित्याग करना चाहिये। जो पुरुष अधीर सेवित मार्गमें वर्त्तमान और इन्द्रिय दमन तथा विनयसे विरत होता है, उस अरिव्रती सदा अनैश्वर्यकामी पाप बुद्धि पापी मनुष्यको धिक्कार है। नीच लोगोंके कुछ वचन बोलनेपर यदि साधु पुरुष उसका उत्तर देवें, तो उन्हें उत्तर देनेसे निवारण करना उचित है; क्योंकि उसके उत्तर देनेसे आर्त्त होना पडता है। स्थिर बुद्धिवाले पुरुष ऊंचे पदवाले पुरुषोंके नीचोंके सहित वार्त्तालाप करनेकी भी निन्दा किया करते हैं। मूढ पुरुष क्रुद्ध होनेपर चपेटाघात करता, धूलि वा तूष फेंकता, अथवा दांत निकालके विभीषिका

विगर्हणां परमदुरात्मना कृतां सहेत यः संसदि दुर्जनान्नरः ।
पठेदिदं चापि निदर्शनं सदा न वाङ्मयं स लभति किञ्चिदप्रियम् २१॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि टिट्टिभकं नाम चतुर्दशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११४ ॥ [४१९८]

युधिष्ठिर उवाच- पितामह महाप्राज्ञ संशयो मे महानयम् ।
संछेत्तव्यस्त्वया राजन्भवान्कुलकरो हि नः ॥ १ ॥
पुरुषाणामयं तात दुर्वृत्तानां दुरात्मनाम् ।
कथितो वाक्यसंचारस्ततो विज्ञापयामि ते ॥ २ ॥
यद्धितं राज्यतन्त्रस्य कुलस्य च सुखोदयम् ।
आयत्यां च तदात्वे च क्षेमवृद्धिकरं च यत् ॥ ३ ॥
पुत्रपौत्राभिरामं च राष्ट्रवृद्धिकरं च यत् ।
अन्नपाने शरीरे च हितं यत्तद्ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥
अभिषिक्तो हि यो राजा राष्ट्रस्थो मित्रसंवृतः ।
असुहृत्समुपेतो वा स कथं रञ्जयेत्प्रजाः ॥ ५ ॥
यो ह्यसत्प्रग्रहरतिः स्नेहरागबलात्कृतः ।

प्रदर्शित किया करता है; नृशंस तथा मूर्खके कोपित होनेपर ये ही सब कार्य प्रसिद्ध हैं । जो मनुष्य सभाके बीच अत्यन्त दुष्टचित्तवाले दुर्जनोंकी की हुई निन्दा सहन करते और इस दृष्टान्तका सदा पाठ करते हैं; उन्हें कोई अप्रिय वचन नहीं प्राप्त होता । (१९-२०)

शान्तिपर्वमें ११४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें ११५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे महाबुद्धिमान् पितामह ! आपको मेरा यह महत् संशय दूर करना होगा । आप हमारे कुलको स्थित करनेवाले हैं । हे तात! आपने नीचकर्म करनेवाले दुष्टात्मा पुरुषोंके विषयमें ऐसे वचन कहे । इस ही वास्ते जाहिर करता हूं, कि जो राजतन्त्रके हितकारी और जिससे वंशको सुख प्राप्त होता तथा जो वर्त्तमान और भविष्यकालमें कुशलकी वृद्धि करनेवाला हुआ करता है; जो पुत्र पौत्र आदि क्रमसे चले आते हो, जो राज्यकी बढती करनेवाला हो खानेपीने और शरीरके विषयमें जो हितकर होवे, उसे आप मेरे समीप वर्णन कीजिये । जो राजा अभिषिक्त होकर राज्यके बीच मित्रोंमें घिरके सुहृदोंसे युक्त होवे, वह किस प्रकार प्रजाको प्रसन्न करे ? (१-५)

जिसे असत् विषयोंमें अनुराग, प्रीति

इन्द्रियाणामनीशत्वादसज्जनबुभूषकः ॥ ६ ॥
तस्य भृत्या विगुणतां यान्ति सर्वे कुलोद्गताः।
न च भृत्यफलैरर्थैः स राजा संप्रयुज्यते ॥ ७ ॥
एतन्मे संशयस्यास्य राजधर्मान्सुदुर्विदान्।
बृहस्पतिसमो बुद्ध्या भवान्शंसितुमर्हति ॥ ८ ॥
शंसिता पुरुषव्याघ्र त्वं नः कुलहिते रतः।
क्षत्ता चैको महाप्राज्ञो यो नः शंसति सर्वदा ॥ ९ ॥
त्वत्तः कुलहितं वाक्यं श्रुत्वा राज्यहितोदयम्।
अमृतस्याव्ययस्येव तृप्तः स्वप्स्याम्यहं सुखम् ॥ १०॥
कीदृशाः संनिकर्षस्था भृत्याः सर्वगुणान्विताः।
कीदृशैः किं कुलीनैर्वा सह यात्रा विधीयते ॥ ११ ॥
न ह्येको भृत्यरहितो राजा भवति रक्षिता।
राज्यं चेदं जनः सर्वस्तत्कुलीनोऽभिकांक्षति ॥ १२ ॥
भीष्म उवाच— न च प्रशास्तुं राज्यं हि शक्यमेकेन भारत।
असहायवता तात नैवार्थाः केचिदप्युत ॥ १३ ॥
लब्धुं लब्धा ह्यपि सदा रक्षितुं भरतर्षभ।

और प्रबल आसक्ति, तथा इन्द्रियोंको वशमें न करनेवाले असज्जनोंमें अभिलाष होती है; उसके सद्वंशमें उत्पन्न हुए सेवक लोग गुणरहित होजाते हैं और वह राजा सेवकोंके बलसे प्राप्त हुए धनके जरिये गौरवयुक्त नहीं होता। मैं इस ही सन्देहसे युक्त हो रहा हूं, आप बुद्धिमें बृहस्पतिके समान हैं, इससे इस दुःखसे जानने योग्य सब राज्य-धर्मको मेरे समीप कहनेमें आप ही योग्य हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! आप हमारे वंशके हित करनेमें रत हैं, आप ही सब विषयोंको कहते हैं, और महाबुद्धिमान विदुर भी हम लोगोंसे सत्कथा कहा करते हैं। आपके समीपसे वंश और राज्यके हितकर वचन सुनके मैं अमृत पानकी तरह तृप्त होकर सुखसे शयन किया करता हूं। सन्निकृष्ट सेवक कैसे गुणोंसे युक्त होवें और किस प्रकारके सेवकोंके जरिये संसारयात्रा विहित होगी। सेवकोंसे रहित राजा अकेले कभी राज्यकी रक्षा नहीं कर सकते, सद्वंशमें उत्पन्न हुए सब लोग इस राज्यकी इच्छा किया करते हैं। (६-१२)

भीष्म बोले, हे राजन्! अकेले राज्यको शासन करनेमें कोई भी समर्थ

यस्य भृत्यजनः सर्वो ज्ञानविज्ञानकोविदः ॥ १४ ॥
हितैषी कुलजः स्निग्धः स राज्यफलमश्नुते ॥ १५ ॥
मन्त्रिणो यस्य कुलजा असंहार्याः सहोषिताः ।
नृपतेर्मतिदाः सन्तः संबन्धज्ञानकोविदाः ॥ १६ ॥
अनागतविधातारः कालज्ञानविशारदाः ।
अतिक्रान्तमशोचन्तः स राज्यफलमश्नुते ॥ १७ ॥
समदुःखसुखा यस्य सहायाः प्रियकारिणः ।
अर्थचिन्तापराः सत्याः स राज्यफलमश्नुते ॥ १८ ॥
यस्य नार्तो जनपदः सन्निकर्षगतः सदा ।
अक्षुद्रः सत्पथालम्बी स राजा राज्यभाग्भवेत् ॥१९॥
कोशाख्यपटलं यस्य कोशवृद्धिकरैर्नरैः ।
आप्तैस्तुष्टैश्च सततं चीयते स नृपोत्तमः ॥ २० ॥
कोष्ठागारमसंहार्यैराप्तैः संचयतत्परैः ।
पात्रभूतैरलुब्धैश्च पाल्यमानं गुणी भवेत् ॥ २१ ॥
व्यवहारश्च नगरे यस्य कर्मफलोदयः ।

नहीं है। हे तात! सहायहीन राजा धन प्राप्त करने वा प्राप्त हुए धनकी सदा रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होते। जिसके सब सेवक ज्ञान विज्ञानके जाननेवाले, हितैषी, सत्कुलमें उत्पन्न हुए और कोमलता-युक्त हैं, वही राज्य फलभोग करता है। जिसके मन्त्री उत्तम कुलवाले और घूस आदिसे अभेद, सहवास निष्ठ राजाके क्षति दिखानेवाले, साधु सम्बन्ध युक्त ज्ञानके जाननेवाले, अनागत विधाता, काल-ज्ञानके जाननेवाले होते हैं; और जो बीते हुए विषयोंके वास्ते शोक नहीं करते, वेही राज्यफल भोग करते हैं। जिसकी प्रजा आर्त्त नहीं होती, सदा प्रसन्न, क्षुद्रता हीन और सत्मार्गको अवलम्बन करती है, वह राजा ही राज्य-भागी होता है। कोषको बढानेवाले आप्त और सन्तुष्ट पुरुषोंसे जिसके खजानेकी सदा बढती होती है, वही राजा उत्तम है। (१३-१९)

पहिले सञ्चय, उसके अनन्तर घूस आदिसे अभेद, लोभरहित और विश्वासी मन्त्रियोंसे जिसकी धान्य आदि सामग्रीके जरिये सब लोग प्रतिपालित होते हैं, वह राजा अनेक गुणोंसे युक्त होता है। जिसके नगरमें व्यवहार कार्य अर्थात् वादी प्रतिवादियोंके विवादोंका

दृश्यते शंखलिखितः स्वधर्मफलभाङ्नृपः ॥ २२ ॥
संगृहीतमनुष्यश्च यो राजा राजधर्मवित् ।
षड्वर्गं प्रतिगृह्णाति स धर्मफलमश्नुते ॥ २३ ॥ [४२२१]

इति श्रीमहाभारते०शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि पंचदशाधिकशततमोऽध्यायः॥११५॥

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
निदर्शनं परं लोके सज्जनाचरिते सदा ॥ १ ॥
अस्यैवार्थस्य सदृशं यच्छ्रुतं मे तपोवने ।
जामदग्न्यस्य रामस्य यदुक्तमृषिसत्तमैः ॥ २ ॥
वने महति कस्मिंश्चिदमनुष्यनिषेविते ।
ऋषिर्मूलफलाहारो नियतो नियतेन्द्रियः ॥ ३ ॥
दीक्षादमपरः शांतः स्वाध्यायपरमः शुचिः ।
उपवासविशुद्धात्मा सततं सत्वमास्थितः ॥ ४ ॥
तस्य संदृश्य सद्भावमुपविष्टस्य धीमतः ।
सर्वे सत्वाः समीपस्था भवन्ति वनचारिणः ॥ ५ ॥
सिंहव्याघ्रगणाः क्रूरा मत्ताश्चैव महागजाः ।

निर्णय हुआ करता हैं और उन लोगों-को अपराधके मुताबिक दण्ड दिया जाता है। मस्तकमें लिखे हुए निदर्शनके अनुसार वह राजा ही धर्म फलभागी होता है। राजधर्मको जाननेवाला जो राजा विचारके मनुष्योंको संग्रह करता है और सन्धि, विग्रह, यान, आसन द्वैध और समाश्रय इन षड्वर्गोंको स्वीकार करता है, वही धर्म फल भोग किया करता है। (२०-२३) [४२२१]

शान्तिपर्वमें ११५ अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वमें ११६ अध्याय ।

भीष्म बोले, इस विषयमें पुराने लोग इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं;यह सज्जनोंसे आचरित लोक समाजमें सदा परम प्रमाण स्वरूप है। तपोवनमें जामदग्न्य परशुरामके समीप ऋषियोंने जैसा कहा था,उसे इस वक्ष्यमाण विषयके सदृश मैंने सुना था। मनुष्य-सञ्चारसे रहित किसी जङ्गलके बीच फल मूल आहार करनेवाले नियममें निष्ठावान जितेन्द्रिय एक ऋषि वास करते थे। वह दीक्षा दमसे युक्त,शान्त, स्वाध्याय रत, पवित्र, उपवासके कारण शुद्धचित्त और सदा सतोगुण अवलम्बन करके रहते थे। उस बुद्धिमानके बैठे रहनेपर सब प्राणी उनका सद्भाव देखके उनके समीप जाते थे। (१—५)

द्वीपिनः खड्गभल्लूका ये चान्ये भीमदर्शनाः ॥ ६ ॥
ते सुखप्रश्नदाः सर्वे भवन्ति क्षतजाशनाः ।
तस्यर्षेः शिष्यवच्चैव न्यग्भूताः प्रियकारिणः ॥ ७ ॥
दत्त्वा च ते सुखप्रश्नं सर्वे यान्ति यथागतम् ।
ग्राम्यस्त्वेकः पशुस्तत्र नाजहात्स महामुनिम् ॥ ८ ॥
भक्तोऽनुरक्तः सततमुपवासकृशोऽबलः ।
फलमूलोदकाहारः शान्तः शिष्टाकृतिर्यथा ॥ ९ ॥
तस्यर्षेरुपविष्टस्य पादमूले महामते ।
मनुष्यवद्गतोभावं स्नेहबद्धोऽभवद्भृशम् ॥ १० ॥
ततोऽभ्ययान्महावीर्यो द्वीपी क्षतजभोजनः ।
स्वार्थमत्यन्तसंतुष्टः क्रूरकाल इवान्तकः ॥ ११ ॥
लेलिह्यमानस्तृषितः पुच्छास्फोटनतत्परः ।
व्यादितास्यः क्षुधाक्षुग्नः प्रार्थयानस्तदामिषम् ॥ १२ ॥
दृष्ट्वा तं क्रूरमायान्तं जीवितार्थी नराधिप ।
प्रोवाच श्वा मुनिं तत्र तच्छृणुष्व विशांपते ॥ १३ ॥

सिंह, बाघ मतवाले हाथी, द्वीप नाम बाघ, गैंडा, भालू और इसके अतिरिक्त जो सब भयानक रूपवाले जन्तु थे, वे रुधिर पीनेवाले सब जीव उनसे कुशल प्रश्न करते और सब कोई शिष्यकी तरह नम्र भावसे उस ऋषिके प्रियकार्योंके करनेमें प्रवृत्त होते थे। ऊपर कहे हुए जानवर ऋषिके साथ सुखप्रश्न करके यथा योग्य स्थानोंपर गमन करते थे, उनके बीच एक पलुआ कुत्ता उस महामुनिको छोडके नहीं जाता था। हे महा बुद्धिमान ! वह भक्त सदा अनुरक्त, उपवाससे कृशित, दुर्बल, फल मूल जलाहारी, शान्त, शिष्टाकृतिके समान कुत्ता उन बैठे हुए महर्षिके चरण पर मनुष्यकी तरह गिरा और अत्यन्त स्नेहबद्ध होने लगा। अनन्तर मांसभक्षी महाबली स्वार्थ लाभके वास्ते अत्यन्त तत्पर, क्रूर स्वभाववाला शार्दूल वहां पर उपस्थित हुआ। (६-११)

वह प्यासा बाघ जीभ निकालके और पूंछ खडी करके क्षुधासे पीडित होकर उस कुत्तेके मांसको भक्षण करनेकी इच्छा कर मुख बाके उसकी ओर आने लगा। हे राजन् ! जीनेकी इच्छासे उस कुत्तेने मुनिसे जैसा वचन कहा था, उसे सुनो। महाराज ! कुत्ता बोला, हे भगवन् ! यह कुत्तोंका शत्रु तेंदुआ मुझे

श्वशत्रुर्भगवन्नेष द्वीपी मां हन्तुमिच्छति ।
त्वत्प्रसादाद्भयं न स्यादस्मान्मम महामुने ॥ १४ ॥
तथा कुरु महाबाहो सर्वज्ञस्त्वं न संशयः ।
स मुनिस्तस्य विज्ञाय भावज्ञो भयकारणम् ॥
रुतज्ञः सर्वसत्वानां तमैश्वर्यसमन्वितः ॥ १५ ॥

मुनिरुवाच— न भयं द्वीपिनः कार्यं मृत्युतस्ते कथञ्चन ।
एष श्वरूपरहितो द्वीपी भवसि पुत्रक ॥ १६ ॥
ततः श्वा द्वीपितां नीतो जाम्बूनदनिभाकृतिः ।
चित्रांगो विस्फुरद्दंष्ट्रो वने वसति निर्भयः ॥ १७ ॥
तं दृष्ट्वा संमुखे द्वीपी आत्मनः सदृशं पशुम् ।
अविरुद्धस्ततस्तस्य क्षणेन समपद्यत ॥ १८ ॥
ततोऽभ्ययान्महारौद्रो व्यादितास्यः क्षुधान्वितः ।
द्वीपिनं लेलिहद्वक्त्रो व्याघ्रो रुधिरलालसः ॥ १९ ॥
व्याघ्रं दृष्ट्वा क्षुधाभुग्नं दंष्ट्रिणं वनगोचरम् ।
द्वीपी जीवितरक्षार्थमृषिं शरणमेयिवान् ॥ २० ॥
संवासजं परं स्नेहमृषिणा कुर्वता तदा ।
स द्वीपी व्याघ्रतां नीतो रिपूणां बलवत्तरः ॥ २१ ॥

भक्षण करनेकी इच्छा करता है। हे महामुनि ! आपकी कृपासे जिस प्रकार इससे मुझे भय न होवे, हे महाबाहो ! आप वैसा ही करिये; आप सर्वज्ञ हैं, इसमें सन्देह नहीं है। ऐश्वर्य युक्त सब जीवोंकी बोली और भावके जाननेवाले वह मुनि उसके भयका कारण मालूम करके कहने लगे। (१२-१५)

मुनि बोले, हे बच्चा ! तुम बाघसे मृत्युके वास्ते कुछ मत डरो; तुम निज रूपको त्यागके बाघ बनो। अनन्तर वह कुत्ता सुवर्णके समान आकृतिसे युक्त विचित्र अङ्गवाला शार्दूल हुआ उसके सब दांत बडे बडे होगये; तब वह निर्भय होकर बनके बीच स्थित हुआ। असल बाघ उसे अपने समान पशु देखके उसके साथ कुछ विरुद्ध आचरण न करके क्षणभरमें वहांसे चला गया। अनन्तर महाभयङ्कर विकराल शरीरसे युक्त, रुधिर लालसासे मुख बाये हुए भूखा शेर उस द्वीपीके समीप आने लगा। वह द्वीपी वनवासी दंष्ट्री भूखे शेरको देखके जीवन रक्षाकी इच्छासे ऋषिके शरणमें गया, ऋषि सहवासके कारण

ततो दृष्ट्वा स शार्दूलो नाहनत्तं विशांपते ।
स तु श्वा व्याघ्रतां प्राप्य बलवान्पिशिताशनः ॥२२॥
न मूलफलभोगेषु स्पृहामप्यकरोत्तदा ।
यथा मृगपतिर्नित्यं प्रकांक्षति वनौकसः ॥
तथैव स महाराज व्याघ्रः समभवत्तदा ॥ २३ ॥ [४२४४]

इति श्रीमहाभारते शा० रा० श्वर्षिसंवादे षोडशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११६ ॥

भीष्म उवाच— व्याघ्रश्चोटजमूलस्थस्तृप्तः सुप्तो हतैर्मृगैः ।
नागश्चागात्तमुद्देशं मत्तो मेघ इवोद्धतः ॥ १ ॥
प्रभिन्नकरटः प्रांशुः पद्मी विततकुम्भकः ।
सुविषाणो महाकायो मेघगम्भीरनिःस्वनः ॥ २ ॥
तं दृष्ट्वा कुञ्जरं मत्तमायान्तं बलगर्वितम् ।
व्याघ्रो हस्तिभयात्त्रस्तस्तमृषिं शरणं ययौ ॥ ३ ॥
ततोऽनयत्कुञ्जरत्वं व्याघ्रं तमृषिसत्तमः ।
महामेघनिभं दृष्ट्वा स भीतो ह्यभवद्गजः ॥ ४ ॥

उसपर प्रीति करते थे; इस ही कारण उस द्वीपीको उसके शत्रुओंसे भी बलवान शेर बना दिया। महाराज! अनन्तर शेरने उसे निज जाति देखके नहीं मारा। कुत्ता उस समय व्याघ्रत्वको प्राप्त होके बलवान हुआ और मांस भोजन करने लगा, तब उसे फल मूल भोजन करनेमें रुचि न रही। महाराज! मृगराज जैसे सदा वनवासी जीवोंको भक्षण करनेकी इच्छा करता है, वह शेर भी उस समय वैसा ही हुआ। (१६-२३)

शान्तिपर्वमें ११६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें ११७ अध्याय।

भीष्म बोले, वह शेर कुटीके समीप निवास करते हुए मृगोंको मारके उनके मांससे तृप्त होकर शयन कर रहा था, उसही समय उदय हुए बादलके समान एक मतवाला हाथी उस स्थान पर उपस्थित हुआ। उस हाथीका गण्डस्थल प्रभिन्न होके मद झर रहा था, दोनों कुम्भ बहुत बडे थे और उसके शरीरमें पद्मचिन्ह विद्यमान था। उस दोनों विशाल दांतोंसे युक्त, अत्यन्त ऊंचा बडा शरीर और बादलके समान गम्भीर शब्द करनेवाला बलगर्वित मतवाले हाथीको आते देखके वह बाघ हाथीके भयसे डरके उस ऋषिके शरणमें गया। अनन्तर ऋषि श्रेष्ठने उस बाघको हाथी बनाया। असल हाथी उस बाघको महामेघके समान हाथी होते

ततः कमलषण्डानि शल्लकीगहनानि च ।
व्यचरत्स मुदायुक्तः पद्मरेणुविभूषितः ॥ ५ ॥
कदाचिद्भ्रममाणस्य हस्तिनः संमुखं तदा ।
ऋषेस्तस्योटजस्थस्य कालो गच्छन्निशानिशम् ॥ ६ ॥
अथाजगाम तं देशं केसरी केसरारुणः ।
गिरिकन्दरजो भीमः सिंहो नागकुलान्तकः ॥ ७ ॥
तं दृष्ट्वा सिंहमायान्तं नागः सिंहभयार्दितः ।
ऋषिं शरणमापेदे वेपमानो भयातुरः ॥ ८ ॥
स ततः सिंहतां नीतो नागेन्द्रो मुनिना तदा ।
वन्यं नागणयत्सिंहं तुल्यजातिसमन्वयात् ॥ ९ ॥
दृष्ट्वा च सोऽभवत्सिंहो वन्यो भयसमन्वितः ।
स चाश्रमेऽवसत्सिंहस्तस्मिन्नेव महावने ॥ १० ॥
तद्भयात्पशवो नान्ये तपोवनसमीपतः ।
व्यदृश्यन्त तदा त्रस्ता जीविताकांक्षिणस्तथा ॥ ११ ॥
कदाचित्कालयोगेन सर्वप्राणिविहिंसकः ।
बलवान्क्षतजाहारो नानासत्वभयंकरः ॥ १२ ॥
अष्टपादूर्ध्वनयनः शरभो वनगोचरः ।

देखके भयभीत हुआ । अनन्तर वह बाघ शल्लकी तथा कमल वनमें पद्मरेणु विभूषित और मदयुक्त होकर घूमने लगा । ऋषिकी कुटीके समीप रहके हाथीको इधर उधर घूमते हुए बहुत समय बीत गया । (१-६)

अनन्तर पहाडकी कन्दरामें रहनेवाले लालवर्णवाली केशरसे युक्त हाथियोंके कुलको नाश करनेवाला एक सिंह उस स्थान पर आया । हाथी उस सिंहको आते देख उसके भयसे डरके ऋषिकी शरणमें गया । अनन्तर मुनिने उसे सिंह बनाया । तब उसने समान जातिके सम्बन्धके कारण वनके सिंहकी पर्वाह न की, उसे सिंह होते देखकर वनका सिंह भयभीत होकर चला गया । नकली सिंह उस महावनके बीच मुनिके आश्रमके समीप वास करनेलगा । उसके भयसे दूसरे पशु भयभीत होके जीवनकी इच्छासे तपोवनके निकट भी नहीं आते थे । किसी समय सब प्राणियोंका नाशक, रुधिर पीनेवाला अनेक प्राणियोंसे भयङ्कर आठ पांव, उर्द्ध नेत्रवाला वनवासी बलवान शरभ उस सिंहको संहार

तं सिंहं हन्तुमागच्छन्मुनेस्तस्य निवेशनम् ॥ १३ ॥
तं मुनिः शरभं चक्रे बलोत्कटमरिन्दम ।
ततः स शरभो वन्यो मुनेः शरभमग्रतः ॥ १४ ॥
दृष्ट्वा बलिनमत्युग्रं द्रुतं संप्राद्रवद्वनात् ।
स एवं शरभस्थाने संन्यस्तो मुनिना तदा ॥ १५ ॥
मुनेः पार्श्वगतो नित्यं शरभः सुखमाप्तवान् ।
ततः शरभसंत्रस्ताः सर्वे मृगगणास्तदा ॥ १६ ॥
दिशः संप्राद्रवन् राजन्भयाज्जीवितकांक्षिणः ।
शरभोऽप्यतिसंहृष्टो नित्यं प्राणिवधे रतः ॥ १७ ॥
फलमूलाशनं कर्तुं नैच्छत्स पिशिताशनः ।
ततो रुधिरतर्षेण बलिना शरभोन्वितः ॥ १८ ॥
इयेष तं मुनिं हन्तुमकृतज्ञः श्वयोनिजः ।
ततस्तेन तपः शक्त्या विदितो ज्ञानचक्षुषा ॥ १९ ॥
विज्ञाय स महाप्राज्ञो मुनिः श्वानं तमुक्तवान् ।
श्वा त्वं द्वीपित्वमापन्नो द्वीपी व्याघ्रत्वमागतः ॥ २० ॥
व्याघ्रान्नागो मदपटुर्नागः सिंहत्वमागतः ।

करनेके वास्ते मुनिके आश्रममें उपस्थित हुआ । हे शत्रुनाशन ! मुनिने उस समय सिंहको अत्यन्त बलवान शरभ बनाया । जङ्गली शरभ मुनिके प्रचण्ड बलसे युक्त शरभको अपने अगाडी देख, शीघ्रताके सहित वनसे भाग गया। वह कुत्ता उस समय मुनिके जरिये शरभत्व प्राप्त करके उनके निकट सुख-पूर्वक समय बिताने लगा। (७—१५)

हे राजन् ! अनन्तर सब पशु उस शरभके भयसे डरके और जीवन रक्षाके लिये यत्नवान होकर दशों दिशाकी ओर दौडने लगे । शरभ भी प्रतिदिन प्राणि-योंके वधमें रत हुआ, इससे मांसके स्वादसे मोहित होकर फल मूल भोजन करनेकी इच्छा नहीं करता था। कुछ दिनोंके अनन्तर अकृतज्ञ स्वयोनिज शरभ लोहू पीनेकी इच्छासे अत्यन्त मुग्ध होकर मुनिको मारनेकी अभिलाष की । तब वह महाबुद्धिमान मुनि तप बल और ज्ञाननेत्रसे उसकी दुष्ट अभि-लाषा जान गये और विदित होने पर उस कुत्तेसे कहने लगे। (१५-२०)

मुनि बोले, तू पहिले कुत्ता था, मेरे तपोबलसे तेंदुआ हुआ, तेंदुएसे धीरे धीरे बाघ बना; बाघसे मद चूनेवाला मतवाला

सिंहस्त्वं बलमापन्नो भूयः शरभतां गतः ॥ २१ ॥
मया स्नेहपरीतेन विसृष्टो नकुलान्वयः।
यस्मादेवमपापं मां पाप हिंसितुमिच्छसि ॥ २२ ॥
तस्मात्स्वयोनिमापन्नः श्वैव त्वं हि भविष्यसि।
ततो मुनिजनद्वेष्टा दुष्टात्मा प्राकृतोऽबुधः।
ऋषिणा शरभः शप्तस्तद्रूपं पुनराप्तवान्॥ २३ ॥ [४२६७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे सप्तदशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११७ ॥

भीष्म उवाच— स श्वा प्रकृतिमापन्नः परं दैन्यमुपागतः।
ऋषिणा हुंकृतः पापस्तपोवनबहिष्कृतः ॥ १ ॥
एवं राज्ञा मतिमता विदित्वा सत्यशौचताम्।
आर्जवं प्रकृतिं सत्त्वं श्रुतं वृत्तं कुलं दमम् ॥ २ ॥
अनुक्रोशं बलं वीर्यं प्रभावं प्रश्रयं क्षमाम्।
भृत्या ये यत्र योग्याः स्युस्तत्र स्थाप्याः सुरक्षिताः॥३॥
नापरीक्ष्य महीपालः सचिवं कर्तुमर्हति।
अकुलीननराकीर्णो न राजा सुखमेधते ॥ ४ ॥

हाथी हुआ। हाथीसे सिंह हुआ; अन्तमें सिंहसे फिर बल युक्त शरभत्व प्राप्त किया। मैंने तुझपर प्रीति करके क्रमसे तुझे अनेक तरहसे सृजन किया, परन्तु तेरा उन कुलोंके साथ सम्बन्ध नहीं हुआ; तू अपने कुलके सम्बन्धको त्याग न सका। रे पापी! तू जब मुझे पापरहित जानके भी मारनेकी इच्छा करता है, तब तू आत्मयोनिको प्राप्त होकर कुत्ता ही होवेगा। अनन्तर मुनि-द्वेषी दुष्टचित्त प्रकृत मूर्ख शरभ उस ऋषिके शापसे फिर पहिले रूपको प्राप्त हुआ था। (२०–२३) [४२६७]

शान्तिपर्वमें ११७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें ११८ अध्याय।

भीष्म बोले, वह कुत्ता प्रकृतिस्थ होकर परम दीनदशासे ग्रस्त हुआ और ऋषिने उस पापात्माको हुङ्कारके जरिये उस तपोवनसे बाहर किया। इसी तरह बुद्धिमान राजा सत्य, पवित्रता, सरलता, प्रकृति सत्त्व, श्रुतचरित्र, कुल, इन्द्रिय-निग्रह, दया, बलवीर्य प्रश्रय और क्षमा मालूम करके जो सेवक जिस कार्यके योग्य हो, उसे उस ही कार्यपर नियुक्त करे। विना परीक्षा किये मन्त्री नियुक्त करना राजाको उचित नहीं है। जो

कुलजः प्राकृतो राज्ञा स्वकुलीनतया सदा ।
न पापे कुरुते बुद्धिं भिद्यमानोऽप्यनागसि ॥ ५ ॥
अकुलीनस्तु पुरुषः प्राकृतः साधुसंश्रयात् ।
दुर्लभैश्वर्यतां प्राप्तो निन्दितः शत्रुतां व्रजेत् ॥ ६ ॥
कुलीनं शिक्षितं प्राज्ञं ज्ञानविज्ञानपारगम् ।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञं सहिष्णुं देशजं तथा ॥ ७ ॥
कृतज्ञं बलवन्तं च क्षान्तं दान्तं जितेन्द्रियम् ।
अलुब्धं लब्धसंतुष्टं स्वामिमित्रबुभूषकम् ॥ ८ ॥
सचिवं देशकालज्ञं सत्वसंग्रहणे रतम् ।
सततं युक्तमनसं हितैषिणमतन्द्रितम् ॥ ९ ॥
युक्ताचारं स्वविषये संधिविग्रहकोविदम् ।
राज्ञस्त्रिवर्गवेत्तारं पौरजानपदप्रियम् ॥ १० ॥
खातकव्यूहतत्त्वज्ञं बलहर्षणकोविदम् ।
इङ्गिताकारतत्त्वज्ञं यात्राज्ञानविशारदम् ॥ ११ ॥
हस्तिशिक्षासु तत्त्वज्ञमहंकारविवर्जितम् ।

राजा अकुलीन मनुष्योंसे घिरता है, वह कभी सुखी नहीं होसकता। सत्कुलोंमें उत्पन्न हुए मनुष्य राजासे निरपराधमें ही विद्यमान होनेपरभी कभी पाप कार्यमें प्रवृत्त नहीं होते; और कुलहीन साधारण पुरुष साधुसंसर्गसे दुर्लभ ऐश्वर्य लाभ करके यदि निन्दित होवे, तो उस ही समय शत्रु होजाता है। (१–६)

कुलीन, शिक्षित, बुद्धिमान्, ज्ञानविज्ञानके जाननेवाले सब शास्त्रोंके अर्थ और तत्वके जाननेवाले सहनशील स्वदेशीय, कृतज्ञ, बलवान, क्षमाशील, दानशील, जितेन्द्रिय, लोभरहित जो कुछ मिले उसहीमें सन्तुष्ट रहनेवाले, स्वामीके मित्रोंके ऐश्वर्य लिप्सु, मन्त्रणाकार्यके जाननेवाले, जिस देश या जिस समयमें जैसा कार्य करना होता है, उस विषयके जाननेवाले प्राणी मात्रके चित्तको प्रसन्न करनेमें अनुरक्त, सदाचारयुक्त, सदा युक्तचित्त, हितैषी आलसरहित, आचार युक्त, अपने विषयमें सन्धिविग्रहके जाननेवाले, राजाके धर्म-अर्थ और कामके जाननेवाले पुर और जनपदवासी लोगोंके प्यारे, जो पर सेनाको भेद कर सकते हैं; उन लोगोंके सब व्यूहोंके तत्त्वज्ञ, सब सेनाको हर्षित करनेमें निपुण, इङ्गिताकार तत्त्वज्ञ,

प्रगल्भं दक्षिणं दान्तं बलिनं युक्तकारिणम् ॥ १२ ॥
चौक्षं चौक्षजनाकीर्णं सुमुखं सुखदर्शनम् ।
नायकं नीतिकुशलं गुणचेष्टासमन्वितम् ॥ १३ ॥
अस्तब्धं प्रसृतं श्लक्ष्णं मृदुवादिनमेव च ।
धीरं शूरं महर्द्धिं च देशकालोपपादकम् ॥ १४ ॥
सचिवं यः प्रकुरुते न चैनमवमन्यते ।
तस्य विस्तीर्यते राज्यं ज्योत्स्ना ग्रहपतेरिव ॥ १५ ॥
एतैरेव गुणैर्युक्तो राजा शास्त्रविशारदः ।
एष्टव्यो धर्मपरमः प्रजापालनतत्परः ॥ १६ ॥
धीरोऽमर्षी शुचिस्तीक्ष्णः काले पुरुषकालवित् ।
शुश्रूषुः कृतवान् श्रोता ऊहापोहविशारदः ॥ १७ ॥
मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियाभाषी क्षमावांश्च विपर्यये ॥ १८ ॥
दानाच्छेदे स्वयंकारी श्रद्धालुः सुखदर्शनः ।
आर्तहस्तप्रदो नित्यममात्यो हि हिते रतः ॥ १९ ॥
नाहंवादी ननिर्द्वन्द्वो नयत्किञ्चनकारकः ।

यात्रा ज्ञान विशारद, हाथियोंकी शिक्षामें निपुण, प्रगल्भ, दानी, धर्मात्मा, बलवान यथाउचित कार्य करनेवाले, पवित्र और पवित्र लोगोंसे घिरे हुए प्रसन्नमुख, सुखदर्शन, नायक, नीतिकुशल, गुण और चेष्टासे युक्त, सावधान, सूक्ष्म अर्थोंके जाननेवाले, मधुर और कोमल भाषासे युक्त, धीर, शूर, महा ऐश्वर्यसे युक्त, और देशकालके अनुसार कार्य करनेवाले पुरुषको जो मन्त्री करता है, और उसकी अवज्ञा नहीं करता, चन्द्रमाकी चन्द्रिका समान उस राजाका राज्य बढता है ॥ (७—१५)

इन सब गुणोंसे युक्त शास्त्र जाननेवाले, प्रजापालनमें तत्पर, धर्ममें निष्ठावान राजाको सभी चाहते हैं। धीर, क्षमावान पवित्र, समयके अनुसार तीक्ष्ण पुरुषके प्रयत्नके जाननेवाले, सेना युक्त, श्रुतवान, श्रोता, तर्कवितर्कके जाननेवाले, मेधावी, धारणायुक्त यथारीतिसे कार्योंको करनेवाले, धर्मात्मा सदा प्रीय वचन कहनेवाले, अपकारमें क्षमावान्, दानमें विघ्न न करनेवाले, श्रद्धालु सुखदर्शक, आर्त्तोंके अवलम्ब, सदा सेवक लोग जिसके हितमें रत रहते, अहङ्कार रहित, सुख दुःख सहनेवाले, तुच्छ का-

कृते कर्मण्यमात्यानां कर्ता भक्तजनप्रियः ॥ २० ॥
संगृहीतजनोऽस्तब्धः प्रसन्नवदनः सदा ।
सदा भृत्यजनापेक्षी न क्रोधी सुमहामनाः ॥ २१ ॥
युक्तदण्डो न निर्दण्डो धर्मकार्यानुशासनः ।
चारनेत्रः प्रजावेक्षी धर्मार्थकुशलः सदा ॥ २२ ॥
राजा गुणशताकीर्ण एष्टव्यस्तादृशो भवेत् ।
योधाश्चैव मनुष्येन्द्र सर्वे गुणगणैर्वृताः ॥ २३ ॥
अन्वेष्टव्याः सुपुरुषाः सहाया राज्यधारणे ।
न विमानयितव्यास्ते राज्ञा वृद्धिमभीप्सता ॥ २४ ॥
योधाः समरशौटीराः कृतज्ञाः शस्त्रकोविदाः ।
धर्मशास्त्रसमायुक्ताः पदातिजनसंवृताः ॥ २५ ॥
अभया गजपृष्ठस्था रथचर्याविशारदाः ।
इष्वस्त्रकुशला यस्य तस्येयं नृपतेर्मही ॥ २६ ॥
सर्वसंग्रहणे युक्तो नृपो भवति यः सदा ।
उत्थानशीलो मित्राढ्यः स राजा राजसत्तमः ॥ २७ ॥
शक्या चाश्वसहस्रेण वीरारोहेण भारत ।

योंसे रहित, सेवकोंसे कोई कार्य सिद्ध होनेपर उनके उपकार करनेवाले, भक्तोंके प्यारे, लोगोंको संग्रह करनेवाले, सावधानतायुक्त, सदा सेवकोंकी उपेक्षा करनेवाले, क्रोधरहित, ऊंचे चित्तवाले, उचित दण्ड देनेवाले, निरपराधीको दण्ड न देनेवाले, धर्मकार्यके प्रचारक, दूतनेत्र, प्रजाकी रक्षामें तत्पर और सदा धर्म-अर्थमें कुशल; ऐसे गुणोंसे युक्त राजा सबकेही अभिलषित होते हैं। हे नरनाथ! राज्य धारणके सहायस्वरूप उत्तम पुरुष-गुणोंसे परिपूरित योद्धाओंको भी खोजना होता है, जो राजा सम्‌वृद्धिकी इच्छा करे, उसे योद्धाओंकी अवमानना करनी उचित नहीं है। (१३–२४)

जिस राजाके युद्धमें निपुण, कृतज्ञ, शास्त्र जाननेवाले, धर्मशास्त्रमें रत, पदातियोंसे घिरे हुए निर्भय गजसवार, रथी, घुडसवार अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा लोग वशमें रहते हैं, यह भूमण्डल उसके हाथके नीचे विलास करता है। जो राजा सब वस्तुओंके संग्रह करनेमें सदा आग्रह युक्त, उद्योगी और मित्रोंसे परिपूरित रहता है, वही राजसत्तम है। हे भारत! संगृहीत मनुष्य और सहस्र

संगृहीतमनुष्येण कृत्स्ना जेतुं वसुन्धरा ॥ २८ ॥ [४२९५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषिसंवादे अष्टादशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ ११८ ॥

भीष्म उवाच— एवं शुना समान्भृत्यान्स्वे स्वे स्थाने नराधिपः।
नियोजयति कृत्येषु स राज्यफलमश्नुते ॥ १ ॥
न श्वा स्वं स्थानमुत्क्रम्य प्रमाणमभिसत्कृतः।
आरोप्यः श्वा स्वकात्स्थानादुत्क्रम्यान्यत्प्रमाद्यति ॥२॥
स्वजातिगुणसम्पन्नाः स्वेषु कर्मसु संस्थिताः।
प्रकर्तव्या ह्यमात्यास्तु नास्थाने प्रक्रियाक्षमा ॥ ३ ॥
अनुरूपाणि कर्माणि भृत्येभ्यो यः प्रयच्छति।
स भृत्यगुणसंपन्नो राजा फलमुपाश्नुते ॥ ४ ॥
शरभः शरभस्थाने सिंहः सिंह इवोर्जितः।
व्याघ्रो व्याघ्र इव स्थाप्यो द्वीपी द्वीपी यथा तथा ॥५॥
कर्मस्विहानुरूपेषु न्यस्या भृत्या यथाविधि।
प्रतिलोमं न भृत्यास्ते स्थाप्याः कर्मफलैषिणा ॥ ६ ॥
यः प्रमाणमतिक्रम्य प्रतिलोमं नराधिपः।

घुडसवार वीरोंके जरिये इस समस्त पृथ्वीको जय किया जा सकता है। (२४-२८) [४२९५]

शान्तिपर्वमें ११८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें ११९ अध्याय।

भीष्म बोले, जो राजा इसी भांति कुत्तेके समान सेवकोंको निज निज स्थानों तथा कार्य विशेषमें नियुक्त करता है, वही राज्य फल भोग किया करता है। कुत्तेका सम्मान करके उसे निज स्थानसे ऊंचे स्थानपर नियुक्त करना उचित नहीं; कुत्ता निज स्थानसे उच्च पद पाके प्रमत्त होता है। स्वजाति गुणयुक्त सेवकोंको निज कार्योंमें लगाना उचित नहीं है। जो राजा सेवकोंको उचित कार्य सौंपता है, वह सेवक गुणसे युक्त राजा श्रेष्ठ फलोंका भोग किया करता है। शरभकी जगह शरभ, सिंहकी जगह बलवान सिंह, बाघकी जगह बाघ और तेंदुएके ही स्थानमें तेंदुआ नियुक्त करना उचित है। (१-५)

जो सेवक जिस कर्मके योग्य हो, उसे उस ही कार्य पर नियुक्त करना उचित है; कर्म फलकी इच्छा करनेवाले सेवकोंको विपरीत रीतिसे नियुक्त करना उचित नहीं है। जो बुद्धिहीन राजा

भृत्यान्स्थापयतेऽबुद्धिर्न स रञ्जयते प्रजाः ॥ ७ ॥
न बालिशा न च क्षुद्रा नाप्राज्ञा नाजितेन्द्रियाः ।
नाकुलीना नराः सर्वे स्थाप्या गुणगणैषिणा ॥ ८ ॥
साधवः कुलजाः शूरा ज्ञानवन्तोऽनसूयकाः ।
अक्षुद्राः शुचयो दक्षाः स्युर्नराः पारिपार्श्वकाः ॥ ९ ॥
न्यग्भूतास्तत्पराः शांताश्चौक्षाः प्रकृतिजैः शुभाः ।
स्वस्थानानपकुष्टा ये ते स्यू राज्ञां बहिश्चराः ॥ १० ॥
सिंहस्य सततं पार्श्वे सिंह एवानुगो भवेत् ।
असिंहः सिंहसहितः सिंहवल्लभते फलम् ॥ ११ ॥
यस्तु सिंहः श्वभिः कीर्णः सिंहकर्मफले रतः ।
न स सिंहफलं भोक्तुं शक्तः श्वभिरुपासितः ॥ १२ ॥
एवमेतन्मनुष्येन्द्र शूरैः प्राज्ञैर्बहुश्रुतैः ।
कुलीनैः सह शक्येत कृत्स्ना जेतुं वसुंधरा ॥ १३ ॥
नाविद्यो नानृजुः पार्श्वे नाप्राज्ञो नामहाधनः ।
संग्राह्यो वसुधापालैर्भृत्यो भृत्यवतां वर ॥ १४ ॥
बाणवद्विसृता यान्ति स्वामिकार्यपरा नराः ।

प्रमाणको अतिक्रम करके उलटी रीतिसे सेवकोंको स्थापित करता है, वह प्रजाको प्रसन्न नहीं कर सकता । मूर्ख, क्षुद्र, बुद्धिहीन, इन्द्रियोंके वशमें रहनेवाले और अकुलीन मनुष्योंको नियुक्त करना गुणवान राजाका कर्त्तव्य नहीं है। साधु सद्वंशमें उत्पन्न हुए, ज्ञानवान निन्दारहित, अक्षुद्र, पवित्र और दक्ष पुरुष पारिपार्श्विक हुआ करते हैं। जो नम्र, कार्योंमें तत्पर, शुद्ध, शान्त, स्वाभाविक गुणोंसे रमणीय और पद पर रहके निन्दित नहीं होते, वेही राजाके बहिश्चर प्राणस्वरूप हैं । सिंहके समीप सिंह ही सदा अनुगत होगा, जो सिंह नहीं है, वह सिंहके साथ मिलनेसे सिंहके समान फल लाभ करता है। (६-११)

जो सिंह होकर कुत्तोंसे घिरा रहता है, और सिंह कर्म फलमें रत होता है, वह कुत्तोंसे उपासित होकर सिंहके फलको भोग करनेमें समर्थ नहीं होता। हे नरनाथ ! शूर, बुद्धिमान, बहुश्रुत और कुलीनोंके जरिये सब पृथ्वीको जय किया जासकता है। हे भृत्यवत्सल ! प्रबल विद्याहीन, कोमलता रहित, बुद्धिहीन धन हीन सेवकोंको संग्रह

ये भृत्याः पार्थिवहितास्तेषां सान्त्वं प्रयोजयेत्॥ १५ ॥
कोशश्च सततं रक्ष्यो यत्नमास्थाय राजभिः।
कोशमूला हि राजानः कोशो वृद्धिकरो भवेत्॥ १६ ॥
कोष्ठागारं च ते नित्यं स्फीतैर्धान्यैः सुसंवृतम्।
सदाऽस्तु सत्सु संन्यस्तं धनधान्यपरो भव ॥ १७ ॥
नित्ययुक्ताश्च ते भृत्या भवन्तु रणकोविदाः।
वाजिनां च प्रयोगेषु वैशारद्यमिहेष्यते ॥ १८ ॥
ज्ञातिबन्धुजनावेक्षी मित्रसंबन्धिसंवृतः।
पौरकार्यहितान्वेषी भव कौरवनन्दन ॥ १९ ॥
एषा ते नैष्ठिकी बुद्धिः प्रजास्वभिहिता मया।
शुनो निदर्शनं तात किं भूयः श्रोतुमिच्छसि॥२०॥[४३१५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि श्वर्षिसंवादे एकोनविंशाधिकशततमोऽध्यायः॥ ११९॥

युधिष्ठिर उवाच– राजवृत्तान्यनेकानि त्वया प्रोक्तानि भारत।
पूर्वैः पूर्वनियुक्तानि राजधर्मार्थवेदिभिः ॥ १ ॥

करना राजाको उचित नहीं है। स्वामीका कार्यसिद्ध करनेमें तत्पर पुरुष बाणकी तरह कार्यके भीतर प्रवेश करते हैं जो सब सेवक राजाके हितकारी हों, उनके विषयमें प्रिय वचन प्रयोग करना उचित है। राजाओंको प्रयत्नके सहित सदा कोषकी रक्षा करनी उचित है, कोष ही राजाओंका मूल और बढती करनेवाला हुआ करता है। (११–१६)

तुम्हारा धान्यगृह बहुतसे अन्नकी राशिसे सदा परिपूरित और उत्तम सेवकोंसे सदा रक्षित रहे; तुम धन धान्यसे युक्त रहो। तुम्हारे सेवक सदा उद्योगी और युद्धके जाननेवाले होवें। घोडोंके हांकनेके विषयकी निपुणता इस समय तुम्हें अभिलषित होवे। हे कौरव नन्दन! तुम स्वजन और बान्धवोंके विषयोंको विचारते हुए मित्र तथा सम्बन्धियोंसे युक्त होके पुरकार्यके हितका अन्वेषण करो। हे तात! यही कुत्तेकी उपमासे युक्त प्रजाके विषयमें तुम्हें जैसी नैष्ठिक बुद्धि स्थापित करनी होगी, उसे मैंने वर्णन किया; फिर अब क्या सुननेकी इच्छा करते हो? (१७-२०)

शान्तिपर्वमें ११९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! आपने राजधर्मार्थके जाननेवाले पहिले राजा-

तदेव विस्तरेणोक्तं पूर्ववृष्टं सतां मतम् ।
प्रणेयं राजधर्माणां प्रब्रूहि भरतर्षभ ॥ २ ॥

भीष्म उवाच— रक्षणं सर्वभूतानामिति क्षात्रं परं मतम् ।
तद्यथा रक्षणं कुर्यात्तथा शृणु महीपते ॥ ३ ॥
यथा बर्हाणि चित्राणि बिभर्ति भुजगाशनः ।
तथा बहुविधं राजा रूपं कुर्वीत धर्मवित् ॥ ४ ॥
तैक्ष्ण्यं जिह्मत्वमादाल्भ्यं सत्यमार्जवमेव च ।
मध्यस्थःसत्वमातिष्ठंस्तथा वै सुखमृच्छति ॥ ५ ॥
यस्मिन्नर्थे हितं यत्स्यात्तद्वर्णं रूपमादिशेत् ।
बहुरूपस्य राज्ञो हि सूक्ष्मोऽप्यर्थो न सीदति ॥ ६ ॥
नित्यं रक्षितमन्त्रः स्याद्यथा मूकः शरच्छिखी ।
श्लक्ष्णा क्षरतनुः श्रीमान् भवेच्छास्त्रविशारदः ॥ ७ ॥
आपद्‌द्वारेषु युक्तः स्याज्जलप्रस्रवणेष्विव ।
शैलवर्षोदकानीव द्विजान्सिद्धान्समाश्रयेत् ।

ओंके आचरित बहुतसे राजकृतका वर्णन किया है, वह सब पूर्वदृष्ट साधुसम्मत राजधर्म जिसे आपने विस्तार पूर्वक कहा है, हे भरतश्रेष्ठ ! उसे संक्षिप्त करके जो धारण किया जा सके, उसे ही वर्णन करिये। (१-२)

भीष्म बोले, महाराज ! सब जीवोंकी रक्षा करनी ही क्षत्रियधर्म है, यही सबसे श्रेष्ठ है, जिस प्रकार उनकी रक्षा करनी होती है, उसे सुनो। सांपोंको खाने-वाला मोर जैसे विचित्ररूपको धारण करता है, वैसे ही धर्मज्ञ राजा अनेक तरहके रूप धारण करे। क्रूरता, कुटि-लता, अभयदान, सत्य और सरलता इन सबके मध्यवर्त्ती होकर जो सतो-गुणको अवलम्बन करता है, और वही राजा सुखी होता है, जिस विषयमें जो हितकर होता है, वही उस समयका रूप है अर्थात् दण्डके समय क्रूरता और अनुग्रहके समय शान्त्वना दिखावे, क्यों कि अनेक रूपधारी राजाके सूक्ष्म विषय भी नष्ट नहीं होते। जैसे शरद-कालमें मोर मूक हुआ करता है, वैसे ही राजा मौनावलम्बन करके सदा मन्त्रणा गोपन करे; श्रीमान मधुर वचन बोलनेवाला और शास्त्र विशारद होवे। (२-७)

जलके झरनेके समान मन्त्रभेद आदि आपदोंके द्वारपर सदा सावधान रहे; पर्वतके समीप वर्षाके जलसे उत्पन्न हुई

अर्थकामः शिखां राजा कुर्याद्धर्मध्वजोपमाम् ॥ ८ ॥
नित्यमुद्यतदण्डः स्यादाचरेदप्रमादतः ।
लोके चायव्ययौ दृष्ट्वा बृहद्वृक्षमिवास्रवत् ॥ ९ ॥
मृजावान्स्यात्स्वयूथ्येषु भौमानि चरणैः क्षिपेत् ।
जातपक्षः परिस्पन्देत्प्रेक्षेद्वैकल्यमात्मनः ॥ १० ॥
दोषान्विवृणुयाच्छत्रोः परपक्षान्विधूनयेत् ।
काननेष्विव पुष्पाणि बहिरर्थान्समाचरन् ॥ ११ ॥
उच्छ्रितान्नाशयेत्स्फीतान्नरेन्द्रानचलोपमान् ।
श्रयेच्छायामविज्ञातां गुप्तं रणमुपाश्रयेत् ॥ १२ ॥
प्रावृषीवासितग्रीवो मज्जेत निशि निर्जने ।
मायूरेण गुणेनैव स्त्रीभिश्चावेक्षितश्चरेत् ॥ १३ ॥
न जह्याच्च तनुत्राणं रक्षेदात्मानमात्मना ।

नदीके जल समान सिद्ध ब्राह्मणोंके निकट पूर्ण रीतिसे आसरा ग्रहण करे; अर्थ कामसे युक्त राजा धर्मध्वजीके समान शिखा धारण करे अर्थात् योग्यता चिन्ह क्रूरता आदि प्रदर्शित करे। राजा सदा दण्ड उद्यत करके प्रजापालनमें रत रहे; जैसे लोग ईखको काटके पेरकर रस ग्रहण करते हैं, वैसा न करके जैसे बडेवृक्ष ताड और खजूर आदिकी रक्षा करके उनके रसको ग्रहण किया जाता है, राजा वैसे ही प्रजा समूहके आय व्ययको देखकर उनकी रक्षा करके उनसे धन ग्रहण करे। (८-९)

राजा अपने पक्षके लोगोंके साथ शुद्ध व्यवहार करे और विरोधियोंके भूमिमें उत्पन्न हुए शस्य आदिकोंको घोडे आदिकोंको चलाके नष्ट करावे, सहायोंसे युक्त होकर युद्धके लिये यात्रा करे और अपनी विकलता देखके स्थिर रहे। वनमें फूल ग्रहण करनेकी तरह धन हरते हुए शत्रुओंके दोषोंको विस्तारित करे और मृगया आदिके छलसे दूसरेके राज्यमें जाके पराये पक्षको विवासित किया करे। दूसरेके किलेके स्वामीके साथ सन्धि करके देवता दर्शन आदि छलसे दूसरेके किलेमें अकस्मात् प्रवेश करके पर्वतके समान बडे और उन्नत विरुद्ध राजाओंका विनाश करे; और अविज्ञात छायाका आश्रा करके गुप्त रीतिसे रणकार्यको निवाहे। रात्रिमें मोरकी तरह प्रावृट्कालमें निर्जन स्थानमें निवास करे; मयूरके गुणका अवलम्बन करके अदृश्य होकर अन्तःपुरमें भ्रमण करे, कभी तलत्राण परित्याग न करे,

चारभूमिष्वभिगतान्पाशांश्च परिवर्जयेत् ॥ १४ ॥
प्रणयेद्वापि तां भूमिं प्रणश्येद्गहने पुनः।
हन्यात्क्रुद्धानतिविषांस्तान् जिह्मगतयोऽहितान् ॥१५॥
नाशयेद्बलबर्हाणि सन्निवासान्निवासयेत्।
सदा बर्हिनिभः कामं प्रशस्तं कृतमाचरेत्।
सर्वतश्चाददेत्प्रज्ञां पतङ्गं गहनेष्विव ॥ १६ ॥
एवं मयूरवद्राजा स्वराज्यं परिपालयेत्।
आत्मवृद्धिकरीं नीतिं विदधीत विचक्षणः ॥ १७ ॥
आत्मसंयमनं बुद्ध्या परबुद्ध्याऽवधारणम्।
बुद्ध्या चात्मगुणप्राप्तिरेतच्छास्त्रनिदर्शनम् ॥ १८ ॥
परं विश्वासयेत्साम्ना स्वशक्तिं चोपलक्षयेत्।
आत्मनः परिमर्शेन बुद्धिं बुद्ध्या विचारयेत् ॥ १९ ॥

आप ही अपनी रक्षा करे; दूतोंके मालूम हुए स्थानोंमें धात्री, कञ्चुकी और रसोइये आदि शत्रुओंसे भेदित होनेपर अपनी ओर आते हुए विषादि रूप पाशको रोके। (१०-१४)

विष आदिके मालूम होनेमें कठिनता होने पर उस कपट-स्थानमें स्वयं जाके उसे नष्ट करे; विष देनेवाले कुटिल क्रुद्ध पुरुषोंका वध करे। स्थूल पक्ष अर्थात् सब सेनाके पक्ष-स्थानीय शिविर सम्बन्धीय वार-वनिता अर्थात् नट-नर्त्तक आदिको नष्ट वा मोरकी तरह दूर कर देवे, दृढ मूल सेवक और शूरपुरुषोंको स्थापित करे। सदा मयूरकी तरह निज इच्छानुसार बडे कार्योंका आचरण किया करे। शरभसमूह जैसी घने वनमें प्रविष्ट होके वनको पत्तोंसे रहित करते हैं, वैसे ही राजा सेनाके सहित मिलकर शत्रुराज्यको आक्रमण करनेमें प्रवृत्त होवे, इसी भांति बुद्धिमान राजा वीरकी तरह निज राज्य पालन करे। बुद्धिसे आत्मसंयम अर्थात् इस प्रकार कार्य करना उचित है, ऐसा ही नियम करे; और दूसरेकी बुद्धिके अनुसार उस विषयका निश्चय करना योग्य है; शास्त्रमें कही हुई बुद्धि-शक्तिके जरिये आत्मगुण की प्राप्ति होती है यही शास्त्रोंका प्रयोजन है। (१५-१८)

शान्त वचनसे दूसरेको विश्वास उत्पन्न करे और अपनी शक्ति दिखाता रहे, सब तरहसे बीते और अनागत विषयोंके विचारके जरिये ऊहापोह कर कौशलरूपी वृद्धि शक्तिसे कर्त्तव्य विषयोंके निश्चयका विचार करे। बुद्धिमान

सान्त्वयोगमतिः प्राज्ञः कार्याकार्यप्रयोजकः ।
निगूढबुद्धेर्धीरस्य वक्तव्ये वा कृतं तथा ॥ २० ॥
स निकृष्टां कथां प्राज्ञो यदि बुद्ध्या बृहस्पतिः ।
स्वभावमेष्यते तप्तं कृष्णायसमिवोदके ॥ २१ ॥
अनुयुञ्जीत कृत्यानि सर्वाण्येव महीपतिः ।
आगमैरुपदिष्टानि स्वस्य चैव परस्य च ॥ २२ ॥
मृदुशीलं तथा प्राज्ञं शूरं चार्थविधानवित् ।
स्वकर्मणि नियुञ्जीत ये चान्ये च बलाधिकाः ॥ २३ ॥
अथ दृष्ट्वा नियुक्तानि स्वानुरूपेषु कर्मसु ।
सर्वांस्ताननुवर्तेत स्वरांस्तन्त्रीरिवायता ॥ २४ ॥
धर्माणामविरोधेन सर्वेषां प्रियमाचरेत् ।
ममायमिति राजा यः स पर्वत इवाचलः ॥ २५ ॥
व्यवसायं समाधाय सूर्यो रश्मीनिवायतान् ।
धर्ममेवाभिरक्षेत कृत्वा तुल्ये प्रियाप्रिये ॥ २६ ॥
कुलप्रकृतिदेशानां धर्मज्ञान्मृदुभाषिणः ।

पुरुष सान्त्व-योग अवलम्बन करके कार्याकार्यके प्रयोजक होवे और निगूढ बुद्धि धीर पुरुषके विषयमें उपदेशकी अपेक्षा न करें। जलमें डालनेसे जैसे गर्म लोहा उस ही समय शीतल होजाता है, वैसे ही बुद्धिमान पुरुष बुद्धिशक्तिके जरिये बृहस्पतिके समान होके भी यदि निकृष्ट बात कहें अर्थात् अपनी निर्बुद्धित्व-प्रमादसे युक्त होवें, तब वे सदा युक्ति अवलम्बन करके निज भावके स्वास्थ्यकी इच्छा करें। राजा अपने वा दूसरेके आगमनके जरिये सब उपदिष्ट कार्योंकी जिज्ञासा करे। (१९-२२)

अर्थ विधानके जाननेवाले राजा कोमल स्वभाव और बुद्धिमान तथा शूरपुरुष अथवा दूसरे जो बलशाली होवें, उन्हें निज कार्योंमें नियुक्त करे। अनन्तर आयतातन्त्री जैसे सब स्वरोंकी अनुवर्तिनी होती है, वैसे ही वह उन लोगोंकी निज निज योग्यतानुसार कार्योंमें नियुक्त देखकर सबका ही अनुवर्त्तन करे, धर्मके अनुसार विषयमें प्रिय आचरण करे। जिस राजाको प्रजासमूह 'ये हमारे हैं' ऐसा समझती है, वह पर्वतकी तरह अचल हुआ करता है। सूर्य जैसे बडी किरण मण्डलको प्रकाशित करता है, राजा वैसे ही कार्योंको सिद्ध करते हुए प्रिय और

मध्ये वयसि निर्दोषान् हिते युक्तानविक्लवान् ॥ २७ ॥
अलुब्धान् शिक्षितान्दान्तान्धर्मेषु परिनिष्ठितान् ।
स्थापयेत्सर्वकार्येषु राजा धर्मार्थरक्षिणः ॥ २८ ॥
एतेन च प्रकारेण कृत्यानामागतिं गतिम् ।
युक्तः समनुतिष्ठेत तुष्टश्चारैरुपस्कृतः ॥ २९ ॥
अमोघक्रोधहर्षस्य स्वयं कृत्यान्ववेक्षितुः ।
आत्मप्रत्ययकोशस्य वसुदैव वसुन्धरा ॥ ३० ॥
व्यक्तश्चानुग्रहो यस्य यथार्थश्चापि निग्रहः ।
गुप्तात्मा गुप्तराष्ट्रश्च स राजा राजधर्मवित् ॥ ३१ ॥
नित्यं राष्ट्रमवेक्षेत गोभिः सूर्य इवोदितः ।
चरान्स्वनुचरान्विद्यात्तथा बुद्ध्या स्वयं चरेत् ॥ ३२ ॥
कालं प्राप्तमुपादद्यान्नार्थं राजा प्रसूचयेत् ।
अहन्यहनि संदुह्यान्महीं गामिव बुद्धिमान् ॥ ३३ ॥

अप्रियको विषयमें समान समझे। सब प्रकारसे केवल धर्मकी रक्षा करे। जो लोग कुलके स्वभाव, देश विशेष करके धर्मज्ञ, मीठे वचन बोलनेवाले, मध्य अवस्था, निर्दोष, हित विषयमें रत, सावधान, लोभरहित, शिक्षित, जितेन्द्रिय, धर्ममें निष्ठावान, धर्मज्ञ और अर्थ रक्षा करनेमें समर्थ हैं, उन्हीं पुरुषोंको राजा सब कार्योंमें नियुक्त करे। २३-२८

राजा इसी प्रकार दूतोंके जरिये सब वृत्तान्त मालूम करे और सन्तुष्ट होकर इसी भांति आगम तथा जातिके विषयोंके जाननेमें नियुक्त होके भलीभांति सब कार्योंका अनुष्ठान करे। जिसके क्रोध और हर्ष निष्फल नहीं होते और जो स्वयं सब कार्योंको देखा करते हैं, तथा आत्मप्रत्ययही जिसका खजाना है, उस राजाके पक्षमें पृथ्वी ही वसुदात्री हुआ करती है। जिसकी कृपा स्पष्टरीतिसे मालूम होती है, और जो यथार्थ जानके निग्रह करते हैं, और जो राजा आत्मरक्षा करते हुए राज्यकी रक्षा किया करते हैं, वेही राजधर्मके जाननेवाले हैं। उदय होते हुए सूर्य जैसे किरण मण्डलके जरिये मालूम होता है, वैसे ही राजा सदा निज राज्यको देखता रहे, और राज्य तथा पर राज्य विषयके समाचारोंको मालूम करे और आप निज बुद्धिके प्रभावसे सब कार्योंका अनुष्ठान करे। (२९-३२)

राजा धन प्राप्त करनेके समय धन संग्रह करे और अर्थवत्ताके विषयको

यथाक्रमेण पुष्पेभ्यश्चिनोति मधुषट्पदः ।
तथा द्रव्यमुपादाय राजा कुर्वीत सञ्चयम् ॥ ३४ ॥
यद्धि गुप्तावशिष्टं स्यात्तद्वित्तं धर्मकामयोः ।
संचयान्नविसर्गी स्याद्राजा शास्त्रविदात्मवान् ॥ ३५ ॥
नार्थमल्पं परिभवेन्नावमन्येत शात्रवान् ।
बुद्ध्या तु बुद्ध्येदात्मानं न चाबुद्धिषु विश्वसेत् ॥ ३६ ॥
धृतिर्दाक्ष्यं संयमो बुद्धिरात्मा धैर्यं शौर्यं देशकालाप्रमादः ।
अल्पस्य वा बहुनो वा विवृद्धौ धनस्यैतान्यष्ट समिन्धनानि ॥ ३७ ॥
अग्निः स्तोको वर्धतेऽप्याज्यसिक्तो बीजं चैकं रोहसहस्रमेति ।
आयव्ययौ विपुलौ सन्निशाम्य तस्मादल्पं नावमन्येत वित्तम् ॥ ३८ ॥
बालोऽप्यबालः स्थविरो रिपुर्यः सदा प्रमत्तं पुरुषं निहन्यात् ।
कालेनान्यस्तस्य मूलं हरेत कालज्ञाता पार्थिवानां वरिष्ठः ॥ ३९ ॥
हरेत्कीर्तिं धर्ममस्योपरुन्ध्यादर्थे दीर्घं वीर्यमस्योपहन्यात् ।
रिपुर्द्वेष्टा दुर्बलो वा बली वा तस्माच्छत्रोर्नैव हीयेद्यतात्मा ॥ ४० ॥

किसीके समीप प्रकाशित न करे; बुद्धिमान राजा प्रति दिन गऊ दुहनेकी तरह पृथिवीसे अन्न दुहा करे। जैसे भौंरा यथा क्रम फूलोंसे मधु ग्रहण करता है; वैसे ही राजा धीरे धीरे द्रव्य ग्रहण करके सञ्चय करे। शास्त्र जाननेवाला बुद्धिमान राजा सञ्चय करनेसे जो धन बाकी रहे, उसे ही धर्मार्थ और कामार्थ में व्यय करे। सञ्चित अर्थको कभी व्यय न करे, धन थोडा होनेपर भी उसे अग्राह्य न करे और शत्रुओंकी भी अवज्ञा करनी उचित नहीं हैं। बुद्धिसे अपनेको समझावे और निर्बुद्धि पुरुषोंका विश्वास न करे। सन्तोष, दक्षता, सत्य, बुद्धि, देह, धीरज, वीरता, देश और समयमें अप्रमाद, थोडे वा बहुत धनके विशेष रूपसे वृद्धिके विषयमें ये आठ विषय उद्दीपक हुआ करते हैं। अग्नि थोडी होनेपर भी घृतसे युक्त होनेपर बढती है, एक बीजसे सहस्र अंकुरे उत्पन्न हुआ करते हैं, इससे बहुतसे आय व्ययके विषयको पूरी रीतिसे सुनकर थोडे धनकी कभी अवज्ञा न करे। (३३-३८)

शत्रुके बालक या बूढे होनेपर भी उसे बालक समझना उचित नहीं है, क्यों कि वह विपक्षियोंको अत्यन्त प्रमत्त देखनेसे ही नष्ट करता है। समय पर अन्य पुरुष उसके मूलको हरण न करें; इससे समयके जाननेवाले पुरुष ही

क्षयं वृद्धिं पालनं संचयं वा बुद्ध्वाऽप्युभौ संहतौ सर्वकामौ ।
ततश्चान्यन्मतिमान्सन्दधीत तस्माद्राजा बुद्धिमत्तां श्रयेत॥ ४१ ॥
बुद्धिर्दीप्ता बलवन्तं हिनस्ति बलं बुद्ध्या पाल्यते वर्धमानम् ।
शत्रुर्बुद्ध्या सीदते वर्धमानो बुद्धेः पश्चात्कर्म यत्तत्प्रशस्तम् ॥४२॥
सर्वान्कामान्कामयानो हि धीरः सत्वेनाल्पेनाप्नुते हीनदोषः ।
यश्चात्मानं प्रार्थयतेऽर्थ्यमानैः श्रेयः पात्रं पूरयते च नाल्पम्॥४३॥
तस्माद्राजा प्रगृहीतः प्रजासु मूलं लक्ष्म्याः सर्वशो ह्याददीत ।
दीर्घं कालं ह्यपि संपीड्यमानो विद्युत्संपातमपि वा नोर्जितः स्यात् ॥४४॥
विद्यातपो वा विपुलं धनं वा सर्वं ह्येतद्व्यवसायेन शक्यम् ।
बुद्ध्या यत्तं तन्निवसेद्देहवत्सु तस्माद्विद्याद्व्यवसायं प्रभूतम् ॥४५॥
यत्रासते मतिमन्तो मनस्विनः शक्रो विष्णुर्यत्र सरस्वती च ।

राजाओंके बीच वरिष्ट हैं। शत्रुकी कीर्त्ति हरण करे और उसके धर्ममें बाधा देवे और धन विषयक उसके कार्योंमें अत्यन्त ही विघ्न किया करे। वैर करनेवाला शत्रु निर्बल हो, वा बलवान ही होवे, ऊंचे चित्तवाले मनुष्य शत्रुसे किसी प्रकार हीन न होवें। क्षय वृद्धि, पालन और सञ्चयका विचार करके बुद्धिमान राजा ऐश्वर्य काम और विजयकी इच्छावाले राजाके एकत्र मिलते देखके उसके साथ सन्धि करे; इससे बुद्धिमान पुरुषका आश्रय करना राजाको अवश्य उचित है। (३९-४१)

तीक्ष्ण बुद्धिवाला पुरुष बलवान पुरुषको नष्ट कर सकता है, बढा हुआ बल बुद्धिके जरियेसे ही प्रतिपालित हुआ करता है। बढे हुए वैरीको बुद्धिबलसे नष्ट किया जाता है, इससे बुद्धिके अनुसार जो कार्य किया जाता है, वह श्रेष्ठ है; दोष रहित धीर पुरुष सब काम्य विषयोंकी अभिलाष करके थोडे बलसे ही उसे प्राप्त करते हैं; और जो अपनेको याचमान मनुष्योंसे युक्त होनेकी इच्छा करते हैं, वे अल्पमात्र कल्याण पात्रको पूर्ण नहीं कर सकते, इससे राजा प्रजाके विषयमें प्रीतियुक्त होकर सबके निकटसे लक्ष्मीके मूल धनको ग्रहण करे। प्रजाको बहुत समय तक पीडित करके बिजली गिरनेकी तरह उसके ऊपर पतित न होवे। उद्योगसे ही विद्या, तपस्या और बहुतसा धन होसकता है, वह उद्योग बुद्धिके वशमें होकर देहधारी पुरुषोंमें निवास करता है, इससे सदा उद्योग करनेमें यत्नवान होना उचित है। (४२-४५)

वसन्ति भूतानि च यत्र नित्यं तस्माद्विद्वान्नावमन्येत देहम्॥४६॥
लुब्धं हन्यात्संप्रदानेन नित्यं लुब्धस्तृप्तिं परवित्तस्य नैति ।
सर्वो लुब्धः कर्मगुणोपभोगे योऽर्थैर्हीनो धर्मकामौ जहाति॥ ४७ ॥
धनं भोगं पुत्रदारं समृद्धिं सर्वं लुब्धः प्रार्थयते परेषाम् ।
लुब्धे दोषाः संभवन्तीह सर्वे तस्माद्राजा न प्रगृह्णीत लुब्धम्॥४८॥
संदर्शनेन पुरुषं जघन्यमपि चोदयेत् ।
आरम्भान्द्विषतां प्राज्ञः सर्वार्थांश्च प्रसूदयेत् ॥ ४९ ॥
धर्मान्वितेषु विज्ञाता मन्त्रीगुप्तश्च पाण्डव ।
आप्तो राजा कुलीनश्च पर्याप्तो राजसंग्रहे　　॥ ५० ॥
विधिप्रयुक्तान्नरदेव धर्मानुक्तान्समासेन निबोध बुद्ध्या ।
इमान्विदध्याद्व्यतिसृत्य यो वै राजा महीं पालयितुं स शक्तः॥५१॥
अनीतिजं यस्य विधानजं सुखं हठप्रणीतं विधिवत्प्रदृश्यते ।
न विद्यते तस्य गतिर्महीपतेर्न विद्यते राज्यसुखं ह्यनुत्तमम् ॥५२॥

जिसमें बुद्धिमान मनस्वी लोग, सुरराज विष्णु और सरस्वती सदा वास करती हैं, और सब प्राणी सदा जिसमें स्थित रहते हैं। विद्वान् पुरुष उस शरीरकी कभी अवज्ञा न करे। लोभी पुरुषको सदा दानसे वशमें करे, लोभी पराया धन पाके कभी तृप्त नहीं होता। सुख भोगनेमें सभी लोभी हुआ करते हैं; जो पुरुष धनहीन होता है, वह धर्म और कामको त्याग करता है। लोभी मनुष्य दूसरेके धन, भोग, पुत्र, स्त्री और समृद्धि सबकी ही इच्छा करता है। इस संसारमें लोभी पुरुषके विषयमें सब दोष ही सम्भव होसकते हैं; इससे राजा कभी लोभी पुरुषके विषयमें स्नेह प्रकाशित न करे; नीच पुरुषको देखते ही दूर करे; बुद्धिमान पुरुष शत्रुओंके सब कार्यों तथा समस्त विषयोंको नष्ट करें। हे पाण्डुपुत्र! ब्राह्मण मण्डलीमें विज्ञान युक्त मन्त्रीकी रक्षा करनी होगी, जो राजा विश्वासी और कुलीन है, वह सबको वश करनेमें समर्थ होता है। (४६—५०)

हे नरनाथ! यही सब मैंने विधिपूर्वक राजधर्मको संक्षेपरीतिसे वर्णन किया तुम इसे बुद्धिशक्तिके जरिये धारण करो। जो पुरुष गुरुका अनुसरण करते हुए यह सब धर्म हृदयमें धारण करते हैं, वेही पृथ्वीको पालन करनेमें समर्थ होते हैं। जिसे राजाके अनीतिके कारण हठ प्रणीत दैवसे प्राप्त हुआ सुख विधिपूर्वक दीखता है, उसकी गति तथा

धनैर्विशिष्टान्मतिशीलपूजितान्गुणोपपन्नान्युधि दृष्टविक्रमान्।
गुणेषु दृष्ट्वा न चिरादिवात्मवान्यतोऽभिसंधाय निहन्ति शात्रवान्॥५३॥
पश्येदुपायान्विविधैः क्रियापथैर्न चानुपायेन मतिं निवेशयेत्।
श्रियं विशिष्टां विपुलं यशो धनं न दोषदर्शी पुरुषः समश्नुते॥५४॥
प्रीतिप्रवृत्तौ विनिवर्तितौ यथा सुहृत्सु विज्ञाय निवृत्य चोभयोः।
यदेव मित्रं गुरुभारमावहेत्तदेव सुस्निग्धमुदाहरेद् बुधः ॥ ५५ ॥
एतान्मयोक्तांश्चर राजधर्मान्नृणां च गुप्तौ मतिमादधत्स्व।
अवाप्स्यसे पुण्यफलं सुखेन सर्वो हि लोको नृप धर्ममूलः॥५६॥[४३७१]

इति श्रीमहा०शान्ति० राजधर्मानुशासन० राजधर्मकथने विंशाधिकशततमोऽध्यायः॥१२०॥

युधिष्ठिर उवाच— अयं पितामहेनोक्तो राजधर्मः सनातनः।
ईश्वरश्च महादण्डो दण्डे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥
देवतानामृषीणां च पितॄणां च महात्मनाम्।
यक्षरक्षःपिशाचानां साध्यानां च विशेषतः ॥ २ ॥
सर्वेषां प्राणिनां लोके तिर्यग्योनिनिवासिनाम्।
सर्वव्यापी महातेजा दण्डः श्रेयानिति प्रभो ॥ ३ ॥

उसे श्रेष्ठ राज्य सुख प्राप्त नहीं होता। सन्धि-विग्रह आदि विषयोंमें सावधान राजा धन युक्त बुद्धि तथा शील सम्पन्न युद्धमें दृष्ट-पराक्रमी शत्रुओंको देखकर शीघ्रताके सहित उनका वध करे। अनेक क्रियासे मार्गके सहारे उपायको देखे, अनुपायमें बुद्धि न लगावे; निर्दोष पुरुषोंमें भी जो पुरुष दोष देखता है, वह योग्य श्री बहुतसे धन-यशको भोग नहीं कर सकता, सुहृदोंको जानके प्रीतिकी प्रवृत्ति होने पर जब दो मित्र एक कार्यमें लगते हैं, उन दोनोंके बीच जो पुरुष बडे भारको उठाता है, विद्वान् पुरुष उसही श्रेष्ठ मित्रकी प्रशंसा करते हैं। हे राजन्! मेरे कहे हुए इन सब राजधर्मोंका आचरण करो, मनुष्योंका पालन करनेमें बुद्धि लगाओ; इससे अनायास ही पुण्यफल पाओगे, क्यों कि धर्म ही सब लोकोंकी जड है। (५१-५६) [४३७१]

शान्तिपर्वमें १२० अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२१ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, पितामहके जरिये यह सनातन राजधर्म वर्णित हुआ; अत्यन्त बृहत् दण्ड ही सबका नियन्ता है, क्यों कि दण्डसे ही सब विषय प्रतिष्ठित हो रहे हैं। देव, ऋषि, महानुभाव पितर, यक्ष, राक्षस और पिशाच लोग विशेष करके साध्य तथा

इत्येवमुक्तं भवता दण्डे वै सचराचरम् ।
पश्यता लोकमासक्तं ससुरासुरमानुषम् ॥ ४ ॥
एतादिच्छाम्यहं ज्ञातुं तत्त्वेन भरतर्षभ ।
को दण्डः कीदृशो दण्डः किंरूपः किंपरायणः ॥ ५ ॥
किमात्मकः कथंभूतः कथंमूर्तिः कथं प्रभो ।
जागर्ति च कथं दण्डः प्रजास्ववहितात्मकः ॥ ६ ॥
कश्च पूर्वापरमिदं जागर्ति प्रतिपालयन् ।
कश्च विज्ञायते पूर्वं को वरो दण्डसंज्ञितः ।
किं संस्थश्च भवेद्दण्डः का वाऽस्य गतिरुच्यते ॥ ७ ॥

भीष्म उवाच- शृणु कौरव्य यो दण्डो व्यवहारो यथा च सः ।
यस्मिन् हि सर्वमायत्तं स दण्ड इह केवलः ॥ ८ ॥
धर्मस्याख्या महाराज व्यवहार इतीष्यते ।
तस्य लोपः कथं न स्याल्लोकेष्ववहितात्मनः ॥ ९ ॥
इत्येवं व्यवहारस्य व्यवहारत्वमिष्यते ।

तिर्यग् योनि आदि सब प्राणियोंके विषयमें सर्वव्यापी महातेजस्वी दण्ड श्रेष्ठ है, यह आपने कहा है। देवता असुर और मनुष्योंके सहित चराचर सब लोक ही दण्डमें आसक्त होरहे हैं। हे भरत श्रेष्ठ! इससे मैं इसे यथार्थ रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूं, दण्ड किसे कहते हैं और वह कैसा है? उसका कैसा आकार है तथा उसका परम आश्रय क्या है? दण्डका कैसा स्वरूप है? रीति कैसी है? किस तरहकी मूर्त्ति है? कैसा तेज है और दण्ड प्रजाके विषयमें सावधान होके किस प्रकार जाग्रत रहता है? पहिले क्या जाना जाता है, और दण्ड नाम श्रेष्ठ वस्तु ही किस तरहकी है, दण्डका आकार किस तरहका है; और उसकी गति किसे कहते हैं? (१-७)

भीष्म बोले, हे कुरुवंशावतंस! दण्ड और उसका व्यवहार जिस तरहका है, उसे सुनो। इस लोकमें जिसमें सब अधिकार रहे, उसे ही केवल दण्ड कहा जाता है। महाराज! पूरी रीतिसे धर्मका प्रकाश "व्यवहार" नामसे कहा जाता है। लोकके बीच सावधान स्वरूप राजाके विषयमें उस धर्मका लोप नहीं होता। इसी भांतिके व्यवहारका व्यवहारत्व इष्ट हुआ करता है, अवहार अर्थात् नीच मार्गोंके जरिये दूसरेका धन नहीं हरण किया जाता, उसे ही व्यवहार कहते हैं।

अपि चैतत्पुरा राजन्मनुना प्रोक्तमादितः ॥ १० ॥
सुप्रणीतेन दण्डेन प्रियाप्रियसमात्मना ।
प्रजा रक्षति यः सम्यग्धर्म एव स केवलः ॥ ११ ॥
यथोक्तमेतद्वचनं प्रागेव मनुना पुरा ।
यन्मयोक्तं मनुष्येन्द्र ब्रह्मणो वचनं महत् ॥ १२ ॥
प्रागिदं वचनं प्रोक्तमतः प्राग्वचनं विदुः ।
व्यवहारस्य चाख्यानाद्व्यवहार इहोच्यते ॥ १३ ॥
दण्डे त्रिवर्गः सततं सुप्रणीते प्रवर्तते ।
दैवं हि परमो दण्डो रूपतोऽग्निरिवोत्थितः ॥ १४ ॥

हे राजन्! इसके अतिरिक्त पहिले समयमें मनुने यही वचन कहा, कि प्रिय और अप्रिय समान रूपसे उत्तम प्रणीत दण्डके जरिये जो पूर्ण रीतिसे प्रजापालन करते हैं, वही केवल धर्म है। हे नरेन्द्र! मैंने जो ब्रह्माके कहे हुए महत् वचनको कहा है, पहिले समयमें प्रथम मनुने इस वचनको कहा था; पहिलेसे ही यह वचन कहा गया था, इस ही कारण पण्डित लोग इसे प्राग् वचन कहा करते हैं। जिस धर्मसे परस्वापहरण दोष निवारित होता है, वही धर्म कभी हेतु व्यवहार नामसे कहा जाता है। (८—१३)

सुप्रणीत दण्डमें धर्म, अर्थ, काम ये तीनों सदा विद्यमान रहते हैं; दैव दण्ड सबसे श्रेष्ठ है; उसका रूप जलती हुई अग्निके समान है। दण्डका आन्तरिक रूप दुष्टोंको सन्तापित करनेवाला है, इसीसे क्रूरताके कारण अग्निकी समानता धारण करता है। दण्डका बाह्य रूप नीलोत्पल दलके समान श्याम वर्ण है, अर्थात् राजदण्डमें द्वेष और धन लोभ आदि रहनेसे उसमें मलिनता है; उस ही से यह श्यामवर्ण है। कोई मानभङ्गके कारण दण्डित होते हैं, कोई धन हरणके कारण दण्डित हुआ करते हैं; कोई अङ्ग विकलताके सबब दण्ड पाते हैं, कोई प्राणनाशके निमित्त दण्ड भागी होते हैं; इस ही कारण चारों निबन्धनसे प्राणियोंका वध हुआ करता है; इससे दण्डको चतुर्दंष्ट्र कहा जाता है। प्रजा समूहसे धन वसूल, राज्यसे कर लेना वादी प्रतिवादीसे दूना धन ग्रहण करना और कायर ब्राह्मणोंसे सर्वस्व वसूल करना,—दण्डसे ये चार प्रकारके अर्थ संग्रह होते हैं, इसी कारण दण्डको चतुर्भुज रूपी कहा जाता है। वादी प्रतिवादीके निवेदन और उत्तर दान आदिक आठ प्रकारके कारणोंसे दण्ड

नीलोत्पलदलश्यामश्चतुर्दंष्ट्रश्चतुर्भुजः ।
अष्टपान्नैकनयनः शंकुकर्णोर्ध्वरोमवान् ॥ १५ ॥
जटी द्विजिह्वस्ताम्रास्यो मृगराजतनुच्छदः ।
एतद्रूपं बिभर्त्युग्रं दण्डो नित्यं दुराधरः ॥ १६ ॥
असिर्धनुर्गदा शक्तिस्त्रिशूलं मुद्गरः शरः ।
मुशलं परशुश्चक्रं पाशो दण्डर्ष्टितोमराः ॥ १७ ॥
सर्वप्रहरणीयानि सन्ति यानीह कानिचित् ।
दण्ड एव स सर्वात्मा लोके चरति मूर्तिमान् ॥ १८ ॥
भिन्दंश्छिन्दन् रुजन्कृन्तन्दारयन्पाटयंस्तथा ।
घातयन्नभिधावंश्च दण्ड एव चरत्युत ॥ १९ ॥
असिर्विशसनो धर्मस्तीक्ष्णवर्मा दुराधरः ।
श्रीगर्भो विजयः शास्ता व्यवहारः सनातनः ॥ २० ॥
शास्त्रं ब्राह्मणमन्त्राश्च शास्ता प्राग्वदतां वरः ।
धर्मपालोऽक्षरो देवः सत्यगो नित्यगोऽग्रजः ॥ २१ ॥

भ्रमण करता है, इसीसे अष्टपाद कहाता है। राजा, सेवक, पुरोहित आदि बहुतोंके देखते रहनेसे अनेक नेत्रवाला है। अवश्य सुनने योग्य है, इस ही निमित्त शंकु कर्ण अर्थात् तीक्ष्ण श्रवणवाला है; अत्यन्त उत्फुल्लित है, इसहीसे खडे हुए रोएंवाला है; अनेक सन्देहोंसे जटिल है, इसीसे जटी कहाता है। वादी प्रतिवादीके वाक्यके भिन्न मतके सबब दो जीभवाला है। आहवनीय अग्निही दण्डका नेत्र है, इस ही कारण ताम्रास्य कहाता है। काले हरिणके चमडेके जरिये दण्डकी देह ढकी रहती है, इस ही कारण मृगराज तनुच्छद नाम हुआ है। दुर्द्धर्ष दण्ड सदा यह प्रचण्डरूप धारण किया करता है। (१४-१६)

तलवार, धनुष, गदा, शक्ति, त्रिशूल, मुद्गर, बाण, मूषल, फरसा, चक्र, पाश, दण्ड, ऋष्टि और तोमर आदिक इस लोकमें जो कुछ प्रहार करनेकी वस्तु हैं, दण्ड ही उन सर्वात्मा स्वरूपसे मूर्त्तिमान रूपी होकर घूमता है। छंद, भेद, रुग्न करना, कृन्तन, विदारण, विपाटन, घातन और सन्मुख दौडते हुए दण्ड ही भ्रमण किया करता है। असि, विशसन, धर्म, तीक्ष्णवर्मा, दुराधर, श्रीगर्भ, विजय, शास्ता, व्यवहार, सनातन, शास्त्र, ब्राह्मण, मन्त्र, शास्ता, प्राग्वदद्वर, धर्मपाल,

असङ्गो रुद्रतनयो मनुर्ज्येष्ठः शिवङ्करः ।
नामान्येतानि दण्डस्य कीर्तितानि युधिष्ठिर ॥ २२ ॥
दण्डो हि भगवान्विष्णुर्दण्डो नारायणः प्रभुः ।
शश्वद्रूपं महद्बिभ्रन्महान्पुरुष उच्यते ॥ २३ ॥
तथोक्ता ब्रह्मकन्येति लक्ष्मीर्वृत्तिः सरस्वती ।
दण्डनीतिर्जगद्धात्री दण्डो हि बहुविग्रहः ॥ २४ ॥
अर्थानर्थौ सुखं दुःखं धर्माधर्मौ बलाबले ।
दौर्भाग्यं भागधेयं च पुण्यापुण्ये गुणागुणौ ॥ २५ ॥
कामाकामावृतुर्मासः शर्वरी दिवसः क्षणः ।
अप्रमादः प्रमादश्च हर्षक्रोधौ शमो दमः ॥ २६ ॥
दैवं पुरुषकारश्च मोक्षामोक्षौ भयाभये ।
हिंसाहिंसे तपो यज्ञः संयमोऽथ विषाविषम् ॥ २७ ॥
अन्तश्चादिश्च मध्यं च कृत्यानां च प्रपञ्चनम् ।
मदः प्रमादो दर्पश्च दम्भो धैर्यं नयानयौ ॥ २८ ॥
अशक्तिः शक्तिरित्येवं मानस्तम्भौ व्ययाव्ययौ ।
विनयश्च विसर्गश्च कालाकालौ च भारत ॥ २९ ॥
अनृतं ज्ञानिता सत्यं श्रद्धाश्रद्धे तथैव च ।

अक्षर, देव, सत्यग, नित्यग, अग्रज, असङ्ग, रुद्रतनय, मनु, ज्येष्ठ और शिवंकर हैं। हे युधिष्ठिर! दण्डके ये सब नाम वर्णित हुए। दण्डही भगवान विष्णु और दण्डही प्रभु नारायण है, सदा महत्, रूप धारण किया करता है, इस ही निमित्त महत् पुरुष शब्दसे पुकारा जाता है। ब्रह्मकन्या लक्ष्मी, वृत्ति, सरस्वती, जगद्धात्री दण्डनीति अर्थात् दण्डके सहित नीति ये सभी दण्ड स्वरूप हैं; इससे दण्डका विग्रह अनेक प्रकारका है। (१७-२४)

हे भारत! अर्थ, अनर्थ, सुख, दुःख, धर्माधर्म, बलाबल, दौर्भाग्य, भागधेय पुण्यापुण्य, गुणागुण, काम अकाम, ऋतु, मास, दिन, रात्रि, क्षण, अप्रमाद, प्रमाद, हर्ष, क्रोध, शम, दम दैव, पुरुषार्थ, मोक्ष, भय, अभय, हिंसा, अहिंसा, तपस्या, यज्ञ, संयम, विष, अविष, अन्त, आदि, मध्य, कृत्य, सबका प्रपञ्चन, मद, प्रमाद, दर्प, दम्भ धीरज, नीति, अनीति, शक्ति, अशक्ति, मान, स्तम्भ, व्यय, अव्यय, विनय, विसर्ग, काल, अकाल, भिक्षा, ज्ञान,

क्लीवता व्यवसायश्च लाभालाभौ जयाजयौ ॥ ३० ॥
तीक्ष्णता मृदुता मृत्युरागमानागमौ तथा ।
विरोधश्चाविरोधश्च कार्याकार्ये बलाबले ॥ ३१ ॥
असूया चानसूया च धर्माधर्मौ तथैव च ।
अपत्रपानपत्रपे ह्रीश्च संपद्विपत्पदम् ॥ ३२ ॥
तेजः कर्माणि पाण्डित्यं वाक्शक्तिस्तत्त्वबुद्धिता ।
एवं दण्डस्य कौरव्य लोकेऽस्मिन्बहुरूपता ॥ ३३ ॥
न स्याद्यदीह दण्डो वै प्रमथेयुः परस्परम् ।
भयाद्दण्डस्य नान्योन्यं घ्नन्ति चैव युधिष्ठिर ॥ ३४ ॥
दण्डेन रक्ष्यमाणा हि राजन्नहरहः प्रजाः ।
राजानं वर्धयन्तीह तस्माद्दण्डः परायणम् ॥ ३५ ॥
व्यवस्थापयति क्षिप्रमिमं लोकं नरेश्वर ।
सत्ये व्यवस्थितो धर्मो ब्राह्मणेष्ववतिष्ठते ॥ ३६ ॥
धर्मयुक्ता द्विजश्रेष्ठा देवयुक्ता भवन्ति च ।
बभूव यज्ञो देवेभ्यो यज्ञः प्रीणाति देवताः ॥ ३७ ॥
प्रीताश्च देवता नित्यमिन्द्रे परिवदन्त्यपि ।
अन्नं ददाति शक्रश्चाप्यनुगृह्णन्निमाः प्रजाः ॥ ३८ ॥

सत्य, श्रद्धा, अश्रद्धा, क्लीवता, व्यवसाय, लाभ, हानि, जय, पराजय, तीक्ष्णता, मृदुता, मृत्यु, आगम, अनागम, विरोध, अविरोध, कार्य, अकार्य, बलाबल, निन्दा, अनिन्दा, धर्म, अधर्म, अपत्रपा, अनत्रपा, ह्री, सम्पद, विपद, पद, तेज, सब कर्म, पाण्डित्य, वाक्यशक्ति और तत्त्व बुद्धिता; हे कौरव्य ! इसी प्रकारकी इस लोकमें धर्मकी बहुरूपता हुआ करती हैं । (२५-३३)

लोकके बीच यदि दण्ड न रहे, तो लोग आपसमें एक दूसरेको प्रमथित करे । हे युधिष्ठिर ! दण्ड भयसे ही लोग आपसमें प्रहार नहीं करते । हे राजन् ! दण्डसे रक्ष्यमाण प्रजा सदा राजाको वर्द्धित करती है, इससे दण्ड ही परम आश्रय है । हे नरेश्वर ! सत्यसे युक्त धर्म शीघ्र ही उन सब लोगोंको अवस्थापित करता है; सत्यका पक्षपाती धर्म ब्राह्मणमूर्त्ति स्वरूप है । धर्मयुक्त सब ब्राह्मण वेदज्ञ हुआ करते हैं । वेदोंसे ही यज्ञ उत्पन्न हुआ है, यज्ञ देवताओंकी प्रीतियुक्त किया करता है; देवता लोग प्रसन्न होकर सदा इन्द्रकी स्तुति करते हैं, इन्द्र

प्राणाश्च सर्वभूतानां नित्यमन्ने प्रतिष्ठिताः ।
तस्मात्प्रजाः प्रतिष्ठन्ते दण्डो जागर्ति तासु च ॥३९॥
एवं प्रयोजनश्चैव दण्डः क्षत्रियतां गतः ।
रक्षन्प्रजाः स जागर्ति नित्यं स्ववहितोऽक्षरः ॥ ४० ॥
ईश्वरः पुरुषः प्राणः सत्त्वं चित्तं प्रजापतिः ।
भूतात्मा जीव इत्येवं नामभिः प्रोच्यतेऽष्टभिः ॥४१॥
अददद्दण्डमेवास्मै धृतमैश्वर्यमेव च ।
बलेन यश्च संयुक्तः सदा पञ्चविधात्मकः ॥ ४२ ॥
कुलं बहुधनामात्याः प्रज्ञा प्रोक्ता बलानि तु ।
आहार्यमष्टकैर्द्रव्यैर्बलमन्यद्युधिष्ठिर ॥ ४३ ॥
हस्तिनोऽश्वा रथाः पत्तिर्नावो विष्टिस्तथैव च ।
दैशिकाश्चाविकाश्चैव तदष्टाङ्गं बलं स्मृतम् ॥ ४४ ॥
अथवाङ्गस्य युक्तस्य रथिनो हस्तियायिनः ।
अश्वारोहाः पदाताश्च मन्त्रिणो रसदाश्च ये ॥ ४५ ॥
भिक्षुकाः प्राड्विवाकाश्च मौहूर्ता दैवचिन्तकाः ।
कोशो मित्राणि धान्यं च सर्वोपकरणानि च ॥ ४६ ॥

भी उन सब प्रजा समूहके ऊपर कृपा करके अन्नदान किया करते हैं, सब प्राणियोंका प्राण सदा अन्नसे ही प्रतिष्ठित है, इससे प्रजासमूह भी अन्नमें प्रतिष्ठित हैं और दण्ड इन प्रजासमूहके विषयमें जाग्रत रहता है, इस ही भांति प्रयोजनके अनुसार दण्ड क्षत्रियत्वको प्राप्त हुआ और दण्ड सदा सावधान अक्षय होके प्रजाकी रक्षा करते हुए जाग्रत रहता है। (३३—४०)

ईश्वर, पुरुष, प्राण सत्व, चित्त, प्रजापति, भूतात्मा और जीव इन आठ नामोंसे दण्ड उक्त हुआ करता है। जो राजा बलसे युक्त, और धर्म व्यवहार, धर्म ईश्वर तथा जीव रूपसे पञ्चविध है; ईश्वरने उसे दण्ड और ऐश्वर्यदान किया है। हे युधिष्ठिर ! सत्वंशमें उत्पन्न हुए धनशाली अमात्य, बुद्धि, ओजस्विता, तेज और देह इन्द्रिय, बुद्धि-सामर्थ वा अनन्तर श्लोकमें वक्ष्यमाण हाथी आदि आहार्य सब बल और राजाके कोष-वृद्धिका कारण है। हाथी, घोडे, रथ, पदाति, नौका, अवैतनिक बोझा ढोनेवाले, देश विशेषमें उत्पन्न हुई वस्तु और भेडके रोम आदिकोंसे बने हुए आसन आदि राजाओंके

सप्तप्रकृति चाष्टाङ्गं शरीरमिह यद्विदुः ।
राज्यस्य दण्डमेवाङ्गं दण्डः प्रभव एव च ॥ ४७ ॥
ईश्वरेण प्रयत्नेन कारणात्क्षत्रियस्य च ।
दण्डो दत्तः समानात्मा दण्डो हीदं सनातनम् ॥४८॥
राज्ञां पूज्यतमो नान्यो यथा धर्मः प्रदर्शितः ।
ब्रह्मणा लोकरक्षार्थं स्वधर्मस्थापनाय च ॥ ४९ ॥
भर्तृप्रत्यय उत्पन्नो व्यवहारस्तथाऽपरः ।
तस्माद्यः सहितो दृष्टो भर्तृप्रत्ययलक्षणः ॥ ५० ॥
व्यवहारस्तु वेदात्मा वेदप्रत्यय उच्यते ।
मौलश्च नरशार्दूल शास्त्रोक्तश्च तथाऽपरः ॥ ५१ ॥
उक्तो यश्चापि दण्डोऽसौ भर्तृप्रत्ययलक्षणः ।
ज्ञेयो नः स नरेन्द्रस्थो दण्डः प्रत्यय एव च ॥ ५२ ॥
दण्डप्रत्ययदृष्टोऽपि व्यवहारात्मकः स्मृतः ।

अष्टाङ्ग बलरूपसे वर्णित हुए हैं। अथवा रथी, गजपति, गजारोही, घुडसवार, पैदल सेना, मन्त्री, चिकित्सक, भिक्षक प्राड्विवाक, ज्योतिषी, दैवचिन्तक, कोष मित्र, धान्य सब सामग्री और सप्त-प्रकृति राज्यके अष्टाङ्गयुक्त शरीर रूपसे समझे जाते हैं; परन्तु दण्ड ही राज्यकी आदि और दण्ड ही राज्यका कारण है । ईश्वरके जरिये प्रयत्नके सहित क्षत्रियोंके निमित्त दण्ड प्रदत्त हुआ है, यह सब प्रिय अप्रिय सम स्वरूप दण्डके ही आधीन है। (४१-४८)

प्रजापतिके जरिये लोक रक्षाके वास्ते और स्वधर्म स्थापनके लिये, जिस प्रकार धर्म प्रदर्शित हुआ है, उस धर्म-स्वरूप दण्डसे बढके राजाओंके वास्ते दूसरा कुछ भी पूजनीय नहीं है। स्वामीके विश्वाससे उत्पन्न और वादी, प्रतिवादीके जरिये प्रवर्त्तित व्यवहार, इस अन्यतरका अभ्युपगम जिसका लक्षण हित युक्त दीखता है, वह दण्ड का भर्तृ-प्रत्यय लक्षण कहाता है । हे राजन् ! परस्त्री गमन आदि दोषकी निवृत्तिके वास्ते प्रायश्चित्त आदि महा दण्ड वेदात्मा वा वेद-प्रत्यय नामसे कहा जाता है; और कुलाचार युक्त व्यवहारमें मौल तथा अपर-दण्ड शास्त्रोक्त नामसे कहा जाता है। उन तीन प्रकारके दण्ड के बीच पहिला दण्ड क्षत्रियके आधीन है; क्षत्रियोंमें दण्ड ज्ञान रहना अवश्य उचित है । हे नरेन्द्रनिष्ठ प्रत्यय लक्षण-युक्त दण्ड क्षत्रियोंको अवश्य जानना

व्यवहारः स्मृतो यश्च स वेदविषयात्मकः　॥ ५३ ॥
यश्च वेदप्रसूतात्मा स धर्मो गुणदर्शनः।
धर्मप्रत्यय उद्दिष्टो यथा धर्मं कृतात्मभिः　॥ ५४ ॥
व्यवहारः प्रजागोप्ता ब्रह्मदिष्टो युधिष्ठिर।
त्रींन्धारयति लोकान्वै सत्यात्मा भूतिवर्धनः ॥ ५५ ॥
यश्च दण्डः स दृष्टो नो व्यवहारः सनातनः।
व्यवहारश्च दृष्टो यः स वेद इति निश्चितम्　॥ ५६ ॥
यश्च वेदः स वै धर्मो यश्च धर्मः स सत्पथः।
ब्रह्मा पितामहः पूर्वं बभूवाथ प्रजापतिः　॥ ५७ ॥
लोकानां स हि सर्वेषां स सुरासुररक्षसाम्।
समनुष्योरगवतां कर्ता चैव स भूतकृत्　॥ ५८ ॥
ततोऽन्यो व्यवहारोऽयं भर्तृप्रत्ययलक्षणः।
तस्मादिदमथोवाच व्यवहारनिदर्शनम्　॥ ५९ ॥
माता पिता च भ्राता च भार्या चैव पुरोहितः।
नादण्ड्यो विद्यते राज्ञो यः स्वधर्मेण तिष्ठति ॥६०॥ [४४३१]

इतिश्रीमहा०शान्ति०राज०पर्वणि दण्डस्वरूपादिकथनेएकविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२१॥

चाहिये। (४९—५२)

और परपक्ष क्षेपण तथा निज पक्ष साधनरूप व्यवहार दण्ड प्रत्यय दृष्ट और मनु आदि महर्षियोंसे स्मृत होनेपर भी वह वेदार्थ गोचर हुआ है। दूसरे दो व्यवहार धर्ममूलक हैं। वेदसे उत्पन्न हुए धर्मही गुणदर्शी, कृतात्मा मुनियोंके जरिये धर्मके अनुसार धर्म प्रत्यय कहके वर्णित हुआ है। हे युधिष्ठिर! ब्रह्मोपदिष्ट व्यवहार प्रजासमूहकी रक्षा करता है, सत्य स्वरूप भूतिवर्द्धन व्यवहार ही तीनों लोकोंको धारण किये हैं। जो दण्ड नामसे कहलाता है, उसे ही सनातन व्यवहार रूपसे देखा जाता है; व्यवहारसे जो दीखता है, वही वेद है; ऐसा निश्चय है, कि जो वेद है, और जो धर्म है, उसे ही सन्मार्ग जाने। पहिले समयमें पितामह ब्रह्मा प्रजापति हुए थे, वह देवता, असुर, राक्षस, मनुष्य और सर्पोंके सहित सब लोकोंकी सृष्टि करनेवाले हैं, इस ही कारण उनका भूतकर्त्ता नाम हुआ है। उस प्रजापतिसे ही यह भर्तृ-प्रत्यय लक्षण व्यवहार प्रवर्त्तित होता है; उन्होंने इस व्यवहारका निदर्शन किया है, कि जो राजा निज धर्मके अनुसार प्रजा पालन

भीष्म उवाच— अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
अङ्गेषु राजा द्युतिमान्वसुहोम इति श्रुतः ॥ १ ॥
स राजा धर्मविन्नित्यं सह पत्न्या महातपाः।
मुञ्जपृष्ठं जगामाथ पितृदेवर्षिपूजितम् ॥ २ ॥
तत्र शृङ्गे हिमवतो मेरौ कनकपर्वते।
यत्र मुञ्जावटे रामो जटाहरणमादिशत् ॥ ३ ॥
तदाप्रभृति राजेन्द्र ऋषिभिः संशितव्रतैः।
मुञ्जपृष्ठ इति प्रोक्तः स देशो रुद्रसेवितः ॥ ४ ॥
स तत्र बहुभिर्युक्तस्तदा श्रुतिमयैर्गुणैः।
ब्राह्मणानामनुमतो देवर्षिसदृशोऽभवत् ॥ ५ ॥
तं कदाचिददीनात्मा सखा शक्रस्य मानिता।
अभ्यगच्छन्महीपालं मान्धाता शत्रुकर्शनः ॥ ६ ॥
सोपसृत्य तु मान्धाता वसुहोमं नराधिपम्।
दृष्ट्वा प्रकृष्टतपसं विनतोऽग्रेऽभ्यतिष्ठत ॥ ७ ॥
वसुहोमोऽपि राज्ञो वै पाद्यमर्घ्यं न्यवेदयत्।
सप्ताङ्गस्य तु राज्यस्य पप्रच्छ कुशलाव्यये ॥ ८ ॥

करते हैं; उनके समीप माता, पिता, भाई भार्या और पुरोहित इन सबके बीच कोई भी अदण्डय नहीं हैं। (५२–६०)

शान्तिपर्वमें १२१ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२२ अध्याय।

भीष्म बोले, पुराने लोग इस दण्डकी उत्पत्तिके विषयमें इस प्राचीन इतिहास-का प्रमाण दिया करते हैं। अङ्ग देशमें वसुहोम नामक एक विख्यात राजा थे, वह महातपस्वी नित्य धर्मके जाननेवाले राजा भार्याके सहित पितरों और देवर्षियोंसे पूजित होकर मुञ्जपृष्ठमें गये थे। सुवर्णमय सुमेरुके निकट उस हिमालयकी शिखर पर जहां मुञ्ज वटके नीचे रामने जटा हरण की थी। हे राजेन्द्र! तभीसे व्रत करनेवाले, ऋषि लोग उस रुद्रसेवित प्रदेशको मुञ्जपृष्ठ कहा करते हैं। वह उस समय श्रुतिमय अनेक गुणोंसे युक्त होकर ब्राह्मणोंकी अनुमत तथा देवर्षि समान हुए थे। (१–५)

किसी समय इन्द्रके सम्मानित सखा निर्भय चित्तवाले राजा मान्धाता उनके निकट उपस्थित हुए। मान्धाता वसुहो-मको प्रकृष्ट तपसे युक्त देखकर विनीत भावसे उनके सम्मुख स्थित हुए। वसु-

सद्भिराचरितं पूर्वं यथावदनुयायिनम् ।
अपृच्छद्वसुहोमस्तं राजन्किं करवाणि ते ॥ ९ ॥
सोऽब्रवीत्परमप्रीतो मान्धाता राजसत्तमम् ।
वसुहोमं महाप्राज्ञमासीनं कुरुनन्दन ॥ १० ॥
मान्धातोवाच- बृहस्पतेर्मतं राजन्नधीतं सकलं त्वया ।
तथैवौशनसं शास्त्रं विज्ञातं ते नरोत्तम ॥ ११ ॥
तदहं ज्ञातुमिच्छामि दण्ड उत्पद्यते कथम् ।
किं चास्य पूर्वं जागर्ति किंवा परममुच्यते ॥ १२ ॥
कथं क्षत्रियसंस्थश्च दण्डः संप्रत्यवस्थितः ।
ब्रूहि मे सुमहाप्राज्ञ ददाम्याचार्यवेतनम् ॥ १३ ॥
वसुहोम उवाच—शृणु राजन्यथा दण्डः संभूतो लोकसंग्रहः ।
प्रजाविनयरक्षार्थं धर्मस्यात्मा सनातनः ॥ १४ ॥
ब्रह्मा यियक्षुर्भगवान्सर्वलोकपितामहः ।
ऋत्विजं नात्मनस्तुल्यं ददर्शेति हि नः श्रुतम् ॥ १५ ॥
स गर्भं शिरसा देवो बहुवर्षाण्यधारयत् ।

होमने भी राजा मान्धाताको पाद्य, अर्घ दिया और सप्ताङ्ग राज्यका मङ्गल अमङ्गल पूंछने लगे। पहिले समयमें साधुओंके आचरणके यथावत् अनुयायी उस मान्धातासे वसुहोमने पूंछा । हे राजन् ! मैं आपका क्या कार्य करूं ? हे कुरुनन्दन ! राजसत्तम मान्धाता परम प्रसन्न होकर बैठे हुए महाबुद्धिमान वसुहोमसे कहने लगे। (९-१०)

मान्धाता बोले, हे नरसत्तम महाराज! आपने बृहस्पतिका सब मत अध्ययन किया है और शुक्राचार्यके सब शास्त्रोंको भी आप जानते हैं; इससे दण्ड किस प्रकार उत्पन्न हुआ है, मैं इसे जाननेकी अभिलाषा करता हूं। इस दण्डके पहिले क्या जाग्रत रहता है और क्या श्रेष्ठ कहके वर्णित होता है ? सम्प्रति दण्ड किस प्रकार क्षत्रियोंमें युक्त होकर स्थित होरहा है ? हे महाबुद्धिमान् ! आप मुझसे यही कहिये, मैं आचार्यका वेतन प्रदान करूंगा। (११-१३)

वसुहोम बोले, हे राजन् ! प्रजासमूहके विनय रक्षाके निमित्त धर्म स्वरूप सनातन लोक संग्रहमें समर्थ दण्ड जिस प्रकार उत्पन्न हुआ है, उसे सुनो। सब लोगोंके पितामह भगवान ब्रह्माने यज्ञ करनेकी इच्छा करके अपने समान

पूर्णे वर्षसहस्रे तु स गर्भः क्षुवतोऽपतत् ॥ १६ ॥
स क्षुपो नाम सम्भूतः प्रजापतिररिन्दम ।
ऋत्विगासीन्महाराज यज्ञे तस्य महात्मनः ॥ १७ ॥
तस्मिन्प्रवृत्ते सत्रे तु ब्रह्मणः पार्थिवर्षभ ।
दृष्टरूपप्रधानत्वाद्दण्डः सोऽन्तर्हितोऽभवत् ॥ १८ ॥
तस्मिन्नन्तर्हिते चापि प्रजानां संकरोऽभवत् ।
नैव कार्यं न वाकार्यं भोज्याभोज्यं न विद्यते ॥ १९ ॥
पेयापेये कुतः सिद्धिर्हिंसन्ति च परस्परम् ।
गम्यागम्यं तदा नासीत्स्वं परस्वं च वै समम् ॥२०॥
परस्परं विलुम्पन्ति सारमेया यथाऽऽमिषम् ।
अबलान्बलिनो घ्नन्ति निर्मर्यादमवर्तत ॥ २१ ॥
ततः पितामहो विष्णुं भगवन्तं सनातनम् ।
संपूज्य वरदं देवं महादेवमथाब्रवीत् ॥ २२ ॥
अत्र त्वमनुकम्पां वै कर्तुमर्हसि केशव ।
संकरो न भवेदत्र यथा तद्वै विधीयताम् ॥ २३ ॥

ऋत्विक किसीको न देखा ! मैंने ऐसा सुना है, कि उस देव प्रजापतिने मस्तक के जरिये कई वर्ष पर्यन्त गर्भ धारण किया था; सहस्र वर्ष पूरा होनेपर उसके क्षुत होनेके समय वह गर्भ गिरा । हे शत्रुनाशन ! उस ही गर्भसे उत्पन्न हुआ बालक क्षूप नाम प्रजापति हुआ । हे महाराज ! महानुभाव ब्रह्माके यज्ञमें वही ऋत्विक हुए थे । हे राजन् ! प्रजापतिके उस यज्ञके आरम्भ होने पर दृष्टरूपका मुख्य कारण वह दण्ड अन्तर्द्धान हुआ । दण्डके अन्तर्द्धान होने पर प्रजा वर्णसङ्कर होने लगी, कार्य, अकार्य, भोज्य, अभोज्यका कुछ भी विचार न रहा । तब पेय और अपेय विषयोंमें विचार क्यों रहेगा ? उस समय गम्य वा अगम्य कुछ भी न रहा, अपना धन और पराया धन समान हुआ; जैसे सारमेय मांसको हरण करते हैं,वैसे ही सब कोई आपसमें एक दूसरेके धनको हरनेमें प्रवृत्त हुए; बलवान लोग निब लोंको मारने लगे; सब ही मर्यादा रहित होगये । (१४—२१)

अनन्तर पितामह ब्रह्मा सनातन देव वरदाता महादेव विष्णुकी पूर्ण रीतिसे पूजा करके बोले, हे केशव ! इस विषयमें आपकी कृपा करनी उचित है, जिससे प्रजा वर्णसङ्कर न होवे, आप

ततः स भगवान्ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
आत्मानमात्मना दण्डं ससृजे देवसत्तमः ॥ २४ ॥
तस्माच्च धर्मचरणान्नीतिर्देवी सरस्वती ।
ससृजे दण्डनीतिं सा त्रिषु लोकेषु विश्रुता ॥ २५ ॥
भूयः स भगवान्ध्यात्वा चिरं शूलवरायुधः ।
तस्य तस्य निकायस्य चकारैकैकमीश्वरम् ॥ २६ ॥
देवानामीश्वरं चक्रे देवं दशशतेक्षणम् ।
यमं वैवस्वतं चापि पितॄणामकरोत्प्रभुम् ॥ २७ ॥
धनानां राक्षसानां च कुबेरमपि चेश्वरम् ।
पर्वतानां पतिं मेरुं सरितां च महोदधिम् ॥ २८ ॥
अपां राज्ये सुराणां च विदधे वरुणं प्रभुम् ।
मृत्युं प्राणेश्वरमथो तेजसां च हुताशनम् ॥ २९ ॥
रुद्राणामपि चेशानं गोप्तारं विदधे प्रभुम् ।
महात्मानं महादेवं विशालाक्षं सनातनम् ॥ ३० ॥
वसिष्ठमीशं विप्राणां वसूनां जातवेदसम् ।
तेजसां भास्करं चक्रे नक्षत्राणां निशाकरम् ॥ ३१ ॥
वीरुधामंशुमन्तं च भूतानां च प्रभुं वरम् ।

वैसी ही उपाय करिये। अनन्तर देव-सत्तम वह शूलधारी भगवान बहुत समयतक विचार करके आपने ही आपनेको दण्ड रूपसे उत्पन्न किया; उससे धर्माचरणके कारण नीतिरूपी सरस्वती देवीने तीनों लोकमें विख्यात दण्डनीतिको उत्पन्न किया। शूलधारी भगवानने फिर कुछ देर ध्यान करके उसही दण्डकालके वास्ते एक एक पुरुषको अधीश्वर कर दिया। (२२-२६)

और सहस्र नेत्रवाले देवराजको देवताओंका ईश्वर किया; वैवस्वत यमको पितरोंकी प्रभुता दी; धन और राक्षसोंको अपने वशमें रखनेके वास्ते कुबेरके ऊपर भार अर्पण किया, सुमेरुको शैल-पति और समुद्रको सरित्पति किया। जल और असुरोंके राज्यपर वरुणको प्रभुत्व करनेका भार दिया। मृत्युको प्राण और हुताशनको तेजका स्वामी बनाया। महानुभाव विशालाक्ष महादेव ईशानको रुद्रगणका रक्षक और प्रभु कर दिया। वसिष्ठको ब्राह्मणों और अग्निको वसुओंका स्वामी बनाया सूर्यको तेज और चन्द्रमाको नक्षत्रोंकी

कुमारं द्वादशभुजं स्कन्दं राजानमादिशत् ॥ ३२ ॥
कालं सर्वेशमकरोत्संहारविनयात्मकम्।
मृत्योश्चतुर्विभागस्य दुःखस्य च सुखस्य च ॥ ३३ ॥
ईश्वरः सर्वदेवस्तु राजराजो नराधिपः।
सर्वेषामेव रुद्राणां शूलपाणिरिति श्रुतिः ॥ ३४॥
तमेनं ब्रह्मणः पुत्रमनुजातं क्षुपं ददौ।
प्रजानामधिपं श्रेष्ठं सर्वधर्मभृतामपि ॥ ३५ ॥
महादेवस्ततस्तस्मिन्वृत्ते यज्ञे यथाविधि।
दण्डं धर्मस्य गोप्तारं विष्णवे सत्कृतं ददौ ॥ ३६ ॥
विष्णुराङ्गिरसे प्रादादाङ्गिरा मुनिसत्तमः।
प्रादादिन्द्रमरीचिभ्यां मरीचिर्भृगवे ददौ ॥ ३७ ॥
भृगुर्ददावृषिभ्यस्तु दण्डं धर्मसमाहितम्।
ऋषयो लोकपालेभ्यो लोकपालाः क्षुपाय च ॥ ३८ ॥
क्षुपस्तु मनवे प्रादादादित्यतनयाय च।
पुत्रेभ्यः श्राद्धदेवस्तु सूक्ष्मधर्मार्थकारणात् ॥ ३९ ॥
विभज्य दण्डः कर्तव्यो धर्मेण न यदृच्छया।

प्रभुता दी। अंशुमानको लता समूहका ईश्वर किया और द्वादश बाहु कुमार स्कन्दको भूतोंके ऊपर राजत्व करनेकी आज्ञा दी। (२७-३२)

हे नरनाथ! संहार करनेवाले कालको सबका ईश्वर किया; शस्त्र, शत्रु, रोग और भोजन मृत्युके ये चार विभाग सुख और दुःख सर्वदेवमय राजोंका राजा काल ही सबका ईश्वर है। शूलपाणि सब रुद्रगणोंके स्वामी हैं, ऐसे ही जन श्रुति है। महादेवने प्रजासमूहके स्वामी सब धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ उस ब्रह्माके पुत्र क्षुपको पहिले इस दण्डका रक्षक किया था। (३३-३५)

अनन्तर उस यज्ञके विधिपूर्वक पूर्ण होनेपर महादेवने उस दण्डका सत्कार करके धर्म रक्षक विष्णुके ऊपर उसका भार अर्पित किया, विष्णुने उसे अङ्गिराको प्रदान किया,मुनिसत्तम अङ्गिराने इन्द्र और मरीचिको,मरीचिने भृगुको और भृगुने ऋषियोंको वह धर्म युक्त दण्ड दान किया। ऋषियोंने लोकपालोंको और लोकपालोंने उसे क्षूपको दिया, अनन्तर क्षूपने आदित्य पुत्र मनुको उसे अर्पण किया। श्राद्धदेवने सूक्ष्म धर्म-अर्थके कारणसे पुत्रोंको समर्पण किया। न्याय

दुष्टानां निग्रहो दण्डो हिरण्यं बाह्यतः क्रिया॥ ४० ॥
व्यङ्गत्वं च शरीरस्य वधो नाल्पस्य कारणात्।
शरीरपीडास्तास्ताश्च देहत्यागो विवासनम् ॥ ४१ ॥
तं ददौ सूर्यपुत्रस्तु मनुर्वै रक्षणार्थकम्।
आनुपूर्व्याच्च दण्डोऽयं प्रजा जागर्ति पालयन् ॥ ४२ ॥
इन्द्रो जागर्ति भगवानिन्द्रादग्निर्विभावसुः।
अग्नेर्जागर्ति वरुणो वरुणाच्च प्रजापतिः ॥ ४३ ॥
प्रजापतेस्ततो धर्मो जागर्ति विनयात्मकः।
धर्माच्च ब्रह्मणः पुत्रो व्यवसायः सनातनः ॥ ४४ ॥
व्यवसायात्ततस्तेजो जागर्ति परिपालयत्।
ओषध्यस्तेजसस्तस्मादोषधीभ्यश्च पर्वताः ॥ ४५ ॥
पर्वतेभ्यश्च जागर्ति रसो रसगुणात्तथा।
जागर्ति निर्ऋतिर्देवी ज्योतींषि निर्ऋतेरपि ॥ ४६ ॥
वेदाः प्रतिष्ठा ज्योतिर्भ्यस्ततो हयशिराः प्रभुः।
ब्रह्मा पितामहस्तस्माज्जागर्ति प्रभुरव्ययः ॥ ४७ ॥
पितामहान्महादेवो जागर्ति भगवाञ्छिवः।

अन्यायको विचारके धर्मके अनुसार दण्ड विधान करना चाहिये; इच्छानुसार दण्ड देना उचित नहीं है। दुष्ट पुरुषोंके निग्रह करनेको दण्ड कहते हैं, सुवर्ण आदि दण्ड लोगोंका विभीषिका दिखाने मात्रके लिये होता है; शरीरकी अङ्ग हीनता और वधका दण्ड अल्प कारणसे नहीं होता। शारीरिक दण्ड ऊंचे स्थान परसे गिरना रूपी देह त्याग, तथा निज-देशसे निकाल देना, ये विशेष दोषके दण्ड हैं। (३६—४१)

सूर्य पुत्र मनुने प्रजासमूहकी रक्षाके वास्ते उस दण्डको यथा रीतिसे दान किया था; यह दण्ड ही प्रजाको पालन करते हुए जाग्रत रहता है। भगवान इन्द्र सदा जाग्रत रहते हैं, इन्द्रसे विभावसु अग्नि जाग्रत हैं, अग्निसे वरुण जाग्रत हैं; प्रजापतिसे विनयात्मक धर्म निरन्तर जाग्रत रहता है; धर्मसे ब्रह्मपुत्र व्यवसाय, व्यवसायसे तेज प्रजा पालन करते हुए जाग्रत हैं; तेजसे औषधी, औषधियोंसे पर्वत, पर्वतोंसे रस और रस गुण जाग्रत रहते हैं; उससे निर्ऋतिदेवी जागरित होती है, निर्ऋतिसे ज्योतिर्गण जाग्रत हुआ करते हैं; ज्योतिर्गणसे वेद प्रतिष्ठित होता है, उससे प्रभु हयशिरा जाग्रत होते

विश्वेदेवाः शिवाच्चापि विश्वेभ्यश्च तथर्षयः ॥ ४८ ॥
ऋषिभ्यो भगवान्सोमः सोमाद्देवाः सनातनाः ।
देवेभ्यो ब्राह्मणा लोके जाग्रतीत्युपधारय ॥ ४९ ॥
ब्राह्मणेभ्यश्च राजन्या लोकान् रक्षन्ति धर्मतः ।
स्थावरं जङ्गमं चैव क्षत्रियेभ्यः सनातनम् ॥ ५० ॥
प्रजा जाग्रति लोकेऽस्मिन्दण्डो जागर्ति तासु च ।
सर्वं संक्षिपते दण्डः पितामहसमप्रभः ॥ ५१ ॥
जागर्ति कालः पूर्वं च मध्ये चान्ते च भारत ।
ईश्वरः सर्वलोकस्य महादेवः प्रजापतिः ॥ ५२ ॥
देवदेवः शिवः सर्वो जागर्ति सततं प्रभुः ।
कपर्दी शङ्करो रुद्रः शिवः स्थाणुरुमापतिः ॥ ५३ ॥
इत्येष दण्डो विख्यात आदौ मध्ये तथाऽवरे ।
भूमिपालो यथा न्यायं वर्तेतानेन धर्मवित् ॥ ५४ ॥
भीष्म उवाच— इतीदं वसुहोमस्य शृणुयाद्यो मतं नरः ।
श्रुत्वा सम्यक्प्रवर्तेत सर्वान्कामानवाप्नुयात् ॥ ५५ ॥

हैं, उनसे अव्यय प्रभु पितामह ब्रह्मा जाग्रत हुआ करते हैं; पितामह भगवान शिवस्वरूप महादेव जागरित होते हैं, शिवसे विश्वदेव और विश्वदेवोंसे ऋषि लोग; ऋषियोंसे भगवान चन्द्रमा, चन्द्रमासे सनातन देवता लोग और देवताओंसे जगत् के बीच ब्राह्मण लोग जाग्रत रहते हैं; इसे धारण करो, ब्राह्मणोंसे क्षत्रिय लोग धर्मके अनुसार सब लोगोंकी रक्षा करते हैं; क्षत्रियोंसे स्थावर जङ्गम आदि सब प्रजा इस लोकमें जाग्रत हो रही है; और दण्ड उन प्रजा समूहके ऊपर जागरित होके निवास करता है। पितामहके समान प्रभावसे युक्त दण्ड सबको ही संग्रह करता है; हे भारत! पहिले, मध्य और अन्तमें जाग्रत रहता है। सब लोकोंके ईश्वर महादेव प्रजापति देवोंके देव सर्वमय कपर्दी शङ्कर रुद्र भव स्थाणु उमापति प्रभु शिव सदा जागरित रहते हैं, आदि, मध्य और अन्तमें इसी भांति दण्ड विख्यात है। धर्म जाननेवाला राजा यथारीतिसे इस दण्डको धारण करते हुए वर्त्तमान रहे। (४२–५४)

भीष्म बोले, हे भारत! जो मनुष्य इस वसुहोमके मतको सुनते और सुनकर पूर्ण रीतिसे अनुष्ठान करते हैं, वे समस्त काम्य विषयोंको प्राप्त करते हैं। हे

इति ते सर्वमाख्यातं यो दण्डो मनुजर्षभ।
नियन्ता सर्वलोकस्य धर्माक्रान्तस्य भारत॥ ५६॥ [४४८७]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि दण्डोत्पत्त्युपाख्याने द्वाविंशाधिकशततमोऽध्यायः॥ १२२॥

युधिष्ठिर उवाच— तात धर्मार्थकामानां श्रोतुमिच्छामि निश्चयम्।
लोकयात्रा हि कात्स्न्येंन तिष्ठत्केषु प्रतिष्ठिता॥ १॥
धर्मार्थकामाः किंमूलास्त्रयाणां प्रभवश्च कः।
अन्योन्यं चानुषज्जन्ते वर्तन्ते च पृथक्पृथक्॥ २॥

भीष्म उवाच— यदा ते स्युः सुमनसो लोके धर्मार्थनिश्चये।
कालप्रभवसंस्थासु सज्जन्ते च त्रयस्तदा॥ ३॥
धर्ममूलः सदैवार्थः कामोऽर्थफलमुच्यते।
संकल्पमूलास्ते सर्वे संकल्पो विषयात्मकः॥ ४॥
विषयाश्चैव कात्स्न्येंन सर्व आहारसिद्धये।
मूलमेतत्त्रिवर्गस्य निवृत्तिर्मोक्ष उच्यते॥ ५॥

राजन्! यही तो दण्डका सब विषय मैंने तुम्हारे समीप वर्णन किया; दण्ड ही धर्मसे आक्रान्त सब लोकोंका नियन्ता है। (५५-५६) [४४८७]

शान्तिपर्वमें १२२ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२३ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे तात! धर्म, अर्थ और कामके निश्चयको सुननेकी इच्छा करता हूं, लोकयात्रा पूर्ण रीतिसे किससे प्रतिष्ठित हुआ करती है? धर्म, अर्थ और कामका मूल क्या है और इस त्रिवर्गकी उत्पत्तिका कारण ही क्या है? ये सब परस्पर मिलित और पृथक् पृथक् होकर किस निमित्त स्थिति करते हैं? (१—२)

भीष्म बोले, मनुष्य लोग जब जगत्के बीच धर्मपूर्वक अर्थ निश्चय करनेके वास्ते सुचित्त होते अर्थात् मैं गर्भाधानमें कही हुई विधिके अनुसार ऋतुकालमें निज स्त्रीका सङ्ग करके पुत्र लाभ करूंगा; मनुष्यके मनमें जब ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस समय धर्म अर्थ और काम यह त्रिवर्ग काल प्रभव होके एकत्र मिलता है, धर्म ही अर्थका मूल है और काम अर्थका फल है; यह सदा उक्त हुआ करता है; और कामका मूल इन्द्रिय प्रीति है, धर्म, अर्थ, काम ये तीनों ही सङ्कल्प मूलक तथा सङ्कल्प रूप आदि विषयात्मक हैं। रूप आदि सब विषय योग-प्रयोजक त्रिवर्गके मूल

धर्माच्छरीरसंगुप्तिर्धर्मार्थं चार्थ उच्यते।
कामो रतिफलश्चात्र सर्वे ते च रजस्वलाः ॥ ६ ॥
सन्निकृष्टांश्चरेदेतान्न चैतान्मनसा त्यजेत्।
विमुक्तस्तपसा सर्वान्धर्मादीन्कामनैष्ठिकान् ॥ ७ ॥
श्रेष्ठे बुद्धिस्त्रिवर्गस्य यदयं प्राप्नुयान्नरः।
कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्यर्थो न वा पुनः ॥ ८ ॥
अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम्।
अनर्थार्थमवाप्यार्थमन्यत्राद्योपकारकम् ॥
बुद्ध्या बुद्धिरिहार्थेन तदज्ञाननिकृष्टया ॥ ९ ॥
अपध्यानमलो धर्मो मलोऽर्थस्य निगूहनम्।
संप्रमोदमलः कामो भूयः स्वगुणवर्जितः ॥ १० ॥

हैं और निवृत्तिको ही मोक्ष कहते हैं। धर्मके निमित्त शरीरकी रक्षा अर्थात् आरोग्यताके वास्ते धर्मकी सेवा करनी उचित है और धर्मके लिये ही धन उपार्जन करना योग्य है और काम का फल रति है, इससे धर्म, अर्थ, काम, ये तीनों रजोगुण प्रधान हैं। (३-६)

आत्मज्ञान फलरूप सन्निकृष्ट धर्म, अर्थ, काम भी उस आत्मज्ञानके प्रयोजनके कारण उस समय सन्निकृष्ट होते हैं, उस समय उनकी सेवा करनी चाहिये; मनसे भी इन्हें परित्याग न करे। चित्तशुद्धिके वास्ते धर्म, निष्काम कर्मोंके वास्ते अर्थ और देह धारण मात्रके कारण कामकी सेवा करनी उचित है, तपसे रहित मनुष्य कामके अनन्तर धर्म आदिकोंको मनसे भी परित्याग न करे; भोग पास प्राप्त होनेपर उनका धर्ममर्यादासे सेवन करे। धर्म, अर्थ, काम इस त्रिवर्गकी निष्ठा सबसे श्रेष्ठ मोक्ष ही विद्यमान है। यदि मनुष्य उस मोक्षके पानेका अभिलाषी हो, तो पहिले उसे निष्काम होना होगा, विना निष्काम हुए मोक्ष लाभ नहीं होता। धर्मके वास्ते अर्थ और अर्थके लिये धर्म इस विषयमें अज्ञानताके कारण निकृष्ट बुद्धि अर्थात् निर्बुद्धि मूढ मनुष्य ऊपर कहे हुए धर्म और अर्थके फलको नहीं पाते; इससे धर्म और अर्थका फल मोक्ष ही अव्यभिचारी है, इसे निश्चय जाने। (७-९)

धर्मकी फलाभिसन्धि ही मङ्गल स्वरूप है; अर्थका दान और भोग न करना ही मलस्वरूप है; केवल प्रीतिके वास्ते काम सेवन कामका मलस्वरूप

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
कामन्दकस्य संवादमाङ्गरिष्ठस्य चोभयोः ॥ ११ ॥
कामन्दमृषिमासीनमभिवाद्य नराधिपः।
आङ्गरिष्ठोऽथ पप्रच्छ कृत्वा समयपर्ययम् ॥ १२ ॥
यः पापं कुरुते राजा काममोहबलात्कृतः।
प्रत्यासन्नस्य तस्यर्षे किं स्यात्पापप्रणाशनम् ॥ १३ ॥
अधर्मं धर्म इति च योऽज्ञानादाचरेन्नरः।
तं चापि प्रथितं लोके कथं राजा निवर्तयेत् ॥ १४ ॥

कामन्द उवाच- यो धर्मार्थौ परित्यज्य काममेवानुवर्तते।
स धर्मार्थपरित्यागात्प्रज्ञानाशमिहार्छति ॥ १५ ॥
प्रज्ञानाशात्मको मोहस्तथा धर्मार्थनाशकः।
तस्मान्नास्तिकता चैव दुराचारश्च जायते ॥ १६ ॥
दुराचारान्यदा राजा प्रदुष्टान्न नियच्छति।
तस्मादुद्विजते लोकः सर्पाद्वेश्मगतादिव ॥ १७ ॥

है; इससे वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, फलाभिसन्धान, दान, भोग और प्रीतिसे रहित होनेपर फिर बहुत फल अर्थात् चित्तशुद्धिके जरिये ब्रह्मानन्द फल प्रदान किया करता है। इस विषयमें कामन्दक और आङ्गरिष्ट इन दोनोंके सम्बादयुक्त इस प्राचीन इतिहासका पहिलेके आचार्य लोग प्रमाण दिया करते हैं। राजा आङ्गरिष्टने सुखसे बैठे हुए कामन्द ऋषिको प्रणाम करके मर्यादा भङ्ग विषयका प्रश्न किया। हे ऋषि! जो राजा काम और मोहके वशमें होकर पापाचरण करता है, उस पश्चाताप युक्त राजाका पाप किस प्रकार नष्ट होता है? जो मनुष्य अज्ञानके कारण अधर्मको धर्म समझके आचरण करता है, लोकमें विख्यात उस अधर्मको राजा किस उपायसे निवारित करे? (१०-१४)

कामन्द बोले, जो पुरुष धर्म और अर्थको त्यागके केवल कामका अनुवर्त्ती होता है, वह धर्म, अर्थ परिहार निबन्धनसे इस लोकमें बुद्धिसे हीन हुआ करता है। बुद्धिनाश करनेवाला मोह धर्म, अर्थका नाशक हो जाता है, उससे नास्तिकता और दुराचारकी उत्पत्ति होती है। राजा यदि एकबारगी दुष्ट दुराचारोंको निवारण न कर सके, तो प्रजा घरमें स्थित सर्पके समान उन दुराचारोंसे व्याकुल हुआ करती है।

तं प्रजा नानुवर्तन्ते ब्राह्मणा न च साधवः।
ततः संशयमाप्नोति तथा वध्यत्वमेति च ॥ १८ ॥
अपध्वस्तस्त्ववमतो दुःखं जीवितमृच्छति।
जीवेच्च यदपध्वस्तस्तच्छुद्धं मरणं भवेत् ॥ १९ ॥
अत्रैतदाहुराचार्याः पापस्य परिगर्हणम्।
सेवितव्या त्रयी विद्या सत्कारो ब्राह्मणेषु च ॥ २० ॥
महामना भवेद्धर्मे विवहेच्च महाकुले।
ब्राह्मणांश्चापि सेवेत क्षमायुक्तान्मनस्विनः ॥ २१ ॥
जपेदुदकशीलः स्यात्सततं सुखमास्थितः।
धर्मान्वितान्संप्रविशेद्बहिः कृत्वेह दुष्कृतीन् ॥ २२ ॥
प्रसादयेन्मधुरया वाचा वाप्यथ कर्मणा।
तवास्मीति वदेन्नित्यं परेषां कीर्तयन्गुणान् ॥ २३ ॥
अपापो ह्येवमाचारः क्षिप्रं बहुमतो भवेत्।
पापान्यपि हि कृच्छ्राणि शमयेन्नात्र संशयः ॥ २४ ॥
गुरवो हि परं धर्मं यं ब्रूयुस्तं तथा कुरु।
गुरूणां हि प्रसादाद्धि श्रेयः परमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥ [४५१२]

इति श्रीमहा०शान्ति०राज०पर्वणि कामन्दांगरिष्ठसंवादे त्रयोविंशाधिकशततमोऽध्यायः १२३

प्रजासमूह, ब्राह्मण और साधु लोग वैसे राजाके अनुवर्त्ती नहीं होते। अनन्तर वह संशय युक्त होकर वध्य होता अथवा अपमानित वा अवनत होकर अत्यन्त दुःखसे जीवित रहता है, अपमान युक्त होके जीवित रहना, वह केवल मृत्युके समान है। पहिलेके आचार्योंने इस विषयमें सब प्रकार पापकी निन्दा किये हैं; इससे त्रयी विद्या सेवन और ब्राह्मणोंका सत्कार करना अवश्य उचित है। (१५-२०)

धर्म विषयमें बडे चित्तवाला होवे और महत् वंशमें विवाह करे। क्षमाशील मनस्वी ब्राह्मणोंकी सेवा करे, ज्ञानशील होके जप करे और सदा सुखसे स्थित रहे। दुष्कर्मी मनुष्योंको दूर करके धर्मात्मा पुरुषोंके समीप गमन करे, मीठे वचन अथवा कर्मसे सबको प्रसन्न रखे, दूसरेके गुणको वर्णन करते हुए मैं आपकी ही सबके समीप यह कथा कहूंगा। निष्पाप मनुष्य ऐसा आचरण कर करनेसे शीघ्र ही सबके आदरका पात्र होता है और सब पापोंका नाश करता है, इसमें संशय नहीं है।

युधिष्ठिर उवाच— इमे जना नरश्रेष्ठ प्रशंसन्ति सदा भुवि ।
धर्मस्य शीलमेवादौ ततो मे संशयो महान् ॥ १ ॥
यदि तच्छक्यमस्माभिर्ज्ञातुं धर्मभृतां वर ।
श्रोतुमिच्छामि तत्सर्वं यथैतदुपलभ्यते ॥ २ ॥
कथं तत्प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत ।
किं लक्षणं च तत्प्रोक्तं ब्रूहि मे वदतां वर ॥ ३ ॥
भीष्म उवाच— पुरा दुर्योधनेनेह धृतराष्ट्राय मानद ।
आख्यातं तप्यमानेन श्रियं दृष्ट्वा तथागताम् ॥ ४ ॥
इन्द्रप्रस्थे महाराज तव सभ्रातृकस्य ह ।
सभायां चाह वचनं तत्सर्वं शृणु भारत ॥ ५ ॥
भवतस्तां सभां दृष्ट्वा समृद्धिं चाप्यनुत्तमाम् ।
दुर्योधनस्तदाऽऽसीनः सर्वं पित्रे न्यवेदयत् ॥ ६ ॥
श्रुत्वा हि धृतराष्ट्रश्च दुर्योधनवचस्तदा ।
अब्रवीत्कर्णसहितं दुर्योधनमिदं वचः ॥ ७ ॥
धृतराष्ट्र उवाच— किमर्थं तप्यसे पुत्र श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।

गुरु लोग जो परम धर्मका विषय कहा करते हैं, तुम उस धर्मका वैसा ही आचरण करो; गुरुओंकी कृपासे तुम परम कल्याणको प्राप्त होगे। (२१-२५)

शान्तिपर्वमें १२३ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२४ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पुरुष श्रेष्ठ! भूमण्डलमें ये सब मनुष्य लोग सदा शीलको ही धर्मका कारण कहके उसकी प्रशंसा किया करते हैं; इस विषयमें एकबारगी मुझे महान् संशय होरहा है। हे धार्मिक प्रवर! यदि उसे जाननेकी मुझमें सामर्थ्य हो, तो वह जिस प्रकार प्राप्त होता है, वह सब सुननेकी इच्छा करता हूं। हे वक्ताओंमें श्रेष्ठ! किस प्रकार वह शीलता प्राप्त हो सकती है और उसका कैसा लक्षण है, आप उसे मेरे समीप वर्णन करिये। (१-३)

भीष्म बोले, हे मानद महाराज! पहिले दुर्योधनने भाइयोंके सहित इन्द्रप्रस्थमें तुम्हारा वह अतुल ऐश्वर्य देखकर सन्तापित और सभामें उपहसित होकर पिताके समीप वह सब वर्णन किया था। तब धृतराष्ट्रने दुर्योधनका वचन सुनके कर्णके साथ बैठे हुए उससे यह वक्ष्यमाण वचन कहा था। (४-७)

धृतराष्ट्र बोले, हे पुत्र! तुम किस

श्रुत्वा त्वामनुनेष्यामि यदि सम्यग्भविष्यति ॥ ८ ॥
त्वया च महदैश्वर्यं प्राप्तं परपुरञ्जय।
किङ्करा भ्रातरः सर्वे मित्रसंबन्धिनः सदा ॥ ९ ॥
आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम्।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः॥ १० ॥

दुर्योधन उवाच- दश तानि सहस्राणि स्नातकानां महात्मनाम्।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ११ ॥
दृष्ट्वा च तां सभां दिव्यां दिव्यपुष्पफलान्विताम्।
अश्वांस्तित्तिरकल्माषान् वस्त्राणि विविधानि च॥१२॥
दृष्ट्वा तां पाण्डवेयानामृद्धिं वैश्रवणीं शुभाम्।
अमित्राणां सुमहतीमनुशोचामि भारत ॥ १३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच- यदीच्छसि श्रियं तात यादृशी सा युधिष्ठिरे।
विशिष्टां वा नरव्याघ्र शीलवान्भव पुत्रक ॥ १४ ॥
शीलेन हि त्रयो लोकाः शक्या जेतुं न संशयः।
न हि किञ्चिदसाध्यं वै लोके शीलवतां भवेत्॥ १५ ॥

कारण सन्तापित होते हो, मैं उसे यथार्थ रूपसे सुननेकी इच्छा करता हूं, सुनने पर यदि मुझे उपयुक्त बोध होगा, तो तुम्हें उपदेश करूंगा। हे पर पुरञ्जय! तुमने परम ऐश्वर्य प्राप्त किया है, भ्राता, मित्र और सम्बन्धी लोग सदा तुम्हारी आज्ञामें रत हैं; बडे मन्दिर, वस्त्र, गात्रावरण और पक्वान्न भोजन भोग करते हो, उत्तम घोडे तुम्हें ले चलते हैं; तौभी तुम किस कारणसे पाण्डुवर्ण और कृश होरहे हो? दुर्योधन बोले, हे भारत! युधिष्ठिरके गृहमें दश हजार महानुभाव स्नातक ब्राह्मण लोग नित्य स्वर्णपात्रमें भोजन करते हैं, पाण्डवोंकी दिव्य फल फूलोंसे शोभित वह दिव्य सभा और तीतर पक्षीके समान विचित्र रूपके घोडे, अनेक तरहके वस्त्र और राज राजके समान बडी और शुभङ्करी समृद्धि देखनेके समयसे ही चिन्ता कर रहा हूं। (७-१३)

धृतराष्ट्र बोले, हे तात नरवर! युद्धिष्ठिरकी जैसी समृद्धि है, तुम यदि वैसे वा उससे अधिक ऐश्वर्यकी इच्छा करते हो, तो तुम शीलवान बनो, हे पुत्र! सद्व्यवहारके जरिये तीनों लोक जय किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं है, इस लोकमें शीलवान मनुष्योंसे कोई कार्य भी असाध्य नहीं

एकरात्रेण मान्धाता त्र्यहेण जनमेजयः।
सप्तरात्रेण नाभागः पृथिवीं प्रतिपेदिरे ॥ १६ ॥
एते हि पार्थिवाः सर्वे शीलवन्तो दयान्विताः॥
अतस्तेषां गुणक्रीता वसुधा स्वयमागता ॥ १७ ॥
दुर्योधन उवाच- कथं तत्प्राप्यते शीलं श्रोतुमिच्छामि भारत।
येन शीलेन तैः प्राप्ता क्षिप्रमेव वसुंधरा ॥ १८ ॥
धृतराष्ट्र उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
नारदेन पुरा प्रोक्तं शीलमाश्रित्य भारत। ॥ १९ ॥
प्रह्लादेन हृतं राज्यं महेन्द्रस्य महात्मनः।
शीलमाश्रित्य दैत्येन त्रैलोक्यं च वशे कृतम् ॥ २० ॥
ततो बृहस्पतिं शक्रः प्राञ्जलिः समुपस्थितः।
तमुवाच महाप्राज्ञः श्रेय इच्छामि वेदितुम् ॥ २१ ॥
ततो बृहस्पतिस्तस्मै ज्ञानं नैःश्रेयसं परम्।
कथयामास भगवान्देवेन्द्राय कुरूद्वह ॥ २२ ॥
एतावच्छ्रेय इत्येव बृहस्पतिरभाषत।

है। मान्धाताने एक रात्रि, जनमेजयने तीन रात्रि और नाभाग राजाने सात रात्रिमें पृथ्वी लाभ की थी; ये सब राजा शीलवान और दयायुक्त थे; इससे वसुन्धरा गुण क्रीता होकर स्वयं उनके निकट उपस्थित हुई थी। (१४-१७)

दुर्योधन बोले, हे भारत! जिस शीलके सहारे उन लोगोंने शीघ्र ही पृथ्वीको प्राप्त किया था; किस प्रकारसे वह शील प्राप्त होता है, उसे मैं सुनने-की इच्छा करता हूं। धृतराष्ट्र बोले, हे भरतवंश-प्रसूत पुत्र! महर्षि नारदने शीलका आश्रय करके पहिले जो प्राचीन इतिहास कहा था, पुराने लोग इस विषयमें उसका प्रमाण दिया करते हैं। प्रह्लादने दैत्य होके भी शील अवलम्बन करके इन्द्रके राज्यको हरण और तीनों लोकोंको अपने वशमें किया था। हे कुरुवंश धुरन्धर! अनन्तर महाबुद्धिमान् मरुत्वान् हाथ जोडके बृहस्पतिके समीप उपस्थित हुए और बोले, मैं श्रेय जान-नेकी अभिलाष करता हूं। तब भगवान बृहस्पति उस देवेन्द्रसे परम कल्याण सम्बन्धीय अर्थात् मोक्षके उपयोगी ज्ञानका विषय कहने लगे। बृहस्पतिने मोक्षके उपयोगी ज्ञानकी कथा कहके "यही श्रेय है" ऐसा ही कहा। देव-

इन्द्रस्तु भूयः पप्रच्छ को विशेषो भवेदिति ॥ २३ ॥

बृहस्पतिरुवाच- विशेषोऽस्ति महांस्तात भार्गवस्य महात्मनः ।
अत्रागमय भद्रं ते भूय एव सुरर्षभ ॥ २४ ॥
आत्मनस्तु ततः श्रेयो भार्गवात्सुमहातपाः ।
ज्ञानमागमयत्प्रीत्या पुनः स परमद्युतिः ॥ २५ ॥
तेनापि समनुज्ञातो भार्गवेण महात्मना ।
श्रेयोऽस्तीति पुनर्भूयः शुक्रमाह शतक्रतुः ॥ २६ ॥
भार्गवस्त्वाह सर्वज्ञः प्रह्लादस्य महात्मनः ।
ज्ञानमस्ति विशेषेणेत्युक्तो हृष्टश्च सोऽभवत् ॥ २७ ॥
स ततो ब्राह्मणो भूत्वा प्रह्लादं पाकशासनः ।
गत्वा प्रोवाच मेधावी श्रेय इच्छामि वेदितुम्॥ २८ ॥
प्रह्लादस्त्वब्रवीद्विप्रं क्षणो नास्ति द्विजर्षभ ।
त्रैलोक्यराज्यसक्तस्य ततो नोपदिशामि ते ॥ २९ ॥
ब्राह्मणस्त्वब्रवीद्राजन्यस्मिन्काले क्षणो भवेत् ।
ततोपादेष्टुमिच्छामि यदाऽऽचर्यमनुत्तमम् ॥ ३० ॥

राजने फिर पूछा, कि निःश्रेयससे भी कुछ कल्याणदायक है वा नहीं, उसे विशेष रूपसे वर्णन करिये। (१८-२३)

बृहस्पति बोले, हे तात सुरराज! इस विषयमें जो कुछ विशेष है, वह महानुभाव भार्गवसे छिपा नहीं है; इससे तुम उनके समीप जाके इस विषयको पूंछो; तुम्हारा मङ्गल होगा। महातपस्वी परम तेजस्वी देवराज अपने कल्याण लामके लिये प्रीतिपूर्वक भार्गवके समीप गये और उस महानुभाव दैत्यगुरुसे अनुज्ञान होकर इन्द्रने उनसे पूछा, कि श्रेय क्या है? सर्वज्ञ शुक्राचार्य बोले, महानुभाव प्रह्लादको इस विषयका विशेष ज्ञान है; इन्द्र ऐसा सुनकर हर्षित हुए। अनन्तर मेधावी पाकशासन ब्राह्मणका वेष धरके प्रह्लादके निकट आकर बोले, मैं श्रेय जाननेकी अभिलाष करता हूं। (२४-२८)

प्रह्लाद बोले, हे द्विजवर! मैं तीनों लोकके राज्यको शासन करनेमें सदा तत्पर रहता हूं, इससे मुझे एक क्षणभर भी फुर्सत नहीं है, इसीसे तुम्हें उपदेश देनेमें समर्थ नहीं हूं। ब्राह्मण बोला, हे राजन्! जब आपको अवसर मिलेगा, तभी मैं उत्तम आचरणीय विषयके उपदेशको ग्रहण करनेकी अभिलाष करता हूं। अनन्तर राजा प्रह्लाद प्रसन्न

ततः प्रीतोऽभवद्राजा प्रह्लादो ब्रह्मवादिनः।
तथेत्युक्त्वा शुभे काले ज्ञानतत्त्वं ददौ तदा ॥ ३१ ॥
ब्राह्मणोऽपि यथान्यायं गुरुवृत्तिमनुत्तमाम्।
चकार सर्वभावेन यदस्य मनसेप्सितम् ॥ ३२ ॥
पृष्टश्च तेन बहुशः प्राप्तं कथमनुत्तमम्।
त्रैलोक्यराज्यं धर्मज्ञ कारणं तद्ब्रवीहि मे।
प्रह्लादोऽपि महाराज ब्राह्मणं वाक्यमब्रवीत् ॥ ३३ ॥

प्रह्लाद उवाच- नासूयामि द्विजान्विप्र राजाऽस्मीति कदाचन।
काव्यानि वदतां तेषां संयच्छामि वहामि च ॥ ३४ ॥
ते विश्रब्धाः प्रभाषन्ते संयच्छन्ति च मां सदा।
ते मां काव्यपथे युक्तं शुश्रूषुमनसूयकम् ॥ ३५ ॥
धर्मात्मानं जितक्रोधं नियतं संयतेन्द्रियम्।
समासिञ्चन्ति शास्तारः क्षौद्रं मध्विव मक्षिकाः॥३६॥
सोऽहं वागग्रविद्यानां रसानामवलेहिता।

हुए और "ऐसा ही होगा"–ब्राह्मणसे यह वचन कहके उस शुभक्षणमें उसे ज्ञानतत्व प्रदान किया। ब्राह्मण भी यथा न्यायसे जिस प्रकार गुरुके साथ व्यवहार करना होता है और उनके अन्तः करणमें जैसी अभिलाष थी, सब तरह उसे प्रदर्शित करने लगा, और बारम्बार पूछा, हे अरिदमन! आपने किस प्रकार तीनों लोकके राज्यको प्राप्त किया है? हे धर्मज्ञ! वह कारण मेरे समीप कहिये। हे महाराज! प्रह्लादने उस समय उस ब्राह्मणके प्रश्नका यह उत्तर दिया। (२९-३३)

प्रह्लाद बोले, हे विप्र! मैं अपनेको राजा समझके कदापि ब्राह्मणोंकी निन्दा नहीं करता, इन लोगोंके शुक्राचार्यके बनाये हुए नीतिशास्त्रकी व्याख्या करनेके समय मैं उसे सुनकर धारण किया करता हूं, वे लोग विश्वासी होकर उसे कहते हुए मुझे नियमित करते हैं। मैं शुक्राचार्यके कहे हुए नीतिमार्गमें सदा वर्त्तमान रहता हूं, ब्राह्मणोंकी सेवा करता हूं, कभी उन लोगोंकी निन्दा नहीं करता। जैसे मधु मक्षियां सदा क्षौद्र पटल (छत्ते) में मधु इकट्ठा करती हैं, वैसे ही वे शासन करनेवाले ब्राह्मण लोग मुझे धर्मात्मा, जितेन्द्रिय और सदा जित क्रोध जानके शास्त्र वचनसे सेचन किया करते हैं। मैं वाङ्मय शास्त्रोंके मुख्य विद्यारसको ग्रहण

स्वजात्यानधितिष्ठामि नक्षत्राणीव चन्द्रमाः ॥ ३७ ॥
एतत्पृथिव्याममृतमेतच्चक्षुरनुत्तमम् ।
यद्ब्राह्मणमुखे काव्यमेतच्छ्रुत्वा प्रवर्तते ॥ ३८ ॥
एतावच्छ्रेय इत्याह प्रह्लादो ब्रह्मवादिनम् ।
शुश्रूषितस्तेन तदा दैत्येन्द्रो वाक्यमब्रवीत् ॥ ३९ ॥
यथावद्गुरुवृत्त्या ते प्रीतोऽस्मि द्विजसत्तम ।
वरं वृणीष्व भद्रं ते प्रदाताऽस्मि न संशयः ॥ ४० ॥
कृतमित्येव दैत्येन्द्रमुवाच स च वै द्विजः ।
प्रह्लादस्त्वब्रवीत्प्रीतो गृह्यतां वर इत्युत ॥ ४१ ॥
ब्राह्मण उवाच— यदि राजन्प्रसन्नस्त्वं मम चेदिच्छसि प्रियम् ।
भवतः शीलमिच्छामि प्राप्तुमेष वरो मम ॥ ४२ ॥
ततः प्रीतस्तु दैत्येन्द्रो भयमस्याभवन्महत् ।
वरे प्रदिष्टे विप्रेण नाल्पतेजाऽयमित्युत । ॥ ४३ ॥
एवमस्त्विति स प्राह प्रह्लादो विस्मितस्तदा ।
उपाकृत्य तु विप्राय वरं दुःखान्वितोऽभवत् ॥ ४४ ॥

करते हुए नक्षत्रमण्डलीके बीच स्थित चन्द्रमाकी तरह निज जातिके बीच निवास करता हूं। गुरुके कहे हुए शास्त्रको सुनकर उसके अनुसार कार्यमें प्रवृत होना ही पृथ्वीके बीच अमृत-रूपी और यही उत्तम नेत्रस्वरूप है। (३४-३८)

प्रह्लादने उस ब्राह्मणसे यही श्रेय है, ऐसा ही कहा, और उस समय दैत्य-राज उस ब्राह्मणसे पूजित होकर बोले, हे द्विजसत्तम ! तुमने मेरे साथ गुरुकी तरह व्यवहार किया है, उससे मैं प्रसन्न हुआ हूं; इससे तुम जो वर मांगोगे, तुम्हें वही दान करूंगा, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है; तुम्हारा मङ्गल होगा। ब्राह्मणने उस समय दैत्येन्द्रसे कहा, मैंने वर मांगा; प्रह्लाद प्रसन्न होकर वर ग्रहण करो; ऐसा ही बोले। (३९-४१)

ब्राह्मण बोला, हे राजन् ! आप यदि प्रसन्न होकर मेरी प्रिय कामना करते हैं, तो मैं आपका शील प्राप्त कर नेकी इच्छा करता हूं; यही मेरी प्रार्थ-ना है। अनन्तर दैत्यराज प्रसन्न हुए परन्तु उन्हें अत्यन्त भय उत्पन्न हुआ; ब्राह्मणके वर मांगनेपर " ये अल्प तेजस्वी नहीं है,"—ऐसा ही निश्चय किया। अन्तमें प्रह्लाद विस्मित होकर "ऐसा ही होवे" यह वचन कहा और

दत्ते वरे गते विप्रे चिन्ताऽऽसीन्महती तदा।
प्रह्लादस्य महाराज निश्चयं न च जग्मिवान् ॥ ४५ ॥
तस्य चिन्तयतस्तावच्छायाभूतं महाद्युति।
तेजो विग्रहवत्तात शरीरमजहात्तदा ॥ ४६ ॥
तमपृच्छन्महाकायं प्रह्लादः को भवानिति।
प्रत्याह तं तु शीलोऽस्मि त्यक्तो गच्छाम्यहं त्वया ॥४७॥
तस्मिन्द्विजोत्तमे राजन्वत्स्याम्यहमनिन्दिते।
योऽसौ शिष्यत्वमागम्य त्वयि नित्यं समाहितः ॥४८॥
इत्युक्त्वान्तर्हितं तद्वै शक्रं चान्वाविशत्प्रभो।
तस्मिंस्तेजसि याते तु तादृग्रूपस्ततोऽपरः ॥ ४९ ॥
शरीरान्निःसृतस्तस्य को भवानिति चाब्रवीत्।
धर्मं प्रह्लाद मां विद्धि यत्रासौ द्विजसत्तमः ॥ ५० ॥
तत्र यास्यामि दैत्येन्द्र यतः शीलं ततो ह्यहम्।
ततोऽपरो महाराज प्रज्वलन्निव तेजसा ॥ ५१ ॥

उस ब्राह्मणको वरदान करके दुःखित हुए। हे महाराज! वरदानके अनन्तर ब्राह्मणके जानेपर प्रह्लादको बहुत चिन्ता उत्पन्न हुई; वह उस समय कुछ भी निश्चय न कर सके। हे तात! जब वह चिन्ता कर रहे थे, तब तेजोमय विग्रहयुक्त छायाभूत महातेजस्वी शीलने उनके शरीरको परित्याग किया। (४०-४६)

प्रह्लादने उस समय उस महाकायसे कहा, आप कौन हैं? वह बोला, हे राजन्! मैं शील हूं, तुमने मुझे परित्याग किया, इससे जाता हूं, जो शिष्य होकर सदा तुम्हारे निकट स्थित थे, मैं उस ही अनिन्दित द्विजवरके शरीरमें वास करूंगा। तेजोमय शील ऐसा कहके अन्तर्द्धान हुआ और इन्द्रके शरीरमें प्रवेश किया। शीलस्वरूप तेजके जानेपर वैसे ही रूपसे युक्त दूसरा एक पुरुष प्रह्लादके शरीरसे निकला, तब उन्होंने उससे कहा आप कौन हैं? वह बोला हे प्रह्लाद! मैं धर्म हूं, जिस स्थानमें वह द्विज सत्तम है, मैं वहां ही आऊंगा। हे दैत्यराज! शील जिस स्थानमें जाता है, मैं भी वहां ही गमन किया करता हूं। (४७-४९)

महाराज! अनन्तर और एक पुरुष मानो तेजसे प्रज्वलित होकर प्रह्लादके शरीरसे बाहर हुआ! उन्होंने पूछा आप कौन है? प्रह्लादके ऐसा पूछने-

शरीरान्निःसृतस्तस्य प्रह्लादस्य महात्मनः।
को भवानिति पृष्टश्च तमाह स महाद्युतिः ॥ ५२ ॥
सत्यं विद्ध्यसुरेन्द्राद्य प्रयास्ये धर्ममन्वहम्।
यस्मिन्ननुगते सत्ये महान्वै पुरुषोऽपरः ॥ ५३ ॥
निश्चक्राम ततस्तस्मात्पृष्टश्चाह महाबलः।
वृत्तं प्रह्लाद मां विद्धि यतः सत्यं ततो ह्यहम् ॥५४॥
तस्मिन्गते महाशब्दः शरीरात्तस्य निर्ययौ।
पृष्टश्चाह बलं विद्धि यतो वृत्तमहं ततः ॥ ५५ ॥
इत्युक्त्वा प्रययौ तत्र यतो वृत्तं नराधिप।
ततः प्रभामयी देवी शरीरात्तस्य निर्ययौ ॥
तामपृच्छत्स दैत्येन्द्रः सा श्रीरित्येनमब्रवीत् ॥ ५६ ॥
उषिताऽस्मि स्वयं वीर त्वयि सत्यपराक्रम।
त्वया त्यक्ता गमिष्यामि बलं ह्यनुगता ह्यहम् ॥५७॥
ततो भयं प्रादुरासीत्प्रह्लादस्य महात्मनः।
अपृच्छत्स ततो भूयः क्व यासि कमलालये ॥ ५८ ॥
त्वं हि सत्यव्रता देवी लोकस्य परमेश्वरी।

पर वह महातेजस्वी बोला, हे असुरेन्द्र! मैं सत्य हूं। इस समय धर्मका अनुगमन करूंगा। सत्यने ऐसा कहके धर्मके पीछे गमन किया। फिर दूसरा एक महान पुरुष प्रल्हादके शरीरसे निकला और वह महाबलवान पूछेजानेपर बोला, हे प्रल्हाद! मैं वृत्त हूं, सत्य जहां रहता है मैं भी वहां ही गमन किया करता हूं। वृत्तके जानेपर प्रह्लादके शरीरसे महाशब्द प्रकट हुआ और पूंछनेपर बोला, मैं बल हूं। वृत्त जहां जाता है, मैं भी वहां ही गमन किया करता हूं। हे नरनाथ! बल ऐसा कहके जहां वृत्त गया था, वहां ही चला गया। अनन्तर उनके शरीरसे एक प्रभामयी देवी बाहर हुई। दैत्यराज प्रह्लादके पूछनेपर श्रीने उनसे कहा, हे सत्यपराक्रमी वीर! मैं स्वयं तुम्हारे शरीरमें निवास करती थी, इस समय तुमसे परित्यक्त होनेसे जाती हूं; मैं बलकी अनुगामिनी हुआ करती हूं। अनन्तर महानुभाव प्रह्लादके अन्तःकरणमें भय उत्पन्न हुआ। वह फिर बोले, हे कमलालये! तुम कहां जाती हो? तुम्ही सत्यव्रत धारिणी लोककी परमेश्वरी देवी हो। वह द्विजवर कौन

कश्चासौ ब्राह्मणश्रेष्ठस्तत्त्वमिच्छामि वेदितुम् ॥ ५९ ॥

श्रीरुवाच— स शक्रो ब्रह्मचारी यस्त्वत्तश्चैवोपशिक्षितः ।
त्रैलोक्ये ते यदैश्वर्यं तत्तेनापहृतं प्रभो ॥ ६० ॥
शीलेन हि त्रयो लोकास्त्वया धर्मज्ञ निर्जिताः ।
तद्विज्ञाय सुरेन्द्रेण तव शीलं हृतं प्रभो ॥ ६१ ॥
धर्मः सत्यं तथा वृत्तं बलं चैव तथाऽप्यहम् ।
शीलमूला महाप्राज्ञ सदा नास्त्यत्र संशयः ॥ ६२ ॥

भीष्म उवाच— एवमुक्त्वा गता श्रीस्तु ते च सर्वे युधिष्ठिर ।
दुर्योधनस्तु पितरं भूय एवाब्रवीद्वचः ॥ ६३ ॥
शीलस्य तत्त्वमिच्छामि वेत्तुं कौरवनन्दन ।
प्राप्यते च यथाशीलं तं चोपायं वदस्व मे ॥ ६४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच- सोपायं पूर्वमुद्दिष्टं प्रह्लादेन महात्मना ।
संक्षेपेण तु शीलस्य शृणु प्राप्तिं नरेश्वर ॥ ६५ ॥
अद्रोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा गिरा ।
अनुग्रहश्च दानं च शीलमेतत्प्रशस्यते ॥ ६६ ॥

थे ? इसे मैं यथार्थ रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूं । (५०–५९)

लक्ष्मी बोली, हे राजन् ! जो ब्रह्मचारी होकर तुम्हारे निकट शिक्षित हुए थे, वह देवराज इन्द्र हैं; तीनों लोकमें तुम्हारा जो कुछ ऐश्वर्य था, वह उन्हींके जरिये हरण हुआ है। हे धर्मज्ञ ! तुमने शीलके सहारे तीनों लोक जय किया था; सुरराजने उसे मालूम करके तुम्हारे उस शीलको हरण किया है। हे महाबुद्धिमान ! धर्म, सत्य, वृत्त, बल और मैं शील ही हम सब लोगोंका मूल है; इस विषयमें सन्देह नहीं है। (६०–६२)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! ऐसा ही कहके लक्ष्मी और सत्य आदि सबने गमन किया था। इधर दुर्योधन फिर पितासे बोले, हे कौरव नन्दन ! मैं शीलके वृत्तान्तके विदित होनेकी इच्छा करता हूं। जिसके जरिये शीलता प्राप्त की जा सकती है, आप वह उपाय कहिये। धृतराष्ट्र बोले, वह उपाय पहिले ही महानुभाव प्रह्लादके द्वारा वर्णित हुई है। हे नरेश्वर ! इस समय शील प्राप्तिके विषयको संक्षेपमें कहता हूं, सुनो। वचन, मन और कर्मसे सब प्राणियोंके विषयमें अनिष्ट आचरण न करना, कृपा प्रकाश करनी और दान,ये

यदन्येषां हितं न स्यादात्मनः कर्म पौरुषम्।
अपत्रपेत वा येन न तत्कुर्यात्कथंचन ॥ ६७ ॥
तत्तु कर्म तथा कुर्याद्येन श्लाघ्येत संसदि।
शीलं समासेनैतत्ते कथितं कुरुसत्तम ॥ ६८ ॥
यद्यप्यशीला नृपते प्राप्नुवन्ति श्रियं कचित्।
न भुञ्जते चिरं तात समूलाश्च न सन्ति ते ॥ ६९ ॥

धृतराष्ट्र उवाच— एतद्विदित्वा तत्त्वेन शीलवान्भव पुत्रक।
यदीच्छसि श्रियं तात सुविशिष्टां युधिष्ठिरात् ॥७०॥

भीष्म उवाच— एतत्कथितवान्पुत्रे धृतराष्ट्रो नराधिपः।
एतत्कुरुष्व कौन्तेय ततः प्राप्स्यसि तत्फलम् ॥ ७१ ॥४५८३

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि शीलवर्णनं नाम चतुर्विंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२४ ॥

युधिष्ठिर उवाच— शीलं प्रधानं पुरुषे कथितं ते पितामह।
कथं त्वाशा समुत्पन्ना या चाशा तद्वदस्व मे ॥ १ ॥
संशयो मे महानेष समुत्पन्नः पितामह।

ही शीलके बीच श्रेष्ठ होते हैं। अपना कर्म वा पौरुष जो दूसरेको हितकर न हो और जिससे दूसरेके समीप लज्जित होना पडे, किसी प्रकार भी उसका अनुष्ठान करना उचित नहीं है। जिसके जरिये सभामें बडाई प्राप्त हो सकती है, सदा वैसा कार्य करना चाहिये। हे कुरुसत्तम! यही तो मैंने तुमसे संक्षेपमें शीलका विषय कहा। हे राजन्! शील-हीन मनुष्य जो कदापि श्रीसे युक्त हो, तौभी वह बहुत समयतक उस श्रीको भोग करनेमें समर्थ वा बद्धमूल नहीं होता है। (६३-६९)

धृतराष्ट्र बोले, हे पुत्र! हे तात! यदि युधिष्ठिरसे भी अधिक ऐश्वर्य लाभ करनेकी इच्छा करते हो, तो इसे यथार्थ रूपसे जानके शीलवान बनो। भीष्म बोले,राजा धृतराष्ट्रने! निज पुत्र दुर्योधनसे यह कथा कही थी। हे कुन्तीनन्दन! तुम ऐसा ही आचरण करो, अवश्य ही इसका फल पाओगे। (७०-७१) [४५८३]

शान्तिपर्वमें १२४ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२५ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे पितामह! पुरुषके विषयमें शील ही मुख्य है, वह तो आपने वर्णन किया, परन्तु आशा किस प्रकार उत्पन्न हुई है और वह आशा

छेत्ता च तस्य नान्योऽस्ति त्वत्तः परपुरञ्जय ॥ २ ॥
पितामहाशा महती ममासीद्धि सुयोधने ।
प्राप्ते युद्धे तु तद्युक्तं तत्कर्ताऽयमिति प्रभो ॥ ३ ॥
सर्वस्याशा सुमहती पुरुषस्योपजायते ।
तस्यां विहन्यमानायां दुःखो मृत्युर्न संशयः ॥ ४ ॥
सोऽहं हताशो दुर्बुद्धिः कृतस्तेन दुरात्मना ।
धार्तराष्ट्रेण राजेन्द्र पश्य मन्दात्मतां मम ॥ ५ ॥
आशां महत्तरां मन्ये पर्वतादपि सद्रुमात् ।
आकाशादपि वा राजन्नप्रमेयैव वा पुनः ॥ ६ ॥
एषा चैव कुरुश्रेष्ठ दुर्विचिन्त्या सुदुर्लभा ।
दुर्लभत्वाच्च पश्यामि किमन्यद्दुर्लभं ततः ॥ ७ ॥
भीष्म उवाच— अत्र ते वर्तयिष्यामि युधिष्ठिर निबोध तत् ।
इतिहासं सुमित्रस्य निर्वृत्तमृषभस्य च ॥ ८ ॥
सुमित्रो नाम राजर्षिर्हैहयो मृगयां गतः ।
ससार समृगं विद्ध्वा बाणेनानतपर्वणा ॥ ९ ॥

क्या है ? उसे आप मेरे समीप कहिये। हे पितामह ! इस विषयमें मुझे बहुत ही संशय उत्पन्न हुआ है; हे परपुरञ्जय ! आपके अतिरिक्त दूसरा कोई भी इस संशयको छुडानेवाला नहीं है। हे पितामह ! युद्ध उपस्थित होने और विना युद्धके भी दुर्योधन अर्द्धराज्य प्रदान करेगा, उसके विषयमें मुझे यह बडी आशा थी; पुरुष मात्रको ही महती आशा उत्पन्न होती है; उस आशाके नष्ट होनेपर दुःखकारी मृत्यु होती है, इसमें सन्देह नहीं है। हे राजेन्द्र ! उस दुष्टात्मा धार्त्तराष्ट्रने मुझे दुर्बुद्धि और हताश किया है; मेरी मन्दात्मता देखिये, मैं वृक्षोंसे युक्त पहाडसे भी आशाको बृहत् समझता हूं; हे राजन् ! आशा आकाशसे भी अप्रमेय है। हे कुरुश्रेष्ठ ! यह आशा अचिन्तनीय और एकवारगी दुर्लभ है; दुर्लभत्व निबन्धन युक्त दूसरे किसी विषयको भी इससे अधिक दुर्लभ नहीं देखता हूं। (१-७)

भीष्म बोले, हे युधिष्ठिर ! इस विषयमें मैं तुम्हारे समीप सुमित्र और ऋषभके सम्वाद युक्त इतिहासको वर्णन करता हूं, सुनो। हैहयवंशीय सुमित्र नाम राजऋषि मृगयाके वास्ते जाके नतपर्व बाणसे एक मृगको विद्ध करके वनमें भ्रमण कर रहे थे। अत्यन्त विक्र-

स मृगो बाणमादाय ययावमितविक्रमः ।
स च राजा बलात्तूर्णं ससार मृगयूथपम् ॥ १० ॥
ततो निम्नं स्थलं चैव स मृगोऽद्रवदाशुगः ।
मुहूर्तमिव राजेन्द्र समेन स पथाऽगमत् ॥ ११ ॥
ततः स राजा तारुण्यादौरसेन बलेन च ।
ससार बाणासनभृत्सखड्गोऽसौ तनुत्रवान् ॥ १२ ॥
ततो नदान्नदीश्चैव पल्वलानि वनानि च ।
अतिक्रम्याभ्यतिक्रम्य ससारैको वनेचरः ॥ १३ ॥
स तु कामान्मृगो राजन्नासाद्यासाद्य तं नृपम् ।
पुनरभ्येति जवनो जवेन महता ततः ॥ १४ ॥
स तस्य बाणैर्बहुभिः समभ्यस्तो वनेचरः ।
प्रक्रीडन्निव राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १५ ॥
पुनश्च जवमास्थाय जवनो मृगयूथपः ।
अतीत्यातीत्य राजेन्द्र पुनरभ्येति चान्तिकम् ॥ १६ ॥
तस्य मर्मच्छिदं घोरं तीक्ष्णं चामित्रकर्शनः ।
समादाय शरं श्रेष्ठं कार्मुके तु तथाऽसृजत् ॥ १७ ॥
ततो गव्यूतिमात्रेण मृगयूथपयूथपः ।
तस्य बाणपथं मुक्त्वा तस्थिवान्प्रहसन्निव ॥ १८ ॥
तस्मिन्निपतिते बाणे भूमौ ज्वलिततेजसि ।
प्रविवेश महारण्यं मृगो राजाऽप्यथाद्रवत् ॥ १९ ॥ [४६०२]

इति श्रीमहाभारते शा० राजधर्मा० ऋषभगीतासु पंचविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥ १२५ ॥

मसे युक्त वह मृग बाणसे विद्ध होकर गमन करने लगा; राजाने भी शीघ्रताके सहित बलपूर्वक उस मृगयूथपतिका अनुसरण किया । हे राजेन्द्र ! अनन्तर वह शीघ्रगामी कुरङ्ग मुहूर्त भरमें निम्न स्थल और समतल मार्गमें दौडने लगा । अन्तमें वह तनुत्राणसे युक्त राजा धनुष और तलवार ग्रहण करके यौवन बलसे भ्रमण करते हुए अकेलेही नद, नदी, पल्वल और वन अतिक्रम करते हुए वनचारी होकर घूमने लगे । शत्रुनाशन राजा उसके मर्मको छेदने-वाला तीक्ष्ण बाण ग्रहण करके धनुषपर चढाया । अनन्तर मृगयूथपति मानो हंसी करते हुए बाणके मार्गको परित्या-ग करके दो कोसकी दूरीपर स्थित

भीष्म उवाच— प्रविश्य स महारण्यं तापसानामथाश्रमम्।
आससाद ततो राजा श्रान्तश्चोपाविशत्तदा ॥ १ ॥
तं कार्मुकधरं दृष्ट्वा श्रमार्तं क्षुधितं तदा।
समेत्य ऋषयस्तस्मिन्पूजां चक्रुर्यथाविधि ॥ २ ॥
स पूजामृषिभिर्दत्तां संप्रगृह्य नराधिपः।
अपृच्छत्तापसान्सर्वांस्तपसो वृद्धिमुत्तमाम् ॥ ३ ॥
ते तस्य राज्ञो वचनं संप्रगृह्य तपोधनाः।
ऋषयो राजशार्दूलं तमपृच्छन्प्रयोजनम् ॥ ४ ॥
केन भद्रसुखार्थेन संप्राप्तोऽसि तपोवनम्।
पदातिर्बद्धनिस्त्रिंशो धन्वी बाणी नरेश्वर ॥ ५ ॥
एतदिच्छामहे श्रोतुं कुतः प्राप्तोऽसि मानद।
कस्मिन्कुले तु जातस्त्वं किं नामा चासि ब्रूहि नः॥६॥
ततः स राजा सर्वेभ्यो द्विजेभ्यः पुरुषर्षभ।
आचचक्षे यथान्यायं परिचर्यां च भारत ॥ ७ ॥
हैहयानां कुले जातः सुमित्रो मित्रनन्दनः।

हुआ। जलता हुआ तेजसे युक्त बाण पृथ्वीपर गिरा; मृगने महावनके बीच प्रवेश किया; राजा भी दौडे। (८–१९)

शान्तिपर्वमें १२५ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२६ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर राजा महावनमें प्रवेश करके तपस्वियोंके आश्रम पर उपस्थित हुए और थकके उस समय वहां बैठ गये। ऋषियोंने उस धनुर्द्धारी राजाको थका और भूखा देखके सबने उस स्थानपर इकट्ठे होकर यथारीति उनका सत्कार किया। राजाने उन ऋषियोंसे प्राप्त हुए सत्कारको ग्रहण करके सब तपस्वियोंसे तप वृद्धिका विषय पूछा। तपोधन ऋषि लोग राजाके वचनको सुनके उनके आगमनका प्रयोजन जाननेके वास्ते बोले, हे राजन्! आप धनुष बाण और तलवार धारण करके पैदल ही कौनसे सुखके वास्ते इस तपोवनमें आये हैं? (१–५)

हे मानद! आपने किस स्थानसे आगमन किया है? उससे हम लोग सुननेकी इच्छा करते हैं। आप किस वंशमें उत्पन्न हुए हैं और आपका क्या नाम है, वह हम लोगोंके निकट वर्णन करिये। हे पुरुषश्रेष्ठ भरतवंशावतंस! वह राजा सब ब्राह्मणोंको यथारीतिसे निज परिचय देनेके वास्ते बोला, मैं

चरामि मृगयूथानि निघ्नन्बाणैः सहस्रशः ॥ ८ ॥
बलेन महता गुप्तः सामात्यः सावरोधनः ।
मृगस्तु विद्धो बाणेन मया सरति शल्यवान् ॥ ९ ॥
तं द्रवन्तमनुप्राप्तो वनमेतद्यदृच्छया ।
भवत्सकाशं नष्टश्रीर्हताशः श्रमकर्शितः ॥ १० ॥
किं नु दुःखमतोऽन्यद्वै यदहं श्रमकर्शितः ।
भवतामाश्रमं प्राप्तो हताशो भ्रष्टलक्षणः ॥ ११ ॥
न राजलक्षणत्यागो न पुरस्य तपोधनाः ।
दुःखं करोति तत्तीव्रं यथाऽशा विहता मम ॥ १२ ॥
हिमवान्वा महाशैलः समुद्रो वा महोदधिः ।
महत्त्वान्नान्वपद्येतां नभसो वान्तरं तथा ॥ १३ ॥
आशायास्तपसि श्रेष्ठास्तथा नान्तमहं गतः ।
भवतां विदितं सर्वं सर्वज्ञा हि तपोधनाः ॥ १४ ॥
भवन्तः सुमहाभागास्तस्मात्पृच्छामि संशयम् ।
आशावान्पुरुषो यः स्यादन्तरिक्षमथापि वा ॥ १५ ॥

हैहयवंशमें उत्पन्न हुआ हूं; मित्रोंके आनन्दको बढाने वाला सुमित्र नामसे प्रसिद्ध हूं; मैं विपुल बलसे रक्षित और सेवक तथा अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंमें घिरकर बाणोंसे सहस्रों मृगोंको मारते हुए विचरता था; कोई मृग मेरे बाणसे विद्ध होकर शल्यके सहित दौड रहा है, मैं उस ही दौडते हुए मृगका पीछा करते हुए दैव इच्छासे इस वनमें उपस्थित हुआ हूं। (८-१०)

इस समय श्रीरहित निराश और परिश्रमसे थक कर आप लोगोंके समीप आया हूं। मैं परिश्रमसे कातर, निराश और भ्रष्ट लक्षण होकर आप लोगोंके समीप आया, इससे बढके मुझे दूसरा दुःख क्या होगा ? हे तपस्वी लोगो ! मेरी मृग-विषयक आशा नष्ट होनेसे जैसा तीव्र दुःख हुआ है, राज चिह्न त्यागना और नगरको छोडना वैसा दुःखदायक नहीं है। अत्यन्त ऊंचा महा पर्वत हिमालय, बहुत बडे महोदधि समुद्र और आकाशकी अन्तराल महत्त्वके अनुसार आशाके समान नहीं हो सकते। हे तापस वृन्द ! इससे मैं आशाका अन्त भी नहीं देखता हूं आप लोग सर्वज्ञ और तपस्यासे भरे हैं; सब आप लोगोंको विदित है; आप महा ऐश्वर्ययुक्त हैं, इसही कारण आप लो-

किं नु ज्यायस्तरं लोके महत्त्वात्प्रतिभाति वः ।
एतदिच्छामि तत्त्वेन श्रोतुं किमिह दुर्लभम् ॥ १६ ॥
यदि गुह्यं न वो नित्यं तदा प्रब्रूत मा चिरम् ।
न गुह्यं श्रोतुमिच्छामि युष्मद्भ्यो द्विजसत्तमाः ॥१७॥
भवत्तपोविघातो वा यदि स्याद्विरमे ततः ।
यदि वाऽस्ति कथायोगो योऽयं प्रश्नो मयेरितः ॥१८॥
एतत्कारणसामर्थ्यं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ।
भवन्तोऽपि तपोनित्या ब्रूयुरेतत्समन्विताः ॥१९॥ [४६२१]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि ऋषभगीतासु षड्विंशाधिकशततमोऽध्यायः॥ १२६ ॥

भीष्म उवाच— ततस्तेषां समस्तानामृषीणामृषिसत्तमः ।
ऋषभो नाम विप्रर्षिर्विस्मयन्निदमब्रवीत् ॥ १ ॥
पुराऽहं राजशार्दूल तीर्थान्यनुचरन्प्रभो ।
समासादितवान् दिव्यं नरनारायणाश्रमम् ॥ २ ॥
यत्र सा बदरी रम्या ह्रदो वैहायसस्तथा ।
यत्र चाश्वशिरा राजन्वेदान्पठति शाश्वतान् ॥ ३ ॥

गोंसे संशयका विषय पूछता हूं। आशावान पुरुष और आकाश इन दोनोंके बीच महत्वमें आप लोगोंको कौन श्रेष्ठ मालूम होता है; मैं यही सुननेकी अभिलाष करता हूं; इस लोकमें सुननेमें क्या दुर्लभ है ? यह विषय यदि आप लोगोंके समीप गोपनीय न हो, तो शीघ्र ही मुझसे कहिये। हे द्विजसत्तम वृन्द ! आप लोगोंके गोपनीय विषयको सुननेकी इच्छा नहीं करता, मैंने जो प्रश्न किये हैं, कथाके प्रसङ्गसे यदि इसका उत्तर होवे, तो वर्णन कीजिये। आशाके कारण और सामर्थ्यकी रीतिसे सुननेकी इच्छा करता हूं, आप लोग भी तपस्यामें रत हैं, इससे सब कोई मिलकर इस विषयको वर्णन कीजिये। (११–१९) [४६२१]

शान्तिपर्वमें १२६ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२७ अध्याय।

भीष्म बोले, अनन्तर उन सब ऋषियोंके बीच ऋषि सत्तम ऋषभ नाम विप्रर्षि विस्मित होकर यह वचन बोले, हे प्रभु नृपवर ! पहिले समयमें मैं सब तीर्थोंमें घूमता हुआ, नर नारायणके दिव्य आश्रममें उपस्थित हुआ था, जिस स्थानमें उस रमणीय बदरी और

तस्मिन्सरसि कृत्वाऽहं विधिवत्तर्पणं पुरा।
पितृणां देवतानां च ततोऽऽश्रममियां तदा ॥ ४ ॥
रेमाते यत्र तौ नित्यं नरनारायणावृषी।
अदूराद‍ाश्रमं कञ्चिद्वासार्थमगमं तदा ॥ ५ ॥
तत्र चीराजिनधरं कृशमुच्चमतीव च।
अद्राक्षमृषिमायान्तं तनुं नाम तपोधनम् ॥ ६ ॥
अन्यैर्नरैर्महाबाहो वपुषाऽष्टगुणान्वितम्।
कृशता चापि राजर्षे न दृष्टा तादृशी क्वचित् ॥ ७ ॥
शरीरमपि राजेन्द्र तस्य कानिष्ठिकासमम्।
ग्रीवा बाहू तथा पादौ केशाश्चाद्भुतदर्शनाः ॥ ८ ॥
शिरः कायानुरूपं च कर्णौ नेत्रे तथैव च।
तस्य वाक् चैव चेष्टा च सामान्ये राजसत्तम ॥ ९ ॥
दृष्ट्वाऽहं तं कृशं विप्रं भीतः परमदुर्मनाः।
पादौ तस्याभिवाद्याथ स्थितः प्राञ्जलिरग्रतः ॥ १० ॥
निवेद्य नामगोत्रे च पितरं च नरर्षभ।
प्रदिष्टे चासने तेन शनैरहमुपाविशम् ॥ ११ ॥

आकाश गङ्गाका वैहायस हृद विद्यमान हैं, और वे नित्य वेद पाठ करते हैं। पहिले समय में उस ही तालावमें पितर और देवताओंका विधिपूर्वक तर्पण करके उस ही समय आश्रममें उपस्थित हुआ। जिस स्थानमें वह नारायण ऋषि सदा निवास करते हैं उनके निकटमें ही वास करनेके लिये किसी आश्रममें गमन किया। (१-५)

वहां सदा मृगछालाको धारण करनेवाले तनु नाम ऋषिको आते देखा। हे महाबाहो राजऋषि! उनका शरीर दूसरे मनुष्योंसे आठगुना ऊंचा था; परन्तु उनकी जैसी कृशता थी, वैसी कृशता कहीं भी मैंने नहीं देखी गई है। हे राजेन्द्र! उनका शरीर कनिष्ठा अंगुलीके समान था, गर्दन, दोनों भुजा, दोनों पैर और सब केश देखनेमें अद्भुत थे; सिर शरीरके अनुरूप ही था; दोनों कान और दोनों नेत्र भी उसके समान ही थे। हे राजसत्तम! उनका वचन और चेष्टा सामान्य थीं; मैं उस कृश विप्रको देखके अत्यन्त डरा और दुःखित हुआ। अनन्तर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम करके हाथ जोडके उनके सम्मुख खडा रहा। (६-१०)

ततः स कथयामास कथां धर्मार्थसंहिताम् ।
ऋषिमध्ये महाराज तनुर्धर्मभृतां वरः ॥ १२ ॥
तस्मिंस्तु कथयत्येव राजा राजीवलोचनः ।
उपायाज्जवनैरश्वैः सबलः सावरोधनः ॥ १३ ॥
स्मरन्पुत्रमरण्ये वै नष्टं परमदुर्मनाः ।
भूरिद्युम्नपिता श्रीमान्वीरद्युम्नो महायशाः ॥ १४ ॥
इह द्रक्ष्यामि तं पुत्रं द्रक्ष्यामीहेति पार्थिवः ।
एवमाशाहतो राजा चरन्वनमिदं पुरा ॥ १५ ॥
दुर्लभः स मया द्रष्टुं नूनं परमधार्मिकः ।
एकः पुत्रो महारण्ये नष्ट इत्यसकृत्तदा ॥ १६ ॥
दुर्लभः स मया द्रष्टुमाशा च महती मम ।
तया परीतगात्रोऽहं मुमूर्षुर्नात्र संशयः ॥ १७ ॥
एतच्छ्रुत्वा तु भगवांस्तनुर्मुनिवरोत्तमः ।
अवाक्शिरा ध्यानपरो मुहूर्तमिव तस्थिवान् ॥ १८ ॥
तमनुध्यातमालक्ष्य राजा परमदुर्मनाः ।

हे राजन् ! नाम, गोत्र और पिताका नाम कहके उनके दिये हुए आसन पर जाके धीरे धीरे बैठ गया। हे महाराज ! अनन्तर उस धर्मात्मा महर्षि तनुने ऋषियोंके बीच धर्म अर्थ युक्त कथा कहनी आरंभ की। वह जब धर्मयुक्त कथा कहने लगे, तब राजीवलोचन कोई राजा सेना और अन्तःपुरवासिनी स्त्रियोंके सहित वेगवान घोडोंके जरिये वहां पर उपस्थित हुआ। वनके बीच पुत्र खोया गया है, उसे स्मरण करते हुए अत्यन्त दुःखित होकर पहिले समयमें भूरिद्युम्नके पिता महायशस्वी श्रीमान महा वीरद्युम्न राजाने उस ही स्थानमें उस पुत्रको देखूंगा, ऐसी ही आशासे युक्त होकर उस वनमें घूमते हुए मेरे उस परम धार्मिक पुत्रका दर्शन होना दुर्लभ है, अकेला पुत्र महावनके बीच खोया गया, उस समय वारम्वार ऐसा ही वचन कहने लगे। (११–१६)

"मुझे उसका दर्शन होना दुर्लभ है, परन्तु देखनेके वास्ते मुझे बडी ही आशा हुई है; उस ही आशासे मेरा सब शरीर परिपूरित होनेसे मैं मुमूर्षु हुआ हूं; इसमें सन्देह नहीं है।" मुनिश्रेष्ठ भगवान तनुने राजाका ऐसा वचन सुनके अवाक्शिरा और चिन्तापरायण होके मूहूर्त भर स्थित रहे। राजा

उवाच वाक्यं दीनात्मा मन्दंमन्दमिवासकृत् ॥१९॥
दुर्लभं किं नु देवर्षे आशायाश्चैव किं महत्।
ब्रवीतु भगवानेतद्यदि गुह्यं न ते मयि ॥ २० ॥

मुनिरुवाच— महर्षिर्भगवांस्तेन पूर्वमासीद्विमानितः।
बालिशां बुद्धिमास्थाय मन्दभाग्यतयाऽऽत्मनः ॥२१॥
अर्थयन्कलशं राजन्काञ्चनं वल्कलानि च।
अवज्ञापूर्वकेनापि न संपादितवांस्ततः ॥ २२ ॥
निर्विण्णः स तु राजर्षिर्निराशः समपद्यत।
एवमुक्त्वाऽभिवाद्याथ तमृषिं लोकपूजितम् ॥
श्रान्तोऽवसीदद्धर्मात्मा यथा त्वं नरसत्तम ॥ २३ ॥
अर्घ्यं ततः समानीय पाद्यं चैव महानृषिः।
आरण्येनैव विधिना राज्ञे सर्वं न्यवेदयत् ॥ २४ ॥
ततस्ते मुनयः सर्वे परिवार्य नरर्षभम्।
उपाविशन्नरव्याघ्र सप्तर्षय इव ध्रुवम् ॥ २५ ॥
अपृच्छंश्चैव तं तत्र राजानमपराजितम्।
प्रयोजनमिदं सर्वमाश्रमस्य निवेशने ॥ २६ ॥ [४६४७]

इति श्रीमहाभारते०शान्तिपर्वणि राजध०पर्वणिऋषभगीतासु सप्तविंशाधिकशततमोऽध्यायः१२७

उन्हें चिंता करते देख, अत्यन्त दुःखित हुआ और दीनताके सहित बार बार मन्द स्वरसे बोला। हे देवऋषि! दुर्लभ क्या है और आशासे बृहत् क्या है? यदि यह मेरे समीप गोपनीय न हो, तो, हे भगवन्! इसे वर्णन कीजिये। (१७-२०)

मुनि बोले, पहिले महर्षि भगवान् तुम्हारे उस पुत्रके जरिये बालिश बुद्धि और निज मन्दभाग्यताके कारण मानसे रहित हुए थे। हे राजन्! महर्षिने एक सोनेका कलश और वल्कल मांगा था, उन्होंने अवज्ञापूर्वक उसे सम्पादन नहीं किया, वह राजर्षि निर्विण्ण और निराश हुए थे। हे नरसत्तम! वह धर्मात्मा इसी प्रकार निराश होकर उस लोकपूजित ऋषिको प्रणाम करके तुम्हारी भांति श्रान्त और अवसन्न हुए थे। अनन्तर महर्षिने पाद्य और अर्घ्य लेकर अरण्य विधिके अनुसार राजाको वह सब निवेदन किया। हे नरश्रेष्ठ! अनन्तर जैसे सप्तऋषि लोग ध्रुवको घेरते हैं, वैसे ही सब मुनि लोग उस राजाको घेरकर बैठ गये और उन लोगोंने उस राजाके

राजोवाच— वीरद्युम्न इति ख्यातो राजाऽहं दिक्षु विश्रुतः।
भूरिद्युम्नं सुतं नष्टमन्वेष्टुं वनमागतः ॥ १ ॥
एकः पुत्रः स विप्राग्य्र बाल एव च मेऽनघ।
न दृश्यते वने चास्मिंस्तमन्वेष्टुं चराम्यहम् ॥ २ ॥
ऋषभ उवाच— इत्येवमुक्ते वचने राज्ञा मुनिरधोमुखः।
तूष्णीमेवाभवत्तत्र न च प्रत्युक्तवान्नृपम् ॥ ३ ॥
स हि तेन पुरा विप्रो राज्ञा नात्यर्थमानितः।
आशाकृतश्च राजेन्द्र तपो दीर्घं समाश्रितः ॥ ४ ॥
प्रतिग्रहमहं राज्ञां न करिष्ये कथंचन।
अन्येषां चैव वर्णानामिति कृत्वा धियं तदा ॥ ५ ॥
आशा हि पुरुषं बालमुत्थापयति तस्थुषी।
तामहं व्यपनेष्यामि इति कृत्वा व्यवस्थितः ॥
वीरद्युम्नस्तु तं भूयः पप्रच्छ मुनिसत्तमम् ॥ ६ ॥
राजोवाच— आशायाः किं कृशत्वं च किं चेह भुवि दुर्लभम्।

आश्रममें आनेका प्रयोजन पूछा।२१-२६

शान्तिपर्वमें १२७ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२८ अध्याय।

राजा बोला, मैं वीरद्युम्न नामसे विख्यात राजा चारों ओर प्रसिद्ध हूं, मेरा पुत्र भूरिद्युम्न नष्ट हुआ है, उसे खोजनेके वास्ते मैं इस वनमें आया हूं। हे पापरहित विप्रवर ! मेरे वही एक मात्र पुत्र है, तिसपर भी वह बालक है, उसे इस वनमें न देखके घूम रहा हूं। (१—२)

ऋषभ बोले, जब राजाने ऐसा कहा, तब उस समय मुनि अधोवदन होकर चुप होरहे; राजाको कुछ भी उत्तर न दिया। वह ब्राह्मण पहिले राजाके जरिये सम्मानित नहीं हुए। हे राजेन्द्र ! उन्होंने आशाको नष्ट करनेके निमित्त बहुत तपस्या की थी, मैं किसी प्रकारसे राजाके निकट प्रतिग्रह तथा दूसरे किसी वर्णका दान नहीं ग्रहण करूंगा; उस समय ऐसी ही बुद्धि अवलम्बन करके स्थित थे। आशा ही स्थिर होकर पुरुषको तथा बालकको भी उद्योगशाली करती है; इससे "मैं उस आशाको दूर करूंगा," मन ही मन ऐसा ही स्थिर करके मुनि मौन हुए थे। वीरद्युम्न राजाने फिर उस मुनिसत्तमसे पूछा। (३-६)

राजा बोला, आशाकी कृशता क्या है ? इस पृथ्वीमण्डलके बीच दुर्लभ क्या

ब्रवीतु भगवानेतत्त्वं हि धर्मार्थदर्शिवान् ॥ ७ ॥
ततः संस्मृत्य तत्सर्वं स्मारयिष्यन्निवाब्रवीत् ।
राजानं भगवान्विप्रस्ततः कृशतनुस्तदा ॥ ८ ॥
ऋषिरुवाच— कृशत्वेन समं राजन्नाशाया विद्यते नृप ।
तस्या वै दुर्लभत्वाच्च प्रार्थिता पार्थिवा मया ॥ ९ ॥
राजोवाच— कृशाकृशे मया ब्रह्मन्गृहीते वचनात्तव ।
दुर्लभत्वं च तस्यैव वेदवाक्यमिव द्विज ॥ १० ॥
संशयस्तु महाप्राज्ञ संजातो हृदये मम ।
तन्मुने मम तत्त्वेन वक्तुमर्हसि पृच्छतः ॥ ११ ॥
त्वत्तः कृशतरं किं नु ब्रवीतु भगवानिदम् ।
यदि गुह्यं न ते किञ्चिद्विद्यते मुनिसत्तम ॥ १२ ॥
कृश उवाच— दुर्लभोऽप्यथवा नास्ति योऽर्थी धृतिमवाप्नुयात् ।
स दुर्लभतरस्तात योऽर्थिनं नावमन्यते ॥ १३ ॥
सत्कृत्य नोपक्रुरुते परं शक्त्या यथार्हतः ।
या सक्ता सर्वभूतेषु साऽऽशा कृशतरी मया ॥ १४ ॥

है ? आप इसे ही वर्णन करिये; क्योंकि आपने धर्म, अर्थका दर्शन किया है। ऋषभ बोले, अनन्तर भगवान ब्राह्मणश्रेष्ठ कृशतनु पहिले वृतान्तको स्मरण करके उसे मानो राजाको स्मरण करानेके लिये कहने लगे। ऋषि बोले, हे राजन्! आशायुक्त पुरुषके समान दूसरा कोई कृश नहीं है, आशाग्रस्त विषयका दुर्लभत्व देखकर मैंने राजाओं के निकट प्रार्थना की थी। (७-९)

राजा बोला, हे ब्रह्मन्! आपके वचनके अनुसार कृश अकृशका बोध हुआ और आशा गृहीत विषयका दुर्लभत्व वेद वचनके समान विदित हुआ। हे महाबुद्धिमान मुनिश्रेष्ठ! मेरे मनमें संशय उत्पन्न हुआ है, इससे मैं उस संशयके विषयको पूछता हूं, आप विधिपूर्वक कहिये। हे मुनिसत्तम! यदि गोपनीय न हो, तो अपनेसे दुबलापन क्या है? हे भगवन्! इसे ही मेरे निकटमें प्रकट करिये। (१०-१२)

कृश बोले, हे तात! याचक होके सन्तुष्ट हुआ करे, ऐसा पुरुष दुर्लभ है, अथवा नहीं है, ऐसा भी कहा जा सकता है, और अर्थकी अवज्ञा न करे, ऐसा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है। शक्ति रहते भी सत्कार करके दूसरेका उपकार न

कृतघ्नेषु च या सक्ता नृशंसेष्वलसेषु च।
अपकारिषु चासक्ता साऽऽशा कृशतरी मया॥ १५॥
एकपुत्रः पिता पुत्रे नष्टे वा प्रोषितेऽपि वा।
प्रवृत्तिं यो न जानाति साऽऽशा कृशतरी मया॥१६॥
प्रसवे चैव नारीणां वृद्धानां पुत्रकारिता।
तथा नरेन्द्र धनिनां साऽऽशा कृशतरी मया॥ १७॥
प्रदानकांक्षिणीनां च कन्यानां वयसि स्थिते।
श्रुत्वा कथास्तथा युक्ताः साऽऽशा कृशतरी मया॥१८॥
एतच्छ्रुत्वा ततो राजन्स राजा सावरोधनः।
संस्पृश्य पादौ शिरसा निपपात द्विजर्षभम्॥ १९॥
राजोवाच— प्रसादये त्वां भगवन्पुत्रेणेच्छामि संगमम्।
यदेतदुक्तं भवता संप्रति द्विजसत्तम॥ २०॥
सत्यमेतन्न संदेहो यदेतद्व्याहृतं त्वया।
ततः प्रहस्य भगवांस्तनुर्धर्मभृतां वरः॥ २१॥
पुत्रमस्यानयत्क्षिप्रं तपसा च श्रुतेन च।
स समानीय तत्पुत्रं तमुपालभ्य पार्थिवम्॥ २२॥

करनेवाला और जो आशा सब प्राणिओंमें आसक्त हो रही है, मैंने उस आशाको बहुत कृश किया है। एक मात्र पुत्रका पिता पुत्र अनुदिष्ट वा प्रोषित होनेपर उसका हाल जो नहीं जानता, मैंने उस आशाको इकबारगी कृश किया है, हे नरनाथ! स्त्रियोंको प्रसवके समय वृद्धोंको पुत्र उत्पत्तिके समयमें और धनियोंके मनमें जो आशा रहती है, मैंने उसे अत्यन्त कृश किया है। प्रदानकांक्षिणी कन्याओंके यौवनकाल उपस्थित होनेपर उनके विषयकी कथा सुनके जो आशा उत्पन्न होती है, मैंने उस आशाको अत्यन्त कृश किया है। हे राजन्! अनन्तर वीरद्युम्न राजाने यह सब कथा सुनके पत्नीके सहित उस द्विजवरके चरणको मस्तकसे स्पर्श करके उन्हें प्रणाम किया। (१३–१९)

राजा बोला, हे भगवन्! मैं आपके अनुग्रहकी इच्छा करता हूं, मैं निज पुत्रके साथ मिलनेकी अभिलाष करता हूं। हे द्विजसत्तम! इस समय आपने जो कुछ कहा, वह सब सत्य है इसमें सन्देह नहीं है। ऋषि बोले धार्मिकप्रवर! भगवान तनुने हंसकर तप और विद्यावलसे जरिये उस अनुदिष्ट राज-

आत्मानं दर्शयामास धर्मं धर्मभृतांवरः ।
स दर्शयित्वा चात्मानं दिव्यमद्भुतदर्शनम् ।
विपाप्मा विगतक्रोधश्चचार वनमन्तिकात् ॥ २३ ॥
एतद् दृष्टं मया राजंस्तथा च वचनं श्रुतम् ।
आशामपनयस्वाशु ततः कृशतरीमिमाम् ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच- स तथोक्तस्तदा राजन्नृषभेण महात्मना ।
सुमित्रोऽपनयत्क्षिप्रमाशां कृशतरीं ततः ॥ २५ ॥
एवं त्वमपि कौन्तेय श्रुत्वा वाणीमिमां मम ।
स्थिरो भव महाराज हिमवानिव पर्वतः ॥ २६ ॥
त्वं हि प्रष्टा च श्रोता च कृच्छ्रेष्वनुगतेष्विह ।
श्रुत्वा मम महाराज न संतप्तुमिहार्हसि ॥ २७ ॥ [४६७४]

इति श्रीमहा०शान्ति० राजधर्मानुशासन०ऋषभगीतासु अष्टाविंशाधिकशततमोऽध्यायः ॥१२८॥

युधिष्ठिर उवाच—नामृतस्येव पर्याप्तिर्ममास्ति ब्रुवति त्वयि ।
यथा हि स्वात्मवृत्तिस्थस्तथा तृप्तोऽस्मि भारत ॥ १ ॥
तस्मात्कथय भूयस्त्वं धर्ममेव पितामह ।
न हि तृप्तिमहं यामि पिबन्धर्मामृतं हि ते ॥ २ ॥

पुत्रको लाके उपस्थित किया। उन्होंने राजपुत्रको लाके राजाका तिरस्कार करके आप ही जो धर्मस्वरूप थे, उसे दिखाया; अद्भुतदर्शनने दिव्य-आत्मा दिखाकर पापरहित और क्रोधहीन होके निकटके वनमें गमन किया। हे राजन्! मैंने ऐसाही देखा था, और वही सब वचन सुना था, आशाको शीघ्र दूर करो; ऐसा होनेसे यह अत्यन्त दुर्बल होगी। भीष्म बोले, हे राजन्! उस समय राजा सुमित्रने महात्मा ऋषभका ऐसा वचन सुनके शीघ्र ही दुबली आशाको परित्याग किया। हे कुन्तीपुत्र महाराज! तुम भी मेरा यह वचन सुनके हिमवान पर्वत की तरह स्थिर हो जाओ। हे महाराज! तुम प्रष्टा और श्रोता हो, इससे मेरा मत सुनके आपत्काल उपस्थित होनेपर सन्ताप भाजन न होना। (२१-२७) [४६७४]

शान्तिपर्वमें १२८ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १२९ अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत! आप जब धर्मकथा कहते हैं तब मैं आत्मवृत्तिस्थ होकर जिस प्रकार तृप्त होता हूं, अमृतसे भी वैसी तृप्ति नहीं होती। हे पितामह! इससे आप फिर धर्म कथा

भीष्म उवाच- अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
गौतमस्य च संवादं यमस्य च महात्मनः ॥ ३ ॥
पारियात्रं गिरिं प्राप्य गौतमस्याश्रमो महान्।
उवास गौतमो यं च कालं तमपि मे शृणु ॥ ४ ॥
षष्टिं वर्षसहस्राणि सोऽतप्यद्गौतमस्तपः।
तमुग्रतपसा युक्तं भावितं सुमहामुनिम् ॥ ५ ॥
उपयातो नरव्याघ्रलोकपालो यमस्तदा।
तमपश्यत्सुतपसमृषिं वै गौतमं तदा ॥ ६ ॥
स तं विदित्वा ब्रह्मर्षिर्यममागतमोजसा।
प्राञ्जलिः प्रयतो भूत्वा उपविष्टस्तपोधनः ॥ ७ ॥
तं धर्मराजो दृष्ट्वैव सत्कृत्यैव द्विजर्षभम्।
न्यमन्त्रयत धर्मेण क्रियतां किमिति ब्रुवन् ॥ ८ ॥
गौतम उवाच- मातापितृभ्यामानृण्यं किं कृत्वा समवाप्नुयात्।
कथं च लोकानाप्नोति पुरुषो दुर्लभाञ्शुचीन् ॥ ९ ॥
यम उवाच- तपः शौचवता नित्यं सत्यधर्मरतेन च।
मातापित्रोरहरहः पूजनं कार्यमञ्जसा ॥ १० ॥

कहिये। मैं आपके कहे हुए धर्मामृतको पीते हुए किसी प्रकारसे भी तृप्ति लाभ नहीं कर सकता हूं। (१-२)

भीष्म बोले, इस विषयमें पुराने लोग महानुभाव यम और गौतमके सम्वाद युक्त इस प्राचीन इतिहासको कहा करते हैं। पारियात्र पर्वतके समीप गौतमका अत्यन्त बडा आश्रम था, गौतमने उस आश्रममें जबतक वास किया था, वह, भी मुझसे सुनो। गौतमने उस आश्रममें साठ हजार वर्ष तक तपस्या की थी। हे राजन्! उस महामुनिकी उग्र तपस्या देखकर लोक पाल यमने उनके निकट गमन किया और उस समय गौतम ऋषिको अत्यन्त कठोर तपस्या करनेमें रत देखा। ब्रह्मर्षि तपस्वी गौतम तेज प्रभावशाली यमको आया हुआ देखके हाथ जोडके उठ खडे हुए। धर्मराजने उस द्विजवरको देखते ही धर्मके अनुसार सत्कार करके उनसे पूछा, " मैं तुम्हारा क्या करूं ? " (३—८)

गौतम बोले, क्या करनेसे पुरुष माता पिताासे अऋण होता है और किस प्रकार पवित्र तथा दुर्लभ लोगोंको प्राप्त करता है ? यम बोले, तपस्या और

अश्वमेधैश्च यष्टव्यं बहुभिः स्वाप्तदक्षिणैः ।
तेन लोकानवाप्नोति पुरुषोऽद्भुतदर्शनान् ॥ ११ ॥ [४६८५]

इति श्रीम० शान्तिपर्वणि राजधर्मानु० यमगौतमसंवादे एकोनत्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः १२९

युधिष्ठिर उवाच– मित्रैः प्रहीयमाणस्य बह्वमित्रस्य का गतिः ।
राज्ञः संक्षीणकोशस्य बलहीनस्य भारत ॥ १ ॥
दुष्टामात्यसहायस्य च्युतमन्त्रस्य सर्वतः ।
राज्यात्प्रच्यवमानस्य गतिमन्यामपश्यतः ॥ २ ॥
परचक्राभियातस्य परराष्ट्राणि मृद्नतः ।
विग्रहे वर्तमानस्य दुर्बलस्य बलीयसा ॥ ३ ॥
असंविहितराष्ट्रस्य देशकालावजानतः ।
अप्राप्यं च भवेत्सान्त्वं भेदो वाऽप्यतिपीडनात् ॥
जीवितं त्वर्थहेतुर्वा तत्र किं सुकृतं भवेत् ॥ ४ ॥

भीष्म उवाच– गुह्यं धर्मज्ञ मा प्राक्षीरतीव भरतर्षभ ।

पवित्र आचार युक्त तथा नियम और सत्य धर्ममें रत पुरुष सदा पिता-माता-की पूजा और बहुतसी दक्षिणासे युक्त अश्वमेध यज्ञ करनेसे अद्भुत दर्शन निबन्धनसे दुर्लभ लोगोंको प्राप्त किया करते हैं। (८-१०) [४६८५]

शान्तिपर्वमें १२९ अध्याय समाप्त।

शान्तिपर्वमें १३० अध्याय।

युधिष्ठिर बोले, हे भारत ! जो राजा मित्रोंसे परित्यक्त हुए हैं; जिनके बहुतसे शत्रु हुए हैं, और जो कोष-हीन तथा बलहीन हुए हैं; उनके वास्ते क्या उपाय है ? दुष्ट सेवक जिसके सहायक हुए हैं, जिसकी मन्त्रणा सब तरहसे निष्फल हुई है, राज्यसे जो भ्रष्ट होते हैं और उत्तम उपायको देख-नेमें असमर्थ हैं; जो दूसरे राज्यकी ओर जानेके वास्ते उद्यत और पर राज्यको मर्दन करनेमें तैयार हुए हैं, जो स्वयं निर्बल होकर भी बलवानके साथ विरोध करनेमें वर्त्तमान रहते हैं; जो राजा पूर्ण रीतिसे राज्यकी रक्षा नहीं कर सकते; जो देश और कालके अनुसार कार्य करनेमें अवज्ञा करते हैं। अत्यन्त पीडन निबन्धनसे दूसरोंके सेवक आदिकोंका भेद और सामवाद जिसे अप्राप्य होता है; उनकी उपाय क्या है ? अर्थ साध्य जीवन सुकृत उत्तम होगा, अर्थात् असत् मार्गके जरिये अर्थ ग्रहण करना होगा अथवा अर्थके विना मरना कल्याणकारी है ? (१-४

भीष्म बोले, हे भरत श्रेष्ठ धर्मज्ञ

अपृष्टो नोत्सहे वक्तुं धर्ममेतं युधिष्ठिर ॥ ५ ॥
धर्मो ह्यणीयान्वचनाद् बुद्धिश्च भरतर्षभ ।
श्रुत्वोपास्य सदाचारैः साधुर्भवति स क्वचित् ॥ ६ ॥
कर्मणा बुद्धिपूर्वेण भवत्याढ्यो न वा पुनः ।
तादृशोऽयमनुप्रश्नः संव्यवस्यः स्वया धिया ॥ ७ ॥
उपायं धर्मबहुलं यथार्थं शृणु भारत ।
नाहमेतादृशं धर्मं बुभूषे धर्मकारणात् ॥ ८ ॥
दुःखादान इह ह्येष स्यात्तु पश्चात्क्षयोपमः ।
अभिगम्य मतीनां हि सर्वासामेव निश्चयः ॥ ९ ॥
यथायथा हि पुरुषो नित्यं शास्त्रमवेक्षते ।
तथातथा विजानाति विज्ञानमथ रोचते ॥ १० ॥
अविज्ञानादयोगो हि पुरुषस्योपजायते ।
विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकरः परः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर! तुमने अत्यन्त गुप्त विषय पूछा है, न पूछने पर मैं इस विषयके कहनेका उत्साह न करता। हे भरत-प्रवर! धर्म अत्यन्त सूक्ष्म पदार्थ है, शास्त्र सुननेके कारण उस सूक्ष्म धर्मका ज्ञान हुआ करता है; धर्म सुनने और आचार निबन्धनसे कदाजित कोई पुरुष सदाचारके जरिये साधु होते हैं। आपत्कालमें धनके निमित्त प्रजापीडन करते हुए धनलाभ हो, वा न हो, आपदसे पार होके प्रजासमूहके ऊपर कृपा करनी उचित है। यदि धन लाभ न हो, तो अपना और प्रजाका नाश हुआ करता है, उसे विचारके तुम निज प्रश्नके विषयको अपनी बुद्धिके सहारे विवेचनीय जानो। हे भारत! राजाओं-को व्यवहार निबाहनेके वास्ते बहुतसे धर्मयुक्त उपाय हैं, सुनो। मैं धर्मके निमित्त इस प्रकार धर्म प्राप्त होनेकी इच्छा नहीं करता। (५—८)

प्रजाको दुःख देके जो प्राप्त किया जाता है, वह पीछे मृत्युके समान हुआ करता है, अर्थात् प्रजापीडनके दुःखके कारणसे उत्पन्न हुई अग्नि राजाके प्राण बल और धनसारको बिना चलाये निवृत्त नहीं होती; पवित्र बुद्धि-वाले मनुष्यों वा प्रजासमूहका ऐसा ही निश्चय है। पुरुष प्रति दिन जैसे शास्त्रों-को देखता है, वैसा ही विज्ञान लाभ करके उसमें अनुरक्त हुआ करता है; अविज्ञानके कारण अनुपाय होता है, उपायज्ञान ही अत्यन्त विभूति उत्पन्न

अशङ्कमानो वचनमनसूयुरिदं शृणु ।
राज्ञः कोशक्षयादेव जायते बलसंक्षयः ॥ १२ ॥
कोशं च जनयेद्राजा निर्जलेभ्यो यथा जलम् ।
कालं प्राप्यानुगृह्णीयादेष धर्मः सनातनः ।
उपायधर्मं प्राप्येमं पूर्वैराचरितं जनैः ॥ १३ ॥
अन्यो धर्मः समर्थानामापत्स्वन्यच्च भारत ।
प्राक्कोशात्प्राप्यते धर्मो वृत्तिर्धर्माद्गरीयसी ॥ १४ ॥
धर्मं प्राप्य न्यायवृत्तिं न बलीयान्न विन्दति ।
यस्माद्बलस्योपपत्तिरेकान्तेन न विद्यते ॥ १५ ॥
तस्मादापत्स्वधर्मोऽपि श्रूयते धर्मलक्षणः ।
अधर्मो जायते तस्मिन्निति वै कवयो विदुः ॥ १६ ॥
अनन्तरं क्षत्रियस्य तत्र किं विचिकित्स्यते ।
यथाऽस्य धर्मो न ग्लायेन्नेयाच्छत्रुवशं यथा ।

करता है। तुम अशङ्कित और असूया रहित होकर यह वचन सुनो। राजाका कोष नष्ट होनेसे ही बलका नाश हुआ करता है; निर्जल स्थलमें जल उत्पन्न करनेकी तरह राजा लोग कोष सञ्चय किया करते हैं। प्राचीन पुरुषोंके आचरित इस उप धर्मको जानकर समयके अनुसार राजा पूर्व पीडित प्रजाके ऊपर कृपा करे। (९-१३)

हे भारत! समर्थ मनुष्योंका धर्म स्वतन्त्र है और आपद्कालका धर्म स्वतन्त्र होता है। कोष सञ्चयके पहिले राजा तपस्या आदिके जरिये धर्म सञ्चय करनेमें समर्थ होते हैं; धर्मसे भी जीवन गुरुतर है। निर्बल पुरुष धन लाभ करके न्याययुक्त जीविका अवलम्बन नहीं करता, क्योंकि यत्न करनेपर भी अवश्य बलकी सम्भावना होती है, ऐसा नियम नहीं है; इससे सुना गया है, आपद्कालमें अधर्म भी धर्म लक्षण-युक्त हुआ करता है। इससे आपद्कालमें अधर्म भी कर्त्तव्य रूपसे सुना जाता है, उस समय जो धर्म है, वह अधर्म हुआ करता है; इससे शास्त्रकी मर्यादानुसार आपद्कालमें प्रजापीडन आदि भी धर्म-रूपसे गिने जाते हैं, वरन वैसा न करनेसे अधर्म होता है। यह कवियोंको अविदित नहीं है। आपद्काल बीतनेपर क्षत्रियके वास्ते पहिले कहे हुए अधर्मके दोषोंको दूर करनेके वास्ते प्रायश्चित्तकी विधि है। क्षत्रियोंकी जिसमें धर्म हानि न हो, और वह जिससे शत्रुके वशमें

तत्कर्तव्यमिहेत्याहुर्नात्मानमवसादयेत् ॥ १७ ॥
सर्वात्मनैव धर्मस्य न परस्य न चात्मनः।
सर्वोपायैरुज्जिहीर्षेदात्मानमिति निश्चयः ॥ १८ ॥
तत्र धर्मविदां तात निश्चयो धर्मनैपुणम्।
उद्यमो नैपुणं क्षात्रे बाहुवीर्यादिति श्रुतिः ॥ १९ ॥
क्षत्रियो वृत्तिसंरोधे कस्य नादातुमर्हति।
अन्यत्र तापसस्वाच्च ब्राह्मणस्वाच्च भारत ॥ २० ॥
यथा वै ब्राह्मणः सीदन्नयाज्यमपि याजयेत्।
अभोज्यान्नानि चाश्नीयात्तथेदं नात्र संशयः ॥ २१ ॥
पीडितस्य किमद्वारमुत्पथो विधृतस्य च।
अद्वारतः प्रद्रवति यथा भवति पीडितः ॥ २२ ॥
यस्य कोशबलग्लान्या सर्वलोकपराभवः।
भैक्षचर्या न विहिता न च विट्शूद्रजीविका ॥ २३ ॥

न होवे, वैसी ही उपाय करनी उचित है; ऐसा ही पुराने लोग कहा करते हैं। आत्माको अवसन्न करना उचित नहीं है, सब तरहके यत्नके जरिये अपने वा दूसरेके धर्म उद्धारकी इच्छा न करे, जिस किसी उपायसे होसके, आत्माका उद्धार करना चाहिये ऐसा ही निश्चय जाने। (१४-१८)

हे तात! उस आपद्कालके अनन्तर धर्म जाननेवाले पुरुषोंके लिये धर्म विषयमें निपुणता ही निश्चित है और क्षत्रियोंके वास्ते बाहुबलके सहारे उद्यम ही निपुणता है, इसी प्रकार जनश्रुति है। हे भारत! पुरी रीतिसे वृत्तिरोध होनेपर श्रेष्ठ क्षत्रिय तापसस्व और ब्राह्मणस्व को छोडके और सबके धनको ले सकते हैं। जैसे ब्राह्मण अवसन्न होनेपर न याजने योग्य पुरुषके निकट याजन तथा भोजन न करने योग्य अन्न भी भोजन करते हैं, वैसे ही क्षत्रियोंको भी ब्राह्मणस्व और तापसस्वके अतिरिक्त दूसरेके धनको ग्रहण करनेमें दोष नहीं होता, इसमें सन्देह नहीं है। पीडित पुरुषको अद्वार क्या है? और निरुद्ध पुरुषको ही कौनसा उत्पथ है? जब लोग पीडित होते हैं, तब अद्वारसे भी दौडा करते हैं। (१९-२२)

जो राजा धनागारसे रहित और सेनाके नष्ट होनेसे लोगोंके समीप पराभव युक्त होता है, उसे भिक्षा करके जीवन धारण तथा वैश्य और शूद्रकी वृत्ति अवलम्बन करनी योग्य नहीं है।

स्वधर्मानन्तरावृत्तिर्जात्यानुपजीवतः ।
वहतः प्रथमं कल्पमनुकल्पेन जीवनम् ॥ २४ ॥
आपद्गतेन धर्माणामन्यायेनोपजीवनम् ।
अपि ह्येतद्ब्राह्मणेषु दृष्टं वृत्तिपरिक्षये ॥ २५ ॥
क्षत्रिये संशयः कस्मादित्येवं निश्चितं सदा ।
आददीत विशिष्टेभ्यो नावसीदेत्कथंचन ॥ २६ ॥
हन्तारं रक्षितारं च प्रजानां क्षत्रियं विदुः ।
तस्मात्संरक्षता कार्यमादानं क्षत्रबन्धुना ॥ २७ ॥
अन्यत्र राजन्हिंसाया वृत्तिर्नेहास्ति कस्यचित् ।
अप्यरण्यसमुत्थस्य एकस्य चरतो मुनेः ॥ २८ ॥
न शंखलिखितां वृत्तिं शक्यमास्थाय जीवितुम् ।
विशेषतः कुरुश्रेष्ठ प्रजापालनमीप्सया ॥ २९ ॥
परस्परं हि संरक्षा राज्ञा राष्ट्रेण चापदि ।

क्षत्रियोंको स्वजातीय वृत्ति विजयके जरिये धन उपार्जन की विधि है,जो उसके अनुसार जीवन व्यतीत न कर सकें, वे अयाचक होनेपर भी पहिले आपद्-कालमें मुख्य कल्पके जरिये जीवन व्यतीत करें; उसमें असमर्थ होनेपर अनुकल्प अवलम्बन करना अनुचित नहीं है। आपदकाल उपस्थित होनेपर सब धर्मोंका विपर्यय अर्थात् पराक्रमके जरिये भी जीवन धारण करना योग्य है। जीविका नष्ट होनेपर ब्राह्मणोंका भी ऐसा ही व्यवहार दीख पडा है, तब क्षत्रियोंके विषयमें क्यों सन्देह होगा ? क्षत्रिय पुरुष आपद्कालमें अधिक धन-शाली पुरुषोंसे बलपूर्वक धन ग्रहण करके जीवन धारण करें; किसी तरह अवसन्न न होवें, उसमें सन्देह करना उचित नहीं है, यह सदासे ही निश्चित है। पण्डित लोग क्षत्रियोंको ही प्रजा-पालक और हन्ता समझते हैं; इससे रक्षाकर्त्ता क्षत्रिय धनवान मनुष्योंके निकटसे धन ग्रहण करें। हे राजन्! वनमें रहके मुनिके अतिरिक्त दूसरे किसी पुरुषकी हिंसाके विना जीविका नहीं निभती है। (२३-२८)

हे कुरुश्रेष्ठ ! माथेमें लिखी हुई वृत्ति अर्थात् अदृष्ट मात्रको अवलम्बन करके जीवन धारण करना क्षत्रियोंके विषयमें योग्य नहीं है विशेष करके जिसे प्रजापालनकी इच्छा है, उन्हें भी वैसी वृत्ति अनन्तर निन्दनीय है। आपद्-कालमें राजा और राज्य दोनोंकी ही

नित्यमेव हि कर्तव्या एष धर्मः सनातनः ॥ ३० ॥
राजा राष्ट्रं यथाऽऽपत्सु द्रव्यौघैरपि रक्षति ।
राष्ट्रेण राजा व्यसने रक्षितव्यस्तथा भवेत् ॥ ३१ ॥
कोशं दण्डं बलं मित्रं यदन्यदपि संचितम् ।
न कुर्वीतान्तरं राष्ट्रे राजा परिगतः क्षुधा ॥ ३२ ॥
बीजं भक्तेन संपाद्यमिति धर्मविदो विदुः ।
अत्रैतच्छम्बरस्याहुर्महामायस्य दर्शनम् ॥ ३३ ॥
धिक्तस्य जीवितं राज्ञो राष्ट्रं यस्यावसीदति ।
अवृत्त्यान्यमनुष्योऽपि यो वैदेशिक इत्यपि ॥ ३४ ॥
राज्ञः कोशबलं मूलं कोशमूलं पुनर्बलम् ।
तन्मूलं सर्वधर्माणां धर्ममूलाः पुनः प्रजाः ॥ ३५ ॥
नान्यानपीडयित्वेह कोशः शक्यः कुतो बलम् ।
तदर्थं पीडयित्वा च दोषं प्राप्तुं न सोऽर्हति ॥ ३६ ॥

सदा परस्पर रक्षा करनी चाहिये। यही सनातन धर्म है। आपदकालमें जैसे राजा धनके जरिये सब तरहसे राज्यकी रक्षा करता है, विपद् उपस्थित होनेपर राज्यकी उसी प्रकार राजाको रक्षा करनी योग्य है। कोष, दण्ड, बल, मित्र और दूसरी जो कुछ वस्तु सञ्चित रहे, राजा क्षुधातुर होनेपर भी राज्यके वास्ते उसे दूर न करे। अन्नसे ही बीज सम्पादन करना होता है, धर्म जाननेवाले पुरुष ऐसा ही जानते हैं। अल्पधनवाला राजा यदि प्रजासमूहसे रक्षित न रहे, तो वह नष्ट होता है, राजाके नष्ट होनेपर सब प्रजा नष्ट हुआ करती है; इस विषयमें पण्डित लोग महामायावी शम्बरके इस शास्त्रको वर्णन किया करते हैं। जिस राजाके राज्यमें वास करनेवाली प्रजा अवसन्न होती है, जो दूसरेका प्रेष्य हुआ करता है, अथवा वृत्तिसे रहित होनेपर अल्प परिवारको पालन करता है, और जो विदेशमें जीविका निर्वाहके वास्ते समय बिताता है; उसे धिक्कार है। (२९-३४)

कोषागार और सेना ही एकमात्र राजाका मूल है, उसके बीच खजाना ही सेनाका मूल है; सेना सब धर्मका मूल है और धर्म ही प्रजासमूहका मूल होता है, इससे सबकी जड धनागारकी बढती करनी उचित है। दूसरे पुरुषको पीडित न करनेसे कोष सञ्चय नहीं होता, तब सेनाका संग्रह किस प्रकार हो सकेगा? इससे कोष सञ्चयके वास्ते

अकार्यमपि यज्ञार्थं क्रियते यज्ञकर्मसु।
एतस्मात्कारणाद्राजा न दोषं प्राप्तुमर्हति ॥ ३७॥
अर्थार्थमन्यद्भवति विपरीतमथापरम्।
अनर्थार्थमथाप्यन्यत्तत्सर्वं ह्यर्थकारणम्।
एवं बुद्ध्या संप्रपश्येन्मेधावी कार्यनिश्चयम् ॥ ३८॥
यज्ञार्थमन्यद्भवति यज्ञोऽन्यार्थस्तथापरः
यज्ञस्यार्थार्थमेवान्यत्तत्सर्वं यज्ञसाधनम् ॥ ३९॥
उपमामत्र वक्ष्यामि धर्मतत्त्वप्रकाशिनीम्।
यूपं छिन्दन्ति यज्ञार्थं तत्र ये परिपन्थिनः ॥ ४०॥
द्रुमाः केचन सामन्ता ध्रुवं छिन्दन्ति तानपि।
ते चापि निपतन्तोऽन्यान्निघ्नन्त्येव वनस्पतीन् ॥ ४१॥
एवं कोशस्य महतो ये नराः परिपन्थिनः।
तानहत्वा न पश्यामि सिद्धिमत्र परन्तप ॥ ४२॥

लोगोंको पीडित करनेसे राजा दोषभागी नहीं होते। यज्ञकार्यको निवाहनेके निमित्त अकार्य करते भी देखा जाता है; इस ही कारण राजा कदापि दोषभागी नहीं होते, आपदकालमें प्रजापीडन अर्थ के लिये ही हुआ करता है, वह स्वतन्त्र है; और उस समय प्रजाको पीडित न करना अनर्थका कारण होजाता है। अर्थके अभावके वास्ते हाथी आदि पाले जाते हैं, और वे अर्थके उत्पादक भी हुआ करते हैं; इससे मेधावी पुरुष इस कर्मनिश्चयको बुद्धिके जरिये विचारे। ३५-३८

पशु आदि जैसे यज्ञके कारण होते हैं, यज्ञ चित्त संस्कारका कारण हुआ करता है और पशु आदि यज्ञ तथा चित्त संस्कार ये तीनों जिस तरह मोक्षके कारण हुआ करते हैं, वैसे ही कोषका कारण दण्ड, बलका कारण कोष, और शत्रु पराभवके कारण कोष, बल तथा नीति, ये तीनों ही राज्य पुष्टिके निमित्त हुआ करते हैं। इस विषयमें धर्म-तत्व प्रकाश करनेवाली उपमा कहता हूं, यज्ञके लिये यूप तैयार करनेके हेतुसे योग्य वृक्ष तोडते हैं। उस समय जो वृक्ष उसको घेरनेवाले होते हैं उनको भी काटा जाता है। कटा वृक्ष जब गिरता है तब उस कारण भी कई वनस्पतियां नाशको प्राप्त होती हैं। इस रीतिसे मुख्यके लिये गौणका नाश होता है। हे शत्रुतापन! इसी प्रकार जो मनुष्य महत् कोषके बाधक होवें, उन्हें नष्ट न करनेसे उस विषयमें सिद्धि नहीं देखी जाती है। (३९-४२)

धनेन जयते लोकावुभौ परामिमं तथा।
सत्यं च धर्मवचनं यथा नास्त्यधनस्तथा ॥ ४३ ॥
सर्वोपायैराददीत धनं यज्ञप्रयोजनम्।
न तुल्यदोषः स्यादेवं कार्याकार्येषु भारत ॥ ४४ ॥
नैतौ संभवतो राजन्कथंचिदपि पार्थिव।
न ह्यरण्येषु पश्यामि धनवृद्धानहं क्वचित् ॥ ४५ ॥
यदिदं दृश्यते वित्तं पृथिव्यामिह किञ्चन।
ममेदं स्यान्ममेदं स्यादित्येवं काङ्क्षते जनः ॥ ४६ ॥
न च राज्यसमो धर्मः कश्चिदस्ति परन्तप।
धर्मः संशब्दितो राज्ञामापदर्थमतोऽन्यथा ॥ ४७ ॥
दानेन कर्मणा चान्ये तपसाऽन्ये तपस्विनः।
बुद्ध्या दाक्ष्येण चैवान्ये विन्दन्ति धनसंचयान्॥ ४८ ॥

धनसे यह लोक और परलोक दोनों लोक ही प्राप्त होते हैं। निर्द्धन होनेसे जैसे धन और सत्य वचन नहीं रहता वैसे ही निर्द्धन पुरुष जीते ही मरेके समान समय बिताते हैं। यज्ञ कार्यके लिये धनको सब तरहकी उपायसे ग्रहण करे। हे भारत! यज्ञके वास्ते जो धन आवश्यक होता है, निषिद्ध उपायसे भी उसे जिस प्रकार ग्रहण करना उचित है, वैसे ही विहित और निषिद्ध कार्याकार्य विषयोंमें अर्थात् आपदकालमें प्रजा पीडन करना योग्य है, और वही निरापदके समयमें निषिद्ध है; इससे उस प्रकारके विषयमें यह समान दोष नहीं है। देश कालके अनुसार कार्य भी अकार्य होता है और अकार्य भी कार्य हुआ करता है। हे पृथ्वीपाल महाराज! धन-संग्रह और धन त्याग एक ही पुरुषमें किसी तरह सम्भव नहीं होता, मैंने वनके बीच कभी धनवृद्ध मनुष्योंको नहीं देखा।। (४०-४५)

इस पृथ्वीपर जो कुछ धन दीखता है, वह सब हमारा ही होवे, हमारा ही होवे; लोग ऐसी ही अभिलाष किया करते हैं। हे शत्रुतापन! राज्य तुल्य धर्म और कुछ भी नहीं है, राजाओंको आपदकालमें बहुतसा कर ग्रहण करना पापमूलक नहीं है, निरापदके समयमें वही पापजनक हुआ करता है। इससे आपदके निमित्त अर्थ संग्रह करना पाप युक्त नहीं होता। तब धन-मूलक राज्य भी हेय नहीं होसकता, कोई कोई दान और कर्मसे तपस्वी होते हैं, कोई तपस्या करके ही तपस्वी हुआ करते हैं;

अधनं दुर्बलं प्राहुर्धनेन बलवान्भवेत् ।
सर्वं धनवता प्राप्यं सर्वं तरति कोशवान् ॥ ४९ ॥
कोशेन धर्मः कामश्च परलोकस्तथा ह्ययम् ।
तं च धर्मेण लिप्सेत नाधर्मेण कदाचन ॥ ५० ॥ [४७३५]

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां शान्तिपर्वणि राजधर्मानुशासनपर्वणि त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १३० ॥

समाप्तं च राजधर्मानुशासनपर्व ॥ १ ॥

दूसरे बुद्धि कौशल और दक्षतासे धन सञ्चय लाभ करते हैं । पण्डित लोग धनहीन पुरुषको ही दुर्बल कहते हैं, धनवान पुरुष ही बलवान होता है; धनवान मनुष्यको कुछ भी अप्राप्य नहीं है । कोष तथा कोषवाला राजा सब विपदसे पार होता है, कोषके जरिये धर्मकाम तथा इस लोक और परलोकमें सुख लाभ होता है; इससे धर्मपूर्वक उस धन लाभकी इच्छा करे, कभी अधर्मसे धन सञ्चय करनेकी इच्छा न करे । (४९-५०)

शान्तिपर्वमें १३० अध्याय समाप्त ।

शान्तिपर्वान्तर्गत
राजधर्मपर्व समाप्त ।

शान्तिपर्व के

राजधर्मपर्व नामक उपपर्व की

विषयसूची।

शान्तिपर्वान्तर्गत

राजधर्मपर्व समाप्त।

मुद्रक तथा प्रकाशक- श्रीपाद दामोदर सातवळेकर,
स्वाध्याय मंडल; भारतमुद्रणालय, औंध (जि० सातारा)